प्रकाशक
साहित्य प्रकाशन समिति
(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा)
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१

★

अर्थ-सहायक
सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट
८१ सदर एवेन्यू
कलकत्ता

★

प्रकाशन तिथि
मर्यादा महोत्सव शताब्दी समारोह
(माघ शुक्ला सप्तमी)
संवत् २०२१

★

प्रथमावृत्ति
११००

★

पृष्ठ संख्या
८१८

मूल्य
पन्द्रह रुपये

★

मुद्रक
सोमचन्द सुराणा
रेफिल [illegible]

स

म

र्प

ण

●

तेरापन्थ-इतिहास के शब्द-शरीर में

जिनकी अर्थात्मा परिव्याप्त है,

उन तपोधन, महामहिम

आचार्यश्री भीखणजी

के चरणों

में

●

॥

॥

वि

न

या

व

न

त

—मुनि बुद्धमल्ल

प्रकाशकीय

जिनका इतिहास नही उनकी स्मृति नही। जो स्मरणीय होता है उसे विस्मृति मे डाल देना पीढियो की अकर्मण्यता का द्योतक तो है ही साथ-साथ उनके पतन का भी। इतिहास का काम है कि भविष्यत् मे उत्पन्न होनेवाली सतानो को प्रेरणा देता रहे। यो तो स्मृति मे इतिहास की बातें रहती ही है पर ज्यो-ज्यो समय निकलेगा स्मृति औझलता के साथ विच्छिन्न भी होती जायगी। इसीलिए आवश्यकता है कि इतिहास लिपिबद्ध किया जाय ताकि चिर काल तक मानव-समाज को उत्प्राणित करता रहे।

चारित्र विशुद्धि में तेरापथ का इतिहास बडा क्रान्तिकारी रहा है। धर्म के नाम से मानवता की कमजोरी का लाभ तथाकथित धर्मज्ञो ने उठाया है। धर्म जहाँ आत्मा की विशुद्धि का एकमात्र कारण है, वहाँ इसके नाम से शोषण की भी कमी नही रही है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए मनुष्य रात को दिन बताने जैसा कार्य, अधर्म को धर्म बताकर कर डालता है। स्वामी भीखणजी की क्रान्ति इसीलिए थी कि लोगों को धर्म का विशुद्ध स्वरूप ज्ञात हो। मानवता धर्म के नाम से होनेवाले आडम्बरो एव रूढियों मे फँस डूबे नही, वरन् सयम, अहिंसा तथा सत्य आदि मौलिक गुणों का सही स्वरूप जानकर तथा उन्हें जीवन में ढालकर जीवन को सफल बनावें। यही स्वामीजी का ध्येय रहा और उसी को आज दो सौ वर्षों के ऊपर तक पश्चाद्वानुवर्ती नौ आचार्य सामने रखकर जनमानस को आत्मोत्थान का सदेश देते आ रहें हैं।

मुनिश्री बुद्धमलजी ने इसी इतिहास को हस्तलिखित जीवनियो तथा ख्यातों से सचय कर एक स्थान पर लिखने का प्रयास किया है। मुनिश्री जैन श्वेताम्बर तेरापथ के नवमाधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी के मेधावी शिष्यों मे से है। विश्ववद्य आचार्य श्री तुलसी ने तेरापथ की द्विशताब्दी को सवत् २०१७ (ईसवी सन् १९६०) मे केलवा तथा राजनगर में मनाने की जब उद्घोषणा की तो उसके साथ तेरापथ के हस्तलिखित साहित्य को प्रकाश मे लाने की परिकल्पना भी पैदा हुई। अपनी मर्यादा मे रहते हुए सन्त-समुदाय ने अपना काम किया तो उन्ही ग्रन्थों को विधिवत् धार कर प्रकाशन का काम श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा,

आदर्श साहित्य-संघ आदि विविध संस्थानों में किया। मुनि श्री बुद्धमलजी को तेरापंथ का पूर्व इतिहास लिखने का कार्य आचार्य श्री तुलसी ने सौंपा। भाव, भाषा, शैली तथा वस्तु आदि दृष्टि से मुनि श्री का ज्ञान समृद्ध है। द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्य श्री ने प्रसन्न होकर आपको साहित्य परामर्शक की उपाधि से विभूषित किया था। अणुव्रत आन्दोलन के प्रचार में आपका विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। आप एक उच्च कोटि के कवि हैं, लेखक हैं। आपके ग्रन्थों की सूची इस पुस्तक के शेषांश में दी गई है।

तेरापंथ सम्प्रदाय का बीज वपन कैसे हुआ वह अंकुरित कैसे हुआ, तत्पश्चात् पल्लवित पुष्पित होकर अपनी सौरभ से मानव-समाज को कैसे कैसे सुरभि देता हुआ उनका पथ प्रदर्शन करता रहा—यह इस इतिहास का विषय है। मुनिश्री बुद्धमलजी ने इतिहास को लिपिबद्ध कर तेरापंथ शासन की बहुत बड़ी सेवा ही नहीं वरन् शासन की एक आवश्यक मांग की पूर्ति की है।

यह कृति सेठ मन्नालाल सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की जा रही है। इस ट्रस्ट के स्थापनकर्त्ता प्रमुख समाजसेवी तथा सुश्रावक श्री हनुतमलजी सुराणा (चूरू निवासी) हैं। श्री हनुतमलजी साहब सुराणा ने अपने पिता स्वर्गीय श्री मन्नालालजी की स्मृति में यह एक बड़ा ट्रस्ट कायम किया है जो समाज के लिये एक अनुकरणीय कदम है। इस ट्रस्ट को वार्षिक आय पचास हजार रुपये से ऊपर की है एवं सारी आय प्रति वर्ष सभी वर्ग के लोगों की हर उचित आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाई जाती है—जैसे छात्रवृत्ति दैवी विपत्ति बाढ़ भूकम्प या अकाल आदि के समय में तथा अर्थाभाव से ग्रस्त असहाय लोगों की सेवा में इसका बहुत बड़ा भाग नैतिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार में लगता है जैसे अणुव्रत प्रचार में संत-साहित्य संकलन तथा उसके प्रकाशन में। अभी हाल ही में भारत की राजधानी दिल्ली में अणुव्रत विहार की जमीन की लागत के लिये २५000) पचीस हजार रुपये का दान इस ट्रस्ट द्वारा घोषित किया गया है। आदर्श साहित्य संघ तथा अखिल भारतीय अणुव्रत समिति आदि संस्थाओं को ट्रस्ट का हर समय बड़ा सहयोग प्राप्त होता रहता है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में इस ट्रस्ट तथा श्री हनुतमलजी साहब सुराणा का बहुत बड़ा सहयोग हर समय मिलता रहता है। आप महासभा के पृष्ठपोषकों में हैं। साहित्य प्रकाशन समिति को अपने

कार्य मे आप से आकांक्षित सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये हम आपके प्रति आभार प्रगट करते है।

जैन श्वेताम्बर तेरापथ के साहित्य को प्रकाशन करने के लिए महासभा ने एक पृथक् साहित्य प्रकाशन समिति द्विशताब्दी के अवसर से स्थापित कर रखी है। समिति का उद्देश्य तेरापन्थ के मनीषी आचार्य, साधक व तत्त्व-चिन्तकों द्वारा अनुस्यूत सत्साहित्य का प्रकाशन व प्रचार करना है। उक्त समिति ने इस लघु अवधि मे अपने यत्किंचित् परिश्रम द्वारा सत्साहित्य को विविध स्रोतो मे प्रकाशित कर जैन वाङ्मय का सवर्धन किया है। तदनुसार "तेरापथ का इतिहास" को प्रकाशन कर समिति ने अपनी ऐतिहासिक धारा को अक्षुण्ण रखा है, यह हमारे लिये प्रसन्नता का विषय है।

साहित्य प्रकाशन समिति के प्रथम व भूतपूर्व सयोजक श्रीचन्दजी रामपुरिया तेरापन्थी श्रावको मे से एक अच्छे मेधावी विद्वान् है। अन्यान्य ग्रन्थो के प्रकाशन के साथ-साथ प्रस्तुत इतिहास के प्रकाशन मे भी सर्वप्रथम आपका सहयोग सराहनीय रहा है। अत मै उनको इस अवसर पर धन्यवाद देता हू और अपेक्षा करता हू कि पूर्वापेक्षया भविष्य मे भी आपका हार्दिक सहयोग इसी तरह मिलता रहेगा।

विश्व को सहृदयता की कडी मे जोड़ने वाले सुज्ञ अन्वेषकों तथा जिज्ञासु पाठकों के लिये यह पुस्तक यदि प्रेरणा देने वाली सिद्ध हुई तो हम अपना परिश्रम सार्थक समझ सतोष प्राप्त करेंगे।

पौष पूर्णिमा सवत् २०२१
(दिनाक १७-१-६५)
कलकत्ता

संतोपचन्द बरड़िया
संचालक—साहित्य विभाग
—साहित्य प्रकाशन समिति
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

भूमिका

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ' अर्थात् धर्म उसी के पास ठहरता है जिसका मन विशुद्ध होता है। अशुद्ध मन धर्म के लिए उपयुक्त क्षेत्र नहीं होता। मन की वैयक्तिक तथा सामष्टिक विशुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तदनुकूल धार्मिक व्यवस्था तथा वातावरण की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में जन-मानस की विशुद्धि अशुद्धि में बदलने लगती है। सामष्टिक अशुद्धि का प्राबल्य जब असामञ्जस्य होने लगता है तब उसके विरुद्ध वातावरण बनता है और धर्म-क्रान्ति के लिए भूमिका तैयार होती है। ऐसे अवसर पर मार्ग दर्शन के लिए प्रायः कोई-न कोई महापुरुष इस संसार में आता है और प्रसुप्त जन मानस को झकझोर कर जगाता है। धर्म के प्रति वितृष्णा और अधर्म के प्रति अनुराग तभी उत्पन्न होता है जबकि धर्म का वास्तविक स्वरूप आँखों के सामने से ओझल हो जाता है। महापुरुष अपने दिव्य नेत्रों से उस स्वरूप को पहचानते हैं और जन-मानस में उसकी पुनः प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक धर्म-क्रान्ति की प्रायः यही प्रक्रिया रही है। इस परिप्रेक्ष्य में तेरापन्थ की स्थापना को एक सफल धर्म-क्रान्ति के रूप में देखा व परखा जा सकता है।

आज से लगभग दो शताब्दी पूर्व वि० सं० १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा को तेरापन्थ की स्थापना हुई थी। वह कोई सहसा ही घटित हो जाने वाली घटना मात्र नहीं थी; अपितु उस समय की एक अनिवार्य आवश्यकता तथा अवर्जनीय माँग थी। वह ऐसा समय था जबकि भारतीय जन-मानस अंध-परम्पराओं तथा रूढ़ियों से परिम्लान होकर ह्रासोन्मुख हो चुका था। राजनैतिक वर्चस्व पराजय की शृंखलाओं में आबद्ध कराह रहा था। सामाजिक संघटना की कड़ियाँ एक-एक कर विछिन्न होती जा रही थी और धार्मिक क्षेत्र में हीनता के बीज उग निकले जा चुके थे। धार्मिक क्षेत्र भी उस विपन्नावस्था से अछूता नहीं रहा। आचार और विचार सम्बन्धी शैथिल्य ने उस समय के जन-मान्य साधु-समाजों में एक दुष्पूर रिक्तता उत्पन्न कर दी थी। धार्मिक संगठन वृद्धावस्था से अप्रेरित शरीर की तरह लड़खड़ाने लगे थे। इन सभी स्थितियों की सम्मिलित घुटन में तेरापन्थ के रूप में सम्मुख आने वाली इस धर्म-क्रान्ति के बीज अंकुरित हुए थे।

क्रान्तद्रष्टा आचार्य श्री भीखणजी ने इस धर्म-क्रान्ति का मार्ग-दर्शन तथा नेतृत्व किया। सम्यग् आचार और सम्यग् विचार का पुनः संस्थापन ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। वे उसमें पूर्णतः सफल हुए। बहुत से लोगों ने उनके क्रान्त विचारों का

पहले तो तीव्रता से विरोध किया, वाद में उन्हें जिज्ञासा से सुना और अन्त में सत्य व हितकर पाकर अपनाया। जैन धर्म के लिए तेरापन्थ को जहाँ एक नव-प्राणदायी सगठन कहा जा सकता है, वहाँ उसे आचार-विशुद्धि के क्षेत्र में होने वाली धर्म-क्रान्तियों का नवनीत कहा जा सकता है।

तेरापन्थ की स्थापना को दो सौ वर्ष पूर्ण हो चुके है। एक धर्म-सस्था के लिए यह कोई वहुत लम्बा समय नहीं होता, फिर भी इस अवधि में तेरापन्थ ने जिस इतिहास का निर्माण किया है, वह अत्यन्त प्रेरक तथा गौरवास्पद है। अपने सगठन के रूप में तेरापन्थ जितना अर्वाचीन है; वीजात्मक परम्परा के रूप में उतना ही प्राचीन। मूलतः वह प्राचीनता और अर्वाचीनता का एक ऐसा संगम है जहाँ दोनों को ही उपयुक्त महनीयता प्राप्त हुई है। उसने दोनों को अपना शृङ्गार बनाया है; शिर का भार नहीं। यही कारण है कि तेरापन्थ जहाँ धर्म के मौलिक स्वरूप के संरक्षणार्थ सवल प्रहरी बनकर कार्य कर सका है, वहाँ संगठन के क्षेत्र में अनेक नवोन्मेष भी कर पाया है। प्रत्येक शताब्दी-वर्ष पर अपनी व्यवस्थाओं का पुनर्निरीक्षण कर अपने नवीकरण का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रथम शताब्दी की सम्पन्नता पर जयाचार्य ने और द्वितीय शताब्दी की सम्पन्नता पर आचार्यश्री तुलसी ने उसमें नव-स्फूर्त्ति की प्रतिष्ठा की है। तेरापन्थ ने अपनी इस तृतीय शताब्दी में जिस स्फूर्त्त चेतना के साथ पदन्यास किया है, वैसा प्रसंग धर्म-संघों के इतिहास में अपूर्व ही कहा जा सकता है।

द्विशताब्दी की सम्पन्नता के अवसर पर तेरापन्थ का इतिहास लिखने का कार्य आचार्यश्री ने मुझे समर्पित किया; इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। इससे मुझे अनन्य श्रद्धेय स्वामी भीखणजी के चरणों में जहाँ अपनी यह श्रद्धा-कुसुमांजलि अर्पित करने का अवसर मिला, वहाँ इस महान् संघ की गतिविधियों का गहराई से अध्ययन करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। संघ का एक सदस्य होने के नाते मेरे मस्तिष्क में तेरापन्थ के इतिहास-निर्माताओं के जो चित्र सहजरूप से अंकित थे, वे इस प्रक्रिया में अधिक गहरे और स्पष्ट हुए हैं। एतद् विषयक मेरे ज्ञात में जो बहुत सारा अज्ञात छिपा हुआ था, उसमें अपेक्षाकृत न्यूनता होकर ज्ञातांश की जो वृद्धि हुई है, वह भी मेरे लिए कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

विस्मृत का अन्वेषण और स्मृत का संरक्षण ही इतिहास कहलाता है। प्राचीन इतिहास के प्रकाश में उस नवीन इतिहास का निर्माण होता है, जो भावी संतति के लिए अनुभव-कोष बनता है। जो अपने इतिहास की अवहेलना करते हैं और उसके द्वारा संप्राप्त अनुभवों की ओर से आँख मीचते हैं, वे अपने गौरव की समाप्ति के साथ-

साथ स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं। तेरापन्थ इस विषय में प्रारम्भ से ही जागरूक रहा है। उसने न केवल गौरवशाली इतिहास का निर्माण ही किया है, अपितु उसके अनुभवों के आधार पर अपने आपको अधिक सावधान तथा प्रगतिशील बनाने में भी सफल हुआ है। इतिहास लिखते समय मेरे सम्मुख यह तथ्य बारबार स्पष्ट हुआ है।

प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ को मैंने दो खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड का नाम—'तेरापन्थ के आचार्य' और द्वितीय खण्ड का 'तेरापन्थ की उपलब्धियाँ' रखा गया है। प्रथम खण्ड में तेरापन्थ के नौ आचार्यों का जीवन-वृत्त वर्णित है जबकि द्वितीय में चतुर्विध संघ साहित्य मन्तव्य और व्यवस्था आदि का परिचय कराया गया है।

दोनों खण्ड मिलकर ही तेरापन्थ-इतिहास की समग्रता प्रस्तुत करते हैं अतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि प्रस्तुत खण्ड में सभी आचार्यों का जीवन-वृत्त आ गया है फिर भी उनके जीवन की जो अनेक घटनाएँ विभिन्न साधु-साध्वियों तथा श्रावक श्राविकाओं के जीवन से सम्बन्धित होकर द्वितीय खण्ड के विभिन्न स्थलों पर आई हैं उनका तथा साहित्यिक कृतियों और अनुशासन के प्रकार आदि का पारायण किए बिना किसी भी जीवन-वृत्त को पूर्ण कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार द्वितीय खण्ड में उल्लिखित व्यक्तियों के जीवन की भी अनेक घटनाएँ विभिन्न आचार्यों के जीवन में आ गई हैं अतः वे भी वहाँ अपूर्ण ही हैं। इस परिवेश में कहा जा सकता है कि दोनों खण्डों की पूर्णता और उसी प्रकार अपूर्णता भी परस्पर सापेक्ष है।

इसके लेखन में संघ के हस्तलिखित ग्रन्थों का ही मुख्यतः आधार रहा है। प्रस्तुत खण्ड में छह आचार्यों (क्रमशः पाँच प्रथम आचार्य एवं अष्टम आचार्य) के जीवन-वृत्त उनके पद्यबद्ध जीवन चरित्रों के आधार पर लिखे गये हैं जबकि मघवा-गणी और डालगणी (षष्ठ और सप्तम आचार्य) के जीवन-वृत्त मुख्यतः ख्यात के आधार पर। आचार्यश्री तुलसी के जीवन-वृत्त का प्रथमांश ख्यात के आधार पर और शेषांश का अधिकांश जैन भारती में प्रकाशित विवरणों तथा एतद् विषयक अन्य विविध सामग्री में से यत्र-तत्र प्राप्त घटनाओं पर से लिखा गया है। निकटता तथा समसामयिकता के कारण आचार्यश्री के जीवन-वृत्त का लेखन मैंने सरल समझा था परन्तु सामग्री-संकलन और लेखन की दृष्टि से वही मेरे लिए सर्वाधिक कठिन रहा।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक प्राचीन बहियाँ चौपड़ियाँ तथा हस्तलिखित विविध रूप में विकीर्ण सामग्री भी मेरे इस कार्य में बहुत सहायक हुई है। ज्ञातव्य उनमें अनेक सामग्री उपलब्ध हुई तो कतिपय नवीन भी। मैंने उन सबका यथोचित

और यथावश्यक उपयोग करने का प्रयास किया है। प्राचीन सामग्री मे जहाँ परस्पर विरोधी या अस्पष्ट बातें मिलीं, वहाँ उन्हे उद्धृत करते हुए पूर्वापर कथनों अथवा स्थितियों को ध्यान मे रखकर अपनी ओर से निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है। मैंने यहाँ कुछ ऐसी घटनाओं को भी ग्रहण किया है, जिनका प्राचीन सामग्री में कहीं उल्लेख तो उपलब्ध नहीं हुआ परन्तु वे श्रुतानुश्रुति से सघ में काफी प्रचलित रही हैं।

इस ग्रन्थ का बहुलांश दिल्ली में वि० स० २०१५-१६ तथा कुछ २०१७-१८ में विभिन्न स्थानों पर लिखा गया है। उपयोगिना की दृष्टि से मैंने इसे संवत्-क्रम के बजाय विषय-क्रम से लिखा है।

प्राचीन सामग्री मे घटनाओं का समय बतलाते हुए क्वचित् जैन-क्रम से सवत् का उल्लेख किया गया है तो क्वचित् पञ्चाङ्ग-क्रम से। पञ्चाङ्ग के अनुसार आधे चैत्र के पश्चात् नव वर्ष का प्रारम्भ होता है जबकि जैन-क्रम से श्रावण के साथ। इससे आधे चैत्र से आषाढ तक में घटित होने वाली घटनाओं के समय-निर्धारण में अन्तर आ जाता है। मैंने यथाज्ञात पञ्चाङ्ग-क्रम को ही काम में लिया है।

प्रस्तुत खण्ड के अन्त में ६ परिशिष्ट जोडे गए हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—द्विशताब्दी-समारोह, धवल-समारोह, व्यक्ति-नामावलि, ग्राम-नामावलि, पारिभाषिक-शब्दकोश, उद्धृत ग्रन्थ एवं संकेत-सूचि। प्रथम दो परिशिष्ट तेरापन्थ के इतिहास की दो नवीन कड़ियों की अवगति कराने वाले हैं और शेष चार अध्येता को उद्दिष्ट की जानकारी में सुगमता प्रदान करने वाले।

इतिहास-लेखन के इस कार्य में आचार्यश्री का जो निर्देशन मेरे लिए मार्ग-दर्शक रहा, वह महत्त्वपूर्ण तो अवश्य है पर नवीन कुछ भी नहीं। उनका मार्ग-दर्शन मेरे समग्र जीवन-निर्माण में ही परिव्याप्त रहा है। उन्होंने अपनी व्यस्तता में भी समय निकालकर इस ग्रन्थ का आद्योपान्त जो निरीक्षण किया है, वह इसकी प्रामाणिकता को असन्दिग्ध बनाने में बहुत अपेक्षणीय कहा जा सकता है।

लेखनकाल में उठी आशकाओं में से अनेक का समाधान मैंने वयोवृद्ध मुनिश्री चम्पालालजी 'मीठिया' द्वारा प्राप्त किया है। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक रात्निकों तथा सहयोगियों से भी यथावश्यक सहयोग प्राप्त होता रहा है। मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ।

मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' प्रायः मेरी हर कृति की सुव्यवस्था में सहयोगी रहे हैं। इसमें भी आद्योपान्त उनका श्रम लगा है। मुनि ऋद्धकरणजी (श्री डूंगरगढ)

और मुनि मांगीलालजी 'मधुकर' का श्रम और समय भी मेरे कार्य-भार को हलका बनाने में बहुत सहायक हुआ है। इस ग्रन्थ के आधे से भी अधिक भाग को वर्णात्मकता प्रदान करने का श्रेय इन्हीं दोनों को है, मेरा श्रम तो वहाँ उसकी शब्दात्मकता तक ही सीमित रहा है।

तेरापन्थ-इतिहास के जिज्ञासुओं को मेरा यह परिश्रम यत्किंचित् तृप्ति प्रदान कर सकेगा और उनमें ऐसी नई जिज्ञासाएँ जगा सकेगा जो कि भावी इतिहासकारों को इस ओर उत्प्रेरित करेंगी, ऐसी आशा करता हूँ।

श्रावण पूर्णिमा वि० सं० २०१९ —मुनि बुद्धमल

[illegible]

चौड़ा रास्ता जयपुर

विषयानुक्रम

प्रथम परिच्छेद

(उत्स का सन्धान १-२८)

द्वितीय परिच्छेद

(आचार्य श्री भीखणजी २९-१२२)

तृतीय परिच्छेद

(आचार्य श्री भारमलजी १२३-१६४)

चतुर्थ परिच्छेद

(आचार्य श्री रायचन्दजी १६५-१९०)

पचम परिच्छेद

(श्री जयाचार्य १९१ २८६)

षष्ठ परिच्छेद

(आचार्य श्री मघवागणी २८७-३१६)

सप्तम परिच्छेद

(आचार्य श्री माणकगणी ३१७ ३३४)

अष्टम परिच्छेद

(आचार्य श्री डालगणी ३३५ ३[illegible])

नवम परिच्छेद

(आचार्य श्री कालूगणी ३८९ ४६७)

दशम परिच्छेद

(आचार्य श्री तुलसी ४६६-६७७)

परिशिष्ट ३

परिशिष्ट ४

परिशिष्ट ५

परिशिष्ट ६

प्रथम परिच्छेद

उत्स का सन्धान

प्रथम परिच्छेद

उत्स का सन्धान

: १ :

प्राग्-ऐतिहासिक काल

उत्स की ओर

तेरापथ का इतिहास वि० स० १८१७ आषाढ पूर्णिमा (ईस्वी सन् १७६०) से प्रारम्भ होता है। इस आधार पर उसे एक अर्वाचीन धर्म-सगठन कहा जा सकता है, परन्तु उसके उत्स का सधान करते समय क्रमश भगवान् महावीर और फिर भगवान् ऋषभनाथ तक के समय का अवगाहन करना अनिवार्य हो जाता है। उस स्थिति मे अर्वाचीन तेरापथ अपने में प्राचीनता की उस सीमा को सभाले हुए आगे बढता प्रतीत होता है, जो कि सुज्ञात भारतीय इतिहास की सीमा से भी बहुत परे की है। यो कहा जा सकता है कि तेरापथ जैन-धर्म की शाश्वत प्रवहमान धारा का युग-धर्म के रूप में एक नवीन सस्करण है। तेरापथ के इतिहास को जानने के साथ यह आवश्यक है कि उसके उत्स की ओर भी एक दृष्टि-निक्षेप किया जाए।

भगवान् ऋषभनाथ

अहिंसा, सत्य आदि धर्म के शाश्वत तत्त्व हैं, फिर भी मानव-सस्कृति के विकास और ह्रास के साथ-साथ वे स्मृत और विस्मृत होते रहते है। विस्मृत धार्मिक तत्त्वो को पुन स्मृत कराना धर्म का सस्थापन कहा जाता है। वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी भाग में भगवान् ऋषभनाथ ने सर्वप्रथम धर्म का सस्थापन किया।

उपलब्ध इतिहास की दृष्टि से उस काल को प्राग्-ऐतिहासिक काल कहा जाता है। वर्तमान मानव-सभ्यता का उस काल में बीज-वपन हुआ था। उससे पूर्व मनुष्य युगलरूप में रहता था। वृक्षों से ही अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति किया करता था।

सभ्यता का विकास

भगवान् ऋषभनाथ ने नई सभ्यता की नीव डाली। उन्होने लोगो को कृषिकर्म करना सिखलाया। अग्नि से काम लेने की प्रक्रिया स्थापित की। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तन्त्रों की व्यवस्था की। सभ्यता का वह आदि युग था। भगवान् ऋषभनाथ उसके सस्थापक थे अत वे आदिनाथ कहलाये।

और वहाँ उनकी स्तुति की गई है फिर भी उससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि वेद-रचना से पूर्व उन महापुरुषो के नामो से जनता परिचित थी।

: २ :

ऐतिहासिक काल

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका जन्म वाराणसी मे हुआ था। उनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थी। उन्होने भगवान् महावीर से प्राय दो सौ-पचास वर्ष पूर्व तीर्थ-प्रवर्त्तन किया था। उनकी परम्परा भगवान् महावीर के समय तक अविच्छिन्न चलती रही। स्वय भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के ही अनुयायी थे। भगवान् पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म का उपदेश देते थे[1]। वे चार याम ये थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्धादान।

जैन परम्परा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पचयाम धर्म का प्रवर्त्तन करते है और शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का। भगवान् महावीर ने जब पचयाम धर्म का प्रवर्त्तन किया तब भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक मुनि सदिग्ध हुए कि एक उद्देश्य से प्रवृत्त होने पर भी धर्म में यह द्वैध कैसा ? वे भगवान् महावीर के शिष्यो से मिले, चर्चाए की और दोनो का अभेद समझकर अन्तत पचयाम धर्म में प्रविष्ट हो गये[2]।

उस सम्मिलन से पूर्व तक भगवान् पार्श्व की परम्परा काफी सबल रूप में चलती रही थी। समाज के प्राय सभी वर्गों को उसने प्रभावित किया था। बौद्ध-धर्म-प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध भी प्रारभ में उस परपरा से प्रभावित रहे थे। बौद्ध विद्वान् धर्मानद कौशाबी का मत है कि बोधि-प्राप्ति से पूर्व कुछ समय के लिए महात्मा बुद्ध पार्श्व-परम्परा में दीक्षित हुए थे[3]। बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अपना जीवन-चरित्र बतलाते हुए स्वय बुद्ध ने जो बातें कही हैं वे कौशाबीजी के मत को पुष्ट करने वाली है। वे अधिकाश बातें जैनाचार से सम्बन्धित हैं। उन्होने अपने तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए कहा है—"मैं नग्न रहा। हाथों में भोजन लिया। अभिहित, उद्दिष्ट तथा निमंत्रण का भोजन नही किया। केश-लुचन करता रहा। उदक के एक बिन्दु पर भी दया करता रहा। मुझ से सूक्ष्म जीव भी न मर जाए—ऐसे सावधान रहता था। ग्रीष्म तथा शीत में अकेला भयकर जगल में नग्न रहता। आग से नही तापता और मुनि-अवस्था में लीन रहता[4]।"

१—उत्तराध्ययन २३ २३

२—वही २३

३—पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २४-२६

४—मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्तन्त १२ पृ० ४८-५०

धर्म-प्रवर्तन

लोक धर्म की स्थापना के पश्चात् भगवान् ऋषभनाथ ने लोकोत्तर-धर्म—मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन किया। वह भोग से त्याग की ओर, असंयम से संयम की ओर तथा तम से ज्योति की ओर अभियान था। इस कालचक्र में जैनधर्म का आदि स्रोत यहीं से प्रारम्भ हुआ। भगवान् ऋषभ जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे।

भगवान् अरिष्टनेमि

भगवान् ऋषभ के पश्चात् होने वाले तीर्थंकरों में अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे। वे श्रीकृष्ण के चचेरे भाई होने के साथ-साथ उनके आध्यात्मिक गुरु भी थे। छांदोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण के गुरु का नाम घोर आंगिरस बतलाया गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ का उपदेश दिया था। उस यज्ञ की दक्षिणा बतलाई गई है—तपश्चर्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य[1]। ये सबके सब आत्मगुण हैं। वेदों में आत्म-तत्त्व की कोई सुस्थिर मान्यता प्रतिपादित नहीं मिलती, जबकि जैनधर्म प्रारम्भ काल से ही आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। अतः कुछ इतिहासवेत्ताओं का मत है कि वेदों से भी पूर्व आत्म विषयक व्यवस्थित उपदेश देने वाले जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि ही थे। वैदिक साहित्य में वे ही घोर आंगिरस नाम से वर्णित हुए हैं।

इतिहास की परिधि

भगवान् ऋषभ से लेकर भगवान् अरिष्टनेमि तक के बाईस तीर्थंकरों का काल प्राग्-ऐतिहासिक इसलिए कहा जाता है कि उस काल पर प्रकाश डालने वाला कोई तत्-कालीन साहित्य अथवा वास्तु शिल्प आदि उपलब्ध नहीं है। जैन-साहित्य का अधिकांश भाग प्रायः भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का अवश्य सम्मिलित माना जाता है। बौद्ध-साहित्य ने तो निस्सन्देह महात्मा बुद्ध से ही अपना आदि स्रोत प्रारम्भ किया है।

वैदिक-साहित्य अपेक्षाकृत अवश्य प्राचीन है। उनमें वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। उनका अस्तित्व पाँच हजार वर्ष पूर्व का कहा जाता है। वर्तमान इतिहास की परिधि भी प्रायः वहीं तक सीमित है। उसके पूर्व की घटनाओं को सिद्ध करने का कोई मार्ग उपलब्ध नहीं है।

सुदूर अतीत

उपर्युक्त बाईस तीर्थंकरों का समय इतिहास की दृष्टि-शक्ति से परे सुदूर अतीत में चला जाता है। यद्यपि वेदों में भगवान् ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि का नामोल्लेख हुआ है[2]

1—छांदोग्य उपनिषद् ३।१७

2—'इंडियन फिलॉसफी' में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं—

"The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Arishtanemi." (Vol. I p. 287)

और वहाँ उनकी स्तुति की गई है फिर भी उससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि वेद-रचना से पूर्व उन महापुरुषो के नामो से जनता परिचित थी ।

: २ :

ऐतिहासिक काल

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे । उनका जन्म वाराणसी में हुआ था । उनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थी । उन्होने भगवान् महावीर से प्राय दो सौ-पचास वर्ष पूर्व तीर्थ-प्रवर्त्तन किया था । उनकी परम्परा भगवान् महावीर के समय तक अविच्छिन्न चलती रही । स्वय भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के ही अनुयायी थे । भगवान् पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म का उपदेश देते थे[१] । वे चार याम ये थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और वहिर्धादान ।

जैन परम्परा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पचयाम धर्म का प्रवर्त्तन करते हैं और शेष वाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का । भगवान् महावीर ने जब पचयाम धर्म का प्रवर्त्तन किया तब भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक मुनि सदिग्ध हुए कि एक उद्देश्य से प्रवृत्त होने पर भी धर्म में यह द्वैध कैसा ? वे भगवान् महावीर के शिष्यो से मिले, चर्चाए की और दोनों का अभेद समझकर अन्तत पचयाम धर्म मे प्रविष्ट हो गये[२] ।

उस सम्मिलन से पूर्व तक भगवान् पार्श्व की परम्परा काफी सवल रूप में चलती रही थी । समाज के प्राय सभी वर्गों को उसने प्रभावित किया था । बौद्ध-धर्म-प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध भी प्रारभ में उस परपरा से प्रभावित रहे थे । वौद्ध विद्वान् धर्मानद कौशावी का मत है कि बोधि-प्राप्ति से पूर्व कुछ समय के लिए महात्मा बुद्ध पार्श्व-परम्परा में दीक्षित हुए थे[३] । बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अपना जीवन-चरित्र वतलाते हुए स्वय बुद्ध ने जो वातें कही हैं वे कौशाबीजी के मत को पुष्ट करने वाली है । वे अधिकाश बातें जैनाचार से सम्बन्धित है । उन्होने अपने तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए कहा है—"मैं नग्न रहा । हाथो में भोजन लिया । अभिहित, उद्दिष्ट तथा निमंत्रण का भोजन नही किया । केश-लुचन करता रहा । उदक के एक बिन्दु पर भी दया करता रहा । मुझ से सूक्ष्म जीव भी न मर जाए—ऐसे सावधान रहता था । ग्रीष्म तथा शीत में अकेला भयकर जगल में नग्न रहता । आग से नही तापता और मुनि-अवस्था में लीन रहता[४] ।"

१—उत्तराध्ययन २३-२३

२—वही २३

३—पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २४-२६

४—मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्तन्त १२ पृ० ४८-५०

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। बिहार प्रांत के क्षत्रिय कुंडपुर में ई० पू० ५९९ में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता वैशालीपति चेटक की बहिन त्रिशला थी[1]। भगवान् महावीर जब युवावस्था को प्राप्त हुए तब यशोदा नामक राजकन्या के साथ उनका विवाह किया गया[2]। उनके प्रियदर्शना नामक एक पुत्री हुई जो कि राजकुमार जमालि को ब्याही गई।

तीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में सहज प्राप्त सुखों को ठुकराकर वे आत्म-साधना में लग गये। दीक्षित होते समय उनकी प्रथम प्रतिज्ञा थी—आज से मेरे लिए सब प्रकार के दोषाचरण अकरणीय हैं[3]। उन्होंने अपने आपको तपश्चर्या और तत्त्व चिन्तन में लगा दिया। बारह वर्ष और साढ़े पाँच महीने की निरन्तर साधना के अनन्तर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई।

अपनी साधना के शिखर को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्होंने मध्यम पावा में आकर सब प्राणियों के हितार्थ धर्मोपदेश दिया। उन्हीं दिनों वहाँ सोमिल नामक धनाढ्य ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ विषयक एक विशाल अनुष्ठान चल रहा था। उसकी पूर्ति के लिए इन्द्रभूति आदि ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण वहाँ आये हुए थे। महावीर की प्रशंसा सुनकर उनका पांडित्य जाग्रत हुआ। वे उनको शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए एक-एक करके वहाँ आये किन्तु उनके धर्मोपदेश से स्वयं प्रभावित हो गये। महावीर ने उनके प्रच्छन्न संशयों का भी समाधान प्रस्तुत कर दिया। वे भद्रावलीस बने और भगवान् के पास प्रव्रजित हो गये। भगवान् ने साधु समूह की व्यवस्था का भार उपर्युक्त ग्यारह विद्वान् शिष्यों को सौंपा अतः वे गणधर कहलाये। साध्वी-समूह की व्यवस्था के लिए उन्होंने आर्या चंदनबाला को नियुक्त किया। उनके गृहस्थ भक्त श्रावक और श्राविका कहलाए। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना हुई और धर्म तीर्थ का प्रवर्तन हुआ।

उन्होंने अंग बंग मगध विदेह, काशी कोशल वत्स अवन्ती कलिंग पांचाल और सिन्धु-सौवीर आदि देशों में विहार किया। मगधराज श्रेणिक (बिंबसार) और कूणिक (अजातशत्रु) वैशालीपति चेटक अवन्तीपति प्रद्योत कौशाम्बीपति शतानीक आदि प्रभावशाली राजा तथा आनंद कामदेव आदि धनकुबेर वैश्य उनके अनन्य भक्त बन गये। स्कंदक आदि अन्य मतावलम्बी संन्यासी भी उनके सर्व-भूत-समभावकारी उपदेश से प्रभावित होकर उनके पास प्रव्रजित हुए। हरिकेशी जैसे शूद्र समझे जाने वाले व्यक्ति भी उनके धर्म-तीर्थ में आकर जैन-मुनि बन गये।

१—आवश्यक चूर्णी में कहा गया है—"भगवती माया चेडगस्स भगिणी"; परन्तु दिगंबर मान्यता है कि वह चेटक की पुत्री थी।

२—दिगंबर मान्यता है कि महावीर अविवाहित थे।

३—सर्वं मे अकरणिज्जं पाव कम्मंति (आचा० २ २४)

लगभग तीस वर्ष तक जनपद-विहार करते हुए भगावन् महावीर ने जनता को अहिंसा और अनेकातवाद का उपदेश दिया। उन्होने अपना अतिम वर्षावास मध्यम पावा मे विताया। वहाँ वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) कार्तिक अमावस्या की रात्रि मे वे निर्वाणपद को प्राप्त हुए।

उत्तरवर्त्ती आचार्य

भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् आर्य सुधर्मा से उत्तरवर्त्ती आचार्यों की परपरा प्रारभ होती है। विभिन्न ग्रंथो में वर्णित आचार्य परपराओ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वह मुख्यत तीन प्रकार से वर्णित मिलती है—

१—गणाचार्य

२—वाचनाचार्य

३—युग-प्रधान आचार्य

गणाचार्य परम्परा अपने-अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती रही है, जबकि वाचक तथा युग-प्रधान परम्परा किसी एक गण से सम्बन्धित नही है। वह जिस किसी भी गण या शाखा मे होने वाले एक के पश्चात् दूसरे समर्थ वाचनाचार्यो तथा युग-प्रधान आचार्यो के क्रम को जोडने से बनी है। अपने युग के सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य को युग-प्रधान आचार्य माना गया है। वे गणाचार्य तथा वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं। गणाचार्य का कार्य गण की चारित्रिक सुव्यवस्था करना और वाचनाचार्य का कार्य शैक्षणिक सुव्यवस्था करना है। आचार्य सुहस्ती तक ये दोनों कार्य अविभक्त थे परन्तु बाद में विभक्त हो गये। गणाचार्य-परम्परा को गणधर-वश तथा वाचनाचार्य-परम्परा को वाचक-वश या विद्याधर-वश भी कहा जाता रहा है।

विभिन्न पट्टावलियाँ

१—हिमवत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वश या विद्याधर-वश की परम्परा इस प्रकार है—

(१) गणधर सुधर्मा	(१०) आचार्य सुहस्ती
(२) आचार्य जम्बू	(११) आर्य बहुल और बलिसह
(३) ,, प्रभव	(१२) आचार्य (उमा) स्वाति
(४) ,, शय्यभव	(१३) ,, श्याम
(५) ,, यशोभद्र	(१४) ,, साडिल्य (स्कदिल)
(६) ,, सभूति विजय	(१५) ,, समुद्र
(७) ,, भद्रबाहु	(१६) ,, मगुसूरि
(८) ,, स्थूलभद्र	(१७) ,, नदिलसूरि
(९) ,, महागिरि	(१८) ,, नागहस्तीसूरि

(१९) आचार्य रेवतिनक्षत्र	(२५) आचार्य लोहित्यसूरि
(२) सिंहसूरि	(२६) ,, दुष्यगणी
(२१) ,, स्कंदिल	(२७) ,, देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
(२२) ,, हिमवन्त क्षमाश्रमण	(२८) ,, कालक (चतुर्थ)
(२३) नागार्जुनसूरि	(२९) सत्यमित्र (अंतिम पूर्वविद्)
(२४) ,, भूतदिन्न	

२—दुःषम काल-श्रमण-संघस्तव और विचार-श्रेणी के अनुसार 'युग प्रधान-पट्टावली' और समय इस प्रकार है —

आचार्यों के नाम	समय (वीर निर्वाण)
(१) भगवान सुधर्मा	१ से २
(२) आचार्य जम्बू	२ से ६४
(३) प्रभव	६४ से ७५
(४) शय्यंभव	७५ से ९८
(५) यशोभद्र	९८ से १४८
(६) संभूति विजय	१४८ से १५६
(७) भद्रबाहु	१५६ से १७
(८) स्थूलभद्र	१७ से २१५
(९) महागिरि	२१५ से २४५
(१) सुहस्ती	२४५ से २९१
(११) गुणसुन्दर	२९१ से ३३५
(१२) श्याम	३३५ से ३७६
(१३) स्कंदिल	३७६ से ४१४
(१४) ,, रेवतिमित्र	४१४ से ४५
(१५) ,, धर्मसूरि	४५ से ४९५
(१६) ,, भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३
(१७) श्री गुप्तसूरि	५३३ से ५४८
(१८) वज्रस्वामी	५४८ से ५८४
(१९) ,, आर्यरक्षित	५८४ से ५९७
(२) दुर्बलिका पुष्यमित्र	५९७ से ६१७
(२१) ,, वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२
(२२) ,, नाग हस्ती	६२ से ६८९
(२३) रेवतिमित्र	६८९ से ७४८

(२४) आचार्य सिंहसूरि		७४८ से ८२६
(२५) ,,	नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४
(२६) ,,	भूतदिन्नसूरि	९०४ से ९८३
(२७) ,,	कालकसूरि (चतुर्थ)	९८३ से ९९४
(२८) ,,	सत्यमित्र	९९४ से १०००
(२९) ,,	हारिल्ल	१००० से १०५५
(३०) ,,	जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण	१०५५ से १११५
(३१) ,,	(उमा) स्वाति सूरि	१११५ से ११९७
(३२) ,,	पुष्यमित्र	११९७ से १२५०
(३३) ,,	सभूति	१२५० से १३००
(३४) ,,	माठर सभूति	१३०० से १३६०
(३५) ,,	धर्म ऋषि	१३६० से १४००
(३६) ,,	जेष्ठागगणी	१४०० से १४७१
(३७) ,,	फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०
(३८) ,,	धर्मघोष	१५२० से १५९८

३—वाल्लभी युग-प्रधान-पट्टावली इस प्रकार है—

		काल
(१) आर्य सुधर्मा		२० वर्ष
(२) आचार्य जम्बू		४४ वर्ष
(३) ,,	प्रभव	११ वर्ष
(४) ,,	शय्यभव	२३ वर्ष
(५) ,,	यशोभद्र	५० वर्ष
(६) ,,	सम्भूति विजय	८ वर्ष
(७) ,,	भद्रबाहु	१४ वर्ष
(८) ,,	स्थूलभद्र	४६ वर्ष
(९) ,,	महागिरि	३० वर्ष
(१०) ,,	सुहस्ती	४५ वर्ष
(११) ,,	गुणसुन्दर	४४ वर्ष
(१२) ,,	कालक	४१ वर्ष
(१३) ,,	स्कदिल	३८ वर्ष
(१४) ,,	रेवतिमित्र	३६ वर्ष

(१५) आचार्य मंगु		२० वर्ष
(१६)	धर्म	२४ वर्ष
(१७)	भद्रगुप्त	४१ वर्ष
(१८) ,,	आर्यवज्र	३६ वर्ष
(१९)	रक्षित	१३ वर्ष
(२)	पुष्यमित्र	२० वर्ष
(२१)	वज्रसेन	३ वर्ष
(२२)	नागहस्ती	६९ वर्ष
(२३)	रेवतिमित्र	५९ वर्ष
(२४)	सिंहसूरि	७८ वर्ष
(२५) ,,	नागार्जुन	७८ वर्ष
(२६)	भूतदिन्न	७९ वर्ष
(२७)	कालक	११ वर्ष
	कुल	९८१ वर्ष

४—माथुरी युग प्रधान पट्टावली इस प्रकार है—

(१) आर्य सुधर्मा
(२) आचार्य जम्बू
(३) प्रभव
(४) शय्यंभव
(५) यशोभद्र
(६) सम्भूति विजय
(७) भद्रबाहु
(८) स्थूलभद्र
(९) महागिरि
(१) सुहस्ती
(११) ,, बलिस्सह
(१२) स्वाति
(१३) श्याम
(१४) शांडिल्य
(१५) ,, समुद्र
(१६) ,, मंगु

(१७) आचार्य आर्यधर्म
(१८) भद्रगुप्त
(१९) वज्र
(२) रक्षित
(२१) आनंदिल
(२२) नागहस्ती
(२३) रेवतिनक्षत्र
(२४) ब्रह्म-दीपक सिंह
(२५) स्कंदिल
(१६) हिमवंत
(२७) ,, नागार्जुन
(२८) गोविन्द
(२९) भूतदिन्न
(३) लोहित्य
(३१) दुष्यगणी
(३२) ,, देवर्द्धिगणी

शुद्ध परपरा

भगवान् महावीर को निर्वाण हुए सहस्र वर्ष भी पूरे नही हो पाये थे कि उनकी शुद्ध-परम्परा का लोप हो गया । सुप्रसिद्ध आगम-टीकाकार अभयदेवसूरि के कथनानुसार देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक ही भाव-परपरा चलती रही परन्तु उसके पश्चात् मुनि-गण शिथिलाचारी हो गया और नानारूपों में द्रव्य-परपरा का बोलबाला हो गया [१] ।

शिथिलाचार का प्रारम्भ

शिथिलाचार का प्रारम्भिक सूत्रपात आर्य सुहस्ती से हुआ । वे सम्राट् सप्रति के गुरु बनकर कुछ सुविधाओ का उपभोग करने लगे थे । सप्रति ने दुर्भिक्ष के समय मुनिजनों को आहार सुलभ करने के लिए लोगो को कुछ सकेत किया और तदनुसार साधुओं को यथेष्ट भोजन मिलने लगा । आचार्य महागिरि जब वहाँ आये और दुर्भिक्ष के समय भी आहार की इतनी सुलभता देखी तो उन्हें कुछ सदेह हुआ । पता लगाने पर सारी स्थिति स्पष्ट सामने आ गई । उन्होंने आर्य सुहस्ती से उस विषय में पूछा तो वे उसका यथेष्ट उत्तर नही दे पाये । इसपर महागिरि ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया[२] । आचार्य महागिरि की उस दृढ नीति ने आर्य सुहस्ती को सभलने के लिए बाध्य कर दिया । यद्यपि आर्य सुहस्ती तो शीघ्र ही सभल गये, परन्तु जो शिथिलाचार उनसे प्रश्रय पा चुका था, वह निर्मूल नही हो सका । अन्दर-ही-अन्दर शुद्ध परम्परा के साथ-साथ एक शिथिल परम्परा भी चल पडी और चलती रही ।

पडित बेचरदासजी के मतानुसार तो शिथिलता का चक्र और भी पहले प्रारम्भ हो गया था । वे लिखते हैं—"जम्बूस्वामी तक ही जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा । उसके बाद ही जान पडता है कि बुद्धदेव के अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्ग का उनपर प्रभाव पडने लगा । शुरू-शुरू में तो शायद जैन धर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओ जैसी आचार की छूट लेते होगे, परन्तु पीछे उसका उन्हें अभ्यास हो गया । इस तरह एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढती गई जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई[३] ।"

सम्प्रदाय-भेद के बीज

जहाँ विचार होता है वहाँ विचार-भेद की सभावना भी रहती ही है । विचार-समन्वय और विचार-भेद का इतिहास प्राय एक समान ही प्राचीन है । पारस्परिक विचार-समन्वय जहाँ किसी भी सगठन के लिए नीव का पत्थर बनता है, वहाँ विचार-भेद उसको विभक्त

१—देवड्ढि खमासमणजा, परपर भावओ वियाणेमि ।
सिढियायारे ठविया, दव्वेण परपरा वहुहा ॥—आगम अष्टोत्तरी

२—बृहत्कल्प चूर्णि उ० १

३—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३५१

कर देने वाला विस्फोट होता है । विस्फोट में से फिर विचार-समन्वय की खोज होती है उसी आधार पर नये संगठन अथवा सम्प्रदायों की नींव रखी जाती है ।

भगवान् महावीर के शासन में विचार भेद का क्रम उनकी विद्यमानता में ही आरम्भ हो गया था । गोशालक प्रारम्भ में उनका शिष्य रहा था परन्तु बाद में पृथक् होकर वह आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य बन गया था । महावीर का जामाता जमालि भी उनकी विद्यमानता में ही विचार भेद हो जाने पर उनके धर्म-संघ से पृथक् हो गया और अपना स्वतन्त्र प्रचार करने लगा था । गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो गया था जबकि जमालि कुछ बातों में ही मत भेद रखता था । उन दोनों ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता का विरोध किया था अतः उनके संगठनों को जैन शासन के अंतर्गत सम्प्रदायों की गणना में नहीं लिया जाता । भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्तों पर अखंड विश्वास रखने वाले विभिन्न संगठनों को ही इस गणना में लिया जाता है ।

जैन-संघ में तीर्थङ्कर-वाणी को सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है । वह आगमानुगत शब्दों के आधार पर सूत्ररूप में प्रकथित है । उसकी व्याख्या में विभिन्न मतभेद हुए जो कि सम्प्रदाय भेद के बीज कहे जा सकते हैं । भाष्यकार तथा टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे । उन्होंने मूल के आशय को यद्यपि परम्परा के प्रकाश में ही देखने का प्रयास किया फिर भी जहाँ-जहाँ वह हृदयंगम नहीं हो पाया वहाँ-वहाँ उन्होंने अपनी-अपनी युक्तियों को काम में लिया । फलस्वरूप अनेक मतभेद हुए और वे समय-परिपाक से विभिन्न-सम्प्रदायों के रूप में पनपित हुए ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

वीर निर्वाण के ६ ९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना हुई—ऐसी श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है । दिगम्बरों का कथन है कि वीर निर्वाण से ६ ६ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ । दोनों सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा मानकर चलते हैं । कौन मूल है तथा कौन शाखा है—यह अनुसंधान का विषय है । शब्द की दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर—ये दोनों ही परस्पर-सापेक्ष हैं । इनमें से किसी एक का नामकरण होने के पश्चात् ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी । दोनों ही नामों में वस्त्र की प्रधानता की गई है अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परस्पर अन्य कितने ही मत भेद क्यों न रहे हों परन्तु सम्प्रदाय भेद का मुख्य कारण अचेलत्व-सचेलत्व का प्रश्न ही रहा था ।

भगवान् महावीर ने अपने संघ में अचेल और सचेल—दोनों ही प्रकार के श्रमणों को समान रूप से स्थान दिया था । अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे । उनके प्रभावक व्यक्तित्व का पोषण पाकर संयम की भूमिका पर जमा हुआ श्रमण संघ का वह पुष्ट समन्वय के अपने प्रभाव पर चिरकाल तक दोनों ही शाखाओं को समानरूप से धारण करता रहा ।

वह अभेद महावीर-निर्वाण के पश्चात् बहुत लम्बा नही चल सका। जम्बू स्वामी के दिवगत होने के साथ ही भेद-वृत्ति पनपने के सकेत मिलते है। उनके दिवगत होने के साथ ही जिन दस वस्तुओ का लोप माना गया है, उनमे एक जिनकल्पिक अवस्था भी है[1]। सम्भव है अन्तरग मे पनप रहे द्वैध की वह प्रथम घोषणा रही हो। उसके कुछ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक में आचार्य शय्यभव का यह स्पष्टीकरण भी कि ज्ञातपुत्र महावीर ने सयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र-धारण को परिग्रह नहीं कहा है, उन्होंने तो मूर्च्छा को परिग्रह कहा है[2]— उसी भेद-रेखा की और अधिक स्पष्टता के साथ सकेत करता है। इतना होते हुए भी उस समय वह मतभेद अन्दर-ही-अन्दर चलता रहा प्रतीत होता है।

वाहर उस मतभेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जबकि आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति मे वी० नि० १६० के लगभग पाटलीपुत्र में महासम्मेलन बुलाया गया और उसमें ग्यारह अगो का सकलन किया गया। वह वाचना सबको पूर्ण मान्य नही हो सकी। उससे पूर्व परस्पर में केवल आचार-सम्बन्धी मतभेद ही चलता था, परन्तु उसके पश्चात् श्रुत-सम्बन्धी मतभेद भी चालू हो गया। इतना होने पर भी दोनो ही परम्पराएँ ज्यो-त्यो साथ साथ चलती रही। कालान्तर में जब मतभेदो का दबाव इतना अधिक हो गया कि साथ-साथ चल पाना असभव हो गया, तब वी० नि० ६०९ (ईस्वी सन् ८३) में जैन श्रमण-सघ का एकत्व श्वेताम्बर और दिगम्बर के द्वित्व में परिणत हो गया।

चैत्यवासी और सविग्न

जैन धर्म में सुव्यवस्था के लिए प्रारम्भ में अनेक गणो की व्यवस्था थी। भगवान् महावीर के समय में ग्यारह गण थे। उनके पश्चात् भी पृथक् पृथक् आचार्यों के नाम से पृथक्-पृथक् गण या गच्छ चलते रहे थे। परन्तु वे सब परस्पर अविरोधी थे। उनमें कोई मतभेद अथवा विग्रह नही था। वी० नि० ८८२ में चैत्यवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई[3]। इसके साथ ही दूसरा पक्ष सविग्न, सुविहित-मार्गी या विधिमार्गी कहलाया। फलस्वरूप श्वेताम्बर मुनि-गण दो विभागों में विभक्त हो गये।

चारित्रिक शिथिलता का प्रारम्भ तो आर्य सुहस्ती से ही हो गया था, परन्तु सम्प्रदाय रूप में उसकी व्यवस्थित स्थापना नौवी शताब्दी में हुई। उस समय शिथिलाचार के कारण कुछ मुनि उग्र विहार छोडकर मन्दिरो के परिपार्श्व मे रहने लगे। धीरे-धीरे

१—गण परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जबुम्मि वुछिन्ना ॥ —विशेषावश्यक भाष्य २५९३

२—ज पि वत्थ व पायं वा, कबलं पायपुच्छण।
तं पि सजमलज्जट्ठा, धारति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्त महेसिणा ॥ —दशवैकालिक ६। १९, २०

३—धर्मसागरकृत पट्टावली

उन्होंने अपना बल बढ़ाया। वी० नि० की दसवीं शताब्दी तक उनके उत्थान का कोई प्राबल्य नहीं था। देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के दिवंगत होते ही उनका बल बढ़ गया। उन्होंने विद्याबल और राज्यबल—दोनों के द्वारा उग्र विहारी श्रमणों पर प्रबल प्रहार किया। वे लोग मठाधीश बनकर तो रहने ही लगे थे पर साथ ही वैद्यक, निमित्त-ज्ञान तथा जंत्र होरा ताबीज आदि भी करने लगे थे। सुविहित-मार्गी मुनियों ने उनके शिथिलाचार के विरुद्ध लम्बे समय तक अपना अभियान चालू रखा था। आचार्य हरिभद्र ने 'संबोधप्रकरण' में आचार्य जिनवल्लभ ने 'संघ-पट्टक' में और आचार्य जिनपति ने उसकी टीका में चैत्यवासियों के शिथिलाचार पर प्रबल प्रहार किये हैं।

लोंकामत

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने आचार की कठोरता के पक्ष को प्रबल किया। उन्होंने धर्म के क्रियानुष्ठानों, कुसंस्कारों आदि को मिटाने का प्रयास किया। मूर्तिपूजा के वे प्रबल विरोधी थे। कबीर आदि ने मूर्ति-पूजा का विरोध प्राचीन शास्त्रों को छोड़कर केवल आत्मानुभव के आधार पर किया था परन्तु लोंकाशाह ने इस कार्य में प्रमाणतः प्राचीन शास्त्रों का ही आश्रय लिया। ऐसा अभिमत है कि वे कुछ समय तक कबीर के समकालीन थे।

कुछ लोगों की मान्यता है कि लोंकाशाह ने स्वयं दीक्षित होकर धर्म प्रचार किया था तो कुछ उसके विपरीत यह मानते हैं कि वे अन्त तक गृहस्थ ही रहे थे। दोनों ही धारणा वाले व्यक्ति इस बात पर एक मत हैं कि उन दिनों उनके मन्तव्यों का प्रचार बड़े जोरों से हुआ था। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों तीर्थ-यात्रा के लिए जाता हुआ कोई संघ अहमदाबाद में ठहरा था। उसके अनेक व्यक्ति लोंकाशाह के सम्पर्क में आये। उन्हीं में से पैंतालीस व्यक्ति प्रतिबुद्ध हुए और उन सबने वि० सं० १५३१ में (कुछ के मतानुसार १५३३ में) एक साथ दीक्षा ग्रहण की। तभी से उनके पन्थ का नाम 'लोंकागच्छ' हुआ। कुछ लोग उनके धर्म को 'दया-धर्म' भी कहते हैं। जितने वेग से लोंकामत का प्रसार हुआ था उतने ही वेग से वह छिन्न-भिन्न भी हो गया। केवल तीस वर्ष की अवधि में ही उसमें अनेक शाखाएँ हो गईं। मूलतः लोंकामत का दर्शनपक्ष प्रारम्भ से ही निर्बल रहा। उसकी सम्यक् व्यवस्था कभी हो ही नहीं पाई थी।

स्थानकवासी

लोंकाशाह के अनुयायियों में आगे चलकर लवजी मुनि हुए। उन्होंने वि० सं० १७०९ में 'ढूंढिया' सम्प्रदाय का उद्भव किया। कालान्तर में इस सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य धर्मदासजी (वि० सं० १७२१ में दीक्षित) हुए। उनके निन्यानवे शिष्य हुए।

१—श्र० भि० म० १ १२२

आचार्य धर्मदास के दिवगत होने पर वे सव बाईस शाखाओ में विभक्त हो गये। फलस्वरूप उनकी शिष्य-परम्परा 'बाईसटोला' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस समय तक उक्त परपरा की सत्रह शाखाओं का पूर्णत· लोप हो चुका है[1]। शेष पाँच शाखाओं में भी साधुओं की सख्या नगण्य रह गयी है, फिर भी यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि ढूढिया सम्प्रदाय की समग्र शाखाओं को लोग इसी नाम से पहचानने लगे।

'स्थानकवासी' नाम अपेक्षाकृत अर्वाचीन है परन्तु वर्तमान में यही अधिक प्रचलित है। यह नाम सम्भवत तब प्रचलित हुआ जबकि इस सम्प्रदाय के मुनि स्थानको में रहने लगे। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य क्षितिमोहन सेन का इस विषय में यह अभिमत है—"बाद में जब लोगों में ठीक रूप से उनकी प्रतिष्ठा हो गई तब इस सम्प्रदाय के लोग भिन्न-भिन्न जगहो में अड्डे जमाने लगे और साम्प्रदायिक वैभव खडा होने लगा। क्रमशः उनको 'स्थानक' दोष स्पर्श करने लगा। इसलिए उन्हें 'स्थानकवासी' कहने लगे[2]।"

तेरापथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय में से तेरापथ का उद्भव हुआ। आचार्य धर्मदासजी के बाईस शिष्यो में से एक धन्नोजी थे। उनके तृतीय पट्ट पर आचार्य रुघनाथजी हुए। तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य भीखणजी ने उन्ही के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने सघ के आचार विचार को आगमो के कपोपल पर कस कर देखा, तो अनेक अपूर्णताएँ मिली। सगठन के अभाव ने भी उनके मन को झकझोरा। फलस्वरूप वि० स० १८१७ आषाढ पूर्णिमा के दिन तेरापथ की स्थापना हुई। आदि में तेरह साधु तथा तेरह ही श्रावक थे, अत. इसका नाम 'तेरापथ' पड गया। स्वामीजी ने उस नाम को स्वीकार करते हुए उसका अर्थ किया—"हे प्रभो! यह तेरापथ है।"

स्वामी भीखणजी ने श्रमण-सघ के जिस सुदृढ स्वरूप का स्वप्न देखा था, उसे उन्होंने तेरापथ में मूर्त्त रूप दिया। आचार-शुद्धि बनाये रखने के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाएँ कीं। आगमानुमोदित विचारों की स्थापना के लिये उन्होंने आगम-मथन किया और अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया। सगठन की दृढता के लिए उन्होंने व्यक्तिगत शिष्य प्रथा को समाप्त किया और समूचे सघ के लिए एक ही आचार्य का होना मान्य रखा। थोडे ही दिनों में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापथ अन्य श्रमण-सघों के लिए अनुकरणीय बन गया।

१—वि० सं० १९९१ में प्रकाशित 'श्री जैन धर्म नो प्राचीन सक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली' पृ० २२०

२—जैन धर्म की प्राणशक्ति शीर्षक लेख—जैन भारती १९४९, १० ३

दिगम्बर तेरापंथ

श्वेताम्बरों के समान दिगम्बरों में भी अनेक शाखाएँ हुईं। उनमें भी एक शाखा का नाम 'तेरापंथ' है। यह भी शिथिलाचार के विरुद्ध एक क्रांति का ही परिणाम है। दिगम्बर-परम्परा में भी जब शिथिलाचार व्याप्त होने लगा तब मुनिजन वन विहार छोड़कर चैत्यों में रहने लगे। जो 'भट्टारक' शब्द पूज्य तथा आदरणीय अर्थ में दिगम्बराचार्यों के नाम के साथ उपाधि रूप में जोड़ा जाता था, कालान्तर में वह किसी मठ या मन्दिर के स्वामी मुनि के लिए रूढ़ हो गया। मठवास की यह प्रवृत्ति चौथी-पाँचवीं शती से चलने लगी थी। परम्परा निष्ठ साधु उनके शैथिल्य से बड़े असन्तुष्ट थे। उन्होंने यथासम्भव तीव्रता से उसका विरोध किया। फलस्वरूप उनमें दो संघ हो गये—वनवासी और चैत्यवासी। ये दोनों क्रमशः मूल-संघ और द्राविड़-संघ नाम से प्रसिद्ध हुए।

देवसेन कृत 'दर्शनसार' के मतानुसार पूज्यपाद देवनंदी के शिष्य वज्रनंदी ने द्राविड़-संघ की स्थापना सं० ५२६ में की थी। उसके पश्चात् उसका बल बढ़ता गया और बारहवीं शती तक पहुँचते-पहुँचते प्राय सभी प्रमुख आचार्य मठाधीश हो गए। भट्टारक सम्प्रदाय के वे आचार्य न केवल मठादि की व्यवस्था ही करते थे अपितु उनकी संपत्ति का भी उपभोग करने लगे थे। राजगुरु होकर वे छत्र पालकी सुखासन आदि द्वारा एक प्रकार से राज-वैभव संपन्न हो गये। उनकी प्रवृत्तियाँ प्राय श्वेताम्बर चैत्यवासियों के समान ही चली आ रही हैं। तेरहवीं शताब्दी में भट्टारक वसंतकीर्ति ने अपवाद-वेष के रूप में कभी-कभी वस्त्र धारण करने की परम्परा भी प्रचलित की थी।

श्वेताम्बरों में जिस प्रकार लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा को अमान्य किया था उसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में तारण स्वामी (वि० १५०५ से १५७२) ने भी मूर्ति को अमान्य घोषित किया। उन्होंने 'तारण-तरण समाज' की स्थापना की। यह समाज चैत्यालय के स्थान पर 'सरस्वती भवन' बनाता है और मूर्ति के स्थान पर शास्त्रों को विराजित करता है। इस समाज का बल अधिक नहीं बढ़ सका। भट्टारकों की सत्ता पर इसका कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। वे परिग्रह से अधिकाधिक संबद्ध होते गये। कुछ तो मंत्र ज्योतिष वैद्यक आदि में ही अपना बहुत-सा समय लगाने लगे।

भट्टारकों के शैथिल्य की प्रतिक्रिया हुई। धर्म-ग्रन्थों के अभ्यासी विद्वान् व्यक्ति उन लोगों को अनादर की दृष्टि से देखने लगे। उनकी ओर से उदासीन होकर वे लोग कुंदकुंद, अमृतचंद्र, सोमप्रभ आदि के अध्यात्म-ग्रन्थों का अभ्यास करने लगे। वे अतः अध्यात्मी कहलाने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में पंडित बनारसीदासजी द्वारा इस परम्परा को विशेष बल मिला। तब से

अध्यात्म-विद्वानो की वह् परम्परा वाणारसीय या बनारसी मत के नाम से प्रसिद्ध हुई[१]। किन्तु आगे चलकर उसका नाम तेरापथ हो गया। इसके साथ ही भट्टारकों का प्राचीन मार्ग 'बीसपथ' कहलाने लगा।

श्वेताम्बर और दिगम्बर— इन दोनों ही परपराओ में 'तेरापथ' का यह नाम-साम्य एक विचित्र सयोग की ही बात कही जा सकती है। श्वेताम्बर तेरापथ नामकरण का तो एक सुनिश्चित इतिहास है[२]। किन्तु दिगम्बर तेरापथ का नाम कब हुआ और क्यों हुआ—यह अभी तक अज्ञात ही है। दिगम्बर आम्नाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् पडित नाथूरामजी 'प्रेमी' का अनुमान है कि श्वेताम्बर तेरापंथ के उदय के पश्चात् ही दिगम्बर-परम्परा में यह नाम प्रयुक्त होने लगा है। वे लिखते हैं—"बहुत सभव है कि ढूढको स्थानकवासियो) में से निकले हुए तेरापथियो के जैसा निंदित बतलाने के लिए वे लोग जो भट्टारकों को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे, इसके अनुगामियों को तेरापथी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वय इनसे बडे बीसपथी कहलाने लगे हो। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पडता है कि इधर के लगभग डेढ-सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपथ के उल्लेख मिलते हैं, पहले के नहीं[३]।"

अन्तिम सम्प्रदाय

जैन धर्म में तेरापथ को अन्तिम सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके प्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी ने इसकी सगठना में अत्यन्त दूरदर्शिता से काम लिया है। आचार-विशुद्ध के आग्रह के साथ-साथ उन्होंने सघ की एकता पर विशेष रूप से बल दिया। उन्होंने सघ की नियमावलि में इस प्रकार की सुव्यवस्था की कि सघ का हर सदस्य परस्पर समानता का अनुभव कर सके, पक्षपात-रहित न्याय प्राप्त कर सके, आवश्यकता पर पूर्णरूपेण सेवा प्राप्त कर सके और सबसे प्रमुख बात यह है कि सयम के अनुकूल वातावरण प्राप्त कर सके।

तेरापथ के दो-सौ वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके सदस्यों की एकता किन्ही सामयिक स्वार्थों के खडों को जोडकर नही बनाई गई है, अपितु आत्मार्थिता की भावना के शैल-शिखर से अखड रूप में तराशी गई है। यह इसी प्रकार से अखड रह सके, इसके लिए सावधानी बरतने में सघ के हर सदस्य का समान उत्तरदायित्व है।

१—युक्ति-प्रबोध १८

२—इसी पुस्तक का दूसरा परिच्छेद

३—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३६७

३ :

उद्भवकालीन स्थितियाँ

राजनैतिक स्थिति

तेरापंथ का उद्भव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। वह तो उस युग की परिस्थितियों की एक अनिवार्य माँग थी। एक अर्से से युग के गर्भ में धार्मिक-क्रांति का जो बीज परिपाक पा रहा था उसी का स्फोट सं० १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा (ईस्वी सन् १७६) को तेरापंथ के रूप में जनता के सामने आया।

सारा भारतवर्ष उस युग में राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की विषम उलझनों में से गुजर रहा था। वह समय मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के शासन के प्रारम्भ का था। औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७ ७) के बीस-बाईस वर्ष पश्चात् ही मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। अराजकता के उस अवसर का अंग्रेजों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया था। वे यहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे थे। उत्तर तथा दक्षिण में अनेक राजाओं और नवाबों के पारस्परिक संघर्षों में वे किसी एक पक्ष को अपना बनाकर अपना प्रभाव तथा व्यापार बढ़ाते रहे। कालान्तर में वे यहाँ राज्य भी स्थापित करने लगे। अपने षड्यंत्रों के द्वारा राजाओं तथा नवाबों को गद्दी से उतारना तथा बिठाना भी उनके लिए खेल मात्र हो गया था। भारत में उनके राज्य की नींव पहले-पहल तब लगी जबकि उन्होंने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मन्त्री को रिश्वत देकर फोड़ लिया था और उसी के आधार पर सन् १७५७ में पलासी का युद्ध जीता था। उस युद्ध से बंगाल का शासन तो बदला ही परन्तु उसका दूरगामी प्रभाव सारे भारत पर भी हुआ। उस विजय के पश्चात् उन्होंने बहुत शीघ्र ही अपने व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वी डचों को सन् १७५९ में और फ्रांसीसियों को सन् १७६ में इतनी करारी हार दी कि फिर उन लोगों का व्यापार भारत में जम ही नहीं पाया।

इधर सन् १७६१ में अफगानों के साथ पानीपत की लड़ाई में मराठे हार गये और उनका शौर्य राहु ग्रस्त हो गया। उधर सन् १७६४ में बक्सर की लड़ाई में सम्राट शाहआलम अंग्रेजों का बन्दी हो गया और फिर उनकी संरक्षता में रहने लगा। इस प्रकार उस समय भारत के राजनैतिक वातावरण में अंग्रेजों के उदय और भारतीय राजाओं तथा नवाबों की प्रतिभा और शक्ति के ह्रास से बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी।

राजस्थान की दशा तो उस समय और भी अधिक चिन्तनीय हो रही थी। वह अनेक राजनैतिक इकाइयो मे विभक्त तो था ही, परन्तु उनमें भी कोई प्रभावशाली राजा नही रह गया था। रण-बाकुरे राजपूत वीरो की तलवारो का पानी उतर चुका था। शत्रु-दमन के समय काम आने वाला शौर्य पारस्परिक वैमनस्य की आग में भस्म हुआ जा रहा था। एक दूसरे को गिराने की भावना से उत्पन्न परिस्थिति ने सारे राजस्थान को निष्प्रभ बना डाला था। ऐसे अवसरो से लाभ उठाने मे निष्णात अंग्रेजो ने राजस्थान पर भी अपने दात लगा रखे थे।

तेरापथ की जन्मस्थली मेवाड की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति तो राजस्थान के अन्य रजवाडो मे भी गई-बीती थी। वहाँ के महाराणाओ की तेजस्विता का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था। सागा और प्रताप के वशज बीते युग की मधुर घटनावलियों की स्मृति-मात्र शेष रह गये थे, न उनका कोई प्रभाव था और न व्यक्तित्व। सामतो का आतक जनता पर तो छाया हुआ था ही पर राणा-परिवार भी उससे बच नही पाया था। सोलह तथा बत्तीस कहे जाने वाले सरदारो के जिन पूर्वजो ने राणा-परिवार की रक्षा की थी और मेवाड का मुख उज्ज्वल किया था, उन्ही के वशजो मे परस्पर वैमनस्य चल रहा था। महाराणाओ को कभी शक्तावतो की ओर झुकना पडता था तो कभी चूडावतो की ओर। शक्ति-सतुलन के लिए सरदारो द्वारा किये जाने वाले षड्यन्त्रो मे आये दिन महाराणाओ की हत्याएँ होती रहती थी।

अराजकता की सी उस स्थिति से पडोसी राज्यों को लाभ उठाने का खूब अवसर मिल गया था। कभी मराठा, कभी सिंधिया तथा कभी होल्कर की सेनाएँ राज्य मे घुस आती और वहाँ की अस्तव्यस्तता को और अधिक बढा देती थी। उनको प्रसन्न रखने तथा उनकी माग पूरी करने में राज्य का खजाना खाली हो चुका था। आक्रात सैनिको के हाथो मेवाडी प्रजा आये दिन लुटती रहती थी। कोई सरक्षण देने वाला नहीं था। महाराणा अपने सरदारो को भी वश मे नही कर पा रहे थे, अत बाहरी आक्रमणो को खदेड देना उनके वश की बात हो ही कैसे सकती थी। जनता अपने भाग्य के भरोसे ही जी रही थी।

तेरापथ की स्थापना के समय मेवाड मे महाराणा राजसिंह (द्वितीय) राज्य कर रहे थे। वातावरण बडा विक्षुब्ध था। कुछ समय पूर्व ही मराठो ने आक्रमण किया था और वे बहुत-सा धन ले गये थे। उनके कुछ समय पश्चात् मल्हार राव होल्कर का आक्रमण हुआ। महापुरुषो (दादूपथी नागाओं) की सेना का उपद्रव भी उग्रता में चालू था[१]। इस प्रकार वहाँ की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर और भयावह थी।

१—महापुरुष (नागा) दादूपथी साधु होते थे, जो कि जयपुर की सेना में बड़ी संख्या में रहते थे। ये लोग अविवाहित ही रहते थे। मेवाड़ के विद्रोही सामंत रत्नसिंह ने सहायतार्थ इन्हें मेवाड़ में बुलाया था।

सामाजिक स्थिति

आज से दो सौ वर्ष पूर्व का समाज प्रायः अज्ञान और रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। परंपराओं के प्रकाश में जहाँ अपने मंतव्य मार्ग पर चले जा सकता है, वहाँ कहीं पर-पराओं को लोगों ने अपने पैरों की बेड़ियाँ बना लिया था। नवीनता के चौंधित आलोक से भी कहीं अधिक प्रिय और आकर्षक उन्हें पुरातनता का रूप लगा करता था। पुरातनता की तरह नवीनता में भी कुछ आदेय तथा नवीनता की तरह पुरातनता में भी कुछ हेय हो सकता है—यह तथ्य बहुत कठिनता से ही स्वीकार्य हो पाता था।

उस युग में समाज का नियंत्रण राज्य से कहीं अधिक पंचों के हाथ में था। उनका दबदबा प्रायः सभी व्यक्तियों पर आतङ्क की तरह छाया रहता था। वे लोग छोटी-छोटी बातों पर अनेक परिवारों को समाज से बहिष्कृत कर दिया करते थे। उनका कार्य मानों इतने में ही सीमित रह गया था कि वे अपने ही समाज के कुछ व्यक्तियों को अपमानित पीड़ित व बहिष्कृत करते रहें ताकि अवशिष्ट व्यक्ति उनकी इच्छा के विपरीत चलने का साहस न कर पायें। जाति-बहिष्कृत व्यक्ति या तो अत्यन्त दयनीय जीवन जीने को बाध्य हो जाते थे या फिर अपने गुट का प्रबल बनाकर अलग इकाई बनाने को बाध्य हो जाते थे। इस क्रम से जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति को तो प्रश्रय मिलता ही था साथ ही पारस्परिक घृणा तथा सामाजिक भेद भाव की घातक वृत्ति भी प्रबलता पाती रहती थी।

संचार-साधनों की प्रायः सर्वत्र ही कमी थी। पर्वतीय भूमि होने के कारण मेवाड़ में वह और भी अधिक मात्रा में थी। अपने राज्य की सीमाओं को लांघकर बाहर जाने वाले व्यक्तियों की संख्या में अधिकांश भाग सीमान्त निवासियों का ही हुआ करता था। वाणिज्य की स्थिति उन्नत नहीं थी। अधिकांश वणिग्-जन आसपास के गाँवों में फेरी देकर या कहीं छोटी-मोटी दुकान चलाकर ही अपने परिवार का भरण-पोषण करने को बाध्य थे। पर्वतों के कारण कृषि-योग्य भूमि की बहुलता नहीं थी। यत्र-तत्र बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतों की भूमि ही प्राय उत्पत्ति का साधन थी।

शिक्षा-जगत की प्रगति प्रायः नहीं के समान ही थी। समाज का एक अङ्ग नारी-समाज तो अज्ञान के अन्धकार में आकण्ठ ही डूबा हुआ था। उनके लिये विद्यार्जन की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। 'एक घर में दो कलमें नहीं चल सकती'—ऐसी कहावतें स्त्री शिक्षा विषयक तत्कालीन जन-मानस की भावना को स्पष्ट कर देती हैं। पुरुष-समाज में भी अध्ययन की कोई अधिक अच्छी स्थिति नहीं थी। वणिग् जनों के अतिरिक्त अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति कम ही हुआ करते थे। वणिग् जाति का सम्बन्ध व्यापार से प्रायः कम या अधिक रहा ही है अतः उनमें अक्षर ज्ञान कर लेने तथा कुछ पहाड़े आदि याद कर लेने की प्रवृत्ति थी। साधारण व्यापार चला लेने तथा बही-खाता लिख लेने से अधिक ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति तो कोई अपवाद स्वरूप ही मिलता था। ब्राह्मण आदि जिन जातियों

मे विद्याध्ययन की परम्परा रही थी, उनमे भी विद्याध्ययन से कही अधिक विद्याभिमान व्याप्त हो गया था। राज्य अथवा समाज की ओर से ज्ञान-वृद्धि की कोई समुचित व्यवस्था नही थी।

सत-समागम की प्रवृत्ति उस समय प्राय सभी व्यक्तियो मे थी। सतवाणी को कठस्थ कर उसमे तत्त्वज्ञान की पिपासा शान्त करने की पद्धति भी चालू थी। एक के पास से दूसरा व्यक्ति तत्त्वज्ञान कठस्थ करता और वह क्रम आगे-से-आगे चलता रहता था। कुछ व्यक्ति उस ज्ञान को लिख भी लेते थे। उससे दूसरे व्यक्तियो को कठस्थ करने मे सुविधा हो जाती थी। तत्त्वज्ञान कठस्थ करने की यह पद्धति स्त्री-समाज मे भी थी। अक्षर-ज्ञान न होने पर भी वे सतवाणी के सैकडो पद्य कठस्थ कर लिया करती थी। इस प्रकार से ज्ञानार्जन करने वाले पुरुषो या स्त्रियो की सख्या स्वल्प ही हुआ करती थी। जनता का अधिक भाग तो अज्ञान मे रहने को ही बाध्य था।

धार्मिक स्थिति

उस समय के व्यक्ति प्राय धर्मानुरागी थे। धर्म के प्रति उनकी अभिरुचि रहा करती थी, किन्तु धार्मिक नेताओ ने धर्म के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार आच्छादित कर दिया था कि उसको परख पाना असम्भव हो गया था। साथ ही तत्कालीन साधु-वर्ग के शिथिलाचार ने भी धर्मानुरागी व्यक्तियो के हृदयो को आलोडित कर रखा था। उनकी चर्या साधना-पथ से विमुख दिशा मे चलने लगी थी। आचारहीन साधुओ ने समाज मे ऐसी धाधली मचा रखी थी कि उससे सारे समाज मे एक प्रकार की मूक उथल-पुथल उभर कर मुखर होने को तडप उठी थी।

स्वामी भीखणजी ने उस समय के साधुओ के शिथिलाचार का जो चित्रण किया है, यदि उसका साराश अति सक्षेप मे जानना हो तो उसके लिये उनका यह एक पद्य ही पर्याप्त होगा—

> वैराग घट्यो ने भेख वधियो, हाथ्या रो भार गधा लदियो।
> थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेखधारी पाँचमें कालो॥[1]

वे कहते है—"विराग घट गया है और वेष बढ गया है। सयम की साधना के लिये योग्य व्यक्तियो के स्थान पर अयोग्य व्यक्तियो को दीक्षित किया जा रहा है। लगता है हाथियो का भार गधो पर लादा जा रहा है। गधे उस भार को वहन नही कर सकते। वे उसे इधर-उधर बिखेर कर खराब कर देते है। इसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी सयम की साधना नही कर सकते। वे उसे खण्डित करते है और धर्म की अवज्ञा करवाते हैं। इस पचमकाल मे ऐसे वेषधारी साधु ही रह गये हैं।"

साधु-समाज की वह विपन्नावस्था इतनी व्यापक थी कि उसमे कही सुधार की भी गुजाइश नही रह गई थी। गुरु से लेकर शिष्य तक सभी शिथिलाचारी हो गये थे। कौन किसे

१—आ० चौ० ६-२८

(६) गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा दिलाते है कि यदि तू दीक्षा ले तो मेरे पास ही लेना, अन्य किसी के पास नही[1]।

(७) शिष्य-सख्या बढाने को इतने आतुर रहते है कि लडको को उडा लेते है और अन्य किसी ग्राम मे जाकर उन्हे दीक्षित कर लेते है[2]।

(८) अच्छे भोजन तथा अच्छे वस्त्रो का लालच दिखलाकर नासमझ व्यक्तियो को दीक्षा के लिये तैयार करते रहते है[3]।

(९) श्रावको से रुपया दिलवाकर शिष्य खरीदते है[4]।

(१०) तत्त्वज्ञान कराये विना ही अज्ञानी व्यक्तियो को दीक्षित कर लेते है[5]।

(११) शिष्य-शिष्याओ के लिए परस्पर झगडते है और एक दूसरे के शिष्य को फोडकर अपना वना लेते हैं[6]।

(१२) दूसरो की निन्दा करने मे रत रहते है[7]।

(१३) गृहस्थ के साथ समाचार भेजते है तथा कागद लिखने की प्रेरणा देते है[8]।

१—दिख्या ले तो मो आगे लीजे, और कने दे पाल जी।
कुगुरु एहवो सस करावै, ए चोड़े उधी चाल जी ॥—आ० चौ० १-१८

२—वले चेला करे ते चोर तणी परे, ठग पासीगर ज्यू ताम जी।
वले उजबक ज्यू तिणने उचकाय, ले जाय मडे और गाम जी ॥—आ० चौ० १२-५३

३—आछो आहार दिखाये तिण ने, कपड़ादिक मही दिखाय जी।
इत्यादिक लालच लोभ वताए, भोला ने मडे भरमाय जी ॥—आ० चौ० १२-५४

४—चेला करण री चलगत उधी, चाला बोहत चलाय जी।
साथे लिया फिरे गृहस्थ ने, वले रोकड़ दाम दराय जी ॥—आ० चौ० १-२२
जो चेलो हूँतो जाणै आपरो, तो उणने रोकड़ दाम दरावै रे।
पांचमो महाव्रत भागने, तो ही साध रो विड़द धरावै रे ॥—आ० चौ० १९-२१

५—वुर सू केई नव तत्त्व नहीं भण्या, ते तो साग पहरी मुनिराज बण्या।
ज्य नाहर रो खाल पहरी स्यालो, एहवा भेषधारी पाँचमे कालो ॥—आ० चौ० ६-२९
जीवादिक जाणे नही तेहनै, पाँचो ही महाव्रत उचरावे रे।
साध रो सांग पेहरायनै, भोला लोकां नै पगा लगावै रे ॥—आ० चौ० १९-२२

६—वले चेलो करवा कारणे, माहोमा झगड़ो माडै रे।
फाड़ा तोड़ो करता लाजे नहीं, इण साध रा भेष ने भाडै रे ॥—आ० चौ० १९-२४

७—पर निन्दा मे राता-माता, चित्त मे नहीं सतोप जी।
वीर कह्यो दशमा अग में, तिण वचन मे तेरे दोप जी ॥—आ० चौ० १-१७

८—गृहस्थ साथे कहै सदेसो, तो भेलो हुओ सभोग जी।
तिण नै साधु किम सरधीजे, लागो जोग नै रोग जी ॥
समाचार विवरा सुध कहि कहि, सानी कर गृही बुलाय जी।
कागद लिखावै कनै आमना, पर हाथे दिए चलाय जी ॥—आ० चौ० १-२७,२८

(१९) आचारवान् साधुओ के पास जाने वाले व्यक्तियो को नाना दवाव डालकर रोकते है। न मानने पर उनके कुटुम्व में कलह का वीज वो देते हैं[1]।

(२०) आज के साधु विना अकुश के हाथी और विना लगाम के घोडे की तरह हो रहे हैं[2]।

स्वामीजी ने आचार-शैथिल्य के जो विपय प्रस्तुत किये है उनमे कुछ ऐसे है जो उस समय प्रचुरता मे व्याप्त थे, किन्तु आगम-दृष्टि मे सर्वथा अकरणीय थे, कुछ ऐसे है जो यत्र-तत्र मिलते थे। विभिन्न व्यक्तियो के आचार-शैथिल्य मे अन्य अनेक कारण हो सकते है, परन्तु एक कारण प्राय सभी के मूल मे था कि यह दुष्पम काल है, पचम आरा है, इसमें इतने कठोर नियमो का पालन अशक्य है। इस हीन धारणा ने शिथिलाचार का जो वीज वोया, वही फलित होकर उस समय की धार्मिक स्थिति को प्रभावित करने लगा था। राजनैतिक और सामाजिक स्थितियो से पीडित जन-मानस ने जव धार्मिकता मे भी इतनी गडवड देखी तव स्वभावत ही वह अश्रद्धा की ओर बढने लगा।

उस स्थिति मे तेरापथ का उद्भव नितात आवश्यक और समयानुरूप था। स्वामीजी ने जनता के श्रद्धापक्ष को सवल वनाया, धर्म के शुद्ध स्वरूप पर आच्छन्न आवरणो को दूर किया और पचमकाल के नाम पर शैथिल्य को प्रश्रय देने वाले साधु-वर्ग से कहा कि यदि तुम साधुत्व के कठोर नियम नही पाल सकते तो अपनी उस दुर्वलता को पचम काल के सिर पर तो मत मढो। साधुता का ढोग रखने से तो यह कही अधिक अच्छा है कि श्रावक-व्रत धारण किये जाए[3]। स्वामीजी के उस क्रान्तिकारी और सवल आह्वान की फल-परिणति ही तेरापथ है।

ग्रह–स्थिति

तेरापथ के उदभव में उस समय की धार्मिक स्थितियाँ तो कारण वनी ही थी, किन्तु आकाशीय स्थितियाँ भी उसमें कारणभूत वनी थी, इस कथन को प्रमाणित करने के लिए

१—सासू बहू मा बेटियां, वले सगा संबधियां मांहि।
त्यांनै राग ने धेष सिखावता, भेद घलावै ताहि॥
केई आवै सुध साधां कनै, तो मतिया नैं कहै आम।
ये वरजी राखो घर रा मिनख ने, जावा मत द्यो तास॥ —आ० चौ० ५-३२-३३

२—बिन अंकुस जिम हाथी चालै, घोड़ो बिगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवां नै साधु नाम जी॥ —आ० चौ० १-३५

३—साधपणों थां सु सझतो न दीसै, तो श्रावक नाम धरावो।
सगत सारू वरत चोखा पालो, दोषण मतीय लगावो रे॥
आचार थां सूं पल्तो न दीसै, तो आरा रै माथै मत न्हाखो।
भगवत रा केहायत बाजो, झूठ बोल्ता क्यूं नही साको रे॥ —आ० चौ० ९-१९,२०

तक उन ग्रहों का दुष्प्रभाव रहा। वीर-निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम सवत् का प्रवर्त्तन हुआ। अत उसके अनुसार यह समय वि० स० १८५३ का होता है।

भस्मग्रह जब वृद्ध हो चुका था, उस समय लोकाशाह ने धर्म-क्राति के बीज बोये थे। भस्मग्रह के उतरते ही वे फलीभूत हुए और वि० स० १५३१ मे लोंकाशाह के प्रतिबोधित पैंतालीस व्यक्तियो ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की। उन लोगों ने लोकाशाह के मन्तव्य को वडी तीव्रता के साथ प्रसारित किया। 'लोंकाशाह की हुडी' में वर्णित श्राद्ध और आचार का मनन करने से प्रतीत होता है कि लोकाशाह ने शुद्ध परम्परा की स्थापना की थी। यद्यपि उस समय 'धूमकेतु' लग चुका था, परन्तु प्रारम्भिक काल होने से उसका वल तीव्र नही हो पाया था। ज्यो ही उसका बल बढा त्यो ही उस परम्परा में शिथिलता आ गई और लोका के अनुयायी अपने क्रान्ति-मार्ग पर पूर्ववत् सुदृढ नही रह पाये[1]।

इसी प्रकार धूमकेतु वृद्ध हुआ तव स० १८१७ में तेरापथ का उद्भव हुआ। परन्तु जव तक वह पूर्णत उस राशि पर से हट नही गया, तव तक तेरापथ किसी प्रकार की प्रगति नही कर पाया। क्राति के प्रारम्भ में स्वामी भीखणजी आदि तेरह साधु थे, परन्तु एक समय ऐसा भी आया कि वे घट कर केवल छह ही रह गये। वि० स० १८५३ से पूर्व एक वार के लिए भी तेरह की वह सख्या फिर से पूर्ण नहीं हो पाई। धूमकेतु की अवधि वीर-निर्वाण २३२३ अर्थात् वि० स० १८५३ में समाप्त हुई। उसी वर्ष मुनि हेमराजजी ने स्वामीजी के पास दीक्षा ग्रहण की और वे तेरहवें साधु हुए। उसके पश्चात् उस सख्या में कभी ह्रास नहीं हुआ[2]। तेरापथ के लिए क्रमश चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुत वही से प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त ग्रहो की स्थिति के साथ श्रमण-सघ के हानि-विकास की जो भविष्यवाणी उपर्युक्त प्राचीन ग्रथों में की गई है, वह यथार्थ प्रमाणित हुई है।

भविष्य के लिये

तेरापथ के रूप मे होने वाली इस धर्म-क्राति के मूल में आचार-शिथिलता से लेकर ग्रह-प्रभाव तक के अनेक दृश्य तथा अदृश्य कारणों का सामवायिक प्रभाव कहा जा सकता है, परन्तु उसकी सफलता तभी सभव हुई जब कि सत्य-निष्ठ और धर्म-प्राण आचार्य भीखणजी जैसे महत्तम व्यक्ति का उसे नेतृत्व प्राप्त हुआ। क्रात-द्रष्टा आचार्य भीखणजी विघटन और सघटन की सीमाओं के मर्मज्ञ थे। वे जानते थे कि क्राति की सफलता विघटन में नही, किन्तु विघटन के पश्चात् किये जाने वाले सघटन में होती है। विधीयमान सघटन की

१—लूका नों प्रतिवोधिया, सुध ववहार जणाय।
धूमकेतु वल वाधिया, तेपिण ढीला थाय॥ —ल० भि० ज० र० १-२१

२—द्वादश मुनि था तेपनै, स्वाम भिक्खू रै जोय।
तव हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय॥ —ल० भि० ज० र० १-१४

निर्दोषता ही क्रांति की निर्दोषता सिद्ध करती है। श्रमण-संघ को अपनी पूर्वकालीन दुर्बलताओं और उनके प्रतिफलों का इतिहास फिर कभी दुहराना न पड़े इसलिए उन्होंने एक सबल निर्दोष और क्रियाशील संगठन की नींव रखी। 'तेरापंथ' नाम उन्हीं विशेषताओं की सम्मिलित क्षमता का प्रतीक है।

स्वामीजी की संगठन-क्षमता की सुदृढ़ नींव पर तेरापंथ का भवन निर्मित हुआ। भवन की विशुद्धता के लिए जिस प्रकार बारी-जालियों से लेकर नालियों तक की सुनियोजित व्यवस्था आवश्यक होती है उसी प्रकार संगठन की विशुद्धि के लिए भी गुण-स्वीकार और दोष-परिहार की संयोजना आवश्यक होती है। स्वामीजी ने उसके लिए मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं द्वारा संगठन के सदस्यों के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की सीमाएँ निर्धारित की गई। हितकर स्थितियों के संरक्षण और विकास तथा अहितकर स्थितियों के परिष्कार और निरसन की व्यवस्था भी की गई। मर्यादाओं का उल्लंघन न होने पाये इसलिए प्रत्येक सदस्य के मन में मर्यादा के प्रति बहुमान जागृत किया गया। मर्यादाएँ रूढ़ि बनकर कालान्तर में कहीं वातावरण में घुटन पैदा न कर दें इसलिए वैधानिक स्तर पर विचार प्रेरित उत्क्रांति का द्वार खुला रखा गया। अनियोजित परिवर्तन जितना हानिकर होता है सुनियोजित परिवर्तन उतना ही लाभकर होता है। तेरापंथ उसका उदाहरण बनकर क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ।

किसी भी नये संगठन के साफल्य और स्थायित्व के विषय में जन-मानस का संशयालु होना स्वाभाविक ही होता है। तेरापंथ के विषय में भी ऐसे अनेक संशय उत्पन्न हुए। प्रारम्भ में तो लोगों को यह विश्वास ही नहीं हो पाया था कि यह संगठन कभी आगे बढ़ भी पायेगा। उस समय इसके सम्मुख बाधाओं पर बाधाएँ और चुनौतियों पर चुनौतियाँ आती रहती थीं। सब परिस्थितियों का सामना करते हुए यह आगे बढ़ा फला-फूला और जन मानस में स्थान प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। इसके संस्थापक स्वामी भीखणजी ने स्वयं अपने जीवन-काल में ही वैसी सफलता प्राप्त की थी जिसकी पहले उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी। इतना होने पर भी एक सन्देह बराबर लोगों के मन में उभरता रहा कि पहले भी शैथिल्य के विरुद्ध अनेक उत्क्रांतियाँ हो चुकी हैं यदि वे स्थायी नहीं बन सकीं तो यह फिर स्थायी कैसे बन पायेगी? काल-परिपाक से यह संस्था भी क्या शिथिलता के उसी मार्ग पर अग्रसर नहीं हो जायेगी जिस पर कि इसकी पूर्ववर्ती सभी संस्थाएँ अग्रसर हो चुकी हैं?

एक व्यक्ति ने एक बार यह प्रश्न कुछ दूसरे प्रकार से स्वयं स्वामी भीखणजी के सामने ही रख दिया था। उसने स्वामीजी से पूछा था — आपका अच्छा यह उत्क्रान्ति-मार्ग कितने वर्षों तक चलता रहेगा?[1]

१—भिक्खु-दृष्टान्त ८, २७६

स्वामीजी ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"इस मार्ग का अनुगमन करने वाले साधु जब तक श्रद्धा और आचार में सुदृढ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो की मर्यादा का उल्लघन नही करेंगे और स्थानक खडे करने के फेर मे नही पडेंगे , तब तक यह मार्ग अच्छी तरह से चलता रहेगा[1] ।"

स्वामी भीखणजी के उपर्युक्त उत्तर को भविष्य के लिए तेरापथ को दिया गया एक मार्ग-दर्शन कहा जा सकता है। तेरापथ जब तक इस मार्ग पर आरूढ रहेगा, तब तक उसकी प्रगति में कोई बाधा नही आ सकेगी। उत्क्रांति करने वाली पूर्ववर्ती सस्थाओ मे जो शिथिलताएँ आ गई थीं उनका कारण और निवारण स्वामी भीखणजी अच्छी तरह से जानते थे। उन्होने इस विषय में लिखा है—"अपने निमित्त स्थान बनवाने वाले व्यक्ति वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का भी लोप कर देते है। वे फिर उग्र विहार छोडकर किसी सुविधापूर्ण स्थान में पडा रहना पसद करने लगते हैं। इस प्रकार से शिथिल हो जाते है। इसके विपरीत जो साधु मर्यादा को बहुमान देकर चलते है, वे शिथिल नही होते[2] ।" शिथिलता के इन मुख्य कारणो का मूलोच्छेद स्वामीजी ने तेरापथ की आधारशिला रखने के समय से ही कर दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होने सघ के प्रत्येक सदस्य में मर्यादाओ के प्रति इतना बहुमान जागरित किया कि श्रमण-सघ के किसी भी उत्क्राति-इतिहास में इतने सुदृढ सगठन की स्थापना का कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता।

वर्त्तमान मे

आद्य प्रवर्त्तक आचार्य भीखणजी से लेकर वर्तमान तक तेरापथ मे निम्नोक्त नौ आचार्य हुए हैं—

(१) आचार्य श्री भीखणजी
(२) आचार्य श्री भारमलजी
(३) आचार्य श्री रायचदजी
(४) आचार्य श्री जीतमलजी (जयाचार्य)
(५) आचार्य श्री मघराजजी
(६) आचार्य श्री माणकलालजी
(७) आचार्य श्री डालचदजी
(८) आचार्य श्री कालूरामजी
(९) आचार्य श्री तुलसीरामजी (वर्त्तमान आचार्य)

प्रत्येक आचार्य ने अपने शासन-काल में तेरापथ को क्रमश विकसित किया है। वर्त्तमान में आचार्य श्री तुलसी भी उसके चतुर्मुखी विकास मे लगे हुए हैं। तेरापथ का इतिहास

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३०७
२—भिक्खु-दृष्टात दृ० ३०७

आद्योपान्त प्रगति का संघर्ष विजय का और मर्यादानुवर्तिता का इतिहास रहा है। तेरापंथ आत्मानुशासन का एक ज्वलन्त उदाहरण है। आचार्य का अनुशासन केवल साक्षीमात्र या मार्ग-दर्शक मात्र होता है।

प्रारम्भ से आज तक इस संघ में दीक्षित होने वाले चारित्रात्माओं की संख्या १६७१ है जिनमें ६६८ साधु तथा १००३ साध्वियां हैं। विद्यमान चारित्रात्माओं की संख्या ६५५ है जिनमें १६६ साधु और ४८९ साध्वियां हैं[1]। लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविकाएं हैं।

एक आचार, एक विचार और एक आचार्य की अभिनव रत्नत्रयी ने तेरापंथ को जो स्थैर्य प्रदान किया है। यह तेरापंथ के लिए ही नहीं अपितु समग्र जैन समाज के लिए एक गौरवास्पद बात है। इसी क्रम के आधार पर तेरापंथ में 'एक के लिए सब और सब के लिए एक' का आदर्श कार्यरूप में परिणत हुआ है। तेरापंथ का भूतकाल गौरवशील और भविष्यकाल नवोन्मेषों की कल्पना-स्थली रहा है। इसका हर वर्तमान काल अपनी प्रगतिशीलता के आधार पर नवोन्मेष की कल्पनाओं को वास्तविकता का रूप देता हुआ आगे बढ़ता रहा है।

१—उपर्युक्त आंकड़े सं० २०१७ आषाढ़ पूर्णिमा तक के हैं।

द्वितीय परिच्छेद

आचार्य श्री भीखणजी

द्वितीय परिच्छेद

आचार्य श्री भीखणजी

: १ :

गृहि-जीवन

विरले मनुष्यो मे से एक

आचार्य श्री भीखणजी तेरापथ के प्रथम आचार्य थे। तेरापथ-सघ की स्थापना करके उस समय जैन सस्कृति के अनुकूल, शास्त्रानुमोदित शुद्ध आचार के द्वार खोल देने का श्रेय उनको ही प्राप्त है। वे एक निर्भीक और प्रत्युत्पन्न बुद्धि वाले आचार्य थे। उन्होंने अपनी जीवन-तत्री पर सदा सत्य का ही आलाप भरा। "सच्चमि धिइ कुव्वह[१]"—अपनी बुद्धि को सत्य मे ही लगाओ—शास्त्र की इस प्रेरक वाणी को उन्होने पूर्णत हृदयगम कर लिया था। सत्य के लिए प्राण भी देने पडते तो वे उन्हें भी देने का निर्णय कर चुके थे। उनके मुह से निकले हुए ये शब्द—"आत्मा रा कारज सारसा, मर पूरा देसा"[२] कितने मार्मिक, दृढता-सूचक और सत्य पर बलिदान होने के भावो की गहराई के द्योतक है।

सत्य-प्रेमी प्राय सभी होते हैं परन्तु सत्य के लिये सुख, प्रतिष्ठा, पद और चिर-पालित परम्पराओ को ठोकर मार देने वाले विरल ही होते हैं। स्वामीजी उन विरल मनुष्यो में से ही एक थे। सत्य को स्वीकार करने में उन्होने कभी ढील नही की और असत्य से कभी समझौता नही किया। वे सत्य की फुनगियो पर मडराने वाले भँवरे नहीं थे, किन्तु उसकी जड को अपने में जमा लेने वाले उर्बर भूमितल थे। सत्य के प्रति जितनी निष्ठा उनके हृदय में विद्यमान थी, असत्य के प्रति उतनी ही घृणा। सत्य के वे अद्वितीय नम्र भक्त थे तो असत्य के उतने ही कठोर आलोचक।

वास्तविकता के समुद्र में गहराई तक पैठ कर मुक्ता प्राप्त करने वाले वे एक सूक्ष्म-चिन्तक व्यक्ति थे। जनापवाद के शैवाल से घबराकर किनारे पर बैठे रहना और ककर बीनते रहना उन्होंने कभी पसन्द नही किया। जनसाधारण जहाँ बाह्य दृष्टि से देखता है, वहाँ उन्होने अन्तर्दृष्टि से देखने पर बल दिया। बाह्य दृष्टि स्थूल होती है, अत उसकी पहुच सूक्ष्म तक नही हो सकती। सत्य की सूक्ष्मता तक पहुचने के लिये दृष्टि की सूक्ष्मता नितान्त अपेक्षित होती है। स्थूल-दृष्टि सदा ही तत्त्व से दूर रही है। तत्त्व-जिज्ञासु के लिये उनका यह मार्ग दर्शन बहुत ही उपयोगी रहा है।

१—आचाराग १।३।२

२—भिक्खु-दृष्टात दृ० २७६

जन्म

स्वामीजी का जन्म राजस्थान के जोधपुर राज्य के 'कंटालिया' ग्राम में विक्रम् संवत् १७८३ की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। वे ओसवाल जाति के संकलेचा गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम बाहलूजी और माता का नाम दीपां बाई था। पति पत्नी दोनों ही भद्र स्वभाव के और धार्मिक प्रकृति के थे। ऐसे माता पिता की संतान धर्मनिष्ठ और सत्य-शोधक हो—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वंशावलि

स्वामीजी के पूर्वजों में वीरदासजी बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हुए थे। अपने गाम में तो वे मुख्य माने ही जाते थे। आसपास के गामों में भी उनका अच्छा प्रभाव था। वीरदासजी से लेकर स्वामीजी तक की वंशावलि[1] इस प्रकार है।

पढ़ाई
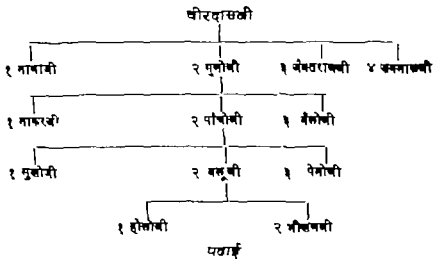
स्वामीजी बचपन से ही बड़े निपुण और कुशाग्र बुद्धि वाले थे। उस समय की पद्धति के अनुसार उन्होंने गुरु के पास पढ़ाई की। महाजनी हिसाब में वे बहुत दक्ष थे। व्यवहार बुद्धि भी उनकी बड़ी सजग थी। एक बार बता देने के पश्चात् वे अपना पाठ बहुत शीघ्र याद कर लेते थे। गुरु को उनके लिये विशेष परिश्रम करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।

---

१ – सिरियारी उपाश्रय के महात्मा (मथेरण) स्वामीजी के परिवार में कुलगुरु माने जाते थे। वे वंशावलियां रखा करते थे। स्वामीजी के समय उस उपाश्रय में महात्मा रूपचन्दजी थे। उनके पट्टक्रम में वर्तमान में वहाँ वयोवृद्ध महात्मा सेरमलजी हैं। उनके पास वंशावलि की जो हस्तलिखित पुस्तक है उसी के आधार पर उपर्युक्त वंशावलि दी गई है। राजनगर के महात्मा हस्तीमलजी के पास भी एक हस्तलिखित पुस्तक है जिसमें भी स्वामीजी की वंशावलि का यही क्रम उल्लिखित है।

स्वाभिमान

वाल्यावस्था मे जहाँ उन्हे अन्य अनेक गुणो की अतिशयता प्राप्त थी, वहाँ स्वाभिमान भी उसी अनुपात से प्राप्त था। अपमान-जनक स्थिति उन्हें कही भी सह्य नही हुई। उनके चाचा वहुधा उनके सिर पर प्यार से चपत लगा दिया करते थे। कई वार धीमे तो कई वार जोर से भी। जव वे थोडे वडे हुए तो चाचा का वह व्यवहार उन्हें वहुत अखरने लगा। उन्होने कई वार उसपर अपनी अप्रसन्नता भी व्यक्त की, पर चाचा नही माने। वे उन्हें चिढाने के लिये पहले से भी अधिक चपत लगाने लगे। आखिर चाचा का वह स्वभाव उनके स्वाभिमान को एक चुनौती हो गया। उन्होने उसे छुडाने के लिये अनेक उपाय किये, पर सफल नही हुए। उन्होंने निर्णय किया कि अव यहाँ मृदु उपाय काम नही देंगे, कठोर उपाय से ही काम लेना होगा।

एक दिन वे अपनी पगडी[1] के नीचे काटे देकर चाचा के पास आये। चाचा ने अपने स्वभावानुसार उनके सिर पर ज्यो ही कसकर हाथ मारा त्यो ही हथेली में काटे ही काटे चुभ गये। चाचा कराह उठे और वे भाग गये। उनके स्वाभिमान ने चाचा का वह स्वभाव सदा के लिये छुडा दिया।

विवाह

उनका विवाह कव हुआ, इसका कोई उल्लेख नही मिलता। परन्तु राजस्थान की तत्का-लीन व्यवस्था के अनुसार सम्भवत वह छोटी अवस्था में ही कर दिया गया था। वाल्यावस्था से ही वैवाहिक जीवन में डाल देने पर भी उनका जीवन वैराग्य-भावना से ओतप्रोत रहा। उनका गृहस्थ-जीवन बहुत ही सयत था। उनकी पत्नी उनके अनुरूप ही धार्मिक वृत्तिवाली तथा विनयशील थी। उनके एक पुत्री भी हुई थी[2]।

निपुण गृहस्थ

स्वामीजी दो भाई थे। वडे भाई का नाम होलोजी था। वे पृथक् रहा करते थे। स्वामीजी अपनी माता के साथ रहा करते थे। घर के काम-काज तथा व्यापार में बहुत शीघ्र ही भाग लेने लगे थे। गृह-भार को वहन करने की उनमें सहज निपुणता थी। अपने ग्राम में वे सर्वाधिक बुद्धिमान् व्यक्ति गिने जाते थे। अत पच-पचायती में भी उनकी बात का वहुत मूल्य समझा जाता था। असाधारण बुद्धि और दूर-दर्शिता ने उनको हर स्थान पर महत्त्वशील व्यक्ति वना दिया था।

१—उस समय राजस्थान में वालक जव कुछ वड़े हो जाते थे तव अपने सिर पर प्राय पगड़ी ही वांधा करते थे।

२—स्वामीजी की पत्नी के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिल पाया है। पर महात्मा शेषमलजी तथा दाखूलालजी के पास वशावलि की पुस्तक में मिलता है कि वह बांठिया परिवार की लड़की थी। उनकी पुत्री के विषय में लिखा है कि वह 'निवांवास' में व्याही गई थी।

सुधारवादी

वे सत्य-सेवी थे इसलिये जन-साधारण को भटका देने वाले वहमों और प्राचीनता का संबल पाकर चलने वाली रूढ़ियों से उनका प्रारम्भ से ही विरोध रहा। समय-समय पर उन्होंने उस विरोध को प्रगट भी किया और समाज को सजग करने का प्रयास किया। यद्यपि वे प्रयास कोई व्यवस्थित समाज-सुधार के निमित्त नहीं किये गये थे फिर भी उनके रूप में हम स्वामीजी के जीवन में सुधारवादिता का जो बीज था उसे देख सकते हैं। वहमों और रूढ़ियों के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाली अनेक घटनाओं में से कुछ यहाँ दी जा रही हैं।

दम्भ का विरोध

एक बार गाँव में किसी के घर पर चोरी हो गई। पास के ही गाँव में एक अन्धा कुम्हार रहता था जो कहा करता कि उसके मुँह देवता बोला करते हैं। लोगों का उसकी बात पर विश्वास भी था अतः चोर का पता लगाने के लिये उसे बुलाया गया। स्वामीजी गाँव में सबसे अधिक बुद्धिमान् गिने जाते थे। वही कुम्हार दिन में उनके पास आया और इधर उधर की बातें करने के पश्चात् चोरी का प्रसंग छेड़ते हुए पूछने लगा—"आपका संदेह किस पर है ? स्वामीजी उसकी छद्म विधा को भाँप ताड़ गये और बोले—"मेरा सन्देह तो 'मजने' पर है।"

रात को जब चोरी वाले घर पर लोग एकत्रित हुए और कुम्हार को रहस्योद्घाटन के लिये कहा गया तो उसने अपने पूर्व निश्चित ढङ्ग से बोलते हुए कहा—'डाल दे रे डाल दे गहने डाल दे। परन्तु इस तरह कहने से कौन गहने डालता ? लोगों ने चोर का नाम बताने के लिये प्रार्थना की। कुम्हार ने तड़कते हुए कहा—'चोर मजना' है उसी ने गहने चुराये हैं। घर के मालिक ने कहा— मजना क्या गहने चुराएगा यह तो मेरे बकरे का नाम है। यह बात सुनकर लोग हँस पड़े।

अवसर देखकर स्वामीजी ने दिन में कुम्हार से जो बातचीत हुई थी वह सुनाई और कहा—'तुम लोगों की बुद्धि कहाँ गई है जो आँखों वाले से चुराये गये माल का पता इस अंधे आदमी से लगवाना चाहते हो ? इस प्रकार कुम्हार की पोल खोलकर स्वामीजी ने सारे गाँव को उसके दंभ से बचा लिया[1]।

ओ कुण काली जी कावरो

जमाई जब ससुराल जाता है तब उसे गालियाँ गाई जाती हैं। राजस्थान में आमतौर से यह रूढ़ि प्रचलित है। एक बार जब स्वामीजी ससुराल गये और वहाँ भोजन करने बैठे तो स्त्रियाँ गालियाँ गाने लगीं—'ओ कुण काला जी कावरो। स्वामीजी को यह रूढ़ि बहुत बुरी लगी। अपने [illegible] की ओर संकेत करते हुए उन्होंने स्त्रियों से कहा—"अंधे कुं

१—भिक्षु-दृष्टान्त १ १

तथा लगडे को तो आप अच्छा वताती हे और अच्छे को बुरा। मैं इसे पसन्द नहीं करता।" ऐसा कहकर भोजन बीच में ही छोडकर वे उठ खडे हुए। उनके उस विरोध का तत्काल असर हुआ और आगे के लिये गालियाँ वन्द हो गई[1]।

गाली गाने की कुप्रथा

स्वामीजी अपने आचार्य-काल में भी गाली गाने की इस कुप्रथा का विरोध करते रहे। उन्होने इस प्रथा को स्त्री-जाति की लज्जाशीलता के विल्कुल विपरीत वतलाया। उनकी दृष्टि मे यह प्रथा स्त्री-जाति की वैचारिक नग्नता है, जो कि *शारीरिक नग्नता से भी अधिक* भयकर होती है। वे कहते हैं—

आ तो नारी लाज करें घणी, न दिखालें मुख नें आख रे।
पिण गाल्या गावण नें उमरी, जाणें कपडा दीधा न्हाख रे[2]॥

शीतला आदि का विरोध

स्वामीजी शीतला, भैरू आदि देवो की पूजा को भी एक अज्ञानमय परम्परा ही मानते थे। अनेक वार वे अपने व्याख्यानो में इनका विरोध करते[3]। वे गृहस्थो में व्याप्त इस अज्ञान-मूलक परम्परा को छुडा देना चाहते थे। आचार्य-काल की उनकी यह सुधारवादी भावना गृहस्थ-काल की सुधारवादी भावना का ही एक अधिक परिष्कृत रूप कहा जा सकता है।

धर्म-जिज्ञासा

स्वामीजी के माता-पिता गच्छवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतः स्वामीजी का पहले-पहल उसी सम्प्रदाय के साधुओ के पास आवागमन प्रारम्भ हुआ। किन्तु वहाँ के वातावरण में स्वामीजी के धर्म-जिज्ञासु अन्त करण को तृप्ति नहीं मिल सकी। कालान्तर में उनके वहाँ आना-जाना छोडकर वे 'पोतियावध-सम्प्रदाय[4]' के साधुओ के पास व्याख्यान आदि सुनने के लिए जाने लगे[5]। परन्तु उनके प्रति भी स्वामीजी की भक्ति चिर-स्थायी नही बन सकी। आखिर उनका सपर्क स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य श्री रुघनाथजी से हुआ और वे उनके अनुयायी बन गये।

१—भिक्खु-दृष्टांत दृ० १०५
२—भिक्षु-ग्रथ रत्नाकर (द्वितीय खड) चेडा कोणिक री सिंध, १८-१६
३—भिक्खु दृष्टात दृ० २७९
४—इस सम्प्रदाय के विषय में देखें—भि० ग्र० र० (प्रथम खड) पृ० ३१९-३२३ पोतियावध की चौपाई तथा लेखक द्वारा लिखित 'श्रमण संस्कृति के अचल में' पृ० ६९ से ७२
५—स्वामीजी के ससारपक्षीय एक काका पोतिया-वध सम्प्रदाय में दीक्षित हुये थे। संभव है तभी से स्वामीजी का उन लोगों के पास आवागमन प्रारम्भ हुआ हो।

इस प्रकार भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के संसर्ग में आने से उन्हें धर्म विषयक अनेक प्रकार के विचारों से अवगत होने का अवसर मिला। उनकी तात्त्विक बुद्धि उन विभिन्नताओं के स्पर्श से और प्रखर हो उठी। उससे एक लाभ यह हुआ कि सांसारिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती गई।

उत्कट विराग

धर्म-साधना और भोग-साधना का साथ नहीं हो सकता। दोनों में से किसी एक को ही अपनाया जा सकता है। स्वामीजी ने इस निष्कर्ष पर पहुँच कर अपने आपको धर्म साधना के लिए ही समर्पित करने का निश्चय किया। उनकी अन्तर्दृष्टि ने उन्हें बताया कि भोग-साधना में अपने को खपा देना इस अमूल्य शरीर का दुरुपयोग है। उन्होंने प्राप्त भोगों को स्वाधीनतापूर्वक छोड़ कर दीक्षित होने का निर्णय किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन करने का विचार किया और दोनों संयम की पूर्व-साधना के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे।

पूर्ण युवावस्था में ब्रह्मचर्य पालन करने का नियम लेकर दोनों ने अपने अन्तःकरण से उठी हुई धर्म भावना को मूर्तरूप देना प्रारम्भ कर दिया। ब्रह्मचर्य के साथ-साथ दोनों ने यह अभिग्रह भी किया कि जब तक उनकी दीक्षा की भावना कार्य रूप में परिणत नहीं हो जाएगी तब तक वे एकान्तर उपवास किया करेंगे। यह उनकी उत्कट विराग भावना का एक स्पष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

पत्नी वियोग

इस प्रतिज्ञा के कुछ समय पश्चात् ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। पत्नी की उस अचानक मृत्यु ने उनकी भावनाओं को एक साथ ही झकझोर डाला। वे सोचने लगे—"काल का कोई भरोसा नहीं है अतः शुभ काम में समय मात्र का प्रमाद भी भयंकर भूल है। आगम कहते हैं कि अपने संकल्पित काम को भविष्य के ऊपर तीन ही व्यक्ति छोड़ सकते हैं—एक तो वे जिनकी मृत्यु के साथ मित्रता है। दूसरे वे जो मृत्यु के सामने से भाग जाने का सामर्थ्य रखते हैं और तीसरे वे जो यह समझते हैं कि उनकी मृत्यु कभी होगी ही नहीं[1]। स्वामीजी रात दिन इन्हीं विचारों में लीन रहने लगे। वे अपनी इच्छा को अब बहुत शीघ्रता से फलीभूत कर लेना चाहते थे, अतः स्वभावतः ही उनकी आकृति पर गांभीर्य रहने लगा।

लोगों ने उस गांभीर्य को पत्नी के वियोग से उत्पन्न हुआ औदासीन्य समझा। उन्होंने स्वामीजी की भावना को अपनी भावना के अनुरूप ही आंका और सान्त्वना के साथ-साथ

१—जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया॥—उत्त० १४-२७

दूसरा विवाह कर लेने के लिए समझाने लगे। परन्तु विरक्त स्वामीजी ने साफ इन्कार कर दिया। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको ठुकरा दिया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा कर ली।

आत्म-परीक्षा

सयम आत्म-विजयी के लिए जितना सुखदायक है, कायर के लिए उतना ही अधिक दु खदायक है। मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण स्थापित किये बिना इस ओर पैर बढा देना, खतरो से भरा हुआ है। इसीलिए स्वामीजी ने दीक्षा से पूर्व अपने आपको पूर्णरूप से कसौटी पर कस कर देख लिया था कि वे पग-पग पर आने वाले परीषहो का दृढता से सामना कर सकते है या नही। उस परीक्षण-काल में एक बार तो उन्होने कैर-का ओसाया हुआ पानी भी पीकर देखा था। अति नीरस उस जल को पीकर वे यह देख लेना चाहते थे कि साधु बनने पर अचित्त जल पीने के नियम को वे निभा सकेंगे या नही ? अपने दीक्षित-जीवन के उत्तरार्ध में हेमराजजी स्वामी मे उस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा था—"साधु होने के पश्चात् आजतक वैसा नीरस जल पीने का काम नहीं पडा[1]।" उन्होने आत्म-परीक्षण के रूप मे इस प्रकार के अनेक प्रयोग करके अपने आपको पूर्ण रूप से तोलकर देख लिया था।

आज्ञा की माग

जब उन्हे अपनी क्षमता का पूर्ण विश्वास हो गया, तब उन्होने अपना विचार माता दीपा बाई के सामने रखा और दीक्षा के लिए आज्ञा मागी। वे अपनी माता के अत्यन्त प्रिय और विनीत पुत्र थे। साह बलूजी का देहान्त होने के पश्चात् वे उनकी हर आवश्यकता का बडा ध्यान रखा करते थे। ऐसी स्थिति में पुत्र के मुँह से दीक्षा लेने की बात सुनकर दीपा बाई को बडा धक्का लगा। स्वामीजो से उन्हें बडी आशाएँ थी। वे बहुधा कहा करती थी—"मेरा बेटा बडा होनहार है। यह गर्भ में था तब मैंने सिंह का स्वप्न देखा था, अत समय पाकर यह कोई महान् यशस्वी व्यक्ति बनेगा।" अपने एक मात्र सहारे को यो छोड देना उन्हें कभी अभीष्ट नहीं था, अत दीक्षा के लिए आज्ञा देने से उन्होने साफ इन्कार कर दिया।

बुआ का विरोध

परिवार के अन्य सम्बन्धी व्यक्तियो ने भी यथासाध्य स्वामीजी को अपने निर्णय से विचलित करने का प्रयास किया। उनकी बुआ ने तो दबाव देते हुए यहाँ तक भय दिखलाया कि यदि तुम दीक्षा लोगे तो मैं पेट में कटारी खाकर मर जाऊँगी। परन्तु स्वामीजी इन सब कठिनाइयो से घबराये नहीं। उन्होने अपनी बुआ से कहा—"कटारी क्या कोई पूणी है कि कोई उसे पेट में मार ले। ऐसी व्यर्थ की बातो से मुझे अटकाने का प्रयास करना निरर्थक है[2]।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १०७

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २४०

स्वप्न की सत्यता

आचार्य रुघनाथजी को जब स्वामीजी के दीक्षा लेने के विचारों का पता लगा तो वे स्वयं आकर दीपां बाई को आज्ञा देने के लिए समझाने लगे। दीपां बाई ने सिंह के स्वप्न की चर्चा करते हुए आचार्य रुघनाथजी से कहा— 'भीखण के भाग्य में साधु होना नहीं कोई वैभवशाली पुरुष होना बदा है। मैं अपने होनहार पुत्र को दीक्षा की आज्ञा कैसे दे सकती हूं ?

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—"बहन ! तुम्हारा स्वप्न मिथ्या नहीं होगा। दीक्षा लेकर तुम्हारा पुत्र सिंह की तरह गूंजेगा।

आचार्य रुघनाथजी की यह भविष्य-वाणी वास्तव में ही सत्य निकली। स्वामीजी की सिंह-गर्जना ने जैन-शासन के सेवकों में पुनः प्राण प्रतिष्ठित कर दिये। चिरकाल से सोई शुद्ध आचार विचार की चेतना फिर से जागरित हो उठी। माता की धारणा के अनुसार स्वामीजी कोई वैभवशाली व्यक्ति भले ही नहीं हुए हों परन्तु वे चारित्र-आत्माओं के प्रकाश-स्तंभ और तत्त्वों के सम्राट महापुरुष अवश्य निकले।

आचार्य रुघनाथजी की उपर्युक्त भविष्य-वाणी ने माता के स्वप्न विषयक विचार को एक नया मोड़ प्रदान किया। श्रमणों की वे भक्त थीं। उनकी बातों को उन्होंने महत्त्वपूर्ण माना। अपने पुत्र की श्रमण-संघ में सिंह के समान स्थिति विषयक-कल्पना ने उनके मन को एक समाधान प्रदान किया। वह समाधान ही स्वामीजी को दीक्षा विषयक आज्ञा प्रदान करने में सहायक हुआ।

माता के मन में पहले उनके जीवन-सम्बन्धी जो कल्पनाएँ थीं वे सब भौतिक वैभव से सम्बन्धित थीं। किन्तु बाद में उन सब का संयम-वैभव में संक्रमण हो गया। अपने स्वप्न का वह समाधान उनके मन में इतना गहरा बैठा कि बाद में स्वयं आचार्य रुघनाथजी भी उसे अन्यथा नहीं कर सके। स्वामीजी जब स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् हो गये थे तब स्वयं आचार्य रुघनाथजी ने दीपां बाई को यह समझाने का अद्भुत प्रयास किया था कि तुम्हारा पुत्र तुम्हारे स्वप्न के अनुरूप न होकर अविनीत सिद्ध हुआ। परन्तु दीपां बाई ने उस समय उन्हें यह उत्तर प्रदान किया कि उनके सामने आचार्य जी को निरुत्तर हो जाना पड़ा। उन्होंने कहा— 'महाराज ! अब आप दूसरी स्थितियों से प्रभावित होकर कह रहे हैं किन्तु पहले जो कुछ आपने कहा था वह निष्पक्ष दृष्टि से कहा था। आप अपने पूर्व कथन का स्मरण कीजिये। इस समय के कथन से तो आप स्वयं अपने को ही असत्य सिद्ध कर रहे हैं।

१—श्रावक शोभजी कृत ढाल :

माता सुपना में सिंह देखियो जब किधी रुघनाथजी ने बूझ।
रुघनाथजी कहै सुत तुम थयो गहसी केसरी जिम गूंज ॥१॥
पूज्य हुवा दुखां कहै रुघनाथजी कुमति दुखी तुम जाण।
मात कहै-कह्यों जिम परख्यो आगे आम्यो वचन संभाल ॥७॥

आज्ञा-प्राप्ति

दीपा बाई ने स्वामीजी को दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर दी। यह उनका एक महान् त्याग था। वैधव्य-जीवन के एकमात्र सहारे अपने प्रिय पुत्र को दीक्षा की अनुमति देकर उन्होने नारी-जाति की त्याग-वृत्ति का एक ज्वलत उदाहरण रख दिया। उनका यह महान् त्याग ससार के लाखो मनुष्यो के कल्याण का हेतु बना।

माता की व्यवस्था

माता की आज्ञा प्राप्त होते ही स्वामीजी सयम-ग्रहण करने के लिये उद्यत हो गये। अब आवश्यकतावश जो देर हो रही थी, वह भी उन्हें अखरने लगी। उन्होने अत्यन्त शीघ्रता से अपने विणज-व्यापार को समेटा और सारी पूजी को व्यवस्थित किया। दीक्षा लेने से पूर्व वे अपनी माता की अच्छी व्यवस्था कर देना चाहते थे, ताकि वृद्धावस्था में उन्हे किसी प्रकार के आर्थिक सकट का सामना न करना पडे। उन्होने जमीन-जायदाद के अतिरिक्त लगभग एक हजार रोक रुपया अपनी माता को दिया। उस समय के वस्तुओ के भावों[1] को देखते हुए वह रकम एक अच्छी खासी कही जा सकती है।

१—सवत् १८०८ में मारवाड़ मे वस्तुओं के क्या भाव थे, इसका पता लगाने का प्रयास तो किया गया था पर मिले नहीं। कटालिया के पास ही मुसालिया है, वहाँ एक भाई के पास पुरानी वहियाँ थीं। उनमें पुरानी से पुरानी स० १८४३ की बही थी। उस वर्ष के भाव उसमे कच्चे मन के आधार पर यो दिये गये है—

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूँ	१ मन	१२ आना
मूंग	,,	,,
तिल	,,	९ आना
चना	,,	८॥ आना
कुरा	,,	४ आना
कपास	,,	१ रुपया
दाल	,,	,,
बाजरी	,,	,,
गुड़	,,	,,
घी	१ सेर	२॥ आना
सूत	३ छटाँक	१। पैसा

वहीं पर स० १८६६ की एक वही मे जो भाव प्राप्त हुए है उनसे पता लगता है कि वस्तुएँ क्रमश महगी होती जा रही थीं। वे भाव इस प्रकार हैं—

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूँ	१ मन	१। रुपया
मूग	,,	,,
मोठ	,,	१४ आना
चना	,,	१३॥ आना
घी	१ सेर	८ आना

२

भाव-संयम की भूमिका

दीक्षा-ग्रहण

स्वामीजी घर की सारी व्यवस्थाओं से निवृत्त होने के पश्चात् दीक्षा के लिये तैयार हुए। वे कंटालिया से चलकर बगड़ी शहर में आये और वहाँ सं० १८ ८ मृगशिर कृष्णा द्वादशी के दिन आचार्य रुघनाथजी के हाथ से दीक्षित हुए। उस समय स्वामीजी की अवस्था २५ वर्ष की थी। युवावस्था का नैसर्गिक तेज आध्यात्मिकता से भावित होकर देदीप्यमान हो उठा था। स्वामीजी की यह दीक्षा वास्तव में उनकी भाव-दीक्षा की एक अज्ञात तैयारी थी। वे इससे एक ऐसी भूमि पर आ गये थे कि जिसमें भाव-संयम की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हो सकी थी और वे उसके लिये उपयुक्त तैयारी कर सके थे।

मित्र रामचरणजी

गृहस्थावस्था में स्वामीजी के एक खास-मित्र रामचरणजी थे। उनका यह नाम दीक्षित अवस्था का था। पहले उनका नाम रामकृष्ण था। वे विजयवर्गीय वैश्य थे। स्वामीजी की ही तरह वे भी बहुत विरक्त प्रकृति के थे। उनके ग्राम सोडा में स्वामीजी की बुआ का घर था। इसलिये स्वामीजी का वहाँ आवागमन रहता था। वह आवागमन उन दोनों की मित्रता का कारण बन गया। दोनों ही विरक्त प्रकृति के थे अतः वह मित्रता धीरे-धीरे प्रगाढ़ता में बदल गई। स्वामीजी के सम्पर्क से वे जैनधर्म से परिचित हुए और उसमें श्रद्धा रखने लगे थे। कहा जाता है कि वे साथ-साथ दीक्षा-ग्रहण करने के लिये भी परस्पर वचन-बद्ध हो गये थे।

कालान्तर में रामकृष्णजी का सम्पर्क संत कृपारामजी से हुआ। उनके विराग की धारा धीरे-धीरे उधर मुड़ गई। वे स्वामीजी की दीक्षा से लगभग तीन महीने पूर्व सं० १८ ८ भाद्रव शुक्ला सप्तमी को दांतड़ा में संत कृपारामजी के पास दीक्षित हो गये। स्वामी भीखणजी के साथ किया हुआ वचन सम्भवतः उन्हें विस्मृत तो नहीं हुआ होगा परन्तु विचार-परिवर्तन की स्थिति में उसका पालन सम्भव नहीं रह गया था।

दीक्षित होने के पश्चात् सं० १८१५ में गलते के मेले में उन्हें तत्कालीन साधुओं की अकड़ के बड़े कटु अनुभव हुए। उनका मन उस ओर से हट गया। उन्हें तब निर्गुण भक्ति की अन्तः प्रेरणा हुई और वे मेवाड़ में आकर उसके प्रचार में लग गये। फलस्वरूप रामस्नेही परम्परा में शाहपुरा शाखा का प्रवर्तन हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी और रामचरणजी यद्यपि भावीवशात् दो विभिन्न परम्पराओ मे दीक्षित हुए थे, फिर भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध चालू रहा। वे यदा-कदा एक दूसरे से मिलते भी रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। रामचरणजी ने अपनी कृति में 'तेरापथ' शब्द को काम मे लिया है। वहाँ उन्होने अपनी ओर से 'तेरापथ' की जो व्याख्या की है, वह यह बतलाती है कि वे उस शब्द की मूल व्युत्पत्ति मे परिचित थे। उनके पद्य इस प्रकार है—

मोही तेरापथ का, मेरा कहे न कोय।
मैं मेरी मे लग रह्यो, तो जगत पथ है सोह ॥ १८ ॥
काम क्रोध तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे, तेरापथ वह पाय[1] ॥ १९ ॥

अध्ययन और मीमासा

दीक्षा के पश्चात् स्वामीजी ने अपना सारा ध्यान अध्ययन और चिन्तन में लगा दिया। कुछ ही वर्षो में उन्होंने जैन आगमो का गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी, अत तत्त्व को पकडते उन्हें कोई देर नही लगती। दर्शन और धर्म का जो ज्ञान स्वामीजी ने किया, वह केवल रटत रूप नही था, किन्तु मीमासापूर्वक होने के कारण तल-स्पर्शी[2] और गहरा था। आगमो के नैरन्तरिक अध्ययन और मन्थन से उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि जैसे शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार—दोनो ही का साधु-सघ में अभाव हो। पहले कुछ समय तक तो यह मथन मन ही मन में चलता रहा। ज्यो-ज्यो गहराई से सोचा गया त्यो-त्यों अधिकाधिक कमिया सामने आती गई। परन्तु स्वामीजी ने अपने कुछ वर्षों के अध्ययन के आधार पर कोई निर्णय कर लेना तबतक के लिये उचित नही समझा, जबतक कि सामने के पक्ष का समर्थन अच्छी तरह से नही समझ लिया जाये। इसीलिये आगम-मन्थन से उत्पन्न विचारों ने जिज्ञासा का रूप लिया और वह जिज्ञासा समय-समय पर वाणी के माध्यम

१—वि० संवत् १९८१ में 'रामनिवास धाम' शाहपुरा से प्रकाशित 'स्वामी रामचरणजी की अणभैवाणी' (अनुभव वाणी) पृष्ठ ७१ पर अन्तिम पद 'तेरापथ वह पाय' के स्थान पर 'तव पिव के पंथ जाय' लिखा है।

२—स्थानकवासी मुनि श्री मणिलालजी अपनी पुस्तक "श्री जैनधर्म नों प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली" (पृष्ठ २४९) में लिखते हैं—

दीक्षा लई तेमणे खब शास्त्राभ्यास कर्यो।
अभ्यास ने अंते तेमणे जैनधर्म नी खूबी।
बधु ने बधु रहस्य भरी रीते प्रतिपादित थई।

से प्रश्न के रूप में सामने आने लगी। स्वामीजी जब-तब तत्त्व और आचार विचार विषयक गूढ प्रश्न सामने रखते रहते। प्रश्न स्वयं साधु-समाज के आचार विचार पर एक गहरी टिप्पणी जैसे होते। आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर टालमटोल उत्तर देकर बात को टाल देते।

आचार्य रुघनाथजी को स्वामीजी की तीक्ष्ण[1] बुद्धि और ग्रहणशक्ति पर बड़ा गर्व था। वे उनके एक अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। स्वामीजी द्वारा बार-बार ऐसे गूढ प्रश्न पूछे जाने तथा उन पर तर्क-वितर्क किये जाने पर भी आचार्यजी को उन पर कोई सन्देह नहीं था। स्वामीजी की आन्तरिक विराग-वृत्ति को वे जानते थे अतः आचार विषयक वे प्रश्न उनकी विराग भावना के अनुरूप होने के कारण गुरु के मन पर कोई विपरीत भाव नहीं आने देते थे प्रत्युत विराग भावना की उस उत्कटता से वे गुरु के आन्तरिक स्नेह के पात्र बन गये थे। यही कारण था कि संघ के आन्तरिक वातावरण में यह बात प्रकट-सी हो चुकी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे।

गुरु-शिष्य का वह स्नेह लगभग सात वर्ष तक अबाध गति से चलता रहा। शिष्य की निर्द्वन्द्व जिज्ञासा-वृत्ति ने गुरु के मन पर और संघ के आचार-शैथिल्य ने शिष्य के मन पर कोई दुर्भाव पैदा नहीं होने दिया। इस अद्वैत-वृत्ति की छाया में स्वामीजी का अध्ययन उनकी अपनी मीमांसा के साथ मुक्त भाव से चलता रहा।

श्रावकों में अश्रद्धा

काल अपनी गति से बहता रहा। और कार्य अपनी गति से होते रहे। परन्तु काल के परिपाक से उन्हीं दिनों में एक ऐसी घटना घटी जिसने स्वामीजी के जीवन प्रवाह को एकदम से मोड़ दिया। वह घटना वि० सं० १८१५ की है। उस समय मेवाड़ के राजनगर शहर में आचार्य रुघनाथजी की आम्नाय के श्रावक काफी बड़ी संख्या में रहते थे। उनमें से कुछ श्रावक अच्छे विद्वान् और आगम रहस्य के ज्ञाता थे। वे तत्कालीन साधु-वर्ग की शिथिलताओं से बहुत खिन्न थे। आये दिन शिथिलता के उस सूचना-पट्ट पर अमांक बढ़ने के बजाय बढ़ते ही जा रहे थे। ऐसी स्थिति में वहाँ के श्रावक-वर्ग ने साहस-पूर्वक यह घोषित कर दिया कि जब तक श्रमण-संघ अपने में घुस आई कमजोरियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध नहीं हो जाता तब तक हम न तो उन्हें मान्य करेंगे और न वन्दन आदि से सत्कृत ही करेंगे। उन लोगों की यह धारणा वस्तुतः साधु-संघ की कमजोरियों के कारण उत्पन्न हुई अश्रद्धा का ही एक व्यक्त रूप थी।

---

[1] —स्वामीजी की तीक्ष्ण बुद्धि और विरागवृत्ति के विषय में स्थानकवासी श्रीमद् जवेरीरामजी रचित 'सिद्धांत सार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है— 'भीखणजीना संसार थी उदासीन परिणाम ही हता तम बुद्धि घन तीक्ष्ण हती।'

गुरु का आदेश

उस समय आचार्य रुघनाथजी मारवाड में विहार कर रहे थे। बहिष्कार का यह सवाद जब उनके कानो तक पहुँचा तो वे बहुत चिन्तित हुए। उन श्रावको को समझाकर मार्ग पर लाना जितना आवश्यक था, उतना ही कठिन भी था। साधारण साधु से वन सकने वाला वह काम नही था। वहाँ तो किसी ऐसे विद्वान् साधु को ही भेजने की आवश्यकता थी, जो वहाँ की सारी परिस्थिति को सम्भाल कर श्रावको के सन्देहो को दूर कर सके। कारणवशात् स्वयं आचार्य रुघनाथजी का वहाँ जाना सम्भव नही था। वे अपने चातुर्मास[1] की स्वीकृति भी दे चुके थे।

आखिर उन्होंने उस कार्य के लिए अपने प्रिय शिष्य भीखणजी को ही चुना[2], क्योंकि वे शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ असाधारण बुद्धिमान् भी थे। स्वामीजी को बुलाकर उन्होंने वहाँ की सारी स्थिति वतलाते हुए कहा – "तुम स्वय बुद्धिमान् हो, अत कोई ऐसा उपक्रम करना जिससे उनकी शकाएँ मिटें और वे पुन वन्दन करने लगें।"

राजनगर मे

स्वामीजी ने गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर राजनगर की ओर विहार किया। टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—ये चार साधु उनके साथ थे। चातुर्मास करने के लिए स्वामीजी राजनगर पहुँचे तो तत्रस्थ श्रावको को यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई। क्योंकि वे एक विरागी और तत्त्वज्ञ साधु के रूप में प्रसिद्ध थे। श्रावको ने उस अवसर का लाभ उठाने का निश्चय किया। साधु-समाज के विषय में जो कुछ भी वे कहना चाहते थे, वह सब खुलकर कह देने के लिए ऐसा पात्र उन्हें अनायास ही मिल गया।

ध्यानाकर्षण

धर्म-क्राति के आवाहक राजनगर के उन श्रावकों में चतरोजी पोरवाल तथा बच्छराजजी ओसवाल प्रमुख थे। दोनों ही अच्छे तत्त्वज्ञानी श्रावक थे। राजनगर का समग्र श्रावक-वर्ग उन दोनों के नेतृत्व में था। चतरोजी के पुत्र व्रजलालजी और लालूजी तथा पौत्र जवेरचन्दजी भी धर्म के मर्मज्ञ थे[3]। अन्य भी अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक एकत्रित हुए। वे सब मिलकर स्वामीजी

१—'सद्धर्म मडनम्' की भूमिका के अनुसार आचार्य रुघनाथजी का वह चातुर्मास 'सोजत' में था।

२—स्थानकवासी श्रीमद् कनीरामजी रचित 'सिद्धान्तसार' के गुजराती अनुवाद की भूमिका में लिखा है—"एकदा प्रस्तावे पूज्य श्रीए तेमने विचक्षण जाणी बीजा साधु साथे आपी मेवाड देश मां आवेला राजनगरे चौमासु करवा मोकल्या।"*

३—इस समय राजनगर में प्राय ओसवाल श्रावकों के ही घर हैं, पोरवालों का केवल एक घर है। किन्तु उस समय वहाँ ओसवालों की अपेक्षा पोरवालों का ही आधिक्य था। 'घाणेराव के महात्मा मणिलालजी के पोथे में लिखी हुई वहाँ के पोरवालों की वशावलि के अनुसार कालांतर में वे सब व्यापारार्थ उदयपुर, गोगूदा और सायरा में चले गये। वे सब एक ही परिवार के व्यक्ति थे। उस पोथे में चतरोजी के चार पुत्र वतलाये गये हैं—तिलोकजी, सूरजमलजी व्रजलालजी और लालजी। उपर्युक्त जवेरचन्दजी व्रजलालजी के पुत्र थे। वे दो भाई थे। दूसरे भाई का नाम लिखमीचन्दजी था।

के पास आए। स्वामीजी ने उन सबसे उनकी शंकाओं तथा वंदन-व्यवहार छोड़ देने आदि विषयों पर बातचीत की।

उन श्रावकों ने साधु-समाज के आचार विचार सम्बन्धी शोचनीय स्थिति की ओर स्वामीजी का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने उस समय जो कुछ कहा उसका सार यह है— आप लोग तो अब जान-बूझकर दोषों का सेवन करने लगे हैं। कहीं आपके निमित्त स्थानक बनाये जाते हैं, कहीं मोल लिए जाते हैं, पर आप लोग इन बातों की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते। मानो आधाकर्म आदि दोष आपके लिए लागू हैं ही नहीं। वस्त्र-पात्र सम्बन्धी मर्यादाओं का भी खुलेआम लोप होता है, पर कोई बोलता तक नहीं। शिष्यों के लिए तो आप जो कुछ न कर लें वही थोड़ा है। बिना आज्ञा मूंड लेना बहका कर कहीं अन्यत्र भगा ले जाना दूसरे के शिष्य तथा भावी शिष्य को उलटी-सीधी बातें सिखाकर अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करना आदि तो इतनी सामान्य बातें हो गई हैं कि जिनके विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। न आप में शुद्ध श्रद्धा है और न शुद्ध आचार फिर हम आपको वंदन करें तो किसलिए ?

एक आश्वासन

श्रावकों की ये बातें सुन लेने के पश्चात् स्वामीजी से यह छिपा नहीं रहा कि श्रावक जो दोषारोपण कर रहे हैं वे सत्य हैं और साधुओं का आचार विचार दूषित है। परन्तु गुरु की बात ऊँची रखने के व्यामोह ने तथा मत-पक्ष ने उनके मन को दोष-स्वीकृति की आज्ञा नहीं दी। उन्होंने अपने बुद्धि-बल से श्रावकों को समझाने का प्रयास किया और नरम-गरम अनेक उपायों का सहारा लेकर उन्हें चरण छूकर वंदन करने के लिए सहमत कर लिया।

श्रावकों ने वंदन करना प्रारम्भ तो कर दिया पर साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया कि आप विरागी हैं अतः हम आपके विश्वास पर वन्दन करते हैं, किन्तु हमारे मन की शंकाएँ तो मिटी नहीं हैं।

स्वामीजी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा— "चार महीने हमारे सामने हैं यह काफी लम्बा समय है अतः धीरे-धीरे सारी शंकाओं का समाधान होता ही रहेगा।"

इस कथन से श्रावकों को जहाँ थोड़ा-बहुत आश्वासन हुआ वहाँ स्वयं स्वामीजी के मन में एक तुमुल संघर्ष छिड़ गया। श्रावकों की शंकाओं ने उन्हें आत्म निरीक्षण के लिए बाध्य कर दिया। उनका सत्य प्रेम वस्तुतः उस समय कसौटी पर चढ़ गया था। यही कारण है कि राजनगर का वह चातुर्मास उनके लिए मानसिक संघर्ष का काल रहा। उससे जो कुछ फलित हुआ वह स्वयं उनके लिए ही नहीं परन्तु सारे संसार के लिए बहुत गुणकारक हुआ। श्रीमज्जयाचार्य ने इसीलिए उनके उस चातुर्मास को 'चौमासो गुणकार'[1] कहकर सम्बोधित किया है।

१—भिक्षु जश रसायण १।६

हृदय-मथन

उस घटना के पश्चात् ही सयोगवश स्वामीजी को बडे जोर से ज्वर का प्रकोप हुआ। शीत-दाह से उनका शरीर थर-थर कापने लगा। ज्वर के उस आकस्मिक आक्रमण ने शरीर के साथ-साथ उनके मन को भी झकझोर डाला। उनकी विचारधारा में गहरी हल चल मच गई। थोडी देर पहले उन्होंने जिस मत-पक्ष से प्रेरित होकर श्रावको की बातो को उलटने का प्रयास किया था, अब उन्हें स्पष्ट ही वह एक मोह ज्ञात होने लगा। असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करने का वह प्रयास अब स्वय ही उनकी आत्मा को कचोटने लगा। आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप की तीव्र अनुभूति करते हुए वे सोचने लगे—"मैने जिनेश्वरदेव के वचनों को छिपाकर सच्चों को झूठा ठहराया—यह कैसा अनर्थ कर डाला? यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाय तो अवश्य ही मुझे दुर्गति में जाना पडे। क्या ऐसी स्थिति में यह मत-पक्ष और ये गुरु मेरे लिये शरणभूत हो सकते हैं?" इन विचारो ने उनके मन के किसी कोने में छिपे पडे मताग्रह को धो डाला।

एक प्रतिज्ञा

दु ख के समय जहाँ पामर प्राणी हाय-तोबा मचाता है, वहाँ उत्तम पुरुष आत्म-कल्याण की ओर अधिक वेग से प्रवृत्त होता है। दु ख उसके लिए अभिशाप नही, किन्तु वरदान बन जाता है। स्वामीजी को उस वेदना ने मानो झकझोर कर जगा दिया। सहसा उनकी आन्तरिक आखें खुल गई और उन्हे अपना कर्त्तव्य-पथ सामने दिखाई देने लगा। रात्रि के नीरव एकान्त में चलने वाली हृदय-मथन की उस प्रक्रिया ने स्वामीजी को अपार बल दिया। उन्होने साहस और दृढ़ता के साथ प्रतिज्ञा की—"यदि मै इस बीमारी से मुक्त हुआ तो अवश्य ही निष्पक्ष-भाव से खोजकर सत्य-मार्ग को अपनाऊँगा। जिन-भाषित आगमों के अनुसार ही मैं अपनी चर्या बनाऊँगा। साधुओ के लिए निर्दिष्ट मार्ग के अनुरूप आचरण करने में मैं किसी की भी परवाह नहीं करूँगा।"

उस प्रतिज्ञा के पश्चात् स्वामीजी का ज्वर क्रमश शान्त होता गया और रात्रि के साथ ही उसका अन्त हो गया। प्रभात के समय जब कुछ व्यक्ति आये तो स्वामीजी ने उनसे अपने रात्रिकालीन निश्चय का जिक्र करते हुए कहा—"मैंने जो बातें कही थीं, उनके विषय में एक बार फिर से विचार कर लेना चाहता हूँ। आगमों की कसौटी पर अपने विचारों को कस लेने के पश्चात् जो भी निष्कर्ष निकलेगा, वह मैं आप सबके सामने रख दूँगा।

श्रावक-वर्ग स्वामाजी की विरागवृत्ति से पहले ही प्रभावित था, अब सत्यान्वेषण के प्रति उनकी उदार भावना और तटस्थ वृत्ति को देखकर और भी प्रभावित हुआ। उन्होंने स्वामीजी से जो आशा लगाई थी, वह सब फलवती होती हुई नजर आने लगी।

आगम-मंथन

स्वामीजी के ऊपर अब एक असाधारण कर्त्तव्य का भार आ गया जिसकी न तो उपेक्षा करना ही उपयुक्त था और न अधीरता से किसी परिणाम पर पहुँचने की उतावल करना ही। उपेक्षा जहाँ तत्त्व-गवेषणा की ओर से उदासीन कर देती है वहाँ अधीरता सत्य के निष्कर्ष पर पहुँचने में बाधक बनती है। स्वामीजी को दोनों दोषों से बचकर चलना था। एक ओर श्रावकों के द्वारा उठाये गये प्रश्न तथा अध्ययन-काल में स्वयं स्वामीजी के मन में उठने वाले विचार थे दूसरी ओर अपने सम्प्रदाय के आचार विचार की प्रणाली थी। दोनों में जहाँ संघर्ष था वहाँ आगम ही निर्णायक हो सकता था। इसीलिए स्वामीजी ने दोनों प्रकार के विचारों को आगमों की कसौटी पर कसकर देख लेने का निर्णय किया। परन्तु यह निर्णय बहुत गंभीर था।

विचार के पीछे जो 'अपना' अथवा 'पराया' विशेषण लगा रहता है वह तटस्थता से निर्णय करने में बाधक बन जाता है। 'स्व' और 'पर' से ऊपर उठकर केवल निर्विशेषण विचार को परखने की क्षमता एक विरक्त मुमुक्षु में ही हो सकती है। मुमुक्षु व्यक्ति अपना मन्तव्य पुष्ट करने में नहीं किन्तु सत्य को पुष्ट करने में अपना गौरव समझता है। सत्य को परखने में गलती की संभावना हो सकती है, इसलिए उसे देख-देखकर पैर रखना पड़ता है। किसी भी विचार को एक बार या दो बार ही नहीं किन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कस लेने के पश्चात् जब कोई सन्देह नहीं रह जाता तब वह अपने अनुभव में आये हुए विचारों को साफ-साफ जनता के सामने रख देता है।

स्वामीजी ने भी अन्तिम निर्णय के लिए उसी मार्ग का अवलम्बन लिया। उन्होंने तटस्थ बुद्धि से सूत्रों का दो बार सूक्ष्मतापूर्वक पारायण किया। सत्य को असत्य बतलाना जहाँ आत्म पतन का कारण होता वहाँ गुरु-पक्ष लेकर असत्य को सत्य सिद्ध करना भी दुर्मति का कारण होता। न सत्य के प्रति अन्याय होना चाहिए था और न गुरु के प्रति। यह एक दुधारी तलवार पर चलने के समान कठिन काम था। उससे बचते बचने के लिए आगम-मंथन ही एकमात्र उपाय था। स्वामीजी ने उस चातुर्मास में अपना अधिक समय उसी कार्य में लगा दिया।

निष्कर्ष की घोषणा

वे शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर तथ्यों को हृदयंगम करते रहे। अन्ततः आगम-मंथन के उस महान् परिश्रम से उनके निष्कर्ष जो सामने आया उससे स्वामीजी को पूरा-पूरा भरोसा हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है। साधु-समाज जिन आज्ञा के अनुसार नहीं चल रहा है। दर्शन और चारित्र—ये दो ही साधुता के अनिवार्य अङ्ग हैं किन्तु यहाँ इन दोनों का सम्यग् भाव दृष्टिगत नहीं होता।

स्वामीजी अपने निष्कर्ष को गोल-मटोल भाषा में छिपाकर रखना नही चाहते थे। वे अपनी पूर्वकृत भूल को सुधार कर सव कुछ स्पष्ट कह देने का निश्चय कर चुके थे। इसलिए पहले अपने साथ के अन्य साधुओ के सामने उन्होने सारी बातें विस्तार सहित रखी। साधु का वास्तविक आचार-विचार क्या होना चाहिए—यह उन सव को आगम-सम्मत दृष्टिकोण से समझाया। चारो साधुओं ने अच्छी तरह समझ लेने के पश्चात् स्वामीजी के उस दृष्टिकोण का अनुमोदन किया।

इधर चातुर्मास भी समाप्ति के करीव आने लगा था। तब एक दिन श्रावको की सभा के सम्मुख अपना चिर-प्रतीक्षित निर्णय सुनाते हुए स्वामीजी ने निर्भीकता-पूर्वक उद्घोषित किया—"श्रावको! तुम लोग सत्य-मार्ग पर हो, हम गलत है। वास्तव में ही साधु-वर्ग शास्त्र-सम्मत मार्ग से भटक गया है, किन्तु इसके लिये धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं है। मैं आचार्य के पास जाकर निवेदन करूँगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे इस पर ध्यान देकर साधु-संघ को पुन नियन्त्रित करेंगे, ताकि सघ में शुद्ध आचार और शुद्ध विचार का वातावरण फिर से फैल सके। अवश्य ही कोई न कोई ऐसा उपाय खोज लिया जायगा, जो लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक होगा और गति में तीव्रता लाएगा। आप सब लोगो को तव तक के लिये धैर्य-पूर्वक कुछ और प्रतीक्षा करनी चाहिये।"

स्वामीजी की उस खरी बात को सुनकर श्रावक बडे ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"हमें आप से जैसा भरोसा था, वैसा ही काम आपने कर दिखाया।"

संघ-कल्याण की दृष्टि

स्वामीजी ने सत्य-मार्ग को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे स्वय आचार्य बनना चाहते थे या अलग मत निकालना चाहते थे। उनके सामने तो केवल सत्य का ही प्रश्न था। वे आत्म-कल्याण के पथ पर शिष्यत्व या गुरुत्व में कोई भेद नहीं मानते थे। किसी भी प्रकार से सत्य का पालन हो, आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो—यही उनका प्रमुख लक्ष्य था।

वे अपने अकेले का ही नही, किन्तु सारे सघ का कल्याण चाहते थे। इसीलिये आचार्य को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया, प्रत्युत उनके दृष्टिकोण को बदलकर सारे सघ को शुद्ध-मार्ग पर प्रवृत्त करने का ही निश्चय किया। आचार्य के न मानने पर जो कुछ करने का था उसका निर्णय भी वे कर चुके थे। परन्तु उस निश्चय को काम में न लेना पडे, इसीलिये पहले गुरु को सोचने तथा समझने का काफी अवसर दे देना चाहते थे। इतने पर भी यदि गुरु और सत्य—इन दोनों में से केवल एक को ही चुनना पडे तो वे सत्य को चुनने का निश्चय कर चुके थे।

आचार्य की ओर

चातुर्मास समाप्त होने पर स्वामीजी ने राजनगर से मारवाड़ की ओर विहार किया क्योंकि आचार्य रुघनाथजी का चातुर्मास मारवाड़ में ही था। स्वामीजी के मार्ग में छोटे-छोटे ग्राम पड़ते थे अतः उन्होंने सुविधा की दृष्टि से साधुओं के दो दल कर दिये। दूसरे दल में वीरभाणजी नामक साधु प्रमुख थे। उनको अच्छी तरह से समझाते हुए स्वामीजी ने कहा—"यदि तुम आचार्य के पास पहले पहुँच जाओ तो वहाँ इस विषय की कोई चर्चा मत करना क्योंकि अधूरी बातों को सुनकर यदि पहले से ही मन में कोई आग्रह बद्ध-मूल हो गया तो फिर समझाने में कठिनाई होगी। आखिर वे अपने गुरु हैं, अतः अवसर देखकर विनयपूर्वक ही सब बातें उनके सामने रखनी होंगी। मैं स्वयं पहुँचकर उनके पास सारी स्थिति रखूँगा और उन्हें सत्य-मार्ग पर लाने का प्रयास करूँगा।

साथी की भूल

संयोगवश वीरभाणजी ही पहले पहुँचे। उस समय आचार्य रुघनाथजी सोजत में थे। वंदन और सुख प्रश्न आदि व्यवहार के पश्चात् उन्होंने वीरभाणजी से पूछा— 'श्रावकों की शंकाएँ दूर हुई या नहीं ?'

वीरभाणजी ने उत्तर दिया— 'श्रावकों के शंकाएँ होतीं तब तो वे दूर भी होतीं परन्तु उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। आधाकर्म स्थानक अशुद्ध आहार, नित्य पिंड मर्यादा से अधिक वस्त्र-पात्र बिना आज्ञा दीक्षा देना आदि अनेक दोषों का हमलोग सेवन करते हैं। इतना ही नहीं हम उन्हें उचित ठहराने का भी प्रयास करते हैं। श्रावक यदि इन बातों का दोष हम लोगों में निकालते हैं तो वे सत्य ही कहते हैं। उनकी शंकाएँ मिथ्या नहीं हैं।

आचार्य रुघनाथजी ने जब ये बातें सुनीं तो स्तम्भित हो गये। उन्होंने वीरभाणजी को टोकते हुए कहा— 'तुम इस तरह कैसे बोल रहे हो ?'

वीरभाणजी ने जोर देते हुए कहा—"मैं सत्य ही कह रहा हूँ। साधु-संघ में दोष-सेवन होता है यह निश्चित है। परन्तु मेरे पास तो सुनाने के लिये केवल नमूना मात्र ही है पूरी बात तो भीखणजी के आने से मालूम होगी।

इस प्रकार वीरभाणजी ने अधैर्यवश सारी बातें पहले ही कह डालीं। स्वामीजी द्वारा सावधान कर देने पर भी वे बात को पचा नहीं सके। कौन-सी बात कब और कैसे कहनी चाहिये इसका उन्होंने कोई विचार नहीं किया।

आचार्य रुघनाथजी उनकी बातों से बहुत उदास हुए। वे बड़ी व्याकुलता के साथ स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगे। स्वामीजी के पहुँचने से पहले ही वहाँ के वातावरण में एक अजाव कटुता घुलने लगी। साथी के उतावलेपन से की गई थोड़ी-सी भूल ने कार्य की सफलता को काफी दूर धकेल दिया और उनके मार्ग को भी कंटकाकीर्ण बना दिया।

गुरु का रुख

स्वामीजी आये और उन्होने गुरु-चरणों में भक्तिपूर्वक वदन किया। परन्तु न तो उन्होने वदन ही स्वीकार किया और न रुख ही जोडा। चतुर स्वामीजी ने तत्काल भाप लिया कि वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कहकर अवसर बिगाड दिया है। परन्तु स्वामीजी बिगडी को भी सुधारना जानते थे, अत नम्रतापूर्वक आचार्य से उनकी उदासी का कारण पूछा।

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—"तुम्हारे मन में शकाएं पड गई हैं, इसलिए तुम्हारा और हमारा मन अब मिल नही सकता। आज से तुम्हारा और हमारा आहार भी सम्मिलित नहीं होगा।"

स्वामीजी ने सोचा—"इनमें और हममें—दोनों में ही सम्यक्त्व नहीं है, परन्तु इस समय यह वाद-विवाद करना निरर्थक होगा। सम्भवत. इनको यह आशका हो कि शिष्य रूप में रहना मुझे स्वीकार नही है और मैं स्वय इनसे अलग होना ही चाहता हूँ तो इसके लिए उचित होगा कि यह आशका दूर कर इनके हृदय मे विश्वास पैदा करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। समस्त साधु-सघ को सुधारना है तो पहले गुरु से सम्पर्क रखना और उन्हें सारी बातों से अवगत कराना आवश्यक है। यह सब विश्वास के बिना नही हो सकता। अविश्वास जहाँ कार्य को नष्ट करता है, वहाँ विश्वास नष्ट हुए कार्य को भी पुन सुधार देता है।"

यह सब सोचकर स्वामीजी ने कहा—"यदि मेरे मन में व्यर्थ की शकाएँ पड गई हैं तो उनको दूर कीजिये और मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके सहभोजी कीजिये।" इस प्रकार आचार्य की व्यर्थ की आशकाओं को दूर कर वे साभोगिक बने और वार्त्तालाप करने का अवसर प्राप्त किया।

नम्र निवेदन

स्वामीजी ने कुछ समय पश्चात् ही अवसर देखकर आचार्यजी के साथ तत्त्व-मीमासा करने का उपक्रम किया। उन्होने नम्रता-पूर्वक यथावसर एक के पश्चात् एक आचार-विचार सम्बन्धी सारी बातें आगम-न्याय सहित सामने रखीं। उनके कथन का सार था—"हमलोगों ने आत्म-कल्याण के लिये घर छोडा है, इसलिए किसी प्रकार का आग्रह न रखकर आगम-वाणी के अनुसार ही अपनी मान्यताएँ रखनी चाहिये। जो मान्यताएँ मिथ्या है, आगमो की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं, उन्हें तत्काल छोड देना चाहिये। पूजा प्रशसा तो इस जीव को बहुत बार मिल चुकी है, परन्तु शुद्ध-श्रद्धा का होना बहुत दुर्लभ है, अतः दूसरी बातों को गौण समझ कर इसी का निर्णय करें। यदि आप आगम-कथित शुद्ध दर्शन और चारित्र का पुन-

उद्धार करेंगे तो आप हमारे पूज्य गुरु[1] होने के साथ-साथ संसार के लिए भी एक महान् प्रकाश-स्तम्भ होंगे। ऐसा किये बिना हम सबके लिये गृह-त्याग करने का अर्थ ही क्या रह जाएगा ? अपने संघ की स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यहाँ आगम विरुद्ध आचार की परिपाटी चल रही है। इतना ही नहीं किन्तु श्रद्धा भी आगमानुमोदित नहीं लगती। दृष्टांत स्वरूप पुण्य और पाप की क्रिया को ही ले लीजिये। अपने संघ में एक ही क्रिया से दोनों—कुछ पुण्य और कुछ पाप का होना भी सम्भव माना है। परन्तु आगम-दृष्टि है कि अशुभ योगों की प्रवृत्ति से पाप और शुभ योगों की प्रवृत्ति से पुण्य का बंध होता है। एक साथ दो योगों की प्रवृत्ति नहीं की जा सकती जिससे पुण्य और पाप दोनों का बंध हो सके। शुभ और अशुभ योगों के अतिरिक्त कोई ऐसा तीसरा प्रकार नहीं है कि जिसमें शुभ और अशुभ—दोनों योगों का मिश्रण हो सके। इस आगमिक-दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि एक क्रिया से एक ही बंध (पुण्य या पाप का) होता है। न तो मिश्र क्रिया होती है और न मिश्र बंध। अतः आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि जिन-आज्ञा पर पूरा ध्यान देकर इन बातों को सोचिये। जिन-आज्ञा से बाहर कोई धर्म नहीं है। हम उसे आराध कर ही जीवन की आराधना कर सकते हैं।"

कोई प्रभाव नहीं

आचार्य रुघनाथजी पर स्वामीजी की इन बातों का कोई अनुकूल प्रभाव नहीं हुआ। उलटे वे अधिक क्रुद्ध हो उठे। चिर-परिचित और चिर-पालित धारणाओं का मोह कसौटी के लिये तैयार ही कब होता है ? फिर भी कोई बलात् उसकी कसौटी करना चाहे तो वह उसके लिये कैसे सह्य हो सकता है ?

स्वामीजी सदा से आशावादी थे। निराशा चाहे कभी आई हो भी पर वह टिक कभी नहीं पाई। उन्होंने सोचा कि गुरु का ऋण चुकाना है। सत्य-सूर्य को देखने के लिये जिस

1—स्थानकवासी श्रीमद् [illegible]रामजी विरचित 'सिद्धान्तसार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—"मठपति पणुं छोडी फरी थी दीक्षा ग्रहण करो तो तमे अमारा गुरु अने अमे तमारा शिष्य नहीं तो हवे अमे अमारु आदर्युं काम करवाना छीए।"

जयाचार्य ने स्वामीजी की एतद् सम्बन्धी भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

जो थे मानो हो छकर नी बात,
तो थेहिज म्हारा नाथ।
नहितर ठीक सम्पे नहीं ॥
म्हे घर छोड्यो हो आतम तारण काम,
और नहीं परिणाम।
तिणसूं बार-बार कहूँ आपने ॥ —भि० ज० र० ४—१० ११

दोष-मुक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह इस समय यहाँ नही है। सत्य को सीधा स्वीकार कर लेना तो और भी अधिक साधना-सापेक्ष होता है। परन्तु सम्भव है, यह मत-पक्ष का सामयिक आवेश ही हो। समय पाकर जब आवेश का अधड दूर हो जायेगा तब कुछ सोचने का अवसर अवश्य मिलेगा। उस समय स्वत ही सत्यता का प्रकाश अप्रत्याहत गति से आत्मा में फैल जाएगा। ऐसे समय में सारी परिस्थिति नम्रतापूर्वक उनके सामने रखूँगा तो अवश्य ही यह समस्या बहुत सरलता से सुलभ सकेगी। उतावल करने से काम नही होगा। आग्रह अपना स्थान छोडने मे कुछ समय मागता ही है। मुझे इस समय धीरज से काम लेना चाहिये।

धैर्य-पूर्वक प्रतीक्षा

स्वामीजी अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे। जब-जब ऐसा अवसर मिला उन्होने अपने विचार बेधडक सामने रखे और उन पर चर्चा चलाई। इस प्रकार काफी समय गुजर गया। चातुर्मास के दिन समीप आने लगे।

एक दिन स्वामीजी ने अवसर देखकर निवेदन किया—"इस बार चातुर्मास एक साथ किया जाये, जिससे कि चर्चनीय विषयो पर पूरा विचार किया जा सके और सत्यासत्य को परखने का अवसर मिल सके।"

आचार्य रुघनाथजी ऐसा करने में सहमत नही थे। उन्हें भय था कि कही दूसरे शिष्यो पर भी इस बात का असर न हो जाए। उन्होने स्वामीजी से कहा भी कि ऐसा करने पर तुम मेरे अन्य शिष्यो को भी अपने पक्ष में लेने का प्रयास करोगे अत मैं साथ में चातुर्मास करना उपयोगी नही समझता।

स्वामीजी ने इस भय को दूर करने के लिए सुझाव देते हुए कहा—"यदि आपको ऐसा भय है तो आप अपने ऐसे शिष्यो को ही साथ मे रखिये जो हमारी चर्चा के विषय में कुछ विशेष न समझ सकें। इसके अतिरिक्त आपको उचित लगे वैसा कोई अन्य उपाय भी आप कर सकते है, परन्तु इस अवसर का हमे समुचित लाभ उठाना ही चाहिए। यदि इस समय आप जैसे समर्थ आचार्य शासन का कुछ सुधार कर सकें तो सहज ही शुद्ध आचार का निर्माण होकर साधु-सघ सारे विश्व के लिए उपयोगी बन सकेगा। अन्यथा आचार-शैथिल्य के कारण यह सघ ससार के लिए एक भार बन जाएगा।"

इतने पर भी आचार्य रुघनाथजी ने स्वामीजी की बात को नही माना और चातुर्मास एक साथ करने में सहमत नही हुए। आखिर उनका वह चातुर्मास अलग-अलग क्षेत्रो में ही हुआ। स्वामीजी ने फिर भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के मार्ग को ही अपनाया।

सबध-विच्छेद

चातुर्मास के पश्चात् स्वामीजी फिर बगडी में आचार्य रुघनाथजी से मिले और चर्चा कर सत्य-शोधन के लिए अनुरोध किया। परन्तु उन्होने फिर भी उनकी बात पर कोई ध्यान नही

दिया। इस प्रकार लगभग एक वर्ष और पौने पाँच महीने तक[1] स्वामीजी का वह प्रयास निरन्तर चलता रहा। उसके पश्चात् जब सुधार का कोई आसार दृष्टिगत नहीं हुआ तब उन्होंने साफ-साफ समझ लिया कि ये इस काम के लिए कभी तैयार नहीं हो सकते।

स्वामीजी ने तब आचार्य रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। उनके साथ ही अन्य चार संतों ने भी रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर स्वामीजी का साथ देने का निर्णय किया। ये चारों[2] संत—टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—वे ही थे जो राजनगर चातुर्मास में स्वामीजी के साथ थे। तत्काल पाँचों साधु स्थान को छोड़कर बाहर आ गये। वह चैत्र शुक्ला नवमी का दिन था। वि० सं० १८१७ का प्रथम दिन। उस दिन वस्तुतः नये वर्ष का नया सूर्य जैन शासन के नये उदय का प्रकाश लेकर उदित हुआ था।

२ :

नव जीवन की ओर

जैतसिंहजी की छतरी में

स्वामीजी ने स्थानक-वासी सम्प्रदाय से पृथक होकर शुद्ध साधुता के नव जीवन की ओर अपने चरण बढ़ाये। शुद्ध संयम के लिए जैनागमों में जिस आचार विचार का प्रतिपादन है उसे वे अपनी जीवन-साधना में उतारकर प्रत्यक्ष कर देना चाहते थे। उस समय के अधिकांश व्यक्तियों में जब यह भावना घर कर चुकी थी कि इस युग में शुद्ध साधुता का पालन असंभव है तब स्वामीजी ने उसके विरुद्ध यह सिद्ध कर दिखाने का निर्णय किया कि असंभव कुछ भी नहीं है केवल दृढ़ आत्मबल की ही आवश्यकता है। वे उसी प्रकार के सुदृढ़ आत्म बल को लेकर आगे बढ़े। वे जानते थे कि नव जीवन के इस मार्ग में अनेक बाधाएँ आएँगी। पहले पहल तो सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति भी विरल ही मिलेंगे सहयोग के नाम पर केवल

१—यह समय सं० १८१५ के राजनगर चातुर्मास के पश्चात् सं० १८१७ के चैत्र शुक्ला नवमी (नव वर्ष के प्रथम दिन) तक का था अतः एक वर्ष पौने पाँच महीने के लगभग ही होता है। परन्तु 'ख्यात' तथा 'शासन-प्रभाकर' में इसे 'दो वर्ष जाझा' कहा है, जो ठीक नहीं मालूम होता।

२—इनके नामों का भिक्खु जश रसायन में यद्यपि कोई उल्लेख नहीं है फिर भी पाँच की संख्या का उल्लेख है अतः यही संभावना उचित प्रतीत होती है।
भारमलजी स्वामी के पिता 'किसनोजी' राजनगर चातुर्मास में भी साथ नहीं थे। मालूम होता है वे यहाँ भी साथ नहीं थे। संभव है वे किसी दूसरे सिंघाड़े के साथ हों और कुछ दिन पश्चात् स्वामीजी से मिले हों।

जैतसिहजी की छतरी

अपना आत्म-विश्वास ही होगा। दूसरे तो प्राय असहयोगी ही नही, किन्तु विरोधी होगे। इतना सब कुछ सोच-समझ लेने के पश्चात् ही उन्होने उस मार्ग पर अपने चरण बढाये।

आचार्य रुघनाथजी उस समय स्थानक-वासी सम्प्रदाय के एक बडे टोले के आचार्य थे। स्वामीजी ने उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद किया तो उन्होने उनके विरुद्ध नाना विरोध और बहिष्कारो के रूप मे विपत्तियो के पहाड खडे कर दिये। फिर से स्थानक मे आने को बाध्य करने के लिए सघ ने सेवक के द्वारा सारे शहर मे ढिढोरा पिटवा दिया कि कोई भी व्यक्ति भीखणजी को ठहरने के लिए स्थान न दे। यदि कोई स्थान देगा तो उसे सर्व-सघ की आन है।

स्वामीजी उस विरोध से विचलित होने वाले नही थे। वे अपने विचारो के पक्के थे। आने वाले किसी भी तूफान का सामना कर सकने का उनमें भरपूर आत्म-बल था। उन्होने शहर मे रहने-योग्य स्थान की काफी गवेषणा की, परन्तु सघ की 'आण' के भय से कोई भी व्यक्ति स्थान देने को तैयार नही हुआ। उन लोगो की यह एक चाल थी कि सारे शहर मे जब कोई स्थान नही मिलेगा, तब आखिर स्वय ही इन्हे स्थानक में आना पडेगा। परन्तु स्वामीजी उसे अच्छी तरह से जानते थे अत उन्होने सोचा—"स्थानाभाव से घबरा कर यदि मैं पुन स्थानक मे चला जाऊँगा तो फिर से उसी छूटे हुए जाल में फँस जाऊँगा। वहाँ से फिर निकल पाना अत्यन्त कठिन हो जाएगा।"

स्थानक में वापिस जाने की अपेक्षा विहार करना ही उचित समझ कर उन्होने बगडी[1] शहर से विहार कर दिया। वे शहर से बाहर ही हुए थे कि जोर से आधी चलने लगी। तेज आधी में विहार करना उचित न समझ कर वे वही पार्श्वस्थित जैतसिहजी की छतरी[2] में ठहर गये। वह उनका प्रथम निवास-स्थान था। जगत् जिसे अपनी मजिल का अन्तिम स्थान समझता है, स्वामीजी ने उसे अपनी मजिल का प्रथम स्थान बनाया। वह था भी ठीक। सामान्य जहाँ अपनी सीमा को समाप्त करता है, विशेष वही से अपनी सीमा का प्रारम्भ करता है। सामान्य और विशेष का अन्तर यही तो स्पष्ट होता है।

गुरु के मोहोद्गार

छतरी मे ठहरने का सवाद जब आचार्य रुघनाथजी ने सुना तो वे अनेक लोगो के साथ

१—स्वामीजी के उस महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् 'बगड़ी' को 'सुधरी' भी कहा जाने लगा है।

२—यह छतरी अब भी विद्यमान है। स्वामीजी के उस महान् दिवस की स्मृति मे द्वि-शताब्दी सपन्न होने के अवसर पर अभी सं० २०१७ चैत्र शुक्ला नवमी (५ अप्रैल १९६० ईस्वी) के दिन आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व मे उसी स्थान पर 'अभिनिष्क्रमण-समारोह' मनाया गया था। इसमें दूर-दूर से समागत हजारों की सख्या में जनता ने भाग लिया था। उस अवसर पर राजस्थान के मुख्य मत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा वित्त मत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियो ने स्वामीजी को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की थी।

दिन मैंने घर छोडा था उस दिन मेरी माता ने भी स्नेहवश आँसू बहाये थे, परन्तु मैंने उनकी कोई परवाह न करके गृह-त्याग किया था, तो अब इन आँसुओ का मूल्य ही क्या हो सकता है ? यदि मैं इस मोह के प्रवाह में बह जाऊँ तो आत्म-कल्याण के अपने लक्ष्य को किसी भी प्रकार पूरा नही कर सकता ।" स्वामीजी पूर्ण रूपेण दृढ-चित्त रहे और मोह का अपने ऊपर कोई असर नही होने दिया ।

एक धमकी

मोह मनुष्य को जितना द्रवित कर सकता है, उतना ही अधिक कठोर भी बना सकता है । स्वामीजी की उस हठ-चित्तता से आचार्य रुघनाथजी के अभिमान को भारी धक्का लगा । वे धमकी भरे कठोर शब्दों में कहने लगे—"अच्छा, तो अब तू भी देखना । आगे तू है और पीछे मैं हूँ । तेरे पीछे इतने लोगो को लगा दूँगा कि तू फिर याद ही करता रहेगा ।"

स्वामीजी उसी शात भाव से बोले—"मैं अपने जीवन में सम्यक् चारित्र की साधना करने जा रहा हूँ । अत आप जो कह रहे है, वह तो स्वत ही होने वाला है । फिर भी इस विशेष अवसर पर मैं आपके इन दोनो ही वाक्यों को अपने लिये आशीर्वाद ही मानता हूँ । यदि आप इन वाक्यो में धमकी दे रहे है तो भी मेरे लिये कोई चिन्ता की बात नही है, क्योकि मैं तो परीषह सहन करने के लिये तुला हुआ ही हूँ । तब फिर इस प्रकार की धमकियो से क्या डरूँगा ? किन्तु आप स्वय अपनी आत्मा के लिये सोच लीजियेगा और उसके लिये जैसा कल्याणकारी हो, वैसा ही कीजियेगा ।"

इस तरह के शात और सतुलित उत्तर से आचार्य रुघनाथजी हतप्रभ हो गये । आगे और कुछ कहने को न तो उनके पास कोई बात ही शेष रह गई थी और न साहस ही । जब वे अपनी नरम और गरम—दोनो ही प्रकार की प्रवृत्तियों से स्वामीजी को वापिस आने के लिये तैयार नहीं कर सके तो अनन्योपाय होकर शहर में आ गये ।

स्वामीजी ने अपनी शात वृत्ति के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि सत्यनिष्ठ और दृढ-निश्चयी को न तो स्नेह, मोह या नरमी ही विचलित कर सकते हैं और न धमकियाँ, विरोध एव गरमी ही । प्रत्युत वे तो उसके आत्मबल की वृद्धि ही किया करते हैं । कई बार तो उनके साथ किया जाने वाला सघर्ष ही उसके विकास और आत्मबल का माप-दड बन जाता है ।

बरलू की चर्चा

स्वामीजी ने बगडी से बरलू की ओर विहार किया । आचार्य रुघनाथजी भी उनके पीछे बरलू आये । वहाँ फिर डटकर चर्चा हुई । चर्चा में जब आचार्य रुघनाथजी के पास कोई उत्तर नही रहा, तब उन्होने पचम-काल का नाम लेते हुए कहा—"यह दु:षम काल है, इसमें पूरी साधुता नही निभ सकती ।"

स्वामीजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—"दुषम काल का तात्पर्य यह थोड़े ही हो सकता है कि उसमें धर्म की पूर्ण साधना नहीं की जा सकती। इसका तात्पर्य तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस काल में बल संहनन आदि हीन होंगे, अतः धर्म-साधना में नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयाँ रहेंगी। जो चारित्र-पालन करना चाहेगा उसे अधिक सावधानी और अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी। भगवान् ने इसीलिये कहा है—[1] जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थहीन होंगे, वे ही यह कहेंगे कि इस काल में शुद्ध संयम नहीं पाला जा सकता।

यह सुनकर आचार्य रुघनाथजी ने बात का रुख बदलते हुए कहा—"शुद्ध चारित्र क्या कोई मामूली बात है ? केवल दो घड़ी शुद्ध ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालने से ही केवल-ज्ञान प्राप्त हो सकता है।"

स्वामीजी बोले—"संयम तो एक निरन्तर की साधना है। वह घड़ी-दो-घड़ी के लिये ही पर्याप्त नहीं होती। उसकी साधना में एक क्षण का प्रमाद भी उचित नहीं माना जा सकता। यदि दो घड़ी की शुद्ध साधना से ही केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता हो तो इतने काल के लिये तो मैं श्वास रोककर भी शुद्ध ध्यान कर सकता हूँ। प्रभव स्वामी और शय्यंभव स्वामी आदि को—जो कि क्रमशः जंबूस्वामी के पश्चात् ही हुए, केवल-ज्ञान नहीं हुआ था तो क्या उन्होंने दो घड़ी के लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला था ? भगवान् महावीर के चौदह हजार शिष्यों में से केवल सात सौ ही केवली हुए, तो क्या अवशिष्ट साधुओं ने दो घड़ी के लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला ? स्वयं भगवान् महावीर भी संयम लेने के पश्चात् लगभग साढ़े बारह वर्ष तक छद्मस्थ ही रहे। क्या आप कह सकते हैं कि उस अवधि में दो घड़ी के लिये भी उन्होंने शुद्ध ध्यान नहीं ध्याया और शुद्ध चारित्र नहीं पाला ? यों तो दो घड़ी क्यों इससे कम समय में भी भरत मरुदेवा आदि ने केवल-ज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु देशऊन करोड़ पूर्व तक शुद्ध साधुता पालन पर भी किसी किसी को केवल-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसलिये शुद्ध साधुता जीवन भर के लिये एक साधना है, चाहे केवल-ज्ञान उससे प्राप्त हो अथवा न हो।

इस प्रकार पारस्परिक चर्चा का वह दौर भी समाप्त हो गया। किन्तु स्थिति में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आ सका।

आचार्य जयमलजी से मिलन

बगड़ी से विहार कर स्वामीजी आचार्य जयमलजी से मिले। वे भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक बड़े टोले के अधिनायक थे। आचार्य रुघनाथजी के वे गुरुभाई थे अतः स्वामीजी के काका गुरु थे। स्वामीजी ने सोचा "जब मेरे गुरु आचार्य रुघनाथजी इतना प्रयास करने के पश्चात् भी नहीं समझ रहे हैं और न उनके समझने की अब कोई सम्भावना ही रही है तो

१—आचारांग

ऐसी स्थिति मे आचार्य जयमलजी से मिलकर शासन-शुद्धि के विचार को आगे बढाया जाए और स्वय उनको इस कार्य के लिये तैयार किया जाए। यदि इस कार्य मे सफलता मिल गई तो आचार-शुद्धि के लक्ष्य को बहुत सहजता से प्राप्त किया जा सकता है। वे प्रकृति से बहुत सरल और भद्र-परिणामी है, अत उनसे ऐसी आशा करना कोई असगत बात नही होगी।" यही बातें सोचकर स्वामीजी उनसे मिले।

यह मिलन कहाँ और कब हुआ--इसका कोई निश्चित प्रमाण देखने मे नही आया। फिर भी "भिक्खु जश रसायण" के अनुसार बरलू से विहार कर देने के पश्चात् ही कही अन्यत्र स्वामीजी उनसे मिले थे। आचार्य जयमलजी का विहार-क्षेत्र नागोर, जोधपुर, बीलाडा तथा उनके चौतरफ के क्षेत्र ही प्रमुख रूप से रहे, अत यह मिलन उन्ही मे से किसी एक क्षेत्र में हुआ होगा। अधिक सभव है कि वे जोधपुर[1] मे ही मिले थे।

पूर्ण सहयोग का निर्णय

आचार्य जयमलजी के साथ स्वामीजी का वह मिलन अत्यन्त सहृदयतापूर्ण वातावरण मे हुआ था। अत उनमें जो परस्पर विचार-विमर्श हुआ वह भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक हुआ। स्वामीजी ने उनके सामने अपने सारे विचार रखे। तात्कालिक मान्यताओ तथा कार्य-प्रणालियो में शास्त्रीय विधान की दृष्टि से जो विरोध आ गया था, वह भी स्पष्ट रूप से बतलाया। उसके सुधार के लिए किये गये उपक्रमो और उनसे उत्पन्न स्थिति से भी उन्हे परिचित किया। इन सबके साथ-साथ भावी कार्य-क्रम और उसमें आकांक्षित सक्रिय सहयोग के लिए भी बातचीत की।

आचार्य जयमलजी स्वामीजी के विचारो से बहुत प्रभावित हुए। सैद्धातिक दृष्टिकोण के

१—हेमराजजी स्वामी के दृष्टान्तों के अन्तर्गत तेरहवें दृष्टान्त में कहा है कि स्वामीजी जब भाव-सयम लेने को तैयार हुए थे, तब एक चातुर्मास जोधपुर मे जयमलजी के साथ किया था। वहाँ जयमलजी के टोले के साधु थिरपालजी, फतेचदजी आदि के तथा स्वय जयमलजी को भी स्वामीजी की श्रद्धा जच गई थी। उस समय रुघनाथजी ने सोजत के भाइयों द्वारा एक पत्र जोधपुर मे जयमलजी के पास भिजवाया और उनके परिणाम फिरा दिये। इस दृष्टान्त में से यदि चातुर्मास करने की बात को छोड़ दिया जाए तो शेष सभी बातों से यही स्पष्ट होता है कि वे जोधपुर में ही मिले थे। इसमें चातुर्मास करने की जो बात लिखी है, वह किसी के लेखन या श्रवण की भूल का परिणाम हो सकती है। क्योंकि राजनगर के पश्चात् और भाव-संयम ग्रहण करने से पूर्व, स्वामीजी ने स० १८१६ का केवल एक चातुर्मास ही किया था, जो कि नागोर मे था। अत यही ठीक जचता है कि उनका वहाँ चातुर्मास न होकर शेषकाल की ग्रीष्म-ऋतु में यह मिलन हुआ था।

'भारीमाल चरित्र' के अनुसार स्वामीजी का 'बीलाड़ा' में भी जयमलजी से मिलना हुआ था। सभवत भाव-सयम की तैयारी के समय यह उनका दूसरी बार का मिलन था। उस बार स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी को उन्हें सौंपा था।

आचार पर विचार और आचार-सम्बन्धी शुद्धीकरण के उस शुभ कार्य में उन्होंने पूर्ण सहयोगी के रूप में अपना साथ देने का निर्णय व्यक्त किया। स्वामीजी उनकी उस भावना से बहुत संतुष्ट हुए।

परिणाम-भंग

आचार्य रघुनाथजी को जब पता चला कि जयमलजी के भीखणजी की श्रद्धा बैठ गई है और वे उनका साथ देने को तैयार हैं तो वे बड़े खिन्न हुए। उनके विचारों को परिवर्तित करने के लिए उन पर नाना स्थानों से दबाव डाले जाने लगे। स्वयं रघुनाथजी ने भी अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उन्हें इस कार्य से अलग होने के लिए बाध्य किया। उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक पत्र मोचत के माध्यम द्वारा जोधपुर में जयमलजी के पास भेजा गया जिसका आशय था— 'यदि आप भीखणजी के साथ मिल जाएंगे तो आपका नाम न होकर भीखणजी का ही नाम होगा। अभी आपको फुसलाने के लिए चाहे कुछ भी कहा जाए, परन्तु निश्चित है कि टोला—सम्प्रदाय भीखणजी के ही नाम से चलेगा। साधु आपके होंगे काम भीखणजी का होगा। आपके साधुओं में से जो विद्वान् हैं उन्हें तो वे छांट कर ले लेंगे। किन्तु अवशिष्ट साधुओं को 'ढीले' कहकर अवश्य ही अलग रखना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में वे सारे निराधार हो जाएंगे। उनके पारिवारिक गृहस्थ उनकी दुविधाओं से दुःखी होकर आपको ही कोसेंगे। अतः अपने इतने बड़े टोले की सुव्यवस्था को छिन्न भिन्न कर किसी बहाव में बह जाना आप जैसे सुविज्ञ संघ-नायक के लिए शोभास्पद नहीं है'[1]।

इस प्रकार की अनेक बातें सुनकर आचार्य जयमलजी के परिणाम गिर गये। उन्होंने स्वामीजी के साथ मिलकर आचार-शुद्धि के लिए जो निश्चय किया था उसे बदल दिया। स्वामीजी के सामने अपनी उस विवशता को व्यक्त करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह भी दिया— 'भीखणजी! मैं तो गल तक इसी वातावरण में डूब चुका हूँ। मेरा निकलना अब सहज नहीं है। तुम पंडित हो मेरी स्थिति को अच्छी तरह से समझ सकते हो। इसलिए चोट में ही पार लो। तुम शुद्ध साधु-जीवन का पालन करो। मेरे लिए तो यह काम प्राप्त करना असंभव ही है।'[2]

नव निर्माण का निश्चय

इस घटना से स्वामीजी को यह स्पष्ट पता लग गया कि आचार्य-पद पर आसीन किसी भी व्यक्ति से क्रियोद्धार की आशा करना व्यर्थ है। वह साथ वातावरण के दबाव से इतना घिरा हुआ होता है कि अपनी स्थिति से निकल भी ऊपर उठने का विचार स्वयं उसी या उनके पद को खतरा पैदा कर सकता है। पर जो आगे-आगे किसी भी परिवर्तन में बड़ी

१—हेम दृष्टांत ६ ११

२—हेम दृष्टांत ६ ११

घबराहट रहती है। पद से चिपकने की मनोवृत्ति क्रान्ति के लिए उपयोगी नही हो सकती। उसके लिए तो पद-त्याग करने की मनोवृत्ति ही काम कर सकती है।

आचार्य जयमलजी से वार्त्तालाप कर लेने के पश्चात् स्वामीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब जो कुछ करना है, वह सब स्वय के बलबूते पर ही करना है। दूसरों की प्रतीक्षा में और अधिक समय व्यतीत करना उचित नही होगा। किसी पूर्व-गठित सघ का आचार-विचार के आधार पर उद्धार करने का लक्ष्य उनके सामने अब नही रहा, क्योकि उसके लिए अनेक बार प्रयास करने के पश्चात् भी उन्हें कोई सफलता नही मिली और आगे के लिए सफलता की कोई सम्भावना भी दृष्टिगत नहीं हो रही थी। अब तो केवल आमूलचूल नये सघ-निर्माण की ही आवश्यकता थी। स्वामीजी ने उसके लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करने का निश्चय किया।

जोधपुर के बाजार मे

नव निर्माण की दिशा में प्रथम चरण-न्यास करने के लिए स्वामीजी ने यह आवश्यक समझा कि अब अपने विचारो का जनता में प्रचार किया जाये। इतने दिनो तक मुख्यत विभिन्न साधुओं को ही वे अपने विचार बताते रहे, किन्तु अब उन्हें विस्तारपूर्वक सबके सम्मुख रखने की आवश्यकता हुई। यह कार्य स्थानक में रहते हुए नही किया जा सकता था। उनका सिद्धान्तवादी मन यह भी स्वीकार नही कर सकता था कि स्वय जीवन में उतारे बिना किसी सिद्धान्त का प्रचार किया जाये।

जब वे स्थान की गवेषणा करने लगे तो उन्हें बाजार में कुछ दुकानें खाली मिली। दुकान के स्वामी की आज्ञा लेकर वे वहाँ ठहर गये। बाजार होने के कारण लोगो का आवा-गमन वहाँ यों ही काफी था, अब स्वामीजी के ठहरने से धर्म-चर्चा के लिए भी वह एक केन्द्र बन गया।

स्वामीजी आगन्तुक व्यक्तियो को अपने विचारो से अवगत कराने लगे। वे जैनागम-सम्मत आचार और विचार के सम्बन्ध में बहुत सी सारगर्भित बातें बतलाते। प्राय सारे दिन उनके पास जिज्ञासु व्यक्तियों का ताता लगा रहता। अनेक व्यक्तियों के मन में स्वामीजी के विचार जमने लगे और वे उनके भक्त बन गये। उन श्रद्धालु व्यक्तियों में गेरूलालजी व्यास आदि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्होंने स्वामीजी के विचारो को केवल समझा ही नही, किन्तु दूसरों को समझाने में भी काफी भाग लिया। जोधपुर के उन व्यक्तियों को तेरापथ के आद्य श्रावक होने का श्रेय प्राप्त है।

स्वामीजी वहाँ कुछ ही दिन ठहरे थे, परन्तु उतने ही दिनों में वहाँ के धार्मिक वातावरण में एक हलचल-सी पैदा हो गई। स्वामीजी का व्यक्तित्व तथा उनके विचार उस समय के साधु व श्रावक-वर्ग में चर्चा के मुख्य विषय बन गये। कोई उनके पक्ष में बोलता तो कोई विपक्ष में। स्वामीजी जब जोधपुर से विहार कर आगे पधार गये, तब भी शहर में उनके

विचारों की चर्चा उसी प्रकार से चलती रही। व्यासजी आदि श्रावक उन विचारों के प्रचार में लगे हुए थे। स्वामीजी के द्वारा प्रज्वलित सद्-श्रद्धा की ज्योति को वे अपने प्रयास की आहुति से और भी अधिक तेज बना देना चाहते थे।

एक केन्द्र

स्वामीजी स्थानक के कट्टर विरोधी थे अतः उनके भक्तजनों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे स्थानक को किसी प्रकार का प्रश्रय न दें और न उसे अपना आधार बनायें। स्वामीजी के विचार स्थानक के विषय में बिलकुल स्पष्ट थे। उनका कथन था— जिस प्रकार साधारण गृहस्थ के 'घर' सेठ के 'हवेली' और राजा के 'महल' होता है तथा विभिन्न संन्यासियों के मठ अस्थल आसन मढ़ी आदि नाम से मकान होते हैं उसी प्रकार जैन-साधुओं के निमित्त 'स्थानक' बनाये जाते हैं। इन सब में केवल नाम का ही अन्तर है वस्तु-दृष्टि से तो वे सब घर ही हैं। यह एक प्रकार का प्रच्छन्न परिग्रह है जो साधु को अपरिग्रही नहीं रहने देता। अन्य मकानों के निर्माण की ही तरह इनके निर्माण में भी जीव हिंसा होती है। यह जीव-हिंसा साधु के निमित्त होती है अतः ऐसे मकानों में ठहरने से साधु अहिंसक नहीं रह सकता। उसे 'आधाकर्म' दोष का भागी होना पड़ता है।[1]

इसीलिए स्वामीजी के विचारों पर श्रद्धा रखने वाले वे थोड़े से लोग प्रायः प्रतिदिन उस दुकान पर ही एकत्रित हुआ करते थे। वहाँ वे लोग सामायक पौषध आदि धर्म क्रिया करते तथा धर्म विषयक विचार विमर्श करते। अन्य आस-पास की दुकानों में जहाँ सांसारिक व्यापार चला करता वहाँ उस दुकान में धार्मिक व्यापार चलता। वहाँ भी अनेक नये-नये तत्त्व जिज्ञासु ग्राहक के रूप में आया करते और तत्त्व चर्चा में भाग लिया करते। उन दिनों वह स्थान स्वामीजी के विचार प्रचार का एक अच्छा केन्द्र बना हुआ था। केवल विचार प्रसार का ही नहीं किन्तु स्वामीजी सम्बन्धी प्रत्येक जानकारी का भी वह केन्द्र था।

तेरह साधु

स्वामीजी जब जोधपुर से चले तब यह निर्णय करके ही चले थे कि अब जिन-भाषित पथ पर उन्हें आगे बढ़ते ही जाना है। कौन उसमें उनके साथी होते हैं और कौन नहीं—इसकी चिन्ता छोड़ देनी है। वस्तुतः उन्होंने वैसा ही किया। जो इस पथ पर आना चाहें वे आवें और जो न चाहें वे न आवें—यही उनका दृष्टि-कोण रहा। संयम-जीवन के महल का नया पाया रखते समय जो उसकी नींव में अपने आपको सर्वभाव से समर्पण करने के लिए उद्यत थे वे ही उस समय उनके साथी थे। उनकी संख्या अधिक नहीं थी। अभिमानियों की संख्या अधिक हुआ भी नहीं करती। वे कुल मिलाकर चौदह साधु थे। उनमें भी एक 'जिसनोजी' को जो कि भारमलजी स्वामी के पिता थे कठोर प्रकृति के कारण स्वामीजी ने अपने साथ लेने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार केवल तेरह साधु ही रह गये थे।

[1]—भिक्खु-दृष्टांत १ १८

उनमें से स्वामीजी आदि पाँच साधु तो रुघनाथजी के टोले के थे, छह जयमलजी के टोले के और दो किसी अन्य टोले[1] के थे। प्रभु के पथ पर वलिदान होने के लिए उद्यत होने वाले उन तेरह व्यक्तियों[2] में एक तो स्वामी भीखणजी थे ही, जो कि उस अनुष्ठान के आद्य प्रेरक थे। शेष साधुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार है

१ थिरपालजी
२ फतेचदजी
३ वीरभाणजी
४. टोकरजी
५ हरनाथजी
६ भारमलजी
७ लिखमीचन्दजी
८. वखतरामजी
९ गुलावजी
१०. भारमलजी (दूसरे)
११ रूपचदजी
१२ पेमजी

तेरह श्रावक और दीवान

एक दिन जोवपुर के श्रावक वाजार की पूर्वोक्त दुकान पर एकत्रित होकर सामायिक आदि धर्मानुष्ठान कर रहे थे। उस दिन श्री फतहमलजी सिंघी का वाजार में से निकलना

१—इन दो साधुओ के विषय में कहीं उल्लेख तो देखने मे नहीं आया, पर सुना जाता है कि ये श्यामदासजी के टोले के थे।

२—'शासन प्रभाकर' (२-६८) के अनुसार ये तेरह साधु जोधपुर में ही एकत्रित हो गये थे। यदि यह कथन सत्य हो तो यह अनुमान होता है कि भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी जोधपुर के पश्चात् ही स्वामीजी के साथ हुए थे। सभव है वे 'वीलाड़ा' में ही स्वामीजी से मिले हो और वहीं स्वामीजी ने उनको अपने साथ लेने से इन्कार कर दिया हो।

परन्तु उपर्युक्त अनुमान ख्यात के कथन से विपरीत जाता है। ख्यात के अनुसार किसनोजी जोधपुर से पहले ही स्वामीजी से मिल चुके थे और आचार्य जयमलजी को सौंप दिये गये थे। ख्यात का यह उल्लेख चिन्तनीय है, क्योकि भारीमाल चरित्र (१-६) तथा भिक्खु-दृष्टान्त (२०२) से यह स्पष्ट है कि किसनोजी की घटना वीलाडा में हुई थी। यदि इसे जोधपुर से पहले की घटना माना जाए तो भाव-दीक्षा से पूर्व स्वामीजी का विहार-क्रम वनता है—वगड़ी, वरलू, बीलाड़ा और जोधपुर। परन्तु वरलू से वीलाड़ा काफी पीछे रह जाता है जवकि जोधपुर आगे रहता है। वगड़ी से विलाड़ा और फिर वरलू होकर जोधपुर विहार क्रम ठीक वैठ सकता है, परन्तु उस क्रम में किसनोजी की घटना ठीक नहीं वैठ सकती। 'भिक्षु जश रसायण' के अनुसार वरलू की चर्चा के पश्चात् ही स्वामीजी और आचार्य जयमलजी का मिलन हुआ था। अत उससे पूर्व वे बीलाड़ा में किसनोजी को सौंपते भी तो किसे? उन्होंने उनको जयमलजी को ही सौंपा था, इसमें सभी ग्रन्थ एकमत हैं। ऐसी स्थिति में सब कथनों का समन्वय इसी आधार पर हो सकता है कि स्वामीजी जोधपुर के पश्चात् वीलाड़ा पधारे थे और किसनोजी की घटना तभी घटित हुई थी।

हुआ। वे एक जैन श्रावक थे और उस समय जोधपुर राज्य के दीवान थे[1]। उन्होंने बाजार के चौहट्टे में श्रावकों को सामायिक करते देखा तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। वे उस दुकान की ओर आये और श्रावकों से पूछने लगे—"आप लोगों ने स्थानक में सामायिक न करके यहाँ बाजार के चौहट्टे में कैसे की है ?

श्रावकों ने उनके प्रश्न के उत्तर में आचार्य रुघनाथजी से स्वामी भीखणजी के पृथक् होने की सारी बात कह सुनाई और बतलाया कि अनेक मत-भेदों के साथ-साथ स्थानक के विषय में भी स्वामीजी अपना भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि साधुओं के निमित्त कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मठाधीश और परिग्रही का साधुता से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? गृहस्थावास का अपना एक घर छोड़ने वाला साधु यदि ग्राम-ग्राम में घर बनवाकर बैठ जाएगा तो वह गृहस्थ से भी गया-गुजरा हो जाएगा। जैनागमों की दृष्टि से भी अपने निमित्त बने स्थान का उपभोग करने से 'आधाकर्म' दोष लगता है जो कि एक बहुत बड़ा दोष माना गया है। श्रावकों ने कहा कि वे भी स्वामीजी के इन विचारों से सहमत हैं अतः स्थानक को छोड़कर यहाँ सामायिक कर रहे हैं।

अन्य मत-भेदों के विषय में भी सिंघीजी ने जिज्ञासा की तो श्रावकों ने कहा—"सारी बातों को सुनने में काफी समय लग सकता है। अब तो आप किसी कार्यवश जाते हुए मार्ग में से यहाँ पधार गये हैं फिर कभी फुरसत का समय निकालें तो उन सभी विषयों पर बात की जाए।

दीवानजी ने जिज्ञासा की उसी मुद्रा में कहा—"इस समय मैं फुरसत में ही हूँ। कोई ऐसा आवश्यक कार्य नहीं जो मुझे इसी समय करना हो। अतः आप लोग निश्चिन्त होकर सुनाइये।"

श्रावकों ने तब उनके सामने श्रद्धा और आचार के मत भेदों की सारी बातें रखीं और प्रत्येक के विषय में स्वामीजी के विचारों से उन्हें अवगत कराया।

सारी बातों को ध्यानपूर्वक सुन लेने के पश्चात् उन्होंने पूछा—"इस समय कितने साधु इस विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं ?

श्रावकों ने उत्तर दिया—'तेरह।

दीवानजी ने फिर पूछा—"आपने यहाँ जोधपुर में उनका अनुसरण करने वाले आप लोग कितने श्रावक हैं ?

श्रावकों ने कहा—"हम लोग भी तेरह ही हैं जो सारे-के-सारे यहाँ उपस्थित हैं।

दीवानजी ने यह सुनकर कहा—'यह अच्छा संयोग रहा कि तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावक !"

१—सिंघीजी सं० १७९२ से सं० १८११ तक जोधपुर राज्य के दीवान थे। इनका नाम यद्यपि फतहचंदजी लिखा मिलता है पर वस्तुतः वह फतहमलजी ही होना चाहिए। जोधपुर में समासान्त नाम देने की पद्धति चालू रही है। अब तक भी वहाँ वह काफी रूप में चालू है। मानमलजी सिंघी आदि उनके वंशधर 'मलोत' ही रहे हैं।

नामकरण

सिंघीजी के साथ उस समय 'सेवग' जाति का एक कवि भी था। वह उपर्युक्त सारी बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। साधुओ और श्रावको की सख्या का यह आकस्मिक समान योग उस कवि-हृदय व्यक्ति को प्रेरणादायक बना और उसने उसी समय एक दोहा बनाकर सुनाया। उस दोहे में इस 'तेरह' की सख्या के आधार पर राजस्थानी भाषा के अनुसार स्वामीजी के इस सघ के अनुयायियों को 'तेरापथी' नाम से सबोधित किया गया था। वह दोहा इस प्रकार है :

साध साध रो गिलो करै, ते आप आपरो मत।
सुणज्यो रे शहर रा लोका, ए तेरापथी तत॥

उस सेवग कवि के मुख से जब यह नामकरण हुआ तो उसे पहले-पहल स्वामीजी के विरोधी व्यक्तियो ने ही पकड़ा। वे उसका उपहास के रूप में प्रयोग करने लगे और जब-तब स्वामीजी के अनुयायियो को 'तेरापथी' कहकर चिढाने का प्रयास करने लगे। उन्होने उस नाम को दूर-दूर तक फैलाने का भी काम किया, ताकि उनके पक्षवाले स्वामीजी तथा उनके अनुयायियो को उपहास-पात्र बना सकें।

तेरापथ का अर्थ

स्वामीजी तक वह नाम पहुँचा, तब वे सभवत मारवाड के 'काठा' (सीमात) के किसी क्षेत्र में विहार कर रहे थे। जब उन्होने नाम और नामकरण के समय की उस सारी घटना को सुना, तो उनकी मूलग्राहिणी प्रतिभा ने उस शब्द को तत्काल स्वीकार कर लिया। कवि द्वारा सहज रूप से व्यवहृत उस 'तेरापथी' शब्द में उनको बड़ा अर्थ-गौरव जान पड़ा। उन्हें अपनी आन्तरिक विचारधारा की सारी अभिव्यक्ति उसी एक शब्द में होती हुई दिखाई दी। तत्काल उन्होंने उस शब्द को अपना 'प्रतीक शब्द' बना लिया और अपने सघ की अभिव्यक्ति के लिए उसे 'सज्ञा' के रूप में स्वीकार कर लिया।

राजस्थानी भाषा में सख्यावाची 'तेरह' शब्द को 'तेरा' कहा जाता है और 'तू' सर्वनाम के षष्ठ्यन्त एक वचन का रूप भी 'तेरा' बनता है। स्वामीजी ने इन दोनो ही प्रकारों को ध्यान में रखते हुए अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि के द्वारा इस शब्द की व्याख्या की। उन्होने प्रभु को नमस्कार करते हुए कहा—"हे प्रभो! यह तेरापथ है। हम सब निर्भ्रान्त होकर इस पर चलने वाले हैं, अत 'तेरापथी' हैं।"

मूलत कवि की भावना को उस शब्द की सख्या ने ही प्रेरणा प्रदान की थी, अत स्वामीजी ने उसे भी उतना ही महत्त्व देते हुए उस शब्द का दूसरा अर्थ सख्या-परक करते हुए कहा—"पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमो की पूर्णरूप से श्रद्धा तथा पालना करने वाले व्यक्ति 'तेरापथी' हैं।"

नाम और काम का तादात्म्य

स्वामीजी ने 'तेरापंथ' शब्द के साथ उपर्युक्त विवेचन और अर्थ का तादात्म्य स्थापित किया और अपने संघ को इतना आचार कुशल बनाया कि जो व्यक्ति व्यंग के रूप में उसका प्रयोग करना चाहते थे वे अपनी चाल को भूल गये एवं 'तेरापंथ' के नाम से घबराने लगे। उनकी अपनी आचार शिथिलता ने उनके मन में इस नाम से एक भय पैदा कर दिया।

स्वामीजी का विश्वास नाम पर नहीं काम पर था। उन्होंने अपने अनुयायियों के सामने केवल काम ही प्रस्तुत किया। नाम की उन्होंने कोई चिन्ता की ही नहीं। सम्भवतः नामकरण के समय तक भी उनके मन में यह कल्पना नहीं उठी थी। किन्तु जनता को पहचानने की सुगमता के लिए हर काम के साथ नाम भी चाहिए। उसकी पूर्ति एक सेवग कवि ने की तो उसका प्रचार विरोधियों ने किया और उसको अर्थ स्वामीजी ने दिया। स्वामीजी ने अर्थ क्या दिया वस्तुतः उस नाम को फिर से काम में पलट दिया। इसीलिए 'तेरापंथ' केवल संज्ञा ही नहीं रहा किन्तु आचार कुशलता और विचार-दृढ़ता का एक सक्रिय उदाहरण बनकर संसार के सम्मुख उपस्थित हुआ।

४

जीवन-संग्राम

पूर्ण तैयारी

स्वामीजी का जीवन एक सक्रिय काम-सा जीवन था। उन्होंने अपने जीवन को सर्वत्र एक संग्राम समझा। वे सर्वत्र एक सफल योद्धा की तरह अपने उस जीवन-संग्राम में असंयम के विरुद्ध जूझते रहे। असंयम पर विजय प्राप्त कर संयम की स्थापना करना उनका ध्येय था। वे अपने ध्येय में पूर्ण सफल हुए।

यद्यपि उस पथ में उन्हें निश्चित विजय प्राप्त हुई थी फिर भी उनका जीवन-संग्राम चालू ही रहा। धर्म संघ की स्थापना के पश्चात् वे प्रकृति प्रतिकूल तथा विरोधियों द्वारा उत्पन्न किये गए परीषहों से जूझते रहे। वे उस संग्राम में कभी थके नहीं रुके नहीं और डरे नहीं। पराजय तो कभी उनके सामने आई ही नहीं। [illegible] जीवन-संग्राम के उस विकट यात्रा में अपनी प्रथम विजय धर्म-संघ के रूप में प्राप्त की।

[illegible] से [illegible] पश्चात् स्वामीजी आदि ने [illegible] जीवन-संग्राम के लिए [illegible] तैयार [illegible]। वहाँ [illegible] सैद्धान्तिक [illegible]। [illegible] किया गया। [illegible] के उपरान्त [illegible] निश्चय [illegible] पूर्ण [illegible] किया गया।

परन्तु जितना बडा काम था, उतने दिन हाथ मे नही थे। चातुर्मास निकट आ जाने से कुछ विपयो पर अन्तिम रूप से विचार नही किया जा सका। इसलिए स्वामीजी ने सव साथियो को सम्वोधित करते हुए कहा—"चातुर्मास निकट है, इसलिए अवशिष्ट विपयो पर विचार करने का अवकाश नही रह गया है। चातुर्मास समाप्त होने पर हम सव फिर मिलेंगे और चर्चा करेंगे। श्रद्धा और आचार मिलने पर हम सम्मिलित रहेगे अन्यथा नही।" इस प्रकार सव को पहले से ही समझा दिया गया कि यह पारस्परिक सम्वन्ध किसी घटना-विशेप या आग्रह परक नही, किन्तु विशुद्ध आचार और विचार के आधार पर ही है। स्वामीजी ने सव साथियो के लिए चातुर्मास के स्थानो का निर्धारण कर दिया और कहा कि आपाढ शुक्ला पूर्णिमा के दिन हम सव को भाव-सयम ग्रहण कर लेना है।

केलवा मे

स्वामीजी ने मारवाड से विहार कर मेवाड में पदार्पण किया। अपने चातुर्मास के लिए उन्होने 'केलवा' नामक ग्राम को चुना[1]। वे वहाँ आपाढ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पहुँचे[2]।

१—केलवा से राजनगर लगभग सात मील है। स्वामीजी ने अपने प्रथम चातुर्मास के लिए राजनगर को न चुनकर केलवा को चुना। यद्यपि वे राजनगर पहुँच सकते थे परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। क्यो नहीं किया? यह एक प्रश्न है। सभावित उत्तर यह हो सकता है कि क्राति की मूल प्रेरणा में तो वहाँ के भाई अग्रणी थे, परन्तु वाद में आचार्य रुघनाथजी तथा समाज का दबाव पड़ने पर वे अपने लक्ष्य पर डटे नहीं रह सके। यद्यपि यह एक अनुमान ही है, परन्तु इसकी पुष्टि इस वात से भी होती है कि उसके पश्चात् भी स्वामीजी ने वहाँ केवल एक ही चातुर्मास (स० १८२० में) किया था। यदि वहाँ के श्रावक स्वामीजी के लक्ष्य में सहयोगी रहे होते तो कोई कारण नहीं था कि उन्हें प्रथम चातुर्मास नहीं मिलता तथा वाद में भी सारे जीवन में केवल एक ही चातुर्मास मिलता।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में दूसरा अनुमान यह है कि स्वामीजी अपने प्रथम चातुर्मास के लिए राजनगर ही जा रहे थे, किन्तु वर्षा हो जाने से वीच के नदी नाले में पानी चढ़ आया था और मार्ग अवरुद्ध हो गया था। फलस्वरूप उन्हें 'केलवा' में ही चातुर्मास करना पड़ा। श्रावक शोभजी के एक पद्य में इस वात का कुछ अस्पष्ट-सा सकेत भी मिलता है। उन्होंने लिखा है

सोभो गर्भ मांहिं वर्ष सतरै, जद वादल जादा झरिया,
जनम किल्याण श्री पूज केलवे, साध थई सचरिया।

यहाँ शब्दों में स्पष्ट न होते हुए भी भावों में यह वात स्पष्ट झलकती है कि उस वर्ष (स० १८१७ में) वर्षा अधिक हुई थी, अत स्वामीजी का सयम-सम्वन्धी जन्म-कल्याण केलवा में हुआ।

२—यह तिथि 'सापोल' के विरधीचदजी कोठारी के पास एक प्राचीन चोपड़ी में प्राप्त हुई है। उसमें लिखा है—"सं० १८१७ का आपाढ़ सुदी १३ श्री भीखमजी महाराज कटालिया वाला केलवा पदार धराज्या।"

उस समय स्वामीजी के साथ हरनाथजी टोकरजी और भारमलजी—ये तीन साधु और थे[1]। ये तीनों ही पूरे विनीत और पूर्ण विश्वास-योग्य थे। स्वामीजी के प्रति उन सब की अटूट श्रद्धा थी।

यद्यपि स्वामीजी केलवा में चातुर्मास प्रारम्भ होने के करीब ही पहुँचे थे फिर भी वहाँ पहुँचने से पहले ही उनके विरुद्ध विरोधियों द्वारा प्रचार प्रारम्भ किया जा चुका था। स्वामीजी के विरुद्ध अनेक अफवाहें और बातें उड़ाई गई थीं। सामाजिक स्तर पर उनका पूर्ण बहिष्कार करने के लिए श्री-संघ की ओर से अनेक आज्ञाएँ भी प्रचारित की गई थीं। स्थानीय जनता के मन में स्वामीजी के प्रति घृणा और भय का प्रसार इस रूप में किया गया था कि वे जब वहाँ पहुँचे तब उन्हें कोई स्थान देने वाला भी नहीं मिला।

अँधेरी ओरी

स्थान की गवेषणा करने में स्वामीजी को वहाँ काफी परिश्रम और पूछताछ करनी पड़ी। आखिर ग्राम के कुछ व्यक्तियों ने परामर्श करके एक स्थान देने का निर्णय किया। वह स्थान था स्थानीय जैन-मंदिर[2] की एक 'अँधेरी ओरी'[3]। न वहाँ हवा का प्रवेश था और न प्रकाश का। मानो वह स्वयं स्वामीजी से नई हवा और नये प्रकाश की एक लहर प्राप्त करने की प्रतीक्षा में ही इतने दिनों तक मौन और एकाकी साधना में खड़ी रही हो। वह एकदम शून्य और उपेक्षित स्थान था। लोग वहाँ दिन में जाने से भी सकुचाते थे। रात्रि को तो भूलकर भी कोई वहाँ नहीं रहता। लोगों में भुतानुभूति के रूप में यह बात प्रचलित थी कि वह भव

१—साधुओं की उपर्युक्त संख्या 'भिक्षु जश रसायण' के आधार पर दी गई है। यद्यपि जयाचार्य ने वहाँ संख्या का कोई निर्देश नहीं किया है फिर भी स्वामीजी के अतिरिक्त तीन ही संतों के नाम दिये गये हैं अतः स्वयं ही निर्धारण हो गया है। वह पद्य इस प्रकार है।

हरनाथजी हद्वार हुंता, टोकरजी भिक्खु पास
परम भगता भारीमालजी पूरो प्यारो विश्वास।

इस उल्लेख के विपरीत 'ख्यात' में स्वामीजी सहित पाँच संतों का उल्लेख किया गया है, पर वहाँ किसी का नाम नहीं है। वहाँ की शब्दावली भी असंदिग्ध नहीं है। लिखा गया है—'आप केलवे पाँच संतां सूं आसरे पधारया।' यह 'आसरे' शब्द अनुमानता या लगभग का द्योतक है।

'शासन प्रभाकर' के अनुसार भी स्वामीजी सहित वहाँ पाँच साधु थे, परन्तु नामोल्लेख वहाँ भी चार का ही किया गया है। एक के लिए कहा गया है—"एकरो नाम लिख्यो न दिखात।" (२-८९)

२—यह मंदिर भगवान् चंद्रप्रभ का है। इसमें एक शिलालेख भी है जिसके अनुसार इसका निर्माण-काल सं० १ १ आषाढ़ शुक्ला लिखा है।

३—अब उसे सुधार कर ठीक कर दिया गया है अतः वहाँ अँधेरे का स्थान प्रकाश ने ले लिया है।
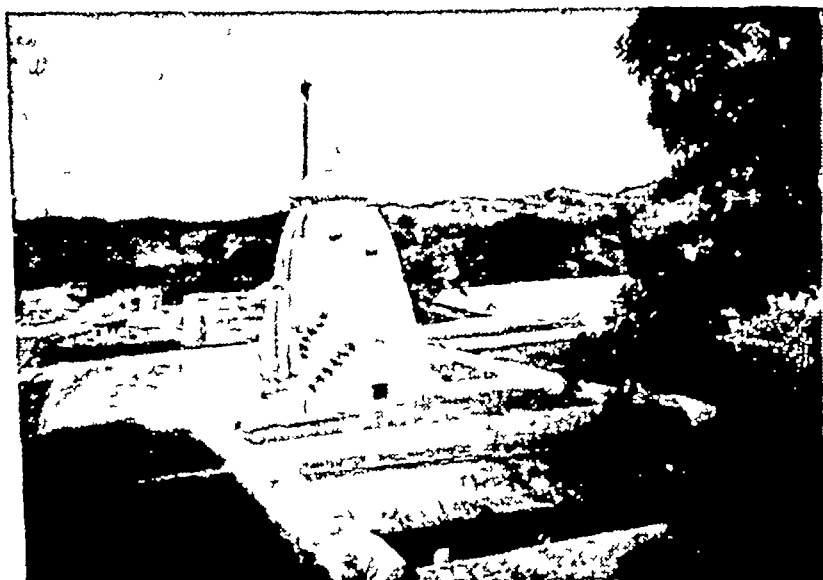
केलवा की ऐतिहासिक अन्धेरी कोठरी
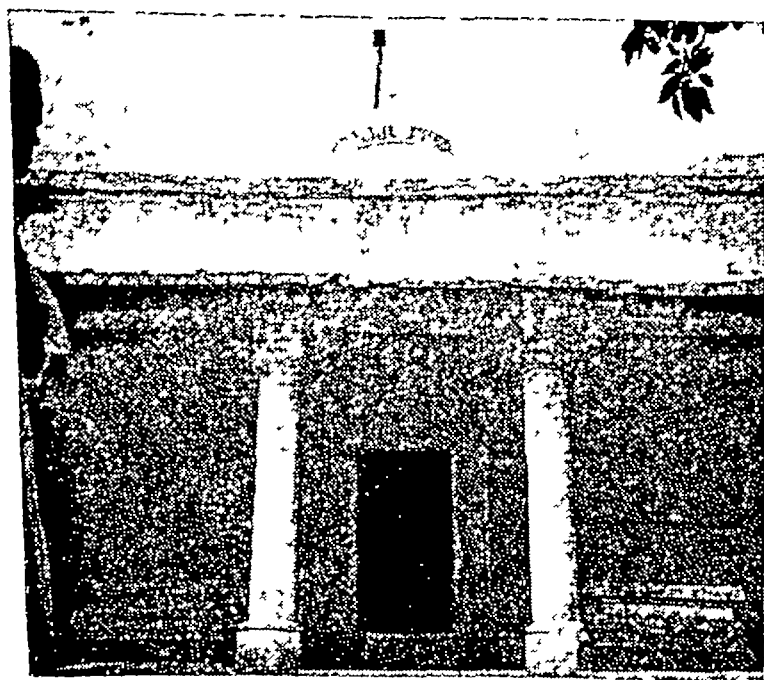
अन्धेरी कोठरी का एक दृश्य

का स्थान है। रात्रिकाल में जो वहाँ रहेगा, वह प्रात काल तक बचकर बाहर नही आ पाएगा। सभवत इसी जनश्रुति के आधार पर किसी दुरभिसधि से प्रेरित होकर लोगो ने स्वामीजी को वह स्थान देने की बात सोची थी। साप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे—इस कहावत को वे चरितार्थ करना चाहते थे। स्वामीजी को स्थान बताते हुए उन लोगो ने कहा—"हमारे पास तो यही एक स्थान है, सो बता दिया, अब रहने न रहने की बात आप स्वय सोच लें।"

स्वामीजी के सामने न रहने का तो कोई प्रश्न ही नही था। वे धार-विचार कर आये थे। चातुर्मास करना था। स्थानाभाव का विचार उनपर क्या असर डाल सकता था, जब कि कुछ समय पूर्व वे इस समस्या के समाधानार्थ श्मसानभूमि में भी ठहर चुके थे। अन्य स्थान न मिलने पर वह स्थान तो प्राय हर ग्राम में मिल ही सकता है। फिर वहाँ तो एक स्थान मिल रहा था। चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, श्मसान भूमि से तो ठीक ही होना सभव था। स्वामीजी तो अभाव में से भी भाव को निचोड लेने वाले व्यक्ति थे। अत किसी प्रकार के अभाव का उनके सामने प्रश्न ही नही था। उन्होने उस स्थान को तत्काल स्वीकार कर लिया और आज्ञा लेकर वहाँ ठहर गये। गृहस्थ-वर्ग भी निश्चिन्त हुआ कि चलो बला टली।

दिन भर किसी के आने की तो आशा ही क्या की जा सकती थी। सतजन अपने स्वाध्याय-मनन में मग्न रहे। एकान्त में यह कार्य अत्यन्त सुचारुता से सम्पन्न हुआ। अन्य सारी दैनिक चर्या भी सानन्द सम्पन्न हुई। किसी प्रकार का कोई व्याघात उपस्थित नहीं हुआ।

रात्रि के समय वहाँ एक सर्प का 'उपसर्ग' अवश्य हुआ था, पर वह बाल साधु भारमलजी की निर्भयता और स्वामीजी की सतत जागरूक आत्म-शक्ति के द्वारा सदा के लिए शात हो गया। जिन लोगों ने अपनी दुरभिसधि के आधार पर उन्हें वह स्थान बतलाया था, वे प्रात काल उसका परिणाम देखने की उत्सुकता से वहाँ आये तो स्वामीजी आदि सभी सतों को सकुशल पाकर बहुत चकित हुए। उन लोगों की वह चाल विफल हो चुकी थी। यद्यपि उन लोगों ने मुह से कुछ कहा तो नहीं, पर उद्देश्य की विफलता की चिंता उनके मुह पर स्पष्ट अंकित थी। सबसे बडी चिन्ता उनको यह थी कि स्वामीजी को वहाँ स्थान मिल गया था।

भावसयम

स्थान की समस्या हल हो चुकी थी। चातुर्मास प्रारम्भ होने ही वाला था। वि० स० १८१७[1] की आषाढी पूर्णिमा आ गई थी। स्वामीजी ने अन्यत्र विहार करने वाले साधुओं

१—अष्टादश सोले समैं, सुदि पूनम आषाढ।
संयम स्वाम समाचर्यों, गुण गिरवो दिल गाढ॥
उपर्युक्त प्रकार के कुछ पद्यों में स० १८१६ का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु उसे संवत् परिवर्तन के जैन परम्परा के आधार पर किया गया उल्लेख समझना चाहिये। पचांग के अनुसार तो वह १८१७ ही है।

को भाव-संयम लेने के लिए जिस दिन का निर्देश किया था यह वही दिन था। स्वामीजी तथा उनके सहवर्ती साधुओं के मन में अपूर्व उत्साह था। एक प्रकार के नये जीवन का प्रारम्भ होने जा रहा था। पुराने जीवन के लिए व्युत्सर्ग भाव और नये जीवन के लिए स्वीकार भाव से सब साधुओं की मुखाकृति आनन्दातिरेक से दमक उठी थी।

पूर्व निर्णीत समय पर स्वामीजी और उनके साथी संत सम्मिलित होकर पूर्व दिशि ईशान कोण के अभिमुख बैठे। सर्वप्रथम अरिहंत भगवान् को सबने मिलकर नमस्कार किया। तदनन्तर स्वामीजी ने मेघमंद्र स्वर से सामायिक-सूत्र के पाठ का उच्चारण करते हुए सामायिक चारित्र ग्रहण किया। तत्पश्चात् अन्य साधुओं ने भी स्वामीजी द्वारा उच्चारित सामायिक पाठ के द्वारा चारित्र ग्रहण किया। तेरापंथ का नामकरण कुछ दिन पहले ही हो चुका था पर उसकी वास्तविक स्थापना स्वामीजी के भाव-संयम ग्रहण करने के साथ ही हुई।

युग प्रवर्तक स्वामीजी ने नये युग का प्रारम्भ करने के लिए जो दिन चुना वह वस्तुतः जैनागम सम्मत ऐसा संधि दिन था कि जहाँ से काल-परिवर्तन की गणना सदा से की जाती रही है। कालचक्र अवसर्पिणी काल उत्सर्पिणी काल आदि तथा संवत्-परिवर्तन के लिए मान्य संधि दिन द्रव्य-संयम और भाव-संयम का भी संधि दिन हो गया।

श्रद्धा के अंकुर

केलवा में स्वामीजी का यह प्रथम चातुर्मास परीषहों का सामना करने और उन पर विजय पाने का उपक्रम कहा जा सकता है। विरुद्ध प्रचार के द्वारा स्वामीजी के विषय में जो धारणाएँ वहाँ पहले से फैला दी गई थीं उनके कारण लोगों का आवागमन अत्यन्त विरल था। जो आते थे वे भी सहृदयता से नहीं किन्तु छिद्र-बुद्धि से प्रेरित होकर ही आते थे। तत्त्व जिज्ञासा से तो कोई ही आता था। स्वामीजी सब को शांत भाव से उत्तर देते थे। धीरे धीरे लोगों की छिद्र-बुद्धि में परिवर्तन आने लगा। स्वामीजी की सहिष्णुता ने उनके हृदय पर विजय पाई। श्रद्धा के अंकुर फूटने लगे। फलस्वरूप अनेक समझदार व्यक्ति जिज्ञासा लेकर भी आने लगे और तत्त्व को समझने का प्रयास करने लगे।

चातुर्मास के अन्त तक केलवा में अनेक परिवार स्वामीजी के भक्त बन चुके थे। सर्वप्रथम वहाँ के कोठारी (चोरड़िया) परिवार के व्यक्तियों ने स्वामीजी के पास तत्त्व को समझा। उनमें मुख्यत ये व्यक्ति थे—मूलचन्दजी जो कि केलवा ठिकाने के प्रधान थे भैरोजी जो कि श्रावक शोभजी के पिता थे और केसोजी[1] आदि।

ठाकुर मोखमसिंहजी

अंधेरी ओरी की विजय ने लोगों के हृदय की अंधेरी ओरी पर भी विजय पाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। केलवा में साधारण किसान से लेकर ग्राम के अधिपति तक स्वामीजी

१—ये नाम उनके वंशजों के पास की बहियों से प्राप्त हुए हैं।
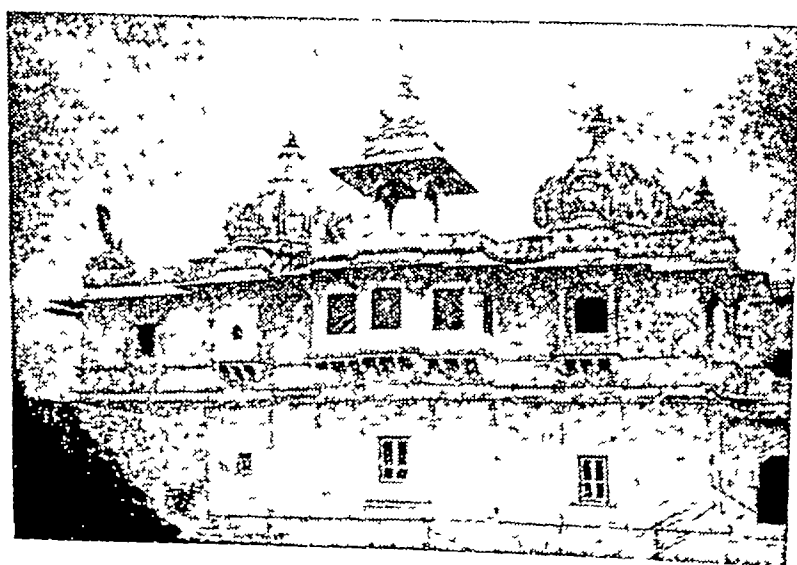
ठाकुर मोखमसिहजी

केलवा का राजमहल

से प्रभावित हुए। उस समय वहाँ के शासक ठाकुर मोखमसिंहजी थे। वे अनेक बार स्वामीजी के सम्पर्क में आये और तत्त्व-चर्चा करके बडे सतुष्ट हुए। आगे के चातुर्मासों में तो उनपर स्वामीजी का ऐसा रग चढा कि एक दिन भी अनुपस्थित रहना उन्हें अखरने लगा। उनकी स्वामीजी पर अगाध भक्ति थी। स्वामीजी के आगमन को वे अपने सौभाग्य का सूचक मानते थे। उनकी भक्ति का परिचय निम्नोक्त घटना से अच्छी तरह स्पष्ट होता है।

एक बार वर्षा के कारण बडा कीचड हो गया था। मोखमसिंहजी प्रतिदिन व्याख्यान में आया करते थे। उस दिन आधे रास्ते तक आने के पश्चात् इतना कीचड आ गया कि उसमें पैर टेके बिना आगे बढ सकना असम्भव था। उनको बडी निराशा हुई। वे सोच ही रहे थे कि अब क्या करें। इतने में ही एक छुट-भाई ने उनकी मानसिक असमजसता को ताड लिया और कीचड पर अपनी ढाल रखते हुए कहा—"आप इस पर पैर रखकर पधार जाइये।" ठाकुर बडे प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वामीजी के दर्शन कर व्याख्यान सुना। जब वापस जाने का समय हुआ तब स्वामीजी को वन्दन करते हुए उस भाई की तरफ सकेत करके कहने लगे—"आज का सत्सग-लाभ तो इस भाई के कारण ही हो सका है। इस हर्ष पर मैं इसे 'केरिंगपुरा'[1] ग्राम प्रदान करता हूँ।"

भक्त-परिवार

ठाकुर मोखमसिंहजी की उस भक्ति का प्रभाव उनके सारे परिवार पर पडा। परिवार के सभी सदस्य स्वामीजी के प्रति बडे श्रद्धालु हो गये। अन्य श्रावकों के समान ही गोचरी आदि के लिए भी उनकी बडी उत्कट भावना रहा करती थी। कहा जाता है कि भाव-सयम ग्रहण करने के पश्चात् पहले-पहल पात्र-दान का अवसर इसी परिवार को मिला था। आज भी इस परिवार के सदस्य तेरापथ और उसके आचार्यों के प्रति बहुत बडी श्रद्धा रखते हैं। वे तेरापथ और अपने परिवार के चिर-सम्बन्धों से परिचित हैं और उस पर गौरव अनुभव करते है। उदाहरण स्वरूप वर्त्तमान ठाकुर के वयोवृद्ध चाचा ठाकुर रामसिंहजी के पत्र उद्धृत किये जा सकते है। ठाकुर रामसिंहजी भक्त-प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे विद्वान् होने के साथ-साथ कवि भी हैं। आचार्य श्री तुलसी के प्रति उनके मन में अगाध भक्ति है। समय-समय पर आचार्य श्री की सेवा में उनके पत्र आते रहते हैं। यहाँ उनमे से एक पत्र का कुछ अश उद्धृत किया जाता है। वे लिखते हैं

ऋषभ देव पद वंदिकें, वंदों पुनि महावीर।
भव-जीवन उद्धार हित, धरी देह दुहु धीर ॥१॥

---

[1]—इस ग्राम का पूरा नाम 'केसरीसिंहपुरा' है किन्तु स्थानीय उच्चारण तथा सक्षेप की स्थिति में वह 'केरिंगपुरा' नाम से ही प्राय समझा जाता है। यह भी सुना जाता है कि उस छुट भाई का नाम केसरीसिंह था, अत ग्राम का यह नाम बाद में प्रचलित हुआ है। पहले उसका नाम कुछ और ही था।

करि साधन दृढ़ध्यान सूं जिम उपदेश अमोघ।
महत मुनि निधि मुक्ति को लियो राजपथ खोज ॥२॥
कह्यो—चह्यो काट्यो करम चलो धरम-पथ धीर।
अवस माहिं तें पाइहो भवसागर को तीर ॥३॥
सम्मुख तुमरे रहत है मुक्तिरमणी को चोज।
देहु माहिं यह प्रिय लगे मस्तक या को मोल ॥४॥
कठिन काम गिनि कायरन तजी मुक्ति की आस।
दृढ़ व्रतधारी भीष्म मुनि रंच न भये निरास ॥५॥
संप्रदाय निज साधुजन समझाये बहु बार।
सहज न पालन साधुता कठिन खड्ग की धार ॥६॥
पंच महाव्रत दृढ़ गह्यो तज्यो जगत दुख रास।
कामादिक दुष्टन अरिन मरि करि करो विनास ॥७॥
रक्षा करिबे भेष की चलिके पूर्वज चाल।
ता हित धर्म प्रसारिहै कठिन क्रूर कलिकाल ॥८॥
विकट समस्या सुनि विकल भये सजीव मुनि भार।
भीष्म वीर दृढ़ धीर धरि, गह्यो शास्त्र निज सार ॥९॥
धंरो भीष्म वरिष्ठ मुनि जिहि बस अचल बहान।
उग्र तपस्या करि अवनि विधि पाई सुर थान ॥१ ॥
तिहि मुनिराज प्रताप तें चल्यो मर्यादा पंथ।
सरल संत बहि आचरत महत सार सद्ग्रंथ ॥११॥
उन संतन के मुकुटमणि श्री तुलसी महाराज।
तिनको वंदन करत हूं सादर सहित समाज ॥१२॥
सिद्ध गये हैं पूजियत सिद्ध रहे की ठौर।
यह नहिं भाव विचारियो करिके हृदय कठोर ॥१३॥
अनुचित अंकित हुई अखर, लखिये नाहिं निहार।
अबुधन के अपराध को बुधजन देत बिसार'[1] ॥१४॥

सफल चातुर्मास

केलवा के राज-परिवार की भक्ति स्वामीजी से प्रारम्भ होकर जिस प्रकार आज तक चालू है उसी प्रकार वहाँ के छोटे-बड़े प्रायः सभी परिवार भी तेरापंथ के प्रति श्रद्धावनत हैं। परिपूर्णता की यह स्थिति बहुत समय पश्चात् हुई थी। प्रथम चातुर्मास में तो दो युग

1—यह पत्र विक्रम संवत् २ माघ कृष्णा द्वादशी का लिखा हुआ है।

हुआ था, वह इसका बीज रूप ही कहा जा सकता है। फिर भी कालान्तर में फैलने वाले हर वृक्ष का महत्त्व उसके नन्हें से बीज में ही निहित रहता है। स्वामीजी के उस प्रथम चातुर्मास में उपकार की अपेक्षा प्रतिकार की ही बहुलता रही थी। परन्तु सघर्षों पर विजय पाने का क्रम भी वही से प्रारम्भ हुआ। बाद के सघर्षों में पाई गई हर विजय के मूल में केलवा की सफलता का ही स्वर सुनाई देता है। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वामीजी का वह प्रथम चातुर्मास अत्यन्त सफल रहा।

तेरह मे से छह

चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् पूर्व निर्णय के अनुसार तेरह ही सत एकत्रित हुए। कुछ बोल पहले चर्चित हो चुके थे। जो अवशिष्ट थे, उन्हे समुचित रूप से चर्चित कर एक निर्णय करना था। स्वामीजी ने सबके साथ पुन चर्चा चालू की। बखतरामजी और गुलाबजी का झुकाव कालवादियो की तरफ हो गया था तथा द्वितीय भारमलजी, रूपचन्दजी और प्रेमजी की मान्यता भी मिल नही सकी, अत उन पाँचों को स्वामीजी ने प्रारम्भ से ही सम्मिलित नहीं किया[1]।

अवशिष्ट आठ साधु सम्मिलित रहें। बाद में वीरभाणजी को अविनीत होने के कारण पृथक् कर दिया गया जो कि अन्त में इन्द्रियवादी हो गये। लिखमोजी भी बाद में सघ को छोडकर स्वय पृथक् हो गये।

इस प्रकार आदि के तेरह साधुओं में से केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी और प्रथम भारमलजी—ये छह साधु ही रहे थे, जिन्होंने आजीवन साथ निभाकर तेरापन्थ-सघ की अभिवृद्धि और विकास में अपना योगदान दिया।

समस्या-सकुल वर्ष

स्वामीजी के लिए वह समय अनेक समस्याओं से भरा हुआ था। पग-पग पर विरोध और विपत्तियों का सामना करना पड रहा था। आचार्य रुघनाथजी ने स्थान-स्थान पर लोगो को बहका कर स्वामीजी के विरुद्ध ऐसा वातावरण बना दिया था कि वे जहाँ जाते, वहाँ उन्हें विरोध का एक दावानल सा सुलगता मिलता। कोई उन्हें निह्नव कहता, तो कोई जमालि और गोशालक से उनकी तुलना करता। कोई कहता—"इन्होने देव-गुरु-धर्म को उठा दिया है। ये दान-दया के विरोधी हैं। ये जीव को बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।" इस तरह के अनेक अनर्गल आरोप उन पर लगाए जाते। जयाचार्य ने स्वामीजी के प्रति घृणा का

१—'शासन प्रभाकर' में उन पाँचों के प्रारम्भ से ही अलग रहने का उल्लेख है। अन्यत्र कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। 'भिक्खु जश रसायण' की ५२ वीं ढाल में, शासन-विलास की पहली ढाल में तथा ख्यात में जहाँ सघ के सभी दीक्षित साधुओं तथा टालोकरों के नाम गिनाए गए हैं, वहाँ किसी में भी उन पाँचों के नाम नहीं हैं। इससे भी यह अनुमान ठीक ही जान पड़ता है कि वे पहले से ही अलग रहे।

वातावरण बनाने के इस प्रयास की तुलना उत्तराध्ययन में प्रतिपादित भृगु पुरोहित के द्वारा अपने पुत्रों के मन में साधुओं के प्रति घृणा भरने के असफल प्रयास से की है[१]।

स्थान वस्त्र और आहार—शरीर धारण के साथ ये तीन अनिवार्य आवश्यकताएं क्रमशः अधिक महत्वपूर्ण होती हैं किन्तु स्वामीजी को इन तीनों में से एक की भी सुविधा नहीं थी। उनके विरुद्ध में किये जाने वाले दुष्प्रचार के प्रवाह में बहकर लोगों ने वैयक्तिक रूप से और जहाँ सम्भव हो सका, वहाँ सामाजिक रूप से भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने प्रारम्भ कर दिये। उनके संयम-जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्ष तो बहुत ही कष्टपूर्ण तथा समस्या संकुल रहे।

स्थान की समस्या

वे किसी गाँव में जाते तो पहले-पहल स्थान की समस्या ही उनके सामने आती। सहज रूप से स्थान नहीं मिलता। जब कभी कोई स्थान मिल जाता तो विरोधी लोग उसे छुड़ाने का प्रयत्न करने लगते। मकान मालिक पर अनेक प्रकार से दबाव डाले जाते कि वह अपने मकान को खाली करा ले। यही कारण है कि स्वामीजी के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये जब उन्हें आवास छोड़कर जाना पड़ा। परन्तु स्वामीजी ऐसी बातों से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

पाली में स्थान-परिवर्तन

एक बार पाली में चातुर्मास करने के लिए स्वामीजी गये। वहाँ एक दुकान में ठहरे। आचार्य रूघनाथजी भी पाली में ही थे। उन्होंने दुकान वाले के घर जाकर उसकी औरत को बहका दिया। उसने स्वामीजी को स्थान खाली करने के लिए कहा और बोली—"यहाँ ठहरने की आज्ञा नहीं है।

स्वामीजी ने उसे समझाने का प्रयास किया परन्तु वह टस से मस नहीं हुई। उसने कहा—'मुझे तुम्हारे जैसे ही पट्टीवाले साधुओं ने आकर बतलाया है कि चातुर्मास प्रारम्भ होने के पश्चात् तो कार्तिक पूर्णिमा तक तुम किसी भी प्रकार से मकान नहीं छोड़ोगे। इसलिए मेरा मकान अभी ही खाली कर दो।

आखिर स्वामीजी ने वह मकान छोड़ दिया और उदयपुरिया बाजार की एक दुकान की मेड़ी पर चले गये। दिन में ऊपर रहते और रात को नीचे बाजार में व्याख्यान देते। पहले स्थान की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा तथा मौके का था। रात को वहाँ व्याख्यान में लोग काफी आने लगे। उस जगह को भी छुड़ाने का प्रयास किया गया किन्तु मकान-मालिक ने

१—अणु सिक्खाया पुत्रा मणी साधां मैं चूक लखाय।
उर्द मिनख स्ये मिनखविया औहिज मिलिया न्याय॥—भि ज र ९ दो ५

कहा—"कातिक पूर्णिमा तक तो मैं उन्हें किसी भी हालत में मना नहीं करूँगा, उसके पश्चात् वे ठहरेंगे नहीं।"

उस चातुर्मास में वर्षा बहुत हुई। अत स्वामीजी जिस दुकान में पहले ठहरे थे, वह सयोग वशात् गिर गई। स्वामीजी को जब यह पता लगा तब उन्होंने फरमाया कि स्थान छुडाने की प्रेरणा करने वालो पर छद्मस्थता के कारण क्रोध आना सम्भव था, पर मानना चाहिये कि उन्होंने हमारे साथ यह उपकार ही किया[1]।

नाथद्वारा से निष्कासन

स्वामीजी के सामने जैसे मकान-परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न कर दी जाती थी, वैसे ही ग्राम-परिवर्तन के प्रयास भी चलते रहते थे। स० १८४३ में स्वामीजी ने नाथद्वारा में चातुर्मास किया। वहाँ पर उनका वह प्रथम चातुर्मास था। विरोधी लोग यह नहीं चाहते थे कि नाथद्वारा भी उनके विहार-क्षेत्र की सूची में आये। वे स्वामीजी के विरुद्ध जनता को उकसाने लगे।

उस वर्ष वहाँ वर्षा बहुत कम हुई। विरोधी लोगों ने उसका दोष स्वामीजी पर ही मढ़ा। वे गोसाईंजी के पास पहुँचे और उन्हें इस प्रकार से बहका दिया कि जब तक ये लोग यहाँ रहेंगे, तब तक आपके शहर में वर्षा नहीं हो सकेगी। गोसाईंजी ने उन सबकी बातों में आकर अपने हरकारों को यह आज्ञा दी कि मुँहपट्टी वाले साधुओं को यहाँ से निकाल दो।

हरकारो ने आकर जब स्वामीजी को गोसाईंजी का आदेश बतलाया तो उन्होंने किसी प्रकार का आग्रह या ननु-नच किए विना वहाँ से कोठारिये की ओर विहार कर दिया। नाथद्वारा से प्रस्थान करते हुए मार्ग में स्थानक आ गया। वहाँ भी कुछ साधुओं का चातुर्मास था। उन्हें इस बात का पता तो पहले ही लग गया था कि भीखणजी को यहाँ से चले जाने का आदेश हो गया है। अब यह भी पता चला कि वे इसी मार्ग से होकर जा रहे हैं। सम्भवत उनकी इस स्थिति का मखौल करने के लिए अथवा यों ही साधारण-दृष्टि से कुछ साधु स्थानक के दरवाजे पर तथा कुछ ऊपर की खिडकियों पर आकर बाहर देखने लगे।

जब स्वामीजी स्थानक के सामने आये, तब उन लोगों को यो खडा देखकर सहजभाव से उधर बढे और ज्ञात तथा अज्ञातभाव से हुई किसी भी प्रकार की कटुता के लिए 'खमत-खामणा' करते हुए आगे बढ गये। स्वामीजी के साथ कुछ स्थानीय श्रावक भी थे। वे स्वामीजी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे, परन्तु उस अवसर पर वे कुछ कर सकने की स्थिति में

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २ में इस घटना का विवरण तो दिया है, परन्तु सवत् का उल्लेख नहीं है। स्वामीजी का पाली में प्रथम चातुर्मास सं० १८२३ में हुआ था। सभव है यह घटना उसी वर्ष की हो।

नहीं थे। यह उनकी शक्ति और पहुँच के बाहर की बात थी। यथाशक्ति प्रयास का कोई फल नहीं निकल सका। विवश होकर वे स्वामीजी के साथ-साथ स्वयं भी कोठारिया चले जाने के लिए तैयार होकर आये थे। वे भी 'खमत खामणा' कर आगे बढ़ गये।

हरकारों ने स्वामीजी को तथा उनके अनुवर्ती भाइयों को उन लोगों से बातचीत करते देखा और उनको भी मुँह पर पट्टी बाँधे हुए देखा तो गोसाईंजी का आज्ञा-पत्र दिखलाते हुए बोले—"आप लोगों को यहाँ ठहरने की आज्ञा नहीं है अतः यहाँ से चले जाइये।"

उन लोगों ने इस विषय पर हरकारों से काफी उत्तर प्रत्युत्तर किये और उन्हें यह समझाने का प्रयास किया कि यह आज्ञा तो केवल तेरापंथियों के लिए थी हम लोगों के लिए नहीं। परन्तु हरकारों ने उस बात को नहीं माना। वे तो सभी मुंहपट्टी वालों को निकालने पर ही आज्ञा का पालन मान रहे थे। उनके श्रावकों को जब यह पता लगा तो वे भी काफी दौड़े भागे परन्तु अपने ही हाथों से किया कार्य उन्हें अपने ही लिए भारी पड़ गया। गोसाईंजी को उनका कोई तर्क समझ में नहीं आ रहा था कि किसी एक मुंहपट्टी वाले से यदि बची रह सकती है तो वह दूसरे से क्यों नहीं बचेगी।

आखिर वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो सके और उन साधुओं को विवश होकर वहाँ से जाना पड़ा। स्वामीजी का विरोध करते हुए उन्हें अपने ही शस्त्र का शिकार हो जाना पड़ा। कहा नहीं जा सकता कि स्वामीजी का वह निष्कासन उन लोगों के लिए उल्लास का विषय रहा या विषाद का?

वस्त्र की समस्या

प्रथम वर्षों में स्वामीजी को वस्त्र भी बहुत कठिनता से ही मिल पाता था। अपने संस्मरण सुनाते समय हेमराजजी स्वामी से एक बार इस बात का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने कहा था— 'कभी सवा रुपये मूल्य की बासती (रेजी) मिल जाती तब भारमल कहता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिये। मैं कहता कि पछेवड़ी नहीं चोलपट्टे बनाओ। एक तुम्हारे काम आ जाएगा और एक मेरे" ऐसे वस्त्राभाव के दिनों में भी उनके मुख पर कभी मालिन्य की छाया नहीं आई, क्योंकि जिस व्यक्ति ने एकमात्र संयम की आराधना के लिए सब सुख परित्याग कर दिया उसे वह वस्त्राभाव अपने गन्तव्य मार्ग से कैसे विचलित कर सकता था?

आहार की समस्या

आहार के लिए भी उन्हें असाधारण कष्ट उठाने पड़े थे। लगभग पाँच वर्ष तक तो रूखी-सूखी रोटियाँ भी पूरी नहीं मिलती थीं घी-चुपड़े की तो बात ही कहाँ थी। नाना

१—भिक्खु-दृष्टान्त द० २७१
—पंच वर्ष पहिछाण रे, अन्न पिण पूरो ना मिल्यो।
बहुलपणे जब जाण रे घी चोपड तो किहाँ रह्यो॥ —भि० ज० र० ८। ११

प्रकार की भ्रांतियों से भरे लोग उन्हें रोटी देने में आनाकानी करते थे। एक बार विलाडा में स्वामीजी पधारे। लोगो को पता लगते ही उन्होंने वन्दोवस्त किया " जो भी भीखणजी को रोटी देगा, उसे ग्यारह सामायिक दंड की आयेगी।"[1] एक दिन एक घर में गोचरी पधारे तो वाई ने कहा—"तुम्हे रोटी दे दूँ तो स्थानक में सामायिक कर रही मेरी ननद की सामायिक गल जाए"[2] इस प्रकार के अनेक भ्रम फैलाकर विरोधियों ने उन्हें पराजित करना चाहा, परन्तु वे सदा अपराजेय ही रहे ।

घी सहित घाट

प्रारम्भिक वर्षों में उन्हें आहार-सम्बन्धी कठिनाइयाँ कितनी रही थी—उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि स्वामीजी के अन्तिम वर्षों तक भी गोचरी में कही-कही अनेक कटु अनुभव हो जाया करते थे। सवत् १८५५ में स्वामीजी नाथद्वारा में थे। उस समय साध्वियाँ भी वहाँ थीं। एक दिन 'अजवूजी' किसी घर में गोचरी के लिए गई। वहाँ उन्हें घी बहराया गया। दूसरे घर में गई तो वहाँ एक बहिन ने 'घाट' लेने को कहा। साध्वियों ने घी वाले पात्र में ही घाट भी ले ली। अभी पात्र झोली में रखा भी नही था कि बहिन ने पूछा—"आप कौन से टोले की है ? "

साध्वियों ने कहा—"हम तो भीखणजी स्वामी के टोले की हैं।"

यह सुनते ही उसने गुस्से में आकर कहा—"रडियों। तुम पिछली बार भी भूल ही भूल में मेरे घर से आहार ले गयी थी। इस बार फिर आ गई। दे दो मेरी घाट वापिस।" उसने आव देखा न ताव, पात्र को झट उठाकर घी और घाट को वापिस अपने पात्र में उडेल लिया।

उसकी पड़ोसिन एक वैष्णव बहिन ने उससे कहा—"कीकी। यह क्या कर रही हो ? अतीत (सन्यासी) को दिया हुआ भी क्या कभी कोई वापिस लेता है ?"

उसने इसका उत्तर देते हुए कहा—"यह भोजन मैं कुत्तो को तो डाल दूँगी किन्तु इन्हें नहीं दूगी।"

अजवूजी ने आकर स्वामीजी को जब यह घटना सुनाई तो उन्होंने कहा—"इस कलिकाल में जो न हो जाए वही कम है। आज तक ऐसे किस्से तो अनेक हों गये हैं कि कोई न दे, इनकार कर दे अथवा जान बूझकर अशुद्ध होने का बहाना कर दे, किन्तु दिया हुआ वापिस लेने की घटना तो यही सुनने में आई है।"

उस वैष्णव बहिन के द्वारा उपर्युक्त घटना का जब लोगो को पता लगा तो लोग उसके पति को चिढाने लगे कि वाह साहब! दुकान पर तो तुम कमाई करते हो और घर पर तुम्हारी औरत। वह बेचारा इस व्यग से बड़ा लज्जित होता, पर कर क्या सकता था।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ४२

२—वही

स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोभजी को जब इस घटना का पता लगा तो उन्होंने उस पर एक व्यंगपूर्ण दोहा कह सुनाया। वह इस प्रकार है :

बाहर साह री डीकरी कीकी थारो नाम।
घाट सहित घी ले लियो ठाली कर दियो ठाम॥

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् राखी के त्योहार पर अचानक ही 'कीकी' का लड़का गुजर गया। पुत्र का शोक मध्यम भी नहीं पड़ पाया था कि उसका पति भी गुजर गया। उन दोनों मौतों से 'कीकी' के मन पर बड़ा आघात लगा। जन-क्षय के साथ ही उसे धन क्षय की स्थिति का भी सामना करना पड़ा। मानसिक क्लेशों के अगाध समुद्र में भटकती हुई वह बिलकुल अकेली रह गई। इन दुःखद घटनाओं के पश्चात् कीकी को साध्वियों के साथ किये गये अपने व्यवहार का बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी उस विपत्ति का मूल कारण उसी दुर्व्यवहार को मानने लगी थी।

साधु-साध्वियों में 'कीकी' का नाम और उसका रूप प्रसिद्ध हो गया। अतः वर्षों तक उसके यहाँ कोई गोचरी के लिए नहीं गया। अनेक वर्षों के पश्चात् उसके घर में कोई अपरिचित साधु गोचरी के लिए गया। कीकी ने बड़ी भावना से आहार दिया। उस अभाव घर में इतनी भावना और भक्ति देखकर उस साधु ने जब परिचय की जिज्ञासा की तो 'कीकी' की आँखें भर आइ। पश्चात्ताप के दावानल में दग्ध हुई वाणी में उसने कहा—'क्या आप मुझे नहीं जानते ? मैं तो वही पापिनी कीकी हूँ जिसने साध्वियों के पास से घाट वापिस ले ली थी। कोई तो इस भव के कर्म अगले भव में भोगता है परन्तु मैंने तो अपने किये का फल यहीं हाथोंहाथ पा लिया।

उसका नाम सुनते ही वह साधु एक बार के लिए सकपका गया। उसे लगा कि अज्ञानवश उस घर में आकर उसने गलती की है। वह जाने को ही था कि उस बहिन ने कहा—महाराज ! उस दिन के पश्चात् आप लोगों ने तो आज ही मेरे घर में पदार्पण किया है। आप आते रहियेगा जिससे मेरा वह पाप कुछ तो धुपेगा।

'कीकी' में परिवर्तन आया और गोचरी के लिए भावना भाई—यह सब अनेक वर्षों के बाद की बात है। शायद स्वामीजी के देहावसान के भी बाद की। परन्तु इस घटना के पूर्वांश से यह स्पष्ट पता लग जाता है कि स्वामीजी के समय में आहार की उपलब्धि में कितनी बाधाएँ रहा करती थी[१]।

आत्मबल ही एकमात्र सहायक

उस समय में स्वामीजी की स्थिति कितनी संघर्षमय रही होगी, जब कि संयम-जीवन के निर्वाहार्थ हर आवश्यक वस्तु का अभाव उन्हें घेरे रहता था। रुघनाथजी जैसे समर्थ आचार्य

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २११

विरोधी होकर प्रचार कर रहे थे। अपने साथ से पृथक् होने वाले साधु भी अनेक प्रकार से उन पर दोषारोपण कर रहे थे। गृहस्थो मे गड्डुरी-प्रवाह चल रहा था। अत सत्य की परख करने को सहजतया कोई तत्पर नहीं था। साथ में साधुओ की सामग्री भी इतनी नही थी कि उन सब विरोधों का बराबर उत्तर दिया जा सके। ऐसी विकट परिस्थिति में भी उन्होंने छह साधुओ के उस छोटे से सघ से प्रारम्भ करके जो काम कर दिखाया, वास्तव में ही वह उनकी अद्‌भुत आत्म-शक्ति का द्योतक था। वस्तुत उस समय उनका अपना आत्म-बल ही एकमात्र सहायक था।

एक सस्कृत कवि ने लका-अभियान के विषय में राम की विषम स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—"लका जैसी दुर्जेय नगरी को जीतना था, समुद्र के अगाध पानी को लाघना था, रावण जैसे बलिष्ठ शत्रु से मुकाबला था, युद्ध में सहायता देने वाले थे बदर। फिर भी अकेले राम ने राक्षस-वश को पराजित कर दिया। क्योकि कार्य-सिद्धि महापुरुषों के मनोबल पर जितनी आधारित होती है, उतनी बाह्य उपकरणों पर नही[1]"। उपर्युक्त राम की स्थिति से स्वामीजी की उस समय की स्थिति बहुत कुछ मेल खाती है। उनकी अपनी विजय का मूल भी उन्हें मिली हुई तुच्छ साधन-सामग्री में नही था, किन्तु उनके अपार आत्मबल में ही निहित था। अन्यथा इतने बडे विरोध के सामने अकेले व्यक्ति का टिके रहना बहुत ही असभव होता। स्वामीजी में असभव को भी सम्भव कर दिखाने का आत्मबल था। उसीके बल पर वे उन सब समस्याओं के सामने अडिग धैर्य के साथ डटे रहे।

आत्म-केन्द्रित

स्वामीजी ने अपनी थोडी-सी सामग्री से जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, उसका एकमात्र उद्देश्य यही था कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का शुद्ध स्वरूप जनता के सामने रखा जाए और उसके प्रकाश में ही सारे धार्मिक आचार-विचारों का विशदीकरण किया जाए। किन्तु उस समय जनता की मानसिक स्थिति स्वामीजी के विचारो को सुनने और उन पर मनन करने के अनुकूल नही थी। विरोधियों के प्रचार ने स्वामीजी के विरुद्ध इतनी तीव्र भावना भर दी थी कि पहले तो कोई आता ही नही था, यदि कोई आता भी तो तत्त्व-जिज्ञासु होकर नहीं, किन्तु स्वामीजी को कुछ अवज्ञापूर्ण शब्द सुनाकर अपने मन की निकालने के लिए ही।

लोगों की द्वेष-बुद्धि और अज्ञानता को देखकर स्वामीजी ने सोचा—"इस समय जनता धर्म-द्वेष-युक्त बनी हुई है। अन्ध-श्रद्धा के आवेग में सम्यग् दर्शन के लिये किसी को चिन्ता

१—विजेतव्या लका चरणतरणीयो जलनिधि,
विपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय।
तथाप्येको राम सकलमवधीद् राक्षसकुलं
क्रिया-सिद्धि सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥

नहीं है। स्थिति-पोषकता के विषमय वातावरण से बाहर निकल कर, भगवान् महावीर के उदात्त सिद्धान्तों के मक्खन-मक्खन का आसेवन उनके विरुद्धित लेखकों का अनुकूल नहीं बन रहा है। सत्य को विवेक की तुला पर न तोलकर करते आये हैं' की तुला पर तोला जा रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म प्रचार के लिए समय लगाकर उसे व्यर्थ ही गमाना होगा। जब लोग बात सुनने से ही कतराते हैं, तो शुद्ध श्रद्धा धारण कर श्रावक-श्राविका बनने तथा चारित्र धारण कर साधु-साध्वी बनने की बात तो बहुत दूर की है। अब मुझे धर्म प्रचार की ओर से ध्यान हटाकर सर्वभाव से आत्म-कल्याण पर ही अपने आपको केन्द्रित कर लेना चाहिए।

लोमहर्षक तपस्या

उसके पश्चात् स्वामीजी अपनी सम्पूर्ण शक्ति स्व-कल्याण में ही लगाने लगे। ऐसा लगता है कि वे क्षण स्वामीजी के जीवन में कुछ दुविधा जनक थे। जीवन के एक क्रम से हटकर दूसरे क्रम पर लगाना बहुत कठिन होता है। वैसे क्षणों में व्यक्ति परिस्थितियों के सम्मुख हार मान लेता है और निराश होकर बैठ जाता है। परन्तु स्वामीजी ने न तो परिस्थितियों के सम्मुख हार मानी और न निराश होकर ही बैठे। चट्टान से अवरुद्ध होकर स्रोत जिस तरह अपना मार्ग जरा हटकर निश्चित कर लेता है फिर भी उसी चट्टान से लगातार टकराता रहता है और एक दिन उसकी जड़ खोद ही डालता है वैसे ही स्वामीजी ने जन-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध पाकर स्वयं को आत्म-कल्याण की ओर पूर्ण वेग से लगा दिया। किन्तु उनका संघर्ष हीन जीवन अन्ध-श्रद्धा और अन्ध-परम्परा से संधि करने को कभी उद्यत नहीं हुआ। जन-कल्याण और आत्म-कल्याण—इन दो प्रवाहों में बहने वाले जीवन की धारा का उफान केवल आत्म-कल्याण की ओर ही हो जाने से उसमें और भी प्रखरता आ गई।

उन्होंने अन्य सहयोगी साधुओं के साथ एकान्तर तप प्रारम्भ कर दिया और वे नित्य सूर्य की आतापना लेने लगे। चौविहार उपवास ग्रीष्म ऋतु के दिन मरु प्रदेश में चलने वाली लू के झोंके और वहाँ के रज की उत्तप्त धूलि—इन सबको मन की कल्पना में समन्वित करके जब स्वामीजी और उनके साथी साधुओं की उस तपस्या को समझने का प्रयास किया जाता है तो रोमांच होने लगता है। उनकी वह लोमहर्षक तपस्या इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि उनमें आत्म-कल्याण की कितनी उत्कट भावना थी।

महापुरुषों की परम्परा में

लोग स्वामीजी को कष्ट देने का प्रयास करते थे पर स्वामीजी तपस्या प्रारम्भ करके उन कष्टों के साथ ही अपनी ओर से कुछ और कष्ट मिलाकर मानों जनता को यह बता देना चाहते थे कि तुम जो कष्ट पहुँचाना चाहते हो उससे भी कहीं अधिक कष्ट सहन करने की क्षमता हम रखते हैं। कष्ट और तपस्या में वस्तुतः बहुत ही थोड़ा अन्तर होता है। भावना हीन तपस्या कष्ट बन जाती है तो समभाव से सहा गया कष्ट तपस्या बन जाता है। जनता की दृष्टि में जो कष्ट था स्वामीजी की दृष्टि में वह कर्म काटने का एक साधन था। इसी

लिए उन्होंने प्रत्येक कष्ट के सामने अपने आपको पूर्ण रूप से उपस्थित किया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका सामना किया। उन्होने कष्ट-भोग को दैन्य के प्रतीक से उठाकर वीरत्व के सिंहासन पर ला बिठाया। उनके विचार में वह तो उनकी साधना का एक उपयुक्त साधन-मात्र था।

महापुरुषों की परम्परा में कष्ट-सहन की जो अनिवार्यता देखी गई है, स्वामीजी उसके अपवाद कैसे हो सकते थे ? उन्होंने कष्ट सहे और वीरतापूर्वक सहे। अपना मार्ग चुनते समय उन्हें आगामी कष्टो का भान नही था—ऐसी बात नही है। वे जानते थे कि जरा-सा झुककर या स्थिति-पोषकता के महायन्त्र का एक पुर्जा बनकर वे दुःख के स्थान में सुख भी पा सकते हैं, किन्तु उन्हें यह सब स्वीकार्य नही था। किसी भी महापुरुष को यह स्वीकार्य हो भी कैसे सकता है ? उसका मार्ग तो काटों के ऊपर से ही जाता है। कष्ट उसके उस महत्त्वपूर्ण जीवन का सबल होता है।

कार्यं वा साधयेय, देहं वा पातयेयम्

स्वामीजी अपने कार्य को प्राणों की बाजी लगाकर करने वाले व्यक्ति थे। या तो वे अभीष्ट कार्य को कर लेते थे या फिर उसी की सिद्धि में अपने को मिटा देने को उद्यत हो जाते थे। यही दृढता उनकी सफलता का मंत्र थी। अपने कष्टमय जीवन और उसके पश्चात् मिली आशातीत सफलता का उल्लेख करते हुए हेमराजजी स्वामी को सुनाये गये अपने संस्मरणों में स्वयं स्वामीजी ने जो कुछ कहा है, वह उनकी इसी दृढता को सिद्ध करता है। उनके वे प्रेरक शब्द इस प्रकार हैं—"म्हे उणा नै छोड्या जद पाँच वर्ष ताई तो पूरो आहार न मिल्यो। आहार पाणी जाचनै उजाड में सर्व साथ परहा जावता। रूखरा री छाँया आहार पाणी मेलनै आतापना लेता। आथण रा पाछा गाँव में आँवता। इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता। म्हे या न जाणता—म्हारो मारग जमसी, नै म्हा में यूं दीक्षा लेसी, नै यू श्रावक श्राविका हुसी। जाण्यो आतम ना कारज सारसा, मर पूरा देसा, इम जाण नै तपस्या करता।"[1]

स्वामीजी के उपर्युक्त कथन से जहाँ यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्हें पाँच वर्ष तक जनता की उत्कट अवज्ञा का सामना करना पडा था और उन्हें जितनी सफलता मिली थी, उसकी स्वयं उन्हें कोई सम्भावना नहीं थी, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि वे अपने निश्चय से अंशमात्र भी विचलित होने वाले नहीं थे। जनता का सहयोग न मिलने पर वे अकेले ही अपने अभीष्ट मार्ग पर बढ चले थे। कवीन्द्र रवीन्द्र की निम्नोक्त पंक्तियाँ उनके उस एकाकी गमन पर बहुत ही ठीक उतरती हैं

यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे,
तबे एकला चल ओरे।
एकला चल, एकला चल, एकला चल ओरे ॥

1—भिक्खु दृष्टान्त ६०

अर्थात्—तुम्हारी आवाज सुनकर भी यदि कोई साथ चलने को तैयार न हो तो तुम अकेले ही चल पड़ो अकेले ही चल पड़ो।

सत्य के लिए उनका अद्वितीय आग्रह भर्तृहरि के इस सूक्त को याद दिला देता है

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥[1]

अर्थात्—धीर पुरुष न्याय-पथ से एक कदम भी इधर उधर नहीं होते। ऐसा करने में कोई चाहे उनकी निंदा करें या स्तुति संपत्ति ठहरे या जाए, चाहे मृत्यु आज ही आ जाए या युगों के बाद आए, वे उनकी कोई परवाह नहीं करते। स्वामीजी के "आतम भी कारज सारसां मर पूरा देसां"—ये शब्द 'कार्य वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्' की भारतीय ऋषि मानस से उद्भूत शाश्वत प्रतिज्ञा को एक बार फिर से दुहरा देने वाले थे। उनकी यह अजेय प्रतिज्ञा ही उनके जीवन-सूत्र की संचालक थी।

५

जन-उद्धारक आचार्य

आत्मानुकम्पी से उभयानुकम्पी

स्वामीजी की लोमहर्षक तपस्या चालू थी। आत्मानुकम्पी के रूप में उनका प्रायः समस्त समय अपनी ही धर्म क्रियाओं में लगने लगा। लोगों पर विशेष परिश्रम करने का उनका ध्येय अब नहीं रहा। कोई आ जाता और जिज्ञासा करता तो उत्तर दे देते अन्यथा अपने ही चिंतन-मनन में लगे रहते।

उस एकान्त-साधना और मौन-तपस्या का धीरे धीरे किन्तु अज्ञात रूप से जनता पर प्रभाव पड़ने लगा। लोगों ने अब समझना प्रारम्भ किया कि जो व्यक्ति शुद्ध जीवन के लिए प्राणों की भी बाजी लगा सकते हैं वे कितने-बड़े त्यागी और महान् होते हैं। साधारण जन की तरह उनकी दृष्टि खान-पान की समस्या में ही उलझ कर नहीं रह जाती। वे खान पान सम्बन्धी कठिनाइयों से बहुत ऊपर उठ चुके होते हैं। उनका लक्ष्य बहुत ऊँचा होता है। वे इन्द्रियों के दास बनकर नहीं किन्तु स्वामी बनकर जीने वाले होते हैं। इस प्रकार लोगों की सहानुभूति स्वामीजी की ओर होने लगी। जो पहले स्वामीजी के मार्ग में बाधक बनना ही श्रेयस्कर मानते थे वे अब श्रेय की खोज में उनके पास आने लगे। जो नहीं आते थे उनके मन में भी यह बात जमने लगी कि कम से कम उनकी बात तो सुननी ही चाहिए।

१—नीतिशतक ८४

इन भावनाओं से प्रेरित होकर जो लोग स्वामीजी के पास आते, उन्हें वे आगमिक आधार से धर्म-अधर्म, व्रत-अव्रत आदि का तत्त्व बहुत ही विश्लेषणात्मक ढग से समझाते। धीरे-धीरे लोग उनके सिद्धान्तों की सत्यता को पहचानने और उसे हृदयगम करने लगे। कुछ विचारशील व्यक्तियों ने विवेकपूर्वक शुद्ध श्रद्धा और आचार को पहचाना, तथा धर्म के सच्चे स्वरूप को ग्रहण किया। परन्तु स्वामीजी तब भी उस ओर से पूर्ववत् उदास ही बने रहे। वह उदासी सम्भवत· और भी लम्बी चलती, परन्तु एक प्रेरक घटना ने उनके उस जीवन-क्रम को ऐसा बदल दिया कि वे सहसा ही आत्मानुकम्पी से उभयानुकम्पी बन गये और एक जन-उद्धारक आचार्य के रूप में जन-जीवन में आ गये।

एक प्रेरणा

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई, तब उन्हें लगा कि सुखैषी लोग उनकी बात नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नही करेंगे, अत एकान्त में मौन धारण कर रहना ही ठीक होगा। उस समय ब्रह्मदेव ने आकर उन्हें प्रेरणा दी कि धर्म को समझने वाले अनेक लोग आपको मिलेंगे। आप उपदेश दें। आपके मौन से उन धर्म-जिज्ञासुओं को भारी हानि हो रही है, जो आपके धर्म-वाक्य सुनकर उद्‌बुद्ध होने वाले हैं।

स्वामी भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी थी। उन्हें भी मौन साधना करते देखकर ब्रह्मदेव की तरह दो साधुओं ने धर्म-प्रचार के लिए प्रेरित किया था। उन प्रेरक सतो के नाम थे—थिरपालजी स्वामी और फतहचदजी स्वामी। ये दोनों ही साधु, जयमलजी के टोले से स्वामीजी के साथ आये थे[1] और ससार-पक्ष से पिता-पुत्र थे। दोनों ही बडे तपस्वी, भद्र और विचारशील साधु थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय दोनों साधु दीक्षा-पर्याय में स्वामीजी से बडे थे, अत परमार्थी और नम्र स्वभावी स्वामीजी ने अपनी निरहकारिता और उदारता का परिचय देते हुए भाव-चारित्र लेते समय भी उन्हें दीक्षा-पर्याय में अपने से बडा रखा। वृद्ध सन्तों के प्रति स्वामीजी की आदर-भावना का यह सजीव उदाहरण कहा जा सकता है।

उन दोनों वृद्ध सन्तो ने जब देखा कि लोग आते हैं, जिज्ञासा करते हैं और अन्तत समझते भी हैं, परन्तु स्वामीजी उन पर अधिक ध्यान नही देते तब एक दिन दोनों ही आए और हाथ जोडकर विनयपूर्वक स्वामीजी से निवेदन करने लगे—"गुरुदेव! घोर तपस्या के द्वारा आप अपने शरीर को इस प्रकार क्षीण मत कीजिए। तपस्या करने के लिए तो हम बहुत है, क्योंकि इससे आगे हमारी पहुँच नहीं है। आप धर्म-प्रचार कर सकते हैं, आपकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि, अगाध शास्त्र-ज्ञान, मर्मस्पर्शिनी प्रतिपादन-शैली और भावोपयुक्त भाषा ससार को प्रकाश देकर सन्मार्ग दिखला सकती है। आप भगवान् महावीर के इस अमृतमय धर्म का उपदेश दीजिए। आपके द्वारा प्रतिपादित धर्म-रहस्य को हृदयगम करने की योग्यता रखने वाले अनेक व्यक्ति आपको मिलेंगे। जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं जिनकी ज्ञानशक्ति पर काई आई हुई है।

1—लघु भिक्खु जश रसायण

आपके धर्म-वाक्य काम में पड़ने पर वह टूटेगी और जनता को ज्ञान-लाभ होगा। आपने जो आलोक पाया है उसपर समस्त संसार का अधिकार है क्योंकि आप समस्त संसार के आत्मीय हैं। अपने इस आलोक को मुक्त भाव से वितरित कीजिए। हमें विश्वास है कि वह उत्तरोत्तर फैलेगा और जनता उससे अपना लक्ष्य प्राप्त करेगी।"

प्रेरणा की प्रतिक्रिया

मुनि युगल के अन्तःकरण से निकली हुई वाणी स्वामीजी के हृदय पर असर कर गई। उनके उस सत्-परामर्श को सम्मान देते हुए उन्होंने कहा— 'मुनिजनों! आप दोनों तात्त्विक हैं अत पूजनीय हैं। आपकी यह लोक हितैषिता बहुत ही प्रशंसनीय है। आप जिस बात की प्रेरणा देने आये हैं वह तो मेरे स्वभाव के सदा अनुकूल रही है। किन्तु जनता की उदासीनता ही इसमें बाधक थी। *आज आपके सरल हृदय से उद्गत विचारों से जो माँग की है मैं उसे* ठुकराऊं या नहीं। आपकी भविष्यवाणी को कार्यरूप में परिणत करने में जिस प्रयास की आवश्यकता है उसका भार अपने ऊपर लेने में मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है। साधु थिरपालजी और फतहचंदजी अपने परामर्श की इस सहज-स्वीकृति से गद्‌गद् हो उठे।

अवसर पर दी गई यह छोटी-सी प्रेरणा उस समय केवल एक बात के ही रूप में थी परन्तु आज वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य एक विशिष्ट गौरव-पूर्ण घटना के रूप में हमारे सामने है। उस समय स्वयं प्रेरकों को भी यह अनुमान नहीं होगा कि उनकी वह प्रेरणा लाखों जीवों के कल्याण की हेतु बनकर संसार के लिए एक अलौकिक देन सिद्ध होगी। वस्तुतः यह प्रेरणा नवोदित तेरापंथ के जीवन में एक नयामोड़ ला देने वाली हुई। स्वामीजी के जन उद्धारक जीवन का सूत्रपात करने का श्रेय इसी घटना को दिया जा सकता है।

धर्म-प्रचार की ओर

इस घटना के पश्चात् स्वामीजी धर्म प्रचार की ओर विशेष ध्यान देने लगे। जो लोग आते उन पर अथक परिश्रम करते और आगम न्याय के आधार पर उनके हृदय में सम्यग् दर्शन का बीजारोपण करते। क्रमशः लोगों का आवागमन बढ़ने लगा और तात्त्विक विचारों की जिज्ञासा जोर पकड़ने लगी।

स्वामीजी ने उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्व-जनहित के दृष्टिकोण से अपने भाव भित विचारों को पद्य-बद्ध रचना का रूप दिया। अनुकम्पा दान दया व्रत-अव्रत जैसे अनेक चर्चास्पद विषयों पर 'जोड़ों' द्वारा अपने युक्ति पुरस्सर विचार व्यक्त किये। नव तत्त्वों पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। श्रावकों के बारह व्रतों पर नया प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य की नववाड़ों पर विशेष प्रेरणादायी ढालों की रचना की। साधु आचार पर ढाल बनाकर शिथिलाचार का निराकरण किया। इस प्रकार स्वामीजी ने अपना जीवन जन कल्याण के साथ-साथ धर्म प्रसार में अर्पण कर दिया।

१—पद्य-बद्ध रचना को राजस्थानी भाषा में 'जोड़' कहते हैं।

अकल्पनीय सफलता

धीरे-धीरे उस कार्य मे उन्हें अकल्पनीय सफलता भी मिलने लगी। लोग उनसे अपने-अपने ग्रामो में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। ग्राम-के-ग्राम उनके भक्त बन गये। फिर भी उस भक्तिभाव से स्वामीजी का मन कभी अहकार से नही भरा। वे तो अपने आपको भगवान् का एक सदेशवाहक ही मानते रहे। केलवा के रावल ठाकुर मोखमसिहजी के प्रश्न पर दिये गये उत्तर से उनकी यह भावना एकदम स्पष्ट हो जाती है। एक बार केलवा में स्वामीजी विराजमान थे। धर्म-परिषद् लगी हुई थी। रावल मोखमसिहजी दर्शन करने आये, व्याख्यान सुना और उसके पश्चात् भी बातचीत करने के लिए सेवा में बैठ गये। कुछ लोग बाहर से आये हुए थे। वे स्वामीजी से अपने वहाँ पधारने के लिये प्रार्थना कर रहे थे। स्वामीजी जब उनसे निवृत्त हुए तो रावलजी ने प्रश्न करते हुए कहा—"स्वामीजी! आपके पास गाँव-गाँव की प्रार्थनाएँ आती है, लोग आपकी इतनी भक्ति करते है, आपको अपने यहाँ आया देखकर हर्ष-विभोर हो उठते हैं, आप में ऐसी क्या विशेषताएँ है कि जिससे आपके प्रति सबका यह आकर्षण है ?"

स्वामीजी ने कहा—"जिस प्रकार किसी सेठानी का पति परदेश में हो और उसका सदेश लेकर कोई सदेश-वाहक आये तो उससे वह पतिव्रता सेठानी बहुत प्रसन्न होती है। उसको ससम्मान पास में बिठाकर सारी बातें पूछती है, भोजन आदि सुविधाओं की भी व्यवस्था करती है। कासीद का वह सम्मान उसकी अपनी गुण-गरिमा से नही, किन्तु पति का सदेश लेकर आने से होता है। उसी प्रकार जनता हमारा जो सम्मान करती है, तथा हमें जो चाहती है, उसका कारण भी यही है कि हम भगवान् के सदेश-वाहक हैं। उनकी वाणी सुनाते है और लोगों को आत्मिक सुख और शान्ति की ओर प्रेरित करते हैं। हमारे प्रति लोगों के आकर्षण का यही कारण है।"[1]

ठाकुर मोखमसिहजी का उपर्युक्त प्रश्न तथा स्वामीजी का उत्तर इस बात के प्रमाण हैं कि स्वामीजी जब धर्म-प्रचार की ओर ध्यान देने लगे, तब जनता में उनके प्रति आकर्षण बढा और वह उनकी भक्त बनने लगी। वस्तुत स्वामीजी में एक चुबकीय शक्ति थी, जिससे लोग स्वत ही उनकी ओर खिचते चले आते थे। जो लोग स्वामीजी के भक्त बने होंगे सभवत उनके पूर्व गुरुओं ने ही निराश होकर यह कहा होगा—"भीखण रा भरमाया, कदे न पाछा आया।" इससे पता लगता है कि स्वामीजी एक महान् साधु, महान् आचार्य, महान् सुधारक और महान् जन-उद्धारक पुरुष के रूप में इस धरती पर आये थे और अपने लक्ष्य पर पूर्ण-रूपेण सफल होकर जनता के हृदयेश्वर बन गये।

चतुर्विध सघ

स्वामीजी के सिद्धान्तों का प्रसार धीरे-धीरे जनता में होने लगा। निरन्तर के अथक परिश्रम से स्वामीजी ने अनेक व्यक्तियों को अपनी विचारधारा का रहस्य समझाया।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ८७

इसके परिणामस्वरूप साधु तथा श्रावक-श्राविकाओं की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी परन्तु कई वर्षों तक संघ में साध्वियाँ नहीं हुईं। इस पर किसी ने व्यंग करते हुए स्वामीजी से कहा—"भीखणजी! तुम्हारे संघ में तो केवल तीन ही तीर्थ हैं—साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियों के अभाव में यह तुम्हारे संघ का मोदक खांडा अपूर्ण ही है।" स्वामीजी ने उस व्यंग का उत्तर देते हुए कहा— हमारा यह मोदक खांडा भले ही हो पर है चौकुणी चीनी का। इसलिए जितना है उतना पूर्ण रूप से स्वादिष्ट है।[1]

अपने इस उत्तर से स्वामीजी ने यह भी समझा दिया कि जिस प्रकार चीनी के अभाव में पूर्ण मोदक भी स्वादहीन होता है उसी तरह चारित्र के अभाव में संघ की चतुर्विधता भी महत्त्वहीन ही होती है। जिस संघ में गुणी तथा चारित्रवान् व्यक्ति रहते हैं, वहाँ चतुर्विधता चाहे न हो पर उसकी महत्ता और वास्तविकता कहीं नहीं जाती।

इस घटना के थोड़े दिन पश्चात् ही स्वामीजी के संघ में तीन साध्वियाँ दीक्षित हुईं। तीन बहनों ने एक साथ मिलकर स्वामीजी से अपनी दीक्षा के विषय में प्रार्थना की। स्वामीजी प्रत्येक कार्य बड़ी ही दूरदर्शिता और सावधानी से किया करते थे। अतः अपने स्वभावानुसार उन्होंने सोचा कि जैन आगमों के नियमानुसार कम-से कम तीन साध्वियों का एक साथ रहना आवश्यक है। यदि इनके प्रव्रजित होने के पश्चात् किसी एक का भी वियोग हो जाए तो शेष दो साध्वियों के लिए संलेखना के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। यह विचार स्वामीजी ने दीक्षार्थी बहिनों के सम्मुख भी रखा और दीक्षा लेने से पूर्व इस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के लिए कहा।

तीनों ही बहिनों ने उस बात पर गहराई से विचार कर स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि हम में से किसी एक का वियोग हुआ तो शेष दो संलेखना-पूर्वक शरीर विसर्जन के लिए प्रस्तुत रहेंगी। बहिनों के उस वीरता-पूर्ण उत्तर से स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके वैराग्य भाव से तो वे पहले से ही आश्वस्त थे अब उनकी दृढ़ता का भी परिचय मिल गया था। इस प्रकार उनकी पूर्ण परीक्षा कर लेने के पश्चात् स्वामीजी ने तीनों बहिनों को एक साथ दीक्षा प्रदान की। तेरापंथ में सर्वप्रथम दीक्षित उन साध्वियों के नाम क्रमशः कुशालांजी, मट्टूजी और अजबूजी थे।

साध्वियों के तीर्थ की यह स्थापना संवत् १८२१ में हुई थी।[2] उससे पूर्व स्वामीजी की

---

१ भिक्षु-दृष्टान्त १२

२—'शासन विलास' में जयाचार्य इस घटना का सम्बोधन करते हुए कहते हैं :

दर्शनादि आगार तीन अच्छी विचार।
एक साध का आवश्यक संलेखना किसी प्रकार॥ (ढाल १ दो १)

यहाँ यह ध्यान—अर्थात् स्वामीजी द्वारा का प्रयोग अत्यन्त गम्भीर विवेचन में प्रयुक्त है। १८२१ में तीन बहिनों के दीक्षार्थ होने का तो उल्लेख है पर दीक्षा कब हो यह उल्लेख नहीं है। परन्तु साधुओं की ख्यात में वहाँ स्वामीजी का दीक्षित होते हैं वहाँ १८२१ में ही दीक्षा होने का उल्लेख है।

भाव-दीक्षा के पश्चात् लगभग चार वर्ष तक तीन ही तीर्थ रहे। स्वामीजी के सघ की क्रमिक विकासशीलता मे यह घटना भी एक कड़ी के रूप में है। सघ के चारो अगो की उस पूर्ति के पश्चात् वह परम्परा निरतर चालू रही। यद्यपि उन तीनो मे से एक अजबूजी बाद में प्रकृति की खराबी के कारण पृथक् कर दी गई थी, फिर भी शेष साध्वियों के समक्ष सलेखना करने की कोई परिस्थिति पैदा नही हुई। क्योकि उस समय तक और भी अनेक साध्विया दीक्षित हो चुकी थी।

: ६ :

जीवन के विविध पहलू

स्वामीजी का समस्त जीवन उस उत्तम पुस्तक के समान था, जिसके प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पक्ति प्रेरणादायक होती है। उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाए भी आज मानव-समाज के लिए प्रकाश-स्तभ के समान मार्ग-दर्शन का कार्य करती है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की समस्त घटनाओ का विवरण करना तो बहुत अधिक प्रयास-साध्य और अन्वेषण-सापेक्ष है। परन्तु यहाँ हम उनके जीवन की कुछ उन घटनाओ का उल्लेख कर देना चाहेंगे, जो कि बहुत रोचक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद और मार्ग-दर्शक हैं।

१ : विरोध का सामना विनोद से

स्वामीजी के समय में उनके अनुयायियो की सख्या से कही अधिक उनके द्वेपियो की सख्या थी। द्वेपी व्यक्तियो में रहकर भी अद्वेपी बने रहना साधारण कार्य नही हैं। कमल और सत्पुरुष—ये दो ही ऐसे होते हैं, जो अपने चारो ओर फैले कीचड से भी सार खीचते है और फिर उसे सुगन्ध रूप में परिणत करके जगत् को बाँट देते है। इतने पर भी स्वय उस कीचड में कभी लिप्त नही होते और सदा उससे ऊपर उठे हुए होते है।

स्वामीजी वस्तुत द्वेपवृत्ति से बहुत ऊपर उठे हुए महापुरुष थे। न उन्हें द्वेषी जनो के कर्ण-कटु शब्द विचलित कर पाते थे और न ही अपने विरुद्ध मे किये जाने वाले कार्य। द्वेष भरी बात का उत्तर भी वे इस सहज भाव से देते थे कि पासा पलट जाता और कहने वाले को चुप हो जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नही मिल पाता था। वे विरोधी परिस्थिति को अपने विनोद से पराजित कर देते थे।

और तुम्हारा मुह देखने से ?

एक बार स्वामीजी विहार करते हुए 'देसूरी' जा रहे थे। मार्ग में 'घाणेराव' का एक भाई मिला। स्वामीजी को उसने वदन किया, पर पीछे आशका होने पर पूछा—"आपका क्या नाम है ?"

स्वामीजी ने नाम बताते हुए कहा — 'भीखण।

'भीखणजी तेरापंथी !! —भय मिश्रित आश्चर्य से विस्फारित-नेत्र होकर उसने नाम को इस प्रकार से दुहराया कि स्वयं स्वामीजी को भी आश्चर्य हुए बिना न रहा।

स्वामीजी ने जिज्ञासा-युक्त वाणी में पूछा— 'क्यों क्या बात हुई ?"

अन्तःकरण में छिपे हुए और तज्जन्य भय को अभिव्यक्ति देते हुए वह बोला—"तुम्हारा तो मुँह देखने मात्र से ही आदमी को नरक मिलता है।

स्वामीजी ने तत्काल उलट कर पूछा— 'और तुम्हारा मुह देखने से ?

उसने सिर ऊँचा उठाते हुए गर्वीले स्वर में कहा— 'स्वर्ग'

स्वामीजी बोले— 'किसी का मुह देखने मात्र से स्वर्ग या नरक मिलता हो – यह बात मैं मानता तो नहीं पर तुम्हारे ही कथन को सत्य मान लिया जाए तो यह बतलाओ कि तुम कहाँ जाओगे और मैं कहाँ ?

अब उस भाई के पास बोलने को कुछ भी अवशिष्ट नहीं था क्योंकि उसने अपने आपकी नरकगामिता और स्वामीजी की स्वर्गगामिता स्वयं ही सिद्ध करदी थी[1]।

तुम विधवा कैसे हो गई ?

एक बार स्वामीजी 'पीपाड़' में पधारे हुए थे। गोचरी के समय जब वे एक मुहल्ले में गये तो एक बहिन ने उन्हें स्थानकवासी साधु समझकर कहा— 'तेरापंथी बनने वाले को अपने आप दंड मिल जाता है। हमारे मोहल्ले की अमुक औरत ने भीखणजी को गुरु धारण किया था अतः थोड़े ही दिनों में वह 'रांड' हो गई।

संयोगवश वह बहिन स्वयं विधवा थी अतः स्वामीजी ने स्मित-मुख होकर कहा— 'बहिन ! तुम्हारी बातों से लगता है कि तुम भीखणजी की काफी निंदा करती हो। पर यह तो बतलाओ कि फिर भी तुम इस छोटी अवस्था में ही विधवा कैसे हो गई ?"

पास में खड़ी अन्य बहिनों ने बात के क्रम से भांप लिया कि ये स्वयं भीखणजी ही हैं। उन्होंने जब यह बात उस बहिन को बतलाई तो वह इतनी लज्जित हुई कि खड़ी नहीं रह सकी और भागकर घर में घुस गई[2]।

नृत्य को रोक क्यों रहे हो ?

पाली में स्वामीजी का चातुर्मास था। वहाँ के मूर्ति-पूजक भाई स्वामीजी के प्रति काफी द्वेषभाव रखते थे। पर्युषण पर्व में मूर्ति-पूजकों ने द्वन्द्वयुद्ध महोत्सव मनाते हुए जुलूस निकाला। स्वामीजी जिस मकान में विराजते थे उसके सामने से जुलूस लेकर वे आये और वहाँ काफी देर तक ठहरकर नाचते-गाते रहे। व्याख्यान में बाधा पहुँच रही थी अतः कुछ देर प्रतीक्षा करने पर भी जब जुलूस आगे नहीं बढ़ा तो कुछ श्रावकों को गुस्सा आ गया। वे उत्तेजित होकर

१—भिक्खु दृष्टान्त २ १५

२—भिक्खु-दृष्टान्त २ १६

जुलूस वालो को बुरा भला कहने लगे तो स्वामीजी ने उन्हें टोकते हुए जुलूस वालो को सुनाकर कहा—"ये लोग प्रतिमा को भगवान् मानते हैं, अत या तो भगवान् के सामने नाचते-गाते है या भगवान् की प्रतिमा—साधुओ के सामने। तुम भला गुस्सा करके इन्हें रोक क्यों रहे हो ?"

स्वामीजी के इस कथन से श्रावक तो वहाँ से हट ही गये थे, पर नाचने वाले भी अपने उद्देश्य से विपरीत प्रभाव हुआ देखकर आगे चलते बने। वे स्वामीजी को चिढाना चाहते थे, पर स्वामीजी ने पासा पलट कर उनके मूल उद्देश्य को ही उलट दिया[1]।

पोता चेला

स्थानकवासी साधु टीकमजी के एक शिष्य कचरोजी सिरियारी में स्वामीजी के पास पहुचे। स्वामीजी ने आने का कारण पूछा तो बोले—"तुम्हारे विषय में बातें सुनते-सुनते कान थक गये, अतः सोचा कि चलो देखें तो सही कि आखिर भीखणजी ऐसी क्या बला है ?"

स्वामीजी ने सस्मित होकर कहा—"लो देख लो मैं ही हूँ भीखण।"

देख लेने के पश्चात् कचरोजी स्वामीजी से बात करने का लोभ भी सवृत नही कर सके, अत बोले—"कुछ चर्चा तो पूछिये।"

स्वामीजी—"जब देखने के लिए ही आए हो तो तुमसे क्या चर्चा पूछूं ?"

कचरोजी—"फिर भी कुछ तो पूछ ही लें।"

स्वामीजी ने उनका आग्रह देखकर पूछा—"तीसरे महाव्रत के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण क्या हैं ?"

कचरोजी—"यह सब तो मेरे पास पत्र में लिखा पडा है।"

स्वामीजी—"पत्र फट जाए या गुम हो जाए तब क्या करोगे ?"

कचरोजी को जब इस बात का कोई उत्तर नही सूझा तो बात को दूसरी ओर घुमाते हुए बोले—"मेरे गुरुजी ने एक बार तुम से चर्चा पूछी थी, उसका उत्तर तुम्हें नहीं आया था।"

स्वामीजी—"क्या हर्ज है, वही चर्चा तुम फिर से पूछ लो। यदि उन्हें उत्तर दिया है तो तुम्हें भी दे देंगे।"

कचरोजी—"मैं तो तुम्हारा पोता चेला हूँ, अत चर्चा में तुम्हारे से कैसे जीत सकता हूँ ?"

स्वामीजी ने निरर्थक की बातों में समय जाता देखकर एक ही बात में सारी बात समाप्त करते हुए कहा—"कम से कम मुझे तो ऐसा पोता चेला नही चाहिए।"

कचरोजी के सामने अब चुप होकर चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नही रह गया था[2]।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९५

२—भिक्खु दृष्टान्त दृ० ४६

साला हो सकता हूँ

स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने पर एक मूर्ति-पूजक साधु को इतना क्रोध आया कि वह उस सभा में ही उत्तेजना-वश बोल पड़ा— 'इस साले भीखन का सिर काट दिया जाए तो सारा झंझट ही समाप्त हो जाए।

स्वामीजी ने तत्काल अपने ढंग से मुस्कराते हुए कहा—"जगत् की सब स्त्रियाँ मेरी बहिनें हैं अतः मैं तुम्हारा साला हो सकता हूँ किन्तु पहले यह तो बतलाओ कि तुमने अपने उपाश्रय में कितनी स्त्रियाँ रख रखी हैं ?"

वस्तुतः ऐसे अवसर पर भी उत्तेजित न होना यह उस सभा में स्वामीजी की दूसरी विजय थी जो कि शास्त्रार्थ में प्राप्त की गई पहली विजय से भी अधिक प्रभावशाली थी[१]।

२. बुराई में भी भलाई की खोज

संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे जो अपने कानों से अपनी निंदा सुनकर भी उत्तेजित न हों। स्वामीजी में यह विशेषता इतनी उत्कृष्ट थी कि वे अपनी निंदा को हँसते हुए सुन ही नहीं लेते थे किन्तु अपने ही हाथों से उन बातों को लिख भी लेते थे। उनके हाथ से लिखे गये ऐसे अनेक पत्र आज भी सुरक्षित हैं जिनपर उनके तथाकथित अवगुण लिखे हुए हैं।

उनके जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आये थे जबकि स्वयं उन्हीं के सामने तथा अलग-अलग स्थानों पर विरोधी लोग विरुद्ध बातें प्रचारित करते रहते थे। वे अपने विरोधियों द्वारा किये गये किसी भी कार्य को गुण रूप में लेने का ही प्रयास किया करते थे। कहा जा सकता है कि वे अनन्य रूप से गुणग्राही व्यक्ति थे। गुण को ग्रहण करना और मानना एक बात है पर किसी के द्वारा प्रयत्न रूप से अवगुण किये जाने पर भी उसमें कहीं-न-कहीं गुण को खोज निकालने का प्रयास करना बिलकुल दूसरी बात है। यह तो किसी महापुरुष का ही कार्य हो सकता है। स्वामीजी निस्सन्देह ऐसे ही व्यक्तियों में से थे जो बुराई में भी भलाई खोज लेते हैं।

अवगुण निकालते ही हैं

किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया कि अमुक जगह लोग एकत्रित हो रहे हैं और वहाँ अमुक व्यक्ति आपके अवगुण निकाल रहा है।

स्वामीजी बोले— निकाल ही रहा है डाल तो नहीं रहा ? यह तो बहुत अच्छी बात है। मुझ में अवगुण निकालने ही हैं। कुछ मैं निकालूँगा कुछ ये निकालेंगे। चलो यों कुछ और भी शीघ्र निकल जायेंगे[२]।

१—भिक्षु दृष्टान्त ६१

२—भिक्षु दृष्टान्त १२

समझ आने पर भक्ति भी करेगा

स्वामीजी के साथ चर्चा करते समय एक भाई बहुत कटु बोला करता था। इस पर किसी ने स्वामीजी से कहा—"यह इतना उल्टा-सीधा बोलता है तो फिर आप इससे चर्चा क्यो करते है ?"

स्वामीजी ने कहा—"बालक जब तक नही समझता तब तक अपने पिता की मूँछें भी पकड लेता है, पगडी पर भी हाथ मारता है, किन्तु कुछ समझ आने पर वही बालक पिता की सेवा करता है। यह आज कटु इसलिए बोलता है कि इसे अभी तक साधुओ की पूरी पहचान नही है। पर जब वैसी समझ आ जाएगी, तब यह भक्ति भी करने लगेगा।"[1]

ठोक बजाकर देखता है

एक बार चर्चा में पराजित होकर एक भाई ने आवेश-वश स्वामीजी के सिर पर ठोले की मार दी। पास में खडे साधुओ को यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होने उस व्यक्ति को फटकारा। स्वामीजी से उन्होने प्रार्थना की कि ऐसे अयोग्य व्यक्तियो से चर्चा करने में कोई लाभ नही है।

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—"जब कोई आदमी मिट्टी की हडिया खरीदता है, तब पहले उसे ठोक-बजाकर देख लेता है कि कही फूटी हुई तो नही है ? यहाँ तो फिर आने-दो आने की ही बात नही है। जीवन भर के लिए गुरुधारणा की बात है, अत यह बेचारा ठोक बजाकर देख लेना चाहे तो अनुचित क्या है ?"

· ३ · आकर्षण के केन्द्र

स्वामीजी जनता के लिए एक आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। वे जहाँ भी जाते लोग उत्सुकता पूर्वक उनकी बाट देखते रहते थे। किसी स्थान पर कुछ दिन रहकर जब वे विहार करते तो लोग तरसते से रह जाते। जिनको उनसे मिलने का कभी अवसर नही मिला होता, वे उनके विषय मे नाना कल्पना किया करते थे। जो मिल सकते थे, वे अवसर पाकर मिलने को लालायित रहते। जो उनसे एकबार मिल लेते थे, वे प्राय सदा के लिए उनके ही हो जाया करते थे। उनके विरोधी इसीलिए अपने अनुयायियों को उनके पास जाने से रोकने का प्रयास किया करते किन्तु वे उस कार्य में बहुधा असफल ही हुआ करते थे। स्वामीजी का आकर्षण इन सब रोक-थामो के बावजूद भी उन्हें अपनी ओर खीच लिया करता था।

ऐसा हठ मत करना

स्वामीजी सिरियारी से विहार करने लगे। जनता ने कुछ दिन और ठहरने की प्रार्थना की। स्वामीजी नही माने तो प्रार्थना का रूप हठ में बदलने लगा। फिर भी स्वामीजी नही माने तो स्थानीय भाई सामजी भडारी ने आगे बढकर अपनी पाग स्वामीजी के पैरो मे रख दी और कहा—"कम-से-कम आज तो आपको विराजना ही पडेगा, इस पगडी की लाज रखनी ही होगी।"

१—भिक्खु दृष्टान्त दृ० २८७

स्वामीजी ने उस दिन के लिए ठहरने की स्वीकृति देते हुए कहा— 'आज तो तुम्हारी बात मान लेते हैं पर फिर कभी ऐसा हठ मत करना।'[1]

ऐसी प्रार्थना मत करना

आगरिया से स्वामीजी विहार करने लगे तो लोगों ने कुछ दिन और विराजने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने उसे अस्वीकार करते हुए विहार कर दिया। जनता का मन एकदम उदास हो गया।

भारमलजी स्वामी ने जनता की अत्यंत उदासी देखी तो मार्ग में स्वामीजी से कहा— "आपने विहार तो कर दिया है किन्तु यहाँ की जनता इससे बहुत उदास हो गई है। आप उनकी प्रार्थना मान लेते तो अच्छा रहता।"

दयालु स्वामीजी ने विहार स्थगित कर दिया और वापिस ग्राम में पधार गये। किन्तु सब को सावधान करते हुए कहा—"सन्तों के विहार से ऐसी उदासी क्यों आनी चाहिए ?" भारमलजी स्वामी से कहा—"आज तो तुम्हारी बात मानकर वापिस आ गये हैं पर फिर कभी ऐसी प्रार्थना मत करना।[2]

कभी इतनी महिमा है

पुर और भीलवाड़े के मार्ग में विहार से थक कर स्वामीजी किसी वृक्ष की छाया में विश्राम के लिए बैठे थे। साथ के अन्य साधु पीछे रह गये। इधर की तरफ का एक सनातनी भाई कहीं से आ रहा था। स्वामीजी को देखा तो वन्दन किया और परिचय आदि पूछने लगा। स्वामीजी ने अपना नाम 'भीखण' बतलाया तो उसको इतना आश्चर्य हुआ कि मानो वह उसे मानने से ही इन्कार कर देगा।

उसने कहा— 'हमने कभी आपको देखा तो नहीं पर आपकी महिमा इतनी सुनी थी कि देखने को मन लालायित रहता था। आपकी महिमा के आधार पर हमने अपने मन में जो आपकी कल्पना की थी वह तो यह थी कि आप किसी बड़े मठ की गद्दी के अधिपति होंगे। हम तो समझते थे कि आपके साथ हाथी घोड़े रथ पालकी आदि बहुत बड़ा लवाजमा रहता होगा। पर आप तो उस कल्पना के सर्वथा विपरीत अकेले ही वृक्ष की छाया में बैठे हैं।

स्वामीजी ने उसे जैन साधु का आचार समझाते हुए बतलाया—"ये सब आडंबर नहीं रखते तभी इतनी महिमा है अन्यथा दूसरे मठाधीशों की तरह ही हमारी भी स्थिति होती।[3]

१—भिक्खु दृष्टान्त : ८५
२—भिक्खु दृष्टान्त : ८६
३—भिक्खु दृष्टान्त : १३५

कैसे लगे ?

पाली के मूर्त्ति-पूजकों ने शोभाचन्द सेवग को स्वामीजी के विषय में निन्दा-परक कविता
े को उकसाया। उसने कहा—"मैंने भीखणजी के विषय में बातें तो अनेक प्रकार की सुनी
पर जब तक एक बार उनसे प्रत्यक्ष मिल नहीं लेता, तब तक उनके विषय में कुछ जोड़ना
त नहीं समझता।"

स्वामीजी उन दिनों खेरवा में थे। कार्यवश जब वह सेवग वहाँ गया तो स्वामीजी से
मिला। बातचीत करके बड़ा प्रभावित हुआ। निन्दा-परक कविता की जगह स्तुति-परक
ता जोड़ कर लाया।

पाली में आते ही मूर्त्ति-पूजक भाइयों ने पूछा—"खेरवे गया था तो वहाँ भीखणजी से
ा होगा और उनके विषय में कुछ जोडकर भी लाया होगा ?"

सेवग ने कहा—"जी, मिला था और कुछ जोड कर भी लाया हूँ।" पत्र निकालकर
ाने को तैयार हुआ तो वे बोले—"यहाँ नहीं, तेरापथी श्रावकों के सामने ही सुनाना।"

वे उसे लेकर श्रावकों के पास आये और कहने लगे—"यह तो एक सेवग है, अतः किसी
के पक्ष का न होकर निष्पक्ष है। इसे न हमारे से कुछ मतलब है और न तुम्हारे से। यह
जैसा जानता है वैसा ही कहेगा।"

सेवग को बोलने के लिए प्रेरित करते हुए वे बोले—"क्या भाई शोभाचद! तू भीखणजी
पास जाकर आया है, उनसे बातचीत भी करके आया है। बोल! तुझे वे कैसे लगे ?"

सेवग ने अपना बचाव-सा करते हुए कहा—"रहने दीजिए, उनके विचार उनके पास है
ौर आपके विचार आपके पास। मुझे क्यों बीच में डालते है ? मैं उनके विषय में क्या
ताऊँगा ?"

आग्रह करते हुए वे बोले—"हम कोई तुझे झूठ कहने के लिए थोडे ही कह रहे है। जैसा
ेखा अथवा जाना है, वैसा कहने मे हानि भी क्या है ?"

सेवग ने तब स्वामीजी के गुणानुवाद की कविताएँ सुनाईं और कहा—"वे तो अपनी
कथनी के समान ही करनी वाले हैं। मैंने ऐसा सत पुरुष आज तक कहीं नहीं देखा।"

विरोधी व्यक्तियोंने जब अपनी आशा के विपरीत स्वामीजी के गुण सुने तो जल-भुनकर रह
गये। श्रावक-वर्ग बडा प्रसन्न हुआ और सेवग को पुरस्कारस्वरूप बीस-पच्चीस रुपये दिये[1]।

४. अपराजेय व्यक्तित्व

स्वामीजी केवल आकर्षण के केन्द्र ही नहीं थे, किन्तु कुछ व्यक्तियों के लिए विभीषिका के
केन्द्र भी थे। उनके विरोधी सदैव उनसे घबराते थे। उनके साथ चर्चा करने का साहस कर
पाना भी उनके लिए कठिन था। चर्चा में उन्हें जीत लेने का तो किसी को स्वप्न भी शायद
ही आया हो।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९६

चर्चा महगी पडती है

स्थानकवासी साधु गुमानजी के शिष्य रतनोजी चाहते थे कि मैं भीखणजी से चर्चा करूँ। गुमानजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—"उनसे चर्चा करते तो हमें भी भय लगता है, तब तू क्या चर्चा करेगा ?"

रतनोजी ने भय लगने का कारण पूछा तो गुमानजी बोले—"भीखणजी चर्चा का जो उत्तर देते है पीछे उसकी जोड कर देते है, ग्राम-ग्राम में उसे भाइयो को सिखा भी देते हैं। इस प्रकार वे सारे ग्रामों को विगाड देते है। हमें चर्चा का उत्तर देने के लिए तव एक भीखणजी ही नही, किन्तु फौज की फौज खडी हो जाती है। चर्चा हमारे लिए सदा ही महगी पडती है।"[1]

अकबरी मोहरें

पुर में स्वामीजी से चर्चा करते हुए गुलाव ऋषि जब निरुत्तर हो गये तो कहने लगे—"मुझे निरुत्तर कर देने से कुछ नही होता। हमारे गोगूदा के श्रावक तुगिया नगरी के श्रावको जैसे हैं। उनसे चर्चा करोगे तब तुम्हें पता लगेगा। वे तो सब अकबर की मोहरें है।" स्वामीजी बोले—"अवसर आने पर उनसे भी चर्चा करने के भाव हैं।"

वह अवसर शीघ्र ही आ गया। स्वामीजी गोगूदा पधारे। वहाँ के श्रावको से चर्चा हुई। स्वामीजी ने उन्हें आगमो के आधार पर आचार-विचार सम्बन्धी सारी बातें समझाईं। फलस्वरूप वहाँ का श्रावक-वर्ग स्वामीजी का भक्त बन गया।

गुलाब ऋषि ने जब यह बात सुनी तो स्वय वहाँ आये और स्वामीजी से चर्चा करने लगे।

श्रावकों ने स्वामीजी को रोकते हुए कहा—"ये हमारे पहले के गुरु हैं, अत हमें ही इनसे चर्चा करने का अवसर दें। स्वामीजी ने उनकी बात मान ली। भाइयो ने गुलाब ऋषि से ऐसी चर्चा की कि उन्हें निरुत्तर हो जाना पडा। आखिर क्रुद्ध होकर कहने लगे—"गोगूदे के तुम श्रावकों को मैं तो अकबर की मोहर के समान समझा करता था। पर तुम तो बिल्कुल ही ठीकरी (मिट्टी) के सिक्के निकले।"[2]

किस न्याय से ?

उदयपुर में एक व्यक्ति स्वामीजी के पास आया और बोला—"भीखणजी! कोई चर्चा पूछो।"

स्वामीजी ने पहले तो उसे टालने का प्रयास किया, पर जब वह आग्रह करने लगा तो कहा—"अच्छा, बताओ तुम सन्नी हो या असन्नी ?"

१—भिक्खु-दृष्टान्त द० ९४

२—भिक्खु-दृष्टान्त द० ९०

वह व्यक्ति— "संज्ञी।"

स्वामीजी— "किस न्याय से?"

वह व्यक्ति— "नहीं मैं असंज्ञी हूँ।"

स्वामीजी— "किस न्याय से?"

दोनों बार ही जब स्वामीजी ने न्याय पूछा तो वह समझा कि संभवतः मेरे पूर्वोक्त दोनों ही कथन गलत थे। अब की बार उस गलती को सुधारते हुए बोला— "मैं तो संज्ञी या असंज्ञी दोनों ही नहीं हूँ।"

स्वामीजी— "दोनों ही क्यों नहीं हो, इसका भी न्याय बतलाना होगा।"

तब वह क्रुद्ध होकर बोला— "तुमने न्याय-न्याय की रट लगाकर हमारे सारे मत को ही बिखेर दिया।" और स्वामीजी की छाती पर मुक्का मारकर चलता बना।[1]

घोड़े के कितने पैर?

स्वामीजी चर्चा में किसी से हारते नहीं थे अतः कुछ व्यक्तियों ने षड्यंत्र रचकर उन्हें हराने की बात सोची। वे स्वामीजी के पास आये और पूछने लगे— "भीखणजी! घोड़े के कितने पैर होते हैं?"

स्वामीजी इस प्रश्न के पीछे छिपी दुरभिसन्धि को भांपते हुए जरा सोचकर और जोर से गिनकर कहने लगे— "चार।"

वे व्यक्ति स्वामीजी के उत्तर देने के उस अजीब ढंग को न समझने के कारण बोले— "इस प्रश्न के उत्तर में इतनी देर तक सोचने और गिनने की क्या बात थी?"

स्वामीजी ने कहा— "इसमें तो इतनी सोचने और गिनने की कोई बात नहीं थी पर तुम इसके पश्चात् मुझे 'कानखजूरे' के पैरों की संख्या भी तो पूछ सकते हो। इसका झट से उत्तर दूँ और उसमें अटकूँ, इससे तो अच्छा यही था कि इसका गिनकर उत्तर दूँ तो सबके लिए भी गिनने का अवसर रह जाए।"

वे व्यक्ति स्वामीजी की इस बात पर चकित होकर बोले— "भीखणजी! आप वस्तुतः ही अपराजेय हैं। हम जो सोचकर आये थे वह आपने बिल्कुल ठीक रूप से पहले ही भांप लिया।"

८ समझाने का उत्तम तरीका

स्वामीजी का किसी व्यक्ति को समझाने का प्रकार भी अपना अलग ही था। बहुत-सी बातों को वे दृष्टान्त देकर इतने सरल ढंग से समझा देते कि लोग आश्चर्यचकित रह जाते। कभी-कभी उनके दृष्टान्त कुछ कड़े भी हुआ करते थे। इस विषय में एक भाई ने जब यह पूछा कि आप इतने कड़े दृष्टान्त क्यों देते हैं तो स्वामीजी ने उसका समाधान करते हुए कहा— "साधारण रोग साधारण औषधि से मिट जाते हैं पर कुछ रोग ऐसे असाधारण होते हैं जो

१—भिक्खु दृष्टान्त ८४

साधारण औषधि से नही मिटते। उनके लिए शरीर के अवयव-विशेष को 'दागना' (लोह की गरम शलाका से जला देना) आवश्यक हो जाता है। उसी प्रकार कभी-कभी मुझे दृष्टान्तो के द्वारा ही बात समझानी पडती है।"[1]

जो बात दूसरा व्यक्ति परिश्रम कर लेने पर भी किसी के गले नही उतार पाता था, वही बात स्वामीजी सहजरूप से समझा देते थे। वे जैसी और जितनी समझ का आदमी देखते, वैसी और उतनी ही मात्रा की बात कहा करते थे ताकि समझने वाले व्यक्ति को विचारो का अपच न होने पाये।

गाय को क्या खिलाती हो ?

काफरला गाव मे साधु गोचरी गये। वहाँ एक जाटणी के घर पर 'धोवण' का प्रासुक पानी था, पर वह देना नही चाहती थी। सन्तो ने उसे समझाने का काफी प्रयास किया, पर सारा निष्फल ही सिद्ध हुआ। न देने में उसका तर्क यह था कि जो व्यक्ति जैसा देता है, वैसा ही आगे पाता है। अत यदि मैं आपको 'धोवण' दूगी तो मुझे भी आगे यही मिलेगा। किन्तु मेरे से यह हरगिज नही पिया जाएगा।

सन्तो को पानी की आवश्यकता थी और पानी विद्यमान था, पर जाटणी दे नही रही थी। निरुपाय होकर वे वापिस आ गये। उन्होने जब यह सारी बात स्वामीजी से कही तो वे बोले—"चलो मैं चलकर समझाता हूँ।" उन्होने जाटणी को प्रासुक पानी देने के लिए कहा तो उसने अपनी वही बात 'जैसा देता है वैसा ही पाता है' दुहराकर पानी देने से इन्कार कर दिया।

स्वामीजी ने कहा—"तुम अपनी गाय को क्या खिलाती हो ?"

जाटणी—"घास फूस-आदि।"

स्वामीजी—"तो क्या गाय तुम्हें वापिस घास-फूस ही देती है ?"

जाटणी—"नही, वह तो दूध देती है।"

स्वामीजी—"तो फिर तुम यह कैसे कहती हो कि 'जैसा देता है वैसा ही पाता है'।"

जाटणी के दिमाग में यह बात झट से बैठ गई और वह प्रासुक पानी देने के लिए तैयार हो गई[2]।

ज्ञान भी तो चारा बन गया

बूदी में सवाईरामजी ओसवाल स्वामीजी से धर्म-चर्चा कर रहे थे। आचार, विचार, दान, दया, आज्ञा, अनाज्ञा आदि अनेक विषयो पर काफी देर तक बात कर लेने के पश्चात् भी जब उन्होने बात का क्रम समाप्त नहीं किया तो स्वामीजी ने कहा—"गाय भैंस के सामने जब चारा अधिक डाल दिया जाता है, तो वे उसे अधिक बिखेरती हैं। अत आज जितनी बात की है, पहले उसे हृदयगम कर लो, आगे की बात उसके पश्चात् करेंगे।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त द० ६९
२—भिक्खु-दृष्टान्त द० ३४

इस बात पर सवाईरामजी कुछ अप्रसन्न होकर बोले— 'आपने तो मुझे पशु समझा है तब फिर और बात क्या करनी है ?

स्वामीजी ने उनकी अप्रसन्नता का उन्मूलन करते हुए कहा—"यदि यों उपमा देने मात्र से तुम पशु बन गये तो साथ ही मेरा ज्ञान भी तो चारा बन गया ।

इस बात पर वे प्रसन्न हो उठे । स्वामीजी का ज्ञान यदि चारा बनता हो तो उसे चरने के लिए पशु बनना उन्हें बिल्कुल ही नहीं अखरा[1] ।

साधु कौन और ढोंगी कौन ?

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—"संसार में साधु का वेष पहनने वालों की संख्या काफी है । उनमें सच्चे कौन हैं और ढोंगी कौन ?

स्वामीजी ने कहा— किसी वैद्य से एक अचक्षु व्यक्ति ने पूछा कि इस शहर में नंगे कितने हैं और सवस्त्र कितने ? वैद्य ने कहा— इनकी संख्या करना मेरा काम नहीं है मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हूँ फिर तुम स्वयं इस बात की जाँच कर सकते हो ? इसी प्रकार व्यक्तिशः किसी के विषय में कुछ कहना मेरे लिए कठिन है । मैं साधु के लक्षण बताकर तुम्हें दृष्टि प्रदान कर सकता हू फिर साधु और असाधु के विषय में जाँच तुम स्वयं कर सकते हो ।

साहूकार और दिवालिया

एक बार उपर्युक्त प्रश्न एक अन्य भाई ने भी स्वामीजी से किया था । तब स्वामीजी ने दूसरी प्रकार से वही बात यों कहकर समझाई थी—"रुपये उधार लेकर जो सम्मान सहित वापिस चुका देता है वह साहूकार होता है और जो नहीं चुकाता तथा माँगने पर झगड़ा करता है वह दिवालिया होता है । इस लक्षण के आधार पर शहर के किसी भी व्यक्ति का परीक्षण किया जा सकता है । इसी तरह जो व्यक्ति ग्रहण किये हुए पाँचों महाव्रतों को निष्ठा पूर्वक पालते हैं वे साधु होते हैं और जो उन्हें नहीं पालते वे असाधु । इस लक्षण के आधार पर तुम किसी भी साधु के लिए निर्णय कर सकते हो ।[2]

ऐसे ही समझदार

उत्तमोजी इराकी मूर्ति-पूजक मान्यता के थे । उन्होंने स्वामीजी से कहा—"बड़े-बड़े लखपतियों करोड़पतियों ने मन्दिर बनवाये हैं । वे सब अजानी थोड़े ही थे ?"

स्वामीजी ने कहा— 'यदि तुम्हारे पास पचास हजार रुपये हो जाएँ तो तुम मन्दिर बनवाओ कि नहीं ?

१—भिक्खु-दृष्टान्त द १

२—भिक्खु-दृष्टान्त द ११

३—भिक्खु-दृष्टान्त द १

उत्तमोजी—"अवश्य वनवाऊ ।"

स्वामीजी—"तुम्हारे मे जीव का भेद कौन-सा है ? गुणस्थान कौन-सा है ? योग तथा उपयोग कितने है ?"

उत्तमोजी—"यह तो मैं नही जानता ।"

स्वामीजी—"तो उस समय के धनिक भी ऐसे ही समझदार रहे होगे । धन हो जाने मात्र से तत्त्व का ज्ञान नही हो जाता ।"[1]

आप मन्दिर को उड़ाते है

खेरवा में शोभाचन्द सेवग ने स्वामीजी से पूछा—"मैंने सुना है कि आप भगवान् को उत्थापते है ।"

स्वामीजी—"हमने तो भगवान् के वचनो पर ही घर छोडा है, अत उन्हें उत्थापने की वात यदि तुमने सुनी है तो वह सर्वथा गलत है ।"

सेवग—"नहीं, मेरा तात्पर्य है कि आप मन्दिर को उडाते है ।"

स्वामीजी—"मन्दिर में तो हजारों मन पत्थर लगते हैं । उसे उडाने का सामर्थ्य हमारे में तो नही है ।"

सेवग—"नही, आप भगवान् की प्रतिमा को पत्थर कहते है ।"

स्वामीजी—"हमें झूठ तो वोलना है नही, अत जो प्रतिमा जिस चीज की वनी होती है, उसे उसी चीज की कहते है । जैसे सोने की प्रतिमा को सोने की और चाँदी की प्रतिमा को चाँदी की कहते है, वैसे ही पत्थर की प्रतिमा को पत्थर की कहते है, किन्तु सवको नही ।"[2]

इन उत्तरों के द्वारा स्वामीजी ने उस सेवग को वह तत्त्व समझा दिया जो उसके लिए अन्य किसी प्रकार से समझ पाना कठिन था । उसी दिन से वह स्वामीजी का भक्त हो गया ।

६ : न्याय के विविध प्रकार

कभी-कभी स्वामीजी का न्याय इतना विचित्र और प्रभावशाली होता था कि झगडने वाले व्यक्ति स्वय ही लज्जित होकर झगडे से विरत हो जाया करते थे । स्वामीजी पारस्परिक मन-मुटाव व झगडों के पूर्णत विरोधी थे । अत जव किसी व्यक्ति को साधारण वातो पर झगडता देखते तो उन्हें वडा दु ख होता । अपने सघ के साधु-साध्वियों के लिए तो उन्होंने मर्यादा वनाते समय यहाँ तक लिख दिया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे चलने, वोलने तथा प्रतिलेखन करने आदि की दैनिक क्रियाओं में सच्ची तथा झूठी भी गलती निकाले तो तुम उसका प्रतिवाद मत करो । आगे के लिए उस विषय में अधिक सावधान रहने का ही विचार व्यक्त करो ।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३९

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९६

इसीलिए साधारण बातों को लेकर छद्मस्थता के कारण यदि साधु-जनों में कोई बात का विवाद हो जाता तो स्वामीजी का न्याय उन्हें आत्म चिन्तन की ओर प्रेरित करने वाला ही होता।

रस्सी से माप आओ

एक बार दो सन्तों में परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा— 'तुम गोचरी से आ रहे थे तब तुम्हारे पात्र में से इतनी दूर तक पानी के टपके गिर रहे थे।"

दूसरे ने कहा—"टपके तो गिरे थे पर तुम कहते हो उतनी दूर तक नहीं। उससे बहुत कम दूर तक गिरे थे।

दोनों ही स्वामीजी के पास पुकार लेकर आये। एक कहता था—इतनी दूर तक टपके गिरे थे। दूसरा कहता था—इतनी दूर से कम थे।

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा— 'टपके गिरे थे यह बात तुम दोनों ही कह रहे हो। तब फिर दूरी का क्या झगड़ा है? उसके विषय में तो दोनों का अपना-अपना अनुमान ही तो है।

इस पर भी जब वे अपनी-अपनी बात को ही सिद्ध करने पर तुले रहे तब स्वामीजी ने कहा—"तुम्हें अपने-अपने अनुमान की सच्चाई का इतना अधिक विश्वास है तब क्यों न इसकी परीक्षा कर ली जाए? तुम दोनों ही एक रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को माप आओ ताकि हमें भी पता रहे कि किस का अनुमान पूर्ण सत्य निकलता है।

रस्सी लेकर मापने की आज्ञा ने दोनों की व्यावहारिकता को जगा दिया। वे दोनों ही लज्जित हो गये। परस्पर क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने अपना विवाद वहीं समाप्त कर दिया[१]।

लोलुप कौन ?

लोलुपता के विषय में किन्हीं दो संतों के परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—"तुम लोलुप हो। दूसरे ने कहा— 'तुम लोलुप हो। आखिर उस विवादास्पद मसले को लेकर स्वामीजी के पास न्याय कराने के लिए आये।

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा— हर एक व्यक्ति को स्वाद पर विजय पानी चाहिए फिर भी जब तक छद्मस्थता है तब तक विभिन्न अवसरों पर हर किसी की लोलुपता उभर सकती है।

इतने पर भी उन दोनों का विवाद शांत नहीं हुआ और वे एक दूसरे को ही लोलुप सिद्ध करने का प्रयास करते रहे। तब स्वामीजी ने कहा—"तुम दोनों आचार्य की आज्ञा का आधार लेकर विगय का परित्याग कर दो। जो व्यक्ति पहले आज्ञा मांगेगा वही दूसरे की अपेक्षा अधिक लोलुप समझा जाएगा।

१—भिक्षु-दृष्टान्त ८, ११७

यह बात दोनो ने मान ली और आज्ञा का आगार रखकर विगय का परित्याग कर दिया। लगभग चार महीने तक विगय टालने के पश्चात् उनमें से एक ने आकर स्वामीजी से आज्ञा मागी। स्वामीजी ने उसे आज्ञा दी तब दूसरे को भी पूर्व-निर्णय के अनुसार आज्ञा हो गई। पहले आज्ञा मागने वाले ने अपेक्षाकृत अपनी अधिक लोलुपता को बिना किसी दबाव या कहे-सुने स्वत ही मान लिया।[1]

७ आचार-हीनता के विरोधी

विभिन्न देशो, विभिन्न जातियो और विभिन्न प्रकृतियो के व्यक्ति सयम ग्रहण करके एक सघ में रहते है, तब उनके एकत्व का माध्यम एक मात्र आगम-निर्दिष्ट आचार ही होता है। उनका पारस्परिक स्नेह-भाव भी मोह-भाव न होकर केवल आचार-ऐक्य का प्रतीक ही होता है। किसी एक भी आचार-हीन व्यक्ति को सघ में महत्त्व प्रदान करना, सारे सघ की प्रतिष्ठा को विनष्ट कर देना है। स्वामीजी इस विषय में अत्यन्त सावधान व्यक्ति थे। उनका कहना था :

कहो साधु किसका सगा जी, तटकै तोड़ै नेह।
आचारी स्यू हिलमिलै जी, अणाचारी सू छेह ॥[2]

वे शुद्ध आचार के ही पक्षपाती थे। आचार-हीनता को वे कभी सहन नहीं करते थे। उन्होंने अपने सघ के अनेक साधुओं तथा आर्याओ को इसीलिए पृथक् कर दिया था कि वे आचार में परिपूर्ण नही थे। उस समय उनके पास साधु-साध्वियों की सख्या बहुत कम थी, किन्तु उन्होने इसकी कोई परवाह नही की।

पाँच आर्याओ का सबध-विच्छेद

चडावल में फत्तूजी आदि पाँच आर्याओं को स्वामीजी ने कपडा दिया। उन्होंने जितनी आवश्यकता बतलाई थी उतना कपडा दे चुकने के पश्चात् स्वामीजी को सदेह हुआ कि कही उन्होंने कल्प से अधिक तो नही ले लिया। तत्काल अखैरामजी स्वामी को भेजकर साध्वियों से वह कपडा वापिस मगवाया और उसे मापा। पाँचो ही साध्वियों के पास वह कल्प से अधिक निकला। इस पर स्वामीजी ने उन्हें उपालभ तो दिया ही पर आगामी काल के लिए भी कल्प-विषयक अप्रतीति हो जाने से पाँचों को अपने सघ से पृथक् कर दिया।[3]

रात भर पीसा ढकनी मे उसेरा

आचार-हीन साधुओं और श्रावको के लिए स्वामीजी का कथन था कि जिस प्रकार आधी से बचाव किये बिना कोई घट्टी पीसने बैठे तो रात भर पीसने के पश्चात् भी उसके हाथ विशेष

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १६८
२—आचार की चोपई ११-४
३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १५४

आटा नहीं रुकता उसी प्रकार दोषों से बचाव किये बिना कोई भी साधु या श्रावक विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल 'रात भर पीसा चलनी में उसेरा' वाली कहावत ही चरितार्थ करता है।[1]

सब काला ही काला

आचार-हीन और सम्यक्त्व-हीन व्यक्तियों ने भी स्वामीजी पर यह दबाव डालना प्रारम्भ किया कि तुम हमारा समर्थन नहीं करके विरोध क्यों करते हो ? तुम्हें यदि हमारी कुछ बातें अच्छी नहीं लगतीं तो केवल उनको टाल दो।

स्वामीजी ने उदाहरण देते हुए कहा—"एक बार कुछ अन्धों ने मिलकर गोठ करने का विचार किया। उसके लिए अमावस की रात्रि का समय उपयुक्त समझा गया। कोयलों को पीसकर आटे की जगह काम में लिया गया। उसे काली हांडी में डालकर राब बनाई गई। बनाने वाले तो अंधे थे ही पर खाने और परोसने वाले भी सब अन्धे ही थे। जब सब अपनी अपनी थाली को सामने लेकर खाने बैठे तब मुखिया ने ललकारते हुए कहा—"सावधान! कोई काला-कचरा न आ जाए, सब कोई ध्यान रखकर उसे टालते रहना। अब बताओ उसमें से क्या टाले और क्या न टाले ? इसी प्रकार वहाँ न आचार विशुद्धि पर ध्यान दिया जाता है और न सम्यक्त्व-शुद्धि पर, वहाँ तो सब कुछ एक जैसा ही एकत्रित हो जाता है। उसमें से अब क्या टालें और क्या न टालें।"

तार निकालो

स्थानकवासी श्रावक अपने किसी साधु की गलती पर रुष्ट होकर स्वामीजी से कहने लगे— 'भीखणजी! तुम इस बात का तार निकालो।'

स्वामीजी ने कहा— जिन्हें बड़े-बड़े शहतीर भी दिखाई नहीं देते उन्हें तार क्या दिखाई देगा ? अभी तक तुम लोगों को आधाकर्मी स्थानक आदि बड़े दोष भी ध्यान में नहीं आ रहे हैं तो फिर दूसरे छोटे दोषों का क्या पता लग सकता है ?[2]

लड़का सगाई के लिए कब कहता है ?

स्वामीजी आधाकर्मी स्थानक का विरोध किया करते थे। जैनागमों के उद्धरण देकर वे उसे आचार-हीनता का प्रतीक बतलाया करते थे। एक बार किसी स्थानकवासी साधु ने स्वामीजी से कहा—'हम कब कहते हैं कि हमारे लिए स्थानक बनाओ।'

स्वामीजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा— जिस तरह लड़का स्वयं अपनी सगाई के लिए नहीं कहता किन्तु सगाई की जाती है तब प्रसन्न होता है। उसके बाद विवाह उसी का होता है पत्नी उसी के आती है और घर उसी का बसता है। उसी तरह स्थानक

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७५
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७३
३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७४

बनाने के लिए यदि कोई कहते नही, तो भी बनने के पश्चात् वे उसमें रहते हैं, उनका वह स्थानक कहलाता है। वे भी उसमें बसने के कारण 'स्थानकवासी' कहलाते हैं।"[1]

जमाई हलुआ बनाने को कब कहता है ?

एक बार उपर्युक्त कथन का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने यह उदाहरण भी दिया था— "जमाई ससुराल जाता है, तब वहाँ यह नही कहता कि मेरे लिए हलुआ बनाओ। परन्तु जब हलुआ बनाया जाता है तो वह उसे बडी प्रसन्नता से खा लेता है। इसीलिए ससुराल वाले आवश्यकता होने पर फिर उसके लिए हलुआ बनाते हैं। यदि वह उसका परित्याग कर देता है तो उसके लिए हलुआ बनाना बन्द कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई साधु स्थानक बनाने के पश्चात् उसमें रहने लगते है तो उनके लिए आगे से आगे स्थानक बनते रहते हैं। परन्तु यदि वे स्थानक मे रहना त्याग दें तो फिर स्थानक बनने भी स्वतः ही बन्द हो जाएँ।"[2]

८ : आचार-निष्ठ व्यक्तित्व

स्वामीजी एक परिपूर्ण आचार-निष्ठ व्यक्ति थे। इसीलिए वे आजीवन आचार की शिथिलता के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाकर जूझते रहे। वे जानते थे कि ऐसा करने पर वे लोग उनके विरुद्ध हो जायेंगे जो कि आचार-पालन में ढिलाई रखते हैं। वे यह भी जानते थे कि कुछ लोग चिढकर अपने सुधार की अपेक्षा उनको कोसने में ही तत्पर हो जायेंगे तथा उनकी हर छोटी-से-छोटी क्रिया का ध्यान रखकर उसमें गलती खोजने का प्रयास करेंगे। परन्तु उन्हें उन बातों का कोई भय नही था। वे स्वय में परिपूर्ण एव जागरूक थे।

दूसरे की आलोचना करने वाला या गलती बतलाने वाला यदि स्वय अपनी सावधानी नहीं रखता हो तो उसके कथन का दूसरों पर कोई प्रभाव नही पड सकता। स्वामीजी इतने सावधान रहते थे कि जहाँ थोडी-सी भी शंका पड़ने का स्थान होता वहाँ वे आवश्यक होने पर भी उस काम को नही करते। इसीलिए वे दूसरो को बेधडक सावधान किया करते थे और दूसरे उनमें कही अगुली रखने को भी स्थान नही पाते थे।

व्यक्तिगत कपड़ा भी नही लेंगे ?

रीवा के सेठ हरजीमलजी एक धनाढ्य व्यक्ति थे। विभिन्न सम्प्रदाय के साधुओ को उन्होने अनेक बार कपडे का दान दिया था। एक बार स्वामीजी को भी उन्होंने कपडे की प्रार्थना की।

स्वामीजी ने कहा—"तुम सन्तो के लिए कपडा मोल लेते हो, अतः हमें वह नही कलपता।"

सेठ—"दूसरे सन्त तो ले लेते हैं। इसमें क्या कोई दोष लगता है ?"

स्वामीजी—"यह तो उन लेने वालों से ही पूछना।"

सेठ—"तो आप मेरे काम के कपडे में से कुछ ले लें।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ६३
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ६४

स्वामीजी — 'हाँ यह हमें कल्पता है किन्तु हम उसमें से भी नहीं लेंगे क्योंकि लोग तो यही समझेंगे कि तुम्हारे यहाँ से दूसरे साधु भी कपड़ा ले गये थे और भीखणजी भी ले गये। यह तार कौन निकालेगा कि भीखणजी उनके व्यक्तिगत कपड़े में से ले गये जो कि साधुओं के लिए खरीदा नहीं गया था।"[1]

पात्र खोलकर दिखलाओ

एक बार स्वामीजी किशनगढ़ में पांवियों के वास में गोचरी पधारे। वहाँ एक घर में मुकला (मृत्युभोज) था। अन्य सम्प्रदाय के साधु ऐसे अवसरों पर उस घर में गोचरी जाया करते थे। परन्तु स्वामीजी उसका निषेध किया करते थे।

अन्य सम्प्रदाय के एक साधु ने अनुमान लगाया कि भीखणजी उस वास में गये हैं तो अवश्य ही मुकले वाले घर में गये होंगे। उन्हें रंगे हाथों पकड़ने का अच्छा अवसर समझकर कुछ भाइयों के साथ वह साधु उस मुहल्ले की ओर आया। स्वामीजी गोचरी करने के पश्चात् वापिस आ रहे थे। उस मुहल्ले के नुक्कड़ पर ही वे उन्हें मिल गये।

उस साधु ने अपने अनुमान को सत्य मानकर व्यंग करते हुए कहा— 'भीखणजी! तुम तो विरागी कहलाते हो फिर इस मिठाई पर मन कैसे ललचा गया?

स्वामीजी उनकी मानसिक भावना को भट ताड़ गये अतः इस घटना से भी लाभ उठाने का सोचकर बोले—"क्यों गोचरी में मिठाई ले आना भी कोई दोष है क्या?"

उस साधु को अपने अनुमान की सचाई पर अब तो और भी अधिक विश्वास हो गया अतः लोगों को इकट्ठा करने की भावना से जोर-जोर से बोलते हुए कहा—तुम चाहे जो कुछ कर लो उसमें कभी कोई दोष थोड़ा ही होता है? दोष तो हम करते हैं तब होता है। किन्तु जब तुम जीमणवार में गोचरी जाने का निषेध करते हो तो कम-से-कम स्वयं तो उसे पालते। सम्भवतः मिठाई के लालच ने ही तुम से यह गलती करा दी है।"

इतनी देर में तो लोग काफी एकत्रित हो गये थे। स्वामीजी ने अवसर देखकर स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"मैं तो मुकले वाले घर नहीं गया।

वे अब इतने लोगों में लज्जित होकर मुकर रहे हैं अतः पोल पूरी ही खोल देनी चाहिए, यह सोचकर उस साधु ने कहा— 'यदि तुम सत्य कहते हो तो अपने पात्र खोलकर दिखलाओ।

स्वामीजी ने झोली को और दृढ़ता से पकड़ते हुए कहा— मैं जब कह ही रहा हूँ तो फिर पात्र दिखलाने की क्या आवश्यकता है?"

इस वचन में स्वामीजी की कमजोरी का अनुमान लगाते हुए वह साधु तथा उसके सहवर्ती भाई और भी अधिक जोर डालते हुए बोले—"सच्चों" को भय नहीं होता भय तो झूठ को होता है अतः तुम सच्चे हो तो पात्र क्यों नहीं दिखलाते? पात्र न दिखलाने का कारण यही हो सकता है कि तुम्हें पात्र खुलते ही पोल खुल जाने का भय है।

1—भिक्षु-दृष्टान्त २५

स्वामीजी ने पात्र खोलने में जितना विलम्ब किया, उतना ही अधिक उनका आग्रह बढता गया और लोग भी उस विवाद का निष्कर्ष देखने को एकत्रित होते गये। जब स्वामीजी ने देखा कि उनका आग्रह अब चरम सीमा को छूनेवाला है तो उन्होने अपने पात्र खोलकर दिखला दिये। उनमें मिठाई नाम मात्र भी नही थी। तब आग्रह करने वाले स्वय तो लज्जित हुए ही पर वहाँ एकत्रित जनता ने भी उनका स्वरूप पहचान लिया।[1]

बतलाना नही कल्पता

रीया और पींपाड के मार्ग में एक स्थानकवासी साधु स्वामीजी से मिलने आये। उन्होने स्वामीजी को एकान्त में ले जाकर कुछ देर बात की और वापिस चले गये। स्वामीजी ने उस घटना की कोई बात नहीं चलाई तो उत्सुकता-वश हेमराजजी स्वामी ने पूछ लिया—"वे क्या कह रहे थे ?"

स्वामीजी ने कहा—"किसी बात की 'आलोयणा' करने आये थे।"

हेमराजजी स्वामीने जिज्ञासा से फिर पूछा —"किस बात की आलोयणा ?"

अपने कल्प-अकल्प के विषय में पूर्ण-सावधान स्वामीजी ने तत्काल कहा—"यह बतलाना नहीं कल्पता।"

हेमराजजी स्वामी का ध्यान तब गया कि उनका दूसरा प्रश्न आवश्यक नही था।[2]

हाथ कहाँ धोयेगी ?

एक बहिन जब-जब आती तब-तब स्वामीजी से गोचरी की प्रार्थना किया करती थी। एक दिन स्वामीजी उसके घर पधार गये तो वह अत्यत प्रसन्न हुई। आहार देने लगी तो स्वामीजी ने उससे पूछा—"बहिन! आहार देने के पश्चात् सम्भवत तुझे हाथ धोने पडें तो सचित्त पानी से धोएगी या उष्ण पानी से ?"

वह बोली—"उष्ण पानी से।"

स्वामीजी—"कहाँ धोएगी ?"

नाली की ओर सकेत करते हुए उसने कहा—"यहाँ धोऊँगी।"

स्वामीजी —"इस नाली से पानी नीचे गिरता है अत वायुकाय की अयत्ना होती है। ऐसी स्थिति में मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता।"

बहिन—"आप तो अपना आहार शुद्ध देखकर ले लें, पीछे से हम गृहस्थ क्या करते हैं, इसका आपको क्या करना है ? हम ससार में रहते हैं तो अपनी पद्धति से ही काम करते हैं। उसे छोडना भी तो ठीक नही है।"

स्वामीजी—"परन्तु रोटी के लिए मैं अपनी निरवद्य क्रिया को कैसे छोड दू, जब कि तू

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २८

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ५७

सावद्य क्रिया छोड़ने को भी तैयार नहीं है। ऐसा आहार लेने से मुझे 'पश्चात् कर्म' का दोष लगता है यों कहकर वे वहाँ से आहार बिना लिए ही वापिस आ गये।"[1]

६ सत्य भक्त

स्वामीजी का सारा जीवन सत्य की आराधना के लिए ही समर्पित था। 'सच्चाई भिजाई सच्चे पइट्ठियाई' अर्थात् 'सारा ज्ञान सत्य में ही प्रतिष्ठित है'—इस आगमवाणी को उन्होंने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। उन्हें अपनी बात का कोई आग्रह नहीं था केवल सत्य की खोज थी। इस खोज में उन्हें जो तत्त्व भासित हुआ उसीका उन्होंने प्रचार और प्रसार किया फिर भी अपने मस्तिष्क का द्वार उन्होंने कभी बन्द नहीं होने दिया। आचार की सचाई के प्रति भी उनका उतना ही दृढ़ विश्वास था जितना कि सत्य विचारों के प्रति।

पछेवड़ी बड़ी नहीं निकली

पाली में एक भाई ने हेमराजजी स्वामी से कहा—"आपकी पछेवड़ी कल्प से बड़ी लगती है।

हेमराजजी स्वामी ने उससे कहा—"स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से माप कर दी है अत बड़ी कैसे हो सकती है?"

इस पर भी उस भाई का सन्देह बना रहा। वह बड़ी होने की आशंका कर रहा था और हेमराजजी स्वामी उसका निराकरण। स्वामीजी कुछ देर तो उनकी बातें सुनते रहे पर जब उस भाई का सन्देह निवृत्त होता नहीं देखा तो हेमराजजी स्वामी को अपने पास बुलाकर पछेवड़ी उतरवा ली और उसके सामने माप कर दिखलाई। वह बराबर निकली तब भाई ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा—'मुझे यूँ ही भ्रम हो गया था।'

स्वामीजी ने कहा—'यह तो पछेवड़ी की बात माप कर बता दी किन्तु तुम्हें तो यह भ्रम भी हो सकता है कि प्यास लगने पर हम मार्ग में नदी आदि का सचित्त पानी भी पी लेते होंगे। साधुता हम अपनी ही आत्मा की सच्चाई से पाल सकते हैं। चार अंगुल कपड़े के लिए यदि हम अपनी सच्चाई को गवा देंगे तो वह अन्यत्र भी हमारे जीवन में कहीं टिकाऊ नहीं हो सकेगी।[2]

बात सत्य है या असत्य ?

स्वामीजी ने अनुकम्पा विषयक अपने विचार व्यक्त करते हुए यह पद्य बनाया

ए लेखा हूँ [illegible] में पी [illegible] ई धर्म।
[illegible] कुगुरु [illegible] भी [illegible] धर्म ॥[3]

भारमलजी स्वामी ने इसे देखकर कहा— [illegible] लोगों में [illegible] [illegible] है [illegible] कोई अच्छा रहे।

१—भिक्षु दृष्टान्त [illegible] ३१
२—भिक्षु दृष्टान्त [illegible]
३—अनुकम्पा की चौपई [illegible]

स्वामीजी—"लोगो में ऊहापोह उत्पन्न करने वाला चाहे हो, पर बात सत्य है या असत्य ?"

भारमलजी स्वामी—"बात तो बिलकुल सत्य है ।"

स्वामीजी—"तो फिर लोगो का क्या भय ? न्याय-मार्ग पर चलनेवाले को इस भय की कोई परवाह नही करनी चाहिए ।"[1]

उस दिन दिगम्बर बन जायेंगे

एक बार सरावगियों ने स्वामीजी से कहा—"आपकी क्रिया आदि तो बहुत ही उच्चकोटि की है, पर यह एक कमी है कि आप वस्त्र रखते है ।"

स्वामीजी ने कहा—"हमने श्वेताम्बर-आगमो के आधार पर सयम ग्रहण किया है। उनमें साधु के लिए निर्दिष्ट प्रमाण-युक्त वस्त्र रखने का विधान है। उन आगमों पर हमारा विश्वास है, इसीलिए हम वस्त्र रखते हैं। दिगम्बर-आगमो पर जिस दिन उतना विश्वास हो जाएगा, उस दिन वस्त्र छोड देने में हमें कोई हिचकिचाहट नही होगी ।"[2]

१० • असत्य के विरोधी

सत्य को पालने में वे जितनी शीघ्रता रखते थे, उतनी ही शीघ्रता असत्य का उघाड कर देने में भी रखते थे। असत्य के वे पूर्णत. विरोधी थे, वे उससे इतनी घृणा करते थे कि जहाँ थोडा-सा भी असत्य मालूम होता, वे उसकी पोल खोलकर ही दम लेते। यह स्वभाव उनका प्रारम्भ से ही था।

गुड़ कौन लाया ?

एक बार जब वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे तब एक दिन किसी दरजी के घर गोचरी गये। वह भाई साधुओं के पास आया-जाया करता था। अत कल्प-अकल्प के विषय में उसे जानकारी थी। वह बोला—"कल आपका एक शिष्य गुड ले गया था अत आज मेरे यहाँ की गोचरी का कल्प नहीं है ।"

स्वामीजी ने स्थान पर जाकर सन्तों से पूछा कि कल उसका गुड कौन लाया था ? पर किसीने भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वह बात पूछी तो साधारण रूप से ही थी, पर जब कोई भी नही बोला तब उन्हें यह सोचकर बहुत बुरा लगा कि इतनी-सी बात को भी सत्य कहने का जिसमें साहस नही है वह साधुता का पालन कैसे कर सकता है ?

उन्होने उस भूठ को प्रकट कर देने के लिए सोचा और सन्ध्या को स्थडिल-भूमि जाते समय सबके साथ दरजी के घर चले गये। उन्होंने गुड ले जाने वाले सन्त को पहचानने के

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७८

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३१

लिए कहा तो दरजी ने एक साधु की ओर इसारा करके बतला दिया कि ये सन्त के मन थे। सबने उसे समझ लिया।[1]

कयरे मग्ग मक्खाया ?

एक पंडित को अपने संस्कृत-ज्ञान का बड़ा घमंड था। उसने स्वामीजी से कहा— 'संस्कृत पढ़े बिना प्राकृत भाषा के आगमों का अर्थ नहीं किया जा सकता।"

स्वामीजी ने कहा— प्राकृत भाषा का अभ्यास होने पर संस्कृत पढ़े बिना भी उसका अर्थ किया जा सकता है अन्यथा संस्कृत पढ़ लेने पर भी नहीं किया जा सकता।

पंडित इस बात को मानने के लिए कतई तैयार नहीं हुआ तो स्वामीजी ने उसके झूठे घमंड को तोड़ने के लिए पूछा —"पंडितजी ! तुम तो व्याकरण के अच्छे ज्ञाता हो तो क्या आगमों का अर्थ कर सकते हो ?

पंडित ने गर्वभरी वाणी में कहा— 'मजे से कर सकता हूं आशंका हो तो पूछ कर देख लो।

स्वामीजी ने तब पूछा— 'कयरे मग्ग मक्खाया'—शास्त्र के इस वाक्य का क्या अर्थ है ?"

पण्डित ने थोड़ी देर सोचने के पश्चात् कहा— यह तो कोई कठिन बात नहीं पूछी गई है। इसका अर्थ तो सीधा ही है कि कैर और मूंग साबत नहीं खाने चाहिए।"

स्वामीजी ने कहा— 'इसका अर्थ तो यह है—'तीर्थकरों ने मोक्ष-मार्ग कौन-कौन से कहे हैं ? तब पण्डित के झूठे घमंड का पर्दाफाश हो गया।

जीवित हो !

स्वामीजी रात्रि के समय व्याख्यान दे रहे थे। सामने काफी संख्या में लोग बैठे हुए थे। पास में खेतसीजी बैठे हुए नींद लेने लगे। स्वामीजी ने उन्हें टोकते हुए कहा— 'खेतसीजी ! नींद ले रहे हो ?

किसी सभा आदि में नींद लेते समय टोके जाने वालों के मुंह से प्रायः जो उत्तर अचानक निकल जाया करता है ठीक उसे ही दुहराते हुए खेतसीजी ने कहा— 'नहीं महाराज !

थोड़ी देर पश्चात् वे फिर नींद लेने लगे तो स्वामीजी ने फिर टोका। उन्होंने फिर वही बंधा हुआ उत्तर देते हुए कहा—"नहीं महाराज !

यों जितनी बार उन्हें टोका गया उन्होंने हर बार यही उत्तर दिया। आखिर स्वामीजी ने उनके इस असत्य का उपाय करने के लिए उसी लहजे में पूछा—"खेतसीजी ! जीवित हो ?

उन्होंने झट से कहा— 'नहीं महाराज !

उपस्थित लोग उनका उत्तर सुनकर हंस पड़े तब वे सावधान हुए।[2]

१—भिक्षु-दृष्टान्त १ १९९
२—भिक्षु-दृष्टान्त २ २१८
३—भिक्षु-दृष्टान्त ४ ४८

११ : गहरे व्यंग

स्वामीजी जहाँ उदाहरणो तथा दृष्टान्तों आदि से अपनी बात समझाते थे, वहाँ कभी-कभी उनकी बात में गहरा व्यग भी हुआ करता था। अपने छोटे से व्यग में वे इतना कुछ कह जाते थे कि फिर और कुछ कह सकने को स्थान ही नही रह पाता था। अपनी बात को व्यग की भाषा में वे प्राय तभी कहते जब कि उन्हें किसी की कटु भाषा का उत्तर मधुरता से देना होता, परन्तु उनकी वह मधुरता इतनी पैनी होती कि उससे कटुता स्वय कट कर रह जाती। कभी-कभी उनकी व्यग-भाषा तब स्फुटित होती थी, जब कि सक्षेप में ही किसी का मुह बद करना होता। किसी का झूठा विश्वास या गलत स्वभाव छुडाने में तथा वास्तविकता को भापने के लिए भी वे व्यग का प्रयोग कर लिया करते थे।

दोनो सच्चे लगते हैं

स्वामीजी के समय में स्थानकवासी सप्रदाय में अनेक 'टोले' थे। 'बाईस टोले' तो पहले से ही थे। उस समय सभवतः वह सख्या और भी बढी हुई थी। उसमें परस्पर यहाँ तक विरोध चलता था कि वे एक दूसरे को साधु नहीं मानते थे। एक टोले का साधु दूसरे टोले में आता तो उसे नई दीक्षा दी जाती थी। इसी बात को लेकर किसी ने स्वामीजी से कहा—"अमुक-अमुक टोले वाले परस्पर एक दूसरे को 'झूठा' कह रहे थे।"

स्वामीजी ने अत्यन्त सक्षेप में कहा—"कथन की दृष्टि से तो दोनों ही सच्चे लगते हैं।"[१]

यह कला किससे सीखी ?

स्वामीजी एक बार अमरसिंहजी के स्थानक में पधारे। वहाँ दरवाजे के एकदम पास ही 'खेजडा' उगा हुआ देखकर स्वामीजी ने मुनि अमरसिंहजी से पूछा—"रात को परिष्ठापन आदि के लिए जाते समय इसकी दया कैसे पलती होगी ?"

पास में ही खडे उनके एक शिष्य ने मुह बनाकर स्वामीजी की नकल उतारते हुए उसी वाक्य को फिर से दुहराया तो स्वामीजी ने उसके ठहरते ही पूछा—"इस कला का अध्ययन तुमने स्वय ही किया या गुरु ने करवाया ?"

उसके गुरु अमरसिंहजी कटकर रह गये। शिष्य को वहाँ से चले जाने का कहते हुए उन्होंने स्वामीजी से कहा—"यह तो मूर्ख है, इसकी कही हुई बात मन में मत रखना।"[२]

दुःखी की रात

पीपाड में रात्रिकालीन व्याख्यान में जनता बहुत आती थी। विरोधी व्यक्ति उसका और कोई उपाय नहीं कर सके तो व्याख्यान में आ बैठते और बीच-बीच में टोक-टोक कर कहा करते—"समय बहुत हो गया है, रात सवा-पहर, डेढ-पहर आ गई है।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ७६

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ०

स्वामीजी ने कई बार तो सुना अंत में उन्हें पत्र होते नहीं देखा तो कहा—"हाँ मैं जानता हूँ कि दुःखी आदमी को रात बड़ी ही मालूम हुआ करती है।"[1]

निःशंक ही अशुद्ध था

स्वामीजी जब स्थानकवासियों में थे तब एक दिन रुघनाथजी के साथ गोचरी गये। एक भाई चरखा ओट रहा था। रुघनाथजी ने उसके हाथ से आहार लिया। बाहर आने पर उन्होंने स्वामीजी से पूछा— 'भीखणजी ! कोई शंका तो नहीं है ?

स्वामीजी ने अपने स्वभावानुसार बेधड़क कहा— 'नहीं इसमें शंका की कोई बात ही नहीं। यह तो निःशंक ही अशुद्ध था।'[2]

रुपयों के श्रावक

पाली में बहुत सारे व्यक्ति तेरापंथी बने तब विरोधियों ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि विजयचंदजी पटवा रुपये दे-देकर लोगों को तेरापंथी बना रहे हैं।

स्वामीजी ने जब यह बात सुनी तो कहा—"जब रुपयों के लिए तुम्हारे श्रावक तेरापंथी बन जाते हैं तो उन्होंने तुम्हारे मार्ग को क्या समझा ? यदि वे सब रुपये लेकर ही समझे हैं तो किसी के अवशिष्ट रहने की आशा भी तुम्हें नहीं करनी चाहिए।"[3]

खोटा काम

पीपाड़ में स्थानकवासी साधु जीवणजी ने स्वामीजी से कहा—"साधु का भोजन करना भी अव्रत में है अतः यह एक खोटा काम ही है।'

स्वामीजी साधु के भोजन को अव्रत में नहीं मानते थे क्योंकि वह रस-लोलुपता या केवल शरीर-पोषण के लिए न होकर संयम-पोषण के लिए होता है। जीवणजी बाहर प्रायः स्वामीजी को मिल जाया करते थे तब स्वामीजी उन्हें प्रायः पूछ लिया करते थे— 'क्यों जीवणजी ! खोटा काम कर आये या जाकर करोगे ?

हमेशा यों पूछने पर उन्हें उत्तर देना भारी हो गया और आखिर एक दिन कहने लगे— "भीखणजी ! साधु का आहार खोटा काम न होकर अच्छा काम ही है।[4]

दिये हुए 'काम'

पीपाड़ के एक भाई ने स्वामीजी के पास गुरु-धारणा की। उसके घर वालों को जब यह पता लगा तो वे नाना तरह-तरह से उसे तंग करने लगे और धमकियाँ देने लगे। उनका कहना था कि यदि हमारे साथ घर में रहना है तो भीखणजी के पास की गई गुरु-धारणा उन्हें वापिस दे आओ।

१—भिक्षु-दृष्टान्त १८
२—भिक्षु-दृष्टान्त ७८
३—भिक्षु-दृष्टान्त ११४
४—भिक्षु-दृष्टान्त ३

वह भाई तग आकर स्वामीजी के पास आया और कहने लगा—"स्वामीजी ! मेरे परिवार वाले मुझे बडी तकलीफ देते है, अत आप गुरु-धारणा वापिस ले लें ।"

स्वामीजी ने कहा—"तू ही बता, क्या भला दिये हुए 'डाम' (रोग-विशेष को ठीक करने के लिए शरीर के अवयव-विशेष को गरम की हुई लोह-शलाका से दागा जाता है, उसे 'डाम' कहते है) वापिस लिये जा सकते हैं ?"[1]

मोटे पुरुष अब भी खाते हैं

अपने आपको विरागी और तपस्वी मानने वाले अन्य सम्प्रदाय के एक साधु ने स्वामीजी से कहा—"साधु को लड्डू आदि मिठाई खानी नही कल्पती । उन्हें घी, दूध आदि पदार्थ भी खाने नही कल्पते । उन्हें कौन से बच्चे पैदा करने हैं जो ऐसी वस्तुएँ खाएँ ।"

स्वामीजी बोले—"देवकी के पुत्रो ने मोदक (लड्डू) लिए थे—ऐसा आगमो में वर्णन आता है तब तुम कैसे कहते हो कि साधु को लड्डू खाना नही कल्पता ।"

वह साधु—"वे तो मोटे पुरुष थे । उनकी क्या तुलना हो सकती है ?"

स्वामीजी—"जो मोटे पुरुष हैं वे अब भी खाते हैं ।"[2]

मेरणियाँ और दीक्षा

कटालिया के एक भाई ने स्वामीजी से कहा—"मेरे दीक्षा के भाव तो हैं किन्तु माता के प्रति मोह होने के कारण, जब तक वे जीवित हैं, तब तक तो दीक्षा ली नहीं जा सकेगी ।"

कुछ वर्षो पश्चात् जब उसकी माता गुजर गई तब स्वामीजी ने उससे पूछा—"दीक्षा के लिए तेरी भावना थी न ? अब तो तेरी माता भी गुजर चुकी है । फिर देरी किस लिए करता है?"

वह भाई बोला—"स्वामीजी ! माँ तो गुजर गई पर अब तो एक और अडचन लग गई है । मैं मगरे के ग्रामों में व्यापार किया करता हूँ । वहाँ 'मेर' बसते हैं । मेरा मोह कुछ मेरणियो से हो गया है । सोचता हूँ कुछ ठहर कर ही दीक्षा लूँ ।"

स्वामीजी उसकी कमजोरी को लक्ष्य करके बोले—"माता तो एक ही थी, पर ये मेरणियाँ तो बहुत है । कब वे मरेंगी और कब तुझे दीक्षा आयेगी ?"[3]

नगजी का तत्त्व-ज्ञान

केलवा के नगजी नामक भाई अचक्षु थे । बुद्धि भी बहुत कम थी । वीरभाणजी वहाँ रहकर आये तब स्वामीजी से बोले—"नगजी को हमने सम्यक्त्वी बना दिया है ।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ११९

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ७५

भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ८३

स्वामीजी ने कहा— 'उसकी तो ऐसी बुद्धि ही नहीं थी। तुमने उसको क्या तत्त्व-ज्ञान सिखाया ?

वीरभाणजी— 'ओलखणा चोरी भवि जीवां' यह ढाल और 'नंदन मणियारे' का व्याख्यान।

कुछ समय पश्चात् स्वामीजी जब केलवा पधारे तब मगजी भी दर्शन करने आये। स्वामीजी ने उससे पूछा—"मगजी ! तुमने जो 'नंदन मणियारे' का व्याख्यान सीखा है, उसमें 'मणियां' सोने का है अथवा लकड़ी या लाख का ?"

मगजी—"स्वामीजी ! यह तो आगमों में आया है अतः सोने का ही 'मणिया' होगा लकड़ी या लाख का तो क्या होगा ?

स्वामीजी ने फिर पूछा— 'ओलखणा' की ढाल में आया है—'साजणियां मैं बड़जो बाल्यो' यहाँ ये 'बणियां' (बनजी) कौन-सी हैं ? माड़ी—कुहारों वाली छोटी हैं अथवा स्वामीय म्हारो वाली बड़ी ?"

मगजी— 'आगमों में आई हैं अतः छोटी कैसे हो सकती है ये तो बड़ी ही हैं।'

: ७

जीवन का सन्ध्याकाल

सक्रिय जीवन

स्वामीजी का सारा जीवन एक सक्रिय व्यक्ति का जीवन था। विश्राम की न उन्हें कभी आवश्यकता महसूस हुई और न कभी उन्होंने उसे महत्त्व ही दिया। जीवन के संध्याकाल में भी पूर्ववत् युवकोचित साहस और सामर्थ्य से कार्य करते रहे। वृद्धावस्था उनकी कार्य क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। जनपद विहार धर्म प्रचार, आगमिक चर्चाएं शिष्यों को प्रशिक्षण देना आदि दैनिक कार्यों में उनकी दिन-चर्या अत्यन्त व्यस्त रहा करती थी।

दो पुस्तकों का भार

अपना कार्य प्रायः वे स्वयं अपने ही हाथों से किया करते थे। गोचरी के लिए प्रायः स्वयं जाया करते थे। विहार में अपनी निश्राय के भंडोपकरण तो वे अपने पास रखते ही थे परन्तु उसके अतिरिक्त दो पुस्तकों का भार भी वे अपने पास रखते थे। पुस्तकों का वह लगभग पाँच सेर भार शिष्यों के अनेक बार आग्रह करने पर भी उन्होंने सं० १८५१ तक नहीं छोड़ा। उसके पश्चात् जब हेमराजजी स्वामी की दीक्षा हुई तब बहुत आग्रह के बाद ही उन्होंने वह 'भोगला' हेमराजजी स्वामी को दिया था।

१—भिक्षु-दृष्टान्त ८ २१

खडे होकर प्रतिक्रमण

प्रात और सायकाल में वे प्रतिक्रमण भी खडे होकर किया करते थे। वे इस वात का पूरा ध्यान रखा करते थे कि हर अनुयायी अपने नेता का ही अनुकरण करता है। यदि नेता अपनी चर्या में थोडी-सी भी ढील करता है तो अनुयायी उस ढील को और भी वडे पैमाने पर करने लगते है। यदि नेता अधिक कठिनता से काम लेता है तो अनुयायी कम-से-कम एक मध्यम सीमा तक की कठिनाई को तो स्वीकार कर ही लेते हैं।

एक वार किसी ने स्वामीजी से कहा—"इस वृद्धावस्था मे आप खडे-खडे प्रतिक्रमण क्यो करते हैं, वैठकर ही क्यो न कर लिया करते ?"

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा —"मैं जो वैठकर प्रतिक्रमण करूँगा तो मेरे पीछे वाले शायद सोकर करेंगे। मै यदि खडा-खडा करूँगा तो वे लोग कम से कम वैठकर तो अवश्य ही करेंगे।"[1]

सोया ही कौन था ?

उनके जीवन की सक्रियता का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यह कहा जा सकता है—एक वार पाली में रात्रिकालीन व्याख्यान देने के पश्चात् वे दो भाइयो से धर्म-चर्चा करने वैठे। चर्चा आगे से आगे वढती ही गई। रात्रि उसका साथ कहाँ तक दे पाती ? वह क्रमश घटती गई। यों प्रातःकालीन प्रतिक्रमण की वेला आ गई। वे भाई भी वडे तत्त्व-जिज्ञासु थे कि रात्रि का इतना लम्वा समय उन्हें कुछ मालूम नही दिया। वे दोनो स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को समझे और खडे होकर गुरु धारणा कर ली।

स्वामीजी ने उसके पश्चात् सन्तो को जगाते हुए कहा—"उठो, प्रतिक्रमण का समय हो गया है।" सन्त उठे और स्वामीजी से पूछने लगे कि आपको जागे कितनी देर हुई ?

स्वामीजी ने कहा—"सोया ही कौन था ? जागने का समय तो तव ही वतलाया जाए जव कोई सोया हो।"[2]

इस प्रकार उपकार के निमित्त सारी रात जगाने मे भी वे किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करते थे। पूर्वावस्था के इस प्रकार के जीवन ने वृद्धावस्था में भी उन्हें सक्रिय वनाये रखा था।

सिरियारी चातुर्मास

स्वामीजी ने संवत् १८५९ में पाली चातुर्मास किया था। उसकी पूर्ति पर वहाँ से चाणोद और पीपाड के मध्यवर्ती गामो को पवित्र करते हुए सोजत पधारे। वहाँ वाजार के वीच मे छत्रियाँ हैं, उनमें विराजे। सन्त-सतियों ने भी भिन्न-भिन्न स्थानो से विहार कर सोजत में स्वामीजी के दर्शन किये और आगामी चातुर्मास के स्थानो का निर्देशन प्राप्त किया। वहाँ

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २१२

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ५३

सिरियारी से आये हुए श्रावक हुकमचंदजी आछा ने स्वामीजी को सिरियारी चातुर्मास करने की प्रार्थना की। साथ ही बाजार में अपनी पक्की दुकान में विराजने की भी प्रार्थना की। स्वामीजी ने उनके आग्रह पर वहाँ का चातुर्मास स्वीकार कर लिया। सोजत से कंटालिया तथा बगड़ी होते हुए सिरियारी चातुर्मास करने के लिए पधारे और पूर्वोक्त पक्की हाट में विराजे।

उस चातुर्मास में स्वामीजी की सेवामें—(१) भारमलजी (२) खेतसीजी (३) उदयरामजी (४) ऋषि रायचन्दजी (५) जीवोजी और (६) भगजी—ये छह संत थे। स्वामीजी सहित यह सप्तर्षि-मंडल सिरियारी के भाग्य-आकाश में एक अनुपम ज्योति लिए हुए आया। स्थानीय श्रावकों में अत्यन्त उल्लास और हर्ष की एक लहर-सी दौड़ गई।

जयाचार्य के कथनानुसार सिरियारी उस समय मारवाड़ का एक अच्छा शहर गिना जाता था। जैन श्रावकों के भी वहाँ काफी संख्या में घर थे। शहर के अंचल से बिलकुल सटी हुई पर्वत-श्रेणी परकोटे की तरह उसकी सुरक्षा करती है। उस समय की मारवाड़ रियासत के किनारे पर का यह शहर काफी समृद्ध और सुन्दर शहरों की संख्या में आने वाला था। वहाँ के भूमिपति (ठाकुर) दौलतसिंह कूंपावत थे जो कि राठौड़ सरदारों में काफी प्रभावशाली गिने जाते थे।

यद्यपि इस समय सिरियारी में ओसवालों के बहुत थोड़े घर रह गये हैं। प्रायः बहुत से परिवार व्यापारार्थ दक्षिण भारत में जा बसे हैं। कुछ परिवार ऐसे भी हैं जो यदा कदा मारवाड़ में आते हैं और अपने पुराने घरों का निरीक्षण कर जाते हैं। परन्तु उस समय वहाँ ओसवालों के नौ-सौ-इक्यासी घर थे उनमें से सात-सौ इक्यासी घर तो तेरापन्थी और शेष दो सौ घर अन्य सम्प्रदायों की मान्यता वाले थे।[1]

अन्तिम चातुर्मास

सं० १८६० का यह चातुर्मास स्वामीजी का अन्तिम चातुर्मास था। उस समय स्वामीजी की अवस्था सतहत्तर वर्ष की हो चुकी थी फिर भी उनके शरीर में कोई रोग नहीं था। पाँचों ही इन्द्रियाँ पूर्ण बलवान् और कार्य-क्षम थीं। उनकी चाल भी बड़ी तेज थी। उपयोग तीव्र और निर्मल था। शारीरिक शक्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इस अन्तिम चातुर्मास में भाद्रवी पूर्णिमा तक तो वे रोज स्वयं गोचरी पधारा करते थे और शिष्यों को आवश्यक-सूत्र का अर्थ नित्य नियमित समझाया करते थे।

१—उपयुक्त जानकारी वहाँ के वर्तमान निवासियों द्वारा प्राप्त हुई है। इस समय सिरियारी में कस्बे में तीस घर तेरापंथी हैं। उनमें भी दस घर प्रायः ऐसे हैं जो व्यापारार्थ बाहर गए हुए हैं। अन्य संप्रदाय के घर भी बहुत कम हैं।

दस्तो की बीमारी

श्रावण महीने के पश्चात् स्वामीजी के शरीर में साधारण दस्तो की शिकायत रहने लगी। औषध-सेवन से भी रोग में कोई लाभ नही हुआ। सामने पर्युषण-पर्व के दिन आ गये थे। बिमारी की अवस्था में भी स्वामीजी तीनो समय—प्रभात, मध्याह्न और रात्रि में—धार्मिक उपदेश तथा व्याख्यान दिया करते, स्वय गोचरी जाते और शौच के लिए भी बाहर ही जाते थे। उस समय तक रोग कोई खतरनाक नहीं लगता था और न किसी ने उसको भयानक समझा ही था।

मृत्यु का पूर्व आभास

भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी की बात है—स्वामीजी को अचानक ही ऐसा आभास होने लगा कि अब उनका आयुष्य निकट आ गया है। उन्हें लगा कि जैसे उनका शरीर ढीला पड गया हो। जीवन के प्रति वे जितने सजग थे, मृत्यु के प्रति भी उतने ही सजग थे। वीरता का जीवन जीकर वीरता की मौत मरना उनके लिए उपयुक्त ही था। जीवन को उन्होने जिस प्रकार से आदर्श बना दिया था, अब मृत्यु को भी आदर्श बनाने का समय आ गया था। समय चूकने वाले वे थे ही कहाँ ? जीवन से जो सार खीच पाये थे उससे भी अधिक सार मृत्यु से खीच लेने का उनका निश्चय था। उनका निश्चय और अटल सत्य पर्यायवाची बन गये हों—ऐसा प्रतीत होता है। तत्काल उन्होंने अपनी मृत्यु की तैयारी प्रारम्भ कर दी।

शिष्यों की प्रशसा

जन्म और मृत्यु— ये दोनों जीवन-नदी के किनारे हैं। नदी को लाघने वाले को किनारो से क्या मोह हो सकता है ? स्वामीजी न जीवन के प्रति आसक्त थे और न मृत्यु से भीत। मृत्यु की आसन्नता का आभास पाते ही अपने पास सेवा निमित्त बैठे हुए मुनि खेतसीजी से बिना ही किसी भूमिका के उन्होने कहा—"तुम, भारमल और टोकरजी बडे सुविनीत शिष्यों के रूप में मुझे मिले। तुम लोगो ने मेरी बडी सेवा-भक्ति की। तुम लोगों के कारण से मेरे मन में बडी समाधि रही और सयम-पालन में मुझे बहुत सहायता मिली।"

इस प्रकार अपने गुणवान् शिष्यों की प्रशसा में उन्होंने कुछ शब्द कहे ही थे कि भारमलजी स्वामी आदि अन्य साधुओं का ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ, वे सब स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। श्रावक-श्राविकाएँ भी स्वामीजी के शब्दों को सुनने के लिए एकत्रित हो गये।

अन्तिम शिक्षा

स्वामीजी ने उस समय बडे मार्मिक शब्दो में साधुओ को शिक्षा दी। वह उनकी अन्तिम शिक्षा थी। उसका सार इस प्रकार है :

"जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति विश्वास रखते रहे, उसी तरह भारमल के प्रति भी रखना। यह सघ के सारे सन्त-सतियों का नाथ है, अत इसकी आज्ञा का आराधन करना। किसी मर्यादा या आज्ञा का भग मत करना।

'भारमल की आज्ञा का उल्लंघन कर जो व्यक्ति गण से पृथक हो जाए, उसे साधु मत समझना। जो इसकी आज्ञा का आराधन करे और सुविनीत हो उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

"भारमल को गण का भार निभाने के योग्य समझकर ही मैंने आचार्य पदवी दी है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र है। इसमें शुद्ध साधु की चाल है और इसकी नीति भी चारित्र-परक है। इसमें किसी को कोई शंका का स्थान नहीं है।

'शुद्ध आचारवान् साधुओं की संगति करना और अनाचारियों से दूर रहना। अरिहंत और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द व्यक्तियों को वंदन-योग्य मत समझना। उसन्नों पासत्थों कुशीलियों प्रमादियों और स्वच्छन्दों की संगति का भगवान् ने ज्ञाता आदि अनेक सूत्रों में निषेध किया है। उपासकदशांग में आनन्द श्रावक के अभिग्रह का जो वर्णन है उसके परमार्थ को समझकर इस बात का पालन करना। साधु, साध्वी श्रावक और श्राविकाएँ—सबको इस रीति का सुचारु रूप से पालन करना चाहिए।

"सारे साधु-साध्वियों को परस्पर में विशेष प्रीतिभाव रखना चाहिए। एक दूसरे के प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। दलबन्दी करने वाला अविनयी एकल विहारी से भी बुरा होता है।

"यदि कोई दीक्षा लेना चाहे तो पहले उसके मन की विराग-भावना की परीक्षा करके दीक्षा देना। हर किसी को मूँडकर संख्या बढ़ाने के लालच में मत पड़ जाना।

'सूत्र की कोई बात समझ में न आये तो उसे लेकर खींचतान मत करना मन में धैर्य रखकर उसे केवलियों पर छोड़ देना।

'किसी बोल (बात) की स्थापना गुरु की अनुमति के बिना स्वच्छन्द मति से मत करना।

"एक-दो-तीन आदि कितने ही व्यक्ति गण से पृथक क्यों न हो जाएं, परन्तु उनकी कोई परवाह न करते हुए दृढ़ता से साधु-आचार का पालन करते जाना।

"सब एक गुरु की आज्ञा में रहना। इस मर्यादा को परम्परा के रूप में मानते हुए निभाना। जो लिखित-मर्यादाएँ पहले की हुई हैं उन्हें पूर्ण रूप से पालन करना।

"कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित्त न ले तो उसे गण से पृथक कर देना।"

स्वामीजी का यह उपदेश मार्मिक होने के साथ-साथ इतना आकस्मिक था कि सुनने वालों को बड़ा आश्चर्य हुआ। भारमलजी स्वामी आदि ने स्वामीजी से पूछा—"क्या आपके शरीर में कोई विशेष तकलीफ है ?

१—भिक्षु जश-रसायण ढाल ५

स्वामीजी ने कहा —"नही, चालू तकलीफ के अतिरिक्त कोई नई तकलीफ नही है, परन्तु मुझे लगता है कि मेरा आयुष्य अब नजदीक है, इसलिए यह अन्तिम शिक्षा दी है। मुझे मृत्यु का तनिक भी भय नहीं है। मेरे हृदय में परम आनन्द है कि मैंने सत्यतापूर्वक जिनेश्वरदेव के मार्ग को बतलाया है, अनेक व्यक्तियो के हृदय मे सम्यक्त्व का बीजारोपण किया है। अनेकों को बारह व्रत ग्रहण कराये हैं और अनेको को सयम-मार्ग मे प्रव्रजित किया है। तत्त्वज्ञान-विषयक मैंने जो पद्य-रचनाएं की है, वे सब सूत्र-न्याय के अनुसार है। उनके पीछे कोई अभिनिवेश नही है। शुद्ध अन्त करण से मुझे जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही मैंने कहा है। मैं अपने को कृतकृत्य मानता हूँ। मेरा मन पूर्णरूप से शान्त है, किसी प्रकार की अशान्ति या कमी का अनुभव नही करता।"

अपने विषय मे इतना कहने के पश्चात् स्वामीजी ने फिर साधुओ को शिक्षा देते हुए कहा —"तुम लोगों मे मेरा यही कथन है कि स्थिर-चित्त होकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करना। दुर्बुद्धि और कदाग्रह को दूर छोडकर आत्मा की उज्ज्वलता हो, वैसा कार्य करते रहना। शुद्धाचार की आराधना में कभी भी जरा भी मत चूकना। समिति, गुप्ति और महाव्रतों का सावधानीपूर्वक पालन करना। शिष्य-शिष्याओ पर तथा वस्त्र आदि उपकरणों पर किसी प्रकार का ममत्व मत रखना। प्रमाद को सदा दूर करना। पुद्‌गल-आसक्तियों में मत फसना। सयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना।"[1]

स्वामीजी की यह अन्तिम हित-शिक्षा थी। इसमें उनके सपूर्ण जीवन के बहुमुखी अनुभवों का सार भरा हुआ है। स्वामीजी ने अपने जीवनरूपी समुद्र को मथकर जो अमृत प्राप्त किया था, यह अतिम शिक्षा उसी की एक घूंट थी, जो सघ की तरुणिमा को अमरता प्रदान करने में समर्थ हुई।

१—थे पिण थिर चित्त थापी जी, प्रभु पथ पालजो।
कुमति कलेश नैं कापी जी, आतम उजवालजो ॥६॥
वले स्वामी सीख दै सारोजी, सहु सता भणी।
आराधजो आचारो जी, मत चूकौ अणी ॥९॥
सखरी पांच सुमति जी, गुप्त गुणी धरौ।
दय सत शील सुदत जी, ममता मत करौ ॥११॥
शिष शिषणी पर सोयो जी, उपग्रण उपरै।
मुर्छा न कीजौ कोयो जी, प्रमाद नैं परहरो ॥१२॥
पुदगल ममत प्रसंगो जी, तन मन सूं तजी।
संजम सखर सुचगो जी भल भावै भली ॥१३॥ (भिक्खु जश रसायण ढा० ५६)

नवमी के दिन स्वामीजी ने आजीवन अनशन का विचार किया, परन्तु खेतसीजी स्वामी ने अत्यन्त आग्रह-पूर्वक उनके हाथ से कुछ आहार लेने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने अपने विनीत शिष्य के आग्रह को सम्मान देते हुए उनके द्वारा लाये गये भोजन में से थोडा-सा चखकर उस दिन के लिए भी आहार का परित्याग कर दिया।

अन्तिम भोजन

दशमी के दिन स्वामीजी ने फिर अनशन का विचार प्रकट किया, परन्तु भारमलजी स्वामी ने अपने हाथ से उन्हें अन्तिम रूप से कुछ देने का आग्रह किया। विनय-शीलता के मूर्त्तरूप अपने शिष्य की इस अभिलाषा को स्वामीजी कैसे ठुकराते ? उन्होंने गिनती कराकर चालीस चावल और दस मोठ उनके हाथ से लिए और उनके उपरान्त उस दिन के लिए भी आहार-परित्याग कर दिया।

दो दिन का उपवास

एकादशी के दिन उन्होने पहले से ही यह स्पष्ट कर दिया कि मेरा विचार आहार लेने का नहीं है। दस्तो की बीमारी थी, अत औषधि रूप मे आवश्यकता होने पर अमल और पानी का आगार रखकर उस दिन के लिए फिर आहार का परित्याग कर दिया।

द्वादशी के दिन जल के अतिरिक्त तीनों आहारो का परित्याग कर बेला किया। इस प्रकार शरीर की ओर से औदासीन्य धारण कर पौद्गलिक सुखो को ठुकराते हुए स्वामीजी अनशनपूर्वक देह-विसर्जन की तैयारी करने लगे।

पराक्रम क्षीण पड़ रहा है

मध्याह्नोत्तर काल मे स्वामीजी कच्चीहाट से स्वय चलकर उसके सामने वाली पक्कीहाट मे आये। शिष्यों ने बिछौना कर दिया, उस पर वे शान्तिपूर्वक विश्राम करने लगे। विश्राम करते कुछ ही समय हुआ होगा कि इतने मे बाल साधु ऋषि रायचदजी ने पास आकर कहा—"स्वामिन् ! कृपा कर दर्शन दीजिये। यह सुनकर स्वामीजी ने अपने नेत्र खोले और बाल साधु की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। ऋषि रायचन्दजी अवस्था में बालक ही थे, किन्तु बडे समझदार थे। स्वामीजी की शारीरिक हालत देखकर उन्होंने कहा—"स्वामिन् ! अब तो आपके शरीर का पराक्रम क्षीण पड रहा मालूम होता है।"

यह बात सुनते ही स्वामीजी उसी प्रकार उठ बैठे जैसे कोई सोया हुआ सिंह जागकर उठ बैठता है। वे अपने शरीर का सार खीच चुके थे, अब वह उनके लिए असार रह गया था। जब तक वह सयम-जीवन में सहायक होता रहा, तब तक वे उसका अनासक्त भाव से पालन करते रहे और जब वह सहायक होने में अशक्त मालूम देने लगा तो वे उसी अनासक्त भाव से उसे विसर्जित करने को तैयार हो गये। स्वामीजी की दृष्टि में शरीर एक खेत था, जिस पर

तप प्रथम की खेती बोई गई थी। अब वह पूर्ण रूप से पक चुकी थी। उसे काटकर धान्य एकत्रित करने का और विशोधन का कार्य ही अवशिष्ट था जो कि संलेखना और संथारे के द्वारा किया जा रहा था।

आजीवन-अनशन

स्वामीजी ने तत्काल ऋषि भारमलजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों संत स्वामीजी के पास उपस्थित हुए। उनके आते ही स्वामीजी ने अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् को 'नमोत्थुणं' के पाठ से वंदन किया और श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख ऊँचे स्वर से यावज्जीवन के लिए तीनों आहार का प्रत्याख्यान कर 'संथारा' कर दिया।

संतों ने कहा— "दस्तों की गड़बड़ थी अतः औषध के रूप में अमल का तो आगार रख लिया होता।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"अब आगार किस लिए रखना था? अब कौन-सी शरीर की रक्षा करनी है?"

स्वामीजी ने 'संथारा' भाद्रपद शुक्ला द्वादशी सोमवार को सायंकाल में किया था। उस समय लगभग दो घड़ी दिन था। संथारे की बात हवा की तरह चारों ओर फैल गई। आस-पास के गाँवों के लोग दर्शन के लिए उमड़ पड़े। भीड़ इतनी हो गई थी कि बाजार में लोग समा नहीं पा रहे थे।

अनशनकाल में अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान कर लोगों ने अपनी सक्रिय श्रद्धाञ्जलियाँ स्वामीजी को अर्पित कीं। इस संथारे का प्रभाव स्वामीजी के अनुयायियों पर तो हुआ ही था किन्तु उनके उन व्यक्तियों पर भी हुआ जो जन्म भर स्वामीजी के द्वेषी रहे थे। जनता आश्चर्य-चकित होकर उनके तपोमय जीवन के सामने श्रद्धानत हो रही थी।

व्याख्यान दो

सूर्यास्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सायंकालीन प्रतिक्रमण किया और उसके पश्चात् ऋषि भारमलजी से बोले—"व्याख्यान दो।"

ऋषि भारमलजी ने कहा—"स्वामिन्! जब कि आपके 'संथारा' है तो यह रात्रिकालीन व्याख्यान अपने आप में क्या विशेषता रख सकता है?"

स्वामीजी ने कहा— "किसी साधु-साध्वी के 'संथारा' करने पर तो उसके पास जाकर धर्मोपदेश किया जाता है फिर मेरे संथारे के समय ऐसा क्यों न हो?"

स्वामीजी की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर मुनिश्री ऋषि भारमलजी ने धर्मोपदेश किया। स्वामीजी ने उसे बड़ी तल्लीनतापूर्वक सुना। इस प्रकार स्वामीजी जीवन के अंतिम समय को पूर्णरूपेण स्वाध्याय और ध्यान में लगा देना चाहते थे।

दर्शनोत्सुक जनता

द्वादशी की रात्रि व्यतीत हुई और त्रयोदशी का सूर्य अनन्त सभावनाओ का प्रकाश लिए उदित हुआ। यह दिन स्वामीजी के भौतिक शरीर के लिए अन्तिम दिन था। ज्यो-ज्यो 'सथारे' के समाचार आगे-से-आगे पहुँचे त्यो-त्यो जनता उमडी हुई चली आई। स्वामीजी के अन्तिम-दर्शन के लिए सिरियारी में मेला-सा लग गया।

एक प्रहर दिन चढ जाने के पश्चात् स्वामीजी ने कुछ जल ग्रहण किया। श्रावक-श्राविकाएँ तथा साधु पास में बैठे हुए थे और स्वामीजी के मुखारविन्द को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। स्वामीजी ध्यानावस्थित होकर परिणामो की निर्मलता को क्रमिक विकस्वर करते जा रहे थे।

अदृष्ट का आभास

लगभग डेढ़ प्रहर दिन चढा होगा कि सबको आश्चर्यचकित कर देने वाली एक घटना घटित हुई। स्वामीजी ने साधुओ को कहा—"साधु और साध्वियाँ आ रही है, उनके सामने जाओ।"[१]

स्वामीजी के द्वारा अचानक कही हुई उस बात पर विशेष ध्यान नही दिया गया। जिन्होने थोडा बहुत ध्यान दिया, उनका निष्कर्ष यह रहा कि स्वामीजी सभवतः इस समय पूर्ण सचेत अवस्था में नही है। उनका ध्यान साधुओ में लगा हुआ है, इसीलिए वे ऐसा कह रहे हैं।

स्वामीजी के उस कथन को एक मुहूर्त समय भी नही हो पाया था कि दो साधु—मुनि वेणीरामजी और कुसालजी वहाँ पहुँचे।[२] उसके एक मुहूर्त पश्चात् ही तीन साध्वियाँ—बखतूजी, झूमाजी और डाहाँजी वहाँ पहुँची।

आये हुए साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को वन्दन किया, तब उसे स्वीकार करते हुए स्वामीजी ने हाथ के सकेत से सब को सुख-पृच्छा की। साधुओ के मस्तक पर हाथ रखा। दो अगुलियाँ आँखो की ओर उठाकर वेणीरामजी स्वामी से उनकी आँखों की गडबड के बारे में साता पूछी। यद्यपि उनकी बोलने की शक्ति क्षीण हो गई थी फिर भी सावधानी पूर्ण रूप से बनी हुई थी।

साधु-साध्वियो के इस अप्रत्याशित आगमन ने सभी को आश्चर्याभिभूत बना दिया। जिन्होने स्वामीजी के कथन का यह निष्कर्ष निकाला था कि वे असावधान-अवस्था में कुछ कह रहे हैं, उन्हें अपना निश्चय यह मानना पडा कि स्वामीजी को अवश्य ही अदृष्ट का आभास हुआ है।

१—वेणीरामजी स्वामी के कथनानुसार स्वामीजी ने उस अन्तिम अवसर पर चार बातें कहीं थीं। वे इस प्रकार हैं—(१) गांव में त्याग-तपस्या करवाओ (२) साधु आ रहे हैं, सामने जाओ (३) आर्याए आ रही हैं (४) चौथी बात अत्यन्त धीमे स्वर से कही गई थी, अत सुनी नहीं जा सकी। (वेणी० भि० च० १०-९, १०)

२—ये दोनों साधु पाली से आये थे। (वेणी० भि० च० ११-दो०१)

यद्यपि स्वामीजी ने जो कुछ कहा था वह सब यथावत् मिल गया। फिर भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि स्वामीजी को पूछकर यह निश्चित कर लिया जाये कि उन्होंने जो बातें कही थीं वे किसी विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कही थीं अथवा सामान्य अनुमान के आधार पर। वेणीरामजी स्वामी जो कि उस समय स्वामीजी के पास थे इस विषय में कहते हैं—'लगता है कि अपनी अन्तिम अवस्था में स्वामीजी को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ था। परन्तु स्वामीजी से पूछा नहीं गया इसलिए निश्चित तो केवली ही जानते हैं।'[1]

महाप्रस्थान

स्वामीजी को लेटे हुए काफी देर हो गई थी अतः उनकी बैठने की इच्छा होने पर साधुओं ने सहारा देकर उन्हें बिठाया। वे ध्यानासन में बैठे थे। साधु-समूह उनके पास में बैठा था। ऐसा लग रहा था मानों उनके शरीर में कोई रोग नहीं है परन्तु उस ध्यान-मुद्रा में बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी के आत्म प्रदेश खिंचे और वे शान्तिपूर्वक देह-मुक्त हो गये।

जयाचार्य ने उस विषय का वर्णन करते हुए लिखा है—"लोग कहते हैं कि दरजियों ने बैकुंठी तैयार करके इधर सुई अपनी पाग में डाली और उधर स्वामीजी का स्वर्गवास हो गया। उस समय लगभग डेढ़ पहर दिन अवशिष्ट था। संवत् १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार के दिन सिरियारी में स्वामीजी दिवंगत हुए। साधुओं ने स्वामीजी के शरीर को 'वोसराया' और चार लोगस्स का ध्यान किया। उस दिन के लिए आहार का भी सबने परित्याग किया।[2]

जयाचार्य के शब्दों में स्वामीजी एक मनिधारी पुरुष थे। उन जैसा समाधि-पूर्ण महाप्रस्थान भी विरल मनुष्यों का ही होता है। स्वामीजी का जीवन एक सफल मनुष्य का जीवन था। उन्होंने जिस कार्य को अपने कर्मठ हाथों में लिया उसे पूर्ण करके ही छोड़ा। जैन शासन में वे एक प्रकाश बन कर आये और अपनी दीप्ति के द्वारा भ्रान्त जन को सन्मार्ग दिखा गये। कृतकृत्य स्वामीजी का जीवन लाखों व्यक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया।

१—छेहड़े स्वाम भिक्षु तणे अवधि उपनो जणाय।
निश्चै तो जाणै केवली छद्मस्थ न कहणी आवै ए (भि ज र ११-दो ४)

२—सागारी अणसण वोसिराय ने चिउं लोगस्स चित्त धार।
किया वहां मुनि काउस्सग्ग तिण दिन तज आहार॥ (भि ज र ६२-दो २)

स्वामीजी के समय में सायंकालीन गोचरी का निषेध था अतः दोनों समय का आहार मध्याह्न की गोचरी से ही लाया जाता था। उपर्युक्त पद्य के कथनानुसार स्वामीजी के दिवंगत होने पर संतों ने उस दिन के लिए आहार का प्रत्याख्यान कर दिया था। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि सायंकालीन भोजन के लिए लाये गये आहार का उस दिन परिष्ठापन किया गया था। यह भी सम्भव है कि उस दिन स्वामीजी के संथारे के उपलक्ष में साधुओं ने उपवास किया हो ऐसी स्थिति में सायंकाल के लिए आहार लाने और फिर उसके परिष्ठापन की बात संभव नहीं होती।

: ६ :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १७८३ आपाढ शुक्ला त्रयोदशी

(२) द्रव्य-दीक्षा सम्वत्—१८०८ मार्ग-शीर्ष कृष्णा द्वादशी

(३) बोधि-प्राप्ति सवत् १८१५

(४) भाव-दीक्षा सवत्—१८१७ आपाढ पूर्णिमा

(५) स्वर्गवास सवत्— १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान— कटालिया

(२) द्रव्य-दीक्षा-स्थान— बगडी

(३) बोधि-प्राप्ति-स्थान - राजनगर

(४) भाव-दीक्षा-स्थान— केलवा

(५) स्वर्गवास-स्थान— सिरियारी

आयुष्य-विवरण

(१ गृहस्थ— २५ वर्ष

(२) स्थानकवासी साधु—८ वर्ष

(३) तेरापन्थ के आचार्य—४४ वर्ष

(४) सर्व आयु— ७७ वर्ष

शरीर का गठन

स्वामीजी का शरीर दीर्घ, बलवान् और श्यामवर्ण का था। चाल तेज थी। आँखें विशाल, तेजस्वी और कुछ रक्तिमा लिए हुए थीं। मुख-मुद्रा सौम्य और सुन्दर थी। वाणी में मधुरता और आकर्षण था। शब्द प्रचड और गम्भीर घोष-युक्त था।

विशिष्ट शारीरिक चिह्न

उनके शरीर पर अनेक ऐसे चिह्न थे, जो कि सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार शुभ कहे जाते हैं। जयाचार्य ने उन चिह्नों का उल्लेख इस प्रकार किया है

श्री भिक्षु ना पग जीमणा में, अर्द्ध रेखा जाणिये।
जीमणा हाथे मच्छ रेखा, मच्छाकार वखाणिये॥
वलि जीमणा कर पास पऊचे, तीन रेख मणिवन्ध री।
द्वय हाथ नी दस अगुलीये, दसो चक्र अछै वरी॥

नाड़-ग्रीवा देह में त्रय रेख लम्बी ही सही।
लिलाड़ में पिण तीन रेख जु, लम्बो ते बहु शुभ कही॥
द्वय कर्ण ऊपर केश वाके पेट पर रेखा त्रयी।
वलि पेट ऊपर सुंडी पासे स्वस्तिका आकार ही॥
पुन पेट ऊपर ध्वजा को आकार लिखियो ख्यात ही।
दश पञ्च वरस द्वय सहस परिमित नाम जग विख्यात ही॥
इत्यादि शुभ लक्षण घणां श्री भिक्षु नें तन मा लिख्या।
देखि[1] ने अनुसार देह मे यहाँ पिण तिमहिज आख्या॥

जन्म-कुंडली

स्वामीजी की जन्म-कुंडली का विवरण जयाचार्य ने निम्नलिखित गाथाओं में दिया है

मीन लग्न लग्ने तम गुरु तृतीय भृगु पंचम रवि बुध।
भौम छट्ठे शिखि सप्तम दशमें चन्द्र एकादशम शनि शुद्ध॥
मूल ऋक्ष तुर्य पाद में हरख्यो सहु परिवार।
भीखण नाम दियो भलो कर उत्सव विस्तार॥[2]

इसके अनुसार जन्म-कुंडली की ग्रहस्थिति का अंकन यों होता है

१
११
२ गु
१२ श रा
१० च
३
९ चं
४ बु सू
६ के
८
५ भ
७

१—उपर्युक्त कथन से जाना जाता है कि जयाचार्य ने स्वामीजी के शरीर के ये शुभ लक्षण कहीं पर लिखे देखे थे और तदनुसार ही उन्हें यहाँ उद्धृत किया है।

२—शासन-विलास

३—शासन-विलास
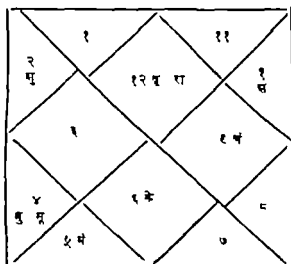
विहार-क्षेत्र

स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान ही था। उस समय राजस्थान एक प्रान्त के रूप में न होकर पृथक्-पृथक् रियासतों के रूप में था और वहाँ विभिन्न राजाओ का राज्य था। उस समय के राज्यो के अनुसार मेवाड, मारवाड, ढूंढाड और हाडोती—ये चार राज्य ही प्रमुखतया स्वामीजी के विहार-क्षेत्र रहे थे। एक वार किसी कार्य-विशेप के लिए वे थली में भी पधारे थे। थली (वीकानेर-रियासत) में वे चूरु तक ही पधारे थे और थोडे ही दिन रहकर पुन· मारवाड में पधार गये थे।

चातुर्मास

स्वामीजी ने गृहस्थावास का परित्याग करने के पश्चात् वावन चातुर्मास किये। उनमें से आठ चातुर्मास तो आचार्य रघनाथजी के शिष्य-रूप में किये और शेप चौवालीस चातुर्मास तेरापन्थ के आचार्य-रूप में। उन सवका विवरण इस प्रकार है

स्थानकवासी साधु के रूप मे

स्थान[1]	चातुर्मास-सख्या	सवत्
मेडता	१	१८०९
सोजत	१	१८१०
जेतारण	१	१८११
वलूंदा	१	१८१२
वागोर	१	१८१३
सादडी (शाह की)	१	१८१४
राजनगर	१	१८१५
नागोर	१	१८१६

तेरापथ के आचार्य के रूप मे

केलवा	६	१८१७,२१,२५,३८,४९,५८
वरलू	१	१८१८
सिरियारी	७	१८१९,२२,२६,३९,४२,५१,६०

१—द्रव्य-दीक्षा-कालीन चातुर्मासों की इस तालिका में कुछ नाम पहले-पीछे लिखे भी मिलते हैं। जैसे कई पत्रों में संवत् १८११ का चातुर्मास वलूंदा और १२ का जेतारण लिखा मिलता है तथा कई पत्रों में संवत् १८१३ का चातुर्मास सादड़ी और १४ का वागोर लिखा मिलता है।

तृतीय परिच्छेद

आचार्य श्री भारमलजी

: १ :

गृहि-जीवन

आर्थिक-स्थिति

आचार्य श्री भारमलजी स्वामी तेरापन्थ-सघ के द्वितीय आचार्य थे। उनका जन्म वि० सवत् १८०४[1] में राजस्थान के उदयपुर डिवीजन (मेवाड) के 'मुहा' ग्राम में हुआ था। यह ग्राम भीलवाडा के पास ही बसा हुआ है। उनके पिता का नाम 'किसनोजी' और माता का नाम 'धारणी' था। वे ओसवाल जाति में लोढा गोत्र के थे। किसनोजी की आर्थिक-स्थिति बहुत ही कमजोर थी, अत आपका बाल्यकाल प्राय अभाव और गरीबी में ही बीता। गरीबी सदा अभिशाप ही नही होती, वह कही वरदान भी बन जाती है। भारमलजी स्वामी के जीवन में जो सरलता, निर्भीकता और निराभिमानता थी, वह सम्भवत उस गरीबी के जीवन की ही सद्‌गुणात्मक परिणति थी।

अनबीधे कान

गृहस्थ-जीवन की अपनी उस गरीबी को एक बार आचार्य-अवस्था में उन्होने ऐसे सहजभाव से व्यक्त किया था, जैसे कि वह उनके लिए कभी किसी प्रकार से गोपनीय थी ही नही। वह घटना इस प्रकार है

राजस्थान में प्राय, बालको के कान बिंधाये जाते हैं अत एक भाई ने जब भारमलजी स्वामी के कान अनबींधे देखे, तो पूछ लिया कि आपके कान क्यों नही बीधे गये? इस पर उन्होने कहा—"कान बिंधाने का उत्सव मनाया जाता है और उस समय अपने परिवार के व्यक्तियो को भोजन कराया जाता है। हमारे घर की स्थिति इतना व्यय करने की नही थी, इसलिए मेरे कान अनबीधे ही रह गये।"

१—जन्म संवत् कहीं १८०३ मिलता है। 'शासन प्रभाकर' में 'अठोरै तीनरा साल में' कहा है, किन्तु जयाचार्य विरचित 'भिक्खु गुण वर्णन' नामक सकलन की अठारहवीं ढाल में 'सवत् अठारें चोकै समै, भारीमाल उतपन्न' ऐसा लिखा है। सम्भव है यह अन्तर पचाग और जैन परिपाटी के सवत् बदलने मे भेद होने से सम्बन्धित हो। जन्म-मास तथा तिथि उपलब्ध नहीं हुए। परन्तु उपर्युक्त अनुमान ठीक हो तो यह चैत्र शुक्ला नवमी से आषाढ़ पूर्णिमा के बीच का समय हो सकता है।

२

द्रव्य-दीक्षा में

दीक्षा-ग्रहण

बाल्यावस्था में ही भारमलजी स्वामी की रुचि धर्म की ओर झुक गई थी। लगभग दस वर्ष की अवस्था में वे अपने पिता किसनोजी के साथ बागोर में स्वामी भीखणजी के द्वारा दीक्षित हुए।[1]

बाल-साधु भारमलजी स्वामी प्रारम्भ से ही बड़े विवेकी और विनयी होने के साथ-साथ बुद्धिमान् भी थे। स्वामीजी की देख रेख में वे प्रतिदिन आचार-व्यवहार की शिक्षा लेते हुए और शास्त्राध्ययन करते हुए एक सुयोग्य शिष्य के रूप में प्रगति करने लगे। लगभग चार वर्ष तक वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहे और स्वामीजी के साथ द्रव्य-दीक्षा का पालन करते रहे।

स्वामीजी के प्रति अटूट श्रद्धा

स्वामीजी के प्रति उनके हृदय में बहुत दृढ़ विश्वास था। वे उन्हें अपनी जीवन-यात्रा के दिग्-दर्शक मानकर चलते थे। किसी भी प्रकार से स्वामीजी के वचन का उल्लंघन करना उन्हें अपने जीवन में ध्येय से च्युत होना सा प्रतीत होता था। उनका धर्मानुराग किसी भी प्रकार से कृत्रिम अथवा प्रदर्शन मात्र नहीं था किन्तु आन्तरिक हृदय की भक्ति का परिणाम था जो कि आजीवन क्रमशः बढ़ती हुई ही रही थी। स्वामीजी भी उनके विनयी स्वभाव से बहुत खुश थे। वे उनके सहज गुणों में एक होनहार व्यक्तित्व की सूचना पाते थे।

१—हेमऋषि भारीमाल चरित्र में कहा है—'दशमा वर्ष रे आसरै भिक्खु गुरु किया आप' (ढा० १।४) तथा जयाचार्य ने 'भिक्खु जश रसायण' में सं० १८१५ राजनगर चातुर्मास में स्वामीजी के साथ जाने वाले साधुओं का नामोल्लेख करते हुए भारमलजी स्वामी के सम्बन्ध में कहा है—'दीक्षा दीधी तिण टाण' (ढा० २।५)। इन दोनों उद्धरणों से सिद्ध होता है कि भारमलजी स्वामी को द्रव्य-दीक्षा भी स्वामीजी ने ही दी थी। पर 'शासन प्रभाकर' (ढा० ४।१४) के अनुसार सं० १८१३ में रघुनाथजी ने पिता और पुत्र दोनों को दीक्षित कर स्वामीजी का शिष्य।

: ३ :

विकट समस्या और उसका समाधान

भावदीक्षा से पूर्व

दीक्षाग्रहण किये अभी चार वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे कि बाल साधु भारमलजी स्वामी के सामने एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई थी। उस समस्या से पार होने के लिए उन्हें अपने पिता किसनोजी और गुरु स्वामी भीखणजी में से किसी एक को चुन लेना आवश्यक हो गया था। उन्होंने उनमें से स्वामी भीखणजी को ही चुना, पर उस निर्णय की रक्षा के लिए उन्हें अपने प्राणों की भी बाजी लगा देनी पडी थी। तेरह-चौदह वर्ष के बालक का वह साहस अत्यन्त आश्चर्यकारी था।

भारमलजी स्वामी के सामने वह विकट-समस्या तब पैदा हुई, जब स्वामी भीखणजी स्थानकवासी साधु-सघ से अपना सम्बन्ध तोड चुके थे और एक सुमर्यादित तथा सुसगठित नवीन सघ की कल्पना को आकार देने का निर्णय कर चुके थे।

बीलाडा मे

उस समय स्वामीजी विहार करते हुए 'बीलाडा'[१] में आये थे। भाव-दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व पारस्परिक चर्चाएँ चालू थी। स्वामीजी के विचारो से प्रभावित साधु बडे उत्साह से कार्य में जुटे हुए थे और अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय किये जा रहे थे।

१—भारीमाल चरित (१-६) में इसका नाम 'भीलोड़ा' तथा भिक्खु-द० (२०२) में 'भीलाड़ा' लिखा है। अत इससे 'भीलवाड़ा' नाम का भी भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पर यहाँ यह 'भीलवाड़ा' (मेवाड़) न होकर 'बीलाड़ा' (मारवाड़) ही हो सकता है, क्योकि यह घटना स्थानकवासियों से पृथक् होने के पश्चात् और नई दीक्षा लेने से पूर्व की है। उस समय के अन्तर्गत स्वामीजी 'भीलवाड़ा' गये ही नहीं थे, यह सुनिश्चित है। पृथक् होने और भाव-सयम ग्रहण करने के मध्यवर्ती काल के स्वामीजी के विहारक्षेत्रों का यद्यपि पूरा तथा क्रमिक वर्णन नहीं मिलता, फिर भी विभिन्न स्थलों पर उनके विभिन्न क्षेत्रों में जाने का जो उल्लेख मिलता है, उसके संधान से उनके विहार की एक क्रमिक रूपरेखा बनाई जा सकती है। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—भिक्खु जश-रसायण में बगड़ी से बरलू जाने का उल्लेख है, 'शासन-प्रभाकर' में जोधपुर जाने का उल्लेख है और भिक्खु द० में 'भीलाड़ा' का निर्देश है। इनके संधान से उनके उस विहार की रूपरेखा यों बनती है—बगड़ी से बरलू, वहाँ से जोधपुर, वहाँ से 'बीलाड़ा' और फिर वहाँ से कांठे के विभिन्न गाँवों में होते हुए चातुर्मास के समय 'केलवा' पधार गये। इस विहार-क्रम से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त क्षेत्र 'बीलाड़ा' ही था।

स्वामीजी स्वभावतः ही अत्यंत जागरूक व्यक्ति थे। उस संक्रमणकाल में तो वे और भी अधिक सजगता से कार्य कर रहे थे। हर बात और हर व्यक्ति के मूल तक पैठकर ही वे किसी विषय में कोई निर्णय किया करते थे और फिर उस निर्णय के अनुसार कार्य करने में जुट जाते थे। भावी संघ के संभावित सदस्यों के आचार विचार को सूक्ष्म दृष्टि से देख लेने के साथ साथ प्रत्येक सदस्य की प्रकृति विषयक अनुकूलता प्रतिकूलता की भी परीक्षा कर लेना उनकी सावधान-दृष्टि के लिए आवश्यक था। जब उन्होंने अपने साथी संतों की प्रकृति का अध्ययन प्रारंभ किया तो पाया कि भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी उपयुक्त व्यक्ति नहीं हैं।

किसनोजी के विषय में विचार

किसनोजी प्रकृति के बड़े कठोर तो थे ही रस-लोलुप भी थे। सरस और नीरस आहार में सम-बुद्धि तो दूर रही पर कभी-कभी व्यावहारिकता का भी लोप कर देते थे। इसीलिए वे अनेक बार अपने साथियों के असमाधि का कारण भी बन जाते थे[1]। संभवतः अपनी इन प्रकृतिगत कमजोरियों के कारण ही वे द्रव्य-दीक्षा ग्रहण करने के कुछ समय पश्चात् ही स्वामीजी से अलग विहार करने लग गये थे। यही कारण था कि किसनोजी न तो राजनगर चातुर्मास में स्वामीजी के साथ थे और न ही स्थानकवासी साधु-संघ से पृथक होते समय। उनको पृथक होने के समाचार बाद में ही मिले थे अतः वे कुछ समय पश्चात् ही स्वामीजी से सम्मिलित हो सके थे।

बीलाड़ा में स्वामीजी ने जब सारे साधुओं की प्रकृति का गहराई से अध्ययन किया और किसनोजी को अपने साथ रखने योग्य नहीं पाया तो उन्होंने यह बात भारमलजी स्वामी को बतलाई। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि मैं किसनोजी को साथ लेने योग्य नहीं समझता। अतः तुम कहाँ रहना चाहते हो यह अपनी इच्छानुसार सोच लो।

भारमलजी स्वामी ने अविचलित भाव से कहा— "उनके विषय में आप जैसा उचित समझें वैसा करें किन्तु मैं तो आपके ही साथ रहना चाहता हूँ।"

स्वामीजी ने तब किसनोजी को बुलाया और अपने विचार बतलाते हुए कहा— 'हम सब शुद्ध संयम पालने के दृष्टिकोण से एकत्रित हुए हैं परन्तु इस समय जो स्थिति विरोधी-व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न कर दी गई है उसे देखते हुए लगता है कि इस पवित्र कार्य में भी हमारे लिए पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित की जाएँगी। हमें सहिष्णु बनकर उन सब बाधाओं को सहना होगा तभी अपने कार्य में सफलता पा सकेंगे। ऐसी स्थिति में तुम स्वयं अपनी प्रकृति के विषय में सोच सकते हो। मैंने जहाँ तक तुम्हारी प्रकृति का अध्ययन किया है वहाँ तक इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुम विरोधी स्थितियों के अवसर पर अपने को नियंत्रित नहीं रख सकोगे। साधारण स्थिति में भी तुम्हारी प्रकृति दूसरों के लिए असमाधि का कारण बन जाती है। तुम इस पर भविष्य में विजय पा लोगे—ऐसा विश्वास नहीं हो पा रहा है अतः मैं तुम्हें साथ रख सकने में असमर्थ हूँ।

1—भिक्खुदृष्टान्त २ १ २

किसनोजी का क्रोध

स्वामीजी की उस दो टूक बात से किसनोजी तत्काल ही अपने स्वभावानुसार बडे क्रुद्ध हुए और कहने लगे कि तुम स्वार्थी हो, तुम केवल अपना काम निकालना चाहते हो, परन्तु मैं इतना मूर्ख नही हूँ कि अपने पुत्र को तो तुम्हारे पास छोड दूँ और मैं अकेला इस बुढापे में निस्सहाय होकर भटकता फिरू । तुम तो मुझे न घर का रहने देना चाहते हो और न घाट का । परन्तु मैं ऐसा नहीं करने दूँगा । मुझे साथ में रखोगे तभी भारमल यहाँ रह सकेगा, अन्यथा मैं उसे अपने साथ ले जाऊँगा ।

सहर्ष ले जा सकते हो

स्वामीजी ने बडे धैर्य-पूर्वक किसनोजी को समझाते हुए कहा —"तुम इतने गर्म क्यों हुए जा रहे हो ? मैं तुम्हारे पुत्र को भुला-फुसलाकर कभी नही रखना चाहता । मैं उसे सयम-मार्ग के योग्य समझता हूँ, इसलिए वह यहाँ मेरे पास रहकर साधना करे तो मुझे प्रसन्नता होगी । परन्तु मैं तुम्हें इस मार्ग के योग्य नही समझता, इसलिए तुम्हें अपने साथ रखकर अपने मार्ग में और अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करना नही चाहता । तुम अपने पुत्र को मेरे पास छोडना नही चाहते, तो मैं उसे बल-पूर्वक तो रख ही नही सकता । वह तुम्हारे साथ जाना चाहे तो तुम सहर्ष उसे ले जा सकते हो, मैं उसमे बाधक नही बनूगा ।"

दूसरे स्थान पर

स्वामीजी की उन ठढी बातों से किसनोजी का क्रोध और भी उग्र हो गया । वे उठे और अपने तथा बालक साधु भारमलजी के भण्डोपकरण समेट कर ले आये । यद्यपि भारमलजी स्वामी ने उनके इन कार्यो में कोई रस नही लिया फिर भी वे उनके पास आकर कहने लगे—"चल, हम अब इनके साथ नहीं रहेंगे ।"

भारमलजी स्वामी नही उठे तो किसनोजी ने डाटते हुए कहा—"उठता है कि नहीं ? तुझे मेरे साथ चलना होगा । किसी भी हालत में मैं तुझे यहाँ नही छोडूँगा ।"

भारमलजी स्वामी फिर भी नही उठे तब किसनोजी ने उनका हाथ पकडा और प्राय घसीटते हुए-से उन्हें बाहर ले गये । वे किसी दूसरे स्थान में जाकर ठहर गये ।

एक सत्याग्रह

भारमलजी स्वामी उस अप्रत्याशित घटना से बडे खिन्न हुए । वे किसी भी हालत में स्वामीजी से पृथक् रहना नही चाहते थे । उनके सामने उस समय वस्तुत एक धर्म-सकट उपस्थित हो गया था । एक ओर साधना का पवित्र मार्ग था तो दूसरी ओर पिता । दोनो में से किसी एक को ही चुनने की स्थिति उनके सामने थी । उन्होने उनमें से साधना-मार्ग को ही चुना । उस चुनाव में पिता बाधक बन रहे थे, अत एक साधक के रूप में उनके लिए यह आवश्यक था कि पिता आदि के किसी भी स्नेह-बधन को वे अपने मार्ग में बाधक न बनने दें । उन्होंने वैसा ही किया ।

वे उस समय बालक ही थे, किन्तु परिस्थितियों की गम्भीरता को अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि इस समस्या को अभी नहीं सुलझाया गया तो फिर बाद में सुलझाना और भी कठिन हो जाएगा। पिता के साथ तो क्या अन्य किसीके साथ भी झगड़ना या विवाद करना उनकी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल था। वे पिता के हृदय-परिवर्तन के लिए अहिंसा का ही प्रयोग करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने किसनोजी द्वारा लाये गये आहार-पानी का *यावज्जीवन के लिए परित्याग कर दिया।*

उस प्रतिज्ञा से किसनोजी चिंतित तो हुए ही साथ-ही-साथ क्रुद्ध भी हुए, परन्तु उस समय बोलना उचित न समझ कर मौन रहे। उन्होंने सोचा कि भूख लगेगी तब अपने आप खा लेगा। अभी से बात को खींचकर पक्का क्यों किया जाए?

वह प्रतिज्ञा भारमलजी स्वामी ने किसी भावावेश में आकर नहीं की किन्तु समझ-बूझकर की थी। बाल्यावस्था में ही वे कितने दृढ़ और कितने साहसी थे—उपर्युक्त प्रतिज्ञा उसका एक ज्वलंत उदाहरण है। 'भारीमाल-चरित' में उस प्रतिज्ञा को 'अभिग्रह' कहा गया है। वर्तमान की भाषा में हम उसे 'सत्याग्रह' कह सकते हैं। उस समय की परिस्थिति में उनके सामने इस 'अभिग्रह' या 'सत्याग्रह' के अतिरिक्त और कोई अहिंसक मार्ग हो भी क्या सकता था।

आगम में साधु को छह कारणों से *आहार-परित्याग करने का आदेश दिया है।*[1] उनमें दूसरा कारण 'उपसर्ग' है अर्थात् यदि संयम में किसी प्रकार का उपसर्ग उत्पन्न होता देखे तो आहार-परित्याग द्वारा उसका सामना करे। ओघ निर्युक्तिकार द्रोणाचार्य कहते हैं—"यदि *स्वजन-परिवार का कोई व्यक्ति उसे संयम-मार्ग से पृथक करने के लिए उपसर्ग करता हो तो* साधु निराहार रहकर उस स्थिति का सामना करे।[2] भारमलजी स्वामी ने यही आगमानुमोदित मार्ग अपना कर अपनी अहिंसा की साधना का परिचय दिया।

किसनोजी का प्रयास

किसनोजी ने जो अनुमान लगाया था वह गलत निकला। भारमलजी स्वामी ने उस दिन बार-बार आग्रह किये जाने पर भी न तो आहार किया और न पानी ही पिया। इसी प्रकार दूसरा दिन भी निराहार व्यतीत हो गया। किसनोजी ने नरम और गरम दोनों ही प्रकार से

१—आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेर गुत्तीए।
पाणदया तवहेउं सरीर वोच्छेयणट्ठाए॥ (उत्त २६।३५)

२—स्वजनः यदि उन्निष्क्रमणाय उपसर्गं करोति तदा न भुङ्क्ते। (ओघ निर्युक्ति)

उन्हें समझाने का बहुत-बहुत प्रयास किया, परन्तु उन पर उसका कोई प्रभाव नही हुआ। जब तीसरे दिन[1] भी उन्होने किसनोजी की बात नही मानी, तब वे हताश हो गये।

अहिंसक उपक्रम का प्रभाव

भारमलजी स्वामी के उस मूक और अहिंसक उपक्रम का प्रभाव धीरे-धीरे किसनोजी पर छाने लगा। भूखे और फिर भी शान्त तथा स्वाध्याय-रत बाल साधु के सामने आहार करने में उन्हें स्वय लज्जा का अनुभव होने लगा। वे आत्म-ग्लानि से इतने भर गये कि क्रोधी प्रकृति होने के बावजूद भी उन्हें अपनी कमियाँ दिखाई देने लगी। वे जितना अधिक सोचने लगे, उतना ही अधिक उनके सामने साफ होने लगा कि अब इसे समझा कर या धमका कर अपने साथ नहीं रखा जा सकता।

फिर स्वामीजी के पास

आखिर बालक की सहज-दृढता और अहिंसा-वृत्ति के सामने किसनोजी को झुकना पडा। वे भारमलजी स्वामी को साथ लेकर स्वामीजी के पास आये और सारी घटना सुनाते हुए कहने लगे—"मेरे साथ जाने के बाद से ही इसने भोजन-पानी का परित्याग कर रखा है। आज तीसरा दिन हो रहा है तो भी यह अपने आग्रह को नही छोडता, तब मैं देखता हूँ कि इसका मन आपके साथ रहने का ही है। आप इसे रखिये।"

स्वामीजी भारमलजी स्वामी की उस दृढता से अत्यन्त प्रभावित हुए। अपने प्रति उनकी मानसिक भक्ति की प्रबलता देखकर तो वे गद्गद हो गये। उन्होने उनको अपने पास रखना सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् आहार-पानी लाकर उन्हें 'पारण' करवाया गया। भारमलजी स्वामी की प्रसन्नता का तो कोई ठिकाना था ही नही, परन्तु स्वय स्वामीजी भी उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हुए।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० (२०२) में कहा गया है—"तीजो दिन आयो जद घणी मनुहार करवा लागो। जद भारमलजी स्वामी कह्यो—थांरा हाथ रो आहार करवा रा जावजीव त्याग है।" इस कथन के अनुसार प्रथम दो दिन निराहार रहने के पश्चात् तीसरे दिन अभिग्रह किया गया था। परन्तु अन्यत्र प्रथम दिन ही अभिग्रह कर लेने की बात कही गई है। जो कि इस प्रकार है

अभिग्रह कियो इण रीत सूं, भारीमाल करी भारी।
दोय दिन आखा निकल्या, अडिग रह्या गुणधारी॥ (भारी० च० १-१०)
भारीमाल पिता नै भाखै, किसनोजी री काण नहीं राखै।
थारा हाथ तणो अन्न पाण, म्हारै जावजीव पचखाण॥
भारीमल अभिग्रह कियो भारी, दिन दोय निसख्या तिवारी।
रह्या सुरगिर जेम सधीरा, हलुकर्मी अमोलक हीरा॥ (भि० ज० र० ६—११,१२)

किसनोजी की व्यवस्था

किसनोजी ने स्वामीजी से कहा— 'आप भाव-दीक्षा ग्रहण करने जा रहे हैं उससे पूर्व मेरी भी कुछ व्यवस्था करते जाइये ताकि मैं इस बुढ़ापे में किसी एक जगह जमकर रह सकूँ।"

स्वामीजी ने उनकी वह बात स्वीकार कर ली। वे उस विषय को लेकर आचार्य जयमलजी से मिले और किसनोजी को उन्हें शिष्य रूप में सौंप दिया।

आचार्य जयमलजी—जैसे कि पहले कहा जा चुका है स्वामीजी के विचारों के समर्थक थे। परिस्थितिवश स्वामीजी का साथ देने में यद्यपि उन्होंने अपनी विवशता व्यक्त की थी, फिर भी उनकी सहानुभूति तो स्वामीजी के साथ ही थी। सम्भवतः यही कारण था कि उन्होंने स्वामीजी द्वारा अयोग्य समझ कर सौंपे गये शिष्य को भी अपने संघ में स्थान दे दिया। यद्यपि प्रत्यक्ष-सहयोग वे नहीं कर सके थे पर इस प्रकार का परोक्ष-सहयोग तो उनका तथा उनके साधु-समुदाय का प्रायः चलता ही रहा।

तीन घरों में 'बधामणा'

उपर्युक्त घटना को लेकर आचार्य जयमलजी ने अपने स्वभावानुसार सहज-हास्य करते हुए स्वामीजी के लिए बड़े ही आत्मीय भाव से कहा था— 'भीखणजी बड़े चतुर व्यक्ति हैं उन्होंने एक ही काम से तीन घरों में 'बधामणा' कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य बढ़ गया किसनोजी ने समझा कि स्थान जम गया और स्वयं भीखणजी ने समझा कि चलो बला टल गई।"[1]

१ भिक्षु-दृष्टान्त ९१

: ४ :

सर्प का उपसर्ग

साधना के धनी

भारमलजी स्वामी वाल्यावस्था से ही वडे निर्भय थे। जितनी तीव्र उनकी अहिंसा-वृत्ति थी, उतनी ही तीव्र निर्भयता भी थी। वस्तुत अहिंसक को अकुतोभय होना ही चाहिए। अतर आत्मा में जमी हिंसक-वृत्ति का एक पार्श्व आक्रमण है, तो दूसरा भय। स्वय अभय हुए विना दूसरो को अभय नही दिया जा सकता। अभय को अहिंसा-साधना की कसौटी कहा जा सकता है। भारमलजी स्वामी की अहिंसा-साधना को इस कसौटी पर कसा जाए तो कहा जा सकता है कि वे वहुत ही उत्कृष्ट साधना के धनी थे।

पैरो मे सर्प

स्वामीजी जव स० १८१७ में अपना प्रथम चातुर्मास करने के लिए केलवा में गये थे, तव उन्हें ठहरने के लिए 'अधेरी ओरी' मिली थी। जनता उस स्थान को भूत आदि अदृश्य शक्तियो से अभिभूत मानती थी। भारमलजी स्वामी स्वामीजी के साथ ही वहाँ रहे थे। उस समय उनकी अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी।

दिन के समय तो वहाँ किसी प्रकार का कोई विघ्न उपस्थित नही हुआ, किन्तु सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् वहाँ एक उपसर्ग उत्पन्न हुआ। वाल साधु भारमलजी स्वामी जव परिष्ठापन (लघु-शका-निवृत्ति) के लिए वाहर गये तो वापिस आते समय द्वार के सामने ही एक सर्प उनके पावो में लिपट गया। चलना सभव नही था, हो-हल्ला मचाना उपयुक्त नहीं था, अत: वे वहीं-के-वहीं खडे रह गये, निश्चल, निर्भय और मौन। चौदह वर्ष के वालक की यह अभय-वृत्ति आश्चर्य-जनक थी। ऐसी परिस्थिति में धैर्य को वनाये रखना किसी युवा या वृद्ध के लिए भी सहज नही होता। वस्तुत अभय का सम्वन्ध अवस्था से नही, किन्तु मानसिक वृत्ति से ही अधिक होता है।

वाहर क्यों खड़े हो ?

स्वामीजी ने उन्हें वाहर 'अछाया' में खडा देखा तो कहा—"भारमल ! अन्दर आ जाओ, वाहर क्यो खडे हो ?"

भारमलजी स्वामी ने कहा—"भगवन् ! सर्प-जाति ने पैरो में आटे दे रखे हैं, कैसे आऊँ ?"

परिस्थिति की कठोरता को भांपते हुए स्वामीजी तत्काल वहाँ आये और 'नमुक्कार-मंत्र तथा 'मंगल-पाठ' का उच्चारण कर कहने लगे— 'देवानुप्रिय ! यदि तुम कोई देव-जाति के हो और तुम्हारा कोई यहाँ स्थान है तथा तुम यह चाहते हो कि हम यहाँ न रहें तो हमें स्पष्ट बतला दो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगे। पर इस तरह का उपसर्ग उपयुक्त नहीं है।

स्वामीजी के उन शब्दों के साथ ही सर्प स्वयं ही वहाँ से हट गया और भारमलजी स्वामी को लेकर स्वामीजी अन्दर आ गये।

अर्ध रात्रि के पश्चात्

स्वामीजी को लगा कि इस स्थान के विषय में लोगों में जो भय की भावना बनी है वह बिल्कुल निष्कारण तो नहीं है। इसीलिए उस प्रथम रात्रि में उन्हें विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य सब साधुओं के सो जाने के पश्चात् भी वे धर्म-जागरण करते में लगे रहे।

कहा जाता है कि लगभग अर्धरात्रि व्यतीत होने के पश्चात् कोई कहने लगा—"आगे के लिए आपको कोई उपसर्ग नहीं होगा। आनन्द से आप यहाँ रहिये। किन्तु इतना-सा ध्यान रखने की आवश्यकता होगी कि प्रातःकाल सर्प के द्वारा खींची गई एक रेखा आपको मिलेगी उसके इस ओर कोई साधु परिष्ठापन न करें।"

स्वामीजी ने उसकी इस बात को स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् वह श्वेत वस्त्र धारी व्यक्ति कुछ देर और ठहरा। फिर अन्तर्धान हो गया।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन से निवृत्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सब साधुओं को रात की यह बात बतलाई और उस रेखा को देखकर उसके इस ओर परिष्ठापन आदि क्रियाओं की मना ही कर दी।

सभी प्रभावित

लोगों को जब रात्रिकालीन सर्प की घटना और भारमलजी स्वामी की निर्भीकता का पता चला तो वे सब बड़े प्रभावित हुए। धीरे-धीरे उनकी द्वेष-बुद्धि की उग्रता क्षीण होती गई और अनुकूलता पनपती गई। भारमलजी स्वामी की अभय-वृत्ति ने उन सबके मन में अहिंसा का वह बीज बोया जो कि अंकुरित होकर बड़ा फलदायी निकला। केलवा को तेरापंथ का प्रथम क्षेत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त करने में भी बाल-साधु भारमलजी स्वामी का वह निर्भीक साहस काफी सहायक बना था।

: ५ :

एक आदर्श शिष्य

प्रथम प्रयोग-क्षेत्र

भारमलजी स्वामी एक आदर्श शिष्य के रूप मे स्वामीजी को प्राप्त हुए थे। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को वे अपनी ओर से परिपूर्ण करने का सदैव प्राणपण से प्रयास किया करते थे। स्वामीजी भी अपनी किसी विशेष आज्ञा का प्रयोग पहले-पहल भारमलजी स्वामी पर ही करके देखा करते थे।

साधारण को न तो कसौटी बनाया जा सकता है और न ही उसे कसौटी पर चढाने की आवश्यकता होती है। ये दोनो कार्य विशिष्ट के लिए ही होते है। साधारण पत्थर कसौटी नहीं बन सकता तो साधारण धातु को भी कसौटी पर चढाने की आवश्यकता नही होती। जिस तरह थोडी सी चोट या दबाव से काच चूर-चूर हो जाता है, उसी तरह अधीर पुरुष भी थोडे से दबाव या निर्देश से घबरा उठते है। ऐसे समय में तो हीरे की तरह घन की चोटों को भी सहजाने वाला धीर पुरुष चाहिए।

स्वामीजी को एक ऐसा ही हीरा भारमलजी स्वामी के रूप में प्राप्त हुआ था। वे अपने निर्देशों, अनुभवों तथा मर्यादाओं की उपयोगिता को कसकर देखने के लिए उन्हें अपना प्रथम प्रयोग-क्षेत्र मानते थे।

विशेष सावधान

वे स्वामीजी के प्रमुख शिष्य थे, फिर भी उन्हें कोई विशेष छूट या सुविधा प्रदान नहीं की गई थी। अपितु उस स्थिति में उन्हें औरों से अधिक सावधानी और उपयोगिता से बरतना पडता था। दूसरो की छोटी-मोटी असावधानी जहाँ साधारण रूप में गिन ली जा सकती थी, वहाँ उनकी वही असावधानी स्वामीजी की दृष्टि में असाधारण होती थी।

वे ऐसी असावधानी करते भी नहीं थे कि उन्हें सावधान करने की कभी आवश्यकता पडे। फिर भी स्वामीजी अपने प्रमुख शिष्य को आचार-विशुद्धि में प्रमुख ही नही, अनन्य भी देखना चाह तेथे। अनेक बार सम्भावित गलतियो के लिए उनपर दड लगा दिया जाता था। वे उन सारे निर्देशों को अपने हित के लिए समझकर वहन करने में कभी पीछे नही हटते थे।

एक दड

एक बार स्वामीजी ने उन पर यह प्रतिबन्ध लगाया था कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी ईर्या-समिति की गलती निकाले तो तुम्हें दड-स्वरूप एक 'तेला' (तीन दिन का उपवास) करना पडेगा।

भारमलजी स्वामी ने कहा—"भगवन्। द्वेषी-जन बहुत है, अत सम्भव है कि कोई द्वेष-वश झूठमूठ ही गलती बतलाने लगे।

परिस्थिति की कठोरता को भांपते हुए स्वामीजी तत्काल वहाँ आये और 'नमुक्कार-मंत्र' तथा 'मंगल-पाठ' का उच्चारण कर कहने लगे— 'देवानुप्रिय ! यदि तुम कोई देव-जाति के हो और तुम्हारा कोई यहाँ स्थान है तथा तुम यह चाहते हो कि हम यहाँ न रहें तो हमें स्पष्ट बतला दो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगे। पर इस तरह का उपसर्ग उपयुक्त नहीं है।"

स्वामीजी के उन शब्दों के साथ ही सर्प स्वयं ही वहाँ से हट गया और भारमलजी स्वामी को लेकर स्वामीजी मन्दर आ गये।

अर्ध रात्रि के पश्चात्

स्वामीजी को लगा कि इस स्थान के विषय में लोगों में जो भय की भावना बनी है वह बिल्कुल निष्कारण तो नहीं है। इसीलिए उस प्रथम रात्रि में उन्हें विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य सब साधुओं के सो जाने के पश्चात् भी वे धर्म-जागरण करते में लगे रहे।

कहा जाता है कि लगभग अर्धरात्रि व्यतीत होने के पश्चात् कोई कहने लगा— आगे के लिए आपको कोई उपसर्ग नहीं होगा। आनन्द से आप यहाँ रहिये। किन्तु इतना-सा ध्यान रखने की आवश्यकता होगी कि प्रातःकाल सर्प के द्वारा खींची गई एक रेखा आपको मिलेगी उसके इस ओर कोई साधु परिष्ठापन न करें।

स्वामीजी ने उसकी इस बात को स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् वह श्वेत वस्त्र धारी व्यक्ति कुछ देर और ठहरा। फिर अन्तर्धान हो गया।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन से निवृत्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सब साधुओं को रात की वह बात बतलाई और उस रेखा को देखकर उसके इस ओर परिष्ठापन आदि क्रियाओं की मना ही कर दी।

सभी प्रभावित

लोगों को जब रात्रिकालीन सर्प की घटना और भारमलजी स्वामी की निर्भीकता का पता चला तो वे सब बड़े प्रभावित हुए। धीरे-धीरे उनकी इ[illegible]-बुद्धि की जड़ता क्षीण होती गई और अनुकूलता पनपती गई। भारमलजी स्वामी की अभय-वृत्ति ने उन सबके मन में अहिंसा का वह बीज बोया जो कि अंकुरित होकर बड़ा फलदायी निकला। केलवा को तेरापंथ का प्रथम क्षेत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त करने में भी बाल-साधु भारमलजी स्वामी का वह निर्भीक साहस काफी सहायक बना था।

आवश्यकतावश लिखी गई थी। सघ मे उस समय सूत्र-सिद्धान्तो तथा व्याख्यानो आदि की प्रतियाँ बहुत ही कम थी। जो कुछ प्राप्य था, अपने ही बलबूते पर प्राप्य था। बाहर से किसी द्वारा प्राप्त होने की गुजाइश विशेष नही थी। लोग आहार-पानी देने से भी परहेज किया करते थे, अत सूत्र आदि की प्रतियाँ तो देखने को भी मिलनी कठिन थी।

उनको सुलभ करने का उपाय केवल एक ही था कि उन्हें लिखा जाए। इसीलिए जहाँ कही से भी कोई प्रति कुछ दिनो के लिए भी मिलती थी तो उसकी प्रतिलिपि कर ली जाती थी।

भारमलजी स्वामी ने स्वामीजी द्वारा विरचित प्राय सभी ग्रन्थो की प्रतिलिपि की थी। आज उनकी वे प्रतियाँ स्वामीजी के ग्रन्थो की प्रामाणिक प्रतियो के रूप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो गई है। उन ग्रन्थो के अतिरिक्त भी उन्होने काफी लिखा था। वे एक कुशल लिपिकर्त्ता थे।

एक व्याख्यान, अनेक बार

भारमलजी स्वामी ने हेमराजजी स्वामी को पूर्वावस्था के अपने सस्मरण सुनाते हुए एक बार बतलाया था कि पहले कुछ वर्षो तक तो ग्रन्थों और व्याख्यानो का इतना अभाव था कि हम लोग अजना तथा देवकी के व्याख्यान को चातुर्मास में दो-दो, तीन-तीन बार वाचते थे।[1] ग्रन्थो की ऐसी आवश्यकता ने ही सघ के सन्तो को लिखने की ओर प्रेरित किया।

नीद उड़ाने का उपाय

भारमलजी स्वामी ने स्वामीजी की बहुत-सी कृतियों को कठस्थ कर लिया था। उन्होने अनेक आगम भी कठस्थ किये थे। स्वाध्याय भी बहुत किया करते थे। बालक-अवस्था में जब उत्तराध्ययन कठस्थ किया था, तब उसे चितारते समय कभी-कभी नीद आने लगती थी।

एक बार स्वामीजी ने उन्हें खडे होकर चितारने की प्रेरणा दी। भारमलजी स्वामी ने उस बात को तो शिरोधार्य किया, पर एक आशका कचोटने लगी कि कही खडे-खडे भी नीद आने लगी और गिर पडा तो क्या होगा ? उन्होंने यह बात भी स्वामीजी से ही पूछी।

स्वामीजी ने कहा—"भीत को पू जकर कोने में खडा हो जाया कर ताकि सहारा आ जाने से अधिक थकान भी न आने पाये और गिरने की आशका भी न रहे।" उन्होंने वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अनेक बार सारे-के-सारे उत्तराध्ययन का स्वाध्याय यों खडे रहकर किया था।[2]

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २७४
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १८२

परम भक्त

भारमलजी स्वामी की जीवन-घटनाओं से पता लगता है कि वे आगम-कथित विनीत शिष्य के लक्षणो से परिपूर्ण थे। वे स्वामीजी के हर आदेश को 'मम लाभोत्ति पेहाए'—यह मेरे लाभ के लिए ही है, इसी प्रेक्षा से स्वीकार करते थे। गुरु के इगित और आकार के अनुकूल तो वे किया ही करते थे, पर मन की भावना को भी पूर्णरूपेण जानने का तथा तदनुकूल कार्य करने का उनका प्रयास रहता था। वे तोत्र-गवेषक नहीं थे कि गुरु कहें तो करू अन्यथा मुझे क्या करना है ?

ऐसे आदर्श शिष्य के प्रति गुरु भी प्रसाद-युक्त हो तथा उन्हें विपुल श्रुत और अर्थ से लाभान्वित करें तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। ऐसे परमभक्त शिष्य ही वस्तुत गुरु तथा गुरु-प्रदत्त ज्ञान का गौरव बढाते हैं।

रोचक प्रसंग

बाल्यकाल से लेकर स्वामीजी की विद्यमानता तक भारमलजी स्वामी को प्रायः उनकी सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे स्वामीजी के ऐसे भक्तों में से थे जिनकी सेवावृत्ति को उन्होंने स्वयं सराहा था। फिर भी कुछ ऐसे अवसर आये जब कि वे कारणवशात् स्वामीजी से पृथक रहे थे।

एक बार जब स्वामीजी मारवाड़ से थली की ओर जा रहे थे तब बोरावड़ में चक्षु की बीमारी के कारण भारमलजी स्वामी को वहीं रुकना पड़ा था। स्वामीजी आवश्यकतावश लाडनू होते हुए चूरू तक पधारे थे और थोड़े ही दिनों में उद्दिष्ट कार्य से निवृत्त होकर वापिस बोरावड़ आ गये थे। इस प्रकार वेचक ने उनकी अनवरत सेवा में कुछ दिनों के लिए जो बाधा उपस्थित कर दी थी वह अधिक दिन नहीं पाई।

पृथक् चातुर्मास

भारमलजी स्वामी का एक चातुर्मास भी स्वामीजी से पृथक हुआ था। सं० १८२४ के चातुर्मास में स्वामीजी कंटालिया में थे जब कि भारमलजी स्वामी बगड़ी में। कहा जाता है कि वहाँ उन्हें बुखार के कारण से रुकना पड़ा था। स्वामीजी अपनी निर्णीत तिथि के अनुसार बगड़ी से कंटालिया पधार गये थे। भारमलजी स्वामी को साधारण बुखार था अतः उन्हें कुछ साधुओं सहित बगड़ी में ही छोड़ गये थे और कह गये थे कि बुखार उतरते ही कंटालिया आ जाना। वहाँ से कंटालिया केवल सात मील की दूरी पर ही स्थित है परन्तु दोनों के बीच में एक बरसाती नदी पड़ती है। स्वामीजी कंटालिया पधारे तब तो वह सूखी थी परन्तु भारमलजी स्वामी को बुखार उतरा तब तक वर्षा हो जाने के कारण उसमें पानी आ गया था। एक से दूसरी ओर जाने के सब मार्ग अवरुद्ध हो गये थे। अतः उसी विवशता में उन्हें वह चातुर्मास स्वामीजी से पृथक करना पड़ा था।

धारा के दोनों ओर

कुछ दिन पश्चात् जब नदी का वेग कम पड़ गया पानी थोड़ा-थोड़ा-सा बहता रह गया तब गुरु शिष्य दोनों का सम्पर्क संभव हो सका। बीच में पानी की धारा बहती रहती और उसके ऊपर से गुरु शिष्य की धर्म चर्चा की धारा बहने लगती। स्वामीजी एक तट से आवश्यक आदेश निर्देश देते और दूसरे तट से भारमलजी स्वामी उन्हें यथावत् ग्रहण करते। इस प्रकार कुछ देर वहाँ ठहरने के पश्चात् अपने अपने स्थान की ओर विदा हो जाते। उस चातुर्मास में उस प्रकार का मिलन बहुधा होता रहा। एक तरफ नदि का उफान था तो दूसरी तरफ वात्सल्य का।[1]

१—भिक्षु-दृष्टान्त ह० २७५

आचार-सहिता का वह प्रारम्भ स्वत ही किसी ऐसे शुभ-अवसर पर हुआ लगता है कि फिर आगे-से-आगे अनेक मर्यादाएँ यथासमय वनती रहीं और इस प्रकार अनायास ही तेरापथ को एक परिपूर्ण सविधान प्राप्त हो गया ।

वीर-गौतम की जोड़ी

भारमलजी स्वामी अत्यन्त कोमल प्रकृति के होने के कारण सभी के लिए समानरूप से आदरणीय थे । युवाचार्य-पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी वे पूर्ववत् स्वामीजी की सेवा में लगे रहते । जनता भगवान् महावीर और गौतम स्वामी की प्रतिकृति स्वामीजी और भारमल-जी स्वामी के रूप में प्रत्यक्ष देखा करती थी । एक सफल उत्तराधिकारी के रूप मे भारमलजी स्वामी ने सघ के अनेक कार्यों मे स्वामीजी के गुरुत्तर भार मे हाथ वटाया । लगभग अट्ठाईस वर्ष तक स्वामीजी की देख-रेख में उन्हें सघ के आन्तरिक तथा वाह्य, दोनों ही प्रकार के कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उस अवधि में उन्होने अपनी जागरूकता और सतत् कार्यशीलता से अपनी योग्यता का ही परिचय नही दिया, अपितु अपने प्रति सवकी श्रद्धा को भी आकृष्ट किया ।

६

स्वामीजी के उत्तराधिकारी

उपयुक्त व्यक्ति

स्वामीजी ने जिन-शासन में आचार विशुद्धि की जो नई लहर पैदा की थी उसे चिर-जीवित रखना तभी संभव था जब कि उनके उत्तराधिकारी भी उतनी ही सावधानी से संघ की देख रेख करते रहें। यह देख रेख तभी संभव हो सकती थी जब कि उत्तराधिकारी स्वयं अत्यन्त सावधान हों और किसी की भी स्खलना पर भेद भाव रहित होकर उसे टोकने का साहस रखते हों। ये सब गुण भारमलजी स्वामी में प्रचुर मात्रा में थे। अतः वे स्वामीजी के एक उपयुक्त उत्तराधिकारी थे। उन जैसे योग्य शिष्य के रहते हुए स्वामीजी इस ओर से सर्वथा निश्चिन्त थे।

योग्य नियुक्ति

स्वामीजी ने प्रारम्भिक पन्द्रह-सोलह वर्ष मुख्यतः अपने विचारों के प्रचार प्रसार में ही लगाये थे। उसके पश्चात् उन्होंने देखा कि अब जनता में धर्म के प्रति अभिरुचि जागृत हो चुकी है और धीरे धीरे संघ की सर्वतोमुखी प्रगति अपने ही बल पर चालू हो चुकी है, तो उन्होंने अपना ध्यान संघ की आगामी व्यवस्था की ओर भी लगाना प्रारम्भ किया। उस दिशा में उन्होंने सर्वप्रथम जो कार्य किया वह उत्तराधिकारी की नियुक्ति के रूप में जनता के सामने आया।

स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उन्होंने अपने उस कार्य से आगामी आचार्यों के लिए भी एक दिशा निर्देश दे दिया कि इस संघ में भावी आचार्य कैसे नियुक्त किये जाने चाहिएँ। उस नियुक्ति से स्वामीजी ने वस्तुतः योग्य व्यक्ति को योग्य स्थान प्रदान करने की एक स्वस्थ परम्परा डाली थी।

आचार-संहिता का प्रारम्भ

संवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी के दिन उन्होंने भारमलजी स्वामी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। इसलिए उसी दिन तेरापंथ के विधान निर्माण का कार्य भी स्वतः ही प्रारम्भ हो गया था। इतने वर्षों तक संघ-व्यवस्था के लिए स्वामीजी जो कुछ मौखिक रूप से कह देते थे वही नियम के रूप में काम चलाया करता था। पर उस दिन से उन्होंने अपनी आज्ञाओं को लिखित रूप देना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते हुए जो प्रथम-मर्यादा संघ को प्रदान की उसमें भावी आचार्य की नियुक्ति के लिए आचार संहिता और साथ ही आचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के लिए कर्तव्य निर्देश किया गया था।

आचार-सहिता का वह प्रारम्भ स्वत ही किसी ऐसे शुभ-अवसर पर हुआ लगता है कि फिर आगे-से-आगे अनेक मर्यादाएँ यथासमय वनती रही और इस प्रकार अनायास ही तेरापथ को एक परिपूर्ण सविधान प्राप्त हो गया।

वीर-गौतम की जोड़ी

भारमलजी स्वामी अत्यन्त कोमल प्रकृति के होने के कारण सभी के लिए समानरूप से आदरणीय थे। युवाचार्य-पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी वे पूर्ववत् स्वामीजी की सेवा में लगे रहते। जनता भगवान् महावीर और गौतम स्वामी की प्रतिकृति स्वामीजी और भारमलजी स्वामी के रूप में प्रत्यक्ष देखा करती थी। एक सफल उत्तराधिकारी के रूप मे भारमलजी स्वामी ने सघ के अनेक कार्यों में स्वामीजी के गुरुत्तर भार में हाथ वटाया। लगभग अट्ठाईस वर्ष तक स्वामीजी की देख-रेख मे उन्हें सघ के आन्तरिक तथा वाह्य, दोनों ही प्रकार के कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस अवधि में उन्होने अपनी जागरूकता और सतत् कार्यशीलता से अपनी योग्यता का ही परिचय नही दिया, अपितु अपने प्रति सबकी श्रद्धा को भी आकृष्ट किया।

७

कुशल धर्माचार्य

अनुभवी शासक

भारमलजी स्वामी सं० १८६० माद्रपद कृष्णा त्रयोदशी को आचार्य-पद पर आसीन हुए। स्वामीजी उसी तिथि को दिवंगत हुए। अतः स्वभावतः वही तिथि उनके पदारोहण की भी हो गई। आचार्य-पद की प्राप्ति से पूर्व लगभग चौवालीस वर्ष तक वे स्वामीजी के साथ तेरापंथ-संघ की प्रति विधियों के संचालन में सहायक बने रहे। उनमें से युवाचार्य पद के अट्ठाईस वर्ष तो उनके लिए और भी अधिक अनुभव-दायक रहे। अचानक किसी विशिष्ट पद पर आने वाले व्यक्ति के सामने जो असमंजसता तथा अनुभव-न्यूनता रहती है भारमलजी स्वामी के सामने वह बिलकुल नहीं थी। संघ को वे एक अनुभवी शासक के रूप में प्राप्त हुए थे।

धर्म-प्रसार की दृष्टि

उनकी दृष्टि धर्म के प्रसार-हेतु अत्यन्त जागरूक रहती थी। संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को वे तत्त्वज्ञान की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया करते थे। छोटे बालक तथा बालिकाओं को तत्त्वज्ञान सिखाने में वे बहुत रुचि लिया करते थे। बालिकाओं को तो वे इस कार्य में प्राथमिकता दिया करते थे।

एक बार किसी व्यक्ति ने भारमलजी स्वामी से पूछा कि आप बालिकाओं को तत्त्वज्ञान कराने पर अधिक जोर क्यों देते हैं? उन्होंने तब उत्तर देते हुए कहा था कि बालक अपने ही घर में रहता है किन्तु बालिका बड़ी होने पर दूसरे घर में जाती है। बालक के तत्त्वज्ञान को फैलने का जितना क्षेत्र मिलता है उससे कहीं अधिक बालिका के तत्त्वज्ञान को मिलता है। बालिकाओं में यदि ये संस्कार सुदृढ़ रहेंगे तो आगे चलकर वे ही माताएँ होकर ससुराल तथा पीहर में अनेक व्यक्तियों को समझा सकेंगी। उनके बेटे बेटी बहू दोहिती आदि भी धर्म के अनुकूल बनेंगी। इस प्रकार एक बालिका को तत्त्वज्ञान सिखाने का अर्थ होता है अनेक परिवारों में धर्म के संस्कारों का बीज-वपन कर देना[1]। उपर्युक्त उत्तर से उनकी दूरदर्शिनी चिन्तन-पद्धति तथा स्वामीजी की विचार धारा के प्रसार की उत्कट भावना का अनुमान लगाया जा सकता है।

१—श्रावकां रा दृष्टान्त १०

अनुशासन-प्रेमी

वे एक अनुशासन-प्रिय आचार्य थे। किसी की भी अनुशासन-हीनता को वे सघ के लिए घातक समझते थे। वे स्वय अपने बाल्यकाल तथा युवाकाल मे स्वामीजी के अनुशासन मे रहे थे, अत उसकी उपयोगिता का उन्हें पूर्णरूप से ज्ञान था। साथ ही अन्य साधु-सघों मे अनुशासन-हीनता के कारण से फैले हुए शैथिल्य का भी उन्हें पता था। वे स्वभाव के अत्यत मृदु होते हुए भी अनुशासन की अपनी नीति में बडे दृढ थे। अनुशासन-भग को वे अक्षम्य अपराध मानते थे।

वंदन न किया जाए

एक बार भारमलजी स्वामी द्वारा किसी प्रयोजन-विशेष से कुछ दिन के लिए साधु-साध्वियों को लावा-सरदारगढ में रहने की मनाही कर दी गई थी। वहाँ के कुछ श्रावक तेरापथ के प्रति विपरीत होकर जनता में काफी द्वेष फैला रहे थे। आचार्यदेव ऐसे अवसर पर कुछ ढील देना चाहते थे ताकि उन्हें आत्म-निरीक्षण का अवकाश मिल सके।

उसी समय मुनि मोजीरामजी आदि तीन सत कही आगे से विहार करते हुए आ रहे थे। उन्हें उस आज्ञा का कोई पता नहीं था। वे कई दिन के लिए वहाँ रुक गये। वह रुकना उनके लिए बहुत भारी पडा। शारीरिक अस्वास्थ्य का जहाँ उन्हें सामना करना पडा, वहाँ श्रावकों के विचारों-सम्बन्धी अस्वास्थ्य का भी उन्हें शिकार बनना पडा। उन दोनों से भी बढकर एक तीसरी बात यह हुई कि भारमलजी स्वामी के पास जो बात पहुँची, उससे उन्हें यह विश्वास हुआ कि वे आज्ञा की अवहेलना करके वहाँ रहे हैं।

भारमलजी स्वामी को वह बात बहुत अखरी। अनुशासन के उस प्रत्यक्ष उल्लघन को उन्होंने उनकी सयम-भावना की अनिश्चितता माना। इसीलिए जब मुनि मोजीरामजी वहाँ से विहार कर राजनगर में आचार्यदेव के दर्शन करने को आये तो भारमलजी स्वामी ने पहले से ही सब सतों को बुलाकर यह आदेश दे दिया था कि जब तक उनके वहाँ ठहरने के कारण की जाँच नहीं कर ली जाती तब तक कोई भी सत न तो उठकर उनका सम्मान करे और न ही वदन करे।

मुनि मोजीरामजी आये परन्तु न कोई सत उठा, न किसी ने वदन किया और न किसी ने आगे बढकर कधों पर से भार उतारा। सत उन्हें चकित दृष्टि से देख रहे थे और वे सतो को। आखिर स्वय ही भार उतार कर जब वे गुरु-चरणों में झुके तो आचार्यदेव का हाथ भी सिर पर नहीं आया। वे चकराये और उठकर आचार्यदेव से अपनी किसी अज्ञात रूप में हुई गलती की क्षमा मांगते हुए उसका कारण पूछने लगे।

आचार्यदेव ने उपालभ के स्वर में उनसे पूछा कि निषिद्ध हो

क्यों रहे ? इस पर उन्होंने पूर्ण विश्वास दिलाते हुए बतलाय

: ८ :

महाराणा के दो पत्र

उदयपुर मे पदार्पण

भारमल्जी स्वामी उदयपुर पधारे ।[१] वहाँ के लोगो की काफी प्रार्थना थी । उपकार की भी अच्छी सभावना थी । वहाँ वाजार में दुकानों के ऊपर विराजना हुआ । रात को नीचे वाजार में व्याख्यान होता और दिन को ऊपर धर्म-चर्चाएँ चलती । लोग काफी सख्या में आने-जाने लगे । कुछ व्यक्ति समझने के उपरान्त सम्यक्त्वी भी वने ।

बाँस और बाँसुरी

इसी वीच में कुछ विद्वेषी व्यक्तियो ने महाराणा भीमसिंहजी को इस विषय में वहकाना प्रारभ किया । उसका एक सभाव्य कारण यह था कि जव वे अनेक प्रकार के उपाय कर लेने पर भी जनता को भारमलजी स्वामी के पास जाने से नही रोक सके, तव उन्होंने यही सोचा कि क्यों नहीं महाराणा के निकट रहने का लाभ उठाया जाए ? यदि महाराणा के मन में तेरापथ के प्रति घृणा विठा दी जाए तो सतों को यहाँ से निकलवाया जा सकता है । फिर 'न रहेगा बाँस और न वजेगी बाँसुरी' । तेरापथी साधु ही उदयपुर मे नही रहेंगे तो ये उनके पास आने वाले भक्त स्वय ही शात होकर बैठ जाएँगे ।

एक षड्यत्र

उस समय महाराणा के आस-पास तेरापथ के विरोधियों का काफी जोर था । राज्य में भी सर्वत्र उनका वर्चस्व था । अत तेरापथ के विरुद्ध किसी भी प्रकार का षड्यत्र करना उनके लिए वहुत सहज था । उन्होंने योजना-वद्ध महाराणा के पास ऐसी बातें पहुँचानी प्रारभ कीं, जिनसे उनका मन तेरापथ के विषय में भ्रान्तिपूर्ण हो जाय ।

उन्हें वताया जाने लगा कि ये लोग (तेरापथी साधु) जहाँ जाते हैं, वहाँ दुष्काल पड़ जाता है, ये वर्षा को पसद नहीं करते, अत उसे रोक देते हैं । दया के घोर विरोधी हैं, दान देने का भी निषेध करते हैं आदि-आदि ।

१—संवत् १८७३ में पाली चातुर्मास करने के पश्चात् भारमल्जी स्वामी मेवाड़ पधारे थे । सं० १८७४ का चातुर्मास उन्होंने नाथद्वारा में किया था । उस चातुर्मास के पश्चात् उदयपुर में उनका उपर्युक्त पदार्पण हुआ था । उसका समय स०१८७४ के मार्गशीर्ष से लेकर सं०१८७५ के ज्येष्ठ तक का कोई भी हो सकता है । एक प्राचीन पत्र (प्र० प० सं० पत्र २८) में स० १८७६ का उल्लेख है, परन्तु वह गलती से लिखा गया प्रतीत होता है । क्योंकि स० १८७५ आषाढ कृष्णा तृतीया को तो महाराणा ने उन्हें फिर से निमन्त्रित करने को पत्र भी लिख दिया था ।

इस प्रकार की बातें तेरापंथ के प्रारंभकाल से ही उस पर कही जाती रही हैं। बार-बार के स्पष्टीकरणों के बावजूद भी विरोधी-जन उन्हें फैलाने में बड़े तत्पर रहे हैं। अब भी ऐसी बातें फैलाई जाती हैं परन्तु अब तो वे घिसकर भुथरा चुकी हैं अतः अधिक असर नहीं करतीं। पर उस समय तो नई ही थीं अतः तत्काल असर करती थीं। महाराणा पर भी उन बातों ने असर किया। विश्वासी और सदा पास में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा कही गई बात भी शीघ्र ही असर करती है फिर यह तो अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से दुहरा-दुहरा कर कही गई थी। महाराणा ने जब उन बातों के आधार पर संतों के विषय में कुछ अप्रसन्नता के भाव व्यक्त किये तो उन लोगों की बाछें खिल गई। उन्होंने और अधिक दृढ़ता से महाराणा के सामने रखा कि ऐसे व्यक्ति अपने शहर में रहने योग्य नहीं हैं। इन्हें जितना जल्दी यहाँ से निकाल दिया जाये, उतना ही अच्छा है।

उदयपुर से निष्कासन

महाराणा उन सबकी कूटनीति के शिकार हो गये। लगता है कि उस समय के राजाओं में जहाँ राजनैतिक पटुता का अभाव हो रहा था वहाँ व्यावहारिक पटुता भी लुप्त हो गई थी। उन्होंने वस्तुस्थिति तक पहुँचने का अपनी ओर से कोई प्रयास किया ही नहीं। जैसा सुनाया गया वैसा ही करने को तैयार हो गये। संभवतः महाराणा भीमसिंहजी की प्रकृति में यह अपनी एक दुर्बलता रही थी। एक अन्य समस्या को हल करने के लिए राजकुमारी कृष्णा को विष दे डालने वाली बात भी उनकी इसी प्रकृति की परिचायक कही जा सकती है। विरोधियों ने उनकी उस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया। उन लोगों ने संतों के प्रति घृणा तो उनके मन में पहले ही पैदा कर दी थी अब उनके नगर-वास को भी अशुभ बतलाया जाने लगा तो सहज ही यह बात महाराणा के दिमाग में बैठ गई। उन्होंने एक 'हरकारे' को बुलाया और संतों के स्थान का अता-पता देकर उन्हें शहर में रहने की मनाही करने के लिए भेज दिया।

शहर से आहार लेकर संत आये ही थे कि हरकारा भी 'तेरापंथी संत भारमलजी' का नाम पूछता हुआ वहाँ पहुँच गया। उसने राजाज्ञा सुनाते हुए कहा कि आपको शहर में रहने की आज्ञा नहीं है।

भारमलजी स्वामी ने उससे पूछा— 'आहार-पानी लाया हुआ है अतः भोजन करने के पश्चात् जाएँ या पहले ही ?

उसने कहा— महाराणा ने एकदम अभी-का-अभी जाने का तो नहीं कहा है अतः आप भोजन करने के पश्चात् भी जा सकते हैं।

हरकारा चला गया। भारमलजी स्वामी भी आहार-पानी करने के पश्चात् वहाँ से विहार कर गये। विरोधी-जनों को उससे बड़ा आत्मगौरव का अनुभव हुआ। पर वे इतने से ही शांत नहीं हो गये। वे उन्हें मेवाड़ से निकलवा देने का भी सोचने लगे और योजना बना कर तदनुसार चेष्टाओं में संलग्न हो गये।

साहसिक निर्णय

भारमलजी स्वामी वहाँ से विहार करते हुए क्रमश राजनगर पधार गये। उदयपुर से निकाले जाने तथा आगे के लिए मेवाड से भी निकलवा देने की योजना सम्बन्धी बातें मेवाड भर में फैल गई। तेरापथी श्रावक-वर्ग मे चिन्ता की लहर दौड गई। वे उस समस्या पर विचार करने के लिए राजनगर में हजारो की सख्या में एकत्रित हुए। सबने मिलकर यह निर्णय किया कि यदि भारमलजी स्वामी को मेवाड से चले जाने की आज्ञा आ जाए तो हम सबको भी उनके साथ ही मेवाड छोड देना चाहिए। श्रावको का वह निर्णय बहुत ही साहस-पूर्ण था। वस्तुत वह उनके लिए एक कसौटी का समय था। उन्होने दृढता-पूर्वक उस परिस्थिति का सामना किया।

जो समाज उपस्थित हुए सकटो का सामना करने के लिए बलिदान देने की योजना नही रखता वह अपने आप को जीवित नही रख सकता। तेरापथ के सम्मुख उन दिनो ऐसे सकट मडराते ही रहा करते थे, परन्तु उनका सामना करने वालो का साहस और धैर्य भी अद्भुत ही था। सख्या में नगण्य होते हुए भी वे कभी निराश नही हुए और इसीलिए वे कभी परास्त भी नही हुए।

महाराणा पर विपत्ति

उदयपुर का श्रावक-वर्ग उपर्युक्त घटना से काफी खिन्न था। पर उस समय तक उनके पास कोई ऐसा व्यक्ति नही था जो महाराणा तक पहुँचकर बातों का स्पष्टीकरण कर सके और उनके विचारो को नया मोड दे सके। सब किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे थे।

उसी समय उदयपुर पर प्रकृति का प्रकोप हो गया। शहर में मरी फैल गई। सैकडो नागरिक काल-कवलित हो गये। महाराणा के बडे कुवर भी उसी रोग के चपेट में आकर गुजर गये। महाराणा के मन पर उससे एक बहुत बडा आघात लगा। उस आघात से महाराणा सभल भी नहीं पाये थे कि कोटे मे उनके दामाद भी दिवगत हो गये। एक के पश्चात् एक लगने जाने वाले उन मानसिक आघातों के कारण महाराणा अत्यन्त निराश और चिन्ताग्रस्त रहने लगे।

केसरजी भडारी

विद्वेषियो ने उस स्थिति में भी तेरापथ के विरुद्ध अपना प्रयास चालू रखा। उन्हे अपनी सफलता की पूरी-पूरी सभावना थी। पर उन सबकी आशाओ पर एक व्यक्ति ने अचानक ही तुषारपात कर दिया। वे थे केसरजी भडारी। वे महाराणा के पूर्ण विश्वसित व्यक्तियों में से थे। ड्योढी की सुरक्षा[1] पर नियुक्त होने के कारण उन्हे महाराणा का सान्निध्य सहज प्राप्त

१—एक प्राचीन पत्र में लिखा मिला है कि केसरजी भडारी मेवाड के एक प्रख्यात न्यायकर्त्ता थे, परन्तु श्रुतानुश्रुति से अधिक प्रसिद्ध यही है कि वे ड्योढी की सुरक्षा पर नियुक्त अधिकारी थे।

इस प्रकार की बातें तेरापंथ के प्रारंभकाल से ही उस पर मढ़ी जाती रही हैं। बार-बार के स्पष्टीकरणों के बावजूद भी विरोधी-जन उन्हें फैलाने में बड़े तत्पर रहे हैं। अब भी ऐसी बात फैलाई जाती हैं परन्तु अब तो ये घिसकर भुथरा चुकी हैं अतः अधिक असर नहीं करतीं। पर उस समय तो नई ही थीं अत तत्काल असर करती थीं। महाराणा पर भी उन बातों ने असर किया। विश्वासी और सदा पास में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा कही गई बात यों भी शीघ्र ही असर करती है फिर यह तो अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से दुहरा-दुहरा कर कही गई थीं। महाराणा ने जब उन बातों के आधार पर संतों के विषय में कुछ अप्रसन्नता के भाव व्यक्त किये तो उन लोगों की बाछें खिल गईं। उन्होंने और अधिक दृढ़ता से महाराणा के सामने रखा कि ऐसे व्यक्ति अपने शहर में रहने योग्य नहीं हैं। इन्हें जितना जल्दी यहाँ से निकाल दिया जाये, उतना ही अच्छा है।

उदयपुर से निष्कासन

महाराणा उन सबकी कपटनीति के शिकार हो गये। लगता है कि उस समय के राजाओं में जहाँ राजनैतिक पटुता का अभाव हो रहा था वहाँ व्यावहारिक पटुता भी लुप्त हो गई थी। उन्होंने वस्तुस्थिति तक पहुँचने का अपनी ओर से कोई प्रयास किया ही नहीं। जैसा सुझाया गया वैसा ही करने को तैयार हो गये। संभवतः महाराणा भीमसिंहजी की प्रकृति में यह अपनी एक दुर्बलता रही थी। एक अन्य समस्या को हल करने के लिए राजकुमारी कृष्णा को विष दे डालने वाली बात भी उनकी इसी प्रकृति की परिचायक कही जा सकती है। विरोधियों ने उनकी उस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया। उन लोगों ने संतों के प्रति घृणा तो उनके मन में पहले ही पैदा कर दी थी अब उनके नगर-वास को भी अशुभ बतलाया जाने लगा तो सहज ही यह बात महाराणा के दिमाग में बैठ गई। उन्होंने एक 'हरकारे' को बुलाया और संतों के स्थान का अता-पता देकर उन्हें शहर में रहने की मनाही करने के लिए भेज दिया।

शहर से आहार लेकर संत आये ही थे कि हरकारा भी 'तेरापंथी संत भारमलजी' का नाम पूछता हुआ वहाँ पहुँच गया। उसने राजाज्ञा सुनाते हुए कहा कि आपको शहर में रहने की आज्ञा नहीं है।

भारमलजी स्वामी ने उससे पूछा— आहार-पानी लाया हुआ है अतः भोजन करने के पश्चात् जाएँ या पहले ही ?

उसने कहा— 'महाराणा ने एकदम अभी-का-अभी जाने का तो नहीं कहा है अतः आप भोजन करने के पश्चात् भी जा सकते हैं।

हरकारा चला गया। भारमलजी स्वामी भी आहार-पानी करने के पश्चात् वहाँ से विहार कर गये। विरोधी-जनों को उससे बड़ा आत्मगौरव का अनुभव हुआ। पर वे उतने से ही शांत नहीं हो गये। वे उन्हें मेवाड़ से निकलवा देने का भी सोचने लगे और योजना बना कर तदनुसार चेष्टाओं में संलग्न हो गये।

केसरजी ने महाराणा की भ्रान्ति का निराकरण करते हुए वतलाया कि विरोधी व्यक्ति द्वेप-वुद्धि से ही उनपर ये आरोप लगाते है, पर आप जैसे व्यक्तियो के लिए किसी के विरुद्ध कोई वात सुनकर यो विश्वास कर लेना उपयुक्त नही है । दुष्काल पडने तथा वर्षा को रोकने की वातें केवल भ्रातियाँ है । आप इन वातो के सत्य या असत्य होने के विषय में खोज करते तो मेरा विश्वास है कि किसी दूसरे ही निष्कर्ष पर पहुँचते । दया और दान के विपय में भी तेरापथ की मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने वताया कि वे आध्यात्मिक और लौकिक पक्ष को पृथक्-पृथक् समझने की वात कहते हैं । दया और दान के विरोधी नही, किन्तु उन्हे विभिन्न भूमिकाओ से समझना आवश्यक वतलाते है । उनकी मान्यता का तात्पर्य यह नही है कि दया और दान ससार से उठ जाने चाहिएँ, किन्तु यह है कि कही-कही दया और दान की जड में मोह भी काम करता है अत उस स्थिति के दया और दान का स्वरूप आध्यात्मिक न रहकर लौकिक हो जाता है । दोनो की अपने-अपने स्थानो में उपयोगिता हो सकती है, पर एक दूसरे के स्थान पर वे निरुपयोगी हो जाते है । अत उन दोनो के विषय मे सम्यग् ज्ञान होना आवश्यक है ।

इन वातो के साथ ही उन्होने तेरापथ के उद्भव तथा उसके प्रति होने वाले विरोध आदि की वातें भी महाराणा के सामने रखी और वतलाया कि इस विषय में अन्य व्यक्तियो ने आपको जो कुछ वतलाया है वह एक-पक्षीय है । आप राजा है अत आपको दूसरे पक्ष की वातें भी जान लेनी आवश्यक है, ताकि किसी के साथ अन्यान्य न हो सके ।

रुख मे परिवर्तन

महाराणा ने सारी वातें सुनीं और समझी । सत्य जब तक सामने नही आता तभी तक भ्रातियों का जाल फैला रह सकता है । महाराणा ने सत्य को पहचाना तब उनके रुख में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था । पश्चात्ताप के स्वर में उन्होने कहा—केसर ! मुझे इन वातो की गहराई का पता नही था । अत ऐसा हो गया । निश्चय ही यह ठीक नही हुआ, पर अव यह वतलाओ कि इसे सुधारा कैसे जा सकता है ? क्या हम उन्हें वापिस वुलाएँ तो वे आ जाएँगे ?

भडारीजी ने कहा—वे तो सन्यासी है अत उनके आने या न आने का निश्चय-पूर्वक तो क्या कहा जा सकता है ? किन्तु मेरा विचार है कि आप निवेदन करें तो वे अवश्य उस पर ध्यान देंगे ।

पत्र-प्रेषण

महाराणा ने तव अपने हाथ से एक पत्र लिखा और 'हरकारे' को बुलाकर भडारीजी के कथनानुसार राजनगर की ओर भेज दिया । उसे अच्छी तरह से समझा दिया कि पत्र हाथो-हाथ देकर ही वापिस आये । विलब न करने तथा गलत हाथो में न देने के लिए भी उसे विशेष सावधान कर दिया गया । हरकारा उस समय की सचार-व्यवस्था के अनुसार शीघ्र से शीघ्र राजनगर पहुँचा । फिर भी पहाडी मार्गो को तय करके जाने में उसे कुछ समय तो लगा ही ।

था। वे कुछ समय पूर्व तेरापंथी बन गये थे। श्रद्धा-आचार सम्बन्धी स्वामीजी की बात उन्होंने पूरी तरह से समझ ली थी। इतना होने पर भी वे तब तक एक गुप्त श्रावक ही थे। वे प्रकट में आना चाहते भी नहीं थे। क्योंकि तेरापंथी बनने वालों को उस समय कठोर सामाजिक-बहिष्कार का सामना करना पड़ता था। वे उस बखेड़े से बचना चाहते थे।

जब भारमलजी स्वामी को उदयपुर से निकलवाया गया था तब भंडारीजी को यह बात खटकी तो बहुत थी फिर भी ज्यों-त्यों मन मारकर चुप रह गये थे। पर जब मेवाड़ से भी निकलवा देने की योजनाएँ उनके सामने आईं तो वे एकदम से अपने आप में संभल गये। उन्हें लगा कि अब गुप्त रहने में कोई लाभ नहीं है। प्रकट रूप में आने से चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आयें पर संघ की सेवा के लिए ऐसा करना ही होगा। उन्होंने निश्चय किया कि महाराणा से मिलकर उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत किया जावे। विरोधियों ने जो गलत बातें कहकर उन्हें भ्रान्त कर दिया है उसका निराकरण प्रत्यक्ष मिलकर ही किया जा सकता है।

यह क्या सूझा है ?

भंडारीजी को महाराणा अपने घर के आदमी की ही तरह समझा करते थे। रनवास में भी उनका आना-जाना खुला था। मिलने का अवसर उन्हें अधिक खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे एकान्त अवसर देखकर महाराणा से मिले और सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए बोले— 'जो साधु कीड़ी को भी नहीं सताते उनको सताकर आप क्या लाभ उठायेंगे ? शहर से तो आपने उनको निकलवा ही दिया पर मैंने सुना है कि मेवाड़ से भी निकालने का विचार किया जा रहा है। आपको यह क्या सूझा है ? आपकी आज्ञा न होगी तो वे देश छोड़कर भी चले जाएँगे, पर आप इस बात की गाँठ बाँध लें कि जिस राज्य में संत जनों को सताया जाता है प्रकृति उसे कभी क्षमा नहीं करती। संतों को शहर से निकलवा देने के पश्चात् जो अप्रिय घटनाएँ घटी हैं वे प्रकृति के रोष का ही परिणाम हैं। अब देश से निकाल कर उस विपत्ति को और बढ़ावा देना मेरी समझ में तो अच्छा नहीं होगा।

भ्रान्ति निवारण

महाराणा ने जो भ्रांति-पूर्ण बात सुन रखी थी उसी के आधार पर कहा— भंडार ! तू शायद जानता नहीं। हमने जिन को निकलवाया है वे अपने शहर में रहने योग्य ही नहीं। उनके यहाँ रहने से दुष्काल की सम्भावना थी। सुना है कि वे वर्षा को रोक देते हैं। दया और दान के भी वे विरोधी हैं। ऐसे संतों को यहाँ रहने देकर मैं सारी प्रजा को दुःखी कैसे होने देता ?

महाराणा का प्रथम पत्र

उधर राजनगर में काफी लोग एकत्रित हो चुके थे। भारमलजी स्वामी के साथ ही मेवाड़ को छोड़कर मारवाड़ में बस जाने की योजनाएँ उभर रही थीं। उसी अवसर पर हरकारा वहाँ पहुँचा तो हर एक ने पूर्व वातावरण के अनुसार यही अनुमान लगाया कि महाराणा ने भारमलजी स्वामी को मेवाड़ छोड़ देने का आदेश भेजा है।

हरकारा भंडारीजी द्वारा बताये गये व्यक्तियों का नाम पूछता हुआ उनमें से किसी एक को वह पत्र देने लगा तो उसने दूसरे का और फिर दूसरे ने तीसरे का नाम बताकर उसे चलता किया। सब कोई उत्तेजित और भरे हुए से मालूम हो रहे थे पर बोलता कोई नहीं था। किसी ने उस पत्र को छुआ तक नहीं। बेचारा हरकारा परेशान था कि वह अब उस पत्र का क्या करे और किसे दे ?

हरकारे ने मुख्य व्यक्तियों से कहा—मेरा काम आप लोगों तक यह पत्र पहुँचा देने का था अब यह लीजिये और मुझे छुट्टी दीजिये। इसमें क्या है क्या नहीं है और उस पर आप को क्या करना है यह सब तो आपके अपने सोचने के प्रश्न हैं। आप इस पर धीरे-धीरे सोच सकते हैं पर मैं इस पत्र को लिए कब तक और किस किस के पास फिरता रहूँगा ?

हरकारे की यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य थी। सभी ने उस पर सोचा तो आखिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी आदेश होगा उसे कम-से-कम पढ़ तो लेना ही चाहिए। यों टालते कब तक रहेंगे ? अन्त में उन्होंने वह पत्र ले लिया और बड़ी असमंजसता की स्थिति में उसे खोला। पत्र को खोलने से पूर्व सभी के हृदय में एक प्रकार की अज्ञात आशंका थी और कुछ धुकर-पुकर-सी मची हुई थी परन्तु खोलने के पश्चात् जब उसे पढ़ना प्रारम्भ किया तो पाया कि समाचार प्रतिकूल नहीं अपितु सर्वथा अनुकूल था।

प्रथम पत्र

पत्र को पढ़कर उपस्थित सभी लोग हर्षातिरेक में नाच उठे। कहाँ तो मेवाड़ छोड़ देने के आदेश की संभावना की जा रही थी और कहाँ उदयपुर पधारने के लिए निमंत्रण-युक्त विनय-पत्र प्राप्त हुआ था। सभी लोग वहाँ से भारमलजी स्वामी के पास आये और वह पत्र मालूम किया। थोड़ी देर में पत्र की बात वहाँ सर्वत्र फैल चुकी थी और लोग उत्सुकता-वश ठिकाने में एकत्रित हो गये थे। सभी के सम्मुख पढ़कर वह पत्र भारमलजी स्वामी को सुनाया गया। वह इस प्रकार था

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साध श्री भारमलजी तेरापंथी साध श्री राणा भीमसिंघ री

विनती मालूम हवै। [illegible] पधारसोजी। सं० १८ ५ पूनमी

महाराणा का प्रथम पत्र

उधर राजनगर में काफी लोग एकत्रित हो चुके थे। भारमलजी स्वामी के साथ ही मेवाड़ को छोड़कर मारवाड़ में बस जाने की योजनाएँ उभर रही थीं। उसी अवसर पर हरकारा वहाँ पहुँचा तो हर एक ने पूर्व वातावरण के अनुसार यही अनुमान लगाया कि महाराणा ने भारमलजी स्वामी को मेवाड़ छोड़ देने का आदेश भेजा है।

हरकारा भंडारीजी द्वारा बताये गये व्यक्तियों का नाम पूछता हुआ उनमें से किसी एक को वह पत्र देने लगा तो उसने दूसरे का और फिर दूसरे ने तीसरे का नाम बताकर उसे चलता किया। सब कोई उत्तेजित और भरे हुए से मालूम हो रहे थे पर खुलता कोई नहीं था। किसी ने उस पत्र को छुआ तक नहीं। बेचारा हरकारा परेशान था कि वह अब उस पत्र का क्या करे और किसे दे ?

हरकारे ने मुख्य व्यक्तियों से कहा—मेरा काम आप लोगों तक यह पत्र पहुँचा देने का था अतः यह लीजिये और मुझे छुट्टी दीजिये। इसमें क्या है क्या नहीं है और उस पर आप को क्या करना है यह सब तो आपके अपने सोचने के प्रश्न हैं। आप इस पर धीरे-धीरे सोच सकते हैं पर मैं इस पत्र को लिए कब तक और किस किस के पास फिरता रहूँगा ?

हरकारे की यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य थी। सभी ने उस पर सोचा तो आखिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी आदेश होगा उसे कम-से-कम पढ़ तो लेना ही चाहिए। यों टालते कब तक रहेंगे ? अन्त में उन्होंने वह पत्र ले लिया और बड़ी असमंजसता की स्थिति में उसे खोला। पत्र को खोलने से पूर्व सभी के हृदय में एक प्रकार की अज्ञात आशंका थी और कुछ धुकर-पुकर-सी मची हुई थी परन्तु खोलने के पश्चात् जब उसे पढ़ना प्रारम्भ किया तो पाया कि समाचार प्रतिकूल नहीं अपितु सर्वथा अनुकूल था।

प्रथम पत्र

पत्र को पढ़कर उपस्थित सभी लोग हर्षातिरेक में नाच उठे। कहाँ तो मेवाड़ छोड़ देने के आदेश की संभावना की जा रही थी और कहाँ उदयपुर पधारने के लिए निमंत्रण-युक्त विनय-पत्र प्राप्त हुआ था। सभी लोग वहाँ से भारमलजी स्वामी के पास आये और वह पत्र मालूम किया। इतनी देर में पत्र की बात वहाँ सर्वत्र फैल चुकी थी और लोग उत्सुकता-वश 'ठिकाने' में एकत्रित हो गये थे। सभी के सम्मुख पढ़कर वह पत्र भारमलजी स्वामी को सुनाया गया। वह इस प्रकार था

श्री लक्ष्मीजी

श्री रामनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साध श्री भारमलजी जोग्य श्री राणा भीमसिंह री

विनती मालम हो। अठा रा [illegible] पधारज्यो। [illegible] रा ५ [illegible]

महाराणा का प्रथम पत्र

उधर राजनगर में काफी लोग एकत्रित हो चुके थे। भारमलजी स्वामी के साथ ही मेवाड़ को छोड़कर मारवाड़ में बस जाने की भावनाएँ उभर रही थीं। उसी अवसर पर हरकारा वहाँ पहुँचा तो हर एक ने पूर्व वातावरण के अनुसार यही अनुमान लगाया कि महाराणा ने भारमलजी स्वामी को मेवाड़ छोड़ देने का आदेश भेजा है।

हरकारा भंडारीजी द्वारा बताये गये व्यक्तियों का नाम पूछता हुआ उनमें से किसी एक को वह पत्र देने लगा तो उसने दूसरे का और फिर दूसरे ने तीसरे का नाम बताकर उसे चलता किया। सब कोई उत्तेजित और मरे हुए से मालूम हो रहे थे पर खुलता कोई नहीं था। किसी ने उस पत्र को छुआ तक नहीं। बेचारा हरकारा परेशान था कि वह अब उस पत्र का क्या करे और किसे दे?

हरकारे ने मुख्य व्यक्तियों से कहा—मेरा काम आप लोगों तक यह पत्र पहुँचा देने का था अब यह लीजिये और मुझे छुट्टी दीजिये। इसमें क्या है क्या नहीं है और उस पर आप को क्या करना है यह सब तो आपके अपने सोचने के प्रश्न हैं। आप इस पर धीरे-धीरे सोच सकते हैं पर मैं इस पत्र को लिए कब तक और किस किस के पास फिरता रहूँगा?

हरकारे की यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य थी। सभी ने उस पर सोचा तो आखिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी आदेश होगा उसे कम-से-कम पढ़ तो लेना ही चाहिए। यों टालते कब तक रहेंगे? अन्त में उन्होंने वह पत्र ले लिया और बड़ी असमंजसता की स्थिति में उसे खोला। पत्र को खोलने से पूर्व सभी के हृदय में एक प्रकार की अज्ञात आशंका थी और कुछ धुकर-पुकर-सी मची हुई थी परन्तु खोलने के पश्चात् जब उसे पढ़ना प्रारम्भ किया तो पाया कि समाचार प्रतिकूल नहीं अपितु सर्वथा अनुकूल था।

प्रथम पत्र

पत्र को पढ़कर उपस्थित सभी लोग हर्षातिरेक में नाच उठे। कहाँ तो मेवाड़ छोड़ देने का आदेश की संभावना की जा रही थी और कहाँ उदयपुर पधारने के लिए निमंत्रण-युक्त विनय-पत्र प्राप्त हुआ था। सभी लोग वहाँ से भारमलजी स्वामी के पास आये और वह पत्र मालूम किया। इतनी देर में पत्र की बात वहाँ सर्वत्र फैल चुकी थी और लोग उत्सुकता-वश ठिकाने में एकत्रित हो गये थे। सभी के सम्मुख पढ़कर वह पत्र भारमलजी स्वामी को सुनाया गया। वह इस प्रकार था

श्री एकलिंगजी

श्री रामनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री नाथ श्री भारमलजी तेरापंथी साध श्री राणा भीमसिंह री

विनती मालूम हुवे। अठा रा ... अठे पधारोगा। ... पछे ... पुजावो

महाराणा का प्रथम पत्र

कीदो जी सामु न्ही देखेगा। मा सामु वा नगर मे प्रजा है ज्यारी दया
फर जेज नही करेगा। वती काही लपु। ओर स्माचार म्हा स्वलाल
का लप्या जाणेगा। सवत् १८७५वर्ष अपाढ वीद तीज शुक्र।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी, श्री वाणनाथजी, श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापथी साधु भारमलजी से राणा भीमसिंह की विनति मालूम हो—कृपा करके आप यहाँ पधारें। उन दुष्टो ने जो दुष्टता की उनकी ओर न देखें। मेरी तथा नगर की प्रजा की ओर देखकर दया करें और आने में विलब न करें। अधिक क्या लिखू। अन्य समाचार शाह शिवलाल[1] के द्वारा लिखे पत्र से जाने। सवत् १८७५ आपाढ कृष्णा ३ शुक्रवार।

महाराणा के उपर्युक्त पत्र को पढकर सारे सघ को बहुत बडा सन्तोष मिला। जो व्यक्ति भारमलजी स्वामी के साथ ही मेवाड को छोडने तक के लिए उद्यत हो रहे थे, उनकी परितृप्ति का तो कहना ही क्या था। यह कार्य कैसे हुआ और इसमें किसकी प्रेरणा थी—यह जानने के लिए लोगों में अत्यन्त उत्सुकता जागृत हुई, परन्तु साधारणतया उस समय किसी को कुछ विशेष मालूम नही हो सका।

कौन जाए ?

पत्र पढने और उससे उद्भूत हर्षानुभूति की अभिव्यक्ति के पश्चात् कुछ प्रमुख व्यक्ति उठे और महाराणा की प्रार्थना पर भारमलजी स्वामी की प्रतिक्रिया जाननी चाही। उन्होंने अपनी ओर से तथा जन-समुदाय की ओर से भी गुरुदेव को महाराणा की प्रार्थना पर ध्यान देने का अनुनय किया।

इस पर भारमलजी स्वामी ने कहा—"मैं बूढा हूँ और अभी कुछ दिन पहले ही वहाँ से आया हूँ, अत इतना जल्दी फिर से पहाडों को रौंदता हुआ वहाँ कौन जाए ? फिर कभी अवसर होगा तब देखा जाएगा।"

भारमलजी स्वामी वस्तुत एक फक्कड साधु थे। नाराज तो वे किसी रक को भी करना नहीं चाहते थे, परन्तु परवाह किसी महाराणा की भी नही करते थे। उन्होंने उस समय

१—वीर विनोद (भाग २ प्रकरण १५) तथा उदयपुर राज्य का इतिहास (पृ० ७१८) के अनुसार सं० १८७८ चैत्र शुक्ला द्वितीया (४ अप्रेल १८२१) को शिवलाल गलूण्या को उदयपुर राज्य का प्रधान मत्री बनाया गया था। संभवत वे ही उपर्युक्त पत्र में उल्लिखित शाह शिवलाल थे। प्रधान मंत्री बनने से पूर्व संभवत वे महाराणा के निजी सचिव के रूप में कार्य करते रहे थे। महाराणा के पत्र से पता लगता है कि उन्होंने महाराणा के कथनानुसार उपर्युक्त घटना से संबधित कोई पत्र विस्तार से लिखकर भेजा था। पर उसमें क्या समाचार थे, इसकी कोई जानकारी इस समय प्राप्त नहीं है।

उदयपुर न आने का जो निर्णय किया था वह इसी बात का एक उदाहरण कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि फिर से वहाँ तक आने में उनके लिए अवस्था की भी एक बाधा थी। बहत्तर वर्ष लगभग की अवस्था में इतना अधिक विहार करना कुछ कठिन था। चातुर्मास के दिन भी काफी नजदीक आ रहे थे अतः उन्होंने उस वर्ष का अपना चातुर्मास कांकरोली जो कि राजनगर के बिल्कुल पास ही है में किया।

द्वितीय पत्र

भारमलजी स्वामी ने सं १८७६ का चातुर्मास पुर में किया। उसकी समाप्ति पर वहाँ से विहार कर फिर कांकरोली की तरफ पधारे तब वहाँ महाराणा का एक पत्र और आया जो कि इस प्रकार है

श्री एकलिंगजी

श्री रामजी श्री नाथजी

स्वस्ती श्री तेरापन्थी साध श्री भारमल जी सूं म्हारी डण्डोत बंचै। अप्र आप अठे पधारसी खमा पाव सूं। आगे ही रुको दियो हो सो अबे वेगा पधारेसा। संवत् १८७६ वर्षे पोष वीद ११। वेगा आवेसा। श्रीजी रो राज है सो सारां को सीर है की भी सन्देह काहि री नही लावोगा।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी श्री रामजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापन्थी साधु श्री भारमलजी से मेरी दंडवत् मालूम हो। अपरंच आप निस्संकोच यहाँ पधार। इससे पहले भी एक पत्र आपको दिया था अतः अब शीघ्र ही पधारें। संवत् १८७६ पोष कृष्णा ११। शीघ्र आए। श्री जी का राज्य है जिसमें सभी का साझा है। इसलिए किसी प्रकार का सन्देह न कर।

प्रार्थना स्वीकार

इस पत्र को पढ़ने के बाद श्रावक जनों ने भारमलजी स्वामी से प्रार्थना की कि महाराणा की इस दूसरी बार की प्रार्थना पर आपको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। सन्तों का भी ऐसा ही ध्यान था पर भारमलजी स्वामी ने कहा—"इस समय मेरे तो आने के भाव हैं नहीं यदि तुम लोग कहो तो मैं सन्तों को भेज सकता हूँ।

सबने कहा—"आप न पधार तो फिर सन्तों को तो भेजने की कृपा करें ही।

आचार्यदेव ने तब उपयुक्त अवसर समझ कर जनोपकार की भावना से महाराणा की

श्रीबालनाथजी

श्रीनाथजी

महाराणा का द्वितीय पत्र

उदयपुर न जाने का जो निर्णय किया था वह इसी बात का एक उदाहरण कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि फिर से वहाँ तक जाने में उनके लिए अवस्था की भी एक बाधा थी। बहत्तर वर्ष लगभग की अवस्था में इतना अधिक विहार करना कुछ कठिन था। चातुर्मास के दिन भी काफी नजदीक आ रहे थे अतः उन्होंने उस वर्ष का अपना चातुर्मास कांकरोली जो कि राजनगर के बिलकुल पास ही है में किया।

द्वितीय पत्र

भारमलजी स्वामी ने सं० १८७६ का चातुर्मास पुर में किया। उसकी समाप्ति पर वहाँ से विहार कर फिर कांकरोली की तरफ पधारे तब वहाँ महाराणा का एक पत्र और आया जो कि इस प्रकार है

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

> स्वस्ती श्री तेरापन्थी साध श्री भारमल जी सुं म्हांरी डण्डोत बंचे।
> अप्र आप अठै पधारसी जमा खाम सुं। आगे ही क्लो दियो हो सो
> अबे वेगा पधारेया। संवत् १८७६ वर्षे पोष बीद ११। वेगा
> आवेगा। श्रीजी रो राज है सो सारां को सीर है जी भी सन्देह
> काहि ही म्हीं लावेगा।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापन्थी साधु श्री भारमलजी से मेरी दण्डवत् मालूम हो। अपरंच आप निस्संकोच यहाँ पधारें। इससे पहले भी एक पत्र आपको दिया था अतः अब शीघ्र ही पधारें। संवत् १८७६ पोष कृष्णा ११। शीघ्र आएँ। श्री जी का राज्य है जिसमें सभी का साझा है। इसलिए किसी प्रकार का सन्देह न करें।

प्रार्थना स्वीकार

इस पत्र को पढ़ने के बाद श्रावक जनों ने भारमलजी स्वामी से प्रार्थना की कि महाराणा की इस दूसरी बार की प्रार्थना पर आपको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। सन्तों का भी ऐसा ही ध्यान था पर भारमलजी स्वामी ने कहा—"इस समय मेरे तो जाने के भाव हैं नहीं यदि तुम लोग कहो तो मैं सन्तों को भेज सकता हूँ।"

सबने कहा—"आप न पधारें तो फिर सन्तों को तो भेजने की कृपा करें ही।"

आचार्यदेव ने तब उपयुक्त अवसर समझ कर उपकार की भावना से महाराणा की

प्रार्थना को स्वीकार किया और हेमराजजी स्वामी, रायचन्दजी स्वामी आदि तेरह सतो को उदयपुर जाने के लिये आदेश दिया ।[1]

महाराणा का सत-समागम

हेमराजजी स्वामी तेरह सन्तो से उदयपुर पहुँचे और वाजार की दुकानो पर ठहरे। भारमलजी स्वामी को निकाले जाने पर वहाँ के तेरापन्थी भाईयो को जितना दु ख हुआ था अब महाराणा द्वारा निमन्त्रित होकर उनके शिष्यो के पदार्पण पर उतना ही हर्ष हुआ। वहाँ की जनता वडे उल्लास से सत-समागम का लाभ लेने लगी।

१—'भारीमाल चरित' मे एतद् विषयक उल्लेख यों किया गया है

छिहतरै पुर छाजता, भारीमाल ऋषिराय।
आई हिन्दू पति नी वीनती, करी घणी नरमाय ॥
उदियापुरे पधारिये, दुनियां साहमो देख।
दुष्ट साहमों नहीं देखिये, किरपा करो विसेख ॥
स्वामी मानी वीनती, चोमासो. उतर्‌यां सोय।
विचरत-विचरत आविया, शहर कांकड़ोली जोय ॥
हेम ऋषि रायचदजी, तेरै साध तिवार।
पूज्य हुक्म सू आविया, उदियापुर शहर मझार ॥ (ढा० ४, दोहा ४ से ७)

उपर्युक्त गाथाओं का साराश यह है—"भारमलजी स्वामी छिहत्तर के वर्ष पुर में थे तव हिंदूपति की प्रार्थना आई। उसमें लिखा था कि आप दुष्टों की ओर न देखकर दुनियां की ओर देखें तथा कृपा करके उदयपुर पधारें। भारमलजी स्वामी ने उस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् विहार करते हुए कांकरोली आये। वहाँ से हेमराजजी स्वामी तथा रायचन्दजी स्वामी आदि तेरह सन्तों को उदयपुर भेजा। 'भारीमाल चरित' में इसके पूर्व उदयपुर से निकलवा देने आदि की घटनाओं का तथा पत्र एक आया या दो, इसका भी कोई वर्णन नहीं है।

दो प्राचीन पत्रों में जो विवरण लिखा हुआ मिला उसमें उदयपुर से निकलवाने तथा राजनगर में पत्र पहुचने की बात लिखी हुई है, परन्तु दूसरा पत्र कहाँ पहुचा, यह नहीं लिखा। ऊपर दूसरे पत्र की प्रतिलिपि भी राजनगर में पहुचे पत्र के साथ ही दे दी गई है।

उपर्युक्त दोनों ही प्राचीन स्रोतों को देखने पर दोनो पत्रों के पहुचने का स्थान-निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं आती। इसमें यह वात भी सहायक होती है कि दोनों पत्रों की लेख-तिथियों (सं० १८७५ के आषाढ़ और स० १८७६ के पौष) के अन्तर में दो चातुर्मास आ जाते हैं। 'भारीमाल चरित' के अनुसार भी सं० १८७५ का चातुर्मास कांकरोली और स० १८७६ का पुर में हुआ था, अत यह स्पष्ट लगता है कि सम्वत् १८७५ के आषाढ़ में लिखा हुआ पत्र कांकरोली चातुर्मास से पूर्व राजनगर विराजे थे तव पहुचा था और सम्वत् १८७६ के पौष में लिखा हुआ पत्र पुर चातुर्मास के पश्चात् कांकरोली आने पर पहुंचा था।

और कोई होगी

महाराणा साधुओ के आचार-विचार को जानने की भी काफी उत्सुकता रखा करते थे। केसरजी भडारी से उस विषय में पूछताछ करते ही रहते थे। कुछ ही दिनो में वे न केवल तेरापथ की मान्यताओ को ही अच्छी तरह से समझने लग गये, अपितु जैन साधुओ के आचार को भी वहुत अच्छी प्रकार से जानने लग गये थे। कोई उस विषय मे कुछ गलत कहता तो वे उसका प्रतिरोध भी किया करते थे।

एक बार उनके सामने धर्म-चर्चा चल रही थी, तब किसी ने कहा—"महाराज ! आप कहते है कि जैन साध्वी अकेली नही रहती, पर मैंने तो आज ग्राम-बाहर अकेली साध्वी को जाते अपनी आँखो से देखा है।"

महाराणा ने कहा—"वह और कोई हो सकती है, पर तेरापथी तो हर्गिज नही हो सकती।" इस प्रकार पता लगता है कि वे जैन आचार-सम्बन्धी कल्प्याकल्प्य से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। तेरापथ के प्रति तो उनकी निष्ठा अत्यन्त दृढ हो गई थी।

व्याख्यान मे पत्थर

जो व्यक्ति तेरापथियो को मेवाड से ही निकलवा देना चाहते थे, उनके लिए महाराणा का तेरापथ में इतनी रुचि रखना, उन्हें निमत्रित करना और फिर उस निमत्रण पर साधुओ का उदयपुर में फिर से आ जाना, ये सब कार्य अत्यन्त कष्टकर हो रहे थे। व्याख्यान-श्रवण के लिए काफी सख्या में जनता का आवागमन तो और भी अधिक दुस्सह था। अनेक प्रकार के प्रयास करके भी वे जनता को रोक नही पा रहे थे। आखिर द्वेष-पोषण का उन्हें जब और कोई मार्ग नही मिला तो रात्रि-कालीन व्याख्यान में बाधाएँ उपस्थित करने लगे।

व्याख्यान नीचे बाजार में हुआ करता था, अत जनता खुले मैदान में बैठा करती थी। द्वेषी-व्यक्तियो ने इधर-उधर से छिपकर पत्थर आदि फैंकने प्रारम्भ किये। एक बार तो एक पत्थर हेमराजजी स्वामी के पास बैठे बाल साधु जीतमलजी महाराज (जयाचार्य) के कान के पास मे होकर गुजरा। गृहस्थों द्वारा अनेक उपाय करने पर भी वह उपद्रव शान्त नही हो सका।

उन्ही दिनो महाराणा ने भडारी से पूछ लिया कि केसर ! शहर में सतो के किसी प्रकार का कोई कष्ट तो नही है ?

भडारीजी ने निवेदन किया—"नही, और तो किसी प्रकार का कष्ट नही है, पर एक बात अवश्य है कि सत रात को बाजार में व्याख्यान देते है, तब कुछ लोग इधर-उधर से पत्थर फैंकते है। हम लोग काफी सावधानी बरतते हैं फिर भी फैंकने वाले चुपके से फेंक ही जाते हैं। किसी के चोट न लग जाए—यह डर बना ही रहता है।"

स्वयं महाराणा भी उस मासिक प्रवासकाल में ग्यारह बार[1] संतों के पास आये और दर्शन तथा सत्संग का लाभ लिया। जैन साधुओं के आचार-व्यवहार से परिचित होकर वे बहुत ही प्रभावित हुए।

महाराणा को जुलूस बनाकर बाजार से आने-जाने की बहुत रुचि रहा करती थी अतः बहुधा शोभा-यात्राएँ निकलती ही रहती थीं। मार्ग में जब संतों का स्थान आता तब महाराणा हाथी को रुकवाकर नमस्कार करते और फिर आगे बढ़ा करते थे। एक बार भूल से हाथी आगे निकल गया परन्तु ज्यों ही उन्हें स्मरण हुआ त्यों ही महावत से हाथी को वापिस घुमाने के लिए आदेश दिया। वे वापिस आये और संतों को भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया। उसके पश्चात् ही आगे बढ़े। उस घटना के पश्चात् जब संतों का स्थान आता, तब महाराणा संकेत कर दिया करता था। तेरापंथ के प्रति उनकी यह अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही।

दूसरे पत्र का कांकरोली में पहुँचना 'जय सुजस' से भी ठीक ठहरता है। और वहाँ प्रथम पत्र के लिए कोई उल्लेख नहीं है। उदयपुर जाने वाले सन्तों के साथ भारमलजी भी थे—इसी उल्लेख के प्रसंग में पत्र की बात कही गई है, जो कि दूसरे पत्र से ही सम्बन्धित है। वहाँ कहा गया है :

भंडारी श्रावक वडो केसरजी सुखकार।
तास संगत थी समझिया राणा भीमसिंह सुखकार॥
कांकरोली भारीमाल ने विनती अधिक विशाल।
परवानो निज हाथ रो लिख्यो लिखतरे वर्ष महाल॥ (जय सुजस १०-९ १०)

इस सबके पश्चात् केवल यही एक प्रश्न सोचने का रह जाता है कि 'भारीमाल चरित्र' जो कि इस घटना के बहुत निकट-काल (सं० १८७९) में हेमराजजी स्वामी के द्वारा लिखा गया था उसमें पुर में पत्र पहुँचने की बात कैसे लिखी गई है?
मेरा अनुमान है कि जैन साधु संवत्-परिवर्तन आषाढ़ पूर्णिमा के पश्चात् करते हैं किन्तु गृहस्थ पंचांगानुसार चैत्र में ही कर लेते हैं। पत्र का सम्वत् पंचांगानुसार ही लिखा जाना संभव लगता है किन्तु यदि 'भारीमाल चरित्र' में उसे आषाढ़ पूर्णिमा के सम्वत् परिवर्तन के ध्यान से लिखा हो तो सं० १८७५ के आषाढ़ के पश्चात् सं० १८७६ का चातुर्मास ही आता है जो कि पुर में ही हुआ था। और इसी ध्यान में प्रथम पत्र का सम्बन्ध पुर से जुड़ गया हो। लेकिन यह केवल एक अनुमान मात्र ही है। जो कि इस बात से भी स्पष्ट है कि 'भारीमाल चरित्र' में पत्र में लिखित बातों का जो उल्लेख किया गया है वह सब प्रथम पत्र का ही है। यदि इसी पत्र पर भारमलजी स्वामी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके सन्तों को वहाँ भेज दिया था तो फिर दूसरे पत्र के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। परन्तु पत्र दो आये थे यह निर्विवाद है क्योंकि दोनों मूल पत्र विद्यमान हैं।

१—प्र प सं पत्र २८

एकलिंगजी की आण

दड को कार्यान्वित किये जाने से पूर्व जनता महाराणा के विचारो को बदलने का प्रयास कर रही थी। उस व्यक्ति को क्षमा-दान दिये जाने के लिए उनपर दवाव डाला जा रहा था।

महाराणा ने आखिर उस व्यक्ति को वुलाया और कहा—"तुझे मृत्यु-दड ही दिया जाता, किन्तु सत इस बात से प्रसन्न नही है। अत इस वार तो तुझे छोडता हूँ, पर आगे कभी ऐसा काम करेगा तो एकलिंगजी की आण (शपथ) लेकर कहता हूँ कि फिर नही छोडूँगा।"

महाराणा की इस धमकी के पश्चात् द्वेपी व्यक्तियो का उपद्रव शात हो गया।

सफल प्रवास

उदयपुर की जनता में तेरापथ के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति तो पहले ही जागृत हो चुकी थी, पर इस घटना-क्रम ने उसे और उद्दीप्त कर दिया। उस प्रवास-काल में लोगो का आवागमन वहुत अच्छा रहा। उपकार भी काफी हुआ। महाराणा-परिवार में सतो के प्रति जो भक्ति-भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव प्राय अगली पीढियो तक वना रहा। वीच-वीच में नया सम्पर्क होते रहने से वह फिर ताजा भी वनता गया।

सतो का लगभग एक महीने का वह उदपुर-प्रवास तेरापथ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। यद्यपि महाराणा की दो बार की प्रार्थना के पश्चात् भी भारमलजी स्वामी का उदयपुर मे पुन पदार्पण नही हो सका, परन्तु सतो के उस सफल प्रवास ने उसकी यत् किंचित् पूर्ति कर दी थी।

महाराणा ने यह बात सुनी तो बहुत खिन्न हुए बोले— 'इसका बन्दोबस्त तो जल्दी-से जल्दी करना होगा । मेरे निमंत्रण पर संत यहाँ पधारे और लोग उनको कष्ट दें यह तो स्वयं मुझे कष्ट देने के समान है । उन्होंने उसी दिन से कुछ व्यक्तियों को गुप्त रूप से वहाँ नियुक्त कर दिया । रात को व्याख्यान में जब कुछ व्यक्ति धूल या पत्थर फेंक कर भागे तो उन गुप्त व्यक्तियों ने उन्हें पकड़ने का प्रयास किया । अन्य तो सब भाग निकले पर एक आदमी पकड़ा गया ।

भगवान् का अपराधी

दूसरे दिन उस व्यक्ति को जब महाराणा के सम्मुख उपस्थित किया गया तो उन्होंने उसे बहुत झिड़का और उसके अपराध की गुरुता बतलाते हुए उसे मृत्यु-दंड का आदेश सुना दिया । यह आदेश ऐसा था कि सारे समाज में खलबली मच गई ।

लड़के की माँ ने महाराणा से अपने इकलौते पुत्र को छोड़ देने की याचना की । पंचों ने भी दरबार में जाकर इस विषय में काफी दबाव डाला । महाराणा ने उन सबको उत्तर देते हुए कहा— 'जोधपुर के महाराज मानसिंहजी ने सत्ताईस आदमियों को मृत्यु-दंड दिया है पर मैंने तो आजतक किसी को ऐसा दंड नहीं दिया । यह प्रथम ही अवसर है किन्तु यह दंड भी मैं मेरे लिए नहीं दे रहा हूँ । यह संतों का अपराधी है इसलिए भगवान् का अपराधी है । इससे छोटा दंड इसके लिए हो ही नहीं सकता । पंच निराश होकर वापिस आ गये । सारे शहर में इस बात की बड़ी चर्चा चली ।

चिन्ता का निराकरण

हेमराजजी स्वामी आदि संतों ने यह बात सुनी तो केसरजी से कहा— भंडारीजी ! यह क्या हो रहा है ? हम संतों को कोई कष्ट देता है गाली देता है या पीट भी देता है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसे सहन करें । हमारे लिए किसी मनुष्य को मृत्यु-दंड दिया जाये यह तो बिल्कुल ही उपयुक्त नहीं लगता ।

संतों की भावना समझकर भंडारीजी ने महाराणा के सामने बात चलाते हुए कहा— संत फरमा रहे थे कि हमारे लिए किसी भाई को मृत्यु-दंड दिया जाना ठीक नहीं ।"

महाराणा ने मुस्कराते हुए कहा— 'संत जो फरमा रहे हैं वह उनके गौरव के अनुकूल ही है । हम भी किसी को मृत्यु-दंड देना नहीं चाहते । यह तो हमने उन लोगों के मन में भय पैदा करने के लिए किया था ताकि भविष्य में कोई व्यक्ति साधुओं को कष्ट न दे । तुम संतों से निवेदन कर देना कि उनकी इच्छा के तथा प्रतिष्ठा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया जायगा । इस ओर से वे सदा निश्चिन्त रहें । भंडारीजी महाराणा की बात सुनकर आश्वस्त हुए और वहाँ से आकर संतों को महाराणा का आन्तरिक उद्देश्य बतलाया । संत भाषी विनिमय पर भंडारीजी के समाचारों से पूर्ण-रूपेण निश्चिन्त हो गये ।

एकलिंगजी की आण

दड को कार्यान्वित किये जाने से पूर्व जनता महाराणा के विचारो को वदलने का प्रयास कर रही थी। उस व्यक्ति को क्षमा-दान दिये जाने के लिए उनपर दवाव डाला जा रहा था।

महाराणा ने आखिर उस व्यक्ति को वुलाया और कहा—"तुझे मृत्यु-दड ही दिया जाता, किन्तु सत इस वात से प्रसन्न नही है। अत इस वार तो तुझे छोडता हूँ, पर आगे कभी ऐसा काम करेगा तो एकलिंगजी की आण (शपथ) लेकर कहता हूँ कि फिर नही छोड़ूँगा।"

महाराणा की इस धमकी के पश्चात् द्वेपी व्यक्तियों का उपद्रव शात हो गया।

सफल प्रवास

उदयपुर की जनता में तेरापथ के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति तो पहले ही जागृत हो चुकी थी, पर इस घटना-क्रम ने उसे और उद्दीप्त कर दिया। उस प्रवास-काल में लोगो का आवागमन वहुत अच्छा रहा। उपकार भी काफी हुआ। महाराणा-परिवार में सतो के प्रति जो भक्ति-भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव प्राय अगली पीढियो तक वना रहा। वीच-वीच में नया सम्पर्क होते रहने से वह फिर ताजा भी वनता गया।

सतों का लगभग एक महीने का वह उदयुर-प्रवास तेरापथ के लिए वहुत महत्त्वपूर्ण रहा। यद्यपि महाराणा की दो वार की प्रार्थना के पश्चात् भी भारमलजी स्वामी का उदयपुर में पुन पदार्पण नही हो सका, परन्तु सतो के उस सफल प्रवास ने उसकी यत् किंचित् पूर्ति कर दी थी।

६

अन्तिम चरण

विहार-स्थगन

भारमलजी स्वामी की अवस्था काफी वृद्ध हो चुकी थी। विहार भी छोटे ही करने लगे थे। संवत् १८७७ का चातुर्मास नाथद्वारा करने के पश्चात् उनका विचार मारवाड़ में जाने का था। चातुर्मास उतरने पर कांकरोली तथा राजनगर में विराज कर वहाँ सन्त-सतियों को आगामी कार्य का दिशा-दर्शन दिया और उन्हें विहार करवाया। स्वयं भी विहार की तैयारी करने लगे परन्तु तभी शरीर में कुछ गड़बड़ हो गई। फलस्वरूप कुछ समय के लिए विहार को आगे सरका देना पड़ा। थोड़ा ठीक होने पर वहाँ से विहार कर केलवा पधार गये। होली चातुर्मासी वहीं पर की।

वृद्धावस्था में होने वाला हर रोग मिट जाने पर भी कुछ न कुछ अशक्ति छोड़ ही जाता है। शीघ्रता से उस कमी को पूराकर पाना प्राय संभव नहीं होता। भारमलजी स्वामी ने थोड़ा ठीक होते ही विहार तो कर दिया पर अशक्ति विद्यमान थी। विहार के परिश्रम ने उसमें कुछ और वृद्धि कर दी। फलत रोग ने शरीर को फिर घेर लिया। औषधोपचार किया गया परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में मारवाड़ की ओर विहार कर पाना संभव नहीं था अत उस विचार को स्थगित ही कर देना पड़ा।

तपस्या में अभिरुचि

'कखे गुण जाव सरीर भेउ'[1]—अर्थात् साधु अंतिम सांस तक गुणवृद्धि की आकांक्षा करता रहे। आगम की इस दिशा के वे एक मूर्त उदाहरण थे। जब उन्होंने शरीर की शक्ति को घटते हुए देखा और सोचा कि अब मेरे लिए जन-पद विहार के द्वारा लोगों में धर्म प्रसार कर पाने की शारीरिक क्षमता पुन प्राप्त कर लेना कठिन है तो उन्होंने शरीर से तत्काल दूसरा काम लेने की तैयारी कर ली।

उन्होंने सन्तों को बुलाकर कहा—'शरीर नश्वर होता है अत उसके विनाश में तो किसी को आश्चर्य हो ही नहीं सकता। परन्तु मैं चाहता हूँ कि उसके विनाश से पहले उससे कुछ सार और खींच लूँ। धर्म प्रसार का कार्य मैंने किया है पर अब शरीर उसके उपयुक्त नहीं रह गया है अत मेरी अभिरुचि तपस्या करने की हो रही है। सन्तों ने औषधि प्रयोग के लिए प्रार्थना की पर उन्होंने अपने विचारानुसार तपस्या की औषधि को ही प्रमुखता देने का विचार दुहराया।

तपस्या प्रारम्भ करते हुए उन्होंने चान्द्र मास बसाख कृष्णा अष्टमी से चौविहार बेला

1—उत्त ४-१३

प्रारम्भ किया। उसके पश्चात् तो तपस्या का एक सिलसिला ही चालू हो गया। उपवास, वेले, तेले और चोले तक की तपस्या अनेक बार दुहराई गई। पारण के दिन भी वे ऊनोदरता के लिए अति अल्प मात्रा में ही भोजन लिया करते थे। तपस्या के उस क्रम में कम-से-कम उपवास से लेकर अधिक-से-अधिक उन्होने दस दिन का उपवास किया, जो कि आषाढ पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुआ। उसके पश्चात् श्रावण महीने में एकातर उपवास चालू किये। बीच-बीच में वेला आदि की तपस्या भी होती रही।

इस प्रकार उन्होने बडी शूर-वीरता के साथ अपने शरीर को तपस्या के द्वारा काफी सूखा लिया। 'आत्मान्य पुद्गलश्चान्य.' —'आत्मा और यह पुदगलमय शरीर एक नहीं है; किन्तु भिन्न-भिन्न है'—यह भावना उनकी तपस्या में व्याप्त थी। पूर्ण मानसिक समाधि के साथ वे अपने निर्णीत मार्ग पर चलते रहे।

दर्शनार्थियों का आगमन

केलवा में भारमलजी स्वामी का लगभग नौ महीने तक लगातार विराजना हुआ। स० १८७७ की फाल्गुण शुक्ला त्रयोदशी को वे पधारे थे और स० १८७८ के मार्गशीर्ष तक विराजे। उस वर्ष का चातुर्मास अयाचित-वरदान के रूप में केलवे को मिला। स्थानीय जनता के लिए जहाँ वह परम प्रसन्नता की बात थी, वहाँ उनके शरीर का अस्वस्थपन चिंता का विषय भी बना हुआ था। तपस्या प्रारम्भ कर देने पर उनके स्वास्थ्य में थोडा सुधार अवश्य हुआ, पर वह अस्थायी ही था। बीच-बीच में गडबड बढ जाती थी। शारीरिक अस्वस्थता तथा तपस्या के समाचार जब जनता में दूर-दूर तक पहुँचे तो मेवाड़ तथा मारवाड से सहस्रो लोग दर्शन के लिए आने लगे।

उस समय मारवाड या मेवाड में आवागमन के साधन बहुत ही अपर्याप्त थे। रेल आदि का तो विकास ही बाद में हुआ था, पर यहाँ तो सडकों आदि को भी सुविधा नहीं थी। सारा आवागमन प्राचीन समय की बैलगाडियों और घोडो पर ही अवलम्बित था। मारवाड से मेवाड में आते समय केवल घोडो पर ही निर्भर रहना पडता था। अरावली पर्वत-श्रेणी में से होकर बैलगाडी जा नही सकती थी। इन सब दुविधाओ के बावजूद भी गुरु-दर्शन के अभिलाषी धर्म-प्रेमी व्यक्ति वहाँ पहुँचे और भारमलजी स्वामी के दर्शन कर कृत-कृत्य हो गये। उन आगन्तुक भक्त-जनों के लिए भारमलजी स्वामी के वे अन्तिम दर्शन थे।

चातुर्मास समाप्त होने पर सत-सतियो का भी आगमन प्रारम्भ हो गया। बहुत शीघ्र ही वे वहाँ काफी सख्या में उपस्थित हो गये। वस्तुतः गुरु-दर्शन की अभिलाषा साधु-साध्वियों के पैरों में एक त्वरता भर देती है। उनकी उस समय की गति अन्य अवस्था की गति से स्वभावत ही भिन्न हो जाती है। गुरु-दर्शन की उत्कट अभिलाषा लिए जब वे गुरु के चरणो में उपस्थित होते हैं तो उनका मार्ग-श्रम एक साथ [illegible]प्त हो जाता है। उस समय की उनकी मान-

६

अन्तिम चरण

विहार-स्थगन

भारमलजी स्वामी की अवस्था काफी वृद्ध हो चुकी थी। विहार भी छोटे ही करने लगे थे। संवत् १८७७ का चातुर्मास नाथद्वारा करने के पश्चात् उनका विचार मारवाड़ में जाने का था। चातुर्मास उतरने पर कांकरोली तथा राजनगर में विराज कर वहाँ सन्त-सतियों को आगामी कार्य का दिशा-दर्शन दिया और उन्हें विहार करवाया। स्वयं भी विहार की तैयारी करने लगे परन्तु तभी शरीर में कुछ गड़बड़ हो गई। फलस्वरूप कुछ समय के लिए विहार को आगे सरका देना पड़ा। थोड़ा ठीक होने पर वहाँ से विहार कर केलवा पधार गये। होली चातुर्मासी वहीं पर की।

वृद्धावस्था में होने वाला हर रोग मिट जाने पर भी कुछ न कुछ अशक्ति छोड़ ही जाता है। शीघ्रता से उस कमी को पूराकर पाना प्रायः संभव नहीं होता। भारमलजी स्वामी ने थोड़ा ठीक होते ही विहार तो कर दिया पर अशक्ति विद्यमान थी। विहार के परिश्रम ने उसमें कुछ और वृद्धि कर दी। फलतः रोग ने शरीर को फिर घेर लिया। औषधोपचार किया गया परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में मारवाड़ की ओर विहार कर पाना संभव नहीं था अतः उस विचार को स्थगित ही कर देना पड़ा।

तपस्या में अभिरुचि

'कल्पे गुण जाव सरीर भेउ'[1]—अर्थात् साधु अंतिम सांस तक गुणवृद्धि की आकांक्षा करता रहे। भारमलजी इस शिक्षा के एक मूर्त उदाहरण थे। जब उन्होंने शरीर की शक्ति को घटते हुए देखा तो सोचा कि अब मेरे लिए जन-पद विहार के द्वारा लोगों में धर्म प्रसार कर पाने की शारीरिक क्षमता पुनः प्राप्त कर लेना कठिन है तो उन्होंने शरीर से तपस्या द्वारा काम लेने की तैयारी कर ली।

उन्होंने सन्तों को बुलाकर कहा—शरीर नश्वर होता है अतः उसके विनाश में तो किसी को आश्चर्य हो ही नहीं सकता। परन्तु मैं चाहता हूँ कि उसके विनाश से पहले उससे कुछ सार और खींच लूँ। धर्म प्रचार का कार्य मैंने किया है पर अब शरीर उसके उपयुक्त नहीं रह गया है अतः मेरी अभिरुचि तपस्या करने की हो रही है। सन्तों ने औषधि प्रयोग के लिए प्रार्थना की पर उन्होंने अपने विचारानुसार तपस्या की औषधि को ही प्रमुखता देकर विचार दुहराया।

तपस्या प्रारम्भ करते हुए उन्होंने पहले [illegible] बेला [illegible] उपवासों से ...

१—उत्त० ५।३१

अन्न की रुचि के विषय में पूछने पर उन्होने पूर्ण सावधानी का परिचय देते हुए कहा—"याव-जीवन के लिए सागारिक-अनशन किया हुआ है।"

महाप्रयाण

मध्याह्नोत्तर-काल में भारमलजी स्वामी विराजे थे। चारों ही तीर्थ सेवा में बैठे हुए थे। उस समय मालव देश से कुछ साध्वियाँ पहुँची और उन्होने दर्शन किये। मालव में किये गए धर्म-प्रसार की बातें सुनाकर वे वहाँ से लाया हुआ कपडा दिखाने लगी। तत्पश्चात् उन्होंने कागज के पाठे भी खोलकर दिखाये। कागज काफी अच्छे थे। आगम-लेखन के कार्य में आने योग्य थे। भारमलजी स्वामी उन्हें देख ही रहे थे कि बीच में ही उन्हें फिर से मूर्च्छा आ गई।

रायचन्दजी स्वामी तथा खेतसीजी स्वामी ने अवसर देखकर चौविहार अनशन कराते हुए कहा—"यदि आप श्रद्धते हो तो आपको यावज्जीवन के लिए चारों आहारों का प्रत्या-ख्यान है।" परन्तु मूर्च्छा के कारण कोई पता नही लग सका कि उन्होंने उस बात को श्रद्धा या नही। प्राय तीन प्रहर तक मूर्च्छित रहने के पश्चात् लगभग आधी रात के समय उनका शरीरात हो गया। उनके महा-प्रयाण का वह दिन सम्वत् १८७८ माघ कृष्णा अष्टमी का था।

महाराणा का आग्रह

भारमलजी स्वामी के दिवगत होने की बात रात-रात में ही दूर-दूर तक फैल गई। नाथद्वारा, काकरोली, केलवा आदि आस-पास के अनेक गावो के सहस्रों आदमी राजनगर पहुँच गये। बाद में जब उदयपुर में वह खबर पहुँची तब महाराणा भीमसिंह जी ने 'चलावे' में होने वाला सारा व्यय राज्य-कोष से लगाने के लिये कहा। राणा का वह केवल कथन ही नहीं था किन्तु एक आग्रह भी था।

लोग महाराणा की इच्छा के विरुद्ध कुछ कहना नही चाहते थे पर साथ ही उस बात को स्वीकार करना भी नही चाहते थे। तेरापथी श्रावक स्वय ही सारा व्यय वहन करना चाहते थे।

आखिर इस समस्या को हल करने के लिए केसरजी भण्डारी ने ही महाराणा के पास जाने का साहस किया। उन्होंने महाराणा को बताया कि आप जिस प्रकार भारमलजी स्वामी के प्रति श्रद्धा रखते है उसी प्रकार जनता भी उनके प्रति श्रद्धा रखती है। वे सब के ही गुरु थे। इस अवसर पर यदि अकेले आप ही व्यय का भार वहन करेंगे तो जनता की भावना को तृप्ति कैसे मिलेगी ? इस विषय में आपको मेरी प्रार्थना माननी होगी और जनता को भी अवसर देना होगा।

सिक तुमि उनके शरीर को भी तृप्त कर देती है। यह एक ऐसी आन्तरिक खुराक है जो सिरा सित व्यक्ति को शीतल वायु के झोंके की तरह मुग्ध कर जाती है पर यह तृप्ति किधर से आई इसका कोई पता ही नहीं लगने पाता।

अन्तिम शिक्षा

चतुर्विध संघ की काफी बड़ी मात्रा में उपस्थिति थी। भारमलजी स्वामी ने उस अवसर का उपयोग संघ के लिए समवास-स्वरूप अन्तिम शिक्षा देने में किया। उनकी शिक्षा का संक्षेप में सार यह था— 'सब साधु-साध्वियां आचार विचार में सावधान रहना जिन-शासन में दृढ़ निष्ठा रखना तथा स्वामीजी की सर्व मर्यादाओं का अखंडरूप से पालन करते रहना आदि।

आत्महित और संघहित को दृष्टि में रखते हुए भारमलजी स्वामी ने अस्वस्थ अवस्था में भी उस दिन लगभग एक प्रहर तक लगातार विराज कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। संघ व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व में उनकी पूर्ण-जागरूकता का यह एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है।

आत्मालोचन

उसी अवसर पर उन्होंने आत्मालोचन किया। अपने समस्त जीवन का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने ज्ञात तथा अज्ञात रूप से किसी भी व्यक्ति के साथ हुए कटु-व्यवहार के लिए क्षमा-याचना की।

फिर राजनगर में

राजनगर बड़ा शहर था। अतः केलवे की अपेक्षा औषध आदि का योग वहाँ अधिक ठीक बैठ सकता था। इसलिये जनता ने वहाँ पधार कर उपचार कराने की प्रार्थना की। भारमलजी स्वामी ने उस बात को मान लिया और विहार करके राजनगर पधार गये। वहाँ औषधोपचार प्रारम्भ किया गया। धीरे-धीरे शरीर में साता होने लगी। अन्न की रुचि भी बढ़ी। शक्ति भी ठीक रहने लगी। सबको लगा कि अब रोग पर विजय पा ली गई है। किन्तु तभी एक दिन अचानक ही उनको कालाज्वर ने घेर लिया। फलस्वरूप बोलना बन्द हो गया और वे मूर्च्छित प्राय हो गये।

सागारिक अनशन

संतों ने जब देखा कि अब अधिक अवसर हाथ में नहीं है तो उन्होंने औषधि और पानी का आगार रखकर यावज्जीवन के लिए उन्हें सागारिक अनशन कराने के विषय में सोचा। संतगुरु की सावधानी हो और वे सिर हिला कर स्वीकृति दे सकें—इस आशा से संतों ने उन्हें पूछा। उन्होंने तत्काल स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। यों सावधानी-पूर्वक अनशन करने के बाद दूसरे दिन प्रातः स्थिति में कुछ सुधार हुआ। उन्होंने बोलकर अंड और पानी लिया।

अन्न की रुचि के विषय में पूछने पर उन्होने पूर्ण सावधानी का परिचय देते हुए कहा—"याव-जीवन के लिए सागारिक-अनशन किया हुआ है।"

महाप्रयाण

मध्याह्नोत्तर-काल मे भारमलजी स्वामी विराजे थे। चारों ही तीर्थ सेवा में बैठे हुए थे। उस समय मालव देश मे कुछ साध्वियाँ पहुँची और उन्होने दर्शन किये। मालव में किये गए धर्म-प्रसार की बातें सुनाकर वे वहाँ से लाया हुआ कपडा दिखाने लगी। तत्पश्चात् उन्होंने कागज के पाठे भी खोलकर दिखाये। कागज काफी अच्छे थे। आगम-लेखन के कार्य मे आने योग्य थे। भारमलजी स्वामी उन्हें देख ही रहे थे कि बीच में ही उन्हें फिर से मूर्च्छा आ गई।

रायचन्दजी स्वामी तथा खेतसीजी स्वामी ने अवसर देखकर चौविहार अनशन कराते हुए कहा—"यदि आप श्रद्धते हो तो आपको यावज्जीवन के लिए चारों आहारो का प्रत्या-ख्यान है।" परन्तु मूर्च्छा के कारण कोई पता नही लग सका कि उन्होने उस बात को श्रद्धा या नही। प्राय तीन प्रहर तक मूर्च्छित रहने के पश्चात् लगभग आधी रात के समय उनका शरीरात हो गया। उनके महा-प्रयाण का वह दिन सम्वत् १८७८ माघ कृष्णा अष्टमी का था।

महाराणा का आग्रह

भारमलजी स्वामी के दिवगत होने की बात रात-रात मे ही दूर-दूर तक फैल गई। नाथद्वारा, काकरोली, केलवा आदि आस-पास के अनेक गावो के सहस्रो आदमी राजनगर पहुँच गये। बाद में जब उदयपुर में वह खबर पहुँची तब महाराणा भीमसिंह जी ने 'चलावे' में होने वाला सारा व्यय राज्य-कोष से लगाने के लिये कहा। राणा का वह केवल कथन ही नही था किन्तु एक आग्रह भी था।

लोग महाराणा की इच्छा के विरुद्ध कुछ कहना नही चाहते थे पर साथ ही उस बात को स्वीकार करना भी नहीं चाहते थे। तेरापथी श्रावक स्वय ही सारा व्यय वहन करना चाहते थे।

आखिर इस समस्या को हल करने के लिए केसरजी भण्डारी ने ही महाराणा के पास जाने का साहस किया। उन्होंने महाराणा को बताया कि आप जिस प्रकार भारमलजी स्वामी के प्रति श्रद्धा रखते हैं उसी प्रकार जनता भी उनके प्रति श्रद्धा रखती है। वे सब के ही गुरु थे। इस अवसर पर यदि अकेले आप ही व्यय का भार वहन करेंगे तो जनता की भावना को तृप्ति कैसे मिलेगी ? इस विषय में आपको मेरी प्रार्थना माननी होगी और जनता को भी अवसर देना होगा।

आखिर महाराणा ने भण्डारीजी की बात को मान लिया और जनता को भी व्यय उठाने का अवसर दिया। उन्होंने कहा—"जितना भी व्यय हुआ है उसमें कम-से-कम आधा तो मेरा ही होगा। शेष आधे में तुम लोग जैसे चाहो वैसे परस्पर विभक्त कर सकते हो।" इस प्रकार महाराणा और जनता के सम्मिलित व्यय से भारमलजी स्वामी के देह का संस्कार किया गया।

: १० :

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १८०४

(२) द्रव्य-दीक्षा सवत्— १८१३

(३) भाव-दीक्षा सवत्— १८१७ आपाढ पूर्णिमा

(४) युवाचार्य पद सवत्—१८३२ मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी

(५) आचार्य पद सवत्— १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी

(६) स्वर्गवास सवत्— १८७८ माघ कृष्णा अष्टमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म स्थान— मूहा

(२) द्रव्य-दीक्षा स्थान—बागोर

(३) भाव-दीक्षा स्थान—केलवा

(४) आचार्य-पद स्थान—सिरियारी

(५) स्वर्गवास स्थान— राजनगर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ —१० वर्ष

(२) द्रव्य-दीक्षा — ४ वर्ष

(३) साधारण साधु—१५ वर्ष

(४) युवाचार्य —२८ वर्ष

(५) आचार्य —१८ वर्ष

(६) सर्व आयु —७५ वर्ष

विहार-क्षेत्र

भारमलजी स्वामी के विहार-क्षेत्र भी स्वामीजी की तरह राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मेवाड, मारवाड, ढूंढाड और हाडोती ही थे ।

चातुर्मास

भारमलजी स्वामी ने चार चातुर्मास द्रव्य-दीक्षा के समय और चौवालीस चातुर्मास तेरापथ के आचार्य बनने से पहले किये थे । उनमें से केवल एक–सवत् १८२४ का चातुर्मास स्वामीजी से अलग बगडी में किया था । शेप सब स्वामीजी के साथ ही किये थे । आचार्य-अवस्था मे

अठारह चातुर्मास किये थे।

उनका विवरण इस प्रकार है

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
सिरांगण	१	१८६१
पाली	२	१८६२ १८७१
बोरावा	१	१८६३
केलवा	२	१८६४ ७८
नाथद्वारा	३	१८६५ ७४ ७७
आमेट	१	१८६६
बालोतरा	१	१८६७
जयपुर	१	१८६८
माधोपुर	१	१८७
मोराबड़	१	१८७१
सिरियारी	१	१८७२
कांकरोली	१	१८७५
पुर	१	१८७६

शिष्य-संपदा

भारमलजी स्वामी के शासन-काल में बयासी दीक्षाएं हुई। उनमें अड़तीस साधु और चौवालीस साध्वियां थीं। भारमलजी स्वामी दिवंगत हुए उस समय पैंतीस साधु और इकतालीस साध्वियां विद्यमान थीं।

चतुर्थ परिच्छेद

आचार्य श्री रायचंदजी

अठारह चातुर्मास किए थे।

उनका विवरण इस प्रकार है

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
मिसांमम	१	१८६१
पाली	२	१८६२ १८७३
लेरवा	१	१८६३
केलवा	२	१८६४ ७८
नाथद्वारा	३	१८६५ ७४ ७७
आमेट	१	१८६६
बालोतरा	१	१८६७
जयपुर	१	१८६८
माधोपुर	१	१८७०
बोरावड़	१	१८७१
सिरियारी	१	१८७२
कांकरोली	१	१८७५
पुर	१	१८७६

शिष्य-संपदा

भारमलजी स्वामी के शासन-काल में नवासी दीक्षाएं हुई। उनमें अड़तीस साधु और चौमालीस साध्वियां थीं। भारमलजी स्वामी दिवंगत हुए उस समय पचीस साधु और इकतालीस साध्वियां विद्यमान थीं।

: १ :

गृहि-जीवन

सम्पन्न घर

श्री रायचन्दजी स्वामी तेरापथ के तृतीय आचार्य थे। उनका साधारण साधु-अवस्था से एक उपनाम 'ब्रह्मचारी' तथा आचार्य होने के वाद से एक और उपनाम 'ऋपिराय' भी काफी प्रचलित है। वे राजस्थान के उदयपुर के डिवीजन (मेवाड) के ग्राम 'वडी रावलिया' मे विक्रम सवत् १८४७ में उत्पन्न हुए थे। यह ग्राम गोगूदा (मोटागाम) के पास ही अवस्थित है। उनके पिता का नाम शाह चतरोजी तथा माता का नाम कुशलाजी था। वे ओसवाल जाति में 'वव' गोत्र के थे। शाह चतरोजी का घर ग्राम में अच्छा सम्पन्न माना जाता था। उनका परिवार आर्थिक दृष्टि से भी और व्यक्तियो की दृष्टि मे भी भरापूरा था। रायचदजी स्वामी उनके तीसरे पुत्र थे। नानजी और मोतीजी उनके क्रमश प्रथम और द्वितीय पुत्र थे।

धर्म का प्रवेश

शाह चतरोजी का स्वामी भीखणजी के प्रति श्रद्धा-भाव अपनी ससुराल की प्रेरणा से हुआ था। उनके ससुर शाह भोपजी नाथद्वारा के रहने वाले थे। वे स्वामीजी के वडे भक्त श्रावक थे। उनके एक पुत्र खेतसीजी ने स्वामीजी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उनके घर में धार्मिक वातावरण वहुत अच्छा था। उसी घर के सस्कारो में पली हुई कुशलाजी जव गृहिणी के रूप में शाह चतरोजी के घर गई तो वहाँ भी उन सस्कारो का प्रसार हुआ। फल-स्वरूप सारा परिवार स्वामीजी का भक्त हो गया। यद्यपि वहाँ केवल एक व्यक्ति के माध्यम से धर्म का प्रवेश हुआ था, पर शीघ्र ही वह सव के मानस में रम गया।

विराग-भाव

रावलियाँ में सत-सतियों का आवागमन काफी रहा करता था। गोगूदा और नाथद्वारा के मार्ग पर अवस्थित होने से स्वय स्वामीजी का भी वहाँ अनेक वार पदार्पण हुआ। एक वार स्वामीजी की शिष्या वरजूजी वहाँ आई और कुछ दिन रही थीं। उससे वहाँ काफी अच्छा उपकार हुआ। अनेक घर श्रद्धालु वने। उनकी ही सगति से वालक रायचदजी तथा उनकी माता कुशलाजी को विराग उत्पन्न हुआ।

जव उन लोगों ने परिवार वालों के सामने अपनी दीक्षा की भावना व्यक्त की तो प्राय सभी ने उसका विरोध किया। रायचदजी स्वामी के दोनों वडे भाइयों के विवाह पहले ही चुके थे। अव उनके विवाह की ही वारी थी, अत विवाह आदि के विविध प्रलोभनों के द्वारा उन्हें फुसलाने का प्रयास किया जाने लगा। परन्तु जिनके चारित्र-मोह का क्षयोपशम हो चुका

: २ :

साधु-जीवन

सयम-ग्रहण

शाह चतरोजी ने उस अवसर पर बहुत उत्साह के साथ दीक्षा-उत्सव मनाया। विरागी को हथिनी पर बिठा कर शोभा-यात्रा निकाली। दीक्षा-उत्सव देखने के लिए काफी लोग एकत्रित हुए। सवत् १८५७ चैत्र पूर्णिमा के दिन स्वामीजी ने उन दोनो को दीक्षा प्रदान की। कुशलाजी को स्वामीजी ने वरजूजी के पास रहकर सयमानुष्ठान की आवश्यक शिक्षा ग्रहण करने का आदेश दिया और बालक साधु रायचदजी को अपने पास रखा।

भविष्यवाणी

दीक्षा के समय रायचदजी स्वामी की अवस्था लगभग ग्यारह वर्ष की थी। उनकी बुद्धि काफी तीव्र और उपयोग निर्मल था। एक बार बताई गई बात को भी वे बहुत अच्छी तरह से हृदयगम कर लेते थे। वे आचार-व्यवहार मे बड़े सावधान और अत्यत विनयी थे। मनुष्य के अद्वितीय पारखी स्वामीजी ने उनकी विशेषताओ को बड़े ध्यान से परखा था। तभी तो एक बार उन्होंने कहा—"रायचन्द तो भारमल का भार सभालने योग्य व्यक्ति है।"[१]

'ब्रह्मचारी' कह रहा है

यद्यपि स्वामीजी की सेवा में रहने का रायचदजी स्वामी को बहुत ही कम अवसर प्राप्त हुआ था। उनकी दीक्षा के लगभग ढाई वर्ष बाद ही स्वामीजी दिवगत हो गये, तथापि उस थोड़े से काल में उन्होंने अपनी योग्यता के आधार पर स्वामीजी का वह विश्वास प्राप्त कर लिया जो कि अनेक वृद्धों को भी प्राप्त होना सहज नहीं था। स्वामीजी उनकी बात का बड़ा आदर करते थे। निम्नोक्त घटना इस बात को स्पष्ट कर देती है।

स्वामीजी बीमार थे और अनशन करने का सोच रहे थे, तब एक दिन बाल साधु रायचदजी ने उनके शरीर की ओर देखकर कहा—"स्वामीजी अब तो शरीर का पराक्रम क्षीण पड़ रहा मालूम होता है।"[२] उनकी इसी एक बात को सुनकर स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी को

१—बुद्धि पुन्य गुण देखनें, भिक्षु भाख्यो एम।
पटलायक दीसै प्रगट, निमल निभावण नेम॥ (ऋ० सु० ५ दो०१)

२—पूजनै कहै पराक्रम हीण पड़िया, ऋषिराय तणी सुण वायो।
भिक्खु पहिला तन तोल त्यारी था, सुण सिंह ज्यूं उठ्या मुनिरायो॥
(भि० जि० र० ५९-११)

होता है वे इन प्रपंचों में फंसाए नहीं जा सकते। अनेक प्रयासों के बाद अन्त में परिवार वालों ने जब देख लिया कि वे किसी भी प्रकार के प्रलोभन में आने वाले नहीं हैं तब उन्हें हार कर आज्ञा देनी ही पड़ी।

स्वामीजी का आगमन

दीक्षा की इच्छा हो जाने के बाद व्यक्ति को संसार में रहना बहुत अखरने लगता है। उसकी भावना शीघ्र-से शीघ्र संयम-मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने की ही हुआ करती है। माता और पुत्र जब दीक्षा को उद्यत हुए तब कुछ समय तो परिवार वालों ने आज्ञा न देकर रुका दिया। परिवार वालों से आज्ञा प्राप्त कर ली गई तो दीक्षा देने वाले की प्रतीक्षा करनी पड़ी। कुछ ही प्रतीक्षा के बाद स्वामी भीखणजी का उधर पदार्पण हुआ। माता और पुत्र ऐसे ही अवसर की बाट देख रहे थे। उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा देने की प्रार्थना की।

स्वामीजी को उनकी भावना का पता तो पहले से ही था। संत-सतियों के द्वारा उनके तत्त्वज्ञान सीखने आदि के विषय में भी उनको जानकारी थी। अब उनकी उत्कट विराग-वृत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। वे स्वामीजी की कसौटी पर खरे उतरे, अत उन्होंने उन्हें दीक्षित करने की अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।
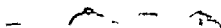
निपुण सहयोगी

लगभग अठारह वर्ष तक उन्हें भारमलजी स्वामी की सेवा में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समग्र समय में वे आचार्यदेव के निपुण सहयोगी बनकर रहे। बाह्य सहयोगो के साथ-साथ आचार्यदेव उनसे सघ-सम्बन्धी आतरिक कार्यो में भी सहयोग लेते रहते थे। उससे जहाँ स्वय उनको सघ-व्यवस्था का अनुभव प्राप्त होता था, वहाँ भारमलजी स्वामी को भी पूर्ण साता प्राप्त हुआ करती थी। यह उनकी ऐसी सेवा थी, जिसे हर कोई साधु नही कर सकता था। इस प्रकार साधारण साधु के जीवन से ही उनके व्यक्तित्व ने कई असाधारणताएँ लिए हुए विकास प्राप्त किया था।

बुलाकर कहा था कि अब मुझे संथारा करने में देर नहीं करनी है। और उसके बाद तत्काल ही स्वामीजी ने संथारा कर दिया।

मैं मोह क्यों करूं ?

बालक होते हुए भी वे एक गंभीर चिन्तक थे। साधना का महत्त्व उन्होंने समझा था। इसीलिए हर बात के साथ उनकी विचारकता टपकती थी। स्वामीजी के अन्तिम दिनों की बात है। वे स्वामीजी की सेवा में बैठे थे। स्वामीजी ने कहा—'ब्रह्मचारी ! तुम बुद्धिमान् बालक हो अतः मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना।

उन्होंने उसी समय मानो स्वामीजी को आश्वस्त करते हुए कहा था— नहीं प्रभो ! आप तो अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक कर रहे हैं फिर मैं मोह क्यों करने लगा ? [1]

आगम-ज्ञान

संयम-ग्रहण करने के पश्चात् कुछ ही वर्षों में उन्होंने अच्छा आगम ज्ञान अर्जित कर लिया था। थोकड़ों तथा स्वामीजी के प्रश्नों के माध्यम से वे आगम-ज्ञान के महासमुद्र में प्रविष्ट हुए और क्रमशः पारंगत विद्वान् बन गये। जिन आगमों को उन्होंने पूर्णरूप से कंठस्थ किया था उनके नाम ये हैं —आवश्यक दशवैकालिक उत्तराध्ययन और बृहत्कल्प। समस्त आगमों का उन्होंने अनेक बार अर्थ-सहित स्वाध्याय किया था। धर्म चर्चा करने में वे बहुत रुचि रखा करते थे। उस विषय की उनमें परिपूर्ण निपुणता भी थी।

सरस व्याख्यानदाता

व्याख्यान की कला में भी उन्होंने परिपूर्णता प्राप्त की थी। अनेक व्याख्यान तथा उसके उपयुक्त बहुत सारी सामग्री उन्होंने कंठस्थ की थी। वे बड़ा रसीला व्याख्यान दिया करते थे। कंठों में माधुर्य था। आवाज बड़ी तेज थी। कहा जाता है कि जब वे व्याख्यान प्रारंभ करते तब आस-पास के गाँवों तक उनकी आवाज सुनाई दे जाती थी। भारमलजी स्वामी के सामने ही व्याख्यान देने का उन्हें बहुधा अवसर मिलता रहता था। चातुर्मास में प्रभात का व्याख्यान भारमलजी स्वामी देते थे तब रात्रिकालीन व्याख्यान में रामचरित बाँचने का कार्य-भार आपको ही मिला करता था।

१—रायचंद ब्रह्मचारी ने स्वामी सीख दे सोमती।
तू बालक छै बुद्धिमानो मोह कीजे मती॥
ब्रह्मचारी श्री स्वामी प्रति वच सुंदर।
आप करो जमम को सफलो हूं मोह किम करूं॥ (भि ज र ५९-७,८)

निपुण सहयोगी

लगभग अठारह वर्ष तक उन्हे भारमलजी स्वामी की सेवा में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समग्र समय में वे आचार्यदेव के निपुण सहयोगी बनकर रहे। बाह्य सहयोगो के साथ-साथ आचार्यदेव उनसे सघ-सम्बन्धी आतरिक कार्यो मे भी सहयोग लेते रहते थे। उससे जहाँ स्वय उनको सघ-व्यवस्था का अनुभव प्राप्त होता था, वहाँ भारमलजी स्वामी को भी पूर्ण साता प्राप्त हुआ करती थी। यह उनकी ऐसी सेवा थी, जिसे हर कोई साधु नही कर सकता था। इस प्रकार साधारण साधु के जीवन से ही उनके व्यक्तित्व ने कई असाधारणताएँ लिए हुए विकास प्राप्त किया था।

: ३

उत्तराधिकार प्राप्ति

अनेक योग्य व्यक्ति

आचार्य भारमलजी स्वामी की अवस्था बहुत वृद्ध हो चुकी थी। शरीर निरन्तर अस्वस्थ रहने लग गया था। अधिक विहार कर सकने की सम्भावना नहीं रह गयी थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने संघ-व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का विचार किया।

संघ में उस समय अनेक प्रभावशाली तथा योग्य संत थे। अतः यह समस्या भारमलजी स्वामी के सामने अवश्य उपस्थित हुई होगी कि उनमें से किसकी नियुक्ति की जाये? उन अनेकों में एक हेमराजजी स्वामी थे। उनकी सेवाएँ संघ के लिए अनुपमेय थीं। उनका आगम-ज्ञान भी दूसरों से कहीं अधिक विस्तृत और गहरा था। स्वामीजी की सेवा में रहकर उन्होंने जो कुछ अनुभव अर्जित किया था वह भी दूसरों के लिए प्रायः अलभ्य ही था। इसी गणना के दूसरे संत खेतसीजी स्वामी थे। वे इतने भद्र और विनीत प्रकृति के थे कि उनका दूसरा नाम 'सतयुगी' प्रचलित हो गया था। वे रायचन्दजी स्वामी के संसार-पक्षीय मामा थे। तीसरे रायचन्दजी स्वामी थे जो कि एक प्रतिभा-संपन्न युवक साधु थे।

परामर्श

भारमलजी स्वामी को उन्हीं कुछ संतों में से किसी एक को चुनकर संघ का उत्तराधिकारी नियुक्त करना था। किन्तु उनमें से किसको चुना जाए—यह निर्णय करना सरल नहीं था। उन सबमें अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं जो कि भारमलजी स्वामी के मन को भी किसी एक निश्चय पर पहुँचने से पूर्व ही दूसरी ओर आकर्षित करती रहती थीं। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने नियमतः आवश्यक न होते हुए भी संघ के कुछ अनन्य भक्त साधुओं से उस विषय में परामर्श कर लेने की आवश्यकता महसूस की।

हेमराजजी स्वामी और खेतसीजी स्वामी को बुलाकर उन्होंने अपने विचार उनके सामने रखे तथा उस विषय में उनकी राय जाननी चाही। साथ ही तद् विषयक निर्णय पर भावी प्रतिक्रिया का भी विचार किया। दोनों ही सन्तों ने उस विषय में भारमलजी स्वामी के विचारों का पूर्णतः सम्मान किया और कहा — आप हम सन्तों की ओर से निश्चिंत रहकर संघ के भावी हित के लिए अपने निर्णयानुसार कार्य करें। हम सब तन-मन से आपके निर्णय

को वहन करने के लिए उद्यत हैं। युवक साधु रायचदजी इस भार के लिए सर्वथा योग्य है। आप उन्हें यह पद सौपे।"[1]

सघ के स्तम्भस्वरूप माने जाने वाले दोनो ही सन्तो ने जब, इस प्रकार से भारमलजा स्वामी के विचारों का अनुमोदन किया तो वे उन दोनो ही सन्तो की पद-निर्लिप्त भावना से वडे प्रभावित हुए।

दो नाम

उसके वाद उन्होने उत्तराधिकारी की नियुक्ति के लिए एक पत्र लिखा। उसमें दो व्यक्तियों का नामोल्लेख करते हुए लिखा है—"सर्व साध-साधवी खेतसीजी रायचदजी री आगन्या माहें चालणो।" खेतसीजी स्वामी ससार-पक्ष से रायचदजी स्वामी के मामा थे। इस सम्बन्ध के आधार पर ही पत्र में उपर्युक्त प्रकार से दोनो नाम लिखे गये थे।

इस पर पास में बैठे बाल साधु जीतमलजी (जयाचार्य) ने निवेदन किया—"भगवन्! आप चाहे जिसका नाम लिखें, परन्तु नाम एक ही होना चाहिए। दो नाम किसी भी स्थिति मे नही रहने चाहिएँ।"

इस सुझाव पर भारमलजी स्वामी ने ध्यान दिया और केवल रायचदजी स्वामी का ही नाम रखा।[2]

१—खेतसीजी हेमजी भणी, पूछीनै दियो पाट।
ब्रह्मचारी ऋषि रायचन्द नै, थिर कर राखज्यो थाट॥ (भा० च० ८-६)

तथा —

सतजुगी हेम वयण वदीजे, रायचदजी ने पट दीजे।
म्हारी तरफ सू चिता न कीजे॥ (ऋ० सु० ७-४)

२—युवाचार्य-पद के लिए दो नाम लिखने और फिर एक रखने की यह घटना यद्यपि सुप्रसिद्ध है, फिर भी इसका उल्लेख न तो 'भारीमालचरित में है और न 'ऋषिराय सुजस', 'सतजुगी चरित' और 'जयसुजस' में ही। फिर भी इस प्रसिद्ध अनुश्रुति को सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है कि युवाचार्य पद समर्पित करने के लिए लिखे गये उस पत्र मे दोनो नाम हैं और वाद में प्रथम नाम पर विदियाँ लगाई हुई हैं।

जिन चार व्यक्तियों से उपर्युक्त घटना का सम्बन्ध है, उन चारों के जीवन-चरित से केवल इतना ही विदित हो पाता है कि हेमराजजी स्वामी और खेतसीजी स्वामी को पूछ कर ही रायचदजी को युवाचार्य-पद दिया गया था।

पद-समर्पण

उस पत्र को सबके सम्मुख पढ़कर सुनाया गया और विधिवत् रायचंदजी स्वामी को युवाचार्य-पद समर्पण किया गया। यह कार्य संवत् १८७८ वैशाख कृष्णा नवमी को केलवा में संपन्न हुआ।[1]

१—उपर्युक्त संवत् १८७८ का कथन पंचांग के अनुसार किया गया है जब कि युवाचार्य-पद के मूल पत्र में संवत् १८७७ वैशाख वदी नवमी गुरुवार का उल्लेख है। मूल-पत्र का उल्लेख चैत्र-परम्परा के क्रम से है।

युवाचार्य-पद प्रदान करने के समय और स्थान के विषय में उपर्युक्त पत्र के अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र कुछ इस प्रकार से उल्लेख हुआ है कि उस सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यहाँ उन सबका थोड़ा स्पष्टीकरण कर देना संगत होगा। पहले 'जय सुजस' को लें। उसमें घटनाओं का वर्णन-मात्र ही किया गया है। स्थान और समय के विषय में कोई नई जानकारी प्राप्त नहीं होती। समय के विषय में अधिक-से-अधिक इतना ही पता लग सकता है कि संवत् १८७७ में भारमलजी स्वामी के उदर-पीड़ा हुई थी उसके बाद युवाचार्य पद दिया गया था। वे पद्य इस प्रकार हैं :

सतंतरे वर्ष सिद्धाणी भारीमाल तणे तन जाणी।
उदर वेदन अधिक कमाणी॥
चढ्या देस तणा सुखदाया श्रावक-श्राविका सदर सुहाया।
पूज्य रा दर्शन करवा आया॥
साध साधव्यां बहु सुखदायी स्वामी रे तन कर सुणायी।
हेम आदि मिल्या संत आयी॥
ऋषराजी हेम वचन वदीजे रायचंदजी ने पद दीजे।
म्हांरी तरफ सूं चिंता न कीजे॥
भारीमाल सुणी मन हरख्या लिखत कीधूं ही ने निरख्या।
जान परम विनयवंत परख्या॥
ऋद्धा उत्तम बड़ा मुनि धीरा गज-गमण गहर गंभीरा।
हद विमल अमोलक हीरा॥
रायचंदजी न पद आप्यो आचार्य पद थिर थाप्यो।
प्यारो जगजश जिउं दिशि व्यापो॥ (ज॰ सु॰ ७-१ स ७)

'भारीमाल चरित' में यह क्रम इस प्रकार से वर्णित हुआ है—भारमलजी स्वामी राजनगर से संवत् १८७७ फाल्गुन कृष्णा नवमी को केलवा पधारे (ढा॰ ७ ९)। अस्वास्थ्य वश संवत् १८७८ मिगसर तक वहीं रहे। मिगसर में वहीं साधु-साध्वी समुदाय एकत्रित

हुआ (ढा० ८ दो० ३)। भारमलजी स्वामी ने उस समय अमुक-अमुक शिक्षाएँ प्रदान कीं। वस उन्हीं शिक्षाओ के अन्तर्गत एक पद्य ऐसा आया है, जो कि युवाचार्य-पद प्रदान करने से सम्वन्धित है। उसके वाद भी शिक्षाओं का ही क्रम चलता रहा है। वह पद्य इस प्रकार है :

> खेतसीजी हेमजी भणी, पूछी ने दियो पाट।
> ब्रह्मचारी ऋषि रायचंद ने, थिर कर राखज्यो थाट ॥ (भा० च० ८-६)

इस से पूर्व युवाचार्य-पद प्रदान करने सम्वन्धी कोई कथन नहीं किया गया है, अत पाठक को ऐसा आभासित होने लगता है कि वह कार्य उसी समय (सं० १८७८ मिगसर मे) सपन्न किया गया था। परन्तु पूर्वापर संदर्भ पर थोड़ा गहराई से ध्यान दिया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कथन शिक्षा का ही एक अग है। उस पद्य का 'थिरकर राखज्यो थाट'—यह अश तो विल्कुल ही साफ कर देता है कि उस समय भारमलजी स्वामी साधुओं को वतला रहे थे कि मैंने ऋषि रायचंद को यह पद प्रदान किया है, अव तुम लोगों का कर्त्तव्य है कि उसके अनुशासन में स्थिर रहते हुए संघ की शोभा वढ़ाओ।

भारमलजी स्वामी के द्वारा दी गई उपर्युक्त शिक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने युवाचार्य की नियुक्ति कम-से-कम उस समय से पूर्व तो कर ही दी थी। अन्यथा वे अपनी शिक्षा में उसका उल्लेख कैसे कर सकते थे? परन्तु मिगसर से पूर्व वह नियुक्ति कव की गई थी, इस विपय में वहाँ कोई कथन नहीं है।

अव 'जय सुजस' के कथन का भी अध्ययन कर लें। वहाँ कहा गया है कि स० १८७७ वसत पचमी को गोगूदा (मोटागाम) में एक दीक्षा देकर हेमराजजी स्वामी ने वहाँ से विहार किया और राजनगर में आकर भारमलजी स्वामी के दर्शन किये। वहाँ आचार्यदेव की दृष्टि देखकर रायचंदजी स्वामी को युवाचार्य-पद देने की प्रार्थना की। तव उन्हें युवाचार्य-पद पर नियुक्त किया गया और हेमराजजी स्वामी को नौ सन्तों के साथ आमेट चातुर्मास के लिए भेजा गया। 'जय सुजस' के वे पद्य इस प्रकार हैं

> बड़ागाम सूं विहार करीनै, हेम जीत आदि गुणरासो।
> राजनगर गणी भारीमाल रा, दरसन किया हुलासो ॥
> भारीमाल तनु कारण जाणी, वहु सन्त मिल्या तिहां आणी।
> गणपति नी मरजी ओलख, ऋषि हेम वदै इम वाणी ॥
> प्रगट पाट ऋषि राय शशी ने, महर करी ने दीजे।
> म्हांरी तरफ नों आप मन मांहें, किंचित फिकर न कीजे ॥
> डावी जीमणी आंख दोनूं में, नहीं है फरक लिगारो।
> तिम आप तणै ऋषिराय अनै हूँ, सरिखा बे हू सुविचारो ॥
> हेम वयण वर रयण समा सुण, गणपति हर्ष सुपाया।
> परम विनीत रु नीतिवत हद, जाण्या हेम सवाया ॥
> तव पद युवराज दियो ऋषिराय ने, हेम भणी सुविमासो।
> नव संतां सू स्वाम भुलायो, सहर आमेट चोमासो ॥(ज० सु० ७-९ से १४)

इन पद्यों से साधारणतया यही अर्थ निकाला जा सकता है कि यह कार्य राजनगर में माघ के अन्तिम सप्ताह से लेकर फाल्गुन शुक्ला नवमी से पहले-पहले सम्पन्न हुआ था। माघ के अन्तिम सप्ताह में हेमराजजी स्वामी ने दर्शन किये थे यह बात 'जय सुजश' से स्पष्ट होती है तो फाल्गुन शुक्ला नवमी को आचार्यदेव केलवा पधार गये थे यह बात 'भारीमाल चरित' में कही गई है। परन्तु वहाँ भी पूर्वापर संदर्भ पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें जयाचार्य के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का ही मुख्यतः उल्लेख है शेष घटनाएँ तो प्रसंगवश कही गई हैं। उनके स्थान और समय का विवरण प्रस्तुत करने का वहाँ कोई उद्देश्य नहीं रखा गया है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जयाचार्य उस समय बालक थे और हेमराजजी स्वामी के साथ थे। इसीलिए उनके विहार तथा चातुर्मासों का विवरण तो प्रस्तुत किया गया है परन्तु भारमलजी स्वामी का उस वर्ष केलवा में चातुर्मास था उसका कोई कथन नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि युवाचार्य-पद-विषयक घटना का भी वहाँ प्रसंगवश उल्लेख तो हुआ है, पर स्थान और समय के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

'भारीमाल चरित' के कथनानुसार केलवा पदार्पण से पूर्व राजनगर में अठतीस साधु एकत्रित हो गये थे (ढा ५ ७)। वहाँ से कुछ को विहार करा कर वे केलवा पधारे उस समय उनके साथ बाईस साधु थे (ढा ५ ९)। संभव है पहले आये हुए साधुओं को वहाँ से विहार करा दिया हो और बाद में आये साधुओं को कुछ समय के लिए अपने साथ रखा हो। हेमराजजी स्वामी माघ के अन्तिम सप्ताह में आये थे, अतः वे केलवा में भी कुछ समय तक साथ रहे थे ऐसा संभव है। इस पर से यह कल्पना की जा सकती है कि युवाचार्य-पद सम्बन्धी परामर्श चाहे राजनगर में हुआ हो पर नियुक्ति तो केलवा में ही हुई थी। इसका संवादक प्रमाण हीरालाल सेवग की एक प्राचीन ढाल भी है। उसमें कहा गया है :

> साथ आरज्यां मुनी रे भावक सवस मला ये साखी।
> राजनगर गामी रो मालक, भारीमाल भाखी॥
> कोलनामा तो किया केलवे शुभ वेला साखी।
> राजनगर में रायचंदजी गुरु बैठा गाखी॥

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त 'कोलनामा' का तात्पर्य युवाचार्य-पद प्रदान करने से ही है। इस प्रकार रायचंदजी स्वामी को युवाचार्य-पद पर नियुक्त करने का स्थान केलवा और समय वैशाख कृष्णा नवमी हो तो उसमें उपर्युक्त विरुद्ध दिखाई देने वाले प्रमाण भी बाधक नहीं हैं।

यति हुलासचंदजी द्वारा 'शासन प्रभाकर' में उपर्युक्त सभी प्रमाणों से विपरीत एक भिन्न ही कथन किया गया है। वह इस प्रकार है :

> मुनिनीतां सिर सेहरा संत छती प्रतिपाल।
> जाणी युवपद आपियो बड़ौ किर्तरौ भारीमाल॥ (ढा प्र १ १९)

यह कथन अन्य किसी कथन से न तो मेल ही खाता है और न अपनी सत्यता के लिए कोई प्रमाण ही प्रस्तुत करता है।

: ४ :

प्रभावशाली आचार्य

अनुभवी

ऋषिराय स० १८७८ माघ कृष्णा नवमी को राजनगर में आचार्य-पद पर विराजमान हुए। यद्यपि वे युवाचार्य-पद पर बहुत कम समय ही रह सके थे, फिर भी उन्हें सघ के कार्यो में पूर्णरूपेण दक्षता प्राप्त थी। करीब इक्कीस वर्ष तक साधारण साधु की अवस्था में स्वामीजी तथा भारमलजी स्वामी की सेवा मे रहते हुए उन्होंने जो अनुभव अर्जित किये थे, वे उन्हें एक दक्ष आचार्य बनाने के लिए पर्याप्त थे। उनकी दक्षता अपने प्रकार की एक ही थी। उसके साथ ओजस्विता और दृढता का संयोग, जो कि प्राय विरल ही मिलता है, सोने में सुगन्ध का काम करने वाला था।

तपस्या-प्रेरक

उनके शासनकाल में सघ में तपस्या की बहुत वृद्धि हुई। अन्य तपस्याओ के अतिरिक्त 'आछ'[1] के आगार पर होने वाली आठ षाण्मासिक तपस्याएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। सघ में उस समय तक के लिए इतनी लम्बी तपस्या का वह प्रथम अवसर ही था। तपस्या करने वाले को वे अच्छा सहयोग प्रदान किया करते थे। उनकी साधारण-सी प्रेरणा भी सत-सतियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण वन जाया करती थी।

तमाखू पर नियत्रण

सघ को अधिक सुदृढ और कार्यशील बनाने के लिए उन्होंने अनेक नई मर्यादाओ का निर्माण किया था। वे प्राय हर कार्य में दूरगामी प्रभाव का विचार कर के कार्य किया करते थे। तमाखू सूघने सम्बन्धी उनकी मर्यादाएँ उसी दृष्टि की द्योतक है। उनके समय में कुछ साधु तमाखू सूघा करते थे। दूसरे सघों से आकर दीक्षित होने वाले साधु विशेषरूप से इस विषय में विवश पाये जाते थे। ऋषिराय इस बात को अच्छा नही समझते थे। उन्हें भय था कि कही एक से दूसरे के पास यह प्रकृति सक्रमण करती ही न चली जाए। उन्होंने तमाखू सूघने पर इतना कडा वन्दोवस्त किया कि कोई नये सिरे से तो सूघना प्रारम्भ करे ही नही, किन्तु जो पहले से सूघता हो वह भी उसे छोडने में ही लाभ समझने लगे। वस्तुत उन्होंने माल से भी जकात को भारी बनाकर इस प्रवृत्ति को सघ से समूल ही उठा दिया।

१—छाछ को गरम करने के वाद उस पर जो नीले रग का पानी निथर आता है, उसे 'आछ' कहते हैं। मेवाड़ में आमतौर से ऐसा करने की पद्धति है, जिससे कि छाछ गाढी वन जाती है और उसे अनेक प्रकार से काम में लिया जाता है।

इन पद्यों से साधारणतया यही अर्थ निकाला जा सकता है कि यह कार्य राजनगर में माघ के अन्तिम सप्ताह से लेकर फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी से पहले-पहले सम्पन्न हुआ था। माघ के अन्तिम सप्ताह में हेमराजजी स्वामी ने दर्शन किये थे यह बात 'जय सुजश' से ज्ञात होती है, तथा फाल्गुन शुक्ला नवमी की आचार्यदेव केलवा पधार गये थे यह बात 'मारीमाल चरित' में कही गई है। परन्तु यहाँ भी पूर्वापर संदर्भ पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें जयाचार्य के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का ही मुख्यतः उल्लेख है शेष घटनाएं तो प्रसंगवश कही गई हैं। उनके स्थान और समय का विवरण प्रस्तुत करने का यहाँ कोई उद्देश्य नहीं रखा गया है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जयाचार्य उस समय बालक थे और हेमराजजी स्वामी के साथ थे। इसीलिए उनके विहार तथा चातुर्मासों का विवरण तो प्रस्तुत किया गया है परन्तु मारमलजी स्वामी का उस वर्ष केलवा में चातुर्मास था उसका कोई कथन नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि युवाचार्य-पद-विषयक घटना का भी यहाँ प्रसंगवश उल्लेख तो हुआ है पर स्थान और समय के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

'मारीमाल चरित' के कथनानुसार केलवा पदार्पण से पूर्व राजनगर में अड़तीस साधु एकत्रित हो गये थे (ढा ५७)। वहाँ से कुछ को विहार करा कर वे केलवा पधारे तब उस समय उनके साथ बाईस साधु थे (ढा ५९)। संभव है पहले आये हुए साधुओं को वहीं से विहार करा दिया हो और बाद में आये साधुओं को कुछ समय के लिए अपने साथ रखा हो। हेमराजजी स्वामी माघ के अन्तिम सप्ताह में आये थे अतः वे केलवा में भी कुछ समय तक साथ रहे थे ऐसा संभव है। इस पर से यह कल्पना की जा सकती है कि युवाचार्य-पद सम्बन्धी परामर्श चाहे राजनगर में हुआ हो पर नियुक्ति तो केलवा में ही हुई थी। इसका संवादक प्रमाण हीराचंद सेवग की एक प्राचीन ढाल भी है। उसमें कहा गया है :

> साध आरज्यां सुणो रे आवकां समस्त गच्छ रे साखी।
> रायचंद पाटी रो मालक, मारीमाल भाखी ॥
> कोलरचन तो किया केलवे शुभ वेला साखी।
> राजनगर में रायचंदजी गुरु बैठा पाटी ॥

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त 'कोलवचन' का तात्पर्य युवाचार्य-पद प्रदान करने से ही है। इस प्रकार रायचंदजी स्वामी को युवाचार्य-पद पर नियुक्त करने का स्थान केलवा और समय वैशाख कृष्णा नवमी हो तो उसमें उपर्युक्त विरुद्ध दिखाई देने वाले प्रमाण भी बाधक नहीं हैं।

यति हुलासचंदजी ने 'शासन प्रभाकर' में उपर्युक्त सभी प्रमाणों से विपरीत एक भिन्न ही कथन किया गया है। वह इस प्रकार है :

> युविनीतां सिर सेहरा संत सती प्रतिपाल।
> आर्यो युवराज आरिखो अठारे छिंयंतरे मारीमाल ॥ (शा प्र १ १९)

यह कथन अन्य किसी कथन से न तो मेल ही खाता है और न अपनी सफलता के लिए कोई प्रमाण ही प्रस्तुत करता है।

आये तो ऋषिराय ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"जीतमल ! हेमराजजी स्वामी यहाँ आलोयणा करने न आयें तब तक तुझे चारो आहार का प्रत्याख्यान है ।"

जीतमलजी स्वामी बडे विनीत होने के साथ ही ऋषिराय द्वारा दीक्षित उनके प्रथम शिष्य भी थे । हेमराजजी स्वामी के साथ भी उनका प्रगाढ सम्बन्ध था । वे अनेक वर्षो तक उनके साथ रहे थे । शास्त्रीय ज्ञान भी उन्होने हेमराजजी स्वामी के पास रहकर ही अर्जित किया था । अत ऋषिराय ने उस कार्य के लिए वह माध्यम सर्वथा उपयुक्त ही चुना था । उन्होंने तत्काल ऋषिराय के आदेश को शिरोधार्य किया और वदन करके हेमराजजी स्वामी के पास जाकर उन्हें पूछा—"आप आलोयणा करने के लिए नही पधारे ?"

हेमराजजी स्वामी ने कहा—"यहीं पर अपने आप ही कर ली थी ।"

जीतमलजी स्वामी—"नही यह तो गुरुदेव के पास ही करनी चाहिए ।" हेमराजजी स्वामी—"मैंने तो यो ही यहाँ पर कर ली थी । तेरी ऐसी इच्छा है तो अब वहाँ कर लूगा ।"

वे तत्काल उठकर ऋषिराय के पास जाकर 'आलोयणा' कर आये । उसके बाद सहज ही यह परिपाटी चल पडी कि दीक्षा-वृद्ध साधुओ को भी आचार्य के पास ही 'आलोयणा' करनी चाहिए ।

इस प्रकार ऋषिराय ने अपने शासनकाल में अनेक ऐसी परिपाटियाँ डाली थी जो कि सघ के लिए अत्यन्त हितावह थी । उनकी वह दूरदर्शिता व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा के लिए न होकर सघ की सुव्यवस्था के अनुरूप थी ।

कोई राजपूत भी है ?

ऋषिराय एक बडे ही निर्भीक व्यक्ति थे । वे अपनी बात को इतने प्रभावशाली ढग से कहा करते थे कि वह स्वय ही वातावरण पर छा जाया करती थी । उसमें उनके कठो का माधुर्य और गभीर स्वर भी कुछ सहायक बनते थे ।

एक बार ऋषिराय मेवाड विहार कर रहे थे । कुछ सत उनसे आगे दूर चल रहे थे । उन दिनों वहाँ डाकुओ का काफी भय रहा करता था । ग्रामो के अधिपति 'ठाकुर' स्वय' डाका डाला करते थे । आगे चलने वाले सतो को मार्ग में कुछ घुडसवार मिले । उन्होने सतो से अपना सामान रख देने के लिए कहा । सतों ने उनको बतलाया कि हमारे पास कोई धन नहीं है । हम अपने सयम के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्र, पात्र और शास्त्रो आदि के अतिरिक्त कोई सामग्री नही रखते ।

इतने में एक घुडसवार ने एक साधु के कधे पर पडे कबल को उठाने का प्रयत्न किया । उस साधु ने भी तत्काल अपने कबल को उतार कर नीचे जमीन पर बिछा लिया और उसके ऊपर बैठ गया । आखिर में घुडसवार नीचे उतरा और उस कम्बल को उनके नीचे से खीचकर निकालने लगा ।

साधु-साध्वीगण तमाखू सम्बन्धी मर्यादाओं के सभी थोड़े उल्लेखों को पढ़ने से आज चाहे उकता जाते हों तथा उनके पठन को अब चाहे अनावश्यक भी मान लेते हों किन्तु उस समय के लिए अवश्य ही वे मर्यादाएँ संघ की एक बहुमूल्य आवश्यकता को पूर्ण करने वाली रही थीं।

दीक्षा-वृद्ध और आलोयणा

जयाचार्य की दूरदर्शिता का एक और उदाहरण देखिए, प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय दैनिक कार्यों तथा समिति गुप्तियों में छद्मस्थतावश हो जाने वाली भूलों की 'आलोयणा' की जाती है। प्रत्येक साधु गुरु हों वहाँ गुरु के पास अन्यथा अग्रणी के पास यह 'आलोयणा' किया करता है। परन्तु पहले यह पद्धति के रूप में केवल इतनी ही थी कि छोटे साधु आचार्य के पास 'आलोयणा' करते थे और बड़े साधु इच्छा हो तो आचार्य के पास कर लेते थे अन्यथा स्वयं भी कर लेते थे।

एक बार सं० १८८४ में ऋषिराय मालव-यात्रा के बाद पुर पधारे। वहाँ हेमराजजी स्वामी पहले से ही विराजमान थे। वे ऋषिराय के सामने गये। बड़े आदर से उन्हें शहर में प्रवेश कराया तथा दर्शन-सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

हेमराजजी स्वामी ऋषिराय से दीक्षा में वृद्ध थे अतः सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव के पास न जाकर उन्होंने स्वयं ही 'आलोयणा' कर ली। वस्तुतः तब तक कभी यह प्रश्न उठा ही नहीं था कि बड़े संतों को 'आलोयणा' गुरु के पास ही करनी चाहिए। हेमराजजी स्वामी ने जो स्वयं 'आलोयणा' कर ली थी उसमें उनका कोई अभिमान नहीं था पर अचर्चित विषय[1] पर अपना सामयिक ध्यान मात्र ही था। वे उसे कोई बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण बात नहीं समझते थे।

आज की कोई भी क्रिया आगे के लिए एक परिपाटी बन जाती है। ऋषिराय इस बात के रहस्य को पहचानते थे। इसीलिए वे उस पद्धति को महत्त्व की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि से यह प्रश्न केवल हेमराजजी स्वामी के लिए ही नहीं था किन्तु संघ के सब भावी आचार्यों तथा उनसे दीक्षा-वृद्ध संतों के पारस्परिक सम्बन्धों की सीमा पर प्रभाव डालने वाला था, अतः सबके लिए ही था। ऋषिराय चाहते थे कि प्रत्येक साधु चाहे वह आचार्य से दीक्षा में बड़ा हो या छोटा 'आलोयणा' आचार्य के पास ही करे।

अपनी उस भावना को हेमराजजी स्वामी तक पहुँचाने के लिए उन्होंने एक अच्छा माध्यम भी निश्चित कर लिया। जब जीतमलजी स्वामी (जयाचार्य) 'आलोयणा' करने के लिए

1—पुर में आया अधिक हगाम, तठा तांई चौमस्य न हुई ताम।
सिमरस् पडिकमण मांहि हुमि हेम, निज मत आलोयणा के तेम॥ (ऋ० सु० ११ १४)

आये तो ऋषिराय ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"जीतमल ! हेमराजजी स्वामी यहाँ आलोयणा करने न आयें तव तक तुझे चारो आहार का प्रत्याख्यान है।"

जीतमलजी स्वामी वडे विनीत होने के साथ ही ऋषिराय द्वारा दीक्षित उनके प्रथम शिष्य भी थे। हेमराजजी स्वामी के साथ भी उनका प्रगाढ सम्बन्ध था। वे अनेक वर्षों तक उनके साथ रहे थे। शास्त्रीय ज्ञान भी उन्होने हेमराजजी स्वामी के पास रहकर ही अर्जित किया था। अत ऋषिराय ने उस कार्य के लिए वह माध्यम सर्वथा उपयुक्त ही चुना था। उन्होने तत्काल ऋषिराय के आदेश को शिरोधार्य किया और वदन करके हेमराजजी स्वामी के पास जाकर उन्हें पूछा—"आप आलोयणा करने के लिए नही पधारे ?"

हेमराजजी स्वामी ने कहा—"यहीं पर अपने आप ही कर ली थी।"

जीतमलजी स्वामी—"नही यह तो गुरुदेव के पास ही करनी चाहिए।" हेमराजजी स्वामी–"मैंने तो यो ही यहाँ पर कर ली थी। तेरी ऐसी इच्छा है तो अव वहाँ कर लूगा।"

वे तत्काल उठकर ऋषिराय के पास जाकर 'आलोयणा' कर आये। उसके वाद सहज ही यह परिपाटी चल पडी कि दीक्षा-वृद्ध साधुओ को भी आचार्य के पास ही 'आलोयणा' करनी चाहिए।

इस प्रकार ऋषिराय ने अपने शासनकाल में अनेक ऐसी परिपाटियाँ डाली थी जो कि सघ के लिए अत्यन्त हितावह थी। उनकी वह दूरदर्शिता व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा के लिए न होकर सघ की सुव्यवस्था के अनुरूप थी।

कोई राजपूत भी है ?

ऋषिराय एक बडे ही निर्भीक व्यक्ति थे। वे अपनी बात को इतने प्रभावशाली ढग से कहा करते थे कि वह स्वय ही वातावरण पर छा जाया करती थी। उसमें उनके कठो का माधुर्य और गभीर स्वर भी कुछ सहायक बनते थे।

एक बार ऋषिराय मेवाड विहार कर रहे थे। कुछ सत उनसे आगे दूर चल रहे थे। उन दिनो वहाँ डाकुओ का काफी भय रहा करता था। ग्रामो के अधिपति 'ठाकुर' स्वय डाका डाला करते थे। आगे चलने वाले सतो को मार्ग में कुछ घुडसवार मिले। उन्होंने सतो से अपना सामान रख देने के लिए कहा। सतो ने उनको बतलाया कि हमारे पास कोई धन नहीं है। हम अपने सयम के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्र, पात्र और शास्त्रो आदि के अतिरिक्त कोई सामग्री नही रखते।

इतने में एक घुडसवार ने एक साधु के कधे पर पडे कवल को उठाने का प्रयत्न किया। उस साधु ने भी तत्काल अपने कवल को उतार कर नीचे जमीन पर बिछा लिया और उसके ऊपर बैठ गया। आखिर में घुडसवार नीचे उतरा और उस कम्वल को उनके नीचे से खीचकर निकालने लगा।

ऋषिराय पीछे से आ ही रहे थे कि उन्होंने दूर से यह सारा दृश्य देखा। घुड़सवारों का ठहरना, कंबल की ओर हाथ डालना, संतों का उसे बिछाकर बैठ जाना और फिर सवार का नीचे उतर कर उसे खींचने का प्रयास करना यह सब देख लेने पर उनसे छिपा नहीं रहा कि ये डाकू हैं। परन्तु उन्हें डाकुओं का भय कहाँ था ? उन्होंने तत्काल ऊँचे स्वर से 'हाक' करते हुए वहीं से कहा— सारे गोले ही मोल एकत्रित हुए हो या कोई राजपूत भी है तुम्हारे में ?

ऋषिराय की यह तेज आवाज काफी दूर तक फैल गई। डाक-टोली का सरदार 'ठाकुर' अपने घोड़े पर कुछ पीछे था। घोड़े को दौड़ा कर वह वहाँ पर पहुँचा तब तक ऋषिरायजी साधुओं के पास पहुँच चुके थे। कंबल खींचने वाला व्यक्ति कुछ ठिठक गया।

ठाकुर ने आते ही पूछा— क्यों महाराज ! आप लोगों को राजपूत की क्या आवश्यकता पड़ गयी ?"

ऋषिराय ने कहा— नहीं हमें कोई आवश्यकता तो नहीं पड़ी पर तुम्हारे साथियों ने जब संतों को भी लूटना चाहा और उनके द्वारा कंबल बिछा लेने पर भी उसे खींचकर निकालना चाहा तब मुझे लगा कि इस टोली में कोई राजपूत नहीं है। मेरा अनुमान था कि कम-से-कम राजपूत तो अभी तक इतना पतित नहीं हुआ होगा। इसीलिए मैंने मेरे अनुमान की सत्यता को जानने के लिए यह पूछा था।

ठाकुर तो इस बात से लज्जावनत हो ही गया था पर कंबल लेने का प्रयास करने वाला वह सवार और उसके साथी भी लज्जा का अनुभव करने लगे। ठाकुर ने अपने दो साथियों को ऋषिराय के साथ करते हुए कहा— 'महाराज ! पीछे से और भी साथी आ रहे हैं अतः फिर कोई आप लोगों को तकलीफ न दे इसीलिए ये दोनों आप को ग्राम तक पहुँचा आवेंगे।

नखेद तिथि

ऋषिराय प्रायः मुहूर्त आदि की बाधाओं को अधिक महत्त्व नहीं दिया करते थे। वे जिस दिन आचार्य-पद पर आसीन हुए थे उस दिन माघ कृष्णा नवमी का दिन था। यह ज्योतिष के आधार से 'निषिद्धतिथि' थी अतः शुभकार्य के लिए वर्जित थी। मेवाड़ में 'निषेध' का उच्चारण 'नखेद' होता है अतः किसी ने प्रार्थना की कि यह दिन तो 'नखेद' है।

ऋषिराय ने तत्काल उस एक शब्द को दो शब्दों में विभक्त करके विशद अर्थ करते हुए कहा— 'न+खेद=नहीं है खेद जिसमें। तब तो बहुत अच्छा दिन है, क्योंकि उसमें हमें किसी प्रकार का खेद नहीं होगा।

अपने प्रति सत्य

ऋषिराय अपनी साधना में बड़े सावधान व्यक्ति थे। कई बार उनकी सहज सावधानी ने लोगों के मन पर बड़ा तीव्र प्रभाव डाला था। एक बार वे मारवाड़ के मांडा गांव में

पधारे। सायकाल का समय था। ऋषिराय आहार से निवृत्त हो चुके थे। मुनिजन आहार कर रहे थे। आकाश में बादल घिर रहे थे, इसलिए शीघ्र ही अधेरा होने लगा। मकान में वृक्ष होने के कारण उस अधेरे में कुछ वृद्धि हो गई। सशय होने लगा कि कही सूर्यास्त तो नहीं हो गया है ?

ऋषिराय स्वय मकान की छत पर गये। वृक्ष की ओर आ जाने से सूर्य दिखाई नही दिया, तब वे उसकी भीत पर चढकर देखने लगे। पडोस के गृहस्थ ने जब उन्हें भीत पर चढे देखा तो सशय और आश्चर्य-मिश्रित भावो से पूछा—"महाराज! आप इस छोटी भीत पर चढकर क्या देख रहे है ?"

ऋषिराय ने कहा—"सत आहार कर रहे थे और अधेरा घिरने लगा, तब मुझे सदेह हुआ कि कही सूर्यास्त होने वाला तो नही है ? यही देखने के लिए मैं भीत पर चढा था।"

पडोसी—"यदि सूर्यास्त हो गया होता तो ?"

ऋषिराय—"तो आहार-पानी का परित्याग कर परिष्ठापन कर दिया जाता।"

ऋषिराय की उस सहज सावधानी ने उस व्यक्ति पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह मुग्ध हो गया। उसने उसी दिन समझा कि आत्मसाक्षी से स्वीकृत सत्यता का धर्माराधन में कितना बडा महत्त्व होता है। जो अपने प्रति सत्य होता है, वही अन्यत्र भी सत्य होता है। वह सारा परिवार तभी से श्रद्धालु बन गया।

सत्य की विजय

बोरावड के ठाकुर केसरीसिंहजी ऋषिराय के बडे भक्त थे। एक बार उनके और कुचामन-ठाकुर के परस्पर अनबन हो गई। कुचामन वालो ने बोरावड पर आक्रमण कर दिया। केसरीसिंहजी ने आक्रमण का सामना करने का निश्चय किया और अपने साहसी सैनिको के साथ रण-क्षेत्र की ओर आगे बढे।

उन दिनो ऋषिराय वहीं ठहरे हुए थे। मार्ग में वह स्थान आया तो ठाकुर साहब ने अन्दर जाकर दर्शन किये। ऋषिराय ने रणसज्जा की उस आकस्मिक तैयारी का कारण पूछा तो ठाकुर साहब ने सक्षेप में सारी बात बतलाते हुए कहा—"यदि जीवित रहे तो फिर दर्शन करेंगे।"

ऋषिराय ने बातचीत के सिलसिले में कहा—"वास्तव मे तो जो सर्वज्ञ ने देखा है वही होता है, परन्तु कहा जाता है कि सत्य सदा ही विजयी होता है।"

ठाकुर साहब ने ब्रह्मचारी ऋषिराय के वचन को गाठ में बाधते हुए कहा—"अब मुझे अपनी विजय में कोई सन्देह नहीं है।"

सेना-सहित वे वहाँ से आगे बढे। युद्ध प्रारम्भ हुआ। थोडी देर के युद्ध में ही प्रतिपक्षी सेना का सेनापति ठाकुर केसरीसिंहजी की गोली से मारा गया। अवशेष सेना भाग खडी

हुई। ठाकुर विजय का डंका बजाते हुए वापिस आये और ससैन्य ऋषिराय के दर्शन कर कहने लगे—"मेरी विजय का रहस्य यही है कि मेरा पक्ष सत्य-पुष्ट था और 'सत्य सदा ही विजयी होता है' यह आपका वचन था।

एक दिन ऐसो आवियो

ऋषिराय का शरीर प्रायः नीरोग था। आखिरी वर्षों में उनके थोड़ी-बहुत सांस की गड़बड़ कभी-कभी अवश्य हो जाया करती थी उसके अतिरिक्त और कोई रोग उनके शरीर में नहीं था। औषधि लेने का काम तो रोगियों के ही पड़ा करता है नीरोग प्रायः स्वतः ही उससे बच जाते हैं। ऋषिराय नीरोग तो थे ही साथ ही उन्हें औषधियों से एक प्रकार की मानसिक घृणा-सी थी। कोई साधारण सी गड़बड़ में औषधि लेना तो उन्हें और अधिक रोगी बनने का प्रयास करने जैसा मालूम होता। वे प्रायः अधिक औषधि लेने वालों को टोक भी दिया करते थे।

एक बार संवत् १९०१ के जयपुर चातुर्मास में किसी चौड़ से टकरा जाने के कारण उनके हाथ की हड्डी उतर गई थी। उससे वहाँ चातुर्मास के बाद भी प्रायः पूरे चैत्र मास तक रहना पड़ा था। उस अवसर पर औषधि लेने तथा तेल आदि की मालिश कराने की भी आवश्यकता पड़ी थी। परन्तु वह सब बहुत ही बिना मन से उन्हें करना पड़ा था। तेल आदि चिकने पदार्थ से तो उन्हें औषधि की अपेक्षा अधिक घृणा थी पर हड्डी उतरने पर तो वह नितान्त आवश्यक हो गया।

चातुर्मास के पश्चात् संत-सतियों ने ऋषिराय के दर्शन जयपुर में ही किये। युवाचार्य श्री जीतमलजी स्वामी भी वहाँ पहुँचे। ऋषिराय को बिना मन तेल लगवाते देखकर एक बार उस बात का मीठा आनन्द लेते हुए उन्होंने एक 'दोहा' निवेदित करते हुए कहा था :

> कोई तेल लगाई आवतो करता तिणस्यूं तर्क।
> एक दिन ऐसा आवियो गुरु हुवा तेल में गर्क॥

युवाचार्य के उस सामयिक कथन पर स्वयं ऋषिराय तो हँसे ही पर सारा वातावरण भी सस्मित हो गया।

: ५ :

जनोपकारक यात्राएँ

मालव-यात्रा

ऋषिराय को देशाटन में वडी अभिरुचि थी। उन्होने अपने शासन-काल मे नये क्षेत्रो एव नये देशो की अनेक यात्राएँ की थी। उन यात्राओ से तेरापथ के प्रसार मे वहुत वडा सहयोग मिला। उन्होने अपनी प्रथम यात्रा स० १८८३ के उदयपुर चातुर्मास के वाद की थी। उस यात्रा में वे चौवन ठाणो को साथ लेकर मालवा में पधारे थे, जहाँ काफी लोग समझे और धर्मानुरागी वने। अनेक स्थानों पर चर्चाएँ भी हुई, जिन में खाचरोद, रतलाम, उज्जैन तथा वडनगर आदि की चर्चाएँ विशेष उल्लेखनीय थी। ऋषिराय ने उस वर्ष का चातुर्मास पेटलावद में किया। साथ में नौ सत थे। मालव मे उस वर्ष अन्य अनेक स्थानों पर भी चातुर्मास करवाये गये।

थली मे पदार्पण

उनकी दूसरी यात्रा स० १८८६ के पाली चातुर्मास के वाद थली पधारने की थी। थली में यद्यपि उससे पहले एक वार स्वामीजी पधारे थे। किन्तु उनका वहाँ जाना कार्य-विशेष के लिए ही हुआ था। मार्गस्थ क्षेत्रों के अतिरिक्त वे वहाँ विचरे नही। इसलिए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि धर्म-प्रसार के निमित्त थली में सर्वप्रथम ऋषिराय ने ही विहार किया था।

अन्य प्रचारक

उससे पूर्व वहाँ यति-सप्रदाय का प्रावल्य था। कुछ समय से उधर कुछ टालोकर[1] भी विचरने लगे थे। स्वामीजी के समय में चद्रभाणजी, तिलोकचदजी आदि ने थली के क्षेत्र को ही अपना विहार-स्थल बनाया था। वहाँ के लोग काफी सख्या में उनके अनुयायी वन गये थे।

थली-निवासी

उस समय थली की जनता काफी सरल प्रकृति की थी। मोटा खाना और मोटा पहनना ही प्राय वहाँ प्रचलित था। रेतीले टीलो की अधिकता के कारण तथा पानी की कमी के कारण वहाँ स्थान अधिक था, किन्तु जनता कम थी। आज भी अन्य उपजाऊ प्रान्तों की अपेक्षा वहाँ की जन-सख्या प्रति मील के हिसाब से काफी कम है। वर्ष में केवल एक वार वर्षाकाल में ही वहाँ कृषि की जा सकती है, अत उस समय के लोग प्राय उसी के आधार पर अपना सारा वर्ष

१—तेरापंथ साधु-संघ से टलकर पृथक् हुए तथा पृथक् किये गये व्यक्तियों को स्वामीजी ने 'टालोकर' संज्ञा दी थी।

गुजारते थे। वस्तुतः उस समय थली में जीविका के प्रमुख साधन दो ही थे—एक पशु-पालन और दूसरा कृषि। वहाँ के जैन लोग भी प्रायः इन्हीं साधनों के आधार पर जीवन-यापन किया करते थे। गाँवों का निवास, दूध-दही की बहुलता तथा कृषि आदि में आवश्यक शरीर-श्रम इन तीन बातों ने उस समय के थली निवासियों को स्वस्थता और सहिष्णुता प्रदान की थी।

धर्म-प्रसार

ऋषिराय के आगमन पर वहाँ की जनता को अच्छा धर्म-लाभ मिला। वहाँ भी पधारे वहाँ लोगों में धर्म के प्रति अच्छी जिज्ञासा पाई। वस्तुतः उस समय तक उस ओर किसी भी समाज के संत जनों का आवागमन बहुत कम हुआ था अतः लोगों में धर्म भावना की तृप्ति नहीं हो पाती थी। ऋषिराय ने जब वहाँ के क्षेत्रों में विहरण प्रारम्भ किया तो वहाँ की जैन जनता के लिए वह एक वरदानस्वरूप सिद्ध हुआ।

अनेक चातुर्मास

शेषकाल में अनेक क्षेत्रों में विहार करने के बाद सं० १८८७ का चातुर्मास ऋषिराय ने बीदासर में किया। उस वर्ष वहाँ के और भी अनेक क्षेत्रों में चातुर्मास करवाये गये। मरुस्थल मरुभूमि जिनवाणी की अमृत-वर्षा से तृप्त हो गई। लोग धर्म भावना से आप्लावित हो गये। जहाँ-जहाँ चातुर्मास करवाये गये वहाँ-वहाँ सब जगह ही प्रायः अच्छा उपकार हुआ। बीदासर चातुर्मास के अतिरिक्त चूरू में कोठमलजी स्वामी रीणी (तारानगर) में सरूपचंदजी स्वामी रतनगढ़ में हिरजी स्वामी आदि के चातुर्मास करवाये गये। कुछ अन्य क्षेत्रों में साध्वियों के चातुर्मास भी करवाये गये। उस एक ही वर्ष में वहाँ जो धर्मोद्योत हुआ उसका वर्णन करते हुए जयाचार्य ने लिखा है

> वर्ष सित्यासियै सुखकार हुयो धर्म उद्योत अपार।
> थया थली देश में थाट ध्यार तीर्थ तणा गह थाट॥

अनेक देश एक यात्रा

ऋषिराय की तीसरी यात्रा सं० १८८९ के उदयपुर-चातुर्मास के बाद हुई। वह पिछली दोनों ही यात्राओं से बहुत लंबी थी। उसमें गुजरात सौराष्ट्र और कच्छ—इन तीनों देशों में पधारना हुआ। उससे पूर्व वहाँ संत-सतियों का गमन भी नहीं हुआ था। तेरापंथी श्रावकों के द्वारा वहाँ अवश्य कुछ कार्य हुआ था।

गुजरात में

ऋषिराय इन श्रावकों को लेकर गुजरात पधारे। गुजरात का वह केवल स्पर्श मात्र ही

[एक-एक

रात रहते हुए वे आगे बढते गये। वे ईडर की ओर से गुजरात में प्रविष्ट हुए और अहमदाबाद होते हुए 'साणद' पधार गये। वहाँ से जीतमलजी स्वामी (जयाचार्य) आदि सात सत पीछे से तेज विहार करते हुए उस यात्रा में उनके साथ आ मिले। 'साणद' में पुरुषोत्तमदासजी पारख के द्वारा समझाई हुई एक बहिन 'झब्बू बाई' तेरापथी थी। वहाँ चार रात ठहरना हुआ।

सौराष्ट्र मे

वहाँ से सौराष्ट्र के लिए विहार करते हुए वे लीबडी पधारे। वहाँ भी पुरुषोत्तमदासजी पारख के समझाये हुए तेरह भाई तेरापथी थे। वहाँ दस रात ठहरकर 'बढवाण' पधारे। वहाँ उन दिनो दरियापुरी शकर ऋषि आये हुए थे। उन्होने ऋषिराय को कुछ दिन ठहरने के लिए काफी आग्रहपूर्वक कहा, किंतु एक रात विराजकर ही उन्होने वहाँ से ध्रागध्रा की ओर विहार कर दिया।

उन्हें कच्छ में जाने की शीघ्रता थी। अत कही भी अधिक ठहरने का हिसाब नहीं था। अन्यत्र अधिक दिन लगा देने मे कच्छ के 'रण' में पानी भर जाने की सम्भावना थी। ऋषिराय की इच्छा थी कि 'रण' में पानी आने से पहले-पहले वहाँ विचर कर वापिस मारवाड की ओर पहुँच जाएँ। इसीलिए उस यात्रा में केवल देशाटन ही अधिक रहा। मालव या थली की तरह यदि वहाँ भी चातुर्मास करने के ध्यान मे पदार्पण होता तो सम्भव है तेरापन्थ के प्रसार का वह एक अच्छा अवसर होता। परन्तु उस समय ऐसा नही किया जा सका। सभव है सामयिक परिस्थितियाँ बाधक रही हो।

कच्छ मे

कच्छ में प्रवेश करने के बाद उनका 'वेला' मे पदार्पण हुआ। वहाँ टीकम डोसी की श्रद्धा के व्यक्ति बहुत थे। टीकम डोसी तेरापन्थी श्रावक ही था। वह स्वामीजी के पास मारवाड में जाकर समझा था। पर अन्त मे योग-विषयक कुछ बोलों में उसके मतभेद हो गया था। उसने कच्छ में बहुत व्यक्तियो को तेरापन्थी बनाया था, पर बाद में उनको अपने मत का ही बना लिया था। जब ऋषिराय वहाँ पधारे, तब उन भाइयो को टीकम डोसी के मतभेदों का उत्तर देकर समझा लिया। आचार्यदेव वहाँ दस रात ठहरे।

वहाँ से अजार तथा मदरा होकर माडवी पधारे। वहाँ पुरुषोत्तमदासजी पारख के समझाये हुए काफी श्रावक थे। गुरुदेव के दर्शन पाकर वे बडे आह्लादित हुए। उन्होने अपने यहाँ चातुर्मास करने के लिए ऋषिराय से काफी आग्रह किया, पर उनकी आशा सफल नही की जा सकी। केवल छह रात विराजकर समुद्र और नारियलों के वन देखते हुए ऋषिराय ने मारवाड की ओर विहार कर दिया।

क्रमश: कच्छ की ओर बढ़ते हुए जब वे 'मारसर' पहुँचे तो वहाँ 'बेला' के भाइयों ने आकर दर्शन किये और चातुर्मास की बहुत प्रार्थना की। उनका अत्यन्त आग्रह देखकर ऋषिराय ने वहाँ कर्मचंदजी स्वामी आदि तीन संतों को चातुर्मास के लिए भेजा। उससे पूर्व वे ईसरजी स्वामी आदि तीन संतों को गुजरात के 'बीरमगाम' में चातुर्मास करने के लिए छोड़ आये थे। दोनों ही स्थानों पर संतों ने अच्छा उपकार किया। स्वयं ऋषिराय ने अपना चातुर्मास पाली में आकर किया।

इस प्रकार यात्रा प्रेमी ऋषिराय ने अपनी लंबी यात्राओं द्वारा संघ की महिमा ही नहीं बढ़ाई, किन्तु उसे अनेक नये क्षेत्र भी प्रदान किये। ऋषिराय की वे लंबी यात्राएँ आज भी धर्म प्रसार के लिए उत्सुक मुनि-जनों का आह्वान कर रही हैं।

: ६ :

अचानक शरीरान्त

मालव की प्रार्थना

स० १९०८ में ऋषिराय ने अपना चातुर्मास उदयपुर में किया। वहाँ मालव के लोग काफी सख्या मे दर्शन करने के लिए आये। उन्होंने दूसरी मालव-यात्रा के लिए आचार्यदेव से निवेदन किया। ऋषिराय स्वय ही यात्रा के प्रेमी थे, फिर वे आग्रह करने वाले श्रावक भी उसी के लिए प्रेरित कर रहे थे। बात उनके मनोनुकूल थी, अत उसकी स्वीकृति मे अधिक विलब नही हुआ।

मालव की जनता प्रसन्न होकर अपने स्थान पर गई। उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता की शर्त्त के साथ गुरुदेव की मालव-यात्रा-सबधी स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी। परन्तु उस समय मालव की जनता को अपने हर्षातिरेक में यह स्मरण नही रह पाया कि 'द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव' की यह शब्द-सघटना कोरी परपरागत ही नही है, अपितु यह एक बहुत महत्त्व-पूर्ण तथ्य भी है। इस तथ्य की अनुकूलता के अभाव में उद्घोपित यात्रा भी नही हो पाती।

प्रथम मालव-यात्रा के समय ऋषिराय की अवस्था लगभग छत्तीस वर्ष की थी, पर उस स्वीकृत दूसरी यात्रा के अवसर पर तो वे अक परस्पर अपना स्थान-परिवर्तन कर चुके थे। अवस्था के साथ-साथ मनुष्य के शरीर मे कितना बडा परिवर्तन हो जाता है। प्रथम-यात्रा मे जो शरीर युवा होने के साथ ही सामर्थ्य का प्रतीक था, वही दूसरी यात्रा के अव-सर तक वृद्ध होकर असामर्थ्य की ओर सकेत करने वाला हो गया था।

अन्तिम विहार

यद्यपि ऋषिराय की अवस्था उस समय वृद्ध हो चुकी थी, फिर भी उनका शरीर नीरोग था। शक्ति भी अच्छी थी। विहार करने में किसी प्रकार की विशेष थकावट महसूस नही होती थी। सबसे बढकर बात तो यह थी कि उस समय भी यात्रा करने का उनका उत्साह पूर्ववत् ही था। उन्होंने चातुर्मास पूर्ण होने के बाद कुछ महीनों तक आस-पास के क्षेत्रो का स्पर्शन कर फिर मालव जाने का निश्चय किया। योजनानुसार वे ग्रामो में दर्शन देते हुए सत्ताईस रात गोगूंदा में, बाईस रात बडी-रावलियाँ में, पाँच रात छोटी-रावलियाँ में और दस रात नादेसमा में रहे। इस प्रकार आस-पास के क्षेत्रो में विहार करते हुए वे माघ बदी द्वादशी को पुन छोटी-रावलियाँ में पधार गये।

श्वास-प्रकोप

माघ वदी चौदस के दिन जब वे शौच के निमित्त ग्राम-बाहिर पधार रहे थे तब उन्हें श्वास में कुछ भारीपन अनुभूत हुआ। यह रोग कुछ वर्ष पूर्व ही उनके हुआ था। तबसे यदा-

कभी श्वास का भारीपन हो जाया करता था पर वह ऐसा कभी नहीं हुआ कि उस पर कुछ विशेष ध्यान देना आवश्यक हो जाय। साधारण विश्राम आदि से या कुछ देर लेट जाने मात्र से ही वह प्रायः ठीक हो जाया करता था। यही कारण था कि उसकी कभी कोई विशेष परवाह नहीं की गई।

इस बार भी उनका श्वास कोई भयंकर रूप से नहीं फूला था। अतः साधारण रूप से ही सारी दैनिक क्रियाएँ उन्होंने संपन्न कीं। सायंकाल में भी ग्राम-बाहिर पधारे। अल्प मात्रा में उष्ण आहार भी लिया। किसी प्रकार का कोई विशेष खेद प्रतीत नहीं हो रहा था। यहाँ तक कि सायंकालीन प्रतिक्रमण भी उन्होंने सानंद संपन्न कर लिया। परन्तु उसके तत्काल बाद ही श्वास का वेग बढ़ने लगा।

शरीरान्त

उन्होंने संतों से बिछौना कर देने के लिए कहा। बिछौना तैयार हो जाने पर वे किसी का सहारा लिए बिना अपने आप ही प्रमार्जनी से मार्जन करते हुए उस पर लेट गये। लेट जाने के बाद श्वास का प्रकोप प्रायः कम हो जाया करता था, परन्तु उस बार उसका फल आशा के बिल्कुल विपरीत निकला। उनका सारा शरीर प्रस्वेद से गीला हो गया और श्वास का वेग भी अधिक तेज हो गया। सोने पर जब श्वास की अनुकूलता के बदले और अधिक प्रतिकूलता देखी तो वे पुनः विराज गये। संतों से उन्होंने कहा— "आज से पहले कभी सोने पर श्वास नहीं फूला था।" बस ये उनके अन्तिम शब्द ही सिद्ध हुए। उसके बाद उन्होंने तुरंत आँखें बंद कर लीं।

कुछ संत उनकी पीठ को हाथ का सहारा दिये हुए बैठे थे और कुछ आस-पास में उनकी परिचर्या निमित्त सावधानी से उनकी ओर देख रहे थे। पर मृत्यु ने उन पर इतनी तेजी से और इतना अचानक आक्रमण किया कि किसी को उसके आगमन का कोई पूर्व अनुमान भी नहीं हो पाया। वे संतों के हाथों का सहारा लिए हुए जैसे बैठे थे वैसे ही दिवंगत हो गये। वह दिन सं० १९८ माघ कृष्णा चतुर्दशी का था। उस समय लगभग एक मुहूर्त रात्रि व्यतीत हो चुकी थी।

ऋषिराय के उस अचानक शरीर-पात से स्वभावतः ही सारे संघ को बड़ा खेद हुआ। जिसने यह बात सुनी उसी ने उस पर विश्वास नहीं करना चाहा, पर मनुष्य की चाह के अनुसार होता तो सब कुछ नहीं होता। आखिर चाहे या अनचाहे तथ्य को स्वीकारना ही पड़ता है।

उनके दिवंगत होने की वह बात रातों-रात दूर-दूर तक पहुँच गई। नाडेलमा, बड़ी रावलियाँ, गोगूंदा आदि पार्श्ववर्ती ग्रामों के लोग रात रात में ही वहाँ पहुँच गए। प्रातःकाल तक वहाँ हजारों व्यक्ति हो गये। सभी ने मिलकर सांसारिक रीति के अनुसार उनका दाह-संस्कार संपन्न किया।

ज्ञातव्य विवरण

जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्—	१८४७
(२) दीक्षा सवत्—	१८५७ चैत्र पूर्णिमा
(३) युवाचार्य-पद सवत्—	१८७८ वैसाख कृष्णा नवमी
(४) आचार्य-पद सवत्—	१८७८ माघ कृष्णा नवमी
(५) स्वर्गवास सवत्—	१९०८ माघ कृष्णा चतुर्दशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म स्थान—	बडी-रावलियाँ
(२) दीक्षा स्थान—	बडी-रावलियाँ
(३) युवाचार्य-पद स्थान—	केलवा
(४) आचार्य-पद स्थान—	राजनगर
(५) स्वर्गवास स्थान—	छोटी-रावलियाँ

आयुष्य विवरण

(१) गृहस्थ—	१० वर्ष
(२) साधारण साधु पद—	२१ वर्ष
(३) युवराज पद—	९ महीने
(४) आचार्य पद—	३० वर्ष
सर्व आयु—	६२ वर्ष

विहार-क्षेत्र

ऋषिराय के विहार-क्षेत्र मे राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मेवाड, मारवाड, ढूढाड तो थे ही, उनके अतिरिक्त थली, मालव, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ को भी उन्होने विहार-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया था।

चातुर्मास

ऋषिराय ने तीन चातुर्मास स्वामी भीखणजी के साथ और अठारह चातुर्मास भारमलजी

स्वामी के साथ किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होंने तीस चातुर्मास किये थे। उनका विवरण इस प्रकार है—

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
पाली	८	१८७९ ८२ ८६ ९० ९३ ९६ १९०२ ५
जयपुर	६	१८८० ९२ ९७ १९०० ३ ७
पीसांगण	१	१८८१
उदयपुर	४	१८८३ ८९ ९५,९९ ८
पेटलावद	१	१८८४
नाथद्वारा	५	१८८५ ८८ ९४ १९०१ ४
बीदासर	२	१८८७ ९९
मोमूंदा	१	१८९१
लाडनूं	२	१८९८ १९ ६

शिष्य संपदा

ऋषिराय के शासन-काल में दोसौ पैंतालीस दीक्षाएं हुई। उनमें छिहत्तर साधु और एक सौ अड़सठ साध्वियाँ थीं। वे दिवंगत हुए उस समय सड़सठ साधु और एक सौ तेतालीस साध्वियाँ[1] विद्यमान थीं।

१— 'शासन प्रभाकर' के अनुसार दिवंगत होने के समय एक सौ चौवालीस साध्वियाँ विद्यमान थीं।

पंचम परिच्छेद

श्री जयाचार्य

: १ :

गृहि-जीवन

द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ मे

श्री जयाचार्य तेरापथ के चतुर्थ आचार्य थे। उनका पूरा नाम जीतमलजी स्वामी था। वे बडे ही प्रभावशाली एव नव-निर्माण की चेतना वाले आचार्य थे। तेरापथ में स्वामी भीखणजी का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वही जयाचार्य का भी है। उनका शासन-काल तेरापथ की प्रथम शताब्दी की सम्पन्नता और द्वितीय शताब्दी के प्रारभ का काल था। प्रथम शताब्दी का काल तेरापथ के लिए 'सघर्ष-काल' कहा जा सकता है। यद्यपि प्रथम तीन आचार्यों ने अपने शासन-काल में नव-निर्माण भी किया था, परन्तु सघर्ष की उसमें प्रधानता रही थी। द्वितीय शताब्दी के प्रथम आचार्य—श्री जयाचार्य के शासन-काल में भी सघर्ष चालू रहा था। पर उसका स्वर धीमा पड गया था। विरोधी व्यक्तियो को एक शताब्दी के कठोर सघर्ष के बाद तेरापथ की अजेयता का विवश होकर विश्वास करना पडा था। उस स्थिति में सघर्ष स्वत ही गौण हो गया था। फलस्वरूप जयाचार्य को सघ के नव-निर्माण की ओर ध्यान देने का पर्याप्त अवसर मिला। उन्होंने तेरापथ को एक नया मोड प्रदान किया। वह तेरापथ के लिए 'निर्माण-काल' का प्रारम्भ सिद्ध हुआ।

स्वामी भीखणजी ने जिस तरह अपने जीवन का सपूर्ण समय तेरापथ की जडो को जमा देने में लगा दिया था, उसी तरह जयाचार्य ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसे शक्तिशाली बनाने में लगा दी थी। स्वामीजी के बाद तेरापथ के विचारों तथा व्यवहारों को इतने प्रभावशाली ढग से जनता के सामने रखने वाले जयाचाय ही हुए थे। उनकी उद्दाम शक्ति और अश्रान्त परिश्रम ने तेरापथ को जनता की दृष्टि में वह सम्माननीय स्थान प्रदान किया था, जिसका कि वह पूर्ण रूप से अधिकारी था। जयाचार्य के उस अथक परिश्रम और उसके द्वारा प्राप्त साफल्य से आज भी मन आश्चर्याभिभूत हुए बिना नही रहता। उन्होंने जिस कार्य में भी हाथ डाला, उसी में सफलता उनके चरण चूमती मिली। इसीलिए तो वे कभी-कभी कहा करते थे—"अच्छा हुआ कि मैं स्वामीजी के बाद उत्पन्न हुआ। यदि ऐसा न होता तो मेरी यह कार्य-शक्ति तो कही न कहीं अवश्य खर्च होती, पर मुझे यह सत्य कहाँ मिलता?" स्वामीजी के प्रति उनकी श्रद्धा बहुत ही गहरी थी। वे कहा करते थे—"मेरे जैसे सौ जीतमल भी स्वामीजी के चरणों के नख की बराबरी नही कर सकते।"

जयाचार्य वस्तुत एक सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। उनकी प्रतिभा से तेरापथ ने जो पाया, वह उसके लिए बहुत ही मूल्यवान् और शक्तिशाली सबल सिद्ध हुआ। उनकी

अध्यात्म के अकुर

बाल्यकाल में ही उनमे अध्यात्म का अंकुर प्रस्फुटित होने लगा था। उनके सस्कारो में मानो कोई ऐसी स्थिति पूर्व से ही निहित थी, जो कि उन्हें कुछ अज्ञात प्रेरणा दे रही थी। जब वे सात-आठ वर्ष के हुए थे, तभी से सत-सतियो को सयम देने के लिए कहने लगे थे। सत जब उन्हें बतलाते कि अभी तुम्हारी अवस्था छोटी है, अत तुम्हें सयम देने का कल्प नही है, तब भी वे थोडे-थोडे दिनों के बाद पूछते ही रहते कि अब मेरा कल्प आया कि नही ?

कभी-कभी वे किसी वस्त्र की झोली बनाकर उसमें कटोरी रख लेते और अपने चाचा के घर जाकर गोचरी करने का अभिनय करते हुए कहते कि मैंने दीक्षा ले ली है। शुद्ध आहार हो तो मुझे देना। अशुद्ध देने से पाप के भागी बनोगे। यो अनेक प्रकार से उनके मानसिक भावो की अभिव्यक्तियाँ चलती ही रहती थी। परिवार वाले इसे बाल-लीला समझ कर यो ही हस कर रह जाते, पर बालक के अन्तस्तल में पक रहे भावो को कोई समझ नही पा रहा था।

सगाई

कुछ समय पश्चात् परिवार वालों ने उनकी सगाई कर दी। उनके दो बडे भाई भी थे। एक का नाम 'सरूप' और दूसरे का 'भीम' था। उनकी सगाईयाँ तो और भी पहले हो चुकी थीं। उस समय की सामाजिक पद्धति में सगाइयाँ विवाह से कई वर्ष पहले ही हो जाया करती थी। विवाह भी प्राय छोटी अवस्था में ही कर दिये जाते थे।

किसनगढ मे

जयाचार्य के पिता आईदानजी का देहावसान बहुत पहले ही हो गया था। जयाचार्य जब केवल तीन वर्ष के ही थे,तब मीरखा नामक किसी मुसलमान सरदार ने ग्राम को लूट लिया था। लूट का भयानक आघात ही आईदानजी की मृत्यु का कारण बना। उस लूट ने अनेक परिवारो के आर्थिक-जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया था। आईदानजी का परिवार उसी गणना में सम्मिलित था। पति-वियोग और अर्थाभाव—इन दोनो चोटो को एक साथ सह लेने का साहस बहुत ही कम स्त्रियो में पाया जाता है, पर कल्लूजी ने बडे धैर्य-पूर्वक उस स्थिति का सामना किया। तीनों बेटो को साथ लेकर वे किसनगढ चली गई और वही रहने लगी। वहाँ बडे लडके सरूपचदजी ने कुछ व्यापार आदि का कार्य प्रारभ कर दिया।

सौभाग्यवश उन्ही दिनो भारमलजी स्वामी का पदार्पण भी वहाँ हो गया। वे जयपुर की ओर जा रहे थे। कुछ दिनो के लिए किसनगढ मे विराजना हुआ, अत उन सबको अनायास ही सेवा करने का एक अच्छा अवसर मिल गया।

तत्त्व-शिक्षा

भारमलजी स्वामी ने स० १८६९ का चातुर्मास जयपुर में किया था। वहाँ सेवा करने के निमित्त कल्लूजी अपने तीनो पुत्रों-सहित गई और लाला हरचदलालजी जौहरी के मकान

प्रतिमा एक ऐसी निधान थी जिसमें किसी वस्तु का अभाव नहीं था। वह कभी भाव्य नहीं हुई, आजीवन उसने ऐसी वस्तुएँ प्रदान की जिनसे तेरापथ संघार में गौरवान्वित हुआ और आगे भी होता रहेगा।

जन्म

जयाचार्य राजस्थान के जोधपुर डिवीजन (मारवाड़) के ग्राम 'रोयट' में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म सं० १८६० आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को हुआ था। स्वामी भीखणजी को दिवंगत हुए उस समय करीब एक महीना हुआ था। जयाचार्य की उस जन्म तिथि से ऐसा लगता है मानो प्रकृति ने एक शक्ति के शांत होते ही दूसरी शक्ति को जन्म देने का अपना सिद्धान्त दुहराया हो। उनके पिता का नाम आईदानजी और माता का नाम कल्लूजी था। वे ओसवाल जाति में 'गोलछा' गोत्र के थे। स्वामी भीखणजी एक बार रोयट पधारे थे तभी से यह परिवार स्वामीजी के प्रति श्रद्धालु बन गया था। सं० १८४४ में तो जयाचार्य की बुआ 'अजबूजी' ने स्वामीजी के पास दीक्षा भी ग्रहण कर ली थी। स्वामीजी ने योग्यता देखकर कालान्तर में उनका सिंघाड़ा कर दिया था।

रोगाक्रान्त

एक बार अजबूजी विहार करती हुई रोयट आई थीं। उन दिनों बालक जीतमलजी इतने रुग्ण थे कि परिवारवालों ने उनके जीवित रह जाने की आशा भी छोड़ दी थी। उसी समय रोगी बालक को दर्शन देने आईं तो कल्लूजी ने आँखों में आँसू भरकर बालक की स्थिति उन्हें बतलाई। अजबूजी की चतुर आँखों ने होनहार बालक की भव्य आकृति पर ध्यान देकर न जाने क्या पढ़ा कि उन्होंने भावी आशंका से कातर हुई अपनी संसार-पक्षीय भाभी कल्लूजी से कहा—"देखो यदि यह इस बीमारी से बच जाए और यदि इसके दीक्षा के भाव हो जाएं तो तुम रुकावट मत डालना।

कल्लूजी ने साध्वीजी के मुख से जब यह बात सुनी तो आँखों में आँसू होते हुए भी उन्हें हंसी आ गई। वे कहने लगीं—"हमें तो इसके बचने की आशा भी धूमिल नजर आ रही है तब आप इसके दीक्षा लेने की बात किस आधार पर कह रही हैं?

साध्वीजी ने कहा— तुम तो अपनी ओर से इसकी आशा छोड़ ही चुकी हो। तो फिर मेरी बात को स्वीकार करने में तुम्हें कोई अड़चन होनी ही नहीं चाहिए। मेरी बात तो तभी काम आ सकती है जब कि यह नीरोग हो जाए और उसके बाद इसकी दीक्षा की भावना भी हो।

कल्लूजी को यद्यपि इस विषय में कोई आशा नहीं रह गई थी फिर भी उन्होंने उस बात को स्वीकार कर लिया। संयोग की बात ही कहिए कि उस दिन से बालक का रोग धीरे धीरे शांत होने लग गया और शीघ्र ही वे उस रोग से मुक्त होकर बिल्कुल स्वस्थ हो गये।

सत-सतियो का भी गुरु-दर्शनार्थ जयपुर आगमन हुआ। कल्लूजी की समार-पक्षीय ननद साध्वी अजबूजी भी आई । उन्होने जब तीनो भाइयो का धर्म-विषयक अनुराग और तत्त्वज्ञान के प्रति परिश्रम देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुई । मेवा कराते समय उन्होने अपनी ओर से भी उन्हे सयम की प्रेरणा दी। वह मारा परिवार मूलत सयम के प्रति बडा अनुरागी था। समय-समय पर मिलने वाली प्रेरणाएँ उन्हे उस ओर अधिकाधिक अनुरक्त बनाने वाली होती गई ।

में ठहरीं। जयाचार्य के लिए वह प्राथमिक तत्त्व-ज्ञान का अवसर था। उस समय उन्होंने पच्चीस बोल तेरह द्वार, चर्चा आदि थोकड़े कंठस्थ किये। बुद्धि प्रखर थी। समझने की शक्ति भी असाधारण थी। जो बात एक बार बता दी जाती थी उसे दुबारा बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। वे हर बात को बड़े ध्यान से सुनते और उसे बड़ी सहजता से हृदयंगम कर लेते। उस समय उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की ही थी। अन्य बालक उस अवस्था में जहाँ खेल-कूद की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं वहाँ जयाचार्य ने अपना सारा ध्यान तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति पर केन्द्रित कर दिया था।

जौहरीजी का आकर्षण

लाला हरचंदलालजी जौहरी का ध्यान बालक की असाधारण प्रतिभा और लगन की तरफ गया तो उन्होंने उस बात को विशेष गौर से परखा। उन्हें उनकी हर बात में अपनी एक विशेषता मिली तो वे उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित तथा आकृष्ट हुए। उन्होंने उनके बड़े भाई सरूपचन्दजी और माता कल्लूजी को एकान्त में लेकर कहा— तुम्हारे छोटे पुत्र की लगन और अध्यवसाय को देखते हुए लगता है कि ये यदि संयमी बनेंगे तो अवश्य ही बड़े तेजस्वी साधु होंगे। इनके संयम में तो मैं बाधक नहीं बनना चाहता पर एक बात कह देना चाहता हूँ कि यदि ये संसार में रहें तो मेरी छोटी भतीजी के साथ इनका रिश्ता पक्का कर दूँ। मैं यह भी चाहूँगा कि इन्हें भाई बहादुरसिंह[1] की गोद बिठा दिया जाए। पचास हजार रुपये अभी उनके नाम कर दिये जायेंगे और बाद में तो उनकी सारी सम्पत्ति के एकमात्र ये ही अधिकारी हो जाएँगे।

कल्लूजी का निर्णय

कल्लूजी अपने पुत्र को गोद देना नहीं चाहती थीं सगाई भी कैसे की जा सकती थी जबकि वह पहले ही एक जगह निश्चित हो चुकी थी। रुपयों का प्रलोभन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। सती अजबूजी को दिया हुआ वचन भी उन्हें याद था अतः संयम की इच्छा होने पर वे उसमें बाधक बनना नहीं चाहती थीं। इसलिए उन्होंने लालाजी की बात को बालक के भावी जीवन-क्रम के ऊपर ही छोड़ दिया। अन्य लोगों को उनके जीवन-क्रम के विषय में अनिश्चितता हो सकती थी पर स्वयं जयाचार्य के लिए तो उनका जीवन-क्रम बिलकुल निश्चित हो चुका था। उन्हें न कांचन का प्रलोभन उस निश्चय से हटा सकता था और न कामिनी का। इन दोनों से बढ़कर कोई तीसरा प्रलोभन अभी तक संसार में है नहीं।

अजबूजी की प्रेरणा

जयपुर में कारणवश चातुर्मास के पश्चात् भी फाल्गुन तक भारमलजी स्वामी का विराजना हुआ। उन गबन भी सेवा करने का अच्छा विचार और बढ़ा लिया। चातुर्मास के बाद

[1] —बहादुरसिंहजी बरोलिया भी एक जौहरी थे और वे लाला हरचंदलालजी के मित्र थे।

सत-मतियो का भी गुरु-दर्शनार्थ जयपुर आगमन हुआ। कल्लूजी की नगार-पक्षीय ननद साध्वी अजबूजी भी आई । उन्होने जब तीनो भाइयो का धर्म-विषयक अनुराग और तत्त्वज्ञान के प्रति परिश्रम देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुई । सेवा करते समय उन्होने अपनी ओर से भी उन्हें सयम की प्रेरणा दी। वह सारा परिवार मूलत सयम के प्रति बड़ा अनुरागी था। समय-समय पर मिलने वाली प्रेरणाएँ उन्हे उस ओर अधिकाधिक अनुरक्त बनाने वाली होती गई ।

में ठहरी। जयाचार्य के लिए वह प्राथमिक तत्त्व ज्ञान का अवसर था। उस समय उन्होंने पच्चीस बोल तेरह द्वार चर्चा आदि थोकड़े कंठस्थ किये। बुद्धि प्रखर थी। समझने की शक्ति भी असाधारण थी। जो बात एक बार बता दी जाती थी उसे दुबारा बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। वे हर बात को बड़े ध्यान से सुनते और उसे बड़ी दृढ़ता से हृदयंगम कर लेते। उस समय उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की ही थी। अन्य बालक उस अवस्था में जहाँ खेल-कूद की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं वहाँ जयाचार्य ने अपना सारा ध्यान तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति पर केन्द्रित कर दिया था।

जौहरीजी का आकर्षण

लाला हरचंदलालजी जौहरी का ध्यान बालक की असाधारण प्रतिभा और लगन की तरफ गया तो उन्होंने उस बात को विशेष तौर से परखा। उन्हें उनकी हर बात में अनोखी एक विशेषता मिली तो वे उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित तथा आकृष्ट हुए। उन्होंने उनके बड़े भाई स्वरूपचन्दजी और माता कल्लूजी को एकांत में लेकर कहा— 'तुम्हारे छोटे पुत्र की लगन और अध्यवसाय को देखते हुए लगता है कि ये यदि संयमी बनेंगे तो अवश्य ही बड़े तेजस्वी साधु होंगे। इनके संयम में तो मैं बाधक नहीं बनना चाहता पर एक बात कह देना चाहता हूँ कि यदि ये संसार में रहें तो मेरी छोटी भतीजी के साथ इनका रिश्ता पक्का कर लूँ। मैं यह भी चाहूँगा कि इन्हें भाई बहादुरसिंह[1] की गोद बिठा दिया जाए। पचास हजार रुपये अभी उनके नाम कर दिये जायेंगे और बाद में तो उनकी सारी सम्पत्ति के एकमात्र ये ही अधिकारी हो जायेंगे।

कल्लूजी का निर्णय

कल्लूजी अपने पुत्र को गोद देना नहीं चाहती थीं सगाई भी कैसे की जा सकती थी जबकि वह पहले ही एक जगह निश्चित हो चुकी थी। रुपयों का प्रलोभन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। रूपां जबकूजी को दिया हुआ वचन भी उन्हें याद था अतः संयम की इच्छा होने पर वे उसमें बाधक बनना नहीं चाहती थी। इसलिए उन्होंने लालाजी की बात को बालक के भावी जीवन-क्रम के ऊपर ही छोड़ दिया। अन्य लोगों को उनके जीवन-क्रम के विषय में सन्दिग्धता हो सकती थी पर स्वयं जयाचार्य के लिए तो उनका जीवन-क्रम बिलकुल निश्चित हो चुका था। उन्हें न कांचन का प्रलोभन उस निश्चय से हटा सकता था और न कामिनी का। इन दोनों से बढ़कर कोई तीसरा प्रलोभन अभी तक संसार में है नहीं।

अजबूजी की प्रेरणा

जयपुर में कारणवश चातुर्मास के पश्चात् भी फाल्गुन तक भारमलजी स्वामी का विराजना हुआ। इन सबने भी सेवा करने का अच्छा विचार और दृढ़ा लिया। चातुर्मास के बाद

[1] १—बहादुरसिंहजी बरोलिया भी एक जौहरी थे और वे लाला हरचंदलालजी के मित्र थे।

सत-सतियो का भी गुरु-दर्शनार्थ जयपुर आगमन हुआ। कल्लूजी की ससार-पक्षीय ननद साध्वी अजवूजी भी आई । उन्होने जव तीनो भाइयो का धर्म-विपयक अनुराग और तत्त्वज्ञान के प्रति परिश्रम देखा तो वे वहुत प्रसन्न हुई । सेवा कराते समय उन्होने अपनी ओर से भी उन्हे सयम की प्रेरणा दी। वह सारा परिवार मूलत सयम के प्रति वडा अनुरागी था। समय-समय पर मिलने वाली प्रेरणाएँ उन्हे उस ओर अधिकाधिक अनुरक्त बनाने वाली होती गई ।

में ठहरी । जयाचार्य के लिए वह प्राथमिक तत्त्व-ज्ञान का अवसर था । उस समय उन्होंने पच्चीस बोल, तेरह द्वार, चर्चा आदि थोकड़े कंठस्थ किये । बुद्धि प्रखर थी । समझने की शक्ति भी असाधारण थी । जो बात एक बार बता दी जाती थी उसे दुबारा बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी । वे हर बात को बड़े ध्यान से सुनते और उसे बड़ी सहजता से हृदयंगम कर लेते । उस समय उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की ही थी । अन्य बालक उस अवस्था में जहाँ खेल-कूद की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं वहाँ जयाचार्य ने अपना सारा ध्यान तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति पर केन्द्रित कर दिया था ।

जौहरीजी का आकर्षण

लाला हरचंदलालजी जौहरी का ध्यान बालक की असाधारण प्रतिभा और लगन की तरफ गया तो उन्होंने उस बात को विशेष गौर से परखा । उन्हें उनकी हर बात में अपनी एक विशेषता मिली तो वे उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित तथा आकृष्ट हुए । उन्होंने उनके बड़े भाई स्वरूपचन्दजी और माता कल्लूजी को एकांत में लेकर कहा— 'तुम्हारे छोटे पुत्र की लगन और अध्यवसाय को देखते हुए लगता है कि ये यदि संयमी बनेंगे तो अवश्य ही बड़े तेजस्वी साधु होंगे । इनके संयम में तो मैं बाधक नहीं बनना चाहता पर एक बात कह देना चाहता हूँ कि यदि ये संसार में रहें तो मेरी छोटी भतीजी के साथ इनका रिश्ता पक्का कर दूँ । मैं यह भी चाहूँगा कि इन्हें भाई बहादुरसिंह[1] की गोद बिठा दिया जाए । पचास हजार रुपये अभी इनके नाम कर दिये जायेंगे और बाद में तो उनकी सारी सम्पत्ति के एकमात्र ये ही अधिकारी हो जाएँगे ।

कल्लूजी का निर्णय

कल्लूजी अपने पुत्र को गोद देना नहीं चाहती थी सगाई भी कैसे की जा सकती थी जबकि वह पहले ही एक जगह निश्चित हो चुकी थी । रुपयों का प्रलोभन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था । सती अजबूजी को दिया हुआ वचन भी उन्हें याद था अतः संयम की इच्छा होने पर वे उसमें बाधक बनना नहीं चाहती थी । इसलिए उन्होंने लालाजी की बात को बालक के भावी जीवन-क्रम के ऊपर ही छोड़ दिया । अन्य लोगों को उनके जीवन-क्रम के विषय में सन्दिग्धता हो सकती थी पर स्वयं जयाचार्य के लिए तो उनका जीवन-क्रम बिल्कुल निश्चित हो चुका था । उन्हें न कांचन का प्रलोभन उस निश्चय से हटा सकता था और न कामिनी का । इन दोनों से बढ़कर कोई तीसरा प्रलोभन अभी तक संसार में है नहीं ।

अजबूजी की प्रेरणा

जयपुर में कारणवश चातुर्मास के पश्चात् भी फाल्गुन तक भारमलजी स्वामी का विराजना हुआ । उन सबने भी सेवा करने का अच्छा विचार और बड़ा [illegible] के बाद

1—बहादुरसिंहजी पटौदिया भी एक जौहरी थे और ये लाला हरचंद [illegible] थे ।

सत-सतियो का भी गुरु-दर्शनार्थ जयपुर आगमन हुआ। कल्लूजी की समार-पक्षीय ननद साध्वी अजबूजी भी आई । उन्होने जब तीनो भाइयो का धर्म-विषयक अनुराग और तत्त्वज्ञान के प्रति परिश्रम देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुई । सेवा कराते समय उन्होने अपनी ओर से भी उन्हे सयम की प्रेरणा दी। वह सारा परिवार मूलत सयम के प्रति बडा अनुरागी था। समय-समय पर मिलने वाली प्रेरणाएँ उन्हे उस ओर अधिकाधिक अनुरक्त बनाने वाली होती गई ।

२

मुनि-जीवन के बारह वर्ष

दीक्षा-ग्रहण

सारा परिवार विरक्ति की भावनाओं से ओत प्रोत था। [illegible]
ने माता कल्लूजी की आज्ञा लेकर दीक्षा-ग्रहण करने का निश्चय किया। भारमलजी
उनको पौष शुक्ला नवमी के दिन दीक्षा प्रदान की। उसके बाद सबसे छोटे
को दीक्षित करने की तिथि निर्णीत कर दी गई। उन्हें दीक्षा देने के लिए भारमलजी स्वामी
स्वयं न जाकर ऋषिराय को भेजा। ऋषिराय तब तक साधारण साधु की अवस्था में [illegible]
पर भारमलजी स्वामी ने मानो उन दोनों के लिए उपयुक्त पद पहले ही निर्धारित कर
थे और उसी आधार पर दीक्षा देने के लिए ऋषिराय को भेजते हुए उन्होंने कहा था—"मेरे
पीछे तो भार संभालने के लिए तू है ही, तुझे भार-संभालने वाला चाहिएगा अतः तू ही जा।"
भारमलजी स्वामी के आदेशानुसार ऋषिराय ने तब निर्णीत तिथि के अनुसार सं० १८६६ माघ
कृष्णा सप्तमी के दिन जयाचार्य को दीक्षित किया। वे उनके स्वहस्त-दीक्षित प्रथम शिष्य थे।

दोनों भाइयों को दीक्षित करने के पश्चात् आचार्य श्री ने उन्हें हेमराजजी स्वामी को सौंप दिया और वहाँ से माधोपुर की ओर विहार करा दिया। पीछे से मझले भाई भीमराजजी के मन में भी विराग भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी माता से यह बात कही तो उन्होंने भी अपनी तैयारी बतलाई। भारमलजी स्वामी ने उन्हें फाल्गुन कृष्णा एकादशी को दीक्षा दी। करीब एक महीने में ही एक घर के चारों व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् करके तीन बार में दीक्षाएँ संपन्न हो गईं।

बड़ी दीक्षा

भारमलजी स्वामी जब जयपुर से विहार करते हुए माधोपुर पधारे तब तक उधर से हेमराजजी स्वामी बूंदी और कोटे की तरफ विचर कर माधोपुर पहुँच गये। वहाँ तीनों भाई साधुता की अवस्था में प्रथम बार मिले। सरूपचन्दजी स्वामी को तो 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' (बड़ी दीक्षा) पहले ही दे दिया गया था। किन्तु जीतमलजी स्वामी को नहीं दिया गया था। भीमराजजी स्वामी का दीक्षा क्रम में उनसे बड़ा रखने के लिए ही ऐसा किया गया था। भीमराजजी स्वामी को चार महीने बाद माधोपुर में और जीतमलजी स्वामी को छह महीने बाद इन्द्रगढ़ में बड़ी दीक्षा दी गई थी।[1]

१—सामायिक चारित्र के बाद छेदोपस्थापनीय (बड़ी दीक्षा) या तो सात दिन के बाद, या चार महीने के बाद या फिर छह महीने के बाद ही दिया जा सकता है। भीमराजजी स्वामी को यदि सात दिन बाद ही बड़ी दीक्षा दी जाती तो उनसे बड़ा रखने [illegible] जीतमलजी स्वामी को चार महीने बाद बड़ी दीक्षा दी जा सकती थी। पर उन्हें जब चार महीने बाद बड़ी दीक्षा दी गई तब जीतमलजी स्वामी को छह महीने बाद देना आवश्यक हो गया। संभव है भीमराजजी स्वामी का यह प्रतिक्रमण सीखने का अभ्यास न किया हो और दीक्षा के चार [illegible] चार महीने बाद उन्हें बड़ी दीक्षा दी गई हो।

हेमराजजी स्वामी के साथ

दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर जयाचार्य की अवस्था लगभग नौ वर्ष की थी। साधु-जीवन के अनुकूल सस्कार अर्जित करने का वह सुवर्ण अवसर था। जैसा सग वैसा रग प्राय: हर एक पर आता ही है। इसीलिए उस अवस्था में सरक्षक या मार्ग-दर्शक का बडा महत्त्व होता है। साधु-जीवन में भी उसका महत्त्व कम नही है। प्रारम्भिक सस्कार बडे गहरे होते है और आजीवन अपना प्रभाव रखते है।

भारमलजी स्वामी ने बालक साधु जीतमलजी को सस्कारार्जन के लिए हेमराजजी स्वामी को सौंपा। मुनिचर्या का आद्योपान्त शिक्षण और अनुशीलन का प्रकार उन्होने वही से प्राप्त किया। लगभग बारह वर्ष तक वे उनके साथ रहे। उस लबी अवधि में उन्होंने न केवल सस्कारो का अर्जन ही किया, अपितु उन्हें फलीभूत कर जीवन की अनेक महत्ताओं का नवोद्गम भी किया। हेमराजजी स्वामी जैसे मार्ग-दर्शक विरल मिलते हैं, तो जयाचार्य जैसे मार्ग-गवेषक भी विरल ही मिलते हैं।

ज्ञान के उत्तराधिकारी

हेमराजजी स्वामी का आगम-ज्ञान अगाध था। जयाचार्य को बाल्यावस्था से ही उसका अवगाहन करने का अच्छा अवसर उपलब्ध हुआ। उन्होंने उस अवसर का बडी तत्परता से लाभ उठाया। वे अपने अनवरत परिश्रम के द्वारा आगम-सिंधु के मथन में जुट गये। फलस्वरूप उन्होंने हेमराजजी स्वामी के गभीर आगम-ज्ञान का न केवल उत्तराधिकार ही प्राप्त किया, अपितु अपने बुद्धि-बल से उसे शतगुण करने का सामर्थ्य भी प्राप्त किया।

योगों की स्थिरता

हेमराजजी स्वामी के साथ रहकर उन्होंने जहाँ आगम-ज्ञान, विनय आदि सद्गुणो में वृद्धि की थी, वहाँ योगों की स्थिरता में भी विशेषता पाई थी। उनके साधु-काल के बाल्य-जीवन की अनेक घटनाओं में से एक घटना, जो कि सर्वाधिक प्रसिद्ध है, उनके योगो की स्थिरता-विषयक जानकारी देने के लिए पर्याप्त कही जा सकती है। वह इस प्रकार है

हेमराजजी स्वामी एक बार पाली पधारे। वे बाजार में दुकानो पर ठहरे। जयाचार्य भी उनके साथ ही थे। उन्हीं दिनों वहाँ कोई नट-मडली आई हुई थी। बाजार में बाँस रोपकर उसने अपना खेल प्रारभ किया। शहर की प्राय आबालवृद्ध जनता उसे देखने के लिए आ जुटी। इधर जयाचार्य अपनी लेखनी, स्याही, पत्र आदि सामग्री लेकर ऊपर के चौवारे में लिखना करने के लिए बैठे, उधर नीचे उनके बिल्कुल सामने नाटक प्रारभ हुआ। इधर उनका लेखन-कार्य चलता रहा, उधर नाटक चलता रहा। उनकी दृष्टि अपनी लेखनी, मसी-पात्र और पत्र पर ही घूमती रही, नाटक की ओर उन्होने आँख उठाकर भी नहीं देखा।

१२

मुनि-जीवन के बारह वर्ष

दीक्षा-ग्रहण

सारा परिवार विरक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत था। स्वरूपचन्दजी ने माता कल्लूजी की आज्ञा लेकर दीक्षा-ग्रहण करने का निश्चय किया। उनको पौष शुक्ला नवमी के दिन दीक्षा प्रदान की। उसके बाद उनसे छोटे भाई को दीक्षित करने की तिथि निर्णीत कर दी गई। उन्हें दीक्षा देने के लिए भारमलजी स्वयं न जाकर ऋषिराम को भेजा। ऋषिराम तब तक साधारण साधु की अवस्था में थे पर भारमलजी स्वामी ने मानो उन दोनों के लिए उपयुक्त पद पहले ही निर्णीत कर रखा था और उसी आधार पर दीक्षा देने के लिए ऋषिराम को भेजते हुए उन्होंने कहा था—पीछे तो भार संभालने के लिए तू है ही, कुछ भार-संभालने वाला चाहिये सो तू ही ला। भारमलजी स्वामी के आदेशानुसार ऋषिराम ने तब निर्णीत तिथि के अनुसार सं० १८६९ कृष्णा सप्तमी के दिन जयाचार्य को दीक्षित किया। वे उनके स्वहस्त-दीक्षित प्रथम शिष्य थे।

दोनों भाइयों को दीक्षित करने के पश्चात् आचार्य श्री ने उन्हें हेमराजजी स्वामी को सौंप दिया और वहाँ से माधोपुर की ओर विहार करा दिया। पीछे से मझले भाई भीमराजजी के मन में भी विराग भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी माता से यह बात कही तो उन्होंने भी अपनी तैयारी बतलाई। भारमलजी स्वामी ने उन्हें फाल्गुन कृष्णा एकादशी को दीक्षा दी। करीब डेढ़ महीने में ही एक घर के चारों व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् करके तीन बार में दीक्षाएँ संपन्न हो गईं।

बड़ी दीक्षा

भारमलजी स्वामी जब जयपुर से विहार करते हुए माधोपुर पधारे तब तक इधर से हेमराजजी स्वामी बूंदी और कोटे की तरफ विचर कर माधोपुर पहुँच गये। वहाँ तीनों भाई साधुता की अवस्था में प्रथम बार मिले। स्वरूपचंदजी स्वामी को तो 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' (बड़ी दीक्षा) पहले ही दे दिया गया था। किन्तु जीतमलजी स्वामी को नहीं दिया गया था। भीमराजजी स्वामी को दीक्षा-क्रम में उनसे बड़ा रखने के लिए ही ऐसा किया गया था। भीमराजजी स्वामी को चार महीने बाद माधोपुर में और जीतमलजी स्वामी को छह महीने बाद इन्द्रगढ़ में बड़ी दीक्षा दी गई थी।

१—सामायिक चारित्र के बाद छेदोपस्थापनीय (बड़ी दीक्षा) या तो सात दिन के बाद या चार महीने के बाद या फिर छह महीने के बाद ही दिया जा सकता है। भीमराजजी स्वामी को यदि सात दिन बाद ही बड़ी दीक्षा दे देते तो उन्हें क्रम रखने जीतमलजी स्वामी को चार महीने बाद बड़ी दीक्षा दी जा सकती थी। पर उन्हें जब चार महीने बाद बड़ी दीक्षा दी [illegible] आवश्यक हो गया। संभव है [illegible]

विचार-शीलता

जयाचार्य वाल्यावस्था से ही एक विचारशील और वुद्धिमान् व्यक्ति रहे थे। सघ की प्रत्येक घटना पर उनकी पैनी दृष्टि वचपन से ही वडी सावधान रहा करती थी। वे घटना का मूल्य तत्कालीन लाभालाभ से नही आककर अन्तिम फल के आधार पर आका करते थे। उनका वह स्वभाव उनकी किशोरावस्था में भी परिपक्व था। भारमलजी स्वामी ने अपना उत्तराधिकारी चुनते समय पत्र मे जव दो नाम लिखे थे, तव जयाचार्य ने ही यह प्रार्थना की थी कि आप चाहे किसी का भी नाम क्यो न दें, पर वह एक ही होना चाहिए। यद्यपि वे उस समय वालक थे, फिर भी उनकी वात का भारमलजी स्वामी ने आदर किया और पत्र में एक नाम ही रखा। यह घटना उनकी विचारशीलता का अत्युत्तम नमूना प्रस्तुत करने वाली है।

कृतज्ञता-वृत्ति

जयाचार्य में अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहने की वृत्ति वडी उदग्र थी। यही कारण था कि वे आजीवन हेमराजजी स्वामी के प्रति वडे विनीत और शिष्य-भाव-युक्त रहे थे। वे अपनी सारी योग्यता को हेमराजजी स्वामी की देन ही माना करते थे। उन्होंने अपनी कृतियो में हेमराजजी स्वामी के प्रति जो भक्ति-भाव अभिव्यक्त किया है, वह वस्तुतः उन जैसे कृतज्ञ व्यक्तियो की लेखनी के द्वारा ही उद्भूत हो सकता है। वे कहते हैं :

मो सू उपकार कियो घणो, कह्यो कठा लग जाय।
निश दिन तुम गुण सभरु, वस रह्या मो मन माय॥
सुपने में सूरत स्वाम नी, पेखत पामें प्रेम।
याद किया हियो हुलसे, कहणी आवै केम॥
हूँ तो विन्दु समान थो, तुम कियो सिन्धु समान।
तुम गुण कवहु न विसरू, निश दिन धरू तुम ध्यान॥
साचा पारस थे सही, कर देवो आप सरीस।
विरह तुम्हारो दोहिलो, जाण रह्या जगदीश॥
जीत तणी जय थे करी, विद्यादिक विस्तार।
. . . . . . ॥[1]

आधा अक्षर

हेमराजजी स्वामी के प्रति जयाचार्य की भक्ति केवल वाणी-विलास ही नहीं थी, वह उनके अन्तरग से उद्भूत थी। उनके हर कार्य में उसकी अभिव्यक्ति होती रहती थी। अनेक वार ऐसे अवसर आते रहते थे जव कि वे स्थिर-चित्त होकर लिखते होते और अचानक ही

१—हेम नवरसो ७-१९ से २३

नाटक देखने के लिए आये हुए व्यक्तियों में से एक वृद्ध सज्जन तेरापंथियों के [illegible] थे। उन्होंने बालक साधु को सामने बैठ देखा तो सोचा कि यदि एक नाटक की ओर देख ले तो इनकी निंदा करने का थोड़ा-बहुत बहाना मिल [illegible] अन्त तक ध्यान रखा पर वे नितांत असफल ही रहे। आखिर नाटक समाप्त हुआ। लोग उठकर अपने-अपने घर जाने लगे। वृद्ध सज्जन अपने साथियों से कहने लगा— तेरापंथ की जड़ खोद देना चाहते हैं पर आज मुझे ज्ञात हुआ है कि यह पंथ कम-से-कम सौ वर्ष तक तो इस पंथ का हम कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे यह मैं आज अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ।

उक्त सज्जन के मुँह से तेरापंथ के विषय में कुछ अच्छे शब्दों का निकलना तो चूहे के मुँह से रामनाम निकलने जैसा अभूतपूर्व ही था अतः लोगों ने पूछा—"आज ऐसी क्या बात हो गई है ?

उक्त सज्जन ने नाटक और बालक साधु की सारी घटना बताते हुए कहा— मैंने पूरी तरह से ध्यान रखा था कि देखें यह नाटक की ओर देखता है या नहीं ? मुझे पूरा विश्वास था कि जब हम जैसे बूढ़े भी नाटक देखने के लिए इतनी देर से यहाँ धूप में बैठे हुए हैं तो यह बालक तो देखे बिना रह ही नहीं सकेगा। पर मैंने पाया कि उसने एक बार भी आँख उठाकर नहीं देखा। जिस संस्था का एक बालक भी इतना सावधान और दृढ़ होता है उसकी जड़ कोई नहीं खोद सकता। इसीलिए मैं कहता हूँ कि तेरापंथ की जड़ को कम-से-कम आगामी सौ वर्षों तक तो कोई हिला नहीं सकेगा। उसके आगे की भगवान जाने।

उक्त घटना जहाँ जयाचार्य की मानसिक स्थिरता पर प्रकाश डालती है वहाँ इस बात की ओर भी संकेत करती है कि सौ मन उपदेशों से एक कण आचरण का मूल्य सदा से ही अधिक रहा है। तेरापंथ के प्रचार और प्रसार में भी उसकी दार्शनिक व्याख्या तथा [illegible] साहित्य-रचनाओं से कहीं अधिक सहायक उसका सुव्यवस्थित आचरण रहा है। आज [illegible] अनेक धर्म-मत मृत्यु की गोद में पड़े पाये जा सकते हैं जिनके सिद्धान्त अत्यन्त ऊँचे और तर्क-संगत थे पर उनके आचरण-हीन अनुयायियों की कमजोरियों ने उन्हें ऐसी दशा में ला पटका जहाँ से उन्हें फिर कभी उठने का अवसर ही नहीं मिल सका।

तेरापंथ की आचार प्रधानता की छाप प्रारंभ से ही चली आ रही है। उससे विरोध रखने वाले व्यक्ति भी इस बात का लोहा मानते रहे हैं। तेरापंथ ने वस्तुतः आचार को अपना मूल धन माना है। उसकी मूल आधार की सुरक्षा है बाकी सब बातें गौण हैं। बालक साधु जीतमलजी [illegible] और [illegible] ने तेरापंथ के आचार प्राधान्य [illegible]।

पता चलता कि हेमराजजी स्वामी स्थण्डिल-भूमि की ओर जाने की तैयारी [illegible]
किसी भी प्रकार का विलम्ब किये बिना तत्काल अपने लेखन को छोड़कर [illegible]
थे। अनेक बार तो अक्षर भी अधूरा ही रह जाया करता था। वे उनके साथ
इतनी फुर्ती से तैयार होते कि देखने वाले चकित रह जाते। उस फुर्ती के पीछे उनकी
भक्ति ही छिपी होती थी। वे हेमराजजी स्वामी की प्रतीक्षा कर लेना अपना कर्तव्य
मानते थे पर ऐसा अवसर कभी आने देना नहीं चाहते थे कि जिसमें हेमराजजी स्वामी को उनकी
प्रतीक्षा करनी पड़े।

दर्शनों की उत्सुकता

हेमराजजी स्वामी के प्रति जयाचार्य की भक्ति स्वामी और निःस्वार्थ थी। वे बारह वर्ष
तक उनके साथ रहे। उनके पास ज्ञानार्जन किया। विविध प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान
भी प्राप्त किया। यदि उनके प्रति उनकी भक्ति स्वामी बने तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो
सकता है? वे अग्रणी हो जाने के बाद भी हेमराजजी स्वामी के प्रति उतने ही भक्ति-प्रवण
थे जितने कि बाल्यावस्था में। उनके दर्शनों के लिए उनकी उत्सुकता उतनी ही तीव्र होती
जाती है जितनी कि आचार्य-दर्शन के लिए होती है। वे काफी घुमाव लेकर भी हेमराजजी
स्वामी के दर्शन करने को जाते रहते थे। उनके दर्शनों से उन्हें एक अनिर्वचनीय [illegible]
मिला करती थी।

एक बार हेमराजजी स्वामी कानाना में थे। जयाचार्य ने उनके दर्शन करने के निमित्त
जोधपुर से विहार किया। उन दिनों वे एकान्तर तप कर रहे थे फिर भी [illegible]
दर्शन कर आने का उन्होंने निश्चय किया। एक दिन उपवास का होता तो दूसरा पारण का।
दोनों ही दिन समानरूप से लम्बे विहार करते हुए वे चले तब कहीं यथासमय वे वहाँ पहुँच
सके। उस दिन उनके उपवास था। फिर भी आठ कोस की मंजिल तय करके उन्होंने दर्शन
किये।

दर्शन कर आऊँ

एक बार दिल्ली चातुर्मास करके जयाचार्य ने गोगूंदे में ऋषिराय के दर्शन किये। ऋषिराय
का उस वर्ष लम्बी यात्रा करने का विचार था। वे ऐसे अवसर पर जयाचार्य को भी अपने
साथ ही रखना चाहते थे। यात्रा की बात चलाते हुए उन्होंने जयाचार्य से कहा— 'अब गुजरात
चलना है।' जयाचार्य के लिए उसमें किसी भी प्रकार की बाधा तो हो ही क्या सकती थी
बल्कि वह तो उनके लिए अतिरिक्त प्रसन्नता की ही बात थी। उन्होंने अपनी तैयारी व्यक्त करते
हुए प्रार्थना की—'हेमराजजी स्वामी के दर्शन हुए लगभग दो वर्ष हो गये हैं अतः यदि आप
आज्ञा प्रदान करें तो मैं उनके दर्शन कर आऊँ और शीघ्रता से चलकर गुजरात के मार्ग में
आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँ।"

ऋषिराय के लिए वह कोई बाधा की बात नही थी। उन्होने उनको दर्शन कर आने की आज्ञा प्रदान की और स्वय गुजरात की ओर विहार कर गये। जीतमलजी स्वामी ने वहाँ से सिरयारी की ओर विहार किया। हेमराजजी स्वामी उन दिनो वही विराजमान थे। वे दस दिन तक उनकी सेवा में ठहरे। उसके बाद लम्बे विहार करते हुए अहमदाबाद से भी कुछ आगे जाकर वे ऋषिराय के साथ हुए। अपने विद्या-गुरु के प्रति उनकी वह अनन्य भक्ति वस्तुत उनकी महत्ता के अनुरूप ही थी।

विगय-परिहार

वे हेमराजजी स्वामी के प्रति जो भक्ति-भाव रखते थे, उससे भी कही अधिक आचार्य के प्रति रखते थे। उनके दर्शन की लालसा भी उनमें कितनी उग्र रहा करती थी, यह निम्नोक्त घटना से स्पष्ट हो जाता है—

जब वे हेमराजजी स्वामी के साथ ही विहार किया करते थे तब की बात है। हेमराजजी स्वामी का स० १८७५ का चातुर्मास पाली था। वहाँ जीतमलजी स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्यदेव (भारमलजी स्वामी) के दर्शन नही होगे, तब तक मैं पाँच 'विगय' का सेवन नही करूँगा। चातुर्मास के बाद दर्शन करने के लिए वहाँ से विहार किया और मेवाड में आए। सयोग की बात थी कि देवगढ में एक गाय ने हेमराजजी स्वामी के चोट लगा दी, अत उनके घुटने की ढकनी उतर गई। उस अनाकाक्षित बाधा से उन्हें वहाँ करीब नौ महीने तक रुकना पडा। उसके बाद जब आचार्यदेव के दर्शन हुए, तब तक उन्हें विगय-परिहार करते हुए करीब तेरह महीने हो गये थे। इतने लम्बे समय तक विगय-परिहार के मूल में उनकी उत्कट गुरु-भक्ति ही काम कर रही थी।

पता चलता कि हेमराजजी स्वामी स्थंडिल-भूमि की ओर जाने की तैयारी कर रहे हैं तो किसी भी प्रकार का विलम्ब किये बिना तत्काल अपने लेखन को छोड़कर चल देते थे। अनेक बार तो अक्षर भी अधूरा ही रह जाया करता था। वे उनके साथ जाने के लिए इतनी फुर्ती से तैयार होते कि देखने वाले चकित रह जाते। उस फुर्ती के पीछे उनकी आन्तरिक भक्ति ही छिपी होती थी। वे हेमराजजी स्वामी की प्रतीक्षा कर लेना अपना कर्तव्य मानते थे पर ऐसा अवसर कभी आने देना नहीं चाहते थे कि जिसमें हेमराजजी स्वामी को उनकी प्रतीक्षा करनी पड़े।

दर्शनों की उत्सुकता

हेमराजजी स्वामी के प्रति जयाचार्य की भक्ति स्थायी और निःस्वार्थ थी। वे बहुत वर्षों तक उनके साथ रहे। उनके पास ज्ञानार्जन किया। विविध प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त किया। यदि उनके प्रति उनकी भक्ति स्थायी बने तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है? वे अग्रणी हो जाने के बाद भी हेमराजजी स्वामी के प्रति उतने ही भक्ति-प्रवण थे जितने की छात्रावस्था में। उनके दर्शनों के लिए उनकी उत्सुकता उतनी ही तीव्र हो जाती है जितनी कि आचार्य-दर्शन के लिए होती है। वे काफी घुमाव लेकर भी हेमराजजी स्वामी के दर्शन करने को जाते रहते थे। उनके दर्शनों से उन्हें एक अनिर्वचनीय आनन्द मिला करती थी।

एक बार हेमराजजी स्वामी कानाणा में थे। जयाचार्य ने उनके दर्शन करने के निमित्त जोधपुर से विहार किया। उन दिनों वे एकान्तर तप कर रहे थे फिर भी अल्प-समय में दर्शन कर लेने का उन्होंने निश्चय किया। एक दिन उपवास का होता तो दूसरा पारणे का। दोनों ही दिन समानरूप से उग्र विहार करते हुए वे चले तब कहीं यथासमय वे वहां पहुंच सके। उस दिन उनके उपवास था। फिर भी आठ कोस की मंजिल तय करके उन्होंने दर्शन किये।

प्रणाम कर आऊं

एक बार दिल्ली चातुर्मास करके जयाचार्य ने [illegible] में ऋषिराय के दर्शन किये। ऋषिराय का उस वर्ष लम्बी यात्रा करने का विचार था। वे ऐसे अवसर पर जयाचार्य को भी अपने साथ ही रखना चाहते थे। यात्रा की बात चलाते हुए उन्होंने जयाचार्य से कहा— "अब चलना है।" जयाचार्य के लिए उसमें किसी भी प्रकार की बाधा तो हो ही क्या सकती थी? बल्कि वह तो उनके लिए अतिरिक्त प्रसन्नता की ही बात थी। उन्होंने अपनी तैयारी प्रारम्भ करते हुए प्रार्थना की— "हेमराजजी स्वामी के दर्शन हुए लगभग दो वर्ष हो गए हैं। अतः यदि आप आज्ञा प्रदान करें तो मैं उनके दर्शन कर आऊं और [illegible] से [illegible] के मार्ग में आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊं।"

ग्रन्थ-सग्रह

तेरापथ को अपने प्रारम्भ-काल से प्राय ग्रन्थो के अभाव का सामना करना पडता रहा था। उसे ध्यान मे रखते हुए जयाचार्य ने अपने उस प्रथम प्रवास में अनेक स्थानो से ग्रन्थ सगृहीत किये। नाथद्वारा में यति नन्दरामजी उनसे बातचीत करके इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने भडार मे से अपनी आवश्यकता के एक ज्ञातासूत्र को छोडकर बाकी जो चाहिये वही लेने का अनुरोध किया। जयाचार्य ने भडार देखा और वहाँ से भगवती, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन आदि सूत्र तथा उनकी सस्कृत टीकाएँ ली। इसी प्रकार उदयपुर में भी केसरजी भडारी के वहाँ से सूत्रकृताग-दीपिका तथा सटीक कर्मग्रन्थ लिये। काकरोली में भी एक भाई के यहाँ पुराना पुस्तक-भडार था। उसने भी जयाचार्य से प्रार्थना की कि आप को जो प्रति चाहिए वह यहाँ से लेलो। जयाचार्य ने इस भडार में से भी सूत्र तथा उनकी टीकाओ आदि के अतिरिक्त अन्य अनेक सस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थ लिए। इस प्रकार अपनी प्रथम यात्रा में उन्होंने अपने लिए सहज ही काफी ज्ञान-सामग्री जुटा ली। यद्यपि उस सामग्री ने उनकी ज्ञान-लिप्सा को तृप्त करने की अपेक्षा अतृप्त ही अधिक किया होगा, पर वही अतृप्ति तेरापथ के वर्तमान तथा भावी अनुयायियो के लिए गौरवशाली साहित्य-सपदा के उत्पादन का एक अजस्र स्रोत प्रवाहित कर गई।

मालव और गुजरात मे

मेवाड की जनता पर उनके व्यक्तित्व और ज्ञान का जो प्रभाव पडा था, ऋषिराय ने उसे अवश्य ही लक्ष्य किया था। इसलिए उन्होने स० १८८४ की अपनी मालव-यात्रा तथा स० १८९० की गुजरात-यात्रा में उनको साथ रखा था। उन दोनो ही यात्राओ में जयाचार्य ने ऋषिराय के परिश्रम को बहुत हल्का कर दिया। चर्चा के बडे-से-बडे अवसर पर ऋषिराय उन्हें बिना किसी सकोच के लगा दिया करते थे। वे जानते थे कि इसने पराजित होना कभी सीखा ही नही है। वस्तुत वे ऋषिराय के इस विश्वास के सर्वथा उपयुक्त थे।

ढूढाड में

मालव-यात्रा के अनन्तर ही जयाचार्य को स्वतत्ररूप से ढूढाड की ओर जाने का अवसर मिला था। वहाँ भी उन्होने सब पर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप लगा दी थी। जयपुर तथा किसनगढ में सैकडो मनुष्यो ने धर्म के रहस्य को पहचाना और उसे अगीकार किया। जयपुर के सुप्रसिद्ध जौहरी मालीरामजी लूणिया, जो कि बाद में आगरा में व्यापार करने लगे थे, उसी वर्ष में समझे थे।

थली मे

थली में धर्म-प्रचार करने वालों में भी जयाचार्य का नाम प्रमुख कहा जा सकता है। ऋषिराय ने स० १८८७ में थली में अनेक जगह चातुर्मास करवाये थे। उस समय जयाचार्य को चूरू मे भेजा गया था। वहाँ उन्होने बडी सफलता से जनता को धर्म के अनुकूल बनाया।

: ३

अग्रणी-जीवन और सफल यात्राएँ

प्रचंड योग्यता

जयाचार्य ने शासन-गर्भित अपने विद्यार्थी-जीवन में जो योग्यताएँ अर्जित की उनका उपयोग उनके अग्रणी-जीवन से प्रारम्भ हुआ। वे धर्म प्रचार में प्रबल रुचि रखते थे तो साथ ही एकान्त मनन और चिन्तन में भी किसी से पीछे नहीं थे। चर्चा-वार्ता में जहाँ [illegible] ने उन्हें प्रतिवादी मर्दनकर बना दिया तो साहित्यिक रुचि ने उन्हें एक [illegible] साहित्यकार [illegible] बना दिया था। उनके जीवन के विविध पहलुओं को देखने पर ऐसा लगता है कि वे [illegible] की तरह अनेक विरोधी स्वभावों के समन्वय-स्थल थे। उन्हें अपनी योग्यता का [illegible] करने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। अग्रणी बनने से पूर्व तो वे हर कार्य में अपने [illegible] हेमराजजी स्वामी की ओट में रखना ही पसंद करते थे। परन्तु योग्यता कभी किसी ओट में छिपकर नहीं रह सकती। छिपाने पर तो वह और तीव्रता से प्रकट होती है। [illegible] व्यक्तियों की प्रचंड योग्यता छिपकर कैसे रह सकती थी?

अग्रणी

सं० १८८१ का जयपुर-चातुर्मास पूर्ण करके हेमराजजी स्वामी ने पाली में आचार्यश्री के दर्शन किये। वहीं पौष शुक्ला तृतीया के दिन जयाचार्य को 'अग्रणी' बनाया गया। तीन [illegible] साधु साथ देकर उन्हें उसी दिन वहाँ से विहार करा दिया गया।

मेवाड़-यात्रा

उनकी प्रथम यात्रा के लिए ऋषिराय ने मेवाड़ प्रदेश को चुना। उनके [illegible] से वर्ष मेवाड़ की जनता में अच्छा उत्साह रहा। उनकी वाणी में एक ऐसा आकर्षण था कि वे जिस गाँव में जाते वहाँ की जनता अपने आप उनके पास आ जाती। छोटे से बड़े व्यक्ति तक को वे अपने ढंग से समझाते, धर्म चर्चा करते और थोड़ी ही देर में पाते मानो कि वह व्यक्ति उनके लिए परखा भाला ही हो गया है।

उदयपुर के अपने प्रथम चातुर्मास में उन्होंने जनता पर तो प्रभाव जमाया ही पर महाराणा भीमसिंहजी तथा महाराज [illegible] पर भी उनकी वाणी का अच्छा असर रहा था। महाराणा ने उनका [illegible] लिया। वे जहाँ जाते या जिस कार्य में हाथ डालते वहाँ सफलता उनका चरण से ही स्वागत करने को तैयार [illegible] मिला करती थी। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार उनका वह प्रथम विहार ही उनकी भावी महान् सफलताओं का अनुमान लगाने के लिए मापक बन गया।

दिल्ली-यात्रा

जयाचार्य की यात्राओ मे दिल्ली-यात्रा का एक विशिष्ट स्थान है। जयाचार्य मे पूर्व किसी भी तेरापथी साधु का उधर जाना नही हुआ था। जयाचार्य को उधर जाने की प्रेरणा स० १८८८ के बीकानेर-चातुर्मास मे प्राप्त हुई थी। वहाँ हरियाणे के दो भाई—मोमनचद और गुलहजारी जयाचार्य के दर्शन करने के लिए आये थे। उन्होने उनमे दिल्ली पधारने के लिए प्रार्थना की थी। सभव है उन दोनों का दिल्ली से कोई व्यापारिक सम्बन्ध रहा करता था अथवा वे दिल्ली में ही व्यापार करते थे।

दिल्ली जाने की बात जयाचार्य के ध्यान में बैठ गई थी, अत चातुर्मास की समाप्ति पर उन्होने तपस्वी सत कोदरजी को मेवाड भेजकर ऋषिराय से आज्ञा मगवाई। कोदरजी स्वामी चलने में बहुत तेज थे, अत जयाचार्य जब तक बीकानेर से विहार करते हुए और कुछ विराजते हुए चूरू से कुछ ही आगे बिसाऊ पहुँचे, तब तक वे भी आज्ञा लेकर वापिस वहाँ पहुँच गये थे। वहाँ से राजगढ, ऊमरा, हासी, जमालपुर, भिवानी, दादरी, झज्झर, फरुखनगर और गढी आदि ग्रामो मे ठहरते हुए दिल्ली के एकदम निकटवर्ती पहाडी[1] ग्राम में पधार गये। वह ग्राम दिल्ली से एक कोस पर ही था।

जयाचार्य ने जब हेमराजजी स्वामी के साथ स० १८८१ का चातुर्मास जयपुर किया था, तब दिल्ली के कृष्णचदजी माहेश्वरी और चतुर्भुजजी ओसवाल वहाँ आये थे। दोनों ने जयाचार्य से तत्त्वबोध पाकर सम्यक्त्व ग्रहण किया था। मूलतः वे स्थानकवासी थे। जब वे दिल्ली वापिस आ गये थे, तब उन दोनो का मूर्त्ति-पूजक श्रावक किसनचदजी ओसवाल के पास आना-जाना काफी रहा। उनकी सगति से वे दोनो ही मूर्ति-पूजक बन गये थे। यद्यपि कृष्णचदजी मूर्त्ति-पूजक बन गये थे, पर जयाचार्य के शास्त्र-ज्ञान और समझाने के प्रकार से वे मुग्ध थे। उनके मन में जयाचार्य के प्रति एक अज्ञात आकर्षण था। जब उन्होंने जयाचार्य के पहाडी ग्राम में पधारने की बात सुनी तो वहाँ जाने का निश्चय किया, पर सकोचवश नही जा सके। चौथे दिन आखिर वे अपने आपको नही रोक सके। वे अन्य नौ व्यक्तियों को साथ लेकर पहाडी ग्राम में आये और जयाचार्य से दिल्ली पधारने की प्रार्थना करने लगे। स्थान के विषय में भी व्यवस्था कर देने का विश्वास दिलाया।

जयाचार्य तब वहाँ से विहार कर दिल्ली पधारे। कृष्णचदजी ने बाजार में दुकानो के ऊपर एक जगह बतलाई, परन्तु पास वाले ही मकान में वेश्याएँ रहती थी, अत जयाचार्य ने कहा—"यह स्थान तो हम साधुओ के उपयुक्त नही है।" कृष्णचदजी ने तब अन्य स्थान भी बतलाए, उनमें से रोशनपुरा में गगारामजी काश्मीरी का स्थान उपयुक्त लगा, अत आज्ञा लेकर वहाँ विराजे। शेषकाल में सतरह रात वहाँ रहे और फिर आस-पास के क्षेत्रो में विचरकर

१—'पहाडी ग्राम' अब दिल्ली का ही एक अंग 'पहाड़ी धीरज' के नाम से हो गया है।

उससे पहले वहाँ के व्यक्ति चंद्रभानजी तिलोकचंदजी आदि टालोकरों की श्रद्धा के थे। में जयाचार्य के परिश्रम से अनेक भाई-बहिनों ने काफी दिनों तक धर्म-चर्चा करके गुरु-धारणा की। तेरापंथ की प्रसिद्ध साध्वियों में से एक बिनी वाले बाली महासती सरदारांजी ने भी इसी वर्ष चूरू मे गुरु धारणा की।

गुरु धारणा की शर्त

अपने युवाचार्यकाल मे एक बार वे जब लाडनूं आये थे तब वहाँ के अनेक व्यक्तियों ने उनसे धर्म चर्चा करके लाभ उठाया। शहर के अनेक प्रमुख व्यक्ति उनसे अच्छे प्रभावित हुए। तत्त्व-बातों को अच्छी तरह से समझ लेने के बाद वहाँ के लोगों ने उनके सामने एक शर्त रखते हुए कहा—'यदि इस वर्ष का चातुर्मास आप यहाँ करें तो हम सब आपके अनुयायी हो जाएँ। आप चातुर्मास स्वीकार कर लें और फिर चाहे इसी समय हमें गुरु-धारणा करा दें।

जयाचार्य ने पहले तो उनको समझाने का प्रयत्न किया कि जहाँ गुरु की आज्ञा होगी वहीं चातुर्मास किया जा सकेगा अतः अपनी ओर से मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। परन्तु जब उन्होंने जनता का अत्यन्त आग्रह देखा और उपकार का कारण भी देखा तो अपनी ओर से एक अपवाद रखते हुए उन्होंने चातुर्मास की स्वीकृति दे दी। उनका वह अपवाद यह था कि आचार्य कहीं अन्यत्र की आज्ञा दें तो बात अलग है अन्यथा यहाँ चातुर्मास करने का विचार है।

अवसरज्ञ जयाचार्य ने लोगों के उत्साह और अपनी सीमा को अत्यन्त चतुरतापूर्वक सुरक्षित रखकर उनको गुरु-धारणा करवा दी। उसके बाद ऋषिराय से आज्ञा मंगवाकर उन्होंने वह चातुर्मास लाडनूं में किया। तभी से लाडनूं का क्षेत्र साधु-सतियों के आवागमन का केन्द्र बन गया। जयाचार्य को चातुर्मास की प्रेरणा करने तथा गुरु-धारणा लेने वालों में वहाँ के लालचंदजी सरावगी आदि श्रावक प्रमुख थे। पहले प्रायः वे सब ही टालोकर चंद्रभानजी की श्रद्धा में थे।

बीकाणत में

थली का पूर्वभाग बीदावत और पश्चिमभाग बीकाणत कहलाता है। जयाचार्य बीदावत में तो काफी विचर ही थे पर बीकाणत में भी उन्होंने धर्म प्रचार किया था। उन्होंने बीकानेर में दो चातुर्मास किये और वहाँ की जनता को धर्म-लाभ दिया। अनेक व्यक्तियों ने उन अवसरों से लाभ उठाया। तेरापंथ के उस प्रसार से असहिष्णुता रखने वाले एक स्थानकवासी साधु फतेचंदजी को वह सहन नहीं हुआ। उन्होंने भ्रान्तियाँ फैलाकर लोगों को फिरसे अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। इस पर जयाचार्य ने उन भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए ऐसे तार्किक और युक्ति-संगत ढंग से उत्तर दिये कि उनका असर श्रावक-समुदाय पर हुआ ही स्वयं फतेचंदजी के एक शिष्य पर भी ऐसा असर हुआ कि वह तेरापंथ की मान्यता को शास्त्रानुमोदित समझने लगा और वहाँ से पृथक् होकर जयाचार्य के पास दीक्षित हो

दिल्ली-यात्रा

जयाचार्य की यात्राओ मे दिल्ली-यात्रा का एक विशिष्ट स्थान है। जयाचार्य मे पूर्व किसी भी तेरापथी साधु का उधर जाना नही हुआ था। जयाचार्य को उधर जाने की प्रेरणा स० १८८८ के वीकानेर-चातुर्मास में प्राप्त हुई थी। वहाँ हरियाणे के दो भाई—मोमनचद और गुलहजारी जयाचार्य के दर्शन करने के लिए आये थे। उन्होने उनमे दिल्ली पधारने के लिए प्रार्थना की थी। सभव है उन दोनो का दिल्ली से कोई व्यापारिक सम्बन्ध रहा करता था अथवा वे दिल्ली में ही व्यापार करते थे।

दिल्ली जाने की वात जयाचार्य के ध्यान मे वैठ गई थी, अत चातुर्मास की समाप्ति पर उन्होने तपस्वी सत कोदरजी को मेवाड भेजकर ऋषिराय से आज्ञा मगवाई। कोदरजी स्वामी चलने में वहुत तेज थे, अत जयाचार्य जव तक वीकानेर से विहार करते हुए और कुछ विराजते हुए चूरू से कुछ ही आगे विसाऊ पहुँचे, तव तक वे भी आज्ञा लेकर वापिस वहाँ पहुँच गये थे। वहाँ से राजगढ, ऊमरा, हासी, जमालपुर, भिवानी, दादरी, झज्झर, फरूखनगर और गढी आदि ग्रामो में ठहरते हुए दिल्ली के एकदम निकटवर्ती पहाडी[1] ग्राम में पधार गये। वह ग्राम दिल्ली से एक कोस पर ही था।

जयाचार्य ने जव हेमराजजी स्वामी के साथ स० १८८१ का चातुर्मास जयपुर किया था, तव दिल्ली के कृष्णचदजी माहेश्वरी और चतुर्भुजजी ओसवाल वहाँ आये थे। दोनों ने जयाचार्य से तत्त्ववोध पाकर सम्यक्त्व ग्रहण किया था। मूलतः वे स्थानकवासी थे। जब वे दिल्ली वापिस आ गये थे, तव उन दोनो का मूर्त्ति-पूजक श्रावक किसनचदजी ओसवाल के पास आना-जाना काफी रहा। उनकी सगति से वे दोनो ही मूर्ति-पूजक वन गये थे। यद्यपि कृष्णचदजी मूर्त्ति-पूजक वन गये थे, पर जयाचार्य के शास्त्र-ज्ञान और समझाने के प्रकार से वे मुग्ध थे। उनके मन में जयाचार्य के प्रति एक अज्ञात आकर्षण था। जव उन्होने जयाचार्य के पहाडी ग्राम में पधारने की वात सुनी तो वहाँ जाने का निश्चय किया, पर सकोचवश नही जा सके। चौथे दिन आखिर वे अपने आपको नही रोक सके। वे अन्य नौ व्यक्तियों को साथ लेकर पहाडी ग्राम में आये और जयाचार्य से दिल्ली पधारने की प्रार्थना करने लगे। स्थान के विषय में भी व्यवस्था कर देने का विश्वास दिलाया।

जयाचार्य तब वहाँ से विहार कर दिल्ली पधारे। कृष्णचदजी ने बाजार में दुकानो के ऊपर एक जगह बतलाई, परन्तु पास वाले ही मकान में वेश्याएँ रहती थीं, अत जयाचार्य ने कहा—"यह स्थान तो हम साधुओ के उपयुक्त नही है।" कृष्णचदजी ने तब अन्य स्थान भी बतलाए, उनमें से रोशनपुरा में गगारामजी काश्मीरी का स्थान उपयुक्त लगा, अत आज्ञा लेकर वहाँ विराजे। शेषकाल में सतरह रात वहाँ रहे और फिर आस-पास के क्षेत्रों में विचरकर

१—'पहाड़ी ग्राम' अब दिल्ली का ही एक अंग 'पहाड़ी धीरज' के नाम से हो गया है।

इस प्रकार जयाचार्य का अग्रणी-जीवन विभिन्न प्रदेशो में धर्म-प्रसार के लिए किए जाने वाले सफल अभियानो का वृत्तान्त कहा जा सकता है। अपनी प्रत्येक यात्रा में उन्होंने बडी सूझ-बूझ के साथ काम किया था। तेरापथ के सिद्धान्तों के प्रतिपादन की कुशलता और उन्हें दूसरों के हृदय में जमा देने की योग्यता—इन दोनों ही विशेषताओ ने उनकी यात्राओ को पूर्णतः सफल बना दिया था। अग्रणी अवस्था के उनके वे बारह वर्ष उनकी योग्यताओं को प्रकाश में लाने के लिए जहाँ प्रर्याप्त साधन बने थे, वहाँ धर्म-जिज्ञासु जनता के लिए भी अत्यन्त तृप्ति के कारण बने थे।

सं॰ १८८१ का चातुर्मास उसी स्थान में किया। वहाँ भाई-बहिनों का आवागमन रहा। स्थानक वासी और मूर्ति-पूजक भाई चर्चा करने के लिए आते और पूर्ण उत्तरों के सामने पराजित होकर जाते।

माहेश्वरी कृष्णचंदजी प्राय: नित्य ही आया करते थे। व्याख्यान सुना करते थे किन्तु सामायक आदि नहीं करते थे वंदन भी नहीं करते थे। वे जयाचार्य से कहा करते थे कि थली में आपके दर्शन किये थे तभी से आपकी मूर्ति हृदय में बसी हुई है। आपके प्रति हृदय में बहुत स्नेह भावना है। आप जैसा आगमिक उत्तर देने वाला तथा [illegible] ज्ञान वाला मुझे और कोई नहीं मिला। मैं यहाँ ज्ञान चर्चा के लिए ही आया करता हूँ, पर मेरी और आपकी मान्यताओं में बहुत अन्तर हो गया है।

जयाचार्य ने कहा— मान्यताओं की सच्चाई का हल आगमों की कसौटी पर कसकर ही निकाला जा सकता है अतः जिन बातों में अन्तर है उन्हें न्यायपूर्वक आगमों के प्रकाश में देखने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर सम्भव है हम दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँच जाएं।"

कृष्णचंदजी ने इस बात को स्वीकार किया और वे आगम चर्चा में अपना काफी समय देने लगे। ओसवाल किसनचंदजी को यह सम्पर्क भाया नहीं अतः वे प्राय: उनके साथ ही आया करते और बीच-बीच में तथा बाद में भी उनके पास ऐसी बातें बोलते रहते जिससे जयाचार्य की बातों का प्रभाव उनके मन पर रहने न पाए। परन्तु जयाचार्य के प्रभाव का प्रवाह इतना कमजोर नहीं हुआ करता था कि उसे रोका जा सके। ओसवाल किसनचंदजी का प्रयास सफल नहीं हो सका और माहेश्वरी कृष्णचंदजी फिर से तत्त्वज्ञान को समझकर श्रद्धालु बने। सामायक भी करने लगे। फिर तो उन्हें धर्म की ऐसी लगन लगी कि संसार से विरक्त होकर संयमी-जीवन बिताने की बात सोचने लगे।

अच्छा धनी घर था। दुकान पर मुनीम गुमास्ते काम किया करते थे। एक विवाहित पुत्र था। सब प्रकार की सांसारिक सुविधाओं के होते हुए भी उन्होंने अपने मन को त्याग की ओर लगा दिया। यद्यपि उनके पुत्र ने आज्ञा बड़ी कठिनाई से दी पर जिसका मन संसार से विरक्त हो गया हो उसे रोककर रख लेना भी तो सम्भव नहीं होता।

चातुर्मास-समाप्ति पर था। अतः जयाचार्य मार्गशीर्ष बदी प्रतिपदा को दिल्ली से विहार कर पहाड़ी ग्राम में आ गये। उसी दिन वहाँ पर कृष्णचंदजी को संयम प्रदान किया। इस प्रकार दिल्ली का प्रथम प्रवास पूर्णरूपेण सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

पाँच साधु साथ थे और एक दीक्षा हो जाने से छह साधुओं ने वहाँ से जयपुर होते हुए मेवाड़ में ऋषिराय के दर्शन करने के लिए विहार कर दिया। गोगूंदे में आचार्यश्री के दर्शन हुए। वहाँ जयाचार्य ने दिल्ली-यात्रा के अपने संस्मरण सुनाये, जिससे बड़ी [illegible] हुई।

इस प्रकार जयाचार्य का अग्रणी-जीवन विभिन्न प्रदेशो मे धर्म-प्रसार के लिए किए जाने वाले सफल अभियानो का वृत्तान्त कहा जा सकता है। अपनी प्रत्येक यात्रा में उन्होंने बडी सूझ-बूझ के साथ काम किया था। तेरापथ के सिद्धान्तों के प्रतिपादन की कुशलता और उन्हें दूसरों के हृदय में जमा देने की योग्यता—इन दोनों ही विशेषताओं ने उनकी यात्राओ को पूर्णतः सफल बना दिया था। अग्रणी अवस्था के उनके वे बारह वर्ष उनकी योग्यताओ को प्रकाश में लाने के लिए जहाँ पर्याप्त साधन बने थे, वहाँ धर्म-जिज्ञासु जनता के लिए भी अत्यन्त तृप्ति के कारण बने थे।

पत्र के पीछे की ओर कुछ भी नही लिखा था, फिर भी उन्होने उसे उलटकर यो देखा मानो जो लिखा हुआ था, वह पर्याप्त न हो और वे कुछ अधिक विस्तार से जानना चाह रहे हो। ऋषिराय के अक्षरों को पहचानते हुए भी वे उन्हे इतने ध्यान से देखते रहे 'मानो वे प्रत्येक अक्षर के अन्त गमो को हृदयगम कर रहे हो। चिंतन और मनन की मुद्रा में वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उस पत्र की अलिखित भूमिका का अवगाहन कर रहे हो तथा दूरस्थ आचार्यदेव के मानसिक सकल्पो के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्हे आत्मसात् करने का प्रयास कर रहे हों। वे भावी की आकृति पर से कुछ पढ रहे थे और पास में खडे सत उनकी आकृति पर कुछ पढ लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

तेज विहार

सहसा उन्होंने पत्र को बन्द किया और सतो से आगामी विहार की बातचीत करने लगे। एक मजिल सबके साथ रहकर उन्होंने धीमे चलने वाले सतो को पीछे से आने को कहा और स्वय दो सतों को साथ लेकर आगे बढे। उन्होने आचार्यदेव के दर्शन होने से पूर्व किसी ग्राम में दो रात न ठहरने का निश्चय किया और यदि ठहरना ही पडे तो वहाँ चारो आहार का प्रत्याख्यान कर दिया। वहाँ से तेज विहार करते हुए उन्होंने मेवाड में प्रवेश किया और केलवा तथा राजनगर होते हुए नाथद्वारा पधारे।

नाम की घोषणा

ऋषिराय चातुर्मास के पश्चात् उदयपुर की ओर पधार गये थे। वहाँ से वापस विहार करते हुए वे जयाचार्य के नाथद्वारा पहुचने के अगले ही दिन वहाँ पहुँच गये। उसी दिन उन्होंने जनता में अपने उत्तराधिकारी का नाम उद्घोषित कर दिया। यद्यपि वे करीब पाँच महीने पूर्व ही इसकी व्यवस्था कर चुके थे, परन्तु उसका पता प्राय किसी को नही था। जयाचार्य की योग्यता और विशेषताओं से प्राय सभी परिचित थे। अत एक सुयोग्य भावी शासन-पति को पाकर सभी आनन्दातिरेक में मग्न हो गये।

व्यवस्था मे सहयोग

जयाचार्य युवाचार्य-पद की स्थिति में चौदह वर्ष से कुछ अधिक रहे। उस अर्से में वे शासन की अन्य सेवाओ में तो सलग्न रहे ही थे, पर साथ ही उसकी व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में भी ऋषिराय का भार हल्का करते रहे थे। आचार्य के लिए "गण तत्ति विप्पमुक्को"—"गण की चिन्ताओं से मुक्त" का जो विशेषण आता है, वह सम्भवत जयाचार्य जैसे शिष्यो द्वारा ही सार्थक किया जाता है।

गली निकालिये

जयाचार्य अनुशासन की दृढता में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे, अत आचार्य के हर अनुशासन का पालन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। अनुशासन को भग करने अथवा

पत्र के पीछे की ओर कुछ भी नही लिखा था, फिर भी उन्होने उसे उलटकर यो देखा मानो जो लिखा हुआ था, वह पर्याप्त न हो और वे कुछ अधिक विस्तार से जानना चाह रहे हो। ऋषिराय के अक्षरो को पहचानते हुए भी वे उन्हे इतने ध्यान से देखते रहे मानो वे प्रत्येक अक्षर के अन्त गमो को हृदयगम कर रहे हो। चिंतन और मनन की मुद्रा में वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उस पत्र की अलिखित भूमिका का अवगाहन कर रहे हो तथा दूरस्थ आचार्यदेव के मानसिक सकल्पों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास कर रहे हों। वे भावी की आकृति पर से कुछ पढ रहे थे और पास में खडे सत उनकी आकृति पर कुछ पढ लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

तेज विहार

सहसा उन्होने पत्र को बन्द किया और सतों से आगामी विहार की बातचीत करने लगे। एक मजिल सबके साथ रहकर उन्होने धीमे चलने वाले सतों को पीछे से आने को कहा और स्वय दो सतो को साथ लेकर आगे बढे। उन्होने आचार्यदेव के दर्शन होने से पूर्व किसी ग्राम में दो रात न ठहरने का निश्चय किया और यदि ठहरना ही पडे तो वहाँ चारों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया। वहाँ से तेज विहार करते हुए उन्होने मेवाड में प्रवेश किया और केलवा तथा राजनगर होते हुए नाथद्वारा पधारे।

नाम की घोषणा

ऋषिराय चातुर्मास के पश्चात् उदयपुर की ओर पधार गये थे। वहाँ से वापस विहार करते हुए वे जयाचार्य के नाथद्वारा पहुचने के अगले ही दिन वहाँ पहुँच गये। उसी दिन उन्होने जनता में अपने उत्तराधिकारी का नाम उद्घोषित कर दिया। यद्यपि वे करीब पाँच महीने पूर्व ही इसकी व्यवस्था कर चुके थे, परन्तु उसका पता प्राय किसी को नही था। जयाचार्य की योग्यता और विशेषताओ से प्राय सभी परिचित थे। अतः एक सुयोग्य भावी शासन-पति को पाकर सभी आनन्दातिरेक में मग्न हो गये।

व्यवस्था मे सहयोग

जयाचार्य युवाचार्य-पद की स्थिति में चौदह वर्ष से कुछ अधिक रहे। उस अर्से मे वे शासन की अन्य सेवाओं में तो सलग्न रहे ही थे, पर साथ ही उसकी व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में भी ऋषिराय का भार हल्का करते रहे थे। आचार्य के लिए "गण तत्ति विप्पमुक्को"— "गण की चिन्ताओ से मुक्त" का जो विशेषण आता है, वह सम्भवत जयाचार्य जैसे शिष्यो द्वारा ही सार्थक किया जाता है।

गली निकालिये

जयाचार्य अनुशासन की दृढता में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे, अत आचार्य के हर अनुशासन का पालन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। अनुशासन को भग करने अथवा

तपस्वी गुलाबजी का बखेड़ा

अनुशासन सम्बन्धी एक काम तो उनके सामने युवाचार्य बनाये जाने के कुछ काल बाद ही ऐसा आ गया था, जो कि काफी चिन्ताजनक था। पर उन्होंने इस दृढता से उसे सभाला कि देखने वाले चकित रह गये। उसमें ऋषिराय को विशेष कुछ नही करना पडा प्राय आदि से अन्त तक युवाचार्य ने ही उसको भुगता दिया। वह घटना इस प्रकाद थी—पुर में पाँच साधु थे। उन में एक गुलाबजी नामक साधु तपस्वी होने के साथ ही काफी विराग भावना वाले गिने जाते थे। आस-पास की जनता में भी उनके प्रति आदर-भाव था।

तपस्वी और विरागी होना एक बात है और विवेकी होना बिलकुल दूसरी बात। यद्यपि तपस्वी और विरागी व्यक्ति विवेकी भी होते है, परन्तु सबके लिये वैसा होना नितात निश्चित नहीं है। विवेक के लिये जिस विश्लेपणात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है वह सब में परिपूर्ण मिले, यह असभव है। फिर तपस्या और विवेक कोई इतरेतराश्रित भाव तो है नही कि एक के भाव में दूसरे का भी भाव मान ही लिया जाय। परन्तु जनता पर तपस्या का प्रभाव जैसा सहज पडता है वैसा उसके विवेक की कमी-वेशी का नही पडता। यही कारण है कि कुछ लोग बहुधा इसी भ्रम में पडकर गलती कर जाते हैं। अनेक तपस्वी भी अपनी उस तप की महिमा को अपने विवेक की महिमा समझ बैठते है। अत उसी के बल-बूते पर वे सघ की गतिविधियों के लिए निर्णय देने पर भी उत्तर आते हैं। उस स्थिति में जब कुछ नासमझ लोग उनकी पीठ थपथपा देते है, तब तो फिर वे अपने विरागी होने का सबूत भी इसी रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर देते हैं कि दूसरे सब शिथिल हो गये है। गुलाबजी तपस्वी की उस समय कुछ ऐसी ही स्थिति थी।

जयाचार्य को युवाचार्य घोषित किया गया था, उन्हीं दिनो के आस-पास की बात है। भीलवाडा के श्रावक भोपजी सिंघी गुलाबजी तपस्वी के दर्शन करने के लिये पुर गये थे। वे उनकी सेवा में बैठे थे कि गुलाबजी ने उल्टी-सीधी बातें करनी प्रारम्भ कर दी। उन्होने सघ के लिये कुछ निम्नता के शब्द कहते हुये भोपजी से कहा—"किसी साहूकार के घर में घाटा हो तो वह उसे छिपाकर अपना काम कितने दिन चला सकता है ? आखिर में एक-न-एक दिन वह सबके सामने स्वय आ ही जाता है।"

भोपजी श्रावक भी पक्के थे। वे उनकी बातों को सुनकर पहले तो कुछ चकित से हुए, पर सघ के प्रति उनका वह बुरा इ गित वे तत्काल समझ गये। उन्होंने बराबर का उत्तर देते हुए कहा—"जिस व्यक्ति को पता लग जाये कि सेठ के घर में घाटा है और वह फिर भी उसके साथ रहे तो उसकी बुद्धि को क्या कहा जाय ?"

अपने प्रति जब यह व्यग सुना तो गुलाबजी और अधिक जोश खा गये। सघ के विषय में अनेक प्रकार की गलत बातें कहने लगे। ईसरजी स्वामी उनके ससार-पक्षीय भाई थे। उन्होंने उनको ऐसा करने से बहुत दबाव देकर रोका, तब कही बोलते हुये बद हुये। दूसरे दिन

इसमें किसी प्रकार की ढील निकालने के कार्य को वे एक [illegible] [illegible]
एक बार की बात है ऋषिराय ने उन्हें सं० १९ ७ का चातुर्मास बीदासर,
प्रदान की। वे चातुर्मास करने के लिए बीदासर पहुंच भी गये। पर बीकानेरवासी
मदनचन्दजी राखेचा आदि ने जयपुर में ऋषिराय के पास प्रार्थना भेजी कि [illegible] [illegible]
को बीकानेर चातुर्मास करने की आज्ञा दी जाए। वहाँ अच्छा उपकार होने का
मदनचन्दजी का परिवार पिछले वर्ष ही श्रद्धालु बना था। पिछला चातुर्मास वहाँ
का ही था। उनकी प्रेरणा से अनेक परिवारों को सम्यक्त्व-लाभ मिला था। इस वर्ष
उपकार का अवसर देखकर प्रार्थना कर रहे थे अतः ऋषिराय ने उनकी प्रार्थना
की। पर जयाचार्य को वहाँ चातुर्मास तभी कल्प सकता था जबकि कोई दीक्षा-[illegible]
उनके साथ रहे। अतः सरूपचन्दजी स्वामी को साथ लेकर बीकानेर चातुर्मास करने के लिए
जयाचार्य को आदेश दिया गया।

जब ये समाचार बीदासर पहुंचे तो वहाँ के भाइयों को यह परिवर्तन काफी [illegible]
गर्मी के दिन थे। लू इतनी तेज चला करती थी कि दुपहरी में घर से बाहर निकलना [illegible]
साहस का ही काम हो रहा था। रास्ते के छोटे गांवों में उचित पानी का योग [illegible]
काफी दुष्कर था। इन सब कठिनाइयों को सामने रखते हुए लोगों ने जयाचार्य से [illegible]
चातुर्मास करने की प्रार्थना की।

जयाचार्य ने ध्यानपूर्वक सब भाइयों की बातें सुनी और कहा— 'तुम कहते हो [illegible] [illegible]
ठीक है पर गुरुदेव की जो आज्ञा है वह तो इन सबसे ऊपर है। उसकी पूर्ति तो [illegible]
चाहिए।"

उपस्थित लोगों में से किसी एक ने कहा— आचार्यदेव की आज्ञा तो है, पर आप [illegible]
कोई गली निकालिये।

जयाचार्य ने तत्काल उसे टोकते हुए कहा— यह तुम क्या कह रहे हो? गली तो कोई
कामचोर नौकर ही निकालता है। यह तो सद्गुरु की आज्ञा है इसमें गली निकालने जैसी
कोई बात नहीं होती।

उन्होंने इस भयंकर गर्मी में वहाँ से विहार किया और कष्ट झेलकर भी बीकानेर पहुंचे।
एक दिन तो उस विहार में उन्हें जल के अभाव में तृषा का मरणांत-कष्ट[1] का भी [illegible]
पड़ा था। इस प्रकार उन्होंने अनुशासन की महत्ता को अपने जीवन के सक्रिय उदाहरणों से
पुष्ट किया। तभी वे दूसरों से भी अनुशासन के प्रति अपनी ही तन्मयता की कामना करते थे।

१—मरणांत तृषा कष्ट पाम्यो तिण दिन।
एस ताम्हो अति खिद वेर॥ (ज सु २१ ११)

तपस्वी गुलाबजी का बखेड़ा

अनुशासन सम्बन्धी एक काम तो उनके सामने युवाचार्य बनाये जाने के कुछ काल बाद ही ऐसा आ गया था, जो कि काफी चिन्ताजनक था। पर उन्होंने इस दृढता से उसे सभाला कि देखने वाले चकित रह गये। उसमे ऋषिराय को विशेष कुछ नही करना पडा प्राय आदि से अन्त तक युवाचार्य ने ही उसको भुगता दिया। वह घटना इस प्रकाद थी—पुर में पाँच साधु थे। उन में एक गुलाबजी नामक साधु तपस्वी होने के साथ ही काफी विराग भावना वाले गिने जाते थे। आस-पास की जनता में भी उनके प्रति आदर-भाव था।

तपस्वी और विरागी होना एक बात है और विवेकी होना बिलकुल दूसरी बात। यद्यपि तपस्वी और विरागी व्यक्ति विवेकी भी होते है, परन्तु सबके लिये वैसा होना नितात निश्चित नहीं है। विवेक के लिये जिस विश्लेषणात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है वह सब में परिपूर्ण मिले, यह असभव है। फिर तपस्या और विवेक कोई इतरेतराश्रित भाव तो हैं नही कि एक के भाव में दूसरे का भी भाव मान ही लिया जाय। परन्तु जनता पर तपस्या का प्रभाव जैसा सहज पडता है वैसा उसके विवेक की कमी-वेशी का नही पडता। यही कारण है कि कुछ लोग बहुधा इसी भ्रम में पडकर गलती कर जाते है। अनेक तपस्वी भी अपनी उस तप की महिमा को अपने विवेक की महिमा समझ बैठते है। अत उसी के बल-बूते पर वे सघ की गतिविधियों के लिए निर्णय देने पर भी उत्तर आते हैं। उस स्थिति में जब कुछ नासमझ लोग उनकी पीठ थपथपा देते हैं, तब तो फिर वे अपने विरागी होने का सबूत भी इसी रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर देते हैं कि दूसरे सब शिथिल हो गये है। गुलाबजी तपस्वी की उस समय कुछ ऐसी ही स्थिति थी।

जयाचार्य को युवाचार्य घोषित किया गया था, उन्हीं दिनो के आस-पास की बात है। भीलवाडा के श्रावक भोपजी सिंघी गुलाबजी तपस्वी के दर्शन करने के लिये पुर गये थे। वे उनकी सेवा में बैठे थे कि गुलाबजी ने उल्टी-सीधी बातें करनी प्रारम्भ कर दी। उन्होंने सघ के लिये कुछ निम्नता के शब्द कहते हुये भोपजी से कहा—"किसी साहूकार के घर में घाटा हो तो वह उसे छिपाकर अपना काम कितने दिन चला सकता है? आखिर में एक-न-एक दिन वह सबके सामने स्वय आ ही जाता है।"

भोपजी श्रावक भी पक्के थे। वे उनकी बातों को सुनकर पहले तो कुछ चकित से हुए, पर संघ के प्रति उनका वह बुरा इगित वे तत्काल समझ गये। उन्होंने बराबर का उत्तर देते हुए कहा—"जिस व्यक्ति को पता लग जाये कि सेठ के घर में घाटा है और वह फिर भी उसके साथ रहे तो उसकी बुद्धि को क्या कहा जाय?"

अपने प्रति जब यह व्यग सुना तो गुलाबजी और अधिक जोश खा गये। सघ के विषय में अनेक प्रकार की गलत बातें कहने लगे। ईसरजी स्वामी उनके ससार-पक्षीय भाई थे। उन्होंने उनको ऐसा करने से बहुत दबाव देकर रोका, तब कही बोलते हुये बद हुये। दूसरे दिन

किसी भी साधु-साध्वी की निन्दा करने का परित्याग था। जयाचार्य ने लिखित प्रतिज्ञा वाला वह पत्र भी जनता को दिखलाया।

तपस्वी गुलावजी यह सब अन्दर बैठे सुन रहे थे। वे वाहर आये और कहने लगे—"स्वामीजी की सब बातें मुझे स्वीकार हैं, किन्तु जो लोग पहले तो नियमो का पालन कठोरता मे करते थे, पर अब ढीले पड गये, उनकी बात कैसे मानी जाए ?"

युवाचार्य ने कहा—"दो वर्ष पहले तुमने जो लिखित पत्र लिख कर दिया था, उसमें तुमने सघ को विलकुल विशुद्ध स्वीकार किया है। उस समय तक यदि हम ठीक थे तो उसके वाद कौन-सी ढिलाई आ गई ? तुमने साधु-साध्वियो की निन्दा करने का त्याग किया था। कम-से-कम अपने उस नियम का तो ध्यान रखते।"

गुलावजी ने कहा—"मेरा त्याग भग हुआ है, उसका मुझे दड ही तो आएगा, शिर थोडे ही कटेगा ? पर वात तो जैसी होगी वही कही जाएगी।" इस प्रकार की वातें करते हुए वे युवाचार्य के उत्तर की प्रतीक्षा किये विना ही वापस अन्दर चले गये।

दूसरे दिन सायकाल में युवाचार्य को अकेला देखकर वे कहने लगे—"मैं तो गले तक भरा हुआ हूँ, पर किमसे कहूँ ? कोई मेरी वात मुनने वाला भी नही है।"

युवाचार्य ने उसके मानसिक उभाड को शात करने के लिए उपयुक्त समय समझ कर सायकालीन प्रतिक्रमण के वाद ऋषिराय से वहाँ जाने की आज्ञा ली। वे 'नेवों[1]' के नीचे से वहाँ पधारे और तपस्वी गुलाबजी से बोले—"तुम कहते थे कि मेरी वात सुननेवाला कोई नही है, लो मैं तुम्हारी बाते सुनने के लिये आया हूँ।"

गुलाबजी ने तब लगभग दो घटे तक अनाप-शनाप बातें कह कर अपने मन की भडास निकाली। युवाचार्य केवल एक श्रोता के रूप में ध्यानपूर्वक ऊँची-नीची सब बातें शान्ति से सुनते रहे। जब वे सब कुछ कह चुके तब उन्होंने मिठास से एक-एक बात का उत्तर देना प्रारम्भ किया। उनके मुख्य चारों प्रश्नो का भी उन्होंने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया। गुलाबजी को यह स्वप्न में भी विश्वास नही था कि उनकी वातों को कोई इतनी शाति से सुन लेगा और उत्तर भी देगा। वे तो अपने प्रश्नों को ऐसा मान बैठे थे कि मानो उनका कोई उत्तर हो ही नही सकता। परन्तु अब उन उत्तरों के सामने उन्हें लगने लगा कि वे प्रश्न वस्तुत कोई गहराई लिए हुए नही थे।

युवाचार्य ने दूसरे दिन गुलाबजी के साथी सत तपस्वी उदयचन्दजी को भी सारी बातें समझाईं। उनके भी वे तत्काल ध्यान में बैठ गईं। अब वे स्वय ही गुलाबजी की बातों का उत्तर देने लगे। गुलाबजी जव अपने साथी को भी निरुत्तर नहीं कर सके तब उन्हें अपनी बातों की साधारणता का अच्छी तरह से भान हो गया। वे युवाचार्य से बोले—"अब मेरे

1—खपरैल की छत वाले मकानों में जो भाग छज्जेनुमा बाहर निकला हुआ होता है, उसे 'नेव' कहा जाता है।

फिर उसी प्रकार अंट-संट बोलने लगे और अपनी शंकाओं की लम्बी-लम्बी तालिका बतलाने लगे। उनके साथ के रामजी स्वामी ने तब नाथद्वारा में जाकर ऋषिराय के दर्शन किये और वहाँ की सारी परिस्थिति निवेदित की।

ऋषिराय ने वहाँ जाकर ही सारी परिस्थिति को सुलझाने का निश्चय किया। युवाचार्य आदि आठ सन्तों सहित विहार करते हुये वे पुर की ओर पधारे। तपस्वी गुलाबजी ने जब यह समाचार सुना तो उन्होंने अपनी शंकाओं की संख्या को घटाकर कम कर दिया और कहने लगे कि यदि मेरी चार शंकाएँ मेट दी जायें तो फिर सारी बातें ठीक हो जाए। भोपजी सिंघी ने मार्ग के कारोई ग्राम में ऋषिराय के दर्शन किये तब उन्होंने बतलाया कि गुलाबजी कहते हैं— यदि मेरी चार शंकाओं का उत्तर हेमराजजी स्वामी के पास से मँगा दिया जाये तो मैं उनके उत्तरों को सर्वथा स्वीकार कर लूँगा।"

युवाचार्य जीतमलजी स्वामी ने उस बात का उत्तर देते हुए भोपजी से कहा—"जब आचार्यदेव स्वयं ही वहाँ पधार रहे हैं तब हेमराजजी स्वामी से उत्तर मँगाने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?

दूसरे दिन जब कि ऋषिराय पुर में पहुँच रहे थे भोपजी ने आकर फिर बतलाया कि गुलाबजी कहते हैं— 'यदि एक साधु आकर मुझे यह कह दे कि हम स्वामीजी की सब मर्यादाओं को ठीक पालते हैं तो मैं सामने आकर पैर पकड़ लूँगा।'

युवाचार्य ने उसका उत्तर देते हुये कहा— 'स्वामीजी की मर्यादायें तो हमें सदा से ही मान्य रही हैं। अब साधु को भेजकर नये सिरे से इसके विषय में कहलाने की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी ?

पुर से सामने आने वाले भाइयों ने भी ऋषिराय से प्रार्थना की कि एक साधु को भेज देना चाहिये। तपस्वीजी को यदि इतने में ही तसल्ली हो जाती है तो ऐसा करने में कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए। किन्तु उनकी वह प्रार्थना उपयुक्त न होने से स्वीकार नहीं की गई। युवाचार्य ने ऋषिराय की दृष्टि को देखते हुये कहा कि जो संत अमुक सीमा तक सामने आ जाएँगे वे ही गण के सदस्य समझे जायेंगे जो सामने नहीं आयेंगे वे सब विरोधी होने के कारण उससे बाहर समझे जायेंगे। यह समाचार सुनने के बाद एक मुनि जीवराजजी साधु तो सामने आ गये किन्तु अवशिष्ट तीन साधु नहीं आये।

पुर में पधारकर ऋषिराय बाजार में विराजे। वे जिन दुकानों पर ठहरे थे उनके पास वाली दुकान में ही गुलाबजी ठहरे हुए थे। वहाँ युवाचार्य ने परिषद् के सामने गुलाबजी की बातों का खुलासा किया। करीब दो वर्ष पूर्व भी उनके ऐसी शंकाएँ पड़ी थीं। उस समय उनके व्यावहारिक शंकाएं थीं। उनका निराकरण भी युवाचार्य ने ही किया था। उस समय उनकी शंकाएँ निर्मूल होने पर उन्होंने एक लिखित प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उन्हें

किसी भी साधु-साध्वी की निन्दा करने का परित्याग था। जयाचार्य ने लिखित प्रतिज्ञा वाला वह पत्र भी जनता को दिखलाया।

तपस्वी गुलाबजी यह सब अन्दर बैठे सुन रहे थे। वे बाहर आये और कहने लगे—"स्वामीजी की सब बातें मुझे स्वीकार है, किन्तु जो लोग पहले तो नियमो का पालन कठोरता मे करते थे, पर अब ढीले पड गये, उनकी बात कैसे मानी जाए ?"

युवाचार्य ने कहा—"दो वर्ष पहले तुमने जो लिखित पत्र लिख कर दिया था, उसमें तुमने सघ को बिलकुल विशुद्ध स्वीकार किया है। उस समय तक यदि हम ठीक थे तो उसके बाद कौन-सी ढिलाई आ गई ? तुमने साधु-साध्वियो की निन्दा करने का त्याग किया था। कम-से-कम अपने उस नियम का तो ध्यान रखते।"

गुलाबजी ने कहा—"मेरा त्याग भग हुआ है, उसका मुझे दड ही तो आएगा, शिर थोडे ही कटेगा ? पर बात तो जैसी होगी वही कही जाएगी।" इस प्रकार की बातें करते हुए वे युवाचार्य के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वापस अन्दर चले गये।

दूसरे दिन सायकाल में युवाचार्य को अकेला देखकर वे कहने लगे—"मैं तो गले तक भरा हुआ हूँ, पर किसमे कहूँ ? कोई मेरी बात सुनने वाला भी नही है।"

युवाचार्य ने उसके मानसिक उभाड को शात करने के लिए उपयुक्त समय समझ कर सायकालीन प्रतिक्रमण के बाद ऋषिराय से वहाँ जाने की आज्ञा ली। वे 'नेवो[१]' के नीचे से वहाँ पधारे और तपस्वी गुलाबजी से बोले—"तुम कहते थे कि मेरी बात सुननेवाला कोई नही है, लो मैं तुम्हारी बाते सुनने के लिये आया हूँ।"

गुलाबजी ने तब लगभग दो घटे तक अनाप-शनाप बातें कह कर अपने मन की भडास निकाली। युवाचार्य केवल एक श्रोता के रूप में ध्यानपूर्वक ऊँची-नीची सब बातें शान्ति से सुनते रहे। जब वे सब कुछ कह चुके तब उन्होने मिठास से एक-एक बात का उत्तर देना प्रारम्भ किया। उनके मुख्य चारों प्रश्नों का भी उन्होंने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया। गुलाबजी को यह स्वप्न में भी विश्वास नही था कि उनकी बातों को कोई इतनी शाति से सुन लेगा और उत्तर भी देगा। वे तो अपने प्रश्नों को ऐसा मान बैठे थे कि मानो उनका कोई उत्तर हो ही नही सकता। परन्तु अब उन उत्तरो के सामने उन्हें लगने लगा कि वे प्रश्न वस्तुत कोई गहराई लिए हुए नही थे।

युवाचार्य ने दूसरे दिन गुलाबजी के साथी सत तपस्वी उदयचन्दजी को भी सारी बातें समझाईं। उनके भी वे तत्काल ध्यान में बैठ गईं। अब वे स्वय ही गुलाबजी की बातों का उत्तर देने लगे। गुलाबजी जब अपने साथी को भी निरुत्तर नहीं कर सके तब उन्हें अपनी बातों की साधारणता का अच्छी तरह से भान हो गया। वे युवाचार्य से बोले—"अब मेरे

१—खपरैल की छत वाले मकानों में जो भाग छज्जेनुमा बाहर निकला हुआ होता है, उसे 'नेव' कहा जाता है।

मन में कोई शंका नहीं है अतः संघ की निन्दा आदि करने में जो दोष लगा है उसका दंड देकर मुझे आराधक बना दें।"

युवाचार्य ने कहा— 'प्रायश्चित्त के विषय में कम या अधिक देने का तुम्हें भ्रम हो सकता है। अतः अच्छा हो कि जिस पर तुम्हारा अधिक-से-अधिक विश्वास हो उस व्यक्ति को तुम स्वयं ही इसके लिये चुन लो। ऋषिराय से मैं इसकी स्वीकृति दिलाने का प्रयास करूंगा।"

तपस्वी गुलाबजी ने कहा— आप पर मेरा पूर्ण विश्वास है अतः आप जो भी दंड देंगे वह मुझे स्वीकार होगा।"

युवाचार्य ने तब उनको सरलमना होकर ऋषिराय के पास से प्रायश्चित्त मांगने की सलाह दी। इस पर तीनों ही संत युवाचार्य के साथ ऋषिराय के पास आ गये और विधिपूर्वक वंदन करके जनता के सामने ही प्रायश्चित्त की याचना करने लगे। लोगों को इस पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। संभवतः यह किसी को विश्वास ही नहीं था कि अब उन्हें समझाया जा सकेगा। परन्तु युवाचार्य के प्रयास ने वह काम कर दिखाया। यदि इस गड़बड़ में प्रारम्भ से ही दृढ़ता से काम नहीं किया जाता और तपस्वी गुलाबजी की शर्तें मान ली जाती तो संभव है बात का अंत संघ के लिए इतना अनुकूल नहीं निकल पाता जितना कि इस क्रम से निकला। युवाचार्य ने अपनी प्रशासनिक सूझ-बूझ से उस सारे झगड़े को सरलता से सुलझा लिया।

नागोर-पट्टी

जयाचार्य संघ की व्यवस्था में प्रायः पहले से ही रुचि रखते थे। युवाचार्य हो जाने के बाद तो उस विषय में अधिक सजग रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही थी। एक बार ऋषिराय ने कुछ संतों को अनेक बक्सीसों की तथा उन्हें पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र देने का वचन दिया। जयाचार्य संघ की एक सूत्रता बनाये रखने में इस क्रम को बाधक समझते थे। अतः उन्होंने ऋषिराय से इस विषय में प्रार्थना करते हुए कहा—"पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र दे देने से कालांतर में अन्य सम्प्रदायों की तरह यहाँ भी वैसी स्थिति पैदा होने की संभावना हो सकती है, जिससे एक सिंघाड़े के क्षेत्र में दूसरे सिंघाड़े का जाना-आना असह्य बनने लगे। युवाचार्य की यह बात अवश्य ही ऋषिराय के ध्यान में बैठ गई थी तभी उन्होंने संक्षिप्त-सा उत्तर देते हुए कहा— "मैंने क्षेत्रों के नाम नहीं बोले हैं, अतः चोटी तो तेरे ही हाथ में रहेगी।"

जयाचार्य ने आचार्य होने के बाद ऋषिराय के इसी वाक्य के आधार पर उस समस्या को हल किया था। एक बार भोगजी नामक साधु जयाचार्य के पास आये और ऋषिराय द्वारा प्रदत्त वचन का स्मरण करते हुए स्वतंत्र विहार क्षेत्र प्रदान करने की मांग करने लगे। जयाचार्य ने तब उन्हें कहा—"तुम नागोर पट्टी में विहार किया करो।'

नागोर-पट्टी में श्रद्धा के विशेष घर नहीं थे अतः उनका मन उस क्षेत्र को लेकर संतुष्ट नहीं हो सका। उन्होंने कहा— 'यह नहीं कोई दूसरा क्षेत्र दीजिये।

जयाचार्य ने कहा— 'दूसरे क्षेत्र का तो विचार नहीं है।

वे उस क्षेत्र के लिए इन्कार करके उस समय तो चले गये, पर कुछ देर बाद ही वापिस आये और कहने लगे—"अच्छा तो मैं नागोर-पट्टी में ही विहार कर लूँगा।"

जयाचार्य ने कहा—"नहीं, अब नहीं, वह तो उसी समय की बात थी। उस समय तुमने स्वीकार नहीं किया, अब मुझे स्वीकार नहीं है।"

जयाचार्य के उस दृढ़ रुख का अन्य साधुओं पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि फिर किसी ने पृथक् पट्टी की माँग करने का साहस ही नहीं किया। संघ की आतरिक व्यवस्था में उन्होंने अपनी प्रतिभा का जो उपयोग किया, वह उनकी योग्यता का परिचायक तो था ही, साथ ही संघ की उन्नति और संगठन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण था।

मन में कोई शंका नहीं है अत संघ की निन्दा आदि करने [illegible]
देकर मुझे आराधक बना दें।

युवाचार्य ने कहा— 'प्रायश्चित्त के विषय में कम या अधिक [illegible]
है। अत अच्छा हो कि जिस पर तुम्हारा अधिक-से-अधिक विश्वास हो [illegible]
स्वयं ही इसके लिये चुन लो। ऋषिराय से मैं इसकी स्वीकृति दिलाने का प्रयास [illegible]

तपस्वी [illegible] ने कहा— 'आप पर मेरा पूर्ण विश्वास है, अत आप जो [illegible]
वह मुझे स्वीकार होगा।"

युवाचार्य ने तब उनको सहमत होकर ऋषिराय के पास से प्रायश्चित्त [illegible]
दी। इस पर तीनों ही संत युवाचार्य के साथ ऋषिराय के पास आ गये और [illegible]
करके जनता के सामने ही प्रायश्चित्त की याचना करने लगे। लोगों को [illegible]
आश्चर्य हुआ। संभवतः यह किसी को विश्वास ही नहीं था कि अब उन्हें [illegible]
परन्तु युवाचार्य के प्रयास ने वह काम कर दिखाया। यदि इस अवसर में [illegible]
से काम नहीं लिया जाता और तपस्वी [illegible] की शर्तें मान [illegible]
का अंत संघ के लिए इतना अनुकूल नहीं निकल पाता जितना कि [illegible]।
युवाचार्य ने अपनी प्रशासनिक सूझ-बूझ से उस सारे झगड़े को सरलता से [illegible] किया।

नागोर-पट्टी

जयाचार्य संघ की व्यवस्था में प्राय पहले से ही रुचि रखते थे। [illegible]
बाद तो उस विषय में अधिक सजग रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही थी। एक बार [illegible]
ने कुछ संतों को अनेक बख्शीशें की तथा उन्हें पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र देने का [illegible] किया।
जयाचार्य संघ की एक सूत्रता बनाये रखने में इस क्रम को [illegible] थे। [illegible]
ऋषिराय से इस विषय में प्रार्थना करते हुए कहा—"पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र देने से [illegible]
में अन्य सम्प्रदायों की तरह यहाँ भी वैसी स्थिति पैदा होने की संभावना हो सकती है, [illegible]
एक सिंघाड़े के क्षेत्र में दूसरे सिंघाड़े का जाना आना [illegible] लगे।" [illegible]
बात अवश्य ही ऋषिराय के ध्यान में बैठ गई थी, तभी उन्होंने [illegible] उत्तर [illegible]
कहा— "मैंने क्षेत्रों के नाम नहीं खोले हैं, अतः चोटी तो तेरे ही हाथ में रहेगी।"

जयाचार्य ने आचार्य होने के बाद ऋषिराय के इसी वाक्य के आधार पर [illegible]
को हल किया था। एक बार [illegible] नामक साधु जयाचार्य के पास आये और ऋषिराय द्वारा
प्रदत्त वचन का स्मरण करते हुए स्वतंत्र विहार क्षेत्र प्रदान करने की मांग करने लगे। [illegible]
ने तब उन्हें कहा—"तुम नागोर पट्टी में विहार किया करो।"

नागोर-पट्टी में श्रद्धा के विशेष घर नहीं थे अत उनका मन उस क्षेत्र को [illegible]
नहीं हो सका। उन्होंने कहा— 'वह नहीं कोई दूसरा क्षेत्र दीजिये।"

जयाचार्य ने कहा— 'दूसरे क्षेत्र का तो विचार नहीं है।"

योजना थी। वे उसे जयाचार्य के पदासीन होने के उपलक्ष्य में स्वीकृत कराना चाहते थे।

जयाचार्य को उनकी उस योजना का पहले से ही पता था। सयोगवश उन्हें पदासीन होने का अवसर ऐसा प्राप्त हो गया कि अधिक सत वहाँ एकत्रित नही हो सके। उन्होंने उस आकस्मिक सयोग का पूरा लाभ उठाया। वे नही चाहते थे कि प्रथम अवसर पर ही किसी की माँग को अस्वीकृत कर उन्हें निराश किया जाये। वे यह भी नही चाहते थे कि पूरा चिंतन किये बिना किसी भी माँग को स्वीकार करके सदा के लिए कोई सिर-दर्द पैदा कर लिया जाए। वे अपने कार्य में पूरे सावधान थे, अत ऐसा अवसर उन्होने उपस्थित ही नही होने दिया।

कालान्तर मे जब साधु एकत्रित हुए, तव कुछ साधुओं ने मिलकर जयाचार्य को एक मीठा उपालभ देते हुए कहा—"आपने ऐसे महनीय अवसर पर हमे सम्मिलित होने का अवसर प्रदान नही किया।"

महान् नीतिज्ञ जयाचार्य ने उस मीठे उपालभ को अपने मीठे उत्तर से टाल देने के लिए एक प्रश्न पूछते हुए कहा—"उस समय सम्मिलित होकर आखिर तुम लोग क्या करते ?"

साधुओ ने कहा—"हम भी उत्सव मनाते और आपको 'नईपछेवडी' धारण करवाते।"

जयाचार्य ने स्मयमान मुद्रा से कहा—"बस, तो इतनी ही बात थी ? ऐसा तो तुम अब भी कर सकते हो।" और उनके उस छोटे से वाक्य ने उन सबको निरुत्तर कर दिया।

भावना की पूर्ति

बीदासर से विहार कर जयाचार्य जब लाडणूँ पधारे, तब पहले पहल चालीस साधु और चौवालीस साध्वियों ने वहाँ दर्शन का लाभ प्राप्त किया। पट्टासीन होने के उत्सव में सम्मिलित न हो पाने का उन सभी को रज था। वे सब चाहते थे कि वह उत्सव एक बार फिर मनाया जाए और उन सब को उस आनन्द में सम्मिलित होने का अवसर दिया जाए। जयाचार्य उन सबकी भावना पूर्ण करने की बात सोच ही रहे थे कि वहाँ बीदासर से दर्शनार्थ आये हुए प्रसिद्ध श्रावक शोभाचदजी बैंगाणी ने उन्हें एक बार फिर बीदासर पधारने और उत्सव मनाने की प्रार्थना की।[1]

जयाचार्य ने मुनि-समुदाय की भावना और शोभाचन्दजी की प्रार्थना की एक साथ पूर्ति का अवसर देखकर उसे स्वीकार कर लिया और फिर बीदासर पधारे। वहाँ नवागन्तुक साधु-साध्वियो ने बड़े उत्साह से पट्टोत्सव मनाया। जयाचार्य ने सम्भवत अपनी एक ढाल में इसी पट्टोत्सव का उल्लेख करते हुए लिखा है .

> सवत् उगणीसै आठै समें, जेठ कृष्ण चोथ जाण।
> पट मगल पद पामियो, बीदासर सुविहाण ॥[2]

१—शोभाचंद जी तिह समे, विनती करी विशेष।
इक मेलो बीदासरे, कीजे वली गणेश॥ (ज० सु० ३६-दो० ५)

२—भिक्षुगुण वर्णन (ढाल २०-१३)

५

महान् आचार्य और उनकी महान् योजनाएँ

१ : महान् आचार्य

पदासीन

जयाचार्य तेरापंथ के महान् आचार्य थे। वे सं. १९०८ माघ पूर्णिमा के दिन पदासीन हुए थे। यद्यपि ऋषिराय माघ कृष्णा चतुर्दशी को ही दिवंगत हो गये थे पर उस समय उनके पास मेवाड़ में न हो कर थली में विहार कर रहे थे। उस समय समाचार या संचार-साधनों की व्यवस्था इस समय जैसी तो थी नहीं कि आज यह समाचार और कल पहुंच गया या आज चले और कल किसी दूर देश पहुंच गये। प्रायः सभी कुछ अत्यन्त धीमी गति से ही हुआ करता था। इसीलिए जयाचार्य के पास ये समाचार कई दिन बाद माघ शुक्ला अष्टमी को पहुंच पाये थे। उसके बाद शुभ दिन देखकर माघ पूर्णिमा को पदासीन होने का उत्सव मनाया गया। उस उत्सव के उपलक्ष में अनेक व्यक्तियों ने त्याग-वैराग्य की वृद्धि की। रामजी स्वामी ने तो उस अवसर पर यावज्जीवन के लिए बेले-बेले की तपस्या ग्रहण की। जयाचार्य भी उस दिन श्रावकों के घर गोचरी के लिए गये और अन्न-पानी ग्रहण कर लाये। आचार्यदेव के उस अचानक और अयाचित प्रथम पदार्पण से श्रावकों को उतना ही हर्ष हुआ जितना कि ग्रीष्मकाल की प्रथम वर्षा के अवसर पर किसानों को होता है।

जयाचार्य के इस प्रथम पट्टोत्सव पर सम्मिलित होने का अवसर अधिकांश साधु-साध्वियों को नहीं मिल सका। इसका कारण यह था कि उस समय तक थली में बहुत कम सिंघाड़े जाया करते थे। साधु-साध्वियों का विहार-क्षेत्र मुख्यतः मेवाड़ या मारवाड़ ही था। उस वर्ष ऋषिराय स्वयं मेवाड़ में थे, अतः दर्शनार्थी साधु वहाँ एकत्रित हो चुके थे। जब माघ में ऋषिराय अचानक दिवंगत हो गये तब उसके बाद संतों का जयाचार्य की सेवा में शीघ्र ही पहुंच सकना संभव नहीं हुआ। इसलिए यह उत्सव थोड़े से साधुओं द्वारा ही मनाया गया।

मीठा उपालंभ : मीठा उत्तर

उस छोटे समारोह का एक दूसरा कारण यह था कि स्वयं जयाचार्य उस कार्य से शीघ्र ही निवृत्त होना चाहते थे। अधिक संतों के एकत्रित होने पर उनके द्वारा उस अवसर पर कुछ मांगें प्रस्तुत की जाने की उन्हें सम्भावना थी। ऋषिराय द्वारा की गई बख्शीशों को कार्यरूप दिलाने तथा उसके अतिरिक्त कुछ नई मांगें रखने की कल्पना संतों की पूर्व निश्चित

योजना थी। वे उसे जयाचार्य के पदासीन होने के उपलक्ष्य में स्वीकृत कराना चाहते थे।

जयाचार्य को उनकी उस योजना का पहले से ही पता था। सयोगवश उन्हें पदासीन होने का अवसर ऐसा प्राप्त हो गया कि अधिक सत वहाँ एकत्रित नही हो सके। उन्होने उस आकस्मिक सयोग का पूरा लाभ उठाया। वे नही चाहते थे कि प्रथम अवसर पर ही किसी की माँग को अस्वीकृत कर उन्हें निराश किया जाये। वे यह भी नही चाहते थे कि पूरा चिंतन किये बिना किसी भी माँग को स्वीकार करके सदा के लिए कोई सिर-दर्द पैदा कर लिया जाए। वे अपने कार्य में पूरे सावधान थे, अत ऐसा अवसर उन्होंने उपस्थित ही नही होने दिया।

कालान्तर में जब साधु एकत्रित हुए, तब कुछ साधुओं ने मिलकर जयाचार्य को एक मीठा उपालभ देते हुए कहा—"आपने ऐसे महनीय अवसर पर हमे सम्मिलित होने का अवसर प्रदान नही किया।"

महान् नीतिज्ञ जयाचार्य ने उस मीठे उपालभ को अपने मीठे उत्तर से टाल देने के लिए एक प्रश्न पूछने हुए कहा—"उस समय सम्मिलित होकर आखिर तुम लोग क्या करते ?"

साधुओ ने कहा—"हम भी उत्सव मनाते और आपको 'नईपछेवडी' धारण करवाते।"

जयाचार्य ने स्मयमान मुद्रा से कहा—"बस, तो इतनी ही बात थी ? ऐसा तो तुम अब भी कर सकते हो।" और उनके उस छोटे से वाक्य ने उन सबको निरुत्तर कर दिया।

भावना की पूर्ति

बीदासर से विहार कर जयाचार्य जब लाडणूं पधारे, तब पहले पहल चालीस साधु और चौवालीस साध्वियो ने वहाँ दर्शन का लाभ प्राप्त किया। पट्टासीन होने के उत्सव में सम्मिलित न हो पाने का उन सभी को रज था। वे सब चाहते थे कि वह उत्सव एक बार फिर मनाया जाए और उन सब को उस आनन्द में सम्मिलित होने का अवसर दिया जाए। जयाचार्य उन सबकी भावना पूर्ण करने की बात सोच ही रहे थे कि वहाँ बीदासर से दर्शनार्थ आये हुए प्रसिद्ध श्रावक शोभाचदजी बैंगाणी ने उन्हें एक बार फिर बीदासर पधारने और उत्सव मनाने की प्रार्थना की।[1]

जयाचार्य ने मुनि-समुदाय की भावना और शोभाचन्दजी की प्रार्थना की एक साथ पूर्ति का अवसर देखकर उसे स्वीकार कर लिया और फिर बीदासर पधारे। वहाँ नवागन्तुक साधु-साध्वियों ने बडे उत्साह से पट्टोत्सव मनाया। जयाचार्य ने सम्भवत अपनी एक ढाल में इसी पट्टोत्सव का उल्लेख करते हुए लिखा है

> सवत् उगणीसै आठै समें, जेठ कृष्ण चोथ जाण।
> पट मगल पद पामियो, बीदासर सुविहाण ॥[2]

१—शोभाचद जी तिह समे, विनती करी विशेष।
इक मेलो बीदासरे, कीजे वली गणेश॥ (ज० सु० २६-दो० ५)

२—भिक्षुगुण वर्णन (ढाल २०-१३)

१

महान् आचार्य और उनकी महान् योजनाएँ

१ : महान् आचार्य

पदासीन

जयाचार्य तेरापंथ के महान् आचार्य थे। वे सं० १९०८ माघ पूर्णिमा के दिन पदासीन हुए थे। यद्यपि ऋषिराय माघ कृष्णा चतुर्दशी को ही दिवंगत हो गये थे पर उस समय उनके पास मेवाड़ में न हो कर थली में विहार कर रहे थे। उस समय यातायात या संचार-साधनों की व्यवस्था इस समय जैसी तो थी नहीं कि आज का कल पहुँच गया या आज चले और कल किसी दूर देश पहुँच गये। प्रायः सभी कुछ धीमी गति से ही हुआ करता था। इसीलिए जयाचार्य के पास वे समाचार पत्र के द्वारा माघ शुक्ला अष्टमी को पहुँच पाये थे। उसके बाद शुभ दिन देखकर माघ पूर्णिमा को पदासीन होने का उत्सव मनाया गया। उस उत्सव के उपलक्ष में अनेक व्यक्तियों ने त्याग-तितिक्षा की वृद्धि की। रामजी स्वामी ने तो उस अवसर पर यावज्जीवन के लिए बेले-बेले ग्रहण की। जयाचार्य भी उस दिन श्रावकों के घर गोचरी के लिए गये और अन्न-पानी ग्रहण कर लाये। आचार्यदेव के उस अचानक और अयाचित प्रथम पदार्पण से श्रावकों को उतना ही हर्ष हुआ जितना कि वर्षाकाल की प्रथम वर्षा के अवसर पर किसानों को होता है।

जयाचार्य के इस प्रथम पट्टोत्सव पर सम्मिलित होने का अवसर अधिकांश साधु-साध्वियों को नहीं मिल सका। इसका कारण यह था कि उस समय तक थली में बहुत कम सिंघाड़े आया करते थे। साधु-साध्वियों का विहार-क्षेत्र मुख्यतः मेवाड़ या मारवाड़ ही था। उस वर्ष ऋषिराय स्वयं मेवाड़ में थे, अतः दर्शनार्थी साधु वहाँ एकत्रित हो चुके थे। जब वहाँ माघ में ऋषिराय अचानक दिवंगत हो गये तब उसके बाद संतों का जयाचार्य की सेवा में शीघ्र ही पहुँच सकना संभव नहीं हुआ। इसलिए वह उत्सव थोड़े से साधुओं द्वारा ही मनाया गया।

मीठा उपालंभ मीठा उत्तर

उस छोटे समारोह का एक दूसरा कारण यह था कि स्वयं जयाचार्य उस कार्य से शीघ्र ही निवृत्त होना चाहते थे। अधिक संतों के एकत्रित होने पर उनके द्वारा उस अवसर पर कुछ माँगें प्रस्तुत की जाने की उन्हें सम्भावना थी। ऋषिराय द्वारा की गई बख्शीशों को [illegible] दिलाने तथा उसके अतिरिक्त कुछ नई माँगें रखने की [illegible] संतों की [illegible]

में वे स्वय जिन परिस्थितियो तथा विचारों में से गुजरे थे एव औरो को गुजरते देखा था, उनमे से अनेक वातो पर चिंतन करते हुए उनके मन मे जो प्रश्न उठे थे उनका समाधान उन्होने केवल अपने लिए ही नही किन्तु सारे सघ के लिए सोचा था। परिणामत वे परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करने लगे।

युवाचार्य वनने पर उन्होने उन विषयो पर फिर से गहरा मनन किया और लगातार मनन के फलस्वरूप जिन निर्णयो पर वे पहुँचे, उनको लागू करने के उपाय भी सोचे। ऋषिराय के अचानक देवलोक हो जाने पर जव सहसा ही उन पर सारे सघ का भार आ गया, तव उन्होने उन निर्णयो को सारे सघ पर लागू कर उनकी सभावित सफलता से सघ को लाभान्वित करने का विचार किया।

जयाचार्य एक दूरदर्शी आचार्य थे। उन्होने अपनी दिव्य-दृष्टि से भविष्य के पर्दे के पीछे छिपे जिस रहस्य को देखा था तथा अपने सघ को उन परिस्थितियों के समक्ष अपराजेय बनाने के लिए जिस योजना को क्रियान्वित करना प्रारभ किया, उसे समझने के लिए सव के पास अपेक्षित तीव्र दृष्टि का वल उपलब्ध नहीं था। इसीलिए कुछ व्यक्ति अपनी ही आँखो की कमजोरी के कारण उसे देख और समझ नही सके थे। परन्तु प्रलवतर समय की कसौटी पर उनकी योजनाएँ खरी उतरी। आज तेरापन्थ उन योजनाओ के बीज से फलित महान् वृक्ष की छाया का उपभोग और उसके मधुर फलो का आस्वादन कर रहा है। उस समय के कुछ व्यक्तियो ने जिन वातों की वहुत जोर-शोर से आलोचना की थी वे वातें तो आज सघ के प्राण बनी हुई है और उन आलोचनाओ का नामो-निशान कभी का मिट चुका है।

कार्य-प्रारभ

आचार्य-पद प्राप्त करने के कुछ महीने वाद ही जयाचार्य जव जयपुर चातुर्मास के लिए जा रहे थे, तव मार्ग में कुछ समय तक वोरावड में विराजे। वहाँ दर्शनार्थ आये हुए साधु-साध्वियो के कुछ सिंघाडे एकत्रित हुए। अच्छा अवसर देखकर वही से उन्होंने नई मर्यादाओं का निर्माण करना तथा नई योजनाओ को कार्य रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। वे जितने महान् आचार्य थे, उनकी योजनाएँ भी सघ-हित की दृष्टि से उतनी ही महान् थीं। तेरापथ का यह महान् सगठन, उसके प्रत्येक सदस्य का पारस्परिक सौहार्द, अनुशासन-प्रियता और विचारो का एकत्व आदि इतने लम्बे अर्से के वाद भी उसी प्रकार मे उज्जीवित है, इसका अधिकाश श्रेय जयाचार्य की उन योजनाओ को ही दिया जा सकता है।

(१) पुस्तकों का संघीकरण

प्रारम्भिक अभाव

स्वामीजी के समय में पुस्तको का वडा अभाव था। न तो आगम-प्रतियों की ही वहुलता थी और न व्याख्यान आदि की प्रतियो की। कई साधु तो एक चातुर्मास मे एक

नवीनता और प्राचीनता

जयाचार्य का शासन-काल संघ की चतुर्मुखी प्रगति का काल था। पर साथ ही वह आन्तरिक संघर्ष का कारण भी बन गया। वस्तुतः संघर्ष के बिना कोई प्रगति सम्भव भी नहीं होती। प्रगति में सदैव नवीनता की प्रमुखता रहती आई है और जब-जब नवीनता ने अपने उपयुक्त स्थान की माँग की है तब-तब प्राचीनता ने दुर्योधन की तरह टका-सा उत्तर देते हुए प्रायः यही कहा है—'सूच्यग्रमपि नो दास्ये विना युद्धेन केशव !' अर्थात्—सूई की नोक जितना भी स्थान युद्ध के बिना नहीं दिया जाएगा। तब संघर्ष के अतिरिक्त नवीनता के सामने कोई मार्ग ही नहीं बच जाता है। जयाचार्य ने आचार्य-पद का भार संभालते ही संघ की आंतरिक सुचारुता के लिए आवश्यक परिवर्तन किये। परिणामस्वरूप अंदर-ही-अंदर कुछ संघर्ष की स्थितियाँ बनने लगी थीं।

जयाचार्य उन विरोधी स्थितियों से अनभिज्ञ नहीं थे अतः वे प्रारंभ से ही उनसे बचने का प्रयास करते रहे। साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे यही नीति उनके प्रत्येक कार्य में बनी रही थी। वे अपने प्रगतिशीलता के कार्यों को भी चालू रखना चाहते थे और साथ ही विरोधी व्यक्तियों को खुलकर आलोचना करने का अवसर भी नहीं देना चाहते थे। उनकी इसी नीति के कारण प्रारंभ के अनेक वर्षों तक विरोध उभर नहीं पा सका। जब वह उभर पाया तब भी अधिक टिक नहीं पाया और शीघ्र ही छिन्न भिन्न हो गया।

जो समाज नई खुराक को पचाकर नई शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता वह समय की लम्बी दौड़ में टिक नहीं सकता। तेरापंथ की अपनी यह विशेषता रही है कि वह मूल मूल्यों की प्राचीनता रखते हुए भी उत्तरगुणों में यथासंभव नवीनता को स्थान देता रहा है। प्राचीनता और नवीनता में समन्वय बिठा लेने की अपनी विशिष्ट क्षमता के आधार पर ही उसने प्रगति मार्ग तय किया। जो इस समन्वय को ठुकरा कर केवल प्राचीनता या नवीनता को अपना कर चलना चाहता है वह केवल विनाश की ओर ही जा सकता है। जयाचार्य एक महान् आचार्य थे। वे इस तथ्य को अच्छी तरह से जानते थे। इसीलिए उन्होंने आवश्यक और उपादेय नवीनता को ग्रहण करने में कभी विलंब नहीं किया तथा मूलभूत और आवश्यक प्राचीनता की कभी अवहेलना नहीं की।

२ : महान् योजनाएँ

योजनाओं की भूमिका

जयाचार्य तेरापंथ के आचार्य-पद पर नवीनता और प्राचीनता के समन्वय को साथ लिए हुए ही आये थे। जिस वर्ष वे पदासीन हुए उसी वर्ष उन्होंने अनेक मौलिक परिवर्तन किये थे। ऐसा अनुमान होता है कि संघ के सर्व हित के लिए अनेक बातों में जिस परिवर्तन की आवश्यकता थी वह उनके मन में पहले से ही घूमती रही थी। साधारण साधु या अग्रणी-अवस्था

में वे स्वय जिन परिस्थितियो तथा विचारो में से गुजरे थे एव औरो को गुजरते देखा था, उनमें से अनेक बातो पर चिंतन करते हुए उनके मन मे जो प्रश्न उठे थे उनका समाधान उन्होने केवल अपने लिए ही नही किन्तु सारे सघ के लिए सोचा था। परिणामत. वे परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करने लगे।

युवाचार्य बनने पर उन्होने उन विषयो पर फिर से गहरा मनन किया और लगातार मनन के फलस्वरूप जिन निर्णयो पर वे पहुँचे, उनको लागू करने के उपाय भी सोचे। ऋषिराय के अचानक देवलोक हो जाने पर जब सहसा ही उन पर सारे सघ का भार आ गया, तब उन्होने उन निर्णयो को सारे सघ पर लागू कर उनकी सभावित सफलता से सघ को लाभान्वित करने का विचार किया।

जयाचार्य एक दूरदर्शी आचार्य थे। उन्होने अपनी दिव्य-दृष्टि से भविष्य के पर्दे के पीछे छिपे जिस रहस्य को देखा था तथा अपने सघ को उन परिस्थितियों के समक्ष अपराजेय बनाने के लिए जिस योजना को क्रियान्वित करना प्रारभ किया, उसे समझने के लिए सब के पास अपेक्षित तीव्र दृष्टि का बल उपलब्ध नही था। इसीलिए कुछ व्यक्ति अपनी ही आँखो की कमजोरी के कारण उसे देख और समझ नही सके थे। परन्तु प्रलबतर समय की कसौटी पर उनकी योजनाएँ खरी उतरी। आज तेरापन्थ उन योजनाओ के बीज से फलित महान् वृक्ष की छाया का उपभोग और उसके मधुर फलो का आस्वादन कर रहा है। उस समय के कुछ व्यक्तियो ने जिन बातों की बहुत जोर-शोर से आलोचना की थी वे बातें तो आज सघ के प्राण बनी हुई है और उन आलोचनाओं का नामो-निशान कभी का मिट चुका है।

कार्य-प्रारभ

आचार्य-पद प्राप्त करने के कुछ महीने बाद ही जयाचार्य जब जयपुर चातुर्मास के लिए जा रहे थे, तब मार्ग में कुछ समय तक बोरावड में विराजे। वहाँ दर्शनार्थ आये हुए साधु-साध्वियो के कुछ सिंघाडे एकत्रित हुए। अच्छा अवसर देखकर वही से उन्होने नई मर्यादाओं का निर्माण करना तथा नई योजनाओ को कार्य रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। वे जितने महान् आचार्य थे, उनकी योजनाएँ भी सघ-हित की दृष्टि से उतनी ही महान् थी। तेरापथ का यह महान् सगठन, उसके प्रत्येक सदस्य का पारस्परिक सौहार्द, अनुशासन-प्रियता और विचारो का एकत्व आदि इतने लम्बे अर्से के बाद भी उसी प्रकार मे उज्जीवित है, इसका अधिकाश श्रेय जयाचार्य की उन योजनाओ को ही दिया जा सकता है।

(१) पुस्तकों का संघीकरण

प्रारभिक अभाव

स्वामीजी के समय में पुस्तको का बडा अभाव था। न तो आगम-प्रतियो की ही बहुलता थी और न व्याख्यान आदि की प्रतियो की। कई साधु तो एक चातुर्मास में एक

व्याख्यान को ही अनेक बार सुनाया करते थे। स्वामीजी को अपने प्रारम्भिक वर्षों में आहार और स्थान आदि का भी अभाव भोगना पड़ा था तो वैसी स्थिति में पुस्तकों की सुलभता की तो कल्पना करना ही व्यर्थ है।

संग्रह और तारतम्य

धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन आया। गृहस्थों के पास से तथा यतियों के उपाश्रय में संग्रहीत भंडारों द्वारा पुस्तकें प्राप्त होने लगीं। साधु भी स्वयं लिखकर उस आवश्यकता की पूर्ति करने लगे। हर सिंघाड़े के साधु-साध्वियाँ जहाँ जाते वहाँ सुलभ होने पर भंडारों आदि में से शास्त्रों की गवेषणा करते। जो सिंघाड़ दूर-दूर तक विहार किया करते थे, उनको स्वभावतः ही पुस्तक प्राप्ति के अधिक अवसर प्राप्त हो जाते थे। परन्तु जो दूर जाने की स्थिति में नहीं होते उन्हें क्षेत्र की इयत्ता के अनुरूप ही भंडारों आदि का सुयोग प्राप्त हो पाता था। इन्हीं सब कारणों के आधार पर पुस्तकों के संग्रह में काफी तरतमता उत्पन्न हो गयी थी। किसी किसी सिंघाड़े में तो पुस्तकों की प्रचुरता हो गई थी तो किसी किसी में वही पुरातनकालीन अभाव चल रहा था। पुस्तकें होते हुए भी सुव्यवस्था के अभाव में उनका लाभ संघ के सब सदस्य नहीं उठा पा रहे थे।

जयाचार्य ने अपने अग्रणी-काल में काफी भंडारों का निरीक्षण किया था। वहाँ से उन्होंने पुस्तकें भी बहुत प्राप्त की थीं। अपनी पुस्तकों में से काफी प्रतियाँ उन्होंने दूसरे सिंघाड़ों को प्रदान कीं फिर भी अनेक सिंघाड़े ऐसे थे जिनके पास आवश्यक पुस्तकों का अभाव था। जयाचार्य उस स्थिति को सुधारने के विषय में पहले से ही सोचते रहे प्रतीत होते हैं अतः जब संघ का भार उन्होंने संभाला तो सर्वप्रथम इसी समस्या को हाथ में लिया। उनका लक्ष्य था कि प्राप्त पुस्तकों का लाभ सब को समान रूप से मिले।

पुस्तकें किसकी ?

व्यक्तिगत शिष्य बनाने की परम्परा को तो स्वामीजी ने ही समाप्त कर दिया था पर व्यक्तिगत पुस्तकों की परम्परा चालू थी। जयाचार्य ने अपने मन में उसे मिटाने का संकल्प किया और वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों की एक सभा बुलाई। सबके उपस्थित होने पर उन्होंने अग्रणी साधु-साध्वियों से एक प्रश्न किया— 'तुम लोगों के साथ रहने वाले साधु-साध्वियाँ किसकी निश्राय में हैं ?'

तत्काल सबने एक स्वर से उत्तर देते हुए कहा— 'आचार्य देव की निश्राय में।'

तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा— 'पुस्तकें किस की निश्राय में हैं ?'

उत्तर मिला — 'वे तो जो जिसके पास हैं उन्हीं की निश्राय में हैं।'

जयाचार्य ने कहा— 'मैं चाहता हूँ कि अब से पुस्तकें भी व्यक्तिगत न होकर सारे संघ की कर दी जाएं ताकि सभी समान रूप से उनका लाभ उठा सकें। अब से वा अपनी

व्यक्तिगत पुस्तक रखेगा, वह उसका भार स्वय ही उठायेगा, अपनी निश्राय की पुस्तको का भार वह अपने साथ के व्यक्तियों को नहीं दे सकेगा।"

जयाचार्य की उस अप्रत्याशित आज्ञा से सभी अग्रणी चकित हो गये। उनमें से कुछ ने नम्रतापूर्वक उस समस्या का हल जयाचार्य से ही पूछा—"वे अकेले तो इतना भार उठा नहीं सकते, अत अब उन्हें क्या करना चाहिए ? आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही करने को उद्यत हैं।"

जयाचार्य ने तब उनको बतलाया—"अपनी-अपनी पुस्तकें सघ को समर्पित कर दी जाएँ। उसके पश्चात् आवश्यकता और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए उनका सब सिंघाडों में समान-वितरण कर दिया जाएगा।"

पुस्तकें भेंट

जयाचार्य के इस कथन पर कुछ सिंघाडों ने तो अपनी पुस्तकें लाकर उसी समय समर्पित कर दी थीं, पर कुछ सिघाडों ने कुछ समय के पश्चात् समर्पित की थी। साध्वियों की पुस्तकें पहले सरदार सती को भेंट की गई थीं। फिर सरदार सती ने उन सबको जयाचार्य के चरणों में भेंट कर दिया। जयाचार्य ने किसी को बाध्य नहीं किया था, अत अपनी निश्राय की पुस्तकों का भार स्वय उठा सकने की क्षमता पर विश्वास करने वालो ने जो विलब किया था, वह कोई अपराध नहीं था। हृदय-परिवर्तन के कार्य में प्राय यह विलब सर्वत्र ही देखा जाता है। कहीं-कहीं तो इस प्रक्रिया में इतना विलम्ब भी हो जाता है कि सुधार के इस प्रकार में अनेक व्यक्तियों का विश्वास ही उठ जाता है। पर एक अहिंसक सुधारक के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा ऐसा प्रशस्त मार्ग हो नहीं सकता, जिससे कि उसके अहिंसाव्रत की सीमा को भी कोई आँच न आये और काम भी हो जाए। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन के आधार पर ही पुस्तकों को ग्रहण किया था।

समान वितरण

जो पुस्तकें उस समय जयाचार्य को समर्पित हुई, उनमें से समर्पको की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति करने के पश्चात् जो प्रतियाँ अवशिष्ट रहीं वे साध्वियों के सिंघाडो में यथावश्यक वितरित कर दी गई। उनके वितरण से पूर्व अग्रणी साध्वियों से एक मर्यादा पत्र पर हस्ताक्षर करवाये गये कि जो पुस्तकें और साध्विया उनको सौंपी जाती है वे 'पाडिहारिय' हैं। मूलत वे आचार्य की निश्राय में हैं। चातुर्मास की समाप्ति पर जब आचार्य की सेवा में आगमन हो, तव उन्हें पुन आचार्य को सौंप देना होगा। उनपर किसी प्रकार का स्थायी अधिकार नहीं रखा जा सकेगा।[1]

१—तिहा सिघाड़ा वंध सतिया कनै, अक्षर लिखाया ताय।
सूंप्या पाडियारा पुस्तक सत्यां, छै गणपति नेश्राय॥
ते चतुर्मास उतरया छता, सतिया दरसण करै जिवार।
संप देणां पुस्तक सत्यां, तिणरी ममत न करणी लिगार॥ (ज० सु० ३६-११,१२)

व्याख्यान को ही अनेक बार सुनाया करते थे। स्वामीजी को अपने प्रारम्भिक वर्षों में आहार और स्थान आदि का भी अभाव भोगना पड़ा था तो वैसी स्थिति में पुस्तकों की सुलभता की तो कल्पना करना ही व्यर्थ है।

संग्रह और तारतम्य

धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन आया। गृहस्थों के पास से तथा यतियों के उपाश्रय में संगृहीत भंडारों द्वारा पुस्तकें प्राप्त होने लगीं। साधु भी स्वयं लिखकर उस आवश्यकता की पूर्ति करने लगे। हर सिंघाड़े के साधु-साध्वियाँ जहाँ जाते वहाँ सुलभ होने पर भंडारों आदि में से शास्त्रों की गवेषणा करते। जो सिंघाड़े दूर-दूर तक विहार किया करते थे, उनको स्वभावतः ही पुस्तक-प्राप्ति के अधिक अवसर प्राप्त हो जाते थे। परन्तु जो दूर जाने की स्थिति में नहीं होते उन्हें क्षेत्र की इयत्ता के अनुरूप ही भंडारों आदि का सुयोग प्राप्त हो पाता था। इन्हीं सब कारणों के आधार पर पुस्तकों के संग्रह में काफी तरतमता उत्पन्न हो गयी थी। किसी-किसी सिंघाड़े में तो पुस्तकों की प्रचुरता हो गई थी तो किसी किसी में वही पुरातनकालीन अभाव चल रहा था। पुस्तकें होते हुए भी सुव्यवस्था के अभाव में उनका लाभ संघ के सब सदस्य नहीं उठा पा रहे थे।

जयाचार्य ने अपने युवाचार्य-काल में काफी भंडारों का निरीक्षण किया था। वहाँ से उन्होंने पुस्तकें भी बहुत प्राप्त की थीं। अपनी पुस्तकों में से काफी प्रतियाँ उन्होंने दूसरे सिंघाड़ों को प्रदान कीं फिर भी अनेक सिंघाड़े ऐसे थे जिनके पास आवश्यक पुस्तकों का अभाव था। जयाचार्य उस स्थिति को सुधारने के विषय में पहले से ही सोचते रहे प्रतीत होते हैं अतः जब संघ का भार उन्होंने संभाला तो सर्वप्रथम इसी समस्या को हाथ में लिया। उनका लक्ष्य था कि प्राप्त पुस्तकों का लाभ सब को समान रूप से मिले।

पुस्तकें किसकी ?

व्यक्तिगत शिष्य बनाने की परम्परा को तो स्वामीजी ने ही समाप्त कर दिया था पर व्यक्तिगत पुस्तकों की परम्परा चालू थी। जयाचार्य ने अपने मन में उसे मिटाने का संकल्प किया और वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों की एक सभा बुलाई। सबके उपस्थित होने पर उन्होंने अपनी साधु-साध्वियों से एक प्रश्न किया—"तुम लोगों के साथ रहने वाले साधु-साध्वियाँ किसकी निश्राय में हैं ?"

तत्काल सबने एक स्वर से उत्तर देते हुए कहा—"आचार्य देव की निश्राय में।"

तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा—"पुस्तकें किस की निश्राय में हैं ?"

उत्तर मिला—"वे तो जो जिसके पास हैं उन्हीं की निश्राय में हैं।"

जयाचार्य ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि अब से पुस्तकें भी व्यक्तिगत न होकर सारे संघ की कर दी जाएं ताकि सभी समान रूप से उनका लाभ उठा सकें। अब से जो अपनी

को अवश्य ही कठिन और अव्यवहार्य प्रतीत हुआ होगा, परन्तु आज उसकी सफलता हम सबके सामने मूर्त्त रूप से विद्यमान हैं।

(२) गाथा-प्रणाली

एक आशका

पुस्तको के सघीकरण द्वारा जहाँ सघ की स्वाध्याय-सवधी अनेक आवश्यकताओ को पूरा किया गया था, वहाँ उससे एक नई समस्या उत्पन्न होने की आशका भी थी। पहले अनेक साधु अपनी आवश्यकता के ग्रन्थ भडारों आदि से कुछ काल के लिए प्राप्त कर स्वय लिख लिया करते थे। पर पुस्तकों पर से अधिकार हट जाने के पश्चात् उनके उत्साह में कमी हो जाने की आशका थी। सव साधु जानते थे कि स्वय द्वारा लिखे जाने पर भी वह ग्रन्थ उनका न होकर सघ का ही होगा। आचार्य आवश्यकता होने पर उसे किसी दूसरे को भी दे सकेंगे। इस भावना के द्वारा लिपिको की सख्या कहीं कम न हो जाए, अत उस सभावित समस्या का समाधान शीघ्र ही खोजना आवश्यक था।

लिपि-सुधार

जयाचार्य जव लिपिकों के स्थायी आकर्पण का आधार खोज रहे थे, तव अचानक उनका ध्यान लिपि सुधार की तरफ भी गया। उन्होने अनेक प्राचीन प्रतियो के बडे ही सुन्दर अक्षर देखे थे, पर साधुजनों में वैसे सुन्दर अक्षर लिखने वालों का अभाव-सा ही था। साधारण अक्षर और अशुद्धिबहुल लिखने वाले व्यक्ति केवल सघ में पुस्तकों का भार ही बढा सकते थे। जयाचार्य चाहते थे कि मुनिजनों में सुन्दर अक्षर लिखने वाले हों। साधारण लिपि-कर्त्ताओं पर कुछ ऐसा दबाव रहे कि वे अपने अक्षरों को सुधारने के लिए स्वत प्रेरित हों।

लिपि-सुधार के उस कार्य-क्रम में पहले-पहल उन्होंने अपने ही अक्षर सुधारने का निश्चय किया। एक भगवती की प्राचीन प्रति बडे सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी। वे उसे ही 'मानक' मानकर अपने अक्षर उसके अनुरूप करने के प्रयास में लग गये। उस प्रति के अक्षरों को देख-देख कर उन्होंने कुछ ही दिनो में अपने अक्षरों में इतना सुधार कर लिया कि उनकी उस समय से पूर्व लिखित प्रतियो तथा उसके बाद लिखी गई प्रतियों में लिपिकर्त्ता के एकत्व की कल्पना करना भी कठिन हो गया। इस तरह अपने अक्षरो को सुधार लेने के पश्चात् उन्होने अन्य साधुओं को भी लिपि-सुधार के लिए प्रोत्साहित करना प्रारभ किया।

साधुओ का धन

लिखने का परिश्रम आखिर किस प्रेरणा के आधार पर स्थित किया जाए ? उसका हल भी उन्होंने एक नये रूप में ही खोज निकाला। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार ज्ञान या तपस्या साधुओं का धन गिना जाता है, उसी प्रकार इस लिपिकरण के श्रम को भी क्यों न

इस प्रकार संघीकरण का सूत्रपात हुआ। वह आगे-से-आगे बढ़ता ही गया। कुछ वर्ष तक पुस्तकों के समर्पण और वितरण की प्रक्रिया चलती रही। जब सब साधुओं ने इस योजना में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया अथवा यों कहना चाहिए कि जब सबने अपनी-अपनी पुस्तकें समर्पित कर दीं तब जयाचार्य ने सब सिंघाड़ों में उनका समान वितरण कर दिया। उसके साथ ही एक नया नियम बनाकर सब प्रतियों पर वर्तमान आचार्य की निश्राय का मुद्रांकन करने का आदेश दे दिया। प्रतियों पर मुद्रांकन प्रारंभ करने का समय संवत् १९१४ था।[1] उसके बाद से आगामी सभी प्रतियों पर वह मुद्रांकन करने का नियम प्रचलित कर दिया गया।

एक कार्य अनेक लाभ

पुस्तकों का संघीकरण यों तो केवल एक सामान्य कार्य ही दिखाई देता है पर वस्तुतः वह अपने आप में अनेक लाभ संयुक्त किये हुए एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। उस एक कार्य की संपन्नता के साथ ही संघ को अनेक लाभ प्राप्त हुए। सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण लाभ तो उसका यह था कि उससे संघ में एकता को बहुत बड़ा बल प्राप्त हुआ। उसके अतिरिक्त तरतमता की स्थिति मिटकर समता का उदय हुआ। वस्तु के उपयोग की संभावनाएँ और क्षमताएँ सीमित दायरे से निकल कर विशाल बनीं। साथ ही सामूहिक हित के लिए सोचने तथा उसके लिए अपने स्वत्व का परित्याग करने की वृत्ति का भी उदय हुआ। व्यावहारिक रूप से भी उससे अनेक लाभ प्राप्त हुए। उनमें से प्रमुख ये कहे जा सकते हैं—अध्ययन सामग्री सबके लिए सुलभ हो गई, व्यक्तिगत भार की कमी हुई, भार का समानीकरण और गाथा प्रणाली जैसी उपयोगी योजनाएँ अस्तित्व में आ सकीं।

संघीकरण अथवा समानीकरण का वह प्रथम चरणन्यास था। धर्म-संघों में तो सम्भवतः वह अपने प्रकार का प्रथम प्रयोग था ही पर अन्यत्र भी उस समय तक समानीकरण का सिद्धांत कहीं कार्य रूप नहीं ले पाया था। प्रारंभ में वह कार्य अपरिचित होने के कारण कुछ लोगों

१—उपर्युक्त अनुमान सरूपचंदजी स्वामी की प्रतियों पर लिखी गई मुद्रांकन तिथि के आधार पर है। वहाँ लिखा गया है—"सरूपचंदजी स्वामी रै निश्राय में हुंता ते सर्व पाना जयाचार्य नै भेंट कीधा। भिक्खू भारीमाल ऋषिराय जीतमल आदि गणपति में वर्तमान आचार्य री निश्राय में छै। सं १९१४ प्रथम जेठ विद ८ लिख्या छै।" यह संवत् मुद्रांकन का ही होना चाहिए, पुस्तकें भेंट करने का नहीं क्योंकि जयाचार्य द्वारा पुस्तकों के संघीकरण की घोषणा कर देने के दस-बारह वर्ष पश्चात् सरूपचंदजी स्वामी अपनी पुस्तकें भेंट करें, यह कदापि संभव नहीं है। उन्होंने अपनी पुस्तकों का समर्पण तो संभवतः उसी समय कर दिया जबकि संघीकरण का प्रारम्भ हुआ था किन्तु उस समय मुद्रांकन का नियम नहीं बना था। अतः प्रतियों पर कुछ लिखा नहीं गया था। जब यह नियम बना तब मुद्रांकन की पूर्व भूमिका के रूप में—"सरूपचंदजी स्वामी रै निश्राय में हुंता ते सर्व पाना जयाचार्य नै भेंट कीधा"—यह वाक्य लिखा गया प्रतीत होता है।

बाद में 'मर्यादा-महोत्सव' के अवसर पर ही किया जाने लगा। उस समय साधुवर्ग यथावकाश ही आचार्य के पास आया करते थे, पर 'मर्यादा-महोत्सव' प्रारम्भ कर के जयाचार्य ने उनके लिए सम्मिलित होने का एक निश्चित समय निर्धारित कर दिया था। इसलिए गाथाओ के आय-व्यय का लेखा करने में उसी समय अधिक सुविधा हो सकती थी। तब से अब तक उस कार्य के लिए कुछ साधुओ को नियुक्त कर दिया जाता रहा है और दीक्षा-वृद्ध के क्रम से या 'साझ' के क्रम से वे उस कार्य को सम्पन्न करते रहे हैं।

लेखा कराने से पहले और लेखा कराने के बाद अपना 'लेखा-पत्र' आचार्य को दिखाना पडता है। कोई भी व्यक्ति अपनी लिखित प्रति की गाथाएँ तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह आचार्य को दिखाकर उसके लिए स्वीकृति प्राप्त करले। उस स्वीकृति के पश्चात् वह उस पर सघ की मुहर लगाता है और फिर लेखाकर्त्ताओ के पास जाकर उसे जमा कराता है।

व्यक्तिगत लेखन

कोई भी साधु अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए कोई प्रति लिखना चाहे तो वह स्वतन्त्रता पूर्वक लिख सकता है। परन्तु उससे वह गाथाएँ प्राप्त नही कर सकता, न ही उस पर सघीय मुहर लगा सकता है और न उसे सघीय भार में ही रख सकता है। उसके दिवगत हो जाने के पश्चात् उसकी व्यक्तिगत प्रतियों को आचार्य आवश्यक समझें तो सघीय बना सकते हैं, अन्यथा व्यक्तिगत उपयोग के लिऐ मागने वाले को भी दे सकते हैं। किसी के न लेने पर वे स्वय सघीय बन जाती हैं। खराब अक्षर लिख लाने पर या अनावश्यक प्रति लिख लाने पर जो प्रति अस्वीकृत कर दी जाती है, वह भी उसके अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही रह जाती है। वह उसे किसी दूसरे साधु को प्रदान भी कर सकता है।

वस्तु-विनिमय का माध्यम

धीरे-धीरे वह प्रणाली विकास करती रही और उसमे अनेक पूरक बातें जुडती चली गई। जब वह मुनि-जनों के परस्पर वस्तु-विनिमय का माध्यम बनी, तब उसे धन का व्यावहार्य रूप भी प्राप्त हो गया। इस माध्यम से व्यक्तिगत प्रतियों का आदान-प्रदाम किया जा सकता है। जो व्यक्ति स्वय नहीं लिख सकते, परन्तु किसी ग्रन्थ को व्यक्तिगत रूप से अपनी निश्राय में रखना चाहते हैं तो वे यथावश्यक गाथाएँ देकर किसी से भी यथेष्ट प्रतियाँ प्राप्त कर सकते हैं।

कार्य और गाथाएँ

कालान्तर में व्यक्तिगत तथा समुच्चय के कार्यों का भी मूल्य गाथाओ में निश्चित होने लगा। एक व्यक्ति दूसरे का कार्य निर्जरार्थिता से तो करता ही था, पर वह गाथाओ के माध्यम से भी किया जाने लगा। प्रत्येक कार्य का भाव लेने वालों तथा देने वालों की सख्या के आधार पर घटता वढता रहा है। कुछ कार्य ऐसे भी हैं जिनके भाव राज्य की ओर से नियन्त्रित रहते हैं। वैसे कार्यों में सिलाई, रंगाई आदि कार्य प्रमुख हैं।

उनका श्रम मिल लिया जाए ? इसका सम्बन्ध ज्ञान और तपस्या दोनों से ही है। ज्ञान का वहाँ यह एक उत्कृष्ट साधन है वहाँ मनो-योग की एकाग्रता का भी उत्तम साधन होने के कारण तथा सद् क्रिया होने के कारण तपस्या के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार इसे साधु का श्रम मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उनका यह कार्य गाथा प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः इसे अकिंचन साधुओं की एक अभूत पूर्व 'अर्थ-प्रणाली' कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

'गाथा' शब्द शास्त्रीय है और एक पद्य विशेष का द्योतक है। परन्तु जयाचार्य ने उसे बत्तीस अक्षर प्रमाण का गद्य लेखन के तथा किसी भी एक पद्य लेखन के अर्थ में प्रयुक्त किया है। उन्होंने गाथा प्रणाली को प्रचलित करते हुए यह स्थापना की कि जो साधु जितनी गाथाएँ लिखेगा वे उसकी जमा कर दी जायेंगी, परन्तु लिपि-कर्ताओं के अक्षर पहले से आचार्य द्वारा स्वीकृत किये जाने चाहिए, तथा लेख्य ग्रन्थ भी स्वीकृत होना चाहिए।

अग्रगामियों पर कर

इतना कर देने पर भी उनके सामने यह समस्या थी कि कोई क्यों उन गाथाओं को एकत्रित करने का प्रयास करेगा ? अनुपयोगी वस्तु को संग्रहीत करने की किसी को इच्छा होगी भी तो क्यों ? आखिर उन्होंने उसके उपयोग के लिए एक उपाय तो यह किया कि सब अग्रणी साधुओं पर उनके अग्रणीकाल में प्रतिदिन के हिसाब से पच्चीस गाथाओं का 'कर' लगा दिया। दूसरा यह किया कि गाथाओं और कार्यों का सम्बन्ध जोड़ दिया। कोई भी साधु किसी रोगी साधु की एक दिन सेवा करके पचीस गाथाएँ प्राप्त कर सकता है। अर्थात् रोगी की एक दिन की सेवा और पचीस गाथाओं का लेखन—ये दोनों कार्य उस व्यवस्था के बराबर गिन लिये गये। धीरे-धीरे अन्य कार्यों को भी गाथाओं के साथ समरूपता बैठती गई। पर एक सेवा कार्य को छोड़कर अन्य कार्यों में भावों का उतार चढ़ाव होता रहा है।

यद्यपि सेवा और गाथाओं की यों समरूपता कर दी गई थी पर इसमें यह भय उत्पन्न होने की गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी थी कि किसी समय सभी साधुओं के पास गाथाएँ जमा होंगी तो रोगी साधु की सेवा कौन करेगा ? सेवा कार्य का महत्व गाथाओं से सदैव ऊपर समझा जाता रहा है। उसके लिए तो यह अलग ही नियम है कि रोगी साधु के लिए आवश्यकता होने पर आचार्य उसकी सेवा के लिए किसी भी साधु को भेज सकते हैं। उस कार्य के लिए इनकार करने का किसी भी साधु को अधिकार नहीं है। कितनी भी गाथाएँ जमा क्यों न हो फिर भी आवश्यकता होने पर उसके लिए सेवा-कार्य तो अनिवार्य ही है। इतना अवश्य है कि जिसने सेवा की हो उसके नाम से प्रतिदिन पचीस गाथाओं के हिसाब से गाथाएँ जमा कर दी जाती हैं।

गाथाओं का लेखा

गाथाओं की इस पूंजी का लेखा प्रारम्भ में तो यथावसर हो जाया करता होगा पर

बाद में 'मर्यादा-महोत्सव' के अवसर पर ही किया जाने लगा। उस समय साधुवर्ग यथावकाश ही आचार्य के पास आया करते थे, पर 'मर्यादा-महोत्सव' प्रारम्भ कर के जयाचार्य ने उनके लिए सम्मिलित होने का एक निश्चित समय निर्धारित कर दिया था। इसलिए गाथाओ के आय-व्यय का लेखा करने में उसी समय अधिक सुविधा हो सकती थी। तब से अब तक उस कार्य के लिए कुछ साधुओ को नियुक्त कर दिया जाता रहा है और दीक्षा-वृद्ध के क्रम से या 'साझ' के क्रम से वे उस कार्य को सम्पन्न करते रहे हैं।

लेखा कराने से पहले और लेखा कराने के बाद अपना 'लेखा-पत्र' आचार्य को दिखाना पडता है। कोई भी व्यक्ति अपनी लिखित प्रति की गाथाएँ तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह आचार्य को दिखाकर उसके लिए स्वीकृति प्राप्त करले। उस स्वीकृति के पश्चात् वह उस पर सघ की मुहर लगाता है और फिर लेखाकर्त्ताओ के पास जाकर उसे जमा कराता है।

व्यक्तिगत लेखन

कोई भी साधु अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए कोई प्रति लिखना चाहे तो वह स्वतन्त्रता पूर्वक लिख सकता है। परन्तु उससे वह गाथाएँ प्राप्त नही कर सकता, न ही उस पर सघीय मुहर लगा सकता है और न उसे सघीय भार में ही रख सकता है। उसके दिवगत हो जाने के पश्चात् उसकी व्यक्तिगत प्रतियो को आचार्य आवश्यक समझें तो सघीय बना सकते हैं, अन्यथा व्यक्तिगत उपयोग के लिए मागने वाले को भी दे सकते हैं। किसी के न लेने पर वे स्वय सघीय बन जाती हैं। खराब अक्षर लिख लाने पर या अनावश्यक प्रति लिख लाने पर जो प्रति अस्वीकृत कर दी जाती है, वह भी उसके अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही रह जाती है। वह उसे किसी दूसरे साधु को प्रदान भी कर सकता है।

वस्तु-विनिमय का माध्यम

धीरे-धीरे वह प्रणाली विकास करती रही और उसमे अनेक पूरक बातें जुडती चली गईं। जब वह मुनि-जनों के परस्पर वस्तु-विनिमय का माध्यम बनी, तब उसे धन का व्यावहार्य रूप भी प्राप्त हो गया। इस माध्यम से व्यक्तिगत प्रतियों का आदान-प्रदान किया जा सकता है। जो व्यक्ति स्वयं नहीं लिख सकते, परन्तु किसी ग्रन्थ को व्यक्तिगत रूप से अपनी निश्राय में रखना चाहते है तो वे यथावश्यक गाथाएँ देकर किसी से भी यथेष्ट प्रतियाँ प्राप्त कर सकते हैं।

कार्य और गाथाएँ

कालान्तर में व्यक्तिगत तथा समुच्चय के कार्यों का भी मूल्य गाथाओ में निश्चित होने लगा। एक व्यक्ति दूसरे का कार्य निर्जरार्थिता से तो करता ही था, पर वह गाथाओं के माध्यम से भी किया जाने लगा। प्रत्येक कार्य का भाव लेने वालों तथा देने वालों की सख्या के आधार पर घटता बढता रहा है। कुछ कार्य ऐसे भी है जिनके भाव राज्य की ओर से नियन्त्रित रहते हैं। वैसे कार्यों में सिलाई, रंगाई आदि कार्य प्रमुख हैं।

उत्तराधिकार

अपने जीवन-काल में जमा की गई गाथाओं का प्रत्येक व्यक्ति यथेष्ट उपयोग कर सकता है। वह जहाँ उन्हें अपने कार्य में व्यय कर सकता है वहाँ दूसरे किसी को प्रदान भी कर सकता है। परन्तु उस में उसे आचार्य की आज्ञा लेनी आवश्यक होती है। गाथाओं की यह पूंजी स्वयं के जीवन-काल तक के लिए ही होती है उसके पश्चात् उसका उत्तराधिकार किसी दूसरे को नहीं मिलता। व्यक्ति की मृत्यु के साथ ही उसका लेखा समाप्त समझा जाता है।

साध्वियों पर कर

जयाचार्य के समय में बहुत कम साध्वियाँ लिपि कर सकने वाली थीं। इसलिए उनसे 'कर' के रूप में गाथाओं का लेना संभव नहीं था। अतः साध्वियों के प्रत्येक सिंघाड़े पर एक रजोहरण एक प्रमार्जनी और प्रति साध्वी एक-एक डोरी बना लाने का भार दिया गया। साधुओं से कर के रूप में ली जाने वाली प्रतियाँ आवश्यकतानुसार साध्वियों को दे दी जातीं और साध्वियों से 'कर' के रूप में लिए हुए रजोहरण आदि साधुओं को दे दिये जाते। यह सब विनिमय स्वतंत्ररूप से कोई नहीं कर सकता। साधु-साध्वियाँ द्वारा अपनी-अपनी वस्तुएँ आचार्य को सौंप दी जाती हैं और फिर आचार्य उन्हें यथावश्यक वितरित कर देते हैं।

साम्यभाव का आनन्द

इस प्रकार जयाचार्य द्वारा प्रवर्तित 'गाथा प्रणाली' की यह योजना तेरापंथ-संघ के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। दूरदर्शी जयाचार्य ने इस एक योजना के आधार पर संघ के सारे लिपि-प्रकार को ही नहीं सुधार दिया अपितु व्यक्तिगत पुस्तक-संपत्ति का समाजीकरण करके संसार के साधु-संघों के सम्मुख एक आदर्श पद्धति उपस्थित कर गये। और संसार जब समाजवादी विचारों की प्रसव-पीड़ा में ही था तब उन्होंने अपने संघ में इसकी स्थापना करके अपनी विचार-शक्ति की अग्रगामिता भी सिद्ध कर दी। तेरापंथ ने इस योजना के द्वारा अच्छे लिपिकार, अच्छे ग्रंथ, अच्छा वितरण और वस्तु का अच्छा उपयोग प्राप्त किया है। सबसे अधिक उसने इस योजना द्वारा साम्यभाव का आनन्द प्राप्त किया है।

(१) आहार-संविभाग

प्रारंभिक रूप

आहार-संविभाग के विषय में स्वामीजी के समय में भी पद्धति तो यही चालू थी कि थोड़ा या अधिक जितना भी आहार आया हो उसे सब बराबर-बराबर बाँट कर खाते थे। पर उस समय प्रारम्भिक अवस्था में साध्वियाँ कम थीं और साधु अधिक। थोड़े व्यक्ति होने के कारण पूरा आहार मिल सकने की संभावनाएं कम रहती थीं अतः साधु तथा साध्वियों द्वारा गोचरी करके जो आहार लाया जाता वह स्वामीजी के सामने रख दिया जाता था। साध्वियाँ कम थीं अतः उन्हें कम आहार की आवश्यकता पड़ती थी। गोचरी में जो अधिक आता था वह साधु

अपने स्थान पर रख लेते थे और अवशिष्ट आहार साध्वियाँ अपने स्थान पर लाकर सविभाग करके अथवा मिलकर खा लेती थीं।

परिवर्त्तन की आवश्यकता

प्रारम्भिक वर्षों में वह व्यवस्था एक आवश्यकता थी, परन्तु बाद में उसने परिपाटी का रूप ले लिया। हर सामयिक व्यवस्था इसी प्रकार से एक न एक दिन परम्परा बनती रही है। परन्तु सावधान व्यक्ति हर परम्परा को तब तक के लिए ही पोषण देते हैं, जब तक कि वह आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है। जब उसमे से वह सामर्थ्य समाप्त हो जाती है और वह निपट परम्परा ही रह जाती है, तब उसे बदल देना भी उनका कार्य रहा है। आहार-सविभाग सम्बन्धी व्यवस्था का वह रूप ऋषिराय तक ही चालू रह सका। उस समय तक साध्वियों की सख्या साधुओं से कही अधिक हो चुकी थी। अत: पूर्व व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता अनुभूत की जाने लगी। साध्वियाँ जब अवशिष्ट आहार ग्रहण किया करती थीं, तब उससे सविभाग की स्थिति ठीक मेल नही खाती थी। जयाचार्य जो कि साम्यभाव के प्राण-प्रतिष्ठापक थे, अपनी सूक्ष्म-ग्राहिणी दृष्टि से उस 'असाम्य' को ओझल नही कर सकते थे। पुस्तको आदि के साम्य की तरह वे उसमें भी साम्य लाना चाहते थे। अपने शासन-काल के प्रथम वर्ष में ही उन्होंने उस विषय पर चिंतन किया और सविभाग स्थापित करने के लिए उपाय सोचा। जयपुर के अपने प्रथम चातुर्मास की समाप्ति पर जब वे किशनगढ में आये, तब वहाँ एकत्रित हुए साधु-साध्वियो में उसे आजमाने का विचार किया।

कवलानुसारी विभाग

आगम में पुरुष के लिए बत्तीस कवल और स्त्री के लिए अट्ठाईस कवल आहार परिपूर्ण बतलाया गया है। उसी आधार पर मर्यादा बनाकर जयाचार्य ने साधु-साध्वियों को बतलाया कि अब से जो आहार आये, उसे प्रति साधु के लिए बत्तीस कवल और प्रति साध्वी के लिए अट्ठाईस कवल को इकाई मानकर विभक्त कर लिया जाए। तब से जो आहार आता, उसे उपर्युक्त अनुपात से साधु विभक्त कर देते और साध्वियाँ अपने विभाग का आहार लेकर बड़ी साध्वी के स्थान पर दीक्षा वृद्ध के क्रम से परस्पर विभक्त कर लिया करती।[1]

१—तिहां समण सत्यां रै स्वामजी, बांधी एक मरजाद।
सतियां नै आहार देवातणी, कोई पुष्ट प्रयोजन लाध॥
कह्यो सूत्र में पुरुष नैं, बतीस कवल नों आहार।
स्त्री नों कवल अठवीसनों, ए समय-वचन अनुसार॥
तिण प्रमाण श्रमण्यां भणी, आहार देणो ठैरायो स्वाम।
इम आहार लेई सतियां करै, पांती बड़ी रै ठाम॥ (ज० सु० ३९-९ से ११)

उस शीतकाल में यह क्रम चलता रहा पर कवल के अनुपात से आहार को प्रतिदिन विभक्त करना सहज कार्य नहीं था। दर्शन के लिए आने तथा फिर विहार करने से साधु साध्वियों की संख्या में परिवर्तन आता रहता था। याचना से गृहीत आहार के प्रमाण में भी प्रतिदिन अंतर आना प्रायः निश्चित और स्वाभाविक ही था। इससे हमेशा नये सिरे से हिसाब लगाकर ठीक अनुपात निकालना पड़ता था।[1] आहार-संविभाग की नई योजना का यह प्रथम प्रयोग ही था अतः उसमें अनेक कमियों का होना कोई बड़ी बात नहीं थी।

समान विभाग

अगले चातुर्मास (संवत् १९१ नाथद्वारा) में उस पद्धति में फिर परिवर्तन किया गया। तब बत्तीस और अट्ठाईस कवलों के अनुपात को हटाकर सब के लिए समान विभाग का नियम बना दिया गया।[2] यद्यपि उसमें धीरे-धीरे कुछ पूरक-सुधार भी पीछे से होते रहते थे, परन्तु उपर्युक्त मौलिक परिवर्तन काफी बड़ा और स्थायी रूप लेकर आया था वह लगभग सौ वर्षों तक साधारण परिवर्तनों के साथ अपने मूलरूप में बहुत ही सफलतापूर्वक चलता रहा।[3]

साझ-व्यवस्था

जयाचार्य ने पूर्वोक्त आहार-व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने के दृष्टिकोण से साधुओं के पृथक्-पृथक् मंडल स्थापित कर दिये। उन मंडलों का प्रचलित नाम 'साझ' दिया गया। प्रत्येक 'साझ' में एक व्यक्ति को मुखिया स्थापित किया गया और उसकी आहार-विषयक

१—कवलानुसारी अनुपात में यदि साधु को एक पांती में चार फुलके मिले जाते तो साध्वी को एक पांती में साढ़े तीन। इसी आधार पर जितने साधु-साध्वियां होते उनका हिसाब निकाल लिया जाता।

२—दीपमाल पछै दिन ग्यारति रयो समच सर्या रे सारी।
पांती आहार नीं साधुनी बरोबर, ए रीत ठहराई भारी॥
धणी स मुनिवर में ठिकाण पांती सगल थांपारी।
अट्ठाईस बत्तीस कवल न तोल्या उगार मग उतारी॥

३—लगभग सौ वर्षों के पश्चात् आचार्य श्री तुलसी ने उस व्यवस्था में परिवर्तन किया है। परिवर्तन के प्रथम चरण के अनुसार साधु साध्वियों को आहार एकत्रित करके विभक्त करने की आवश्यकता नहीं रही। साधुओं द्वारा लाया गया आहार साधुओं के स्थान पर और साध्वियों द्वारा लाया गया आहार साध्वियों के स्थान पर विभक्त कर दिया जाने लगा। परिवर्तन के द्वितीय चरण के अनुसार अब समस्त साधुओं के तथा समस्त साध्वियों के आहार को भी एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं रही। [illegible] अपने [illegible] लाये हुए आहार [illegible] है उसे विभक्त करके अपना [illegible] में [illegible] कर लिया जाता है।

व्यवस्था का सारा उत्तरदायित्व उस पर स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त साझ के सब सन्तों की देख-रेख का भार भी उसी व्यक्ति को सौंपा गया।

घडा-व्यवस्था

साझ की उस व्यवस्था के बाद यह पता लगाना सहज हो गया कि आज के लिए साधुओं को कितना आहार चाहिए। गोचरी में आहार अधिक न आने पाये, इसके लिये प्रत्येक साझपति से उनके साझ की आवश्यकता की एक स्थूल 'कूत' प्राप्त करने का विचार हुआ। उसके लिये भोजन सम्बन्धी द्रव्यो के कुछ नाम निश्चित कर दिये गये। शेष द्रव्यों को भी उन्हीं निश्चित नामों के अन्तर्गभित कर दिया गया। एक पत्र पर भोजन-द्रव्यो की निश्चित सूची लिखकर प्रत्येक साझपति के नाम से उसमें कोष्ठक कर दिये गये। उस पत्र का नाम दिया गया 'घडा'।

एक व्यक्ति दीक्षा-क्रमानुसार अपनी-अपनी बारी पर साझपतियों के पास प्रतिदिन 'घडा' लिखाने के लिये जाता और साझपति अपने नाम के कोष्ठक में भोजन-द्रव्यों के सामने अपने मडल के सब व्यक्तियों के लिए अनुमानित आवश्यक सामग्री को अको में लिख दिया करता इसे 'पाती' (हिस्सा) कहा जाने लगा। एक व्यक्ति के लिए किसी भी भोजन-द्रव्य की एक से अधिक पाती नही लिखी जा सकतो, कम लिखी जा सकती थी।

घडा लिखाने वाला व्यक्ति पाती के सब अको का योग लगा देता और उस पत्र को दूसरे निर्धारित व्यक्ति को सौप देता। इसी प्रकार का एक पत्र साध्वियों के यहाँ से भी उस व्यक्ति के पास आ जाया करता और वह एक तीसरे पत्र पर उन दोनों पत्रों पर दी गई जोड को सन्तों और सतियों के नाम से किये गये कोष्ठकों में उतार लेता और 'चौक'[1] के आधार पर उन सब को जोड कर आचार्यदेव के सम्मुख उपस्थित कर देता। यह सारा कार्य नियमत गोचरी के समय से पहले-पहले हो जाया करता। गोचरी के लिए जाने वाले साधु आचार्य के पास आते और आचार्य उन्हें उस तीसरे पत्र ("चौका का घडा') के आधार पर आहार लाने की अनुमानित मात्रा बतला देते।

बाँटने की व्यवस्था

गोचरी से आये हुए आहार का लिखित पाती के आधार पर विभाग कर सब में बाँट देने के लिए भी बारी-बारी के चार साधु नियुक्त रहते। वे साधु लाये हुए आहार को गिनते भी, ताकि अधिक ले आने वाले को आगे के लिए सावधान कर दिया जा सके। गोचरी के लिए गये हुए सब सन्त-सतियों के आ जाने पर दीक्षा-वृद्ध 'साझ' के क्रम से पाती रखानी शुरू कर दी जाती। 'बाँटना' करने वालों के पास चौको का घडा रहता और अपने-अपने साझो की पाती देखने के लिए साधुओं के पास साधुओ का घडा और साध्वियों के पास साध्वियों का

[1]—चार के एक समूह को 'चौक' कहा जाता है। उसमें चार पांतियों को एक अक में लिखा जाता था।

उस शीतकाल में यह क्रम चलता रहा पर कवल के अनुपात से आहार को प्रतिदिन विभक्त करना सहज कार्य नहीं था। दर्शन के लिए आने तथा फिर विहार करते से साधु साध्वियों की संख्या में परिवर्तन आता रहता था। याचना से गृहीत आहार के प्रमाण में भी प्रतिदिन अंतर आना प्राय निश्चित और स्वाभाविक ही था। इससे हमेशा नये सिरे से हिसाब लगाकर ठीक अनुपात निकालना पड़ता था।[1] आहार-संविभाग की नई योजना का यह प्रथम प्रयोग ही था अतः उसमें अनेक कमियों का होना कोई बड़ी बात नहीं थी।

समान विभाग

अगले चातुर्मास (संवत १९११ नाथद्वारा) में उस पद्धति में फिर परिवर्तन किया गया। तब बत्तीस और अट्ठाईस कवलों के अनुपात को हटाकर सब के लिए समान विभाग का नियम बना दिया गया। यद्यपि उसमें धीरे-धीरे कुछ पूरक-सुधार भी पीछे से होते रहते थे, परन्तु उपर्युक्त मौलिक परिवर्तन काफी बड़ा और स्थायी रूप लेकर आया था। वह लगभग सौ वर्षों तक साधारण परिवर्तनों के साथ अपने मूलरूप में बहुत ही सफलतापूर्वक चलता रहा।[2]

साझ-व्यवस्था

जयाचार्य ने पूर्वोक्त आहार-व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने के दृष्टिकोण से साधुओं के पृथक्-पृथक् मंडल स्थापित कर दिये। उन मंडलों का प्रचलित नाम 'साझ' दिया गया। प्रत्येक 'साझ' में एक व्यक्ति को मुखिया स्थापित किया गया और उसकी आहार-विभाग

१—कवलानुसारी अनुपात में यदि साधु की एक पांती में चार फुलके गिने जाते तो साध्वी की एक पांती में साढ़े तीन। इसी आधार पर जितने साधु-साध्वियाँ होते उनका हिसाब निकाल लिया जाता।

२—दीपमाल पछै दिन गणपति रचीं समण सत्यां रै सारी।
पांती आहार नी सगली बरोबर, ए रीत ठहराई भारी॥
कमी ते मुनिवर नें ठिकाणे पांती सगर अधिकारी।
अट्ठाईस बत्तीस कवल न राख्या अमर दग उधारी॥

३—लगभग सौ वर्षों के पश्चात् आचार्य श्री तुलसी ने उस व्यवस्था में परिवर्तन किया है। परिवर्तन के प्रथम दौर के अनुसार साधु साध्वियों को आहार एकत्रित करके विभक्त करने की आवश्यकता नहीं रही। साधुओं द्वारा लाया गया आहार साधुओं के स्थान पर और साध्वियों द्वारा लाया गया आहार साध्वियों के स्थान पर विभक्त कर दिया जाने लगा। परिवर्तन के द्वितीय दौर के अनुसार अब समस्त साधुओं के तथा समस्त साध्वियों के आहार का भी एकत्र करने की आवश्यकता नहीं रही। केवल अपने 'साझ' अथवा सिंघाड़े का आहार सम्मिलित आता है उसे विभक्त करके अथवा अविभक्त रख के यथारुचि कर लिया जाता है।

जयाचार्य ने अनुभव किया था कि साधु-सघ में कुछ ऐसे कार्य है जो व्यक्ति के न होकर सघ के हैं। उन्हें यदि नियमित रूप नही दिया गया तो कभी तो एक काम के लिए अनेक व्यक्ति उपस्थित हो सकते है और कभी एक भी नही। जो कार्य करता है उसके मन में भी यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि वार-वार मुझे ही क्यो करना पडता है और जो आलसी होते है वे यह सोच सकते है कि जव तक दूसरे कर रहे है तव तक हमें हाथ लगाने की भी क्या आवश्यकता है। ऐसी स्थिति जव लम्वे काल तक चलती है तव हर कोई उन सामूहिक कार्यों से विरक्त हो जाता है। हर कोई यह सोचने लग जाता है कि मेरे पर ही कौन-सा भार है ? मैं नही करूँगा तो स्वय कोई दूसरा कर लेगा।

थोड़े व्यक्ति, थोड़ा काम

स्वामी भीखणजी के समय में कार्य-विषयक यह क्रम चालू था कि सामूहिक कार्यो पर जव जिसका ध्यान जाता, वह उन्हें तभी सम्पन्न कर देता। कुछ कार्य ऐसे भी थे, जिनको दीक्षा में सवसे छोटा साधु कर लिया करता। उस समय के लिए वह क्रम चल सकने वाला था। थोडे ही साधु थे, अत जव वे एकत्रित होते तव भी कार्य-भार बहुत अधिक नही होता था। पर जयाचार्य के समय तक साधुओं की सख्या काफी बढ गई थी। जब वे सब सम्मिलित होते तव कार्य-भार का वढना स्वाभाविक ही था। उन दिनों कार्य की मात्रा तथा कार्य की सख्या, दोनो ही बढ़ जाया करती थी।

श्रम मे साम्य

आहार-सविभाग की परिपाटी चालू होने के पश्चात् अनेक नये काम भी रूप ग्रहण करने लगे थे। उन सभी कार्यों को सुचारु रूप प्रदान करना और उनको चालू रह सकने जैसी भूमिका प्रदान करना आवश्यक था। जयाचार्य की प्रतिभा उस विपय में चिंतन किये बिना कैसे रह सकती थी ? उन्होने अपने स्वभावानुसार उस विषय में भी सोचा और दीर्घकालीन हल निकाला। उन्होने सभी सामूहिक कार्यों को बारी-बारी से करने का नियम बनाया। उस व्यवस्था से साधु-सघ में श्रम का भी साम्य स्थापित हुआ।

आहार-सविभाग सबधी सारे कार्यों को जब बारी-बारी से करने का नियम बना तभी से हर कार्य के लिए वही परिपाटी चालू की जाने की भावना का बीजारोपण हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि श्रम के सम-विभाजन विषयक समय का कही उल्लेख नही है फिर भी श्रुतानुश्रुति से यह सर्व-विदित है कि जयाचार्य के समय में ही इसका व्यवस्थित विभाजन हुआ था।

तीन प्रकार

सामूहिक कार्य तीन प्रकार के समझे जा सकते हैं कुछ 'समुच्चय' के, कुछ 'साझ' के तथा कुछ उनसे अतिरिक्त। समुच्चय के कार्यो में से हर कार्य हर व्यक्ति को अपनी-अपनी वारी पर

पड़ा रहा करता। पाती रखाने का यह कार्य बहुत थोड़ी देर में सम्पन्न हो जाता। साधु साध्वियां अपने-अपने साम्भ की पातियों को अपने निर्धारित स्थानों पर ले जाकर आहार करते। बांटने की बारी वाले सन्त समुच्चय के उस स्थान को जहाँ कि सबके लिए आहार का संविभाग किया जाता साफ करने के बाद सबसे पीछे आहार किया करते।

टहुका

आहार करते समय प्रत्येक साम्भ में 'टहुका' सुनाया जाता। आहार के संविभाग में निष्ठा पैदा करने के लिए यह जयाचार्य द्वारा किया गया था। कुछ समय तक यह क्रम चलता रहा मालूम देता है। बाद में जब पाती के भोजन में सबकी वृत्ति निष्ठाशील हो गई तब उसे सुनाना बन्द कर दिया गया।

सर्व प्रियता

चातुर्मास समाप्ति के बाद जयाचार्य जब उदयपुर पधारे थे, तब वहाँ इकत्तालीस सन्त और एक-सौ तीन सतियाँ एकत्रित हो गई थीं। यों एक सौ चौवालीस व्यक्तियों के आहार का संविभाग उसी क्रम के आधार पर किया जाता और थोड़े ही समय में सम्पन्न कर दिया जाता था। लगता है कि यह क्रम थोड़े ही समय में सब में प्रिय हो गया था। प्रारम्भ में चौक की पाती केवल सन्त ही अपनी बारी से किया करते पर बाद में सतियों की भी बारी कर दी गई थी। सतियों की बारी कब से चालू हुई इसका उल्लेख देखने में नहीं आया, पर यह क्रम संघ में काफी पूर्व से ही चल पड़ा था।

'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'—शास्त्रकारों के इस कथन को जयाचार्य की इस योजना ने इतना स्वाभाविक बना दिया था कि असंविभाग का कहीं स्थान ही नहीं रहने पाया था। आहार-संविभाग की यह योजना आद्योपान्त उनकी मौलिक सूझ से ही उत्पन्न हुई थी। इस योजना ने संघ का बहुत बड़ा हित-साधन किया और सबको समान भाव से रहने के लिए एक सम्मानपूर्ण वातावरण तैयार किया।

(४) श्रम का सम विभाजन

कार्य और कर्ता

व्यक्ति अपने कार्य को बड़ी सावधानी से करता है पर जब उसे समूह संघ या समाज का काम करना पड़ता है तब वह उतनी उत्तरदायित्वपूर्ण भावना से उस पर अमल नहीं करता जितनी कि उससे अपेक्षा की जाती है। उस समय तो और भी अधिक आपाधापी या अव्यवस्थापूर्ण स्थिति हो जाती है जब कि उस कार्य के लिए उस पर कोई दबाव या नियंत्रण नहीं होता। तभी स्थिति में कुछ व्यक्तियों पर कार्य का भार बहुत अधिक आ जाता है तथा कुछ व्यक्ति उससे साफ-साफ बच जाते हैं। यह स्थिति धीरे-धीरे समाज में अनिश्चितता ला देती है।

जयाचार्य ने अनुभव किया था कि साधु-सघ में कुछ ऐसे कार्य है जो व्यक्ति के न होकर सघ के हैं। उन्हें यदि नियमित रूप नही दिया गया तो कभी तो एक काम के लिए अनेक व्यक्ति उपस्थित हो सकते है और कभी एक भी नही। जो कार्य करता है उसके मन में भी यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि बार-बार मुझे ही क्यो करना पडता है और जो आलसी होते है वे यह सोच सकते हैं कि जब तक दूसरे कर रहे हैं तब तक हमें हाथ लगाने की भी क्या आवश्यकता है। ऐसी स्थिति जब लम्बे काल तक चलती है तब हर कोई उन सामूहिक कार्यों से विरक्त हो जाता है। हर कोई यह सोचने लग जाता है कि मेरे पर ही कौन-सा भार है ? मैं नही करूँगा तो स्वय कोई दूसरा कर लेगा।

थोड़े व्यक्ति, थोड़ा काम

स्वामी भीखणजी के समय में कार्य-विषयक यह क्रम चालू था कि सामूहिक कार्यो पर जब जिसका ध्यान जाता, वह उन्हें तभी सम्पन्न कर देता। कुछ कार्य ऐसे भी थे, जिनको दीक्षा में सबसे छोटा साधु कर लिया करता। उस समय के लिए वह क्रम चल सकने वाला था। थोडे ही साधु थे, अत जब वे एकत्रित होते तब भी कार्य-भार बहुत अधिक नही होता था। पर जयाचार्य के समय तक साधुओ की सख्या काफी बढ गई थी। जब वे सब सम्मिलित होते तब कार्य-भार का बढना स्वाभाविक ही था। उन दिनों कार्य की मात्रा तथा कार्य की सख्या, दोनो ही बढ़ जाया करती थी।

श्रम मे साम्य

आहार-सविभाग की परिपाटी चालू होने के पश्चात् अनेक नये काम भी रूप ग्रहण करने लगे थे। उन सभी कार्यों को सुचारु रूप प्रदान करना और उनको चालू रह सकने जैसी भूमिका प्रदान करना आवश्यक था। जयाचार्य की प्रतिभा उस विषय में चिंतन किये बिना कैसे रह सकती थी ? उन्होने अपने स्वभावानुसार उस विषय में भी सोचा और दीर्घकालीन हल निकाला। उन्होने सभी सामूहिक कार्यों को बारी-बारी से करने का नियम बनाया। उस व्यवस्था से साधु-सघ में श्रम का भी साम्य स्थापित हुआ।

आहार-सविभाग सबधी सारे कार्यों को जब बारी-बारी से करने का नियम बना तभी से हर कार्य के लिए वही परिपाटी चालू की जाने की भावना का बीजारोपण हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि श्रम के सम-विभाजन विषयक समय का कही उल्लेख नही है फिर भी श्रुतानुश्रुति से यह सर्व-विदित है कि जयाचार्य के समय में ही इसका व्यवस्थित विभाजन हुआ था।

तीन प्रकार

सामूहिक कार्य तीन प्रकार के समझे जा सकते है कुछ 'समुचय' के, कुछ 'साझ' के तथा कुछ उनसे अतिरिक्त। समुच्चय के कार्यो मे मे हर कार्य हर व्यक्ति को अपनी-अपनी बारी पर

पड़ा रहा करता। पाँती रखाने का यह कार्य बहुत थोड़ी देर में सम्पन्न हो जाता। साधु-साध्वियाँ अपने-अपने साझ की पातियों को अपने निर्धारित स्थानों पर ले जाकर आहार करते। बाँटने की बारी वाले सन्त समुच्चय के उस स्थान को जहाँ कि सबके लिए आहार का संविभाग किया जाता साफ करने के बाद सबसे पीछे आहार किया करते।

टहुका

आहार करते समय प्रत्येक साझ में 'टहुका' सुनाया जाता। आहार के संविभाग में निष्ठा पैदा करने के लिए वह जयाचार्य द्वारा लिखा गया था। कुछ समय तक यह क्रम चलता रहा मालूम देता है। बाद में जब पाँती के भोजन में सबकी वृत्ति निष्ठाशील हो गई तब उसे सुनाना बन्द कर दिया गया।

सर्व प्रियता

चातुर्मास-समाप्ति के बाद जयाचार्य जब उदयपुर पधारे थे तब वहाँ इकतालीस सन्त और एक-सौ तीन सतियाँ एकत्रित हो गई थीं। यों एक-सौ चौवालीस व्यक्तियों के आहार का संविभाग उसी क्रम के आधार पर किया जाता और थोड़े ही समय में सम्पन्न कर दिया जाता था। लगता है कि यह क्रम थोड़े ही समय में सब में प्रिय हो गया था। प्रारम्भ में चौक की पाँती केवल सन्त ही अपनी बारी से किया करते पर बाद में सतियों की भी बारी कर दी गई थी। सतियों की बारी कब से चालू हुई इसका उल्लेख देखने में नहीं आया, पर यह क्रम संघ में काफी पूर्व से ही चल पड़ा था।

'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'— शास्त्रकारों के इस वचन को जयाचार्य की इस योजना ने इतना स्वाभाविक बना दिया था कि असंविभाग का कहीं स्थान ही नहीं रहने पाया था। आहार-संविभाग की यह योजना आद्योपान्त उनकी मौलिक सूझ से ही उत्पन्न हुई थी। इस योजना ने संघ का बहुत बड़ा हित-साधन किया और सबको समान भाव से रहने के लिए एक सम्मानपूर्ण वातावरण तैयार किया।

(४) श्रम का सम विभाजन

कार्य और कर्त्ता

व्यक्ति अपने कार्य को बड़ी सावधानी से करता है पर जब उसे समूह, संघ या समाज का काम करना पड़ता है तब वह उतनी उत्तरदायित्वपूर्ण भावना से उस पर ध्यान नहीं देता जितनी कि उससे अपेक्षा की जाती है। उस समय तो और भी अधिक लापरवाही या प्रमाद स्वाभाविक निर्मित हो जाती है जब कि उस कार्य के लिए उस पर कोई दबाव या नियंत्रण नहीं होता। ऐसी स्थिति में कुछ व्यक्तियों पर कार्य का भार बहुत अधिक पड़ जाता है तथा कुछ व्यक्ति उससे साफ-साफ बच जाते हैं। यह स्थिति धीरे-धीरे समाज में अस्थिरता ला देती है।

चाहिए ? साथ ही यह भी पूछा जाता कि गोचरी के समय पात्र के अभाव में या कार्यवश अपने भाग का पानी कौन-कौन नही लाये या कम लाये ? जितना पानी मगाया जाता उसमें जितना कम लाया गया होता, उतना तो उन्हें लाने के लिए कह ही दिया जाता और अधिक मगाने पर शेष पानी विभागानुसार प्रत्येक गोचरी में से मगा लिया जाता। जब वह पानी आ जाता तब जिस साझ में जितने कलमिये मगाये होते, उसी आधार पर वह विभक्त कर दिया जाता।[1]

बाजोटों का काम

आचार्यदेव के व्याख्यान देने, विराजने और शयन करने आदि के लिए जहाँ-जहाँ बाजोट या पट्ट आदि के बिछाने की आवश्यकता होती है, उसका भार बारी के क्रम से एक व्यक्ति पर होता है। आचार्यदेव जहाँ पधारें, वहाँ उनका आसन ले जाकर बिछाना, आवश्यकतावश उनके भडोवगरणों को यथास्थान लाना-ले जाना तथा पट्ट आदि का पडिलेहन करना भी उसी कार्य के अगभूत होते हैं।

चोकी

सतो का कोई भी वस्त्र-पात्र आदि उवगरण रात्रि में बाहर 'अच्छाया' में न रहने पाये तथा बिना प्रतिलेखन न रहने पाये, इसी सावधानी के लिए प्रतिदिन एक सत प्रात प्रतिलेखन का समय आते ही तथा साय सूर्यास्त होते ही उन सभी स्थानों को, जहाँ सतो का निवास होता है तथा धोने आदि के लिए जाना-आना होता है, घूम-फिर कर देख लेता है। कोई वस्त्र-खड या अन्य कोई विस्तृत वस्तु बाहर रह गई हो या बिना अवेर के योंही इधर-उधर पडी हो तो उन सब को वह उठा लाता है। वह उनका प्रतिलेखन तो कर ही लेता है, पर साथ ही जिन पर नाम लिखा हो, उन्हें उन तक पहुँचा देने तथा अन्य वस्तुओं को सबके पास जाकर दिखा आने का भार भी वही उठाता है। विस्मृति के कारण जो छोटे-मोटे वस्त्र-खड बच जाते हैं, उन्हें आचार्यदेव को बताकर परठ देना भी उसी के कार्य में होता है। इस कार्य को 'चोकी' कहा जाता है।

परिष्ठापन कार्य

रात्रि-काल में परिष्ठापन कार्य भी बारी से ही होता है। इसकी अपनी विशेष प्रकार की व्यवस्थाएँ है जो कि शीतकाल आदि में सभी के लिए सुविधा का कारण बनती है।

१—आहार-विभाजन, धड़ा लिखाना और पानी का काम—इन तीनो की व्यवस्था अब उपर्युक्त प्रकार से नहीं रही है। आचार्य श्री तुलसी ने इनमें वर्त्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार जो परिवर्त्तन किये हैं, उनसे इनमें प्राय आमूल-चूल परिवर्त्तन हो गया है।

करना होता है। यह बारी अन्य सब कार्यों में तो दीक्षा-क्रम से चलती पर केवल आहार संविभाग के लिए छाम-क्रम से चलती थी। उसमें उस क्रम से थोड़ी सुविधा रहती थी। समुच्चय के कार्यों की यह बारी जितने अधिक संत होते उतनी ही देर से आती।

तीनों ही कार्यों की बारी मुख्यतः आचार्य के साथ रहने से ही सम्बन्धित थी। यहाँ अधिक संतों के एकत्रित होने पर इस क्रम से अव्यवस्था नहीं हो पाती और बराबर सुव्यवस्था बनी रहती। जो साधु-साध्वियाँ पृथक्-पृथक् सिंघाड़ों में विहार करते उनके लिए वहाँ की स्थिति के अनुरूप ही कार्य विभाजन होता। इन कार्यों में से अनेक तो वहाँ होते ही नहीं जो होते उनमें भी विभाजन अनिवार्य न होकर यथारुचि होता। जैसा सबके अनुकूल बैठता वैसे ही कर लेने की वहाँ छूट रहती।

(५) समुच्चय के कार्य

आहार विभाजन

आहार विभाजन के कार्य को साधारणतया 'आहार का बाँटना' कहा जाता। प्रतिदिन एक छाम के चार व्यक्तियों पर इसका भार रहता। गोचरी से आहार आने के बाद इनका कार्य प्रारम्भ होता। आये हुए आहार को गिनना पाती लगाना तथा बारी से सब छामों की पाती रखाना और उन सबके पश्चात् वहाँ के स्थान को धो-पोंछ कर साफ कर देने तक का कार्य उन्हीं का होता। सौ ठाणे एकत्रित हों तब तक तो चार व्यक्ति ही यह कार्य करते, फिर प्रत्येक नये दशक के प्रारंभ पर एक व्यक्ति बढ़ा दिया जाता।

बड़ा लिखाना

प्रतिदिन बारी से एक व्यक्ति एक पत्र पर निर्धारित कोष्ठकों में हर छामपति के पास जाकर उसके छाम के समस्त संतों के लिए आवश्यक आहार-सामग्री को अंकों में लिखाता। इस कार्य को 'बड़ा लिखाना' कहा जाता। 'आहार विभाजन' के समय से पहले-पीछे आने-वाली आहार-सामग्री को बाँटने का भार तथा विहार आदि कुछ विशेष परिस्थितियों में आहार विभाजन का भार भी उसी पर रहता।

पानी का काम

पानी मापने के लिए एक पात्र विशेष 'कलसिया' होता था। उसी के आधार पर सब पात्र माप हुए होते थे। पानी लाने वाले संतों को ऋतु अनुसार एक निर्देश दे दिया जाता कि गोचरी में आ सके तो प्रत्येक साधु को इतने कलसिया पानी लाना है। उसी निर्देशानुसार संत पानी लाकर पूर्व निर्धारित स्थान पर रख देते। पानी के काम की जिसकी बारी होती वह उन लाये हुए सारे पानी को छान कर जितने संत होते उतनी पाती लगाकर प्रत्येक छाम के किसी एक व्यक्ति को बुलाकर छाम के क्रम से पातियाँ संभला देता। उसके बाद चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होते ही वह सब छामों में जाकर पूछ आता कि किस छाम में कितना पानी और

चाहिए ? साथ ही यह भी पूछ आता कि गोचरी के समय पात्र के अभाव मे या कार्यवश अपने भाग का पानी कौन-कौन नहीं लाये या कम लाये ? जितना पानी मगाया जाता उसमे जितना कम लाया गया होता, उतना तो उन्हें लाने के लिए कह ही दिया जाता और अधिक मगाने पर शेप पानी विभागानुसार प्रत्येक गोचरी मे से मगा लिया जाता। जब वह पानी आ जाता तब जिस साझ में जितने कलसिये मगाये होते, उसी आधार पर वह विभक्त कर दिया जाता।[1]

बाजोटो का काम

आचार्यदेव के व्याख्यान देने, विराजने और शयन करने आदि के लिए जहाँ-जहाँ बाजोट या पट्ट आदि के विछाने की आवश्यकता होती है, उसका भार बारी के क्रम से एक व्यक्ति पर होता है। आचार्यदेव जहाँ पधारें, वहाँ उनका आसन ले जाकर विछाना, आवश्यकतावश उनके भंडोवगरणो को यथास्थान लाना-ले जाना तथा पट्ट आदि का पडिलेहन करना भी उसी कार्य के अगभूत होते है।

चोकी

सतों का कोई भी वस्त्र-पात्र आदि उवगरण रात्रि में बाहर 'अच्छाया' मे न रहने पाये तथा विना प्रतिलेखन न रहने पाये, इसी सावधानी के लिए प्रतिदिन एक सत प्रात प्रतिलेखन का समय आते ही तथा साय सूर्यास्त होते ही उन सभी स्थानो को, जहाँ सतो का निवास होता है तथा धोने आदि के लिए जाना-आना होता है, घूम-फिर कर देख लेता है। कोई वस्त्र-खड या अन्य कोई विस्तृत वस्तु बाहर रह गई हो या विना अवेर के योही इधर-उधर पडी हो तो उन सब को वह उठा लाता है। वह उनका प्रतिलेखन तो कर ही लेता है, पर साथ ही जिन पर नाम लिखा हो, उन्हे उन तक पहुँचा देने तथा अन्य वस्तुओ को सबके पास जाकर दिखा आने का भार भी वही उठाता है। विस्मृति के कारण जो छोटे-मोटे वस्त्र-खड बच जाते है, उन्हे आचार्यदेव को बताकर परठ देना भी उसी के कार्य में होता है। इस कार्य को 'चोकी' कहा जाता है।

परिष्ठापन कार्य

रात्रि-काल में परिष्ठापन कार्य भी बारी से ही होता है। इसकी अपनी विशेष प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं जो कि शीतकाल आदि में सभी के लिए सुविधा का कारण बनती है।

१—आहार-विभाजन, धड़ा लिखाना और पानी का काम—इन तीनों की व्यवस्था अब उपर्युक्त प्रकार से नहीं रही है। आचार्य श्री तुलसी ने इनमें वर्त्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार जो परिवर्त्तन किये हैं, उनसे इनमें प्राय आमूल-चूल परिवर्त्तन हो गया है।

करना होता है। यह बारी अन्य सब कार्यों में तो दीक्षा-क्रम से चलती पर केवल आहार संविभाग के लिए साम्र-क्रम से चलती थी। उसमें उस क्रम से थोड़ी सुविधा रहती थी। समुच्चय के कार्यों की वह बारी जितने अधिक संत होते उतनी ही देर से आती।

तीनों ही कार्यों की बारी मुख्यतः आचार्य के साथ रहने से ही सम्बन्धित थी। वहाँ अधिक संतों के एकत्रित होने पर इस क्रम से अव्यवस्था नहीं हो पाती और बराबर सुव्यवस्था बनी रहती। जो साधु-साध्वियाँ पृथक्-पृथक् सिंघाड़ों में विहार करते उनके लिए वहाँ की स्थिति के अनुरूप ही कार्य विभाजन होता। इन कार्यों में से अनेक तो वहाँ होते ही नहीं जो होते उनमें भी विभाजन अनिवार्य न होकर यथारुचि होता। जैसा उनके अनुकूल बैठता वैसे ही कर लेने की वहाँ छूट रहती।

(५) समुच्चय के कार्य

आहार विभाजन

आहार विभाजन के काम को साधारणतया 'आहार का बाँटना' कहा जाता। प्रतिदिन एक साम्र के चार व्यक्तियों पर इसका भार रहता। गोचरी से आहार आने के बाद उनका कार्य प्रारम्भ होता। आये हुए आहार को मिलना पाँती लगाना तथा बारी से सब साम्रों की पाँती रखाना और उन सबके पश्चात् वहाँ के स्थान को धो-पोंछ कर साफ कर देने तक का कार्य उन्हीं का होता। सौ ठाणें एकत्रित हों तब तक तो चार व्यक्ति ही यह कार्य करते, फिर प्रत्येक नये सतक के प्रारंभ पर एक व्यक्ति बढ़ा दिया जाता।

धड़ा लिखाना

प्रतिदिन बारी से एक व्यक्ति एक पत्र पर निर्धारित कोष्ठकों में गुरु सामसति के पास जाकर उसके साम्र के समस्त संतों के लिए आवश्यक आहार-सामग्री को अंकों में लिखाता। उस कार्य को 'धड़ा लिखाना' कहा जाता। 'आहार विभाजन' के समय से पहले-पीछे आने वाली आहार-सामग्री को बाँटने का भार तथा विहार आदि कुछ विशेष परिस्थितियों में आहार विभाजन का भार भी उसी पर रहता।

पानी का काम

पानी मापने के लिए एक पात्र विशेष 'कलसिया' होता था। उसी के आधार पर सब पात्र भार हुए होते थे। पानी लाने वाले संतों को ऋतु अनुसार एक निर्देश दे दिया जाता कि गोचरी में आ सके तो प्रत्येक साधु को इतने कलसिया पानी लाना है। उसी निर्देशानुसार संत पानी लाकर पूर्व निर्धारित स्थान पर रख देते। पानी के काम की जिसकी बारी होती वह उन आये हुए सारे पानी को धान कर जितने संत होते उतनी पाँती लगाकर प्रत्येक साम्र के किसी एक व्यक्ति को बुलाकर साम्र के क्रम से पाँतियाँ संभला देता। उसके बाद चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होते ही वह सब साम्रों में जाकर पता लगाता कि किस साम्र में कितना पानी और

होने पर उनका फिर प्रतिलेखन कर लिया जाता है। यदि कोई पात्र भूल से वासी रह जाता है तो उसे साफ कर लेने से पहले कार्य मे नही लिया जाता।

पानी उठाना

साझ के पानी को अवेर कर रखना, साझ की आवश्यकतानुसार पानी मगाना, यदि पानी कम आया हो तो साझ के सब सतो को धोने आदि के लिए माप कर पानी घालना तथा पीने के लिए अधिक से अधिक बचा रखना और सायकाल में सूर्यास्त से पहले 'रस्तान'[1] आदि को धोकर सारे पानी को चुका देना आदि कार्य इसके अन्तर्गत होते है।

(७) कुछ अन्य कार्य

स्वतन्त्र व्यवस्था

कुछ कार्य ऐसे भी है जो उपर्युक्त दोनो विभागों के अन्तर्गत नही आते, अतः उन्हे उनसे अतिरिक्त ही समझना चाहिए। ऐसे कार्यो के लिए भी स्वतन्त्ररूप से व्यवस्था कर दी गई। गोचरी, 'पुस्तक-प्रतिलेखन' तथा 'स्थान-प्रमार्जन' आदि कार्य उसी कोटि के कार्यो मे गिने जा सकते हैं।

गोचरी की व्यवस्था

आवश्यक आहार तथा पानी लाने के लिए हर एक व्यक्ति को गोचरी जाना आवश्यक होता है। हर साझ के व्यक्तियो की सख्या के आधार पर गोचरी के संघात बना दिये जाते हैं। प्राय तीन सतो का एक सघात होता है, उसमें एक व्यक्ति आहार लाने के लिए और शेष दो पानी लाने के लिए नियुक्त होते है। आहार की गोचरी करने वाले व्यक्ति गाम के घरों तथा गलियों के आधार पर विभक्त हो जाते है। वे घरो की पृथक्-पृथक् एक स्थूल सीमा निर्धारित कर लेते है ताकि कोई घर गोचरी जाने से छूटने भी न पाये तथा किसी घर में अनेक बार भी न जाया जा सके। प्रत्येक गोचरी वाले के साथ दो सत पानी लाने वाले भी जाते हैं। वे उन्ही घरो में से पानी की गवेषणा करते है। यदि वहाँ पानी न मिले तो अन्य गोचरी वाले सतों से पूछकर उनकी सीमा वाले घरो से ला सकते हैं।

पुस्तक प्रतिलेखन

पुस्तकों का सघीकरण कर देने के पश्चात् जब वे सारे सघ की हो गईं तब उनका प्रतिलेखन करने के लिए भी नये सिरे से प्रबन्ध करना पडा। हर किसी के द्वारा पुस्तक-प्रतिलेखन सभव नही होता। इसके लिए सुदक्ष व्यक्तियो को ही चुना जाता है अन्यथा प्रतियो के पन्ने टूट जाने आदि की सभावना रहती है। प्रत्येक पुस्तक-प्रतिलेखक को साधारणतया दो पुस्तकें दी जाती है।

स्थान-प्रमार्जन

मुनिजन जहाँ आहार करते तथा बैठते-सोते हैं, उन सब स्थानो की सफाई का कार्य भी उन्ही का अपना कार्य गिना जाता है। यह कार्य उन सतों को सौंपा जाता है जो पुस्तक-

---

१—पानी के पात्रों को ढंकने के लिए जो वस्त्र होता है, उसे 'रस्तान' कहा जाता है।

(६) साझ के कार्य

प्रतिदिन की आवश्यकता

साझ के प्राय सभी काम आहार पानी से ही संबन्धित होते हैं। समुच्चय से जब आहार तथा पानी की पातियाँ अपने-अपने साझ में से आई जाती हैं तब साझ के सारे संत आहार करने के लिए बैठते हैं। वे प्राय एक 'मंडलिया' बिछाकर उस पर आहार रखते हैं और पात्र में 'भ्रजन' (साम) लेकर आहार करते हैं। आहार करने के बाद पात्र धोकर पहले 'पूजें' से पोंछ लिये जाते हैं और फिर दुबारा धोकर एक दूसरे कपड़े से जिसे 'पोड़ी पल्ला' कहते हैं साफ पोंछकर रख दिये जाते हैं। भोजन करते समय जो अंश टुकड़े तथा बूँद के रूप में गिर पड़ता है उसको इकट्ठा करके एकांत में 'परठ' दिया जाता है और भोजन के स्थान को धोकर साफ कर दिया जाता है। पानी को भी अवेर कर रख दिया जाता है।

साझ के ये कार्य प्रतिदिन की आवश्यकता के कार्य होते हैं वह साझ में जितने संत होते हैं उनमें सुविधानुसार वितरित कर दिये जाते हैं। कम संत होते हैं तब अनुपात देखकर प्रत्येक संत को इनमें से कई काम सम्हला दिये जाते हैं और अधिक होते हैं तब हर एक काम के लिए अनुपातानुसार कई सन्त नियुक्त कर दिये जाते हैं। साझ के कार्य प्रमुख रूप से ये होते हैं—

भोजन-स्थान की सफाई

जहाँ भोजन किया जाता है वहाँ के स्थान को धोकर साफ कर देना अनिवार्य है। भोजन के गिरे हुए अथवा छूटे हुए अंशों को इकट्ठा करके एकांत में परठना भी इसी कार्य के अन्तर्गत होता है।

झोली की सफाई

साझ में जितने संत आहार की गोचरी करते हों उन सब की झोलियों को प्रतिदिन धोया जाता है। इसी प्रकार मंडलिया मुखपत्र तथा पोड़ी पल्ला भी प्रतिदिन धोया जाता है। इनको धोने में जो संत नियुक्त होते हैं उन्हें उन वस्त्रों को धोने के पश्चात् किसी दूसरे संत को दिखाकर पास करा लेना पड़ता है कि वे कहीं से भी चिकने नहीं हैं। इतना होने पर ही वे दूसरे दिन काम में लिए जा सकते हैं।

पात्रों की सफाई

आहार के पात्र का [illegible] जो उसमें आहार करता है वही धोकर साफ कर देता है। उसके बाद एक निर्दोष स्थान पर वे सब एकत्रित कर दिए जाते हैं। वहाँ उनको फिर से धोकर बिल्कुल साफ किया जाता है। इस कार्य को 'पात्री धामना' कहते हैं।

पात्र प्रतिलेखन

आहार पानी के सभी पात्रों को प्रातः व सायं [illegible] भी [illegible] से [illegible] कि [illegible] लिया जाता है कि कहीं कोई पात्र [illegible] तो नहीं है ? इसी प्रकार मुखपत्र

उसमें प्रथम रूपान्तर हुआ। सब सत खडे होते तब व्याख्यान सुनने के लिए आये हुए भाई-बहिनों को आचार्य श्री के दर्शन नही हो पाते, उन लोगो ने उस बाधा की शिकायत की, तब बैठकर हाजरी सुनने का क्रम प्रारभ किया गया।

जब से बैठ कर हाजरी सुनने का क्रम चालू हुआ सभवत तभी से स्वामीजी के 'लिखित' को व्याख्या करके सुनाये जाने की पद्धति भी चालू हुई और बाद में उसने व्याख्यान का रूप ले लिया। वह क्रम भी थोडे ही दिन चल सका, क्योंकि प्रतिदिन एक ही बात की व्याख्या करते रहना न तो वक्ता को ही अभीष्ट हो सकता था और न श्रोता को ही। तब उसमें फिर रूपान्तर की आवश्यकता प्रतीत हुई। समय-समय की उन्ही आवश्यकताओं ने हाजरी को कभी साप्ताहिक और कभी पाक्षिक रूप प्रदान किया। जब अनेक दिनो के व्यवधानो से हाजरी होने लगी, तब स्वत ही उसे एक पर्व का रूप प्राप्त हो गया। नियत दिन पर सब साधु व्याख्यान में एकत्रित होकर सघ की नियमावलि को सुनते और अपनी प्रतिज्ञाओं को दुहराते। उस दिन के व्याख्यान में तेरापन्थ के अनुयायी श्रावक-वर्ग तो विशेष उत्साह से भाग लेता ही था, पर अन्य मतावलम्बी भी तेरापन्थ की नियमावलि या सघ-सगठन की पद्धति को जानने के लिए विशिष्ट उत्सुकता-पूर्वक उपस्थित हुआ करते थे।[1]

कार्यक्रम

हाजरी के दिन नियमावलि पढकर सुनाई जाती है और यथावसर उसकी व्याख्या भी की जाती है। प्रकरणानुसार जहाँ जिस बात के त्याग का उल्लेख आता है, वहाँ साधु-वर्ग को सम्मिलित घोष से त्याग करवाये जाते है। उससे सारे सघ को एकनिष्ठ होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने का सबल प्राप्त होता है। उसके पश्चात् साधु-जन दीक्षा-क्रम से खडे होकर एक साथ 'लेखपत्र' का उच्चारण करते हैं और अपनी प्रतिज्ञाओं को दुहराते है। हाजरी का यह क्रम सभवत उसके खडे होकर सुनने के प्रारभिक रूप से लेकर शिक्षा-प्रदान तक के सुधरे रूपो का सम्मिलित रूप है।

उपयोगी पद्धति

'हाजरी' के द्वारा जन साधारण को तेरापन्थ के सगठन सबधी नियमो से अवगत कराने से साधु-वर्ग को विशेष सावधानी की प्रेरणा मिली और साथ ही सगठन में भी और अधिक दृढता आई। पृथक् विहार करने वाले साधु-साध्वियो को भी यह निर्देश दिया गया कि वे स्थानीय परिषद् में अपने सब सहयोगियों की उपस्थिति में हर चतुर्दशी को 'हाजरी' किया करें। इससे जिन क्षेत्रों में आचार्यों के पदार्पण का अवसर नहीं होता, वहाँ के भाई भी अपने सघ के नियमो से परिचित रहने लगे। अनेक बार ऐसे अवसर भी आये हैं कि जब किसी साधु या साध्वी ने मर्यादाओ का समुचित आदर नही किया, वहाँ के श्रावक-वर्ग ने तत्काल उनको

१—त्यां हाजरी में अन्यमति स्वमति, सैंकड़ा मिनख समुदाय।
गणि वच सुणी हिये धारता, प्रफुल्ल थई मन मांय॥ (ज० सु० ४४-११)

प्रतिलेखन के कार्य में नहीं होते। वस्तुतः पुस्तक प्रतिलेखन और स्थान प्रमार्जन दोनों को मिला कर एक काम बनता है। क्योंकि दोनों एक दूसरे की एवज में होते हैं।

इन दोनों कार्यों का एकत्व करके जयाचार्य ने एक प्रकार से यह सक्रिय शिक्षा प्रदान की है कि कोई भी कार्य छोटा नहीं होता। पुस्तक-प्रतिलेखन और स्थान प्रमार्जन ये दोनों ही कार्य आवश्यक है, अतः इनमें भेद न मानते हुए किसी भी एक को कर लिया जा सकता है। जयाचार्य की इस प्रक्रिया ने साधुओं के मन में बसी हुई एकत्व की मनोवृत्ति पैदा करने में सफलता भी पाई है क्योंकि अनेक दक्ष साधु 'पुस्तक प्रतिलेखन' के कार्य को छोड़कर 'स्थान प्रमार्जन' का कार्य भी लेते है। साधारण व्यवहार से बड़े तथा छोटे समझे जाने वाले ये कार्य तेरापन्थ की श्रम प्रणाली में तुल्य माने गये हैं। इस प्रकार श्रम का सम-विभाजन करने के साथ साथ श्रम के प्रति समान रूपेण सम्मानभाव पैदा करने का प्रयास भी जयाचार्य ने किया और वह काफी अंशों में सफल रहा।

(४) गण विशुद्धि-करण हाजरी

मर्यादाओं का वर्गीकरण

स्वामी भीखणजी ने अपने जीवनकाल में जो मर्यादाऐं बनाई थीं उनको जयाचार्य ने विभिन्न वर्गों में संकलित कर दिया था। स्वामीजी की मर्यादाओं के उस वर्गीकरण का उन्होंने 'गण विशुद्धि-करण हाजरी' नाम दिया। वह नाम बाद में अपने संक्षिप्त रूप में 'हाजरी' ही रह गया। वे हाजरियाँ अनेक हैं। उनमें स्वामीजी की लिखित मर्यादाओं के अंश तथा प्रकरण उद्धृत किये गये हैं। प्रत्येक हाजरी शिक्षा और मर्यादा का एक सुन्दर सम्मिश्रण कही जा सकती है। कुछ हाजरियाँ ऐसी भी है जो गृहस्थों को भी सुनाई जाती हैं। संघ में साधु-साध्वियों को किस प्रकार से रहना चाहिए, गण और गणी के साथ उनका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, पापाल [illegible] को टालोकरों का संसर्ग क्यों वर्जित करना चाहिए आदि संघीय-जीवन की अनेक आवश्यक सूचनाओं तथा शिक्षाओं से गृहस्थों को भी परिचित रखना आवश्यक होता है। हाजरियों द्वारा यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किया जा सकता है।

प्रारंभ और समापन

हाजरी का प्रारम्भ आगे [illegible] में ही हुआ था। सं० १९१ [illegible] में माघ [illegible] भानुमीत के पश्चात् जयाचार्य [illegible] विराज [illegible]। वहाँ पौष [illegible] के दिन यह स्थापना की कि [illegible] हाजर गर संत स्वामीजी के [illegible] को सुना [illegible]। [illegible] [illegible] अनवरत [illegible] चलता रहा। उसके [illegible]

1— [illegible] दिन प्रभात [illegible] [illegible]।
मुनि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥
[illegible] विशुद्ध करण हाजरी दियो [illegible] नाम [illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ (ज० सु० [illegible]

कारण से नही आ सकते थे, उन्होंने अपनी साध्वियाँ भेज कर तथा विहार कर आते हुए साधु-साध्वियो के साथ कहलवा कर उनकी निश्राय में रहना स्वीकार कर लिया था।

नये सिंघाडे

महासती सरदाराजी की निश्राय में आ जाने के पश्चात् भी सिंघाडो मे तत्काल परिवर्तन नही किया गया था। कुछ काल तक वे पूर्ववत् ही विचरते रहे थे। स० १९२६ में सिंघाडों के उस पूर्व-क्रम में आमूलचूल परिवर्तन करने का कार्य हाथ में लिया गया। फाल्गुन शुक्ला एकादशी को जयाचार्य ने सरदाराजी से फरमाया कि अब साध्वियों के सारे सिंघाडे व्यवस्थित कर देने चाहिएँ। इतने वर्षो में तुम सबकी प्रकृति से परिचित हो गई हो, अत इस कार्य को तुम ही अपने हाथ से प्रारम्भ करो। पुण्यवान् व्यक्ति के हाथ से प्रारम्भ किया हुआ कार्य सदैव सफल रहता है।

जयाचार्य ने उन्हें सिंघाडे करने की सारी व्यवस्था बतला दी कि जो पहले अग्रणी रूप से विचरते हैं वे तो है ही उनके पास जो अधिक साध्विया हैं, उन्हें लेकर योग्यता, प्रकृति तथा विनयशीलता आदि को ध्यान में रखते हुए नये सिंघाडे बनाये जाएँ। यह भी ध्यान रखा जाए कि प्राय प्रत्येक सिंघाडे में चार या पाँच से अधिक साध्वियाँ न हो। सरदार सती ने जयाचार्य की उस भावना के अनुसार ही रात्रि के समय सारी व्यवस्था की और दूसरे दिन प्रात काल में ही नामो की सूची उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दी।

दश से तैंतीस

उस समय भिक्षु-शासन में एक सौ चौहत्तर साध्वियाँ थी। उनमें दश सिंघाडे तो पहले थे वही रखे गये और शेष साध्वियों में से तेईस सिंघाडे नये बनाये गये। कुछ आर्याओ को अपने साथ रखा गया। इस प्रकार उस व्यवस्था से जहाँ सिंघाडे सुव्यवस्थित हुए, वहाँ अधिक क्षेत्रों में चातुर्मास हो सकने के कारण प्रचार-कार्य में भी सहायता मिली। यद्यपि वह कार्य बहुत टेढा था, परन्तु आत्मबली जयाचार्य के सामने कोई भी कार्य टेढा रह नही सकता था। एक दिन में ही दश सिंघाडो से तैंतीस सिंघाडे बन गये।

(१०) तीन महोत्सव

विशिष्ट पर्व

जयाचार्य ने अपनी नवीन योजनाओ के अन्तर्गत तेरापन्थ सघ को तीन महोत्सव भी प्रदान किये। जैन शासन में प्राय सर्वत्र मनाये जाने वाले पर्युषण, सवत्सरी, वीरजयती आदि उत्सव तो परम्परा से उसे प्राप्त थे ही, पर ये तीनो महोत्सव तेरापन्थ के अपने इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले विशिष्ट पर्व बन गए। उनके नाम क्रमश ये हैं—पट्ट-महोत्सव, चरम महोत्सव और मर्यादा-महोत्सव। ये तीनो पृथक्-पृथक् समय में पृथक्-पृथक् प्रेरणाओ से चालू हुए थे।

सावधान किया कि आप यह कार्य अपने संघ की मर्यादा के प्रतिकूल कर रहे हैं। उससे सहज रूप से ही गलती करने वाले व्यक्तियों को संभल जाने का अवसर मिलता रहा और गलती आगे बढ़ने से रुक जाने लगी। गलतियों के बढ़ने की वहाँ अधिक संभावना रहती है जहाँ उसे कोई टोकने वाला न हो। टोकने पर तथा टोके जाने की संभावना पर हर व्यक्ति स्वयं ही सावधान होकर रहता है। तेरापन्थ की यह पद्धति हर तरह से उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।

(६) साध्वियों के सिंघाड़ों की व्यवस्था

व्यवस्था से पूर्व

साधुओं के सिंघाड़ों की व्यवस्था तो जयाचार्य के समय से पूर्व भी ठीक थी और व्यवस्थित चल रही थी। परन्तु साध्वियों के सिंघाड़े व्यवस्थित नहीं थे। किसी सिंघाड़े में दस, किसी में बारह, तो किसी में तीन या चार ही आर्याएँ रहा करती थीं। जिसने जिसके पास दीक्षा ग्रहण की या दीक्षा देकर जो जिसको सौंपी गई उस पर उसीका प्रमुख रूप से अधिकार रहा करता था। सारे सिंघाड़े किसी एक आर्या को मुख्यता दें और उसका आदेश निर्देश प्राप्त करें ऐसी कोई पूर्व व्यवस्था नहीं थी।

धीरे-धीरे नियंत्रण

जयाचार्य ने ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता अनुभूत की। उससे पूर्व उन्हें किसी ऐसी आर्या की आवश्यकता थी जो सब आर्याओं को निभा सके और अपने स्नेह के आधार पर सबके विश्वास को जीत सके। सरदार सती जयाचार्य की उस कसौटी के सर्वथा अनुरूप थीं। उन्होंने उनके व्यक्तित्व में और भी अनेक विशेषताएँ देखीं। फलस्वरूप उन्हें ही साध्वी प्रमुखा बनाने का निश्चय किया। सं १९११ में उन्हें व्यवस्थित रूप से साध्वियों का कार्यभार सौंप दिया गया। उसके बाद साध्वियों से सम्बन्धित जो भी कार्य होता वह सरदार सती के माध्यम से ही करवाया जाता। धीरे धीरे उनका प्रभाव और कार्य-क्षमता बढ़ती ही चली गई।

सं १९१२ में[1] उन्होंने साध्वियों के सिंघाड़ों को व्यवस्थित करने के विचार को कार्य रूप में परिणत करने का निश्चय किया। उस निर्णय के साथ ही उन्होंने साध्वियों के सिंघाड़ों को सरदार सती की निश्राय में आने के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ किया। सर्व प्रथम वैशाख कृष्णा नवमी के दिन छोटी नवलांजी का सिंघाड़ा सरदारांजी की निश्राय में आया। उसके बाद धीरे धीरे अन्य सिंघाड़े भी उनकी निश्राय में आते गये। जयाचार्य ने सबको पहले से सावधान कर दिया था कि जो भी सिंघाड़ा उनकी निश्राय में आएगा उसे वस्त्र ओघ चोलपट्टी आहार आदि की सब व्यवस्थाओं को उनके कथनानुसार मान्य करके चलना होगा। इतना होने पर भी सिंघाड़े उनकी निश्राय में आते रहे। जो सिंघाड़े अस्वस्थता या वृद्धता आदि के

1—यहाँ यह संवत् पंचांग के अनुसार दिया गया है। 'महासती सरदार सुजस' आदि में जो सं० १९१४ का उल्लेख है वह मत पद्धति के अनुसार है।

कारण से नही आ सकते थे, उन्होंने अपनी साध्वियाँ भेज कर तथा विहार कर आते हुए साधु-साध्वियो के साथ कहलवा कर उनकी निश्राय में रहना स्वीकार कर लिया था।

नये सिंघाड़े

महासती सरदाराजी की निश्राय में आ जाने के पश्चात् भी सिंघाडो में तत्काल परिवर्तन नहीं किया गया था। कुछ काल तक वे पूर्ववत् ही विचरते रहे थे। स० १९२६ में सिंघाडों के उस पूर्व-क्रम में आमूलचूल परिवर्तन करने का कार्य हाथ में लिया गया। फाल्गुन शुक्ला एकादशी को जयाचार्य ने सरदाराजी से फरमाया कि अब साध्वियो के सारे सिंघाडे व्यवस्थित कर देने चाहिएँ। इतने वर्षों में तुम सबकी प्रकृति से परिचित हो गई हो, अत इस कार्य को तुम ही अपने हाथ से प्रारम्भ करो। पुण्यवान् व्यक्ति के हाथ से प्रारम्भ किया हुआ कार्य सदैव सफल रहता है।

जयाचार्य ने उन्हें सिंघाडे करने की सारी व्यवस्था बतला दी कि जो पहले अग्रणी रूप से विचरते हैं वे तो है ही उनके पास जो अधिक साध्विया है, उन्हें लेकर योग्यता, प्रकृति तथा विनयशीलता आदि को ध्यान में रखते हुए नये सिंघाडे बनाये जाएँ। यह भी ध्यान रखा जाए कि प्राय प्रत्येक सिघाडे में चार या पाँच से अधिक साध्वियाँ न हो। सरदार सती ने जयाचार्य की उस भावना के अनुसार ही रात्रि के समय सारी व्यवस्था की और दूसरे दिन प्रात काल में ही नामों की सूची उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दी।

दश से तैंतीस

उस समय भिक्षु-शासन में एक सौ चौहत्तर साध्वियाँ थी। उनमें दश सिंघाडे तो पहले थे वही रखे गये और शेष साध्वियो में से तेईस सिंघाडे नये बनाये गये। कुछ आर्याओं को अपने साथ रखा गया। इस प्रकार उस व्यवस्था से जहाँ सिंघाडे सुव्यवस्थित हुए, वहाँ अधिक क्षेत्रो में चातुर्मास हो सकने के कारण प्रचार-कार्य में भी सहायता मिली। यद्यपि वह कार्य बहुत टेढा था, परन्तु आत्मबली जयाचार्य के सामने कोई भी कार्य टेढा रह नही सकता था। एक दिन में ही दश सिंघाडों से तैंतीस सिघाडे बन गये।

(१०) तीन महोत्सव

विशिष्ट पर्व

जयाचार्य ने अपनी नवीन योजनाओ के अन्तर्गत तेरापन्थ सघ को तीन महोत्सव भी प्रदान किये। जैन शासन में प्राय सर्वत्र मनाये जाने वाले पर्युषण, सवत्सरी, वीरजयती आदि उत्सव तो परम्परा से उसे प्राप्त थे ही, पर ये तीनो महोत्सव तेरापन्थ के अपने इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले विशिष्ट पर्व बन गए। उनके नाम क्रमश ये हैं—पट्ट-महोत्सव, चरम महोत्सव और मर्यादा-महोत्सव। ये तीनो पृथक्-पृथक् समय में पृथक्-पृथक् प्रेरणाओ से चालू हुए थे।

जयाचार्य मनुष्य के इस स्वभाव से काफी गहराई से परिचित थे कि उसे अपने उत्साह को नवीन रूप देने के लिए, अपने महापुरुषों में निष्ठा उद्दीप्त रखने के लिए और अपने संगठन को गौरवशाली बनाये रखने के लिए पर्व या उत्सव चाहिए। जिस समाज या संघ में अपने उत्सव नहीं होते वे हतोत्साह होते चले जाते हैं और एक दिन अपने पूर्वजों की सारी ख्याति को भूलकर अपने अस्तित्व की प्रेरणाओं को भी भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे हीन भावना से ग्रस्त होकर दूसरे किसी भी प्रेरणा-स्रोत की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। उनका मूल लक्ष्य उनकी आँखों से इतना ओझल हो जाता है कि वे खोजने पर भी इस निश्चय पर नहीं पहुँच पाते कि आखिर वे इस पद्धति को क्यों अपनाये हुए हैं? जयाचार्य ने तेरापन्थ को इन महोत्सवों के रूप में वे पर्व दिये हैं जिनसे सारे संघ को नवीन प्रेरणाएँ और नवीन उत्साह मिलता रहे तथा संघ का हर व्यक्ति अपने लक्ष्य को सदैव सामने रखकर आगे बढ़ने के संकल्प में बढ़ता रहे।

(१) पट्ट-महोत्सव

संतों का आग्रह

तीनों महोत्सवों में सबसे पहले पट्टोत्सव का प्रारम्भ हुआ। जयाचार्य मालव-यात्रा करते हुए सं० १९११ के शीतकाल में इन्दौर पधारे थे। वहाँ काफी संख्या में साधु-साध्वियाँ एकत्रित हुए। जयाचार्य के आचार्य बनने की तिथि माघ पूर्णिमा भी निकट ही थी तब कुछ व्यक्तियों के मन में यह प्रेरणा जागृत हुई कि उस दिन आचार्यदेव के गुणोत्कीर्तन की गीतिकाएँ गाई जाएँ। संतों ने उस विचार को कार्य रूप देने का अवसर प्रदान करने के लिए जयाचार्य से निवेदन किया और स्वीकृति चाही। सम्भवतः उस समय जयाचार्य ने उस बात पर काफी संकोच ही अनुभव किया होगा कि उनके सामने उन्हीं के गुणों का उत्कीर्तन हो पर संतों के भक्ति विह्वल आग्रह ने उनको मना लिया। उन्होंने प्रयोग के रूप में उसकी स्वीकृति दे दी।

गुणोत्कीर्तन का उत्साह

पूर्णिमा के पूर्व ही संत-सतियों में और गृहस्थों में उस दिन के लिए बहुत ही उत्साह देखा गया। अनेक व्यक्तियों ने आचार्यदेव को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए नई गीतिकाओं का निर्माण किया। पूर्णिमा के दिन उन गीतिकाओं को जब जयाचार्य के समक्ष गाकर प्रस्तुत किया गया तो सभा में उत्साह की एक नई लहर-सी दौड़ गई।

अमायोजित स्थापना

मनुष्य की मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म पारखी जयाचार्य ने जब श्रोतागण और गायकगण के उत्साह को देखा तो उन्हें महसूस हुआ कि ऐसे पर्व अत्यन्त आवश्यक होते हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि में यह बात भी छिपी नहीं रही कि ऐसे विशिष्ट अवसर साहित्यिक बुद्धि को जागृत करने में भी बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। वह पर्व तब से प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा

किसी पूर्व आयोजना और उद्घोषणा के बिना ही केवल सतो की भक्ति-भावना के आधार पर इसकी स्थापना हुई थी।[1] तब से प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा की बाट देखी जाने लगी। जयाचार्य उसमें एक परीक्षक के रूप में केवल श्रोता बनकर बैठते और वक्ताओ के उत्साह आदि के साथ उनकी प्रतिभा के विकास का भी निरीक्षण करते रहते।

पूर्णिमा और पट्टोत्सव

पट्ट-महोत्सव प्रारम्भ होने के पश्चात् जयाचार्य के जीवनकाल तक तो यह माघ पूर्णिमा के दिन मनाया जाता रहा ही था, पर ऐसा लगता है कि उसके पश्चात् भी अनेक वर्षों तक वह उसी दिन मनाया जाता रहा था। मघवागणी द्वारा उनके अपने अन्तिम वर्ष स० १९४४ तक तो वह मनाया गया था, यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[2] सभवत तब तक पट्ट-महोत्सव की तिथि माघ पूर्णिमा ही चालू रही थी। उसके साथ यह भावना नही जुड पाई थी कि उसे वर्त्तमान आचार्य के पट्टासीन होने के दिन ही मनाया जाना चाहिए। यदि यह भावना जुडी होती तो वह उत्सव मघवागणी के दिन पट्टासीन होने की तिथि भाद्रपद शुक्ला द्वितीया को मनाया जाता।

सम्मिलित पट्टोत्सव

जयाचार्य के समय में सभी पूर्वाचार्यो का एक सम्मिलित पट्टोत्सव मनाने का क्रम भी प्रारम्भ हुआ था। उसके लिए माघ शुक्ला सप्तमी का दिन निश्चित किया गया था। वही दिन स्वामीजी द्वारा निर्मित अन्तिम मर्यादा का दिन था। अत मर्यादामहोत्सव के लिए भी निश्चित किया गया था। कई वर्षों तक तो वे दोनो सम्मिलित चलते रहे। परन्तु बाद मे मर्यादा-महोत्सव प्रचलित रहा और पट्ट-महोत्सव विस्मृति में चला गया। इसका विशेष विवरण आगे मर्यादा-महोत्सव में दिया जायेगा।

वर्त्तमान से सबद्ध

पट्ट-महोत्सव का सम्बन्ध प्रारम्भ में वर्त्तमान आचार्य से ही था, परन्तु मघवागणी के समय वह भूतकाल से सबद्ध हो गया था। सम्भव है माणकगणी ने उसे फिर से वर्त्तमान आचार्य के पदासीन होने के दिन से जोडा था। वह तिथि-परिवर्तन कब किया गया था, इसके विषय में कही कोई उल्लेख देखने मे नही आया।

१—त्या माह सुदि पूनम बहु मुनि श्रमणी, टाला जोड़ गुणारी गाई।
ते वरस थी पाट मोच्छव रीत टहरी, प्रकट वरसो वरसी सुखदाई॥ (ज० सु० ४२ १२)

२—सातम मोच्छव घणी बार विराजया, अर्थ फरमावता गणिराय।
ऊपर वखाण मे पधारता फुन पूनम पट्टोच्छव ढाल बणाय॥
पूनम पूठे शक्ति कम थई, सूर वीरता अधिक सवाय।
सीख सुमति गणी आपता बहु, पाम्यां शिव सुख पाय॥ (म० सु० २४ १२-१३)

(२) चरम-महोत्सव

संभावित उद्गम

चरम-महोत्सव स्वामी भीखणजी के स्मृति दिवस के रूप में प्रारम्भ किया गया था। इसका संभावित उद्गम-काल सं० १९१४ भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी है। जयाचार्य का वह चातुर्मास बीदासर में था अतः इस महोत्सव का प्रारम्भ वहीं से हुआ था। इस स्मृति दिवस के लिए स्वामीजी के जीवन की चरम तिथि को ही चुना गया था अतः इस महोत्सव का नाम चरम-महोत्सव रखा गया।

यद्यपि उपर्युक्त महोत्सव के उद्गम-स्थल तथा समय का उल्लेख जयाचार्य के जीवन चरित्र में नहीं मिलता है फिर भी जहाँ उनकी रचनाओं का उल्लेख किया गया है वहाँ बतलाया गया है कि उन्होंने चरम-महोत्सव के उपलक्ष में चौबीस ढालों की रचना की थी।[1] इसी कथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रति महोत्सव एक ढाल जोड़ी गई हो तो यह महोत्सव ऊपर कहे गये संवत् और स्थान में ही प्रारंभ हुआ था।

शाश्वत प्रेरणा-स्रोत

जयाचार्य ने इस महोत्सव का प्रारम्भ करके वस्तुतः स्वामीजी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा का द्योतन किया था। वे चाहते थे कि स्वामीजी के जीवन से प्रत्येक साधु प्रति वर्ष नया संबल ग्रहण करे और अपने प्रथम पुरुष को कृतज्ञता भरी श्रद्धांजलि अर्पित करे। वे जानते थे कि स्वामीजी का यह स्मृति दिवस सारे संघ को कष्ट-सहिष्णुता और सत्यपरायणता का पाठ पढ़ाता रहेगा। समाज की अभिवृद्धि और उन्नति के लिए ये दोनों ही तत्त्व अत्यन्त अपेक्षणीय होते हैं। स्वामीजी का सारा जीवन इन दो आधारभूत स्तम्भों पर ही टिका हुआ था। सुख शीलता और सत्य-पराङ्मुखता का प्रवेश होने के बाद किसी भी संघ की अभिवृद्धि ह्रास में परिणत होने लगती है। जयाचार्य अपने संघ को उससे सदा के लिए बचाना चाहते थे अतः स्वामीजी की जीवन-स्मृति को उन्होंने शाश्वत प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्थापित किया। तेरापन्थ को 'चरम-महोत्सव' के द्वारा जो प्रेरणाएं प्राप्त होती रही हैं उनका समस्त श्रेय श्री जयाचार्य को ही है।

१—भाद्रव सुदि सातम नौ बरसे ढालां जोड़ी चरम उत्सव चोबीस ॥ (ज सु ११२४)

जयाचार्य सम्वत् १९३८ के भाद्रव कृष्णा द्वादशी को दिवंगत हो गये थे, अतः वे अपने जीवनकाल में १९३७ तक ही चरम महोत्सव मना सके थे। प्रथम महोत्सव १९१४ में होने पर १९३७ तक प्रतिवर्ष एक के हिसाब से चौबीस ढालें पूरी हो जाती हैं। जयाचार्य की इन ढालों को अभी संगृहीत किया गया है परन्तु अभी तक चरम महोत्सव की सबसे पुरानी ढाल १९१७ की ही प्राप्त हो सकी है। इसके बाद की तो सब ढालें प्राप्त हैं परन्तु प्रथम तीन ढालों (सं० १९१४) और ( ) की प्राप्ति नहीं हो सकी है।

(३) मर्यादा-महोत्सव

प्रगति का साक्षी और स्रष्टा

'मर्यादा-महोत्सव' तेरापथ का सबसे बडा महोत्सव है। यह पर्व उसकी सघीय एकता को उज्जीवित रखने का मूल कहा जा सकता है। अपने प्रारम्भ काल के साधारणरूप से बढता हुआ यह पर्व आज यहाँ की प्रायः समस्त सावैधानिक, सास्कृतिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियो का केन्द्र बन गया है। तेरापन्थ की हर प्रगति का यह पर्व एक महान् साक्षी ही नही, किन्तु स्रष्टा भी है।

मर्यादाओ का पर्व

यद्यपि मर्यादा-महोत्सव का नाम आज के युग मे कुछ विचित्र-सा लग सकता है, क्योकि चारो ओर के वातावरण में मर्यादाओ के विघटन की आवाज ही अधिक सुनाई दे रही है, मर्यादा-निर्माण की कही मे कोई क्षीण आवाज उठती भी है तो वह वही दबकर रह जाती है, ऐसी स्थिति में भी यदि कही मर्यादा को ही लक्ष्य बनाकर कोई पर्व मनाया जाता है तो वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात ही कही जानी चाहिए। किसी भी धर्म-सघ, समाज या राष्ट्र में अपने सविधान के उपलक्ष्य में कोई पर्व मनाया जाता हो—ऐसा सुनने या देखने में नही आया। तेरापथ ही एक ऐसा सगठन है जो अपनी 'मर्यादाओं' को इतने महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से देखता है और उसके लिए एक 'पर्व' मनाता है।

नामकरण का आधार

स्वामी भीखणजी ने तेरापथ के लिए लिखित रूप में सर्व-प्रथम मर्यादा स० १८३२ मार्गशीर्ष बदि सप्तमी को बनाई थी। वह दिन वस्तुत उसके सविधान का प्रथम दिन था। उसके बाद धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार एक-एक करके मर्यादाएँ बनती रही। स्वामीजी की अतिम मर्यादा स० १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी की है। अत उसी दिन को इस सविधान की पूर्ति का दिन समझना चाहिए।

स्वामीजी ने धर्म-सघ की एकता और पवित्रता बनाये रखने के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में जो विधि-निषेध की सीमा स्थापित की थी, उसे उन्होंने 'मर्यादा' नाम से अभिहित किया था। जयाचार्य ने उसी अर्थ-गौरवपूर्ण शब्द के आधार पर इस पर्व का 'मर्यादा-महोत्सव' नामकरण किया। इसके लिए उन्होने माघ शुक्ला सप्तमी का ही दिन चुना, क्योंकि सविधान की पूर्ति का दिन वही था। माघ महीने में मनाये जाने के कारण इसका दूसरा नाम 'माघ-महोत्सव' भी प्रचलित है।

बालोतरा में

इस उत्सव का प्रारम्भ स० १९२१ माघ शुक्ला सप्तमी को बालोतरा में हुआ था। जयाचार्य के अन्तःकरण में सम्भवत प्रति वर्ष मर्यादा-महोत्सव मनाने की कल्पना परिपाक पा

रही थी कि वहाँ उसके व्यक्त होने के लिए एक उपयुक्त वातावरण भी बन गया। जयाचार्य बालोतरा पधारे थे। कुछ दिन वहाँ विराजकर माघ-पूर्णिमा का पट्ट-महोत्सव पचपदरे करने का विचार था। सम्भवतः उन्होंने वह घोषित भी कर दिया था।

बालोतरा निवासियों की इच्छा अपने वहाँ पट्टमहोत्सव कराने की थी। वह उग्र हुई तो आग्रह बनकर सामने आई। जयाचार्य के सामने यह एक समस्या हो गई कि उनको किस प्रकार से समझाया जाये ? आखिर बालोतरा-वासियों की भक्ति ने जयाचार्य के मन पर विजय पाई। उन्होंने माघ पूर्णिमा के पट्ट-महोत्सव को तो पचपदर में करने का ही निश्चय रखा पर बालोतरा में तेरापंथ की मर्यादाओं तथा सब पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सवों के प्रतीक स्वरूप सम्मिलित रूप से एक महोत्सव मनाने की घोषणा कर दी। वह मर्यादा-महोत्सव के विधिवत् प्रारम्भ की घोषणा कही जा सकती है।

पहले भी

उससे पूर्व भी माघ महीने में साधु-साध्वियाँ एकत्रित हुआ करती थीं। जयाचार्य उन्हें शिक्षाएँ भी दिया करते थे। गुणोत्कीर्तन रूप में विविध गीतिकाएं भी गाई जाती थीं। यहाँ तक कि उस उत्सव को 'मर्यादा-महोत्सव' ही कहा जाता था फिर भी वह सब विधिवत् स्थापित न होकर केवल सुविधानुसार चलता था। उसके लिए सप्तमी तिथि का भी कोई निश्चित निर्णय नहीं था। वैसा मर्यादा-महोत्सव कितने वर्ष पहले से मनाया जा रहा था इस विषय में निश्चित कुछ भी कह सकना कठिन है पर इतना तो सुनिश्चित है कि बालोतरा से पहले सं० १९२० में वह लाडनूं में मनाया गया था। मुनि जीवराजजी द्वारा उस अवसर पर गाई गई गीतिका का यह अन्तिम पद्य उसका साक्षी है

> संवत उगणीसै वर बीसा के माह महिने।
> मर्यादा मोच्छव श्रीपूज लाडणू पर कहिने ॥
> पर कहिने जी आनन्द महिने
> कहै जीव ऋषि कर जोड़ हजूर हाजर रहिने ॥

प्रथम महोत्सव

बालोतरा से पहले जो मर्यादा-महोत्सव मनाये गये वे प्रासंगिक ही थे। विधिवत् तथा निर्णीत घोषणा के अनुसार एक परम्परा डालने की दृष्टि से तो बालोतरा का मर्यादा महोत्सव ही मनाया गया था अतः प्रथम महोत्सव वही गिना जाता है। इस महत्त्वपूर्ण पर्व की स्थापना में जयाचार्य की दूरदर्शिनी दृष्टि को तो मूल श्रेय प्राप्त है ही पर साथ ही बालोतरा निवासी श्रावकों का आग्रह भी उसमें कारणभूत बना था अतः कुछ उनका भी श्रेयोभाग मान लेना अनुचित नहीं होगा। उस प्रथम मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आस-पास के गांवों के लोग भी बहुत आये थे। नगरी की संख्या में उपस्थित जनता में बड़े उत्साहपूर्ण वाता

वरण में उसकी सपन्नता हुई थी ।[1] उस प्रथम मर्यादा-महोत्सव से लेकर वर्त्तमान के मर्यादा-महोत्सव तक का मनन करने से पता चलता है कि उसमे प्रतिवर्ष हर प्रकार से विकास होता रहा है। प्रारम्भ मे यद्यपि यह माघ पूर्णिमा के पट्ट-महोत्सव के बदले मे आयोजित किया गया था[2] परन्तु बाद में अन्य सब महोत्सवो से इसका महत्व बढकर हो गया ।

पट्टोत्सव का प्रतीक

जयाचार्य द्वारा प्रारम्भ में मर्यादा-महोत्सव की तिथि को पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सव का प्रतीक भी माना गया था । पर वह भावना दो वर्ष बाद ही गौण या स्थगित हो गई मालूम होती है ।[3] सम्भवत एक तिथि दो विभिन्न उत्सवो को सम्मिलित रूप में मनाने के लिए पर्याप्त नही हो पाई । यह बात प्रायः अप्रसिद्ध ही है कि प्रारम्भ मे मर्यादा-महोत्सव और पूर्वाचार्यो के पट्ट-महोत्सवो को सम्मिलित रूप से मनाने के लिए एक ही दिन निश्चित किया गया था । 'जयसुजस' में भी इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है, परन्तु जयाचार्य द्वारा विरचित महोत्सवो की प्राप्त ढालों से यह सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है । प्रथम महोत्सव के अवसर पर जोडी गई ढाल में उन्होने कहा है

स्वाम चरम मर्यादा गणिपट, मोच्छव मगल माल ।
उगणीसै इकवीसै जोडी, जय जश हरस विशाल ॥[4]

प्रथम वर्ष की ढाल में उन्होने केवल यह सकेतमात्र ही किया है कि स्वामीजी की चरम मर्यादा और आचार्यों के पट्ट-महोत्सव के रूप में यह मगल दिन मनाया गया, पर इससे अगले वर्ष की ढाल में जहाँ वे यह खुलासा करत है कि 'मर्यादा-महोत्सव' और 'गणिपट्ट -महोत्सव' के लिए माघ महीने और सतमी तिथि को ही क्यो चुना गया, वहाँ यह एकदम ही स्पष्ट हो जाता है कि दोनों महोत्सव सम्मिलित रूप में ही चालू किये गये थे । वे कहते हैं

इम गुण सठै माह सुद सतमी, बाधी ए मर्याद ।
अष्टादश साठै भाद्रवै, अनशन भाव समाध ॥
सवत् अठारै अठतरै, माह बदि आठम ताय ।

१—सित सप्तम दिन महोत्सवे, बालोतरे जनवृन्द
गाम पर गाम तणां थया, सहस गमै सोंहद ॥ (ज० सु० ५० ६)

२—इक्वीसै बालोतरे, माहसित सातम जाण ।
मर्यादा-महोत्सव करी, ते थई पूनम मोच्छवस्थान ॥ (ज० सु० ५० ७)

३—जयाचार्यकृत महोत्सवों की ढालों में केवल स० १९२१ और २२ की ढालों में ही इन दोनों का सम्मिलित उल्लेख है आगे की ढालों में केवल 'मर्यादा-महोत्सव' का ही उल्लेख किया गया है, अत अनुमानत सम्मिलित-महोत्सव का सिलसिला दो वर्ष बाद बन्द हो गया था ।

४—ज० कृ० म० ढा० ८ १२

मारीमाल अणसण भलो ए द्वितीय पाट सुखदाम ॥
उगणीसै बारै समै माह बदि चौदस सार।
ऋषिराय परलोक पधारिया ए तृतीय पाट गुणधार ॥
तास पसाये संपदा जयजश करण सुधाम।
ते सबका गणपति तणों पद मोच्छव सुखधाम ॥
पाटानुपाट परंपरा रहिवो इक गुरु आण।
गुण साठे माह सुद सप्तमी बसे विविध मर्याद निधान ॥
तिण कारण मंगलीक ए, उत्तम दिवस उदार।
मर्यादा में गणि-पट तणों मोच्छव मंगलाचार ॥[1]

उपर्युक्त पद्यों का मनन करने पर जाना जा सकता है कि माघ-महीने से सभी पूर्वाचार्यों का कोई न कोई सम्बन्ध रहा था। स्वामीजी ने उसमें अन्तिम मर्यादा का निर्माण किया था। भारमलजी स्वामी उसी महीने में दिवंगत हुए थे। ऋषिराय का पट्टारोहण और देहावसान दोनों उसी महीने में हुए थे। स्वयं जयाचार्य भी उसी महीने में आचार्य बने थे। इस प्रकार सभी पूर्वाचार्यों से संबद्ध होने के कारण उसे उन सबके पट्टोत्सवों का प्रतीक बनाया जाना उपयुक्त ही था। सप्तमी तिथि का चुनाव मर्यादाओं की परिपूर्णता के उपलक्ष में किया गया था। जयाचार्य कहते हैं कि यह दिन तेरापंथ के लिए उत्तम और मंगलमय है। इसीलिए इसे मर्यादा-महोत्सव और पट्ट महोत्सव के लिए चुना गया है।

सारणा-वारणा

मर्यादा महोत्सव के अवसर पर प्रायः समस्त साधु-साध्वीगण एकत्रित हो जाते हैं। वार्धक्य रोग या अन्य किसी अपवादस्वरूप कुछ ही सिंघाड़े अवशिष्ट रहते हैं। महोत्सव के लिए प्रतिवर्ष कोई एक स्थान आचार्य द्वारा घोषित कर दिया जाता है। सभी सिंघाड़े चातुर्मास की समाप्ति पर उसी दिशा में विहार कर देते हैं। प्रायः मार्गशीर्ष का महीना उनके जाने का और फाल्गुन का महीना आने का रहता है। पौष और माघ के दो महीने आचार्यदेव की सेवा में रहकर वे विविध अनुभव अर्जित करते हैं। इस अवसर पर आचार्यदेव स्वयं यथाक्रम से हर सिंघाड़े को अपने पास बुलाते हैं और संघ की समुचित सारणा-वारणा के लिए देशाटन तथा चातुर्मास में किये गये कार्यों का विवरण पूछते हैं। अध्ययन पाठन और लेखन आदि की प्रगति से भी अवगत होते हैं। पारस्परिक-व्यवहार मर्यादा-पालन और आचार विचार संबंधी पूछताछ विशद रूप से की जाती है। संघ को निर्दोष रखने के लिए यह सब पूछताछ अत्यन्त आवश्यक होती है। जिन व्यक्तियों में खामियाँ पाई जाती हैं उन्हें यथानुरूप प्रायश्चित्त देकर विशुद्ध किया जाता है और [illegible] उपकार करने वालों को सम्मान देकर उत्साह बढ़ाया जाता है।

१—ज० सु० म० ढा० १ ११ से १४

विचार-मथन

उन्हीं दिनो में अनेक वार आचार्यदेव की शिक्षाओ का कार्यक्रम रहता है। सब साधु-साध्वियो की उपस्थिति मे वे आचार-विचार की पवित्रता, मर्यादाओ के पालन में दृढता, तथा अन्य किसी सामयिक विषय पर प्रकाश डालते है और आवश्यक प्रेरणाएँ देते है। उसके अतिरिक्त कभी-कभी साहित्यिक या शास्त्रीय विषयो पर विद्वान् सतो के भाषण, कविगोष्ठी, विचार-गोष्ठी, समस्यापूर्ति, निवध-प्रतियोगिता आदि के कार्यक्रम भी रखे जाते हैं, जो कि वडे अभिरुचि पैदा करने वाले होते है। नई तथा पुरानी मर्यादाओ के विषय में भी उस समय पारस्परिक विचार-मथन चलता रहता है।

विश्वसनीयता की शपथ

महोत्सव की तिथि के आस-पास ही किसी एक दिन 'वडी हाजरी' होती है। उसमें तेरापथ की नियमावलि को आचार्यदेव व्याख्या करके सुनाते है। उसके वाद सव साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से पक्तिवद्ध खडे होते हैं और फिर समवेतस्वर से मघ के प्रति विश्वसनीयता की शपथ (लेखपत्र) को दुहराते है। उस कार्यक्रम में जनता को जहाँ नियमावलि सुनने का आकर्षण होता है वहाँ साधु-सतियो की लम्वी पक्ति तथा शपथ-ग्रहण का दृश्य देखने का भी अपना एक आकर्षण होता है।

सप्तमी के दिन

मर्यादा-महोत्सव का मुख्य दिन सप्तमी का होता है। उस दिन मध्याह्न में चारों तीर्थ वडे उल्लासमय वातावरण में एकत्रित होते हैं। आचार्यदेव उच्च-पट्ट पर विराजमान होते है और 'णमुक्कारमत्र' का मेघ-मद्र स्वर में उच्चारण करते हुए कार्यक्रम का प्रारम्भ करते हैं। उसके वाद सघ, आचार्य तथा मर्यादाओ के विषय में प्रकाश डालने वाली और भक्ति की अभिव्यक्ति करने वाली कविताओ तथा गीतिकाओ का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। कुछ भाषण भी होते है। आचार्यदेव भी अपने भाषण में तेरापथ की शासन-प्रणाली का जनता को दिग्-दर्शन कराते हैं। उसी अवसर पर स्वामी भीखणजी के हाथ से लिखा हुआ वह अन्तिम मर्यादा-पत्र, जिसके आधार पर मर्यादा-महोत्सव मनाया जाना चालू हुआ, निकाल कर जनता को दिखाया जाता है तथा उस पर लिखी हुई मर्यादाओ को पढकर सुनाया जाता है।

चातुर्मासों की घोषणा

उसके अनन्तर आचार्यदेव उपस्थित सिंघाडों के लिए विहार-क्षेत्र तथा चातुर्मास की घोषणा करते हैं। वे जिस अग्रणी साधु तथा साध्वी का नामोच्चारण करते है, वह व्यक्ति अपने स्थान पर खडा होकर कर-बद्ध उनके आदेश की प्रतीक्षा करता है। किसी एक ग्राम या शहर का नामोल्लेख करते हुए आचार्य तव उसे वहाँ चातुर्मास करने का आदेश देते हैं और वह व्यक्ति उस आज्ञा को शिरोधार्य करता हुआ उन्हें वन्दन करता है।

उस अवसर पर हजारों की संख्या में दूर-दूर से आये हुए लोग भी उपस्थित होते हैं अतः जब वे अपने ग्राम के चातुर्मास की आज्ञा सुनते हैं तब बड़े उल्लसित भाव से जयकार करते हैं। ग्राम के नाम का उच्चारण किये जाते ही वहाँ की जनता तथा निर्दिष्ट अग्रणी के मानस पर उभरने वाले तृप्ति के भाव वस्तुतः तेरापंथ की शासन प्रणाली की उच्चता के द्योतक होते हैं। आचार्यदेव के द्वारा उद्घोषणा करने से पहले प्रायः किसी को यह पता तक नहीं होता कि इस वर्ष उन्हें किधर विहार करना होगा। श्रावकों के लिए यह नियम है कि वे किसी साधु या साध्वी विशेष का नाम लेकर अपने यहाँ चातुर्मास कराने की प्रार्थना न करें। इसी प्रकार साधु-साध्वियों के लिए भी यह नियम है कि वे किसी क्षेत्र विशेष का नाम लेकर अपने चातुर्मास की प्रार्थना न करें। इसलिए जिसको जहाँ जाने का आदेश दिया जाता है वह वहाँ के लिए अपने आपको सदैव प्रस्तुत ही रखता है।

चातुर्मास की घोषणा का कार्यक्रम प्रायः बसंत-पंचमी के दिन सर्वप्रथम लाडनूं में स्थित वृद्ध साध्वियों की सेवा के लिए एक सिंघाड़े की नियुक्ति करने के साथ प्रारम्भ होता है। पर उसके बाद मुख्यतः महोत्सव के अवसर से ही फिर से चातुर्मासों की घोषणाओं का सिलसिला प्रारम्भ होता है जो कि अनेक दिनों तक प्रातः या मध्याह्न में महोत्सव के पूरक कार्यक्रमों के साथ-साथ चलता रहता है।

महोत्सव के पश्चात्

महोत्सव के पश्चात् शीघ्र ही सिंघाड़ों का विहार होना प्रारम्भ हो जाता है। विहार से पूर्व प्रत्येक अग्रणी को एक 'परची' दी जाती है उसमें विहार क्रम के ग्राम लिखे होते हैं। उस परची में निर्धारित ग्राम-मंडल को 'चोखला' कहा जाता है। प्रत्येक सिंघाड़ा शेष काल में अपने अपने चोखले के ग्रामों में विहार करता रहता है और फिर चातुर्मास के लिए निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है।

: ६ :

श्रुत के अनन्य उपासक

चिंतन-सातत्य

जयाचार्य का प्राय. समग्र जीवन श्रुत की उपासना में ही बीता था। बाल्यावस्था से उनकी जो श्रुतोपासना चालू हुई थी, वह अन्त तक क्रमश वेगवती होती हुई ही चलती रही थी। जैनागमों का उन्होंने पूर्णरूप से मथन किया था, फिर भी उनको उतने से सतृप्ति नही थी। आगे से आगे आगम-विषयक नवीन चिंतन चलता ही रहता था। उनके चिंतन-सातत्य ने जैन-शासन को अनेक नवीन विचार-रत्न दिये हैं।

नया रत्न मिला है

उनके चिंतन-सातत्य के विषय में उदाहरणस्वरूप यह एक बात ही काफी होगी—जैनागमो में उत्तराध्ययन सूत्र अपनी विशेषताओ के कारण अपेक्षाकृत अधिक पढा जाता है। अनेक साधु उसे कटस्थ भी करते है। जयाचार्य ने भी उसे कठस्थ किया था। सैकडो बार उसका स्वाध्याय भी वे कर चुके थे। व्याख्यान में विश्लेषण करके भी उन्होंने उसे अनेक बार पढा था। उसकी राजस्थानी भाषा में उन्होने जोड (पद्य-बद्ध टीका) भी की थी। तात्पर्य यह कि उत्तराध्ययन के प्रत्येक वर्णन से उनका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो चुका था। यह कहना भी अत्युक्ति नही होगा कि वे उत्तराध्ययन के ज्ञान को सफलतापूर्वक आत्मसात् कर चुके थे। इतने पर भी जब वे रात्रि में उसका स्वाध्याय करते तब अनेक बार युवाचार्य मघवागणी को कहा करते—"मघजी! आज तो उत्तराध्ययन में एक नया रत्न मिला है।" एक सूत्र को इतना अवगाहन कर लेने पर भी उसमें से नये-नये विचार-रत्नों को प्राप्त करने की बात जहाँ उस सूत्र के अनन्त गाभीर्य को प्रकट करती है, वहाँ वह विचारक के चिंतन-विषयक नये-नये उन्मेषों को भी स्पष्ट करती है।

सस्कृत व्याकरण

आगम-ज्ञान की उपासना तो उनका प्रारम्भ से ही प्रिय विषय रहा था। पर उसके अतिरिक्त विषयो में भी वे अवसर मिलते ही निष्णातता प्राप्त करने में जुट जाते थे। शीघ्रता और सूक्ष्मता से ग्रहण करने वाली उनकी बुद्धि ने उनको इस कार्य में सदैव सफलता प्रदान की थी। सस्कृत-भाषा का अध्ययन उन्होने इसी कारण से बहुत थोडे ही समय में कर लिया था। स० १८८१ में उनका चातुर्मास मुनि हेमराजजी के साथ जयपुर में था। वहाँ एक श्रावक का लडका व्याकरण पढा करता था। कहा जाता है कि वह 'हट्वा' जाति का वैश्य था। यद्यपि वह धार्मिक प्रवृत्ति वाला बालक था, फिर भी सस्कृत

व्याकरण पढ़ने की उत्कंठा ने उसे एक कपट करने को बाध्य कर दिया था। उस समय के ब्राह्मण पंडित ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी को संस्कृत पढ़ाने को तैयार नहीं थे। अतः वैश्य होते हुए भी अपने आपको ब्राह्मण बतलाकर वह वहाँ पढ़ा करता था। वह रात्रि के समय प्रतिदिन साधुओं के पास भी आया करता था। जयाचार्य के प्रति उसके मन में सहज ही एक विशेष आकर्षण हो गया था। वह प्रायः उनके पास बैठा करता था।

जयाचार्य उस समय लगभग पच्चीस वर्ष की अवस्था के एक युवक साधु थे। आगम-ज्ञान की गहराइयों में गोता लगाते हुए उन्होंने अनेक बार उनकी संस्कृत टीकाओं को पढ़कर और अधिक सामर्थ्य अर्जन करने की बात सोची थी। पर उन्हें अवैतनिक रूप से पढ़ाने वाला कोई पण्डित उपलब्ध ही नहीं हुआ। वेतन देकर या दिलवाकर पढ़ने की परिपाटी तो जैन साधुओं के लिए कल्पनीय ही नहीं है। उस वर्ष जब उन्हें पता चला कि यह छात्र संस्कृत पढ़ता है तो उन्होंने उसे अपना पढ़ा हुआ पाठ प्रतिदिन सुना देने के लिए कहा। लड़के ने उनकी उस बात को स्वीकार कर लिया तथा श्रावक होने के नाते यह सेवा प्राप्त कर उसने अपने आप को सौभाग्यशाली भी समझा। उसके पश्चात् वह प्रतिदिन सेवा में आता और दिन में जो कुछ पढ़ा करता वह रात्रि के समय में जयाचार्य को सुना दिया करता। वे दूसरे दिन उन सुने हुए व्याकरण-सूत्रों को तो वृत्ति-सहित कंठस्थ कर लिया करते थे। और उनकी साधनिका को राजस्थानी भाषा में पद्य-बद्ध करके लिख लिया करते थे। यह था उनका संस्कृत-व्याकरण पढ़ने का इतिहास।

व्याकरण चाहे किसी भी भाषा का हो वह प्रायः कठिन और नीरस ही होता है उसमें भी फिर संस्कृत व्याकरण का तो कहना ही क्या वह तो करेला और नीम चढ़ा होता है। उसमें अन्य व्याकरणों के समान शब्द के आगे कर्ता तथा कर्म आदि कारकों में अमुक-अमुक विभक्तियाँ लगाई जाती हैं इतना कह देने मात्र से काम नहीं चलता। वहाँ तो हर विभक्ति से शब्द में जो अन्तर आता है उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखना पड़ता है। एक-एक मात्रा के परिवर्तन को सूत्रों की साक्षियों से सिद्ध करना होता है।

इस कठिनाई के बावजूद यदि पढ़ाने वाला व्यक्ति विद्वान् हो तो वह अनेक प्रकार से कठिन स्थलों को भी सरल बनाकर समझा सकता है। परन्तु उन्हें जो अध्यापक प्राप्त हुआ था वह तो स्वयं ही एक छात्र था। जितना पढ़ता उसमें से जितना याद रख सकता और उसमें से भी जितना व्यक्त कर सकता उतना ही वह बतला सकता था। बहुत बार तो जयाचार्य की शंकाओं को सुलझा सकने के बजाय स्वयं ही उलझ जाया करता था। परन्तु जयाचार्य ने फिर उसमें भी उन्होंने इतना ग्रहण कर लिया था जितना कि उसके पास देने को था ही नहीं। उनकी बुद्धि पानी में पड़े तैल बिन्दु की तरह प्रसरणशील थी। थोड़ा-सा माध्यम पाते ही वह विषय को स्वयं पकड़ लिया करती थी। और उस पर छा जाया करती थी। तैल

विन्दु तो पानी पर केवल छूकर ही रह जाता है, पर उनकी बुद्धि उस विषय की गहराई तक भी आसानी से पहुच जाती थी।

साढे तीन लाख पद्य

जयाचार्य ने श्रुत-साधना मे लगकर जो आत्मानन्द प्राप्त किया था, वह उन्होने अपने तक ही सीमित न रख कर खुले हाथो से दूसरो को वितरित भी किया था। अपने जीवनकाल मे उन्होने लगभग साढे तीन लाख पद्य-प्रमाण साहित्य की जो रचना की थी, वह सब अपने द्वारा अनुभूत उसी आत्मानन्द को दूसरो तक पहुँचाने का एक सफल उपक्रम था।

बालसाहित्यकार

उनकी साहित्यिक प्रतिभा बाल्यावस्था मे ही प्रस्फुटित हो चुकी थी। जिस अवस्था में बालक अपने भान को भी पूर्ण रूपेण नही सम्भाल पाता है, उस अवस्था में जयाचार्य ग्रन्थ-रचना करने लगे थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में 'सत गुण माला' नामक ग्रन्थ की रचना करके अपनी असाधारणता का उन्होने प्रारम्भ से ही सब को परिचय करा दिया था।

एक प्रेरक व्यग

यद्यपि जयाचार्य का जीवन प्रारम्भ से ही ज्ञान की साधना में लगा हुआ था। फिर भी इस तरफ उनकी वृत्ति के प्रवाह को वेग देने में एक साधारण-सी घटना भी कारण बनी थी। एक बार जयाचार्य ने एक पत्री का रङ्ग रोगन स्वय हाथ से किया था। जब वे उसे ऋषिराय को दिखा रहे थे, तव प्रमुखा साध्वी श्री दीपाजी ने व्यग करते हुए कहा—"यह कार्य तो हम जैसी अपढ साध्वियाँ भी कर लेंगी आप तो कोई सूत्र-सिद्धान्त की बातो का अन्वेषण करते तो वह सघ के लिए अधिक उपयोगी होता।"

साध्वी दीपाजी के उस छोटे से वाक्य ने उन पर ऐसा प्रभाव डाला कि उनकी कर्त्तृत्व-शक्ति को एक निर्णीत दिशा मिल गई। उसके बाद उन्होने अनेक शास्त्रो का अवगाहन करने के साथ-साथ उनकी 'जोड' (पद्य-टीका) करके समग्र जैन-शासन को उपकृत किया था। सर्व प्रथम उन्होंने 'पन्नवणा की जोड' की थी। वह साध्वीजी के उसी व्यग की सात्त्विक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उद्भूत हुई थी।

पद्य टीकाकार

अनेक व्यक्तियो को जो ज्ञान जीवन भर की साधना के पश्चात् भी कठिन लगा करता है, उन्होने उसे अपने प्रारभिक वर्षो में न केवल प्राप्त ही कर लिया था, अपितु उसके व्याख्याकार भी बन गये थे। 'पन्नवणा' जैसे कठिन आगम की जोड उन्होने तब की थी जब कि वे केवल अठारह वर्ष की अवस्था में थे। उसके अनन्तर तो एक के पश्चात् एक आगम उनकी मथन-प्रक्रिया में से गुजरे और उन्होंने उन सब का नवनीत तत्व-जिज्ञासुओ के सामने रखा।

उन्होंने अनेक आगमो की पद्य-टीकाएँ लिखी। उन सब मे 'भगवती की जोड' सबसे बडी

है। सस्ती सहस्र पद्य प्रमाण उनका यह ग्रन्थ सरस गीतिकाओं में निबद्ध होने के साथ ही अद्वितीय भी है। आगमों की पद्य-टीका लिखने वाले संभवतः वे प्रथम आचार्य ही थे। आगम टीकाओं में उन्होंने अनेक सैद्धान्तिक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए चिन्तन के नव क्षितिज खोले थे।[1]

एकान्त साधना

यों तो जयाचार्य का प्रायः समस्त जीवन ही श्रुतसाधना में व्यतीत हुआ था परन्तु उनके जीवन के पिछले वर्ष तो अत्यन्त उत्कटता के साथ स्वाध्याय तथा साहित्य रचना में लगे थे। संघ की देखरेख का भार कुछ तो उन्होंने सं० १९१२ में ही मघवागणी को युवाचार्य-पद देकर संभला दिया था पर शेष के वर्षों में तो वे बहुलतया उससे मुक्त हो गये थे। उन वर्षों में वे प्रायः हर समय एकांत में अपनी साधना में निरत रहने लगे थे।

स्वाध्याय निरत

उनकी साधना जहाँ आगम-अनुशीलन और साहित्य रचना से समृद्ध हुई थी वहाँ उसमें स्वाध्याय का भी कोई कम सहयोग नहीं था। जैनागमों में स्वाध्याय के ये पांच भेद किये गये हैं - वाचना पृच्छना परिवर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। ये पांचों जयाचार्य के जीवन के अभिन्न अंग बन चुके थे। उनके प्रतिदिन के जीवन-व्यवहार में इनका उपयोग अपरिहार्य था। यहाँ हमने केवल 'परिवर्तना' के अर्थ में ही 'स्वाध्याय' शब्द का प्रयोग किया है। मुखस्थ ज्ञान की अविस्मृति के लिए उसे बार बार दुहराने को परिवर्तना कहा जाता है। प्रचलित भाषा में उसे 'चितारणा' कहते हैं।

जयाचार्य अपने बाल्यकाल से ही स्वाध्याय में रुचि रखने लगे थे। प्राप्त ज्ञान की सुरक्षा के लिए उससे बढ़कर और कोई उत्तम उपाय नहीं हो सकता। प्रत्येक शैक्ष के लिए यह प्रवृत्ति बहुत ही लाभदायक होती है। यद्यपि सीखा हुआ ज्ञान धीरे-धीरे उनके इतना आत्मसात् हो गया था कि उसे दुहराने की आवश्यकता ही नहीं रही थी फिर भी साधन-मार्ग में स्वाध्याय का अपना एक अलग महत्त्व भी होता है अतः वे उसे दुहराते रहते थे। उस दुहराने में अनेक बार उन्हें नये विचार और नये अर्थ भी प्राप्त हो जाया करते थे। 'जप्तो नास्ति पातकम्' इतना ही नहीं किन्तु स्वाध्याय तो निर्जरा का हेतु बनकर पातक विनाशी भी बनता है अतः जयाचार्य की यह क्रिया आजीवन चल रही थी।

रुई के फाहे

वे जब स्वाध्याय में बैठते थे तब अपनी एकाग्रता को किसी बाह्य वातावरण से भंग न होने देने के लिए प्रायः सावधान हो जाया करते थे और कभी कभी कानों में रुई के फाहे भी लगा लिया करते थे। स्वाध्याय का यह सतत चालू प्रवाह जहाँ उनकी ज्ञानोपासना का एक अत्यावश्यक अंग था वहाँ मन शुद्धि और कर्म-आश्रव शुद्धि का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन था।

१—साहित्य विषयक विशेष विवरण द्वितीय भाग में देखिये।

स्वाध्याय के कुछ आँकडे

उन्होने अपने जीवन में कितना स्वाध्याय किया था - यह कहना तो कठिन है, पर कुछ अतिम वर्षो के स्वाध्याय के आँकडे 'जयसुजस' में मघवागणी ने सकलित किये है। वह सख्या वस्तुत उनकी स्वाध्याय-शीलता की ओर ध्यान आकृष्ट किये विना नही रह सकती। स० १९३० से ३८ तक के आकडे इस प्रकार है

सवत्	गाथा-सख्या
१९३० (आसोज सुदी एकादशी से आपाढी पूर्णिमा तक)	४९२९००
१९३१	५७६७५८
१९३२	८११६००
१९३३	१९९४०००
१९३४	१३२०४००
१९३५	१३६१९५०
१९३६	१४३७९५०
१९३७	११२१०००
१९३८ (सावन सुदी एकम तक अर्थात् सोलह दिनो में)	८११९२

उपर्युक्त स्वाध्याय का क्रम बीदासर से चालू हुआ था और प्राय शेष तक उसी प्रकार से चलता रहा था। शेपकाल में वैशाख के महीने में वे बीदासर पधारे थे, पर वहाँ शरीर मे गड-वड हो जाने से अधिक समय तक उन्हें रुकना पडा था। यहाँ तक कि स० १९३० का चातुर्मास भी वही हुआ था। इस विमारी में उन्हें अन्न की अरुचि और अशक्ति का सामना करना पडा था। जब इस बीमारी का दौर कुछ हलका पडा, तभी से उन्होने अपने स्वाध्याय का यह विशिष्ट क्रम चालू कर दिया था, जो कि उपर्युक्त तालिका में आसोज सुदी एकादशी से उल्लिखित किया गया है। तालिका में प्रत्येक वर्ष जैन काल-गणना की पद्धति के अनुसार ही आषाढी पूर्णिमा को समाप्त किया गया है। इस प्रकार यहाँ सात वर्ष नौ महीने और इक्कीस दिन करीब की स्वाध्याय के आँकडे दिये गये हैं, जो कि सम्मिलित करने पर छियासी लाख सडसठ हजार चार सौ पचास होते हैं। वस्तुत जयाचार्य का स्वाध्याय-निरत जीवन के निम्नोक्त पद्य को अपने में चरितार्थ कर दिखाने वाला था

> सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
> विसुज्झई ज सि मल पुरेकड, समीरियं रुप्पमल व जोइणा॥[1]

—अर्थात् स्वाध्याय और सद्ध्यान में रत रहने वाले साधु का पुराकृत कर्म-मल उसी प्रकार से नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार से कि अग्नि से चाँदी का मैल।

१—दशवैकालिक ८.६२

: ७

विविध जीवन प्रसंग

जयाचार्य का जीवन बड़ा ही घटना प्रधान रहा है। अनेक घटनाओं का उल्लेख पीछे विविध प्रसंगों पर किया जा चुका है। फिर भी बहुत-सी घटनाएँ किसी विशेष विषय से सम्बन्धित न होने से अवशिष्ट रह गई है। वे फुटकल रूप में भी अपना महत्त्व रखती है। और उनके जीवन चरित्र पर विशेष प्रकाश डालती है। यहाँ उनके जीवन प्रसंग की कुछ ऐसी ही घटनाओं का उल्लेख किया जायेगा।

गुरु-भक्ति

ऋषिराय मालव-यात्रा कर रहे थे। यह बात सं० १८८३ ८४ की है। उस यात्रा के अन्तर्गत वे 'झाबुआ' की ओर पधारे। उस प्रदेश में बहुत गहन जंगल थे। कहावतों में अब तक भी 'झाड़ीबंको झाबुओ' प्रसिद्ध है। एक दिन वहाँ के बीहड़ जंगल में से विहार करते समय ऋषिराय आगे-आगे चल रहे थे और उनके चरणों का अनुसरण करते हुए थोड़े से पीछे ही जयाचार्य चल रहे थे। अचानक सामने की झाड़ियों में कुछ हलचल हुई और उधर सबका ध्यान गया, इतने में तो एक भीमकाय भालू मार्ग पर आ खड़ा हुआ।

'आप ठहरिये आगे मुझे आने दीजिए' जयाचार्य ने पीछे से कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना तत्काल लपक कर आगे आ गये। भालू ने मार्ग में खड़े होकर एक क्षण के लिए उधर देखा और सम्भवतः एक महान् पथगामी के मार्ग में बाधक बनना अनुपयुक्त समझ कर दूसरी ओर की झाड़ियों में घुसकर अदृश्य हो गया। उपसर्ग का भय टलजाने पर ऋषिराय अपने शिष्य-वर्ग के साथ गन्तव्य की ओर आगे बढ़े।

क्या बाकी रहा है ?

जयाचार्य का आगम-ज्ञान बाल्यकाल से ही अत्यन्त प्रौढ़ था। आवश्यक दशवैकालिक उत्तराध्ययन आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध और पन्नवणा (दशम पद तक) को उन्होंने कंठस्थ कर रखा था। अन्य आगमों के भी सैकड़ों स्फुट पाठ उनको स्वतः कंठस्थ हो गये थे। फिर भी उनकी इच्छा हुई कि भगवती सूत्र को कंठस्थ किया जाये। अपनी भावना को उन्होंने ऋषिराय के सम्मुख रखा तो सहज ही उनके मुख से ये शब्द निकले कि भगवती का अधिकांश पाठ तो तुझे यों ही कंठस्थ है फिर सीखना क्या बाकी रहा है।

आचार्यदेव के उन शब्दों को जयाचार्य के मेधावी मन ने माना कि वे इसे अनावश्यक समझते हैं। उसके बाद उन्होंने उस विचार को सदा के लिए हटा ही दिया।

कठस्थ करना बद

एक बार उन्होने चद्र-प्रज्ञप्ति सूत्र को कठस्थ करना प्रारम्भ किया था । एक सुपरिचित स्थानकवासी साधु को जब यह पता लगा तो उन्होंने जयाचार्य के पास आकर कोई बात कही। उनके उस सुझाव-विशेष पर जयाचार्य ने उसे कठस्थ करना बन्द कर दिया ।

सामुद्रिक का सन्देह

अग्रणी अवस्था में जयाचार्य दिल्ली पधारे थे। वहाँ एक दिन उनके पद-चिन्हों को देखता हुआ एक सामुद्रिक शास्त्रज्ञ ब्राह्मण उनके पास पहुँचा। उसने जमीन पर मेडे हुए उनके पद-चिह्नों में जो रेखाएँ देखी थी, वे सामुद्रिक शास्त्र के हिसाब से राज-चिन्ह की थी। उसको सभवत: यह सदेह हो गया था कि यह कोई राज-चिन्ह वाला व्यक्ति भी जब नगे पैरों घूम रहा है, तब सामुद्रिक शास्त्र की सच्चाई में कैसे विश्वास किया जा सकता है ? पर उसे उस समय यह कौन बताता कि ये चिन्ह धर्म-सघ की सचालकता के सूचक भी हो सकते है ।

बारह वर्ष तक भावना

कोटा में एक बहिन घर में स्वभावत निष्पन्न हुए अचित्त पानी को प्रतिदिन इसलिए अवेर कर रखा करती थी कि शायद कभी कोई साधु इधर से आजाएँ तो उसका व्रत निपज जाएँ। पास-पडौस के व्यक्ति तो उसके इस कार्य की मजाक किया करते ही थे, पर उसके परिवार के व्यक्ति भी उसके इस कार्य को एक सनक ही समझा करते थे। सबके ताने सहती हुई भी वह पानी को बडी सावधानी से रखा करती थी। जब सूर्य अस्त हो जाता था, तभी वह उसे किसी काम में बरत कर या योंही उठा दिया करती थी। उसकी यह भावना और साधना बारह वर्ष तक लगातार चलती रही, पर कभी ऐसा सुयोग नहीं मिला कि उसका व्रत निपज सके।

हेमराजजी स्वामी ने स १८७० का चातुर्मास इन्द्रगढ में किया था। उससे पूर्व वे विहार करते हुए कोटा भी गये थे। जयाचार्य उस समय उनके साथ थे। उनकी दीक्षा का वह प्रथम वर्ष ही था। कोटा में वे सब सायकाल में पहुँचे। बाल साधु जयाचार्य को बडे जोर की प्यास लगी हुई थी। गवेषणा करने पर भी पानी नहीं मिला। अचानक उस बहिन ने साधुओं को देखा तो दौडकर पास आई और वदन आदि के पश्चात् साधुओ को अपने घर ले गई। साधुओ को वहाँ अचित्त पानी प्राप्त हुआ। बाल साधु जयाचार्य उसे पीकर तृप्त हुए तो बहिन इतने वर्षों की भावना की पूर्ति होने पर तृप्त हुई। उसने बतलाया कि बारह वर्ष के बाद जैसे आम फलने लगता है, उसी प्रकार मेरी भावना भी बारह वर्ष से आज फलीभूत हुई है।

विरागी या ढोगी ?

तपस्वी सत गुलाबजी के एक बार कुछ शकाएँ हो गई थी, अत वे गण से बाहर हो गये थे। ऋषिराय जब 'पुर' पधारे तब जयाचार्य भी उनके साथ ही थे। वे उस समय युवाचार्य थे फिर भी आचार्यदेव की आज्ञा लेकर उन्हें समझाने के लिये उनके स्थान पर गये। तपस्वी

गुलाबजी से बातचीत के सिलसिले में अनेक संतों के विषय में शिकायत करते हुए उन्हें बतलाया कि ये सारे ढोंगी हैं। ऊपर से त्याग और तपस्या की बातें करते हैं पर अन्तरंग में विराग का लेश भी नहीं है। परंतु मुझे अभी तक तुम्हारा कोई पता नहीं लग सका कि तुम विरागी हो या ढोंगी ?

जयाचार्य ने पहले उनकी सारी बातें शांतिपूर्वक सुन लीं और बाद में उनकी प्रत्येक बात का उत्तर देते हुए उन्हें समझा दिया। अंतत उन्हें ऋषिराय के चरणों में लाकर उपस्थित कर दिया। गुलाबजी के लिये संभवतः वे जीवन भर अज्ञय ही रहे होंगे।

यायावर

जयाचार्य के युवाकाल का काफी भाग यायावरता में व्यतीत हुआ था। वे प्राय लंबी लंबी यात्राएं एक ही वर्ष में कर लिया करते थे। एक बार तो वे आठ महीनों में लगभग सात सौ कोस (चौदह सौ मिल चले थे। उनकी यह लंबी पद-यात्रा सं १८८१ मार्गशीर्ष वदी एकम के दिन दिल्ली से प्रारम्भ हुई थी। और ढूंढाड़ मारवाड़ मेवाड़ गुजरात सौराष्ट्र, तथा कच्छ तक का दौरा करने के पश्चात् पुन मारवाड़ के बालोतरा शहर में आकर आषाढ़ के महीने में पूर्ण हुई थी। आठ महीने का कथन तो यात्रा के प्रारम्भ में और अंत के समय को आधार मानकर किया गया है अन्यथा वे बीच-बीच में अनेक शहरों या ग्रामों में लगातार कई-कई दिनतक ठहरे भी थे। उस यात्रा में वे जयपुर में अठारह और सिरियारी में दस दिन ठहरे थे। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रामों में पाँच-पाँच चार चार दिन ठहरते हुए ही आगे बढ़े थे।

'थक्के आओ'

'थसीस उस समय तेरापन्थ का बड़ा और हकरंगा क्षेत्र था। अग्रणी जयाचार्य गुजरात सौराष्ट्र और कच्छ आदि का भ्रमण करते हुए अपनी सात सौ कोस की पदयात्रा की पूर्ति के अवसर पर वहाँ आये। निरंतर चलते रहने के कारण उनका वर्ण कुछ काला हो गया था। दुबले भी हो गये थे। जब वे बाजार में आकर खड़े हुए तो किसी ने विशेष भावोद्रेक से वैसा कि ऐसे अवसरों पर प्राय हुआ करता है स्वागत नहीं किया। वंदन आदि तो हुए पर स्थान के लिये पूछने पर भी अनेकों ने तो 'थक्के आओ' अर्थात् आगे जाइये कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया।

जयाचार्य तथा उनके साथी संत लोगों के उस व्यवहार से बहुत चकित हुए। आखिर पारस्परिक पूछताछ के पश्चात् ही एक दूसरे को उस रहस्य का पता लगा। जब सबको यह पता लगा कि ये तो स्वयं 'जीतमलजी स्वामी' हैं तब सबने पास आकर बड़ी नम्रता के साथ क्षमा-याचना की और न पहचान सकने के लिए लज्जा का अनुभव किया। जयाचार्य ने भी सबको सा मधिक दिखा देकर उनके लज्जावनत मुखों को फिर से विकसित कर दिया।

व्यवहार से साधु

स० १६११ के रतलाम चातुर्मास में बभूतसिहजी पटवा आदि कुछ मूर्ति-पूजक भाई चर्चा करने के लिये आये। वे अपने साथ एक ब्राह्मण को भी कुछ सिखा पढाकर लाये। उसने चर्चा करते हुए जयाचार्य को कही न कही अटका देने की भावना से पास मे बैठे हुए एक साधु की ओर इशारा करके पूछा—"आप इन्हे क्या समझते है ?"

जयाचार्य उनकी भावना को तत्काल भाप गये, अत सीधा उत्तर नही देते हुए उसीसे प्रश्न किया कि किसी व्यक्ति से कोई पूछे कि उसके पिता का क्या नाम है ? तब उसे अपने पिता का नाम किस आधार पर बताना चाहिये ?

इस पर वह ब्राह्मण तो कुछ नही बोला, क्योकि उसे इस उत्तर के साथ ही अपने प्रश्न के समाप्त हो जाने की झलक दिखाई देने लगी, परतु नही बोलना भी साथ के व्यक्तियो को कुछ अपने पक्ष को हीन करने वाला लगा, अत पटवारीजी ने कहा—"मूलत तो उसकी मा ही जानती है, पर व्यवहार से जिसका बेटा होता है, उसीका नाम बतलाया जाना चाहिए।"

जयाचार्य बोले—"बस इसी तरह मूलत तो यह जैसा केवली स्वीकार करे वैसा है, पर व्यवहार से हम इसे साधु समझते हैं।"

तपस्या की अभिरुचि

जयाचार्य की अभिरुचि आगम-ज्ञान तथा साहित्य-रचना की ओर तो प्रारम्भ से थी ही, पर कभी-कभी वह तपस्या की ओर भी हुआ करती थी। साधारण उपवास आदि के अतिरिक्त भी उन्होने कई बार तपस्या प्रारभ की थी। स० १८८४ में जब वे ऋषिराय के साथ मालवयात्रा में थे, तब पेटलावद-चातुर्मास मे उन्होने आछ के आगार पर पन्द्रह दिन का तप किया था।

इसी प्रकार स० १८६१ मे चैत्र सुदी एकम से उन्होने एकान्तर तप प्रारभ किया था, जो कि सभवत काफी अर्से तक चलता रहा। परतु वह कब तक चला, इसका कोई निश्चित उल्लेख देखने में नही आया।

भक्ति की शक्ति

जयाचार्य ने भक्ति-परक अनेक स्तुतियों की रचना की थी। तीर्थङ्करो की स्तुति मे उनकी लघु चौबीसी तथा बडी चौबीसी काफी प्रसिद्ध होने के साथ-साथ अनेक व्यक्तियो द्वारा कठस्थ भी की जाती रही है। उनके अतिरिक्त उन्होने तेरापथ-सघ के आचार्यों तथा विशिष्ट साधुओ की स्तवनाएँ भी की है। वे ऐसी भक्तिपरक स्तवनाओ में बहुत भारी शक्ति का अनुभव किया करते थे। उन्होने अनेक बार ऐसे अवसरो पर गीतिकाएँ बनाई थीं, जब कि उनके सामने कोई विशेष समस्या उपस्थित हुई और उन्हें उस समय उसे पार करने के लिए विशेष आत्म-शक्ति की आवश्यकता अनुभूत हुई थी। स० १६१३ में उन्होने 'विघ्नहरण' की

ढाल बनाई थी। यह सिरियारी में बसंत पंचमी के दिन बनाई गई थी और [illegible] के दिन कंटालिया में 'विघ्नहरण' के रूप में उसकी स्थापना की गई थी। [illegible] की अन्तिम गाथाओं से स्पष्ट होती है। श्रुतानुश्रुति से यह कहा जाता है कि [illegible] किसी स्थानीय सैनिक उपद्रव के अवसर पर की गई थी।

इसी प्रकार 'मुनिंद मोरा' ढाल की रचना सं० १९१४ के कार्तिक[1] [illegible] बीदासर में की गई थी। उसके लिए भी यह बात प्रसिद्ध है कि रात्रि के [illegible] किसी अज्ञात दैव प्रकोप से जयाचार्य के अतिरिक्त सभी साधु मूर्च्छित हो गये थे और [illegible] मकान में चारों ओर अग्नि प्रज्वलित होने का दृश्य दिखाई देने लगा था। [illegible] उस विकट समय में अपने को एकाग्र करके उस ढाल की रचना की थी। [illegible] सर्ग शीघ्र ही शान्त हो गया था।

इसी प्रकार 'भिक्षु म्हारे प्रगट्याजी' यह ढाल भी इसी कोटि की [illegible] में से एक है। इसकी रचना सं० १९२९ के वैशाख शुक्ला षष्ठी को बीदासर में की गई थी। [illegible] प्रसिद्ध है कि प्रवचन बंद हो जाने की वेदना के अवसर पर उन्होंने इसे बनाया था। [illegible] यह उपसर्ग भी शांत हो गया था।

पंच-व्यवस्था

संयम की साधना करने वाले व्यक्ति के मार्ग में स्खलनाओं के भी अनेक [illegible] संभव होते हैं। पर जब इन स्खलनाओं के परिमार्जन की भावना जागृत होती है तब आत्म-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त की याचना की जाती है। उस अवसर पर उन्हें [illegible] आधार पर प्रायश्चित्त देने की आवश्यकता होती है। उसमें किसी प्रकार की [illegible] पक्षपात न होने पाये अतः जयाचार्य ने पाँच सन्तों की एक परिषद् गठित [illegible]। वे पाँचों मिलकर स्खलना की महत्ता या लघुता के आधार पर चिन्तन करते और फिर [illegible] उपयुक्त प्रायश्चित्त की व्यवस्था करते थे।

यह पंच-व्यवस्था जयाचार्य ने अपने शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में ही [illegible] थी। सं० १९११ में एक न्याय के अवसर पर मघवागणी को 'पंच' बनाने की [illegible] प्राप्त है। उससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि पंच-व्यवस्था कम-से-कम [illegible] ही स्थापित की जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसके विषय में यह कहना कठिन है कि [illegible] व्यवस्था कब से चली तथा कब तक चली और आखिर क्यों बंद हो गई? यदि यह [illegible] उपयोगितापूर्वक चालू रहती तो संभव है आगे विकसित होकर शासन-व्यवस्था [illegible] व्यवस्था के स्वतंत्र होने का एक प्रारंभिक उदाहरण बन जाती।

१—कई प्रतियों में इस ढाल की अन्तिम गाथा में सं० १९१५ फागुन सुदी दशमी की [illegible] मिलती है।

सभव है उस व्यवस्था के असफल होकर बन्द हो जाने में मघवागणी को 'श्रीपच' बना देना ही कारण बना हो , मघवागणी उस समय केवल चौदह-पन्द्रह वर्ष के ही थे। पहले जो पच थे, वे उनसे दीक्षा-वृद्ध तो थे ही, साथ ही वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध भी थे। वे एक बाल-मुनि का इस प्रकार अपने ऊपर 'श्रीपच' बनना पसद नहीं कर सके हो तो कोई आश्चर्य नही। यह भी सभव हो सकता है कि जयाचार्य ने बाद में दड-व्यवस्था को अपने ही हाथ में रखना हितकर समझा हो। पूर्व स्थापित व्यवस्था को सीधे ही भग न करके प्रकारान्तर से भग कर दिया हो। मघवागणी को 'श्रीपच' बनाना शायद उस प्रकारान्तर का ही प्रथम चरण-न्यास रहा हो।

मर्यादा-निर्माण के नये प्रयोग

तेरापथ-सघ में यो तो आवश्यकतानुसार मर्यादा का निर्माण आचार्य ही करते हैं, परन्तु जयाचार्य ने कई बार उसके लिए नये प्रयोग भी किये थे। अकेले साधु को अकेली स्त्री से और अकेली साध्वी को अकेले पुरुष से बात नही करनी चाहिए। यह शास्त्रीय मर्यादा है, परतु तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर हो तो बात की जा सकती है, इस विषय में कोई स्पष्टीकरण नहीं था। स० १९११ में रतलाम में जयाचार्य ने इस विषय पर एक जैसी परपरा स्थापित करने के लिए पाँच सतो को बुलाकर पूछा कि तुम लोगो के विचार से तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर होना चाहिए?

पाचो सतों ने स्वतंत्ररूप से अपने-अपने चिन्तन के आधार पर वह प्रमाण बतलाया। उनमें से दो सतों ने सात हाथ, दो ने नौ हाथ और एक ने पाँच हाथ की सीमा अधिक से अधिक बतलाई। जयाचार्य ने इन सबको मिलाकर पाँच भागो में विभक्त कर दिया। इस प्रकार मध्यम प्रमाण निकालने पर सात हाथ से कुछ अधिक रहा, तब अधिक से अधिक सात हाथ की दूरी में तीसरे व्यक्ति के होने की मर्यादा बनाई। साथ में यह स्पष्टीकरण भी जोड दिया कि तीसरा व्यक्ति अध, बधिर, मूक तथा नौ वर्ष से कम अवस्था का हो तो उसे कल्प में नहीं गिनना चाहिए। इस प्रकार और भी अनेक मर्यादाओं के विषय में उन्होंने ऐसे तथा इससे मिलते-जुलते विभिन्न प्रयोग किये थे।

पालीवासियों को दण्ड

जयाचार्य मालव की यात्रा करने के पश्चात् मेवाड में पधार गये थे। वहाँ पाली के श्रावक दर्शन करने के लिए आये और उन्होंने वहाँ साधुओं के चातुर्मास की प्रार्थना की। चातुर्मास के लिए साधुओ और साध्वियों में किया गया यह भेद जयाचार्य को उचित नहीं लगा। उन्होंने प्रकारान्तर से इस बात को कुछ समझाया भी, पर वे उनके सकेत को स्पष्ट नही समझ पाये, अत बार-बार उसी बात पर जोर देते रहे। जयाचार्य ने इस भेद-वृत्ति को मिटाने के लिए उन्हें सतों का तो क्या, सतियो का भी चातुर्मास नही दिया। श्रावक-वर्ग

वहाँ कुछ दिन सेवा में रहकर वापिस पाली में आ गया और आशा उनमें
किसी का चातुर्मास तो करायेंगे ही। पाली जैसे प्रमुख क्षेत्र के खाली रहने की तो कल्पना
ही नहीं की जा सकती थी।

जयाचार्य ने सब सिंघाड़ों के लिए चातुर्मास क्षेत्र निश्चित कर दिये थे। उनमें पाली का नाम नहीं था। आषाढ़ पूर्णिमा नजदीक आ रही थी अतः श्रावकों को बड़ी चिंता हुई कि यह कार्य कैसे और क्यों हुआ? अब इतना समय भी अवशिष्ट नहीं था कि जयाचार्य के दर्शन करके चातुर्मास प्राप्त किया जा सके। उन्होंने मिलकर एक युक्ति सोची और पाली से लगभग दस मील पर स्थित 'खेरवा' ग्राम के श्रावकों के पास एक पत्र लिखकर 'सेवग' के हाथों आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को वहाँ भेजा। उसमें समाचार थे कि जयाचार्य ने खेरवा चातुर्मास करने वाली सतियों को पाली चातुर्मास करने की आज्ञा दी है अतः उन्हें पाली आकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की प्रार्थना कर।

इस समाचार से किसी को कोई आशंका नहीं हुई क्योंकि उस समय पाली जैसा प्रमुख क्षेत्र था कि उसका खाली रहना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। साध्वियाँ आषाढ़ पूर्णिमा के दिन वहाँ पहुँच गई। सायंकाल में पाक्षिक प्रतिक्रमण संपन्न हो जाने के पश्चात् वहाँ के श्रावक-वर्ग ने 'खमत खामणा' करते हुए साध्वियों के सामने सारी घटना निवेदित कर दी। उन्होंने बतलाया कि जयाचार्य की यहाँ चातुर्मास करने सम्बन्धी कोई आज्ञा नहीं थी किन्तु क्षेत्र खाली देखकर हम से रहा नहीं गया अतः हमने यह कल्पित पत्र खेरवा के श्रावकों को भेज दिया था। इस गलती के लिए हम सब आपके सामने क्षमाप्रार्थी हैं।

साध्वियों को यह बात बहुत अखरी। आचार्य की आज्ञा के नाम पर उनके साथ धोखा किया गया था और वह भी अपने ही श्रावकों के द्वारा। उन्होंने दूसरे ही दिन से व्याख्यान देना तथा श्रावकों के घरों में गोचरी जाना बंद कर दिया। वे दूसरे घरों से आहार पानी ले आतीं और दिन भर अपना स्वाध्याय ध्यान करने में लगी रहतीं। श्रावक-वर्ग अपने किये पर पछताया भी पर अब क्या हो सकता था? सब ने मिलकर साध्वियों से गोचरी आने के लिए बहुत निवेदन किया पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। आखिर में श्राविकाओं ने कहा कि जो कुछ किया गया है उसमें हम बहनों का कौनसा दोष है कि आप उनके साथ हमें भी दंड दे रही हैं? आपकी इच्छा न हो तो भाइयों का अब मत निराजिये उनके हाथ से कुछ मत लीजिये पर हमें इस लाभ से वंचित किया जाना तो किसी भी प्रकार से न्याय-संगत नहीं हो सकता। उनके अतीव निवेदन पर अंततः गोचरी प्रारंभ कर दी गई। कुछ दिन बाद व्याख्यान भी प्रारंभ कर दिया गया।

इधर का कार्य जब ठीक ढंग से बैठ गया तब पाली के कुछ प्रमुख भाई जयपुर में जयाचार्य के दर्शन करने के लिए गए और प्रातःकालीन व्याख्यान में खड़े होकर सारी घटना

वली यथाक्रम से सुना देने के पश्चात् उन्होने प्रार्थना करते हुए कहा—"प्रभो ! हम आपकी आज्ञा के चोर है, अत, आपकी जो इच्छा हो वह दण्ड हमें दें।"

जयाचार्य उनके उस कार्य से बडे खिन्न हुए। उन्होने पाली के श्रावकों से इस प्रकार आज्ञातिक्रमण की आशा नही की थी। उन्होने भरी सभा में ही उन्हें काफी उपालभ दिया, पर वे तो उस सबके लिये तैयार होकर ही आये थे। अत बडी नम्रता के साथ यही एक बात दुहराते रहे कि हम दोषी है, अत आप जितना भी उपालभ या दड दें, उस सबके अधिकारी है।

जयाचार्य कई दिनो तक उन्हें परखते रहे, पर उनकी नम्रता घटने के स्थान पर बढती ही गई। आखिर गुरुदेव को उनकी उस वृत्ति पर पिघलना ही पडा। वे पिघले और ऐसे पिघले कि उपालभ लेने के लिए आये हुए पाली-वासियो का सीना क्षण भर में गज भर का हो गया। उन्होंने प्रातः कालीन व्याख्यान में उनकी नम्रता की प्रशसा की और पूर्व याचित साधुओं के चातुर्मास की इच्छा पूर्ति करने के स्थान पर आगामी वर्ष का (स० १९१३ का) अपना चातुर्मास ही वहाँ फरमा दिया। आज्ञा उल्लघन पर पाली-वासियो को मिलने वाला वह दड वस्तुत विचित्र ही था।

'धीगों' के महाराज

जयाचार्य लाडणू में विराजमान थे। वहाँ के सरावगी उस समय तेरापन्थी ही थे। उनमें से एक वृद्धा श्राविका ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि इस समय मेरे घर पर भोज के पश्चात् बची हुई मिठाई का काफी योग है, अत मुझे पात्र-दान का कुछ विशेष लाभ प्रदान करने की कृपा करें। जयाचार्य ने वृद्धा की उत्कट भावना देखकर एक प्रकार से उसे आश्वासन देते हुए फरमाया कि ठीक है, अवसर आने पर व्रत निपजाने का विचार है।

दूसरे दिन प्रात काल जयाचार्य जब स्थडिल के लिये बाहर पधारे, तब वहाँ उन्हें बहुत अच्छे शकुन हुए। वे बडे शकुनज्ञ थे, अत अच्छा अवसर देखकर उन्होने वहाँ से ही सुजानगढ के लिये विहार कर दिया। एक दो सतों को साथ रखकर बाकी के सतो को भडोवगरण ले आने के लिये ग्राम में वापिस भेज दिया। वृद्धा श्राविका को दिया गया आश्वासन उस समय उनकी स्मृति से सर्वथा ओझल हो गया था। साधुओ को भंडोवगरण एकत्रित करके झोलके में घालते देखकर और पोथियो के नागले कसते देखकर जब श्रावको ने उनसे पूछा तब पता लगा कि जयाचार्य तो वहाँ से विहार ही कर गये हैं।

वह बात सबसे अधिक उस वृद्धा को अखरी। उसकी आँखें डब डबा आई। अपने आराध्य के द्वारा उसकी यों की गई उपेक्षा उसके लिए असह्य हो गई। वह अपने आप को रोकना चाहते हुए भी रोक न सकी और सतो के सामने उपालभ भरे लहजे में जयाचार्य के लिए बोली "सब कोई उन्हें 'गरीब निवाज' कहते हैं, पर मुझे लगता है कि वे गरीबों के नही 'धीगों' के महाराज हैं। बडे आदमी जो प्रार्थना करते है, वह तत्काल पूर्ण हो जाती है, पर मेरे जैसे गरीब

वहाँ कुछ दिन सेवा में रहकर वापिस पाली में आ गया और बोला — अपने एक न एक किसी का चातुर्मास तो करायेंगे ही। पाली जैसे प्रमुख क्षेत्र के खाली रहने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।

जयाचार्य ने सब सिंघाड़ों के लिए चातुर्मास क्षेत्र निश्चित कर दिये थे। उनमें पाली का नाम नहीं था। आषाढ़ पूर्णिमा नजदीक आ रही थी अतः श्रावकों को बड़ी चिंता हुई कि यह कार्य कैसे और क्यों हुआ ? अब इतना समय भी अवशिष्ट नहीं था कि जयाचार्य के दर्शन करके चातुर्मास प्राप्त किया जा सके। उन्होंने मिलकर एक युक्ति सोची और पाली से लगभग दस मील पर स्थित 'खेरवा' ग्राम के श्रावकों के पास एक पत्र लिखकर 'खेरवा' के हाथों आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को वहाँ भेजा। उसमें समाचार थे कि जयाचार्य ने खेरवा चातुर्मास करने वाली सतियों को पाली चातुर्मास करने की आज्ञा दी है अतः उन्हें पाली आकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की प्रार्थना करें।

इस समाचार से किसी को कोई आशंका नहीं हुई क्योंकि उस समय पाली जैसा प्रमुख क्षेत्र था कि उसका खाली रहना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। साध्वियाँ आषाढ़ पूर्णिमा के दिन वहाँ पहुँच गईं। सायंकाल में पाक्षिक प्रतिक्रमण संपन्न हो जाने के पश्चात् वहाँ के श्रावक-वर्ग ने 'खमत खामणा' करते हुए साध्वियों के सामने सारी घटना निवेदित कर दी। उन्होंने बतलाया कि जयाचार्य की यहाँ चातुर्मास करने सम्बन्धी कोई आज्ञा नहीं थी किन्तु क्षेत्र खाली देखकर हम से रहा नहीं गया अतः हमने यह गलत पत्र खेरवा के श्रावकों को भेज दिया था। इस गलती के लिए हम सब आपके सामने क्षमाप्रार्थी हैं।

साध्वियों को यह बात बहुत अखरी। आचार्य की आज्ञा के नाम पर उनके साथ धोखा किया गया था और वह भी अपने ही श्रावकों के द्वारा। उन्होंने दूसरे ही दिन से व्याख्यान देना तथा श्रावकों के घरों में गोचरी जाना बंद कर दिया। वे दूसरे घरों से आहार पानी ले आतीं और दिन भर अपना स्वाध्याय ध्यान करने में लगी रहतीं। श्रावक-वर्ग अपने किये पर पछताया भी पर अब क्या हो सकता था ? सब ने मिलकर साध्वियों से गोचरी आदि के लिए बहुत निवेदन किया पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। आखिर में श्राविकाओं ने कहा कि जो कुछ किया गया है उसमें हम बहनों का कौनसा दोष है कि आप उनके साथ हमें भी दंड दे रही हैं ? आपकी इच्छा न हो तो भाइयों का घर मत निभाइये उनके हाथ से कुछ मत लीजिये पर हमें इस लाभ से वंचित किया जाना तो किसी भी प्रकार से न्याय-संगत नहीं हो सकता। उनके अतीव निवेदन पर अंततः गोचरी प्रारंभ कर दी गई। कुछ दिन बाद व्याख्यान भी प्रारंभ कर दिया गया।

इधर का कार्य जब ठीक ढंग पर बैठ गया तब वहाँ के कुछ प्रमुख भाई उदयपुर में जयाचार्य के दर्शन करने के लिए गए और प्रातःकालीन व्याख्यान में खड़े होकर सारी घटना

वली यथाक्रम से सुना देने के पश्चात् उन्होने प्रार्थना करते हुए कहा —"प्रभो ! हम आपकी आज्ञा के चोर है, अत. आपकी जो इच्छा हो वह दण्ड हमें दें।"

जयाचार्य उनके उस कार्य से वडे खिन्न हुए। उन्होने पाली के श्रावकों से इस प्रकार आज्ञातिक्रमण की आशा नही की थी। उन्होने भरी सभा में ही उन्हें काफी उपालभ दिया, पर वे तो उस सबके लिये तैयार होकर ही आये थे। अत बडी नम्रता के साथ यही एक बात दुहराते रहे कि हम दोषी हैं, अत आप जितना भी उपालभ या दड दें, उस सबके अधिकारी हैं।

जयाचार्य कई दिनों तक उन्हें परखते रहे, पर उनकी नम्रता घटने के स्थान पर बढती ही गई। आखिर गुरुदेव को उनकी उस वृत्ति पर पिघलना ही पडा। वे पिघले और ऐसे पिघले कि उपालभ लेने के लिए आये हुए पाली-वासियो का सीना क्षण भर में गज भर का हो गया। उन्होंने प्रात: कालीन व्याख्यान में उनकी नम्रता की प्रशसा की और पूर्व याचित साधुओ के चातुर्मास की इच्छा पूर्ति करने के स्थान पर आगामी वर्ष का (स० १९१३ का) अपना चातुर्मास ही वहाँ फरमा दिया। आज्ञा उल्लघन पर पाली-वासियो को मिलने वाला वह दड वस्तुत विचित्र ही था।

'धींगों' के महाराज

जयाचार्य लाडणू में विराजमान थे। वहाँ के सरावगी उस समय तेरापन्थी ही थे। उनमें से एक वृद्धा श्राविका ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि इस समय मेरे घर पर भोज के पश्चात् बची हुई मिठाई का काफी योग है, अत मुझे पात्र-दान का कुछ विशेप लाभ प्रदान करने की कृपा करें। जयाचार्य ने वृद्धा की उत्कट भावना देखकर एक प्रकार से उसे आश्वासन देते हुए फरमाया कि ठीक है, अवसर आने पर व्रत निपजाने का विचार है।

दूसरे दिन प्रात काल जयाचार्य जब स्थडिल के लिये बाहर पधारे, तब वहाँ उन्हें बहुत अच्छे शकुन हुए। वे बडे शकुनज्ञ थे, अत अच्छा अवसर देखकर उन्होंने वहाँ से ही सुजानगढ के लिये विहार कर दिया। एक दो सतों को साथ रखकर बाकी के सतो को भडोवगरण ले आने के लिये ग्राम में वापिस भेज दिया। वृद्धा श्राविका को दिया गया आश्वासन उस समय उनकी स्मृति से सर्वथा ओझल हो गया था। साधुओ को भंडोवगरण एकत्रित करके झोलके में घालते देखकर और पोथियो के नागले कसते देखकर जब श्रावको ने उनसे पूछा तब पता लगा कि जयाचार्य तो वहाँ से विहार ही कर गये हैं।

वह बात सबसे अधिक उस वृद्धा को अखरी। उसकी आँखें डब डबा आई। अपने आराध्य के द्वारा उसकी यों की गई उपेक्षा उसके लिए असह्य हो गई। वह अपने आप को रोकना चाहते हुए भी रोक न सकी और सतों के सामने उपालभ भरे लहजे में जयाचार्य के लिए बोली "सब कोई उन्हें 'गरीब निवाज' कहते हैं, पर मुझे लगता है कि वे गरीबो के नही 'धींगों' के महाराज हैं। बडे आदमी जो प्रार्थना करते हैं, वह तत्काल पूर्ण हो जाती है, पर मेरे जैसे गरीब

की प्रार्थना उनके नजर में नहीं आती। वृद्धा काफी दुःख [illegible]। आश्वासन पर भी निराशा मिलने पर उसकी भक्ति का वेग [illegible] के [illegible]

संत जब विहार करके सुजानगढ़ पहुँचे तो उन्होंने जयाचार्य के पास वृद्धा के [illegible] जिक्र करते हुए कहा— 'उसके मन में काफी दुःख हुआ है।" वृद्धा की प्रार्थना का [illegible] ही स्वयं जयाचार्य के मन पर भी अपनी विस्मृति के प्रति [illegible] के [illegible]। वे तत्काल रजोहरण उठाकर खड़े हो गये और संतों से बोले— 'वृद्धा की बात [illegible] है [illegible] थी पर अब पुनः जाकर उसका व्रत निपजाना आवश्यक है।

युवाचार्य मघराजजी पास में ही खड़े थे। उन्होंने जयाचार्य को विराजने की प्रार्थना करते हुए कहा— 'आप यहीं विराजें। वृद्धा का व्रत निपजाने के लिये [illegible] की मुझे आज्ञा दें।"

जयाचार्य ने तब मघराजजी को भेजकर वृद्धा की भावना की पूर्ति की। [illegible] दयालुता ने वृद्धा के हृदय को भक्ति रस से आप्लावित कर दिया। जयाचार्य के लिये [illegible] किये गये अपने शब्दों का तो उसे पश्चात्ताप हुआ ही होगा पर साथ ही युवाचार्य [illegible] को वहाँ आने का कष्ट उठाना पड़ा इस पर भी वह लज्जित थी। इतने पर भी [illegible] में तो वह परम संतुष्ट ही हुई थी।

आठ आने की अक्ल

तपस्वी संत उदयरामजी ने लाडनूं में अनशन किया था। उस समय जयाचार्य बीदासर में विराजमान थे। तपस्वी अपने अंतिम समय में गुरुदेव के दर्शनों की अभिलाषा [illegible] थे। जयाचार्य ने उनकी उस अभिलाषा की पूर्ति के लिये लाडनूं पधारने की [illegible] कर दी। बीदासर के भाइयों ने ये शुभ समाचार लाडनूं के श्रावकों तक पहुँचा दिये। आचार्यदेव जिस दिन पधारने वाले थे उस दिन लोग सामने गये। किन्तु बीदासर से लाडनूं आने के मार्ग कई हैं। अतः यह किसी को भी पता नहीं था कि जयाचार्य [illegible] से [illegible] आवेंगे। जिसके अनुमान में जो मार्ग ठीक जचा वह उसी मार्ग से सामने चला [illegible]। कई सुजानगढ़ की ओर, कई चाड़वास की ओर तथा कई गोपालपुर की ओर सामने गये।

जयाचार्य गोपालपुर के मार्ग से पधारे थे अतः उस मार्ग से सामने जाने वाले [illegible] दर्शन तथा सेवा का लाभ उठा सके। शेष दो मार्गों से जाने वाले व्यक्ति तो [illegible] प्रतीक्षा करने के बाद निराश होकर ही लौटे। उनमें से अनेक व्यक्ति सामने जाने की [illegible] प्रतीक्षा करने का गमन बना-बनाकर अपनी राम कहानी सुनाने लगे। सब की बातें [illegible] एक जैसी ही थीं। फिर भी सुनाने वालों की उत्सुकता एक दूसरे से बढ़कर ही [illegible] रही थी।

जयाचार्य ने सबकी बातें सुन लेने के पश्चात् फरमाया —"क्या तुम लोगों में आठ आने की भी अक्ल नहीं थी? यहाँ से बीदासर [illegible] से आठ आने में [illegible]

तो नहीं होता होगा, फिर भी यदि कोई उचित साधनो का उपयोग न करके इधर-उधर भटकता रहे तो उसका कोई क्या करे ?"

जयाचार्य की उस सामयिक भिडकी पर अवश्य ही वहाँ के मुखियो ने लज्जा का अनुभव किया होगा, क्योकि वे मुखिया कहलाकर भी समाज के व्यक्तियो के लिये यह एक साधारण-सी सुविधा भी नही कर पाये थे। वस्तुत उस आठ आने की अक्ल की व्यवस्था के अभाव में ही उस समय सैकडों व्यक्तियो के समय और श्रम के व्यय से कोई सुफल-निष्पत्ति नहीं हो पाई थी।

चित्तौड का चातुर्मास

चित्तौड में उस समय श्रद्धा के दो ही घर थे। बाकी के लोग काफी द्वेष किया करते थे। एक बार जयाचार्य ने सतियो से पूछा कि चित्तौड में चातुर्मास करने के लिये कौन-कौन तैयार हैं ? सब में एक प्रकार का सन्नाटा-सा छा गया। चित्तौड की स्थिति किसी से अज्ञात नही थी। साध्वियो के किसी छोटे से छोटे सिंघाडे के लिए भी चार महीने तक लगातार वहाँ निवास कर पाना सहज नहीं था। कोई वहाँ की तैयारी करे तो किस आधार पर करे ?

जयाचार्य ने कुछ क्षण ठहर कर अपने प्रश्न को दुहराया और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से इधर उधर देखा तो साध्वी दीपाजी ने खडे होकर प्रार्थना की कि प्रभो ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं वहाँ चातुर्मास करने के लिये तैयार हूँ।

उपस्थित साध्वियाँ तो उनके उस साहस पर चकित थी ही, पर स्वय जयाचार्य ने भी उन्हें इस प्रश्न पर गभीरता से विचार करने लिए सावधान कर देना आवश्यक समझा। उन्होने फरमाया—"वहाँ श्रद्धा के केवल दो ही घर हैं और तुम्हारे सिंघाडे में तुम बारह साध्वियाँ हो। ऐसी स्थिति में अन्य सब विषयों को छोडकर केवल आहार-पानी की व्यवस्था के विषय में ही यदि सोचें तो वहाँ की स्थिति अनुकूल नही जान पडती, फिर तुम इतनी साध्वियों के साथ वहाँ चातुर्मास कैसे कर सकोगी ?"

दीपाजी ने नम्रता से झुककर कहा—"आपने प्रथम बार फरमाया था तभी मैंने अपने साथ की साध्वियो से परामर्श कर लिया था। मेरे साथ की चार साध्वियाँ चातुर्मासिक तप और चार साध्वियाँ द्वैमासिक तप करने को तैयार है। अवशिष्ट चार साध्वियो में से दो एक दिन और दो दूसरे दिन—यों टेढे रूप से एकातर तप कर लेंगी, अत भाद्रपद तक तो केवल दो साध्वियो के लिये ही प्रतिदिन आहार की आवश्यकता होगी, जिसकी कि आपकी कृपा से कोई कमी रहने की सभावना नही है, क्योंकि दोनों ही घर काफी बडे परिवार वाले तथा सम्पन्न हैं। दो महीने के बाद जब दो साध्वियो के द्वैमासिक तप का पारण हो जाएगा, तब तक वर्षा समाप्त होने से बाहर के मार्ग भी खुल जाएंगे, अत आस-पास के दूसरे ग्रामों की गोचरी भी कर सकेंगी।

की प्रार्थना उनके मजर में नहीं आती ।" वृद्धा काफी क्षुब्ध हो गई । भावना की पूर्ति के आश्वासन पर भी निराशा मिलने पर उसकी भक्ति का वेग उपालंभ के रूप में फूट निकला ।

संत जब विहार करके सुजानगढ़ पहुँचे तो उन्होंने जयाचार्य के पास वृद्धा के उपालंभ का जिक्र करते हुए कहा— 'उसके मन में काफी दुःख हुआ है ।' वृद्धा की प्रार्थना का स्मरण होते ही स्वयं जयाचार्य के मन पर भी अपनी विस्मृति के प्रति ग्लानि के भाव उभर आये । वे तत्काल रजोहरण उठाकर खड़े हो गये और संतों से बोले — 'वृद्धा की बात ध्यान से उतर गई थी पर अब पुनः जाकर उसका व्रत निपजाना आवश्यक है ।'

युवाचार्य मघराजजी पास में ही खड़े थे । उन्होंने जयाचार्य को विराजने की प्रार्थना करते हुए कहा— 'आप यहीं विराजें । वृद्धा का व्रत निपजाने के लिये लाडनूं जाने की मुझे आज्ञा दें ।"

जयाचार्य ने तब मघराजजी को भेजकर वृद्धा की भावना की पूर्ति की । उनकी उस दयालुता ने वृद्धा के हृदय को भक्ति रस से आप्लावित कर दिया । जयाचार्य के लिये प्रयुक्त किये गये अपने शब्दों का तो उसे पश्चात्ताप हुआ ही होगा पर साथ ही युवाचार्य मघराजजी को यहाँ आने का कष्ट उठाना पड़ा इस पर भी वह लज्जित थी । इतने पर भी मन में तो वह परम संतुष्ट ही हुई थी ।

आठ आने की अक्ल

तपस्वी संत उदयरामजी ने लाडनूं में अनशन किया था । उस समय जयाचार्य बीदासर में विराजमान थे । तपस्वी अपने अंतिम समय में गुरुदेव के दर्शनों की अभिलाषा रखते थे । जयाचार्य ने उनकी उस अभिलाषा की पूर्ति के लिये लाडनूं पधारने की तिथि घोषित कर दी । बीदासर के श्रावकों ने वे शुभ समाचार लाडनूं के श्रावकों तक पहुँचा दिये । आचार्यदेव जिस दिन पधारने वाले थे उस दिन लोग सामने गये । किन्तु बीदासर से लाडनूं आने के मार्ग कई हैं । अतः यह किसी को भी पता नहीं था कि जयाचार्य कौन से मार्ग से आयेंगे । जिसके अनुमान में जो मार्ग ठीक जचा वह उसी मार्ग से सामने चला गया । कई सुजानगढ़ की ओर, कई चाड़वास की ओर तथा कई गोपालपुर की ओर सामने गये ।

जयाचार्य गोपालपुर के मार्ग से पधारे थे अतः उस मार्ग से सामने जाने वाले व्यक्ति ही दर्शन तथा सेवा का लाभ उठा सके । शेष दो मार्गों से जाने वाले व्यक्ति तो बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद निराश होकर ही लौटे । उनमें से अनेक व्यक्ति सामने जाने की दूरी तथा प्रतीक्षा करने का समय बतला-बतला कर अपनी राम कहानी सुनाने लगे । सब की बात प्रायः एक जैसी ही थी फिर भी सुनाने वालों की उत्सुकता एक दूसरे से बढ़ चढ़कर ही दिखाई दे रही थी ।

जयाचार्य ने सबकी बातें सुन लेने के पश्चात् फरमाया — क्या तुम लोगों में आठ आने की भी अक्ल नहीं थी ? यहाँ से बीदासर तक गम्भीर या कम भरने में आठ आने से अधिक व्यय

पवन की लहर

उदयपुर के महाराणा-परिवार से भारमलजी स्वामी के समय से तेरापथ का सपर्क हुआ था। पहले-पहल महाराणा भीमसिंहजी से (उनका राज्यकाल वि० स० १८३४ से १८८५ तक का था) यह क्रम चालू हुआ था, जो कि प्राय बराबर ही चलता रहा। तेरापथी साधुओ मे महाराणा भीमसिह का प्रथम सम्पर्क स० १८७६ में हेमराजजी स्वामी से हुआ था। द्वितीय सम्पर्क स० १८८२ में जयाचार्य से हुआ था। वे उसी वर्ष अग्रणी रूप में अपना प्रथम चातुर्मास करने के लिए उदयपुर गये थे। महाराणा भीमसिंह सत्सग के निमित्त तथा विशेप जिज्ञासाओं के समाधान के निमित्त वहाँ अनेक बार आया करते थे।

महाराणा जुलूस के रूप में सवारी लेकर शहर में घूमने के बडे शौकीन थे, अत: आये दिन उनकी शोभा-यात्रा निकला करती थी। वे जब अपने लवाज-सहित बाजार में से गुजरते, तब सतों का स्थान भी मार्ग में ही आ जाता था। जब-जब वे उस मार्ग से गुजरते थे, तब-तब सतो को नमस्कार करके प्राय कहा करते थे—"भला पधार्‌या, भला पधार्‌या।" एक बार वे शायद किसी राजकीय चिंता से घिरे हुए थे, अत शाति के लिए काफी देर तक जयाचार्य के पास बैठकर धर्म-चर्चा करते रहे। सतों की आध्यात्मिक सपत्ति की सराहना करते हुए उन्होने उस दिन अपनी भौतिक-सपत्ति को 'पवन की लहर' बतलाते हुए उसके प्रति अपनी उदासीन-भावना व्यक्त की थी। जयाचार्य ने भी उन्हें समयानुकूल आध्यात्मिक उपदेश के द्वारा तृप्ति प्रदान की थी।

दर्शन के लिए

महाराणा भीमसिंह का धर्मानुराग इतना हो गया था कि वे किसी आस-पास के मार्ग से गुजरते तो भी सतों के दर्शन करने को उधर आ जाया करते थे। एक बार कार्यवश उनका बहुत दिनों से सवारी लेकर बाजार में आना हुआ था। मार्ग सूर्यपोल का निश्चित हुआ था, जो कि सतो के स्थान से थोडा दूर पडता था। जुलूस जब सूर्यपोल के पास आ गया, तब उसे वही ठहरा कर स्वय घोडे पर चढकर थोडे से आदमियो के साथ सतो के स्थान पर आये और जयाचार्य के दर्शन कर वापिस गये। जुलूस उसके बाद ही गतव्य की ओर आगे बढ सका। युवराज जवानसिहजी पहले तो इस सपर्क तथा बातचीत मे कम ही रुचि रखा करते थे, पर दूसरी तीसरी बार के सपर्क मे वे भी रुचिपूर्वक भाग लेने लगे थे।

जब आयें तभी आज्ञा है

आचार्य-अवस्था मे जयाचार्य ने स० १९१२ का चातुर्मास उदयपुर मे किया था। उस अवसर में महाराणा सरूपसिहजी वहाँ के शासक थे। जयाचार्य के प्रति उनकी श्रद्धा काफी गहरी थी। श्रावक मोखजी खीवेसरा के ससर्ग से उनका धर्मानुराग और भी गहरा हो गया था। अनेक बार वे मोखजी के माध्यम से जयाचार्य को प्रश्न भी पूछते रहा करते थे।

जयाचार्य ने दीपांजी के उस साहस का मानसिक संतोष के सम्भवत यह अनुभव भी किया कि ऐसे साहसी व्यक्ति ही तेरापंथ को अपने [illegible] सर्वस्व की आहुति प्रदान कर सकते है। उनका वह चातुर्मास उन्होंने वहाँ [illegible] तो केवल उस समय उन सबके साहस को तोलना ही चाहते थे।

उत्तराधिकारी कौन ?

किसी भी महान् व्यक्ति के महत्त्वपूर्ण कार्यों को देखते समय प्राय हर किसी के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो ही जाया करती है कि इनके बाद इस कार्य भार को संभालने वाला कौन होगा ? अनेक व्यक्ति एतद् विषयक स्वतंत्र कल्पनाएं भी करने लगते हैं तथा अनेक स्वयं उस महापुरुष से पूछ लेने का भी साहस कर लेते हैं। जयाचार्य द्वारा संघ की जो सुव्यवस्था स्थापित की गई थी उसके विषय में भी जनता को यह जिज्ञासा होने लगी थी कि इनके बाद इस व्यवस्था को कौन चलायेगा ?

कुछ व्यक्ति इस विषय में स्वयं जयाचार्य को पूछ भी लिया करते थे। जयाचार्य उन्हें प्राय संक्षेप में उत्तर देते हुए कहा करते थे— छोग हरख मघराज इस कथन से उनका तात्पर्य हुआ करता था कि इन तीनों व्यक्तियों में से किसी एक को मैं अपना भार सौंपना चाहूँगा। यह उत्तर उनका प्रारंभिक समय का ही था। बाद में तो उन तीनों में से उन्होंने एक मघवागणी को ही इसके लिये चुन लिया था।

पाप-उत्थाप

जयाचार्य ने पूरी छान बीन तथा विचार विमर्श के बाद यह निर्णय घोषित किया था कि राख से वर्णादि फिर जाने के पश्चात् पानी अचित्त हो जाता है। एक दिन एक साधु ने बातों बात ही बात में जयाचार्य से निवेदन किया कि राख से पानी अचित्त होने में तो शंका है।

जयाचार्य ने पूछा – "तुम्हें ही यह शंका है या और किसी को भी ?

साधु ने कहा— 'मुझे ही क्या है यह शंका तो आप के बाप-उत्थाप वालों के भी है।"

जयाचार्य ने तत्काल ही अपने पास में बैठे हुए मघवागणी को संबोधित करते हुए कहा—

'क्यों मघजी ! राख से पानी के अचित्त होने में तुम्हें कोई शंका है ?

मघवागणी ने तत्काल हाथ जोड़ कर खड़े होते हुए कहा— नहीं महाराज ! मेरे मन में तो इस प्रकार की कोई शंका नहीं है।

उस साधु ने तब अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के निमित्त कहा—"मेरा तात्पर्य मघराजजी महाराज के लिए नहीं किन्तु छोगजी महाराज के लिए था। उनको यह शंका है।"

जयाचार्य ने कहा— छोगजी तो हमारे कोई बाप उत्थाप नहीं है। उनको भी शंका हो तो मैं उसे आज ही छोड़ने का विचार कर सकता हूँ।

महाराजा रामसिंहजी ने कहा—"यहाँ भेंट कैसी ? यहाँ तो हम गुरु-दर्शन को आये हैं। दिन में कई बातों का विचार करना पडता है, इसलिये रात में आ जाते हैं।" यह कहकर उन्होंने भेंट लेना अस्वीकार कर दिया और आगे बढ गये।

सात पारण

स० १६१२ के चातुर्मास के पश्चात् जयाचार्य थोडे से समय के लिए मेवाड मे विचरे थे और फिर मारवाड में पधार गये थे। शीतकाल के उस थोडे से समय में उन्होने चार ग्रामो मे सात साधु-साध्वियों को अपने हाथ से पारण कराया था। उन सबके आछ के आगार पर तपस्या चालू थी। कुछ को छह महीने और कुछ को उससे भी ऊपर दिन हो गये थे। उन सातों तपस्वी व्यक्तियों की तपस्या और पारण-स्थान का विवरण इस प्रकार है

नाम	तपस्या	पारण-स्थान
१ साध्वी श्री रभाजी	६ महीना	पहूना
२ साध्वी श्री हस्तूजी	६ महीना १३ दिन	पुर
३ साध्वी श्री ज्ञानाजी	६ महीना	पुर
४ साध्वी श्री जेताजी	६ महीना	पुर
५ मुनि श्री मोटजी	६ महीना	मोखणूदा
६ मुनि श्री खूमजी	६ महीना १३ दिन	मोखणूंदा
७ मुनि श्री अनूपजी	७ महीना ८ दिन	नाथद्वारा

कपड़ा और गुरु-धारणा

सवत् १६२८ में जयाचार्य का चातुर्मास जयपुर में था। वहाँ के सेठ अनतरामजी दीवान अच्छे प्रसिद्ध तथा धनाढ्य व्यक्तियों मे से थे। उनके सबसे बडे पौत्र की जलाशय में डूब जाने के कारण अचानक मृत्यु हो गई। सेठ उससे बडे दुखी तथा चिन्तित रहने लगे। ऐसे अवसर पर मनुष्य का झुकाव धर्म की ओर सहज ही हो जाया करता है। उन्होंने जयाचार्य की प्रशसा की बातें तो पहले भी बहुत सुन रखी थी, पर उनसे संपर्क स्थापित करके सत्सङ्गति का लाभ उठाने की भावना उनके मनमें उसी अवसर पर उत्पन्न हुई। उन्होंने दर्शन देने की प्रार्थना करने के लिए जयाचार्य के पास अपना व्यक्ति भेजा और कहलवाया कि हमारे शोक-सतप्त परिवार के लिए आपका उपदेश एक बहुत बडा सहारा होगा, अत एक बार अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करें।

जयाचार्य वहाँ पधारे और उन्हें सत्सग का लाभ प्रदान किया। सारा ही परिवार जयाचार्य की बातों से बडा प्रभावित हुआ। उसके पश्चात् भी जयाचार्य ने उनको अनेक बार दर्शन तथा सेवा का लाभ प्रदान किया। उनके उपदेश तथा तत्त्व-चर्चा से प्रभावित होकर वह परिवार शीघ्र ही सुलभ-बोधि बन गया। सेठ ने जयाचार्य को अपनी हवेली में

उस चातुर्मास की समाप्ति पर ग्राम-बाहर एक रात्रि रहने के लिए स्थान का दीवानखाना ठीक समझा गया अतः मोतजी ने उसकी महाराणा के सम्मुख यह बात चलाई तो उन्होंने कहा— 'महीने रहें तो भी जब कभी आयें तभी आज्ञा है।' इस पर जयाचार्य वहाँ एक रात्रि विराजे।

मेरा प्रणाम कहना

चातुर्मास समाप्त करके जयाचार्य ने जब उदयपुर से विहार किया तब उसी दिन महाराणा ने मोतजी को बुलाकर कहा— 'तुम वहाँ जाओ और मेरी ओर से संतों को वंदना प्रणाम निवेदित करो। साथ ही यह प्रार्थना भी करना कि आप लोगों की कृपा से ही हम सनाथ हैं अतः हम लोगों पर कृपाभाव बनाये रखें। उदयपुर में शीघ्र ही वापिस पधारने के लिए भी मेरी ओर से कह देना।'

मोतजी ने महाराणा की कही हुई सारी बातें जयाचार्य से निवेदित कीं। जयाचार्य ने सारी बातें सुनीं और महाराणा के धर्मानुराग पर प्रसन्नता प्रकट की।

उदयपुर ने कौन सी चोरी की है?

जयाचार्य उदयपुर चातुर्मास के बाद विहार करके पहुना पुर मोखणूँदा आदि क्षेत्रों में विचरे और कुछ ही समय पश्चात् नाथद्वारा होते हुए गोगूँदा पधार गये। उस समय बावल मोतजी उदयपुर से दर्शन करने के निमित्त गोगूँदा आये। महाराणा शम्भुसिंहजी ने उनके द्वारा जयाचार्य को उदयपुर आने के लिए फिर प्रार्थना करवाई।

मोतजी ने जयाचार्य के सामने महाराणा के शब्द रखते हुए कहा—"महाराणा ने कहा है कि आप जब मोखूँदा तक पधार गये हैं तो फिर उदयपुर ने कौन-सी चोरी की है?"

जयाचार्य ने उन सब बातों को बड़े ध्यान से सुना और मुस्कराकर रह गये। इतनी जल्दी फिर उदयपुर जाना उनके मन को संभवतः जँचा नहीं। वे वहाँ से विहार करते हुए मारवाड़ की ओर पधार गये।

गुरुदर्शन को आये हैं

जयाचार्य ने अपने दो अंतिम चातुर्मास (सं १९३७ ३८) जयपुर में किये थे। वहाँ उनके पास जयपुर-नरेश रामसिंहजी बहुत बार आया करते थे। वे बहुधा रात को वेश बदलकर शहर में घूमा करते थे, तब एकांत के समय उधर भी आ जाया करते थे। एक बार उनको भैरवलालजी के नौकर को थोड़ा संदेह हुआ। उसने लालाजी से यह बात कही। दूसरी बार जब वे आये तो लालाजी द्वार पर भेंट लेकर खड़े हो गये और वापिस जाने की प्रतीक्षा करने लगे। महाराजा रामसिंहजी दर्शन तथा बातचीत कर जब लौटने लगे तब लालाजी ने भेंट सम्मुख उपस्थित की।

जयाचार्य ने सेठ को समझाया कि इतने कपडे की तो आवश्यकता नही है, पर तुम्हारी भावना की पूर्ति के लिए थोडा लिया जा सकता है । आखिर अत्यत आग्रह और आवश्यकता का सामञ्जस्य बिठाते हुए आचार्यदेव ने उनके यहाँ से कुछ कपडा लिया । सेठ ने भी तब खडे होकर बडी भाव-विभोरता के साथ गुरु-धारणा की ।

आगरा मे भी श्रावक है

जयाचार्य अपने सपर्क मे आनेवाले व्यक्तियों के नाम बहुधा लम्बे समय के पश्चात् भी याद रख लिया करते थे । उनके इस सामर्थ्य ने अनेक बार सम्बन्धित व्यक्तियो को प्रभावित किया था । स० १८८५ में अपनी अग्रणी अवस्था में जयाचार्य ने जयपुर चातुर्मास किया था । उस समय वहाँ बहुत जनोपकार हुआ था । वहाँ के बावन व्यक्तियो ने गुरु-धारणा की थी । उनमें मालीरामजी लूणिया भी एक थे । वे जयपुर भर में बडे प्रतिष्ठित और प्रभावशाली व्यक्ति थे । जयपुर-नरेश सवाई रामसिंह द्वितीय की भी उनपर बहुत कृपा थी । परन्तु कुछ समय पश्चात् किन्ही कारणो से जयपुर-नरेश के साथ उनका मनमुटाव हो गया, अत वे आगरा में जा बसे ।

बहुत वर्षो के पश्चात् जबकि जयाचार्य जयपुर मे विराज रहे थे, तब उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक मोखजी खीमेसरा वहाँ आये थे । वे उदयपुर-महाराणा के बडे विश्वसनीय व्यक्ति थे । राजमाता तीर्थ-यात्रा करना चाहती थी, अत महाराणा ने मोखजी के सरक्षण में ही उनको तीर्थ-यात्रा पर भेजा था । राजमाता का वह तीर्थयात्री-दल जब जयपुर पहुँचा तो मोखजी को जयाचार्य के दर्शनो का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया । सेवा करते समय बातचीत के सिलसिले में मोखजी ने बतलाया कि हम लोग यहाँ से आगरे जायेंगे । जयाचार्य ने तब उनको बतलाया कि आगरे मे मालीरामजी लूणिया रहते है, वे अपने श्रद्धालु श्रावक है ।

मोखजी ने यह बात सुनी तो सही, परन्तु उन्हे न तो आगरे मे ठहरना ही था और न वहाँ कोई काम ही था कि जान-पहचान के आदमी की आवश्यकता पडे । अत उन्होंने ग्रहण-बुद्धि से नहीं किन्तु सहज रूप से सुना और स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया ।

वहाँ से वे लोग विविध तीर्थो मे घूमे । जब वापिस लौटने लगे तब मार्ग मे ही राजमाता रुग्ण हो गई । वे काफी वृद्धा थी, अत रोग का साधारण आक्रमण भी उनके लिए भारी पडा । वे दिवगत हो गई । यथोचित रूप से दाह-सस्कार कर देने के पश्चात् उन लोगों ने उदयपुर की ओर प्रयाण कर दिया ।

आगरा तथा उसके आसपास के शहरो में उन दिनों डाकुओं का बडा आतक था । डूँगजी और जुहारजी के नाम उस क्षेत्र के लिए भय के पर्यायवाची बने हुए थे । अग्रेज-सरकार बडी सतर्कता से उनकी खोज कर रही थी । उन्ही दिनो मोखजी का दल उस मार्ग मे गुजरा । उनके साथ शस्त्र-सज्ज अनेक व्यक्ति थे, अत डाकुओं के सदेह में वे सब पकड लिये गये । उन्होने

कुछ दिन ठहरने के लिए प्रार्थना की पर चातुर्मास की समाप्ति होने से वहाँ रहने का कल्प नहीं था अतः वह स्वीकृत नहीं हो सकी।

जब उन्हें साधुओं के निवास-संबंधी तथा आहार पानी वस्त्र उपधि आदि सम्बन्धी कल्प-अकल्प का ज्ञान कराया गया तब उन्होंने जयाचार्य से प्रार्थना की कि चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् एक महीने तो आप पाट पर हमारे बाग में विराजें और एक महीने यहीं अन्यत्र विराजकर फिर हमारे यहाँ हवेली में विराजने की कृपा करें। जयाचार्य ने उनकी उस प्रार्थना पर ध्यान दिया और एक महीना पाट पर तथा एक महीने भूमिग्राही के बाग में रह कर माघ के महीने में फिर शहर में पधारे। उस समय सेठ अनंतराम की नई हवेली में विराजना हुआ। साध्वियाँ उनकी पुरानी हवेली में रहीं।

कुछ दिन विराजने के पश्चात् जब जयाचार्य ने विहार करने का विचार व्यक्त किया तब सेठ ने कहा — एक महीने से पहले तो जाने नहीं दूँगा। जयाचार्य का इतना ठहरने का विचार नहीं था क्योंकि चातुर्मास के पश्चात् साधु-साध्वियों की संख्या भी काफी बढ़ गई थी तथा वहाँ से स्थंडिल भूमि और गोचरी के घर भी काफी दूर पड़ते थे। काफी आग्रह करने पर भी जब जयाचार्य ने उनकी बात नहीं मानी तब उन्होंने अपनी पगड़ी उतार कर पैरों में रख दी और स्वयं पैरों में गिर कर रोने लग गये। जयाचार्य ने उनके इस अत्यन्त आग्रह को देखकर यह गाथा फरमाई

श्रावक धर्मान्ध देखिया तिण रहयो हरष में थोड़।
सिहाँ ही देख्यो नहीं देख्यो इणहिज ठोड़॥१

आखिर सेठ के आग्रह को आँसुओं ने जयाचार्य को वहीं रखने के लिए बाध्य कर दिया। मर्यादा-महोत्सव तो वहाँ मनाया ही गया सारा माघ का महीना भी वहीं बिताना पड़ा। उसके पश्चात् जब फाल्गुन कृष्णा [illegible] को विहार होने वाला था तब सेठ अपने लड़कों तथा बच्चों आदि को [illegible] जयाचार्य के पास आया और सबको [illegible] धारणा करवाई।

उस प्रसंग पर किसी ने पूछा कि तुमने [illegible] तो अभी तक गुरु-धारणा की ही नहीं है ?

सेठ ने कहा — [illegible] अब ही और क्या गुरु-धारणा है ?

[illegible]

[illegible]

आगे मत जाओ

वृद्धावस्था में शारीरिक गडवडी के कारण जयाचार्य स० १९३२ और १९३३ मे लगातार लाडणू में ही रहे थे। जब स० १९३४ का चातुर्मास नजदीक आने लगा, तव उन्होंने वहाँ से विहार करने का विचार किया। श्रावको को उस इच्छा का पता लगा तो उन्होने वह चातुर्मास वही करने के लिए आग्रह किया। दूलीचन्दजी दूगड ने भी, जो कि विकट परिस्थितियो में सघ की विशेप सेवा करके जयाचार्य के हृदय मे अपना विशिष्ट स्थान वना चुके थे, प्रार्थना की कि अब तिहत्तर-चौहत्तर वर्ष की अवस्था में विहार कर अन्यत्र पधारने से तो यह अधिक अच्छा रहेगा कि आप यही विराजें। अधिक विराजने की इच्छा न हो तो कम से कम इस चातुर्मास का लाभ तो हमें ही प्रदान करें। उसके वाद अन्यत्र पधारने की इच्छा हो तो समाधिपूर्वक पधारना।

इस पर भी जयाचार्य ने विहार करने का अपना विचार पक्का रखा। उन्होंने सुजानगढ की ओर विहार करने की तिथि घोषित कर दी। इतना ही नही, नियत तिथि के दिन उन्होने वहाँ से विहार भी कर दिया। वे ग्राम-वाहर तक ही जा पाये थे कि मार्ग से थोडी दूर हटकर एक वृक्ष पर चढे हुए लडके ने जोर-जोर से आवाज देकर चिल्लाना प्रारभ किया—"अरे! साधुओ!! आगे मत जाओ! आगे मत जाओ!!"

शकुनज्ञ जयाचार्य कुछ देर के लिए वही रुके और फिर आगे बढने लगे। लडके ने भी फिर से उसी बुलदी के साथ अपनी बात को दोहराना प्रारभ कर दिया। आखिर वे फिर रुक गये और श्रावक दूलीचन्दजी दूगड से, जो कि उनके पास-पास ही चल रहे थे कहा – "शकुन तो अच्छे नही हो रहे हैं।"

दूलीचन्दजी ने भी कुछ चिन्ता-सी व्यक्त करते हुए कहा—"बात तो ऐसी ही है। अब आगे पधारने में तो आपके भी और हमलोगो के भी मन में एक प्रकार का वहम रहेगा। मेरी दृष्टि से तो वापस पधार जाना ही अधिक उचित रहेगा। आपने विहार करने के लिए ही तो कहा था, वह हो गया। अब शकुन अच्छे न हो सकें तो इसका आप क्या करें? यह तो निरुपाय बात ही है।"

जयाचार्य ने भी तब वापस जाना ही उचित समझा और वे तत्काल वहीं स पुन लाडणूं पधार गये। श्रावक-वर्ग बडा प्रसन्न हुआ कि जयाचार्य का तृतीय चातुर्मास भी यही पर होगा। इस प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए लोग दर्शन करके जब चले गये, तब एकात देखकर दूलीचन्दजी ने विनयपूर्वक नमस्कार करके जयाचार्य को निवेदन किया—"प्रभो! अविनय के लिए क्षमा करें, अपशकुन करने वाले उस लडके को मैंने ही सिखा-पढाकर वहाँ भेजा था। आपको रोकने का और कोई उपाय न देखकर ही मैंने ऐसा करने का विचार किया था।"

अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए जो कुछ कहा उसे मनघड़ंत समझा गया। उस अपरिचित स्थिति से मोतजी बड़ी दुविधा में फँस गए। पराया राज्य अनजाना क्षेत्र और अपरिचित व्यक्ति सभी कुछ तो प्रतिकूल था। अनुकूलता का कोई आधार तक नहीं था। बहुत कहने-सुनने पर अधिकारी व्यक्ति केवल इतने के लिए तैयार हुए कि यदि यहाँ कोई तुम्हें जानता हो तो हम जमानत पर छोड़ सकते हैं।

मोतजी को उस समय जयाचार्य की कही हुई बात याद आई। उन्होंने पुलिस-अफसर से कहा कि यहाँ मालीरामजी लूणिया मेरे सहधर्मी हैं। यदि आप मुझे उनके पास ले चलें तो मैं अपनी सत्यता का प्रमाण दिला सकता हूँ।

मालीरामजी आगरा में आकर भी बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति बन गये थे। पुलिस-अफसर ने जब उनका नाम सुना तो वह उन्हें उनके पास भेजने को सहमत हो गया। दूसरे दिन प्रातः वे वहाँ भेज गये। सेठजी उस समय पूजा में बैठे हुए थे अतः उन्हें कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। पूजा समाप्त होने पर जब उनको मिलने के लिए अन्दर बुलाया गया तब वहाँ के रंग ढंग देखकर मोतजी को निराशा ही हुई। उन्होंने सोचा कि जयाचार्य तो इन्हें तेरापंथी बतला रहे थे पर ये तो मूर्तिपूजक हैं। फिर भी जब अन्दर आ चुके तब बात कर लेना ही उचित समझा।

प्रारम्भिक अभिवादन के पश्चात् सेठजी ने उनका परिचय तथा वहाँ आने का कारण पूछा। मोतजी ने अपना परिचय देते हुए तीर्थ-यात्रा से अपने पकड़े जाने तक की सारी रामकथा कह सुनाई। उन्होंने यह भी बतलाया कि जब हम जयपुर गये थे तब वहाँ जयाचार्य ने आपके विषय में परिचय दिया था।

मालीरामजी ने जयाचार्य का नाम सुना तो बोले जयाचार्य ? किनके शिष्य हैं ? कब दीक्षित हुए थे ? उनके परिवार के और कौन-कौन दीक्षित हैं ? इत्यादि अनेक प्रश्न पूछ डाले।

मोतजी ने उन सब प्रश्नों के उत्तर तो दिये पर उन्हें लगा कि वे किसी दूसरे ही मालीरामजी से मिल रहे हैं।

मालीरामजी अपने सब प्रश्नों के ठीक उत्तर पाकर पूर्ण आश्वस्त हो गये कि वे किसी अविश्वसनीय व्यक्ति से नहीं मिल रहे हैं। वे बोले— बहुत वर्षों के पश्चात् आज ही मुझे एक सार्मिक भाई मिले हो। तुमने मुझे जयाचार्य का स्मरण दिलाकर पुलकित कर दिया। उन्होंने तो अब याद कर लिया पर मैं ऐसा अविनीत शिष्य निकला कि यहाँ दूर आकर उनके उपदेशों को भुलाकर अपने ही लौकिक धन्धे में फँस गया। उन्होंने मोतजी का बहुत आदर सत्कार किया और अपने यहाँ भोजन करवाया। उसके पश्चात् वे अधिकारियों से मिले और इन्हें अपनी ही व्यक्तिगत जमानत पर मुक्त करवाया।

आगे मत जाओ

वृद्धावस्था में शारीरिक गडवडी के कारण जयाचार्य स० १९३२ और १९३३ मे लगातार लाडणू में ही रहे थे। जव स० १९३४ का चातुर्मास नजदीक आने लगा, तव उन्होने वहाँ से विहार करने का विचार किया। श्रावको को उस इच्छा का पता लगा तो उन्होने वह चातुर्मास वही करने के लिए आग्रह किया। दूलीचन्दजी दूगड ने भी, जो कि विकट परिस्थितियो में सघ की विशेप सेवा करके जयाचार्य के हृदय मे अपना विशिष्ट स्थान वना चुके थे, प्रार्थना की कि अव तिहत्तर-चौहत्तर वर्ष की अवस्था मे विहार कर अन्यत्र पधारने से तो यह अधिक अच्छा रहेगा कि आप यही विराजें। अधिक विराजने की इच्छा न हो तो कम से कम इस चातुर्मास का लाभ तो हमें ही प्रदान करें। उसके वाद अन्यत्र पधारने की इच्छा हो तो समाधिपूर्वक पधारना।

इस पर भी जयाचार्य ने विहार करने का अपना विचार पक्का रखा। उन्होने सुजानगढ की ओर विहार करने की तिथि घोषित कर दी। इतना ही नही, नियत तिथि के दिन उन्होने वहाँ से विहार भी कर दिया। वे ग्राम-वाहर तक ही जा पाये थे कि मार्ग से थोडी दूर हटकर एक वृक्ष पर चढे हुए लडके ने जोर-जोर से आवाज देकर चिल्लाना प्रारभ किया—"अरे। साधुओ ।। आगे मत जाओ। आगे मत जाओ ।।"

शकुनज्ञ जयाचार्य कुछ देर के लिए वही रुके और फिर आगे वढने लगे। लडके ने भी फिर से उसी बुलदी के साथ अपनी वात को दोहराना प्रारभ कर दिया। आखिर वे फिर रुक गये और श्रावक दूलीचन्दजी दूगड से, जो कि उनके पास-पास ही चल रहे थे कहा – "शकुन तो अच्छे नहीं हो रहे है।"

दूलीचन्दजी ने भी कुछ चिन्ता-सी व्यक्त करते हुए कहा—"वात तो ऐसी ही है। अव आगे पधारने में तो आपके भी और हमलोगो के भी मन मे एक प्रकार का वहम रहेगा। मेरी दृष्टि से तो वापस पधार जाना ही अधिक उचित रहेगा। आपने विहार करने के लिए ही तो कहा था, वह हो गया। अव शकुन अच्छे न हो सकें तो इसका आप क्या करें ? यह तो निरुपाय वात ही है।"

जयाचार्य ने भी तव वापस जाना ही उचित समझा और वे तत्काल वहीं से पुन लाडणूं पधार गये। श्रावक-वर्ग वडा प्रसन्न हुआ कि जयाचार्य का तृतीय चातुर्मास भी यहीं पर होगा। इस प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए लोग दर्शन करके जव चले गये, तव एकात देखकर दूलीचन्दजी ने विनयपूर्वक नमस्कार करके जयाचार्य को निवेदन किया—"प्रभो। अविनय के लिए क्षमा करें, अपशकुन करने वाले उस लडके को मैंने ही सिखा-पढाकर वहाँ भेजा था। आपको रोकने का और कोई उपाय न देखकर ही मैंने ऐसा करने का विचार किया था।"

जयाचार्य ने सारी बात सुनकर आश्चर्य-भरी दृष्टि से उनकी ओर [illegible]
किये।

पञ्चाङ्ग निर्माण

जयाचार्य जहाँ जैन तत्त्व-ज्ञान के धुरीण विद्वान् थे वहाँ अन्य [illegible]
असाधारण गति थी। उनके प्रिय शिष्यों में से एक गणित ज्योतिष भी था। [illegible]
में अन्य जैन संप्रदायों में विभिन्न मत भेदों को देखकर उनके मन में एक बार यह विचार [illegible]
कि क्यों नहीं जैन पद्धति से एक पंचांग की रचना की जाए? सारा जैन-समाज [illegible]
करे तो कहना ही क्या पर वैसा न होने पर भी तेरापन्थ की आवश्यकता तो [illegible]
ही जाती है। इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने सौ वर्षों का एक पंचांग बनाना प्रारम्भ
किया था।

उन्हीं दिनों में एक स्थानकवासी साधु जो कि जयाचार्य के शास्त्रीय ज्ञान और विवेक
से बहुत प्रभावित होने के कारण उनको बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे [illegible]।
एक दिन [illegible] के लिए पंचांग निर्माण विषयक बातचीत चलने पर उन्होंने जयाचार्य को इस
विषय पर फिर से ध्यान देने के लिये जोर दिया। शायद उन्होंने नये पंचांग को लेकर [illegible]
परस्पर और मत भेद बढ़ जाने की संभावना भी व्यक्त की। सारांश यह कि [illegible]
जयाचार्य ने उस कार्य को स्थगित कर दिया क्योंकि वे जैनों के पर्व संबंधी [illegible]
में वृद्धि करना नहीं चाहते थे।

कुत्तों की लड़ाई

जयाचार्य अपने कार्य में लगे हुए थे। सामने की गली में दो कुत्तों ने परस्पर की लड़ाई
में इतना हल्ला मचाया कि हर किसी का ध्यान उधर का उधर जाने लगा। जयाचार्य ने उस
स्थिति को शिक्षा का माध्यम बनाया और तत्काल एक दोहा बनाकर शिष्य-वर्ग को सावधान
करते हुए बोले

नहीं ज्ञान का ध्यान काम काज किम को नहीं।
ते भवर गम जाण फिरे घर घसड़ो कर॥

आत्मबोध

जयाचार्य एक आत्मप्रेरी व्यक्ति थे। आत्म-साधना उनका मूल लक्ष्य था। [illegible]
आचार्य होने से सारे शिष्य-वर्ग को बोध देना भी उनका कर्तव्य था पर वे केवल परोपदेश में
विश्वास करने वाले व्यक्ति नहीं थे। आत्मबोध के विषय में उनकी पूर्ण जागरूकता रहा करती
थी। एक प्राचीन पत्र में जयाचार्य के कुछ ऐसे सोरठे प्राप्त हुए हैं जो कि उन्होंने आत्मबोध
के लिए बनाए थे वे इस प्रकार हैं

जीता जनम सुधार, तप जप कर तन ताइये ।
खिण मे हुवै तन छार, दिन थोडा मे देखजे ॥
जीता निज दुख जोय, कुण कुण कष्ट ज भोगव्या ।
अब दिल मे अवलोय, ज्यू सुख लहिये सासता ॥
स्नेहराग सताप, जीता निश्चय जाण नै ।
सम भावे चित थाप, आतम सुख बहुला अख्या ॥
स्तुती जस परसस, हियडै सुण नवि हरखिये ।
अवगुण द्वेष न अस, सुण तू जय निज सीखडी ॥
क्रोध अगन उपसत, खिम्या चित्त धारै खरी ।
धीर गभीर धरत, कठिन वचन नवि काढिये ॥
जय सागर सम जाण, महिमागर मुनिवर सही ।
अखिल परपर आण, अल्प दिवस मे अचल सुख ॥
वैरी मान बिखेर, जय नरमाई गुण जपै ।
हिवडै पर-गुण हेर, निज अवगुण सुण निंद मा ॥
जय निज आदि सु जोय, विविध पणै तू दुख बह्यो ।
अल्प कठिन अवलोय, कोपै तू किण कारणै ॥
जय खिम्या वर रोप, वचन सुमति वगतर प्रवर ।
अधिक गुणागर ओप, आतम गढ आराधिये ॥
भू सम जय गभीर, निष्प्रकप मदर निधि ।
हेरै निज गुण हीर, ध्यान सुधारस ध्यान नै ॥
धर धन्नो चित धीर, अल्पकाल आराधियो ।
तू पिण धर तप तीर, सखरी सुण जय सीखडी ॥
उलङ्गो काल अनाद, अतर जय गुण अब लखो ।
प्रवर प्रशात प्रसाध, धुर खिम्या धर खात सू ॥
चतुराई चित चित, सुध निज कारज साधिये ।
मतकर वीजोमित, आत्ममित जय अचल कर ॥
जय अतिम जगदीस, कुण कुण तप अघ क्षय किया ।
धर्म खिम्या धारीस, अवर तन न सके अदर ॥

जयाचार्य ने सारी बात सुनकर आश्चर्य-भरी दृष्टि से उनकी ओर [illegible] दिये।

पञ्चाङ्ग निर्माण

जयाचार्य जहाँ जैन तत्त्व-ज्ञान के धुरीण विद्वान् थे वहाँ अन्य विषयों में असाधारण गति थी। उनके प्रिय विषयों में से एक गणित ज्योतिष भी था। जैन पर्वों के निर्णय में अन्य जैन संप्रदायों में विभिन्न मत भेदों को देखकर उनके मन में एक बार यह विचार [illegible] कि क्यों नहीं जैन पद्धति से एक पंचांग की रचना की जाए? सारा जैन-समाज उसे स्वीकार करे तो कहना ही क्या पर वैसा न होने पर भी तेरापन्थ की आवश्यकता तो उससे पूरी हो जाती है। इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने सौ वर्षों का एक पंचांग बनाना प्रारम्भ किया था।

उन्हीं दिनों में एक स्थानकवासी साधु जो कि जयाचार्य के शास्त्रीय ज्ञान और [illegible] से बहुत प्रभावित होने के कारण उनको बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे उनसे मिले। एक [illegible] के लिए पंचांग निर्माण विषयक बातचीत चलने पर उन्होंने जयाचार्य को इस विषय पर फिर से ध्यान देने के लिये जोर दिया। शायद उन्होंने नये पंचांग को लेकर दोनों में परस्पर और मत-भेद बढ़ जाने की संभावना भी व्यक्त की। सारांश यह कि उसी समय जयाचार्य ने उस कार्य को स्थगित कर दिया क्योंकि वे दोनों के पर्व संबंधी वर्तमान [illegible] में क्षति करना नहीं चाहते थे।

कुत्तों की लड़ाई

जयाचार्य अपने कार्य में लगे हुए थे। सामने की गली में दो कुत्तों ने परस्पर की लड़ाई में इतना हल्ला मचाया कि हर किसी का ध्यान उधर का उधर जाने लगा। जयाचार्य ने उस स्थिति को शिक्षा का माध्यम बनाया और तत्काल एक दोहा बनाकर शिष्य-वर्ग को सावधान करते हुए बोले

नहीं ज्ञान नह ध्यान काम काज जिन को नहीं।
ते कूकर सम जाण फिरै घरै कजहो करै॥

आत्मबोध

जयाचार्य एक आत्मगवेषी व्यक्ति थे। आत्म-साधना उनका मूल लक्ष्य था। यद्यपि आचार्य होने के नाते शिष्य-वर्ग को बोध देना भी उनका कर्तव्य था पर वे केवल परोपदेश में विश्वास करने वाले व्यक्ति नहीं थे। आत्मबोध के विषय में उनकी पूर्ण जागरूकता रहा करती थी। एक प्राचीन पत्र में जयाचार्य के कुछ ऐसे सोरठे प्राप्त हुए हैं जो कि उन्होंने आत्मबोध के लिए बनाए थे वे इस प्रकार हैं

नही कर पाये। इस प्रकार स० १९२९ से १९३६ तक के आठ चातुर्मासो मे से चार बीदासर, तीन लाडणू और एक सुजानगढ मे हुआ था। मर्यादा-महोत्सवो मे से केवल दो (स० १९३४ और ३६) लाडणू मे और अवशिष्ट छह बीदासर मे हुए थे। उन आठ वर्षो मे उनका विहार लाडणू और बीदासर को ही केन्द्र मानकर होता रहा, जो कि एक दूसरे से लगभग बीस मील की दूरी पर अवस्थित है।

जयपुर की ओर

स० १९३६ का मर्यादा-महोत्सव लाडणू मे करने के पश्चात् जयाचार्य सुजानगढ पधारे। वहाँ लाला भैरूलालजी ने दर्शन किये और उनमे जयपुर पधारने की प्रार्थना की। उस समय तक शारीरिक स्थिति भी अपेक्षाकृत कुछ सुधर चुकी थी, अत जयाचार्य ने उनकी प्रार्थना पर जयपुर जाने का निश्चय कर लिया। छोटे-छोटे विहार करते हुए उन्होने चैत्र शुक्ला अष्टमी को जयपुर में प्रवेश किया। स्थानीय श्रावको के उत्साह तथा सेवा-परायणता ने जयाचार्य के उस पदार्पण को सफल बना दिया। जयपुर के पार्श्ववर्ती स्थानो मे विहार करते हुए जयाचार्य ने स० १९३७ का चातुर्मास तथा मर्यादा-महोत्सव वही पर किया।

थली के समाचार

उस अवसर पर थली से अनेक प्रेरणाप्रद समाचार आये। विशेषकर सरदारशहर की ओर से। वहाँ छोगजी, चतुर्भुजजी आदि टालोकरो का प्रभाव छिन्न-भिन्न होने लगा था। उस समय तक तेरापन्थ के लिए सरदारशहर केवल बहनो का ही क्षेत्र कहलाता था। स्वामीजी के समय से ही वहाँ टालोकरों का प्राबल्य रहा था। पहले चन्द्रभाणजी, तिलोकचदजी का विहार वहाँ होता रहा था, अत उनके कारण से वहाँ के भाई तेरापन्थ से द्वेष रखा करते थे। जब उनकी परपरा समाप्त होने को आई, तब जयाचार्य के समय में छोगजी, चतुर्भुजजी आदि ने वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। वहाँ के श्रावको ने भी उन लोगो को खूब प्रश्रय दिया। यद्यपि छोगजी आदि चन्द्रभाणजी, तिलोकचदजी के शिष्य नही थे, फिर भी तेरापन्थ के विरोधी तो थे ही।

जोगी की जटा

जयाचार्य सरदारशहर के भाइयो की तुलना जोगी की जटा से किया करते थे। वे कहा करते थे कि जोगी की जटा बहुत उलझी हुई होती है, अत उसे कघी से नही सुलझाया जा सकता। उसको सुलझाने के लिये तो उस्तरे की आवश्यकता होती है। सरदारशहर के भाई भी उस जटा की तरह अपने ही आप तेरापन्थ से द्वेष-भावना के कारण उलझे हुए है। तत्त्व-चर्चा की कघी से उन्हें नही सुलझाया जा सकता, उन पर तो जब कभी किसी विशेष घटना का 'उस्तरा' फिरेगा तभी सुलझेंगे।

जयाचार्य की वह भविष्यवाणी वस्तुत ठीक निकली। टालोकरो का गुट पारस्परिक मत-भेदो के कारण टूटने लगा था। लोग स्वत ही तेरापन्थ की ओर आकृष्ट होने लगे थे।

८

सफल जीवन की अन्तिम झाँकी

तन का वार्धक्य

जयाचार्य का जीवन एक सफल आचार्य का जीवन था। उन्होंने जिस कार्य की ओर ध्यान दिया उसी कार्य को सर्वाङ्ग रूप से उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। यद्यपि उनके शरीर की ऊंचाई कम थी पर मन की ऊंचाई इतनी अधिक थी कि वैसे व्यक्ति संसार में विरल ही मिल पाते हैं। वे दुबले-पतले थे पर उनकी आत्मा की विशालता [illegible] थी। एक महान् संत होने के कारण जहाँ उनका मन स्वस्थ और समाधि-युक्त था वहाँ उनका तन भी प्राय रोग-मुक्त था। वृद्धावस्था के कारण अंतिम वर्षों में अवश्य कभी-कभी कुछ [illegible] हो जाया करती थी फिर भी उनके तन का वार्धक्य उनके मन पर कभी नहीं आ सका था।

मोतिया और आपरेशन

वृद्धावस्था के प्रारंभिक वर्षों में जयाचार्य के नेत्रों में कुछ गड़बड़ हुई थी परन्तु वह साधारण उपचार आदि से शीघ्र ही उपशांत हो गई थी। वह उपचार सं १९११ में [illegible] में किया गया था। उसके पश्चात् बहुत वर्षों तक उनकी आँखें ठीक चलती रहीं। फिर भी अवस्था के साथ-साथ वे कमजोर होती गई और उनमें मोतिया उतर आया। उसके पक जाने पर सं १९२१ में बड़े कानूजी स्वामी द्वारा उसका आपरेशन किया गया जो कि पूर्णतः सफल रहा।

सीमित विहार

आपरेशन के पश्चात् जयाचार्य का विहार-क्षेत्र प्राय सीमित हो गया था। जब वे सं १९१ के[1] वैशाख में बीदासर पधारे थे तब बुखार आ जाने से उनका शरीर और भी अधिक निर्बल हो गया था और उन्हें अपना विहार भी स्थगित कर देना पड़ा। तब भी अशक्ति और अस्वस्थता के कारण उनका वह चातुर्मास तथा मर्यादा-महोत्सव वहीं हुआ यद्यपि वे सं १९२१ का चातुर्मास और मर्यादा-महोत्सव यहीं कर चुके थे। सं १९३१ में [illegible] चातुर्मास करके सं ३२ ३३ और ३४ के चातुर्मास उन्होंने लाडनूं में ही किये। उसके पश्चात् सं ३५ और ३६ के चातुर्मास फिर बीदासर में किये। यद्यपि इन चातुर्मासों के पश्चात् मर्यादा-महोत्सव के लिए वे अनेक बार अन्यत्र भी पधारे पर अधिक दूर का विहार

१—म इ ६ दो ४

२—संतों की ख्यात

३—जय सुजश के अनुसार सं १९३९

रोग-वृद्धि

श्रावण मास के प्रारंभिक दिनो से ही उनके शरीर पर अन्य रोगो का भी आक्रमण होने लगा। उन्हें दस्त लगने लगे और अन्न के प्रति अरुचि बढने लगी। दस्तो की बीमारी किसी युवक की भी शक्ति तोड देती है। जयाचार्य तो फिर वृद्ध थे। क्रमश उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होती गई। श्रावण के शुक्ल पक्ष में उनके गले की गाँठ का मुह चौडा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ताकि विकार बाहर निकल सके। जब शल्य-क्रिया द्वारा वैसा किया गया तो काफी मवाद बाहर निकला। एक बार के लिए उन्हें कुछ शाति अवश्य मिली, पर तभी से उन्हें बुखार ने आ घेरा।

लालाजी का देहात

लाला भैरूलालजी जयाचार्य के बडे भक्त श्रावक थे। उनकी प्रार्थना पर ही उन्होंने जयपुर पदार्पण का निर्णय किया था। चातुर्मास उन्ही के मकान में था। लालाजी रात-दिन सेवारत रहा करते थे। जयाचार्य की रुग्णावस्था के विषय मे वे बडी चिंता किया करते थे। एक दिन अचानक ही वे स्वय रुग्ण हो गये। रोग ने इतना तीव्र आक्रमण किया कि उनके बचने की आशा क्षीण होने लगी। जयाचार्य अपनी रुग्णावस्था में भी उन्हें दर्शन देने के लिए एक बार मध्याह्न में और दूसरी बार सायकाल में पधारे। जयाचार्य के मगलमय शब्दों ने लालाजी के परिणामों को उच्चत्तर बनाने में भारी सबल प्रदान किया। लालाजी उसी रात को दिवगत हो गये।

उनका परिवार काफी बडा था। घर भी शहर के प्रमुख घरो में से एक था। उनकी मृत्यु पर लोगों का आवागमन काफी बडी मात्रा में होने वाला था। इसीलिए अवसरज्ञ जयाचार्य ने सूर्योदय होते ही स्थान बदल लिया। लालाजी के मकान के लगभग सामने ही सरदारमलजी लूणिया का मकान था, वे वहाँ पधार गये। वह भाद्रपद मास का प्रथम दिन था। उसके पश्चात् जयाचार्य का विराजना वही हुआ।

स्वाध्याय-श्रवण

जयाचार्य का शरीर धीरे-धीरे अशक्त होता जा रहा था। अन्न प्राय छूटता जा रहा था। कभी-कभी थोडा-सा ले लिया करते थे और त्याग कर दिया करते थे। कभी औषधि और जल के अतिरिक्त त्याग कर दिया करते थे। उन दिनो स्वाध्याय तथा ध्यान ही उनका एक मात्र सबल बन गया था। जब भी अवसर होता वे शिष्यों के द्वारा ढालें सुना करते थे। जो कुछ उन्हें सुनाया जाता था, उसे वे पूरी सावधानी से सुना करते थे। उनके स्वाध्याय-प्रेमी मन को इससे कुछ तृप्ति का अनुभव हुआ करता था।

गाथाएँ छोड दी है क्या ?

उस रुग्ण-अवस्था मे भी उनकी मन स्थिति अत्यत स्थिर और सचेत थी। कही कोई सुनाते समय गलत बोलता तो उसी समय उसे टोक दिया करते थे। एक बार युवाचार्य

जयाचार्य की सूझ-बूझ के आधार पर कालूजी स्वामी ने उस समय वहाँ के प्रभावित किया कि थोड़े ही समय में वहाँ के अधिकांश प्रमुख व्यक्ति तेरापन्थी बन गये।

विहार का विचार और स्थगन

जयाचार्य के पास ये समाचार पहुँचे तब वे बड़े प्रभावित हुए। वे उन व्यक्तियों को देखना चाहते थे। वे जयपुर में मर्यादा-महोत्सव सपन्न करने के पश्चात् कुछ दिन उन पार्श्ववर्ती स्थानों में विचरे और 'अक्षय तृतीया' के दिन थली की ओर विहार कर देने का विचार करने लगे। उनकी इस इच्छा का जब श्रावक-वर्ग को पता लगा तो उन्होंने काफी आग्रहपूर्वक वहीं विराजने की प्रार्थना की। उसके अतिरिक्त प्रभुदासजी व्यास तथा राजजी आदि शहर के प्रमुख व्यक्तियों ने भी उस प्रार्थना को सबल बनाया। वे लोग जयाचार्य के प्रति बड़ी श्रद्धा रखा करते थे और बहुधा आया-जाया करते थे। जयाचार्य ने उन सबकी भावना को ध्यान में रखते हुए आखिर अपने विहार के विचार को स्थगित कर देना ही उचित समझा।

विहार-स्थगन का वह निर्णय वस्तुतः ठीक ही हुआ क्योंकि ग्रीष्म ऋतु का समय राजस्थान में लम्बे विहार के लिए प्रायः प्रतिकूल ही साबित होता है। जयाचार्य ने जब विहार का विचार किया था तब ग्रीष्म ऋतु द्वार पर ही खड़ी थी। धीरे धीरे उसकी भयंकरता बढ़ने वाली ही थी। छोटे-छोटे विहार होते तब ग्रीष्म का बहुत सा भाग मार्ग में ही बीतने की संभावना थी।

गले में गाँठ

विहार-स्थगन के पश्चात् जयाचार्य वहीं के क्षेत्रों में विचरते रहे। ग्रीष्मकाल में उनके गले में एक गाँठ उठी। क्रमशः वह बढ़ने लगी और उनके शरीर में वेदना रहने लगी। यदि वे उस समय विहार कर गये होते तो बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता। वह गाँठ ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों उनके शरीर में वेदना भी बढ़ती गई। आषाढ़ में जब वह पक कर फूटी, तब सबको आशा बंधी कि अब फिर से उनका स्वास्थ्य सुधर जायगा परंतु ऐसा नहीं हो सका। धीरे धीरे उनका स्वास्थ्य और अधिक गिर गया। 'अस्वास्थ्य' के कारण उनके स्वाध्याय क्रम में भी काफी बाधा आने लगी।

अंतिम चातुर्मास

सं० १९३८ का चातुर्मास जयपुर में ही हुआ। वह उनका अंतिम चातुर्मास था। उस समय उनकी सेवा में युवाचार्य आदि ग्यारह अन्य साधु और गुलाब सती आदि बैंतीस साध्वियाँ थी। जयाचार्य की अस्वस्थता के कारण उस चातुर्मास में व्याख्यान प्रायः युवाचार्य मघवागणी ही दिया करते थे। संघ के आवश्यक कार्यों की देख रेख भी युवाचार्य ही किया करते थे। जयाचार्य के लिये उस समय शारीरिक कार्यों के अतिरिक्त प्रायः चिन्तन और स्वाध्याय— ये दो ही कार्य रहा करते थे।

रोग-वृद्धि

श्रावण मास के प्रारंभिक दिनो से ही उनके शरीर पर अन्य रोगो का भी आक्रमण होने लगा। उन्हें दस्त लगने लगे और अन्न के प्रति अरुचि बढने लगी। दस्तो की बीमारी किसी युवक की भी शक्ति तोड देती है। जयाचार्य तो फिर वृद्ध थे। क्रमश उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होती गई। श्रावण के शुक्ल पक्ष मे उनके गले की गाँठ का मुह चौडा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ताकि विकार बाहर निकल सके। जब शल्य-क्रिया द्वारा वैसा किया गया तो काफी मवाद बाहर निकला। एक बार के लिए उन्हें कुछ शाति अवश्य मिली, पर तभी से उन्हें बुखार ने आ घेरा।

लालाजी का देहात

लाला भैरूलालजी जयाचार्य के बडे भक्त श्रावक थे। उनकी प्रार्थना पर ही उन्होंने जयपुर पदार्पण का निर्णय किया था। चातुर्मास उन्ही के मकान मे था। लालाजी रात-दिन सेवारत रहा करते थे। जयाचार्य की रुग्णावस्था के विषय में वे बडी चिंता किया करते थे। एक दिन अचानक ही वे स्वय रुग्ण हो गये। रोग ने इतना तीव्र आक्रमण किया कि उनके बचने की आशा क्षीण होने लगी। जयाचार्य अपनी रुग्णावस्था मे भी उन्हें दर्शन देने के लिए एक बार मध्याह्न में और दूसरी बार सायकाल में पधारे। जयाचार्य के मगलमय शब्दों ने लालाजी के परिणामों को उच्चतर बनाने में भारी सबल प्रदान किया। लालाजी उसी रात को दिवगत हो गये।

उनका परिवार काफी बडा था। घर भी शहर के प्रमुख घरों मे से एक था। उनकी मृत्यु पर लोगों का आवागमन काफी बडी मात्रा में होने वाला था। इसीलिए अवसरज्ञ जयाचार्य ने सूर्योदय होते ही स्थान बदल लिया। लालाजी के मकान के लगभग सामने ही सरदारमलजी लूणिया का मकान था, वे वहाँ पधार गये। वह भाद्रपद मास का प्रथम दिन था। उसके पश्चात् जयाचार्य का विराजना वहीं हुआ।

स्वाध्याय-श्रवण

जयाचार्य का शरीर धीरे-धीरे अशक्त होता जा रहा था। अन्न प्राय छूटता जा रहा था। कभी-कभी थोडा-सा ले लिया करते थे और त्याग कर दिया करते थे। कभी औषधि और जल के अतिरिक्त त्याग कर दिया करते थे। उन दिनो स्वाध्याय तथा ध्यान ही उनका एक मात्र सबल बन गया था। जब भी अवसर होता वे शिष्यों के द्वारा ढालें सुना करते थे। जो कुछ उन्हें सुनाया जाता था, उसे वे पूरी सावधानी से सुना करते थे। उनके स्वाध्याय-प्रेमी मन को इससे कुछ तृप्ति का अनुभव हुआ करता था।

गाथाएँ छोड दी है क्या ?

उस रुग्ण-अवस्था मे भी उनकी मन स्थिति अत्यत स्थिर और सचेत थी। कही कोई सुनाते समय गलत बोलता तो उसी समय उसे टोक दिया करते थे। एक बार युवाचार्य

मघवागणी स्वयं पास में बैठे हुए उन्हें आराधना की ढालें सुना रहे थे। दो-तीन गाथाएँ छोड़ दी थीं। जयाचार्य ने तत्काल उन सन्तों को [illegible] कुछ गाथाएँ छोड़ दी गई हैं क्या ?

आत्मालोचन

अपनी शारीरिक क्षीणता को देखते हुए जयाचार्य ने अपनी आत्मा को निःशल्य बना लेने की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। वे आत्मालोचन करते रहे। आराधना आदि की ढालें सुनते समय उन्होंने ज्ञान-दर्शन चारित्र आदि के अतिचारों का मिच्छामि दुक्कडं किया। जीवन भर में किसी भी व्यक्ति के प्रति भूल से भी कभी भावों को हटाने के लिए उन्होंने सरल हृदय से क्षमा-याचना की।

शिक्षा-दान

उन्हीं दिनों में उन्होंने साधु-साध्वियों के लिए भी अनेक शिक्षाएँ प्रदान कीं। वे अधिक समय तक बोलने का परिश्रम नहीं कर सकते थे फिर भी जो कुछ कहना चाहते थे उसे थोड़ा-थोड़ा करके कहा करते थे। शिष्य-वर्ग के लिए उस समय का उनका वह थोड़ा-सा कथन भी बहुत मूल्यवान् था। संघ की एकता, आचार्य और शिष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, आज्ञा-पालन में जागरूकता आदि विषयों पर उन्होंने अपनी शिक्षाओं में विशेष रूप से बल प्रदान किया।

सागार अनशन

क्षीणता की वृद्धि होते-होते जयाचार्य को बीच-बीच में मूर्च्छा भी रहने लगी। शिष्य-वर्ग विशेष सावधानी से उनकी सेवा में उपस्थित रहने लगा। भाद्र कृष्णा द्वादशी के दिन संध्या के समय उनके शरीर की स्थिति अधिक खराब हो गई। उस समय युवाचार्य मघवागणी ने पूछा कि इच्छा हो तो आपको सागार अनशन करा दिया जाए ? जयाचार्य की बोलने की शक्ति नहीं थी परन्तु इस बात के लिए उन्होंने हुंकार देकर स्वीकृति प्रदान की। युवाचार्य ने अपनी बात को दुहरा कर फिर पूछा ताकि उनके सुनने तथा स्वीकृति देने में पूरी स्पष्टता होने का पता लग जाए। उन्होंने दुबारा उसी प्रकार से हुंकार देकर स्वीकृति प्रदान की। तब उन्हें औषधि और जल के आगार से अनशन करा दिया गया।

जन-आगमन

अनशन की बात ज्योंही शहर में फैली त्योंही दर्शनार्थियों का तांता लग गया। बाहर के यात्रियों का आवागमन तो पावस से ही प्रारंभ था। कभी मारवाड़ और मेवाड़ के सैकड़ों व्यक्तियों ने दर्शन-लाभ प्राप्त किया था। इस अवसर पर दर्शनार्थियों का वह प्रवाह और भी बढ़ गया। लोग आते और अपनी दर्शन पिपासा को शान्त करके चले जाते। वहाँ के वातावरण को शांत रखने के लिए एक साथ अधिक व्यक्तियों को एकत्रित नहीं होने दिया जाता था। जनता एक प्रकार से उनके अन्तिम दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी थी।

पूर्ण अनशन

राजगढ निवासी श्रावक भीमराजजी पारख उन दिनो सेवा के निमित्त वहाँ आये हुए थे। वे नाडी के अच्छे जानकार थे। वारस के दिन मध्याह्न में जब उन्होने जयाचार्य की नाडी देखी तो युवाचार्य मघवागणी से प्रार्थना की कि अब यदि आप यावज्जीवन का सथारा करा दें तो यह उचित अवसर ही जान पडता है। नाडी का बल बहुत ही क्षीण हो गया है, अत अधिक विलम्ब नही करना चाहिए। युवाचार्य तथा प्रमुख साधुओ और गृहस्थो ने भी शरीर की हालत देखते हुए सथारे की बात को समयानुकूल ही माना। जयाचार्य की भावना जानने के लिए उनके कान के पास जोर से बोल कर पूछा गया कि आपकी इच्छा हो तो यावज्जीवन के लिए तिविहार अनशन करा दिया जाए। उस समय उनमें बोलने की शक्ति तो थी ही नही, पर कही गई बात पर साधारणतया पूरा ध्यान दे सकने की स्थिति भी नही थी, इसलिए दो-तीन बार जोर से दुहराने पर ही वे उस बात को पकड पाये। तत्काल उन्होने स्वीकृति-सूचक शिर हिलाते हुए अनशन की भावना व्यक्त की। यो अच्छी तरह से श्रद्ध लेने पर उन्हें ग्यारह बजकर पचीस मिनट पर तिविहार सथारा करा दिया गया। सायकाल के समय जब कि लगभग डेढ मुहूर्त्त दिन अवशिष्ट था, उनके शरीर की स्थिति और भी अधिक खराब हो गई, अत उन्हें चारो आहारो का प्रत्याख्यान करा दिया गया।

देह-परित्याग

पूर्ण अनशन करा देने के थोडे समय पश्चात् ही उन्हें दो-तीन हिचकियाँ आई। उन्होने सहसा अपनी बद आँखें खोलीं और उसी अवस्था में देह-परित्याग कर दिया। इस प्रकार स० १९३८ के भाद्रपद कृष्णा द्वादशी के सायकाल में तेरापन्थ के एक तेजस्वी और युग-प्रवर्त्तक आचार्य का देहावसान हो गया। विश्व भारतीय सत-परपरा के उस तेजोमय नक्षत्र के प्रकाश-पुज से वचित हो गया।

दाह-सस्कार

अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् जब उनका शरीर साधु-वर्ग के द्वारा 'वोसराया' गया तब दिन प्राय समाप्ति की ओर ही जा रहा था। अत दूसरे दिन प्रात काल ही दाह-सस्कार की क्रिया सपन्न किये जाने का निश्चय हुआ। उस रात को बडे जोर से वर्षा हुई। प्रात काल के समय भी आकाश में काले बादल छाए हुए थे। बंदा-बादी चालू थी। परन्तु जब शरीर का प्रक्षालन आदि प्रारभ किया गया तब से वर्षा बद हो गई और आकाश भी कुछ साफ हो गया।

जयपुर-राज्य में उस समय राज-परिवार के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति के शव को बैठे निकालने की मनाही थी। अत श्रावक-वर्ग ने राज्य से विशेष आज्ञा प्राप्त की और उन्हें बैकुठी में बिठाकर जुलूस निकाला गया। राज्य की ओर से शव-यात्रा के समय हाथी, घोडे,

सिपाही और नगाड़े निशान आदि का यथायोग्य प्रबंध किया गया था । दाह-संस्कार में सम्मिलित होने के लिए स्वमत के तथा अन्य हजारों ही व्यक्ति एकत्रित हुए । मुख्य बाजारों में से होते हुए बैकुण्ठी को सरदारमलजी लूणिया के बाग में ले जाया गया और वहाँ दाह-संस्कार की क्रिया संपन्न की गई । बाद में स्मृतिस्वरूप वहाँ एक चबूतरा बना दिया गया ।

यद्यपि वह बाग अब सरकार द्वारा ले लिया गया है और दूसरे रूप में परिवर्तित कर दिया गया है फिर भी जयाचार्य का वह चबूतरा विद्यमान है । उसके ऊपर अब [illegible] [illegible] की छतरी बना दी गई है । वह जयपुर-संग्रहालय (म्यूजियम) के दक्षिण पार्श्व की ओर सड़क के किनारे पर अवस्थित है और जयाचार्य की स्मृति का प्रतीक आज भी बनी हुई है।

: ६ :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १८६० आश्विन शुक्ला चतुर्दशी

(२) दीक्षा-सवत्— १८६६ माघ कृष्णा सप्तमी

(३) अग्रणी सवत्— १८८१ पौप शुक्ला तृतीया

(४) युवाचार्य-पद सवत्— १८६४ आषाढ[1]

(५) आचार्य-पद सवत्— १६०८ माघ पूर्णिमा

(६) स्वर्गवास सवत्— १६३८ भाद्रपद कृष्णा द्वादशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान— रोयट

(२) दीक्षा-स्थान— जयपुर

(३) अग्रणी-स्थान— पाली

(४) युवाचार्य-पद स्थान—नाथद्वारा

(५) आचार्य-पद स्थान— बीदासर

(६) स्वर्गवास-स्थान— जयपुर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ— ६ वर्ष

(२) साधारण साधु— १२ वर्ष

(३) अग्रणी— १२ वर्ष

(४) युवाचार्य— १५ वर्ष

(५) आचार्य— ३० वर्ष

(६) सर्व आयु— ७८ वर्ष

जन्म-कुडली

जयाचार्य की जन्म-कुडली का विवरण 'जय सुजस' में मघवागणी ने इस प्रकार दिया है

तनु भुवन केतु तृतीय भुवने शुक्र सूर्य गुरू शनी।
चतुर्ग्रही ए जोग चारु अथ तूर्य भुवने सुण गुनी॥
बुद्ध मगल ग्रह विहु फुन सप्तमें राहू सही।
जय धर्म-भुवने चन्द्रमा फुन अवर भुवने ग्रह नही॥[2]

१—जैन काल-गणना पद्धति के अनुसार स० १८९३ का आषाढ़।

२—ज० सु० १-५

सिपाही और नगाड़ निशान आदि का व्यवस्था प्रबन्ध किया गया था।
सम्मिलित होने के लिए स्वमत के तथा अन्य हजारों ही व्यक्ति एकत्रित हुए।
होते हुए बैकुण्ठी को सरदारमलजी भूमिया के बाग में लाया गया और वहाँ
क्रिया संपन्न की गई। बाद में स्मृतिस्वरूप वहाँ एक चबूतरा बना दिया गया।

यद्यपि वह बाग अब सरकार द्वारा ले लिया गया है और दूसरे रूप में परिवर्तित किया गया है फिर भी जयाचार्य का वह चबूतरा विद्यमान है। उसके ऊपर अब [illegible] की छतरी बना दी गई है। वह जयपुर-संग्रहालय (म्यूजियम) के दक्षिण बाजू की ओर सड़क के किनारे पर अवस्थित है और जयाचार्य की स्मृति का प्रतीक बनकर खड़ी हुई है।

: ६ :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १८६० आश्विन शुक्ला चतुर्दशी

(२) दीक्षा-सवत्— १८६९ माघ कृष्णा सप्तमी

(३) अग्रणी सवत्— १८८१ पौष शुक्ला तृतीया

(४) युवाचार्य-पद सवत्— १८६४ आषाढ[१]

(५) आचार्य-पद सवत्— १६०८ माघ पूर्णिमा

(६) स्वर्गवास सवत्— १६३८ भाद्रपद कृष्णा द्वादशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान— रोयट

(२) दीक्षा-स्थान— जयपुर

(३) अग्रणी-स्थान— पाली

(४) युवाचार्य-पद स्थान—नाथद्वारा

(५) आचार्य-पद स्थान— बीदासर

(६) स्वर्गवास-स्थान— जयपुर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ— ९ वर्ष
(२) साधारण साधु— १२ वर्ष
(३) अग्रणी— १२ वर्ष
(४) युवाचार्य— १५ वर्ष
(५) आचार्य— ३० वर्ष
(६) सर्व आयु— ७८ वर्ष

जन्म-कुण्डली

जयाचार्य की जन्म-कुडली का विवरण 'जय सुजस' में मघवागणी ने इस प्रकार दिया है

तनु भुवन केतु तृतीय भुवने शुक्र सूर्य गुरू शनी ।
चतुर्ग्रही ए जोग चारु अथ तूर्य भुवने सुण गुनी ॥
बुद्ध मगल ग्रह विहु फुन सप्तमें राहू सही ।
जय धर्म-भुवने चन्द्रमा फुन अवर भुवने ग्रह नही ॥[२]

१—जैन काल-गणना पद्धति के अनुसार स० १८९२ का आषाढ़ ।

इसके अनुसार उनकी जन्म-कुंडली की ग्रह स्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :

विहार-क्षेत्र

जयाचार्य के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ और हाड़ोती आदि तो थे ही, उनके अतिरिक्त मालव, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, हरियाणा और दिल्ली को भी उन्होंने अपना विहार-क्षेत्र बनाया था।

चातुर्मास

जयाचार्य ने प्रथम बारह चातुर्मास साधारण साधु की अवस्था में हेमराजजी स्वामी के साथ किये। उसके पश्चात् तेरह चातुर्मास अग्रणी अवस्था में किये। उनमें से एक चातुर्मास सं० १८८४ का पेटलावद में ऋषिराय की सेवा में और शेष बारह स्वतंत्र किये थे। तत्पश्चात् चौदह चातुर्मास युवराज-अवस्था में किये। उनमें से सं० १९११ का ऋषिराय के साथ बीकानेर में और सं० १९ १ का हेमराजजी स्वामी के साथ नाथद्वारा में किया। शेष बारह चातुर्मास स्वतंत्र किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होंने तीस चातुर्मास किये थे। इस प्रकार उन्होंने सब उनहत्तर चातुर्मास तेईस ग्रामों में संपन्न किये थे। उनका पृथक्-पृथक् विवरण निम्न प्रकार है :

हेमराजजी स्वामी के साथ

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
इन्द्रगढ़ (हाड़ोती में)	१	१८७
पाली	३	१८७१, ७२, ८
कंटालिया	१	१८७२

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
सिरियारी	१	१८७३
गोगूदा	१	१८७४
देवगढ	१	१८७६
उदयपुर	१	१८७७
आमेट	१	१८७८
पीपाड	१	१८७९
जयपुर	१	१८८१

अग्रणी-अवस्था मे

उदयपुर	१	१८८२
नाथद्वारा	१	१८८३
पेटलावद	१	१८८४ (ऋषिराय के साथ)
जयपुर	१	१८८५
जोधपुर	१	१८८६
चूरू	१	१८८७
बीकानेर	२	१८८८, ९३
दिल्ली	१	१८८९
बालोतरा	१	१८९०
फलोदी	१	१८९१
लाडणू	१	१८९२
पाली	१	१८९४

युवाचार्य-अवस्था में

लाडणू	२	१८९५, १९००
चूरू	१	१८९६
उदयपुर	२	१८९७, १९०५
जयपुर	३	१८९८, १९०१, ४
बीदासर	२	१८९९ (ऋषिराय के साथ), १९०८
किसनगढ	१	१९०२
नाथद्वारा	१	१९०३ (हेमराजजी स्वामी के साथ)
बीकानेर	२	१९०६, ७

इसके अनुसार उनकी जन्म-कुंडली की ग्रह स्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :

विहार-क्षेत्र

जयाचार्य के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्यों—मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ और हाड़ोती आदि तो थे ही, उनके अतिरिक्त मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, हरियाणा और दिल्ली को भी उन्होंने अपना विहार-क्षेत्र बनाया था।

चातुर्मास

जयाचार्य ने प्रथम बारह चातुर्मास साधारण साधु की अवस्था में हेमराजजी स्वामी के साथ किये। उसके पश्चात् तेरह चातुर्मास अग्रणी अवस्था में किये। उनमें से एक चातुर्मास सं० १८८४ का पेटलावद में ऋषिराय की सेवा में और शेष बारह स्वतंत्र किये थे। तत्पश्चात् चौदह चातुर्मास युवराज-अवस्था में किये। उनमें से सं० १८९९ का ऋषिराय के साथ बीदासर में और सं० १९०१ का हेमराजजी स्वामी के साथ नाथद्वारा में किया। शेष बारह चातुर्मास स्वतंत्र किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होंने तीस चातुर्मास किये थे। इस प्रकार उन्होंने कुल उनहत्तर चातुर्मास तेईस ग्रामों में संपन्न किये थे। उनका पृथक्-पृथक् विवरण निम्न प्रकार है

हेमराजजी स्वामी के साथ

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
इन्द्रगढ़ (हाड़ोती में)	१	१८७०
पाली	३	१८७१, ७२, ८०
कंटालिया	१	१८७२

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
सिरियारी	१	१८७३
गोगूदा	१	१८७४
देवगढ	१	१८७६
उदयपुर	१	१८७७
आमेट	१	१८७८
पीपाड	१	१८७९
जयपुर	१	१८८१

अग्रणी-अवस्था मे

उदयपुर	१	१८८२
नाथद्वारा	१	१८८३
पेटलावद	१	१८८४ (ऋषिराय के साथ)
जयपुर	१	१८८५
जोधपुर	१	१८८६
चूरू	१	१८८७
बीकानेर	२	१८८८, ९३
दिल्ली	१	१८८९
बालोतरा	१	१८९०
फलोदी	१	१८९१
लाडणू	१	१८९२
पाली	१	१८९४

युवाचार्य-अवस्था में

लाडणू	२	१८९५, १९००
चूरू	१	१८९६
उदयपुर	२	१८९७, १९०५
जयपुर	३	१८९८, १९०१, ४
बीदासर	२	१८९९ (ऋषिराय के साथ), १९०८
किसनगढ़	१	१९०२
नाथद्वारा	१	१९०३ (हेमराजजी स्वामी के साथ)
बीकानेर	२	१९०६, ७

आचार्य-अवस्था में

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
जयपुर	४	१९०९ २८ ३६, ३८
नाथद्वारा	१	१९१०
रतलाम	१	१९११
उदयपुर	१	१९१२
पाली	२	१९१३ २२
बीदासर	८	१९१४ १७ २१ २६ २९ ३१ ३५, ३९
लाडनूं	६	१९१५ १८ २७ ३३ ३७, ३४
सुजानगढ़	४	१९१६ १९ २४ ३१
चूरू	१	१९२
जोधपुर	२	१९२३ २५

मर्यादा-महोत्सव-तालिका

मर्यादा-महोत्सव की स्थापना जयाचार्य ने सं० १९२१ में की थी तब से वह प्रति वर्ष मनाया जा रहा है। जयाचार्य ने अपने समय में विभिन्न स्थानों पर १७ मर्यादा-महोत्सव मनाये थे। उन सबकी तालिका इस प्रकार है

स्थान	महोत्सव-संख्या	सम्वत्
बालोतरा	१	१९२१
कंटालिया	१	१९२२
बीदासर	९	१९२३ २६ २७ २९ ३१ ३२ ३३ ३५
सुजानगढ़	१	१९२४
लाडनूं	३	१९२५ ३४ ३६
जयपुर	२	१९२८ ३७

शिष्य-संपदा

जयाचार्य के शासनकाल में तीन सौ तीस दीक्षाएं हुईं। उनमें साधुओं की एक सौ पांच और साध्वियों की दो सौ पच्चीस दीक्षाएं हुईं। जयाचार्य ने स्वयं अपने हाथ से एक सौ [illegible] दीक्षाएं प्रदान कीं। उनमें [illegible] साधु तथा एक सौ [illegible] साध्वियां थीं। जयाचार्य के दिवंगत होने के समय [illegible] साधु और दो सौ पांच साध्वियां संघ में विद्यमान थीं।

षष्ठ परिच्छेद

आचार्य श्री मघवागणी

: १ :

गृहि-जीवन

बीदायत और बीदासर

श्री मघवागणी तेरापन्थ के पचम आचार्य थे। वे राजस्थान के अन्तर्गत बीकानेर डिवीजन में बीदासर-निवासी थे। बीदासर एक अच्छा कस्बा है। उसे राठौर वशी राजकुमार 'बीदोजी' ने बसाया था। उसके आस-पास के बहुत से ग्राम बीदा राजपूतों के स्वामित्व में ही थे, अत उस क्षेत्र को 'बीदायत' कहा जाने लगा। बीदासर में ओसवाल जाति के जैन वधुओं की काफी अच्छी सख्या रही है। वहाँ के ओसवालों में अनेक व्यक्ति बडे दवग स्वभाव के तथा साहसी हुए है। धार्मिक भावना में भी वहाँ के निवासी काफी आगे रहे है। उनकी स्वभावगत यह विशेषता आज भी वहाँ के निवासियो में स्पष्ट देखी जा सकती है। थली में तेरापन्थ की नीव लगी थी, तभी से बीदासर अपना प्रथम स्थान रखता आया है। ऋषिराय ने थली में अपने प्रथम चातुर्मास के लिए उसे ही चुना था। मघवागणी के जन्म-स्थान का गौरव भी उसे ही प्राप्त हुआ था।

जन्म

मघवागणी का जन्म स० १८९७ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ था। उनका मूल नाम 'मघराज' रखा गया था। उनके पिता का नाम पूरणमलजी बेगवाणी तथा माता का नाम बन्नाजी था। मघवागणी के एक छोटी बहिन भी थी, उनका नाम गुलाबकवर था। दोनो भाई-बहिन छोटी अवस्था में थे, तभी उनके पिता का देहावसान हो गया था। माता बन्नाजी ने उस आघात को बडे साहस के साथ सहा और अपने मन को विशेष रूप से धार्मिकता की ओर लगा दिया। वे अत्यन्त विरागमय जीवन बिताने लगी। समय-समय पर यथाशक्ति तपस्या करने में भी उनकी रुचि रहा करती थी।

धार्मिक सस्कार

माता की धार्मिक रुचि का प्रभाव बालकों पर स्वत ही आ जाना निश्चित होता है, फिर उन्हें एक विशेष अवसर भी प्राप्त हो गया था। एक बार सरदारसती का पदार्पण बीदासर में हुआ। वे उन्हीं की जगह मे ठहरी थी। रात-दिन धार्मिक वातावरण में रहते हुए दोनों बालकों ने कुछ तत्त्व-ज्ञान कठस्थ करना प्रारभ किया। परिणामस्वरूप उनका मन धर्म के प्रति विशेष निष्ठाशील बन गया।

उन दिनों युवाचार्य-पद के रूप में जयाचार्य थली में विहार किया करते थे। उन्होने स० १९०८ का अपना चातुर्मास बीदासर में किया था। सरूपचदजी स्वामी आदि बारह सत उनके साथ थे। युवाचार्य के चातुर्मास से लोगो को और भी अधिक धार्मिक-सबल मिला। फलस्वरूप त्याग-तपस्या की वहाँ अच्छी प्रगति हुई। उसी चातुर्मास में बन्नाजी तथा उनके दोनो बालकों के मन में सयम की भावना जागरित हुई थी।

तब सारे लडके एक साथ कहते—"थारै पातरै मे घी, बैठ्यो ठंढो पाणी पी ।"

जयाचार्य ने भी बालको के इस खेल को आते-जाते समय कई बार देखा । सहज हृदय से निकलने वाली उनकी बात को जयाचार्य ने बडा शुभ माना । वे ज्योतिष तथा शकुन आदि के प्रति बडी आस्था रखते थे । वे स्वयं इस विषय के अच्छे ज्ञाता भी थे । बालको की उस वाणी को उन्होने मघवा के विषय मे एक शुभ भविष्यवाणी के रूप में ग्रहण किया । बहुत वर्षों बाद जब मघवा को युवाचार्य पद दिया गया, तब जयाचार्य ने उस बात का उल्लेख करते हुए कहा भी था "बाल्यावस्था में तुम्हारे साथी तुम्हें जो बात कहा करते थे, वह वचन बहुत शुभ और श्रेष्ठ था । बालकों की वह वाणी आज पूर्णत फलित हो गई है ।"

ऐसा लगता है कि बालकों की वह भविष्यवाणी मघवा के सयम देने में अवश्य ही जयाचार्य की इच्छा को प्रेरित करने वाली हुई होगी ।

दीक्षा-तिथि की घोषणा

मघवागणी की प्रबल इच्छा, बन्नाजी की प्रार्थना और बालको की शुभ-भाषा—इन सभी बातो का समन्वित प्रभाव यह हुआ कि जयाचार्य ने मघवागणी को औरो से पूर्व दीक्षा प्रदान करने की स्वीकृति दे दी । साथ ही चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् मार्गशीर्ष बदी पचमी का शुभ दिन दीक्षा के लिए घोषित कर दिया ।

दीक्षा के लिए प्रस्थान

दीक्षा-प्राप्ति में जिस बाधा से विलम्ब होने का भय था, उसको मघवा ने आसानी से पार कर लिया । अब और कोई बाधा सामने नहीं थी । पचमी तक के दिन अवश्य बाधक थे, पर वे भी एक-एक करके समाप्त हुए जा रहे थे । चातुर्मास लगभग समाप्ति पर ही था । दीक्षा की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं । शोभा-यात्राएँ निकलने लगी और बनौरे जीमे जाने लगे । जो-जो 'नेगचार' उस समय प्रचलित थे, दीक्षा से पूर्व वे सब विधिवत किये गये । चतुर्थी की रात्रि समाप्ति हुई और पचमी का सूर्य अनेक सम्भावनाएँ लेकर पूर्व में आ खडा हुआ ।

दीक्षार्थी मघवा ने दीक्षा लेने के लिए जाने से पूर्व अपने काका के साथ बैठकर भोजन किया । उसके पश्चात् तिलक करवाकर तथा सारे परिजनो से विदा लेकर दीक्षा लेने के लिए अन्तिम रूप से वे घर को छोडकर चल दिये । बाहर आने पर उनके काका ने सहारा देकर उन्हे घोडी पर चढा दिया । बाजे-गाजे के साथ घोडी आगे बढी । सैकडो व्यक्ति जुलूस के रूप में घोडी के पीछे-पीछे पैदल चले । उनके पीछे औरतें स्तवन आदि गाती हुई चली । जुलूस धीरे-धीरे दीक्षा के निमित्त नियत किये गये स्थान की ओर बढा ।

अकल्पित बाधा

उसी समय मार्ग में किसी व्यक्ति ने मघवागणी के काका को कुछ कहकर बहका दिया । सभव है उस व्यक्ति ने उन्हें सुनाकर कुछ ऐसी बातें कही थी कि जिससे उनके मन पर सीधी

: १२ :

दीक्षा की तैयारी

बहिन का कल्प

दीक्षा ग्रहण करने के लिए तीनों व्यक्तियों की मानसिक भूमिका तैयार हो चुकी थी, फिर भी उसे कार्य रूप देने के मार्ग में अनेक बाधाएँ थीं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' यह [illegible] ही अनुभवी व्यक्ति का उद्‌गार है। प्रायः हर शुभ कार्य में अनेक विघ्न उपस्थित हो ही जाया करते हैं। मघवागणी की दीक्षा में भी अनेक विघ्न उपस्थित हुए थे पर वे एक वीर व्यक्ति के समान प्रत्येक विघ्न को पराजित करने में सफल हुए।

उनकी दीक्षा में सबसे पहली बाधा तो यह थी कि उनकी बहिन गुलाबसती की अवस्था बहुत छोटी थी। उनकी दीक्षा का कल्प नहीं आ जाता तब तक माता बन्नाजी भी दीक्षित नहीं हो सकती थी। छोटी लड़की को किसी दूसरे के आश्रय पर छोड़कर दीक्षित होने में जहाँ उनका दायित्व बाधक बनता था वहाँ इस प्रकार दीक्षित करने को जयाचार्य के उद्यत होने की भी सम्भावना नहीं थी।

इतनी स्पष्ट बाधा होते हुए भी मघवागणी मानो 'जदह विरज्जेज्ज तदह पव्वज्जेज्ज' अर्थात् जिस दिन संसार से विरक्ति हो जाए, उसी दिन उसे छोड़ दो—इस कथन को मूर्तरूप देने के लिए दृढ़-संकल्प हो गये थे। बहिन के कल्प आने तक की प्रतीक्षा भी उनके लिए असह्य हो रही थी। उस बाधा को पार करने के लिए उन्होंने एक मार्ग निकाला। उन्होंने बन्नाजी को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि यदि जयाचार्य दीक्षा देते हों तो वह उन्हें पहले दीक्षित होने के लिए भी आज्ञा प्रदान कर देंगी। इतना ही नहीं उन्होंने बन्नाजी द्वारा जयाचार्य से प्रार्थना भी करवाई कि इसे आप पहले दीक्षा प्रदान कर दीजिये और कल्पान्तर की अवस्था आने के पश्चात् हम दोनों पर कृपा कीजिये।

बालकों की भविष्यवाणी

मघवा की संयम के प्रति तत्परता और साथ ही बन्नाजी की प्रेरणा जहाँ जयाचार्य के मन को संयम देने के लिए अनुकूल बन रही थीं वहाँ एक ओर घटना ने भी उनको [illegible] सहयोग दे दिया। वह घटना इस प्रकार है—मघवागणी के बाल-साथियों को जब यह पता लगा कि वे दीक्षा ले रहे हैं तब उन्होंने खेल ही खेल में अज्ञात भाव से उस स्थिति को भी अपने खेल का एक विषय बना लिया। वे परस्पर खेलते तब एक बालक मघवा की ओर संकेत करते हुए कहता—'मत्थेण वंदामि मघजी स्वामी।'

मघवा तो इस पर स्वयं नहीं बोलते पर कोई दूसरा लड़का उनका पार्ट अदा करता हुआ कहता—'जी।'

आज तो यह दीक्षा नही हो सकेगी। वस्तुत उस दिन वह दीक्षा नही हो सकी और जयाचार्य अपने स्थान पर वापस पधार गये।

आगे के लिए भी क्या पता चल सकता था कि ऊँट कौन-सी करवट बैठेगा ? चातुर्मास के पश्चात् दीक्षा के निमित्त ही वे वहाँ ठहरे हुए थे, अन्यथा उन्हे वहाँ रहने का कल्प ही नही था। दीक्षा-विपयक अनिश्चय हो जाने से अब वहाँ रहने का कल्प भी समाप्त हो गया था, अत वे उसी दिन विहार करके पार्श्ववर्ती ग्राम 'दडीबा' में पधार गये। दूसरे दिन उन्होने वहाँ से लाडणू की ओर विहार कर दिया।

गढ से घर पर

बाल मघवा को गढ मे रोककर रखा गया। उन्हें वहाँ ठाकर के पास भी ले जाया गया। ठाकर ने उनसे अनेक प्रश्न किये। तुम दीक्षा क्यो लेना चाहते हो ? यहाँ तुम्हे क्या दु ख है ? साधुओ के वहकाव में आ गये लगते हो, इत्यादि प्रश्नो का उन्होने यथोचित उत्तर दिया और निर्भीकतापूर्वक अपनी भावना बतलाई। इस प्रकार और भी अनेक बातो में उलझाकर काका ने उनको यथावशयक गढ़ में रोके रखा, बाद में जब उन्हे यह निश्चय हो गया कि अब दीक्षा का कोई भय नही रह गया है, तब वहाँ से अपने साथ-साथ उन्हें घर ले आये।

फिर तैयारी

दीक्षा का वह अवसर टल जाने से मघवा के मन में काफी क्षोभ हुआ। यद्यपि अचानक आई हुई उस बाधा ने सहसा ही उन्हें निकटस्थ सफलता से दूर ढकेल दिया था, फिर भी वे उससे पराजित नही हुए। तत्काल उन्होंने अपने आगे का कर्त्तव्य निर्धारित किया और अपने काका को फिर से सहमत कर लेने के प्रयास में लग गये। आखिर वे उन्हें पूर्ण सहमत तो नही कर पाये, पर इतना अवश्य हुआ कि आगे के लिए उन्होंने किसी प्रकार की बाधा देने का विचार त्याग दिया। बन्नाजी तथा मघवा ने उस स्थिति का तत्काल लाभ उठाने का विचार किया और वे उन्हें जताकर युवाचार्य की सेवा में लाडणू आ गये।

दीक्षा-ग्रहण

वहाँ मघवा ने फिर अपनी दीक्षा की प्रार्थना की और काके की किसी प्रकार से भी बाधक न बनने की भावना बतलाई। जयाचार्य ने तब पूर्व मुहूर्त्त से एक सप्ताह बाद ही अर्थात् स० १६०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी का दिन दीक्षा के लिए घोषित कर दिया। लाडणू के बाहर एक 'पीरजी' का स्थान है। वहीं पर हजारों व्यक्तियों की उपस्थिति में यथासमय मघवागणी की दीक्षा सपन्न हुई। उनकी माता बन्नाजी ने बडे हर्ष से उन्हें आज्ञा प्रदान की और स्वय गुलाबकवर के कल्प आने तक के लिए अपने सासारिक कर्त्तव्य का निर्वाह करती रहीं। इस प्रकार मघवागणी ने अपनी दीक्षा के मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओं को पार करके अन्त में सफलता प्राप्त की थी।

चोट हुई और वे तिलमिला उठे । वे बातें थे हो सकती है—"इसका [illegible] क्या इसे यों घर से निकाल देगा ?' 'अच्छा ही है यह घर में रहता का अधिकारी होगा अब मैं अकेले ही इसके अधिकारी रह जायेंगे ।' [illegible] दीक्षा लेगा तब इसके दुर्ग का पता लगता ।

इन अनर्गल आक्षेपों ने उन्हें इतना क्षुब्ध कर दिया कि वे अपने पर [illegible] असमर्थ हो गए । एकाएक उन्होंने अपने मन में कुछ निर्णय किया और ज्यों ही [illegible] पास पहुँचा त्यों ही उसे कार्यरूप में भी परिणत कर दिया । वे [illegible] घोड़ी के [illegible] आए और किसी को कुछ सोचने-समझने का अवसर देने से पूर्व ही मघवा को [illegible] पर से उतार लिया । वे उन्हें गोदी में उठाये हुए ही झट गढ़ में घुस गये ।

दीक्षा नहीं दिलानी है

दीक्षार्थी मघवा को घोड़ी से उतारने के उद्देश्य का पता तब चला जब कि उनके काका उन्हें लिए हुए गढ़ में प्रविष्ट हो चुके थे । वे अचानक उपस्थित हुए उस विघ्न से चकित रह गये । साहस करके काका से जब वैसा करने का कारण पूछा तो तमतमाए हुए चेहरे से एक ही उत्तर मिला—'मुझे दीक्षा नहीं दिलानी है ।'

बाहर खड़ी हुई जनता भी उनके उस अप्रत्याशित व्यवहार से चकित थी । उन्होंने [illegible] से लोगों को स्पष्ट कहला दिया कि आप सब अपने घर जाइए । कुछ प्रमुख व्यक्ति उनसे बातचीत करने के लिए गढ़ में गये और ऐसा करने का कारण पूछा पर उन्होंने [illegible] कुछ भी न बतलाते हुए सिर्फ उसी बात को दुहरा दिया कि मैं दीक्षा दिलाना नहीं चाहता । इससे अधिक न उन्होंने कुछ बताया और न बातचीत ही की ।

भावी के गर्भ में क्या छिपा होता है—यह पता कौन लगा सकता है । अनेक बार मनुष्य के साथ ऐसा होता है कि वह जहाँ विघ्न की आशंका करता है वहाँ कोई विघ्न नहीं होता । पर जहाँ वह निश्चिन्तता देखता है वहीं अनेक विघ्न आ खड़े होते हैं । प्रस्तुत दीक्षा के अवसर पर किसी प्रकार की बाधा की कोई संभावना नहीं थी । दीक्षा के लिए निर्धारित समय से ठीक थोड़ा पूर्व ही कोई बाधा आ धमकेगी संभवतः यह कल्पना भी किसी ने नहीं की थी पर हुआ ऐसा ही था ।

दीक्षा नहीं हो सकी

जयाचार्य को जब पता चला कि मघवा को उनका काका गढ़ में ले गया है और वह दीक्षा नहीं दिलाना चाहता तो उन्हें भी आश्चर्य हुआ । जयाचार्य द्वारा दीक्षार्थी के [illegible] की आज्ञा पहले ही प्राप्त की जा चुकी थी तब फिर ऐसा व्यवहार करने का कोई कारण नहीं रह गया था । परन्तु वह सब तो उस समय अस्पष्ट ही रहा । [illegible] किया जा सकता था, वे गढ़ में ही ठहरे हुए थे । जयाचार्य के सामने इतना [illegible] हो गया था कि

आज तो यह दीक्षा नही हो सकेगी। वस्तुत उस दिन वह दीक्षा नही हो सकी और जयाचार्य अपने स्थान पर वापस पधार गये।

आगे के लिए भी क्या पता चल सकता था कि ऊँट कौन-सी करवट बैठेगा? चातुर्मास के पश्चात् दीक्षा के निमित्त ही वे वहाँ ठहरे हुए थे, अन्यथा उन्हे वहाँ रहने का कल्प ही नहीं था। दीक्षा-विपयक अनिश्चय हो जाने से अव वहाँ रहने का कल्प भी समाप्त हो गया था, अत वे उसी दिन विहार करके पार्श्ववर्ती ग्राम 'दडीवा' में पधार गये। दूसरे दिन उन्होने वहाँ से लाडणू की ओर विहार कर दिया।

गढ से घर पर

वाल मघवा को गढ मे रोककर रखा गया। उन्हें वहाँ ठाकर के पास भी ले जाया गया। ठाकर ने उनसे अनेक प्रश्न किये। तुम दीक्षा क्यो लेना चाहते हो? यहाँ तुम्हे क्या दु ख है? साधुओ के वहकाव मे आ गये लगते हो, इत्यादि प्रश्नो का उन्होने यथोचित उत्तर दिया और निर्भीकतापूर्वक अपनी भावना वतलाई। इस प्रकार और भी अनेक वातो मे उलझाकर काका ने उनको यथावशयक गढ़ में रोके रखा, वाद में जव उन्हें यह निश्चय हो गया कि अव दीक्षा का कोई भय नही रह गया है, तव वहाँ से अपने साथ-साथ उन्हें घर ले आये।

फिर तैयारी

दीक्षा का वह अवसर टल जाने से मघवा के मन में काफी क्षोभ हुआ। यद्यपि अचानक आई हुई उस वाधा ने सहसा ही उन्हें निकटस्थ सफलता से दूर ढकेल दिया था, फिर भी वे उससे पराजित नही हुए। तत्काल उन्होने अपने आगे का कर्त्तव्य निर्धारित किया और अपने काका को फिर से सहमत कर लेने के प्रयास में लग गये। आखिर वे उन्हे पूर्ण सहमत तो नही कर पाये, पर इतना अवश्य हुआ कि आगे के लिए उन्होंने किसी प्रकार की बाधा देने का विचार त्याग दिया। बन्नाजी तथा मघवा ने उस स्थिति का तत्काल लाभ उठाने का विचार किया और वे उन्हें जताकर युवाचार्य की सेवा में लाडणू आ गये।

दीक्षा-ग्रहण

वहाँ मघवा ने फिर अपनी दीक्षा की प्रार्थना की और काके की किसी प्रकार से भी वाधक न बनने की भावना वतलाई। जयाचार्य ने तब पूर्व मुहूर्त से एक सप्ताह बाद ही अर्थात् स० १९०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी का दिन दीक्षा के लिए घोषित कर दिया। लाडणू के वाहर एक 'पीरजी' का स्थान है। वहीं पर हजारो व्यक्तियों की उपस्थिति में यथासमय मघवागणी की दीक्षा सपन्न हुई। उनकी माता वन्नाजी ने वडे हर्ष से उन्हे आज्ञा प्रदान की और स्वय गुलाबकवर के कल्प आने तक के लिए अपने सासारिक कर्त्तव्य का निर्वाह करती रहीं। इस प्रकार मघवागणी ने अपनी दीक्षा के मार्ग में आने वाली अनेक वाधाओं को पार करके अन्त में सफलता प्राप्त की थी।

मज्जाजी तथा मुक्तावली की दीक्षा उनके क्रमशः की दीक्षा के समय शासनकाल ऋषिराय का था और जब युवाचार्य थे पर उस [illegible] में ऋषिराय दिवंगत हो गये थे और जयाचार्य का शासन-काल प्रारंभ हो चुका था। में पाट-महोत्सव मनाने के पश्चात् जयाचार्य ने फाल्गुन कृष्णा [illegible] को उन्हें [illegible] किया था।

तीन छींकें

मघवागणी की दीक्षा के समय ऋषिराय मेवाड़ में विहार करते हुए [illegible] में विराज रहे थे। युवाचार्य द्वारा प्रदत्त उस दीक्षा के समाचार वहाँ पहुँचे तब अकस्मात् ही ऋषिराय को तीन छींकें आईं। साधारणतया वे शकुनों या मुहूर्तों आदि पर बहुत अधिक विश्वास नहीं किया करते थे पर उस दिन न जाने उनको उन छींकों में क्यों कोई शुभ सूचना प्रतीत हुई? उन्होंने प्रथम छींक पर तो कुछ नहीं कहा पर तत्काल ही जब दूसरी छींक आई तो वे बोले— लगता है यह साधु दीपने वाला होगा। यह कहते ही उन्हें जब तीसरी छींक और आई तो उन्होंने फिर फरमाया— 'यह तो भीक्षुगण का भार संभाल ले तो आश्चर्य नहीं।"

ऋषिराय के वे वचन नवदीक्षित बाल साधु के विषय में एक सुनिश्चित भविष्यवाणी के रूप में सिद्ध हुए। मघवागणी की दीक्षा के लगभग दो महीने पश्चात् ही ऋषिराय दिवंगत हो गये थे। अतः उन्हें तो उनके दर्शन करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका था पर ऋषिराय ने अवश्य उतनी दूर से भी उनके भावी जीवन की सारी झाँकी अपनी दिव्यदृष्टि से प्राप्त कर ली थी और साथ ही उसका निष्कर्ष सबके सामने प्रस्तुत भी कर दिया था।

: ३ :

विकासशील व्यक्तित्व

निर्मल चारित्री

मघवागणी का व्यक्तित्व एक विकासशील साधु का व्यक्तित्व था। छोटी अवस्था में दीक्षित होने पर भी उनमें वाल-सुलभ चपलता के स्थान पर गभीरता ही अधिक पाई जाती थी। गौर वर्ण, भव्य आकृति, आँखों को निर्निमेष अपने पर थमा लेने वाला लावण्य और उन सबसे ऊपर शात मुद्रा—यह था उनका वाह्य व्यक्तित्व, जो कि देखने वाले को मुग्ध किये बिना नही रहता था। अष्टमाचार्य कालूगणी, जो कि मघवागणी के पास ही दीक्षित हुए थे, अपने सस्मरणो में अनेक बार सुनाया करते थे कि उन्होने मघवागणी जैसी सुन्दर आकृति वाला व्यक्ति अपने जीवनकाल के इतने वर्षों में कभी नहीं देखा है।

उनका वाह्य-व्यक्तित्व जहाँ इतना उत्कृष्ट था, वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व भी बडा उज्ज्वल था। उनके चारित्रिक पर्यव बहुत ही निर्मल थे। वे एक उत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु थे। उनका हृदय एक बालक की तरह पवित्र और सरल था। ससार के बहुत से सम्बन्धो तथा व्यवहारो से वे पूर्णत अपरिचित ही थे। पाप-भीरु तो वे इतने थे कि कभी मार्ग न होने पर पानी या हरियाली पर पैर रखना पडता तो काप उठते थे। उस समय उनके शरीर में प्रस्वेद आ जाया करता था। पानी का उपयोग भी वे बडी सावधानी से करते थे। शरीर की विभूषावृत्ति से बचने का ध्यान उन्हें सदा बना रहता था। कहा जाता है कि वे हाथ धोते समय पहुँचे से ऊपर पानी नहीं लगने देते थे।

अजातशत्रु

उनकी प्रकृति अत्यत शान्त तथा भद्र थी। किसी को तेज होकर कुछ कहना उनकी प्रकृति से बाहर की बात थी। हर स्थिति में अत्यत शीतलता ही उनकी विशेषता थी। यह विशेषता आचार्य बनने के बाद भी उनमें वैसी ही रही। शासक होने के नाते उन्हें किसी को आवश्यकता-वश उपालम देना भी पडता, तो वे उसे यथासभव कोमलता से ही दिया करते थे। कभी-कभी तो उपालभ देते समय वे यहाँ तक कह दिया करते थे किसी को ओलभा देता हूँ तो स्वय मुझे कष्ट होता है। यदि तुम गलती न करते तो मुझे ओलभा क्यों देना पडता?" वे अपनी इस शात वृत्ति के कारण ही सर्व-प्रिय बन गये थे। जयाचार्य की कुछ नवीन बातों से सहमत न होने के कारण उनसे विरोध की भावना रखने वाले साधु भी प्राय मघवागणी के प्रति विरोध भावना नहीं रखते थे। वस्तुत वे अजातशत्रु थे। इस बात के विषय में स्वय जयाचार्य भी उनके सौभाग्य को सराहा करते थे। वे अनेक बार फरमाया करते थे—"मघजी बडे पुण्यवान

है। जितने भी रगड़े-झगड़े होते थे वे प्राय मेरे ही समय में होकर निपट [illegible] लिए अब कोई संघर्ष शेष नहीं रहा है।

मोतीझरा और गुरु-सान्निध्य

उनकी स्वभावगत विशेषताओं को जयाचार्य प्रारंभ से ही जानते थे। अतः वे उनके प्रति प्रारंभ से ही आकृष्ट थे। उनके मन की कोमलता को कहीं किसी प्रकार की ठेस न लगने पाये—इसका भी वे सतत ध्यान रखा करते थे। बाल साधु मघराजजी भी जयाचार्य के प्रति इतनी आसन्नता का अनुभव किया करते थे कि उनसे दूर रहने की कल्पना भी कभी [illegible] करते थे। सं० १९११ की मालव-यात्रा में जयाचार्य जब रतलाम चातुर्मास के पश्चात् इंदौर पधारे थे तब मघराजजी को 'मोतीझरा' निकल आया था। जयाचार्य ने वहाँ पूरा एक महीना विराज जाने के पश्चात् भी उनको ठीक होते नहीं देखा तब कुछ सन्तों को उनकी सेवा में रखकर स्वयं उज्जैन की ओर विहार कर दिया। वे अपनी प्रथम मंजिल में इंदौर से छः कोस की दूरी पर एक गाँव में ठहरे। मघराजजी के लिए आचार्यदेव से अलग रहने का यह प्रथम अवसर ही था। उन्हें अपने आप में कुछ ऐसा लगने लगा कि मानो वे [illegible] होते जा रहे हैं। आखिर उन्होंने सन्तों को भेजकर जयाचार्य से प्रार्थना करवाई कि उन्हें भी साथ ले लिया जाए।

उनकी उस प्रार्थना पर एक बार तो जयाचार्य का भी मन हो गया था कि वहाँ से उन्हें उठा कर साथ ले लिया जाये। किन्तु स्थानीय वैद्यों तथा भाइयों ने जोर देकर कहा कि मोतीझरे को जब तक सत्ताईस दिन पूर्ण नहीं हो जाते तब तक उन्हें उठाकर ले जाना उचित नहीं होगा। यह बात जयाचार्य को भी जंच गई। वे उज्जैन जाने के अपने आगामी कार्य-क्रम को स्थगित करके पुन इंदौर पधार गये और तब तक वहीं विराजे जब तक कि मोतीझरा ठीक नहीं हो गया।

यद्यपि बुखार उतर जाने के पश्चात् वे शीघ्र ही स्वस्थ होने लगे थे किन्तु रोग-जन्य निर्बलता को दूर होने में कुछ समय लग जाने की संभावना तो थी ही। जयाचार्य ने जब देखा कि इतना समय हाथ में नहीं है तब उन्होंने वहाँ से विहार कर दिया। इंदौर से उज्जैन तक मघराजजी को साधु उठाकर लाये। वहाँ कुछ दिन औषध-सेवन से शरीर में पुनः शक्ति का संचार हुआ और वे बिल्कुल स्वस्थ हो गये।

चेचक में

एक बार सं० १९१३ के पाली चातुर्मास के पश्चात् जब जयाचार्य कानू पधारे, तब मघराजजी को चेचक की बीमारी हो गई। वहाँ सत्ताईस दिन तक जयाचार्य को रहना पड़ा। क्योंकि न तो जयाचार्य ही उन्हें पीछे छोड़ना चाहते थे और न वे स्वयं पीछे रहना चाहते थे। यद्यपि गाँव छोटा था और चातुर्मास की समाप्ति पर आने वाले साधु-साध्वियों की इतना

बढती जा रही थी, फिर भी वे वही विराजे। आहार-पानी के लिए उन दिनो आस-पास के बारह गाँवो में गोचरी की जाती थी। इससे पता लग सकता है कि जयाचार्य उन्हें कितना महत्त्व दिया करते थे।

सस्कृत के प्रथम विद्वान्

जयाचार्य ने तेरापन्थ श्रमण-सघ के लिए सस्कृत-भाषा का जो बीज-वपन किया था, उसे पनपाने में पहले-पहल मघवागणी का ही योग रहा। वे प्रारभ से ही पढने-लिखने में रुचि रखने वाले बालक थे। उन्हें तेरापन्थ में सस्कृत का प्रथम विद्वान् कहा जा सकता है। उन्होंने सस्कृत की कुछ स्फुट रचनाएँ भी की थी।

उस समय की स्थिति के अनुसार उन्होने सस्कृत-ग्रथो का अच्छा अध्ययन और मनन किया था। सारस्वत का पूर्वार्ध और चन्द्रिका का उत्तरार्ध उन्होंने कठस्थ कर लिया था। चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरण का भी उन्होने सागोपाग अध्ययन किया था। सस्कृत के प्रमुख काव्यो और ग्रथों में से उन्होंने माघ, किरातार्जुनीय, भट्टी, दुर्भट काव्य, अनेक चम्पू तथा नाटक, विदग्ध-मुखमडन, न्याय-दीपिका, परीक्षामुख-मडन, समाधि-तत्र, योगशास्त्र आदि ग्रथो का अध्ययन किया था। भरत-बाहुबली-महाकाव्य तथा ज्ञान-सूर्योदय-नाटक आदि को तो वे अनेक बार व्याख्यान के रूप में जनता को भी सुनाया करते थे।

कठस्थ ग्र थ

मघवागणी जैन आगमो के धुरधर विद्वान् थे। अपनी विद्यार्थी-अवस्था में उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रथम आचाराग और बृहत्कल्प आदि आगम समग्ररूप से कठस्थ कर लिये थे। अवशिष्ट आगम-ग्रथो का उन्होने अनेक बार पारायण किया था। जैनागमो की सस्कृत-टीकाओ का भी उन्होने गभीरतापूर्वक मनन किया था। इनके अतिरिक्त राम चरित्र, नेमीनाथ चरित्र, जबूकुमार, शालीभद्र, प्रदेशी, अमरकुवर, सुरसुदरी आदि अनेक व्याख्यान-ग्रन्थ भी उनके कठस्थ थे।

स्थिर बुद्धि

उनकी बुद्धि अत्यत स्थिर थी। एक बार कठस्थ किये हुए ग्रन्थ को वे प्राय भूला नही करते थे। अनेक वर्षो के बाद भी वे उमे ऐसे दुहरा दिया करते थे, मानो वे उसे सदैव दुहराते रहे हो। एक बार स० १९४८ के अपने जयपुर-चातुर्मास में उन्होने पडित दुर्गादत्तजी को सस्कृत-व्याकरण सम्बन्धी बातचीत के सिलसिले में सारस्वत का कुछ पाठ सुनाया। पडितजी ने आश्चर्याभिभूत होकर उनसे पूछा कि क्या वे अब तक व्याकरण को दुहराते रहते है ? मघवा-गणी ने तब उनको और भी चकित करते हुए फरमाया कि आज से पूर्व स० १९२२ के पाली-चातुर्मास में एक बार जयाचार्य को मैंने सारस्वत का सारा पूर्वार्ध सुनाया था। उसके पश्चात् उसे दुहराने का काम नही पडा।

दूसरी तरफ शिष्टता-विरुद्ध कार्य। जयाचार्य ने उसकी दुविधा को ताडते हुए फिर कहा—"मैं किसी उद्देश्य-विशेष से ही ऐसा करने को कह रहा हूँ, तुम्हें घबराने की कोई आवश्यकता नही। जाओ तुम अपना काम कर आओ, पीछे की बात मैं स्वय सभाल लूँगा।"

आखिर वह साधु गया और मुट्ठीभर धूल उनकी पीठ पर डाल कर झट-से लौट आया। जयाचार्य दूर बैठे हुए उनकी प्रतिक्रिया देख रहे थे। मघवा उठे और कपडे से शरीर को झडका कर फिर बैठ गये।

जयाचार्य ने पूछा—"क्या हुआ मघजी ?"

उन्होने हाथ जोडकर उठते हुए कहा—"नही महाराज! कुछ नही, पीठ पर थोडी-सी धूल गिर गई थी, वह पोछी है।"

जयाचार्य ने फिर पूछा—"धूल किसने गिरा दी थी ?"

वे बोले—"एक साधु इधर से अभी गया था, उसी से गिर गई मालूम देती है।"

जयाचार्य ने कहा—"अरे! तुम भी विचित्र हो, आखिर पता तो करते किसने गिराई ?"

इस पर मघवा ने कहा—"पता क्या करना था महाराज! जानबूझ कर तो कोई गिराता नही, भूल से किसी के द्वारा गिर गई तो गिर गई। यो फिर आँधियो में भी तो कितनी ही धूल गिरती रहती है, वह झडका लेते है वैसे ही यह भी झडका ली।"

अयाचित सेवा

उनके स्वभाव में सेवावृत्ति ओतप्रोत थी। दीक्षा-वृद्ध संतो की सेवा करने मे तो आश्चर्य ही क्या था, वे छोटे साधुओ की सेवा भी उसी उत्साह के साथ किया करते थे। जयाचार्य ने जब सघ में आहार और काम का सम-विभाग-प्रवर्त्तन किया था, तब उनकी वह सेवावृत्ति अनेक व्यक्तियो के लिए बहुत सहायक बनी थी।

जयाचार्य जो भी नियम बनाते थे, उसका प्रथम प्रयोग प्राय वे मघवागणी से ही प्रारंभ करते थे। उस समय की वे नई बातें जिनके गले नहीं उतरती थी, मघवागणी की सेवा उसे सहजता से गले उतारने में समर्थ हो जाती थी। जो अपने आपको उस व्यवस्था के अनुरूप ढालने मे कुछ कष्ट का अनुभव करते थे, उनके लिए भी वे परम सहायक हुआ करते थे। वे उनके काम मे हाथ बटाया करते थे।

कार्य-सम-विभाग के अतर्गत जब रात्रिकालीन 'परिष्ठापन' का कार्य भी दीक्षाक्रम से सबके लिए लागू किया गया था, तब अनेक सतो की बारी उन्होने अपने ऊपर ले ली थी। वृद्ध या रोगी साधुओ को वे अपनी अयाचित सेवा दिया करते थे। कई बार तो ऐसे साधु भी उनके पास सहायता माँगने आया करते थे, जो कार्य करने का सामर्थ्य तो रखते थे, पर नये क्रम के कारण घबराते थे कि सभव है अच्छी तरह से नही कर पायें। मघवागणी सहर्ष उन्हे अपनी सेवा अर्पित करते और कार्य-विषयक उनके भय को दूर करने मे सहायक होते थे।

आहार के सम विभाग होने पर भी उन्होंने साधुओं की काफी [illegible] पाँती के आहार में से जो ठीक होता वह औरों को देने का प्रयास करते में जो टुकड़े होते वे आप ले लेते। उनकी यह वृत्ति दूसरों के लिए भी [illegible]। दूसरों का साधारण आहार नहीं ले सकता उसे भी अपना साधारण आहार देकर दूसरों अच्छा आहार लेना तो स्पष्ट ही अनुचित लगने लगता। यद्यपि मघवागणी की वे किसी नीति से प्रेरित न होकर स्वाभाविक ही थीं फिर भी उन्होंने संघ की [illegible] नीतियों को सफल बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया।

श्रीपंच

जयाचार्य ने शासन-व्यवस्था से दण्ड व्यवस्था को पृथक करने का एक प्रयोग किया था। उसमें पाँच सन्तों को पंच नियुक्त किया गया था। किसी भी दंडनीय व्यक्ति को कितना दंड मिलना चाहिए इसका निर्णय वे लोग सम्मिलित होकर किया करते थे। एक बार शासन-मुनि कालूजी (रेलमगरा वाले) से कोई गलती हो गई। मामला पंचों के सामने आया। वे दंड की व्यवस्था करने के लिए एकत्रित हुए। जब निर्णय सुनाया जाने वाला ही था तब मुनि कालूजी ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि मुझे निष्पक्ष न्याय मिल सकेगा—ऐसा विश्वास नहीं है। जयाचार्य ने उनसे अविश्वास का कारण पूछा तो उन्होंने कुछ ऐसे कारण रखे कि जयाचार्य को उनकी बात पर विचार करना आवश्यक हो गया।

जयाचार्य चाहते थे कि दंड-दाता के समान ही दंड-आदाता को भी यह [illegible] चाहिए कि उसे उसकी स्खलना का उचित दंड मिल रहा है। ऐसा हुए बिना न तो [illegible] ही दूर हो सकेगी और न मनस्तोष ही प्राप्त हो सकेगा। उन्होंने मुनि कालूजी से [illegible] 'तुझे किस पर विश्वास है? क्या तू मघजी के निर्णय को मान लेगा?' [illegible] विषय में पूर्ण विश्वास प्रकट किया और उनके द्वारा निर्णीत दंड को स्वीकार [illegible] दिया। जयाचार्य ने तब मघवागणी को बुलाया और पूर्व-स्थापित पंचों के [illegible] बना दिया। यह घटना सं० १९११ की है जब कि जयाचार्य [illegible] लावरोद पधारे थे। मघवागणी की अवस्था उस समय केवल चौदह-पन्द्रह [illegible]।

हाजरी सुनाना

जयाचार्य ने मघवागणी को आगे बढ़ने का उचित अवसर प्रदान किया था। [illegible] सबल स्रोत की तरह अनवरत रूप से चालू ही रही थी। जयाचार्य के [illegible] बहुत ही कम उपस्थित हुए थे। वस्तुतः एक के पश्चात् एक मिलने वाली [illegible] जीवन-संगिनी रही थी। 'श्रीपंच' स्थापित होने की तत्कालता के आगे वर्ष ही [illegible] जयाचार्य की आँखों में कुछ गड़बड़ हो गई थी। वे उस समय 'बोरावड़' में [illegible]। वहाँ संतों को हाजरी सुनाने का अवसर आया तो उन्होंने अपना यह कार्य [illegible] को ही

सौंपा। क्रमश: विकसित होते हुए उनके व्यक्तित्व की वह भी एक अच्छी सफलता की कडी थी।

विभाग कार्य से मुक्त

स० १६१६ के शीतकाल में जयाचार्य राजलदेसर मे विराजमान थे। वहाँ मघवागणी की विशिष्ट सेवाओ से सघ मे जो हित हुआ था, उसे ध्यान मे रखते हुए पुरस्कारस्वरूप उन्हे

सामने उनकी प्रशंसा करने लगता, तो वे उसकी ओर उपेक्षा-भाव रखते हुए किसी दूसरे प्रसंग को छेड़ दिया करते थे। स्व-प्रशंसा में उनकी जितनी उपेक्षावृत्ति रहा करती थी, उतनी ही पर-निंदा में भी। कोई दूसरा उनके सामने किसी की निंदा करता तो उसे भी वे कोई महत्व नहीं दिया करते थे। वे स्व-प्रशंसा और पर-निंदा से सदैव पराङ्मुख रहने वाले व्यक्ति थे। उनका युवाचार्य-काल लगभग अठारह वर्ष तक रहा था।

पड़ते तो स्वय उठकर दूसरा स्थान देख लेते और यदि कही थोडी हवा महसूस होती तो वहाँ स्वय ही अपना बिस्तर ले जाकर नीचे ही बिछा लेते और वहाँ सो जाते। उठने के समय जब साधुओ को पता लगता तो वे नम्रता-युक्त उपालम्भ भी देते कि आपने हम लोगो को जगाया क्यो नही ? मघवागणी उनके मधुर उपालम्भ को सुनकर प्राय यही कहा करते कि तुम्हे नीद से जगाना, उससे अच्छा यही था कि मैं स्वय वहाँ जाकर सो गया।

उठ जाओ

अनेक बार ऐसे अवसर भी आ जाते थे कि जब वे जमीन पर बिछौना बिछा कर सोये हुए होते और उन्हें नीद आई हुई होती, तभी कोई साधु नही पहचानने के कारण उन्हे उठा दिया करता। एक बार पन्नालालजी नामक साधु ने इसी प्रकार उन्हे उठाया और कार्य-विशेष के लिए सूचित किया। उनके इन्कार को भी गौण करते हुए उस साधु ने फिर कहा—नही भाई ! आलस न करो और उठ जाओ ! अन्यथा अभी थोडी देर के बाद ही कही तुम्हे उठने की आवश्यकता होगी।

मघवागणी ने तब उठकर उन्हे बतलाते हुए कहा—"पनजी ! यह तो मैं हूँ।"

पन्नालालजी स्वामी ने जब उन्हे पहचाना तो बड़े खिन्न हुए और बार-बार माफी माँगने लगे। परन्तु जब किसी तरफ से कोई क्रोध ही नही था, तब माफी देने न देने का कोई प्रश्न ही कहाँ था ?

मेरे काम आ जायेगा ?

वे केवल साधुओ को ही इतने प्रेम और हिफाजत मे नही रखा करते थे, किन्तु सघ की हर वस्तु को बड़ी सुरक्षा मे रखा करते थे। एक बार एक साधु एक पत्र को परठने की आज्ञा लेने के लिए आया। मघवागणी ने उसे हाथ में लेकर देखा और उससे पूछा कि इसे क्यो परठ रहे हो ?

उसने कहा – "यह अच्छा लिखा हुआ नही है और पुराना हो जाने के कारण किनारो पर से टूट भी गया है। मैंने इसकी दूसरी प्रतिलिपि कर ली है, अत अब यह मेरे लिए कोई काम का नही रह गया है।"

मघवागणी ने उस पत्र को अपने पास रख लिया और अपने पूठे में रखते हुए कहने लगे— "यह तुम्हारे काम का न रहा हो तो न सही, परन्तु मेरे काम आ जायेगा।"

उनके स्वय के अक्षर बहुत सुन्दर थे तथा वे दूसरे साधुओ के पास से भी उस पत्र की सुन्दर प्रतिलिपि करा सकते थे, फिर भी उन्होने वैसा कुछ नही करके उसी पत्र को अपने पास रखकर हर उपयोगी वस्तु को सभाल कर रखने तथा साधारण से साधारण वस्तु का भी अधिक से अधिक उपयोग कर लेने की प्रवृत्ति को बल दिया था।

५

महान् आचार्य

पाचन-काल

मघवागणी सं० १९३८ भाद्रपद शुक्ला द्वितीया को जयपुर में तेरापंथ के पंचम-आचार्य के रूप में पदासीन हुए। जयाचार्य जैसे तेजस्वी और नव निर्माण-कर्ता आचार्य के पश्चात् यह आवश्यक भी था कि अब एक प्रशांत और संरक्षक प्रकृति के आचार्य हों। किसी भी भोजन को हजम करने के लिए भोजन की ही तरह कुछ समय अपेक्षित रहता है। जयाचार्य के द्वारा किये गये अनेक नवीन परिवर्तन तेरापन्थ के लिए उपयुक्त तो उनके समय में ही हो चुके थे, परन्तु उन्हें आत्मसात् करने के लिए उससे पूर्व होने वाली जीर्णता की आवश्यकता थी, जो कि केवल समय-सापेक्ष ही होती है। मघवागणी का शासनकाल वस्तुतः एक वैसा ही अन्तर का समय था जैसा कि एक भोजनकाल से दूसरे भोजनकाल के बीच का होता है।

भोजन करने के समय शरीर की बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार की क्रियाएँ चालू हो जाती हैं किन्तु भोजन कर लेने के पश्चात् चबाने आदि की बाह्य क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं फिर भी पाचन आदि की आंतरिक क्रियाएं बड़े वेग से चला करती हैं। अन्दर ही अन्दर चलने वाली क्रियाओं को हम बाहर तो नहीं देख पाते किन्तु शरीर को शक्ति प्रदान करने के लिए उनका महत्त्व बहुत बड़ा होता है। मघवागणी के शासनकाल में हमें जयाचार्य के शासनकाल जैसी युग-परिवर्तन-कारिणी बाह्य हलचलें तो दिखाई नहीं देतीं किन्तु उन हलचलों के पश्चात् उनसे रस-ग्रहण करके संघ को सशक्त करने की आंतरिक क्रियाएँ बड़ी उत्तमता से चालू थीं।

प्रेम-बल

नवीनता को लेकर जयाचार्य के समय में जो प्रश्न खड़े किये गये वे अधिकांश तो उसी समय समाहित हो चुके थे किन्तु मघवागणी के समय में तो उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रह पाया था। उनकी शांत प्रकृति और सौम्य मुद्रा ने सबके हृदय पर विजय पा ली थी। प्रायः देखा जाता है कि जो प्रश्न तर्क-बल से समाहित नहीं हो पाते वे अन्ततः प्रेम-बल से समाहित हो जाते हैं। मघवागणी का प्रेमबल सारे साधु-समाज को संघ-युक्त किये रहता था।

अपने से अच्छा

आचार्य-पद पर होते हुए भी वे अपने लिए कम से कम लेना देना पसंद किया करते थे। अनेक बार गर्मी की रात्रियों में छत के पट्ट पर सोना होता और हवा न आने के कारण वे जाग

पडने तो स्वय उठकर दूसरा स्थान देख लेते और यदि कही थोडी हवा महसूस होती तो वहाँ स्वय ही अपना बिस्तर ले जाकर नीचे ही बिछा लेते और वहाँ सो जाते। उठने के समय जब साधुओ को पता लगता तो वे नम्रता-युक्त उपालम्भ भी देते कि आपने हम लोगो को जगाया क्यो नही ? मघवागणी उनके मधुर उपालम्भ को सुनकर प्राय यही कहा करते कि तुम्हें नीद से जगाना, उससे अच्छा यही था कि मैं स्वय वहाँ जाकर सो गया।

उठ जाओ

अनेक बार ऐसे अवसर भी आ जाते थे कि जब वे जमीन पर बिछौना बिछा कर सोये हुए होते और उन्हें नीद आई हुई होती, तभी कोई साधु नहीं पहचानने के कारण उन्हें उठा दिया करता। एक बार पन्नालालजी नामक साधु ने इसी प्रकार उन्हे उठाया और कार्य-विशेष के लिए सूचित किया। उनके इन्कार को भी गौण करते हुए उस साधु ने फिर कहा—नही भाई! आलस न करो और उठ जाओ! अन्यथा अभी थोडी देर के बाद ही कही तुम्हें उठने की आवश्यकता होगी।

मघवागणी ने तब उठकर उन्हें बतलाते हुए कहा—"पनजी! यह तो मैं हू।"

पन्नालालजी स्वामी ने जब उन्हे पहचाना तो बडे खिन्न हुए और बार-बार माफी माँगने लगे। परन्तु जब किसी तरफ से कोई क्रोध ही नही था, तब माफी देने न देने का कोई प्रश्न ही कहाँ था ?

मेरे काम आ जायेगा ?

वे केवल साधुओं को ही इतने प्रेम और हिफाजत से नही रखा करते थे, किन्तु सघ की हर वस्तु को बडी सुरक्षा से रखा करते थे। एक बार एक साधु एक पत्र को परठने की आज्ञा लेने के लिए आया। मघवागणी ने उसे हाथ में लेकर देखा और उससे पूछा कि इसे क्यो परठ रहे हो ?

उसने कहा – "यह अच्छा लिखा हुआ नही है और पुराना हो जाने के कारण किनारो पर से टूट भी गया है। मैंने इसकी दूसरी प्रतिलिपि कर ली है, अत अब यह मेरे लिए कोई काम का नही रह गया है।"

मघवागणी ने उस पत्र को अपने पास रख लिया और अपने पूठे मे रखते हुए कहने लगे—"यह तुम्हारे काम का न रहा हो तो न सही, परन्तु मेरे काम आ जायेगा।"

उनके स्वय के अक्षर बहुत सुन्दर थे तथा वे दूसरे साधुओं के पास से भी उस पत्र की सुन्दर प्रतिलिपि करा सकते थे, फिर भी उन्होंने वैसा कुछ नही करके उसी पत्र को अपने पास रखकर हर उपयोगी वस्तु को सभाल कर रखने तथा साधारण से साधारण वस्तु का भी अधिक से अधिक उपयोग कर लेने की प्रवृत्ति को बल दिया था।

मघवागणी ने जब प्रश्न पूछने की स्वीकृति प्रदान की, तब उन्होने सस्कृत में बोलते हुए ही प्रश्न पूछने प्रारभ किये। मघवागणी जब उनके उत्तर राजस्थानी मे देने लगे, तब उन्होने कहा—"सस्कृते वाच्यम्"

मघवागणी ने पडितजी की उस बात को अस्वीकार कर दिया और कहा—"जब आप आये हुए इन भाइयो की ओर से प्रश्न कर रहे हैं, तब मुझे उत्तर देने में उसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये, जिससे कि इन सबको समाधान प्राप्त हो सके। आपको अपने प्रश्न भी यहाँ की भाषा में ही पूछने चाहिये।"

पडितजी ने उनकी बात नही मानी और स्वय तो सस्कृत में बोलते ही रहे, पर मघवागणी को भी सस्कृत में बोलने के लिये ही कहते रहे।

इस पर मघवागणी ने उनसे कहा कि मैं सस्कृत समझता हूँ और आप राजस्थानी। हम अपनी-अपनी इच्छानुसार भाषा का प्रयोग करें तो इसमें आपको कोई अडचन नही होनी चाहिये। आखिर प्रश्न सस्कृत में और उत्तर राजस्थानी में होने लगे।

सस्कृत बोलने में जब पडितजी अशुद्धियाँ करने लगे, तब मघवागणी ने सकेत के द्वारा उन्हें सावधान करते हुए कहा—"पडितजी !"

पंडितजी तत्काल सभले और सावधानी से बोलने लगे। फिर भी अशुद्धियाँ आने लगी, तब मघवागणी ने फिर चेताया। वे थोडे लज्जित तो अवश्य हुए, परन्तु उसके पश्चात् राजस्थानी में ही बोलने लगे। आगे के सारे प्रश्नोत्तर जनभाषा में होने के कारण जनता को भी उसमें अधिक रस आया।

प्रश्नोत्तरों के प्रारभ में नमस्कार आदि किये बिना ही अकडकर बैठने वाले पडितजी उनकी समाप्ति पर मघवागणी के चरणो में झुक गये। बडी नम्रता से उन्होने निवेदन किया कि आप बडे उदार हैं, आपने मेरी लाज रख ली। यदि आप चाहते तो मेरी अशुद्धियो के आधार पर जनता में मेरा अपमान करा सकते थे, किन्तु आपने वैसा नही करके अति सक्षेप में सकेत करके केवल मुझे ही सावधान किया।

मघवागणी ने फरमाया—"अपमान करने का हमारा कोई उद्देश्य हो ही कैसे सकता है। जनभाषा का प्रयोग करने के लिए भी हमारा आग्रह इसीलिए था कि उससे उपस्थित जन-समुदाय को भी लाभ प्राप्त हो।"

राजस्थानी रचनाएँ

मघवागणी ने अपने जीवनकाल में जो रचनाएँ की थीं, उनमें सस्कृत की तो कुछ स्फुट कविताएँ ही हैं, उनके अतिरिक्त जयसुजस, गुलाबसुजस तथा बन्नाजी, दलीचन्दजी स्वामी और मायाचन्दजी स्वामी के चौढालिये, चरम-महोत्सव, मर्यादा-महोत्सव और पाट-महोत्सव की ढालें, सत-सतियो की तपस्या की ढालें तथा प्रश्नोत्तर आदि उनकी प्राय: सभी रचनाएँ राजस्थानी में ही हैं।

६ :

विहार और जनोपकार

थली की सफल यात्रा

मघवागणी का आचार्य अवस्था में प्रथम विहार जयपुर से थली की ओर हुआ वहाँ उनका वह प्रथम पदार्पण ही था। वहाँ के अन्य गाँवों की अपेक्षा उस समय सरदारशहर उनके लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। अन्य क्षेत्रों में थोड़े-थोड़े ठहरकर वे सीधे सरदारशहर ही पधारे, वहाँ पर लोगजी चतुर्भुजजी आदि टाकोकरों का जो विरोधी बना हुआ था वह बिखर चुका था। यद्यपि इसके समाचार जयपुर चातुर्मास में जयाचार्य को मिल चुके थे। किन्तु वे उस समय उधर नहीं पधार सके थे। उनका वह अवशिष्ट कार्य मघवागणी ने पूर्ण कर दिया।

जो सरदारशहर तेरापन्थ के लिए केवल बहिनों का क्षेत्र कहलाता था वहाँ के भाई भी उस समय धड़ाधड़ तेरापन्थी बनने लगे थे। केवल वहीं नहीं, किन्तु उधर के प्रायः सारे क्षेत्रों में ही टाकोकरों का जो प्रभाव था वह समाप्त हो चुका था। रीणी (तारानगर) और राजगढ़ आदि क्षेत्रों में भी अनेक परिवारों ने मघवागणी के पास अपनी विभिन्न जिज्ञासाओं को शांत करने के पश्चात् गुरु-धारणा की। इस प्रकार उनकी वह प्रथम यात्रा परिपूर्ण रूप से सफल रही थी।

गुलाबसती का देहांत

थली में लगातार तीन चातुर्मास करने के पश्चात् उन्होंने मारवाड़ तथा मेवाड़ की ओर पधारने का निश्चय किया। उस यात्रा में सं० १९४२ का चातुर्मास जोधपुर में किया। वहाँ पर गुलाबसती के शरीर में बहुत असाता रही और चातुर्मास के पश्चात् पौष महीने में वे दिवंगत हो गई। भाई और बहिन की वह एक बहुत ही उत्तम जोड़ी थी। मघवागणी उसके पश्चात् वहाँ से विहार करते हुए पाली पधारे और वहाँ उन्होंने साध्वियों का भार महासती नवलांजी को दिया।

देवगढ़ में

वहाँ से विहार करते हुए उन्होंने मेवाड़ में प्रवेश किया और देवगढ़ पधारे। मघवागणी के पदार्पण से कुछ दिन पूर्व ही वहाँ के रावजी रो मेंबर गुजर गए थे। उनके शोक में रावजी ने सारे शहर में कुछ दिन के लिए गाना-बजाना और बीनन्दार आदि कार्यों को बन्द रखने की आज्ञा प्रसारित कर रखी थी। उनको जब पता लगा कि वहाँ मघवागणी पधारने वाले हैं तब उन्होंने अपनी ओर से नजराना श्रावक जना को यह कहलवाया कि पूज्यजी के यहाँ आने

के अवसर पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है । तुम लोग विना किसी रोक-टोक के अपनी सदा की पद्धति के अनुसार स्वागत आदि कर सकते हो। मेरे घर में तो जो विपत्ति आनी थी, वह आ चुकी । उसके लिए सतो के आगमन पर होने वाले जन-उत्साह को क्यो रोकूं ? रावजी ने केवल यह कहलवाया ही नहीं, किन्तु अपने अधिकारियो और कर्मचारियो आदि को भी सामने भेजा । स्वय को दर्शन देने के लिए प्रार्थना भी करवाई ।

मघवागणी जब दर्शन देने के लिए गढ मे पधारे तो रावजी ने मदिर तक सामने आकर उनका स्वागत किया और अपने परिजन, प्रधान तथा कर्मचारियो सहित उपदेश-श्रवण का लाभ लिया । रावजी बडे भक्त-प्रकृति के व्यक्ति थे । गुरुदेव के उपदेश से उनके शोक-सतप्त हृदय को बहुत ही सात्वना मिली । उनकी भक्ति और भावना के आधार पर उस थोडे से प्रवास मे भी वे कई बार दर्शन देने के लिए गढ मे पधारे ।

कविराज की बाडी मे

वहाँ से मेवाड के विभिन्न गाँवो मे विहार करते हुए वे स० १९४३ का चातुर्मास करने के लिए उदयपुर पधारे । वहाँ जनता मे काफी अच्छी धर्म-जागरणा हुई और राजवर्गीय लोगो का भी अच्छा समागम रहा । चातुर्मास के पश्चात् बाहर कविराज सावलदानजी की बाडी में कुछ दिन विराजना हुआ । कविराजजी मघवागणी के बडे भक्त थे । उन्हें कविराजजी की यह उपाधि राज्य की ओर से मिली हुई थी । राज्य मे उनका बडा सम्मान था ।

महाराणा का आगमन

कविराजजी को स्वय महाराणा भी बडे आदर की दृष्टि से देखा करते थे । उन्होने महाराणा फतहसिहजी के सामने अपने यहाँ विराजमान मघवागणी की बात चलाई और उन्हें दर्शन करने की भी प्रेरणा दी । तेरापन्थ के आचार्यो तथा साधुओ से महाराणा-परिवार का परिचय काफी पुराना चला आ रहा था, उसी आधार पर महाराणा ने कविराजजी की बात को तत्काल स्वीकार कर लिया और अपने आने की तिथि तथा समय भी गुरुदेव की सुविधा आदि पूछ कर निश्चित कर दिया ।

अपने निश्चित किये हुए दिन के सायकाल मे महाराणा दर्शन करने के लिए आये । किन्तु वे अपने निश्चित समय पर नही आ सके थे । आने में उनको देर हो जाने का कारण यह था कि उससे पहले वे कही बाहर गये हुए थे, वहाँ से जब वे अपने स्थान पर आये तो दर्शन के लिए जाने की बात उनकी स्मृति से ओझल हो गई । उन्होंने अपनी बाहर जाने की पोशाक खोलकर दूसरी पोशाक धारण कर ली । तभी अचानक उन्हें याद आया कि कविराजजी की बाडी मे सतो के दर्शन करने की बात तो वे भूल ही गये है । तत्काल उन्होंने एक हरकारे को आगे भेजा और अपने आने की सूचना दी । स्वय भी शीघ्रता से तैयार होकर चल पड़े ।

इतनी शीघ्रता करने पर भी उन्हें काफी देर हो चुकी थी। जब वे वहाँ
होकर मघवागणी को वंदन करते हुए उन्होंने देरी से पहुँच पाने के लिए

मघवागणी ने लगभग बाईस मिनिट तक उन्हें उपदेश सुनाया। महाराणा
रहे। आचार्यदेव ने जब देखा कि सूर्यास्त हो चुका है तथा उनके वंदन और
समय में देर होती जा रही है तब उन्होंने उपदेश को उपसंहार की ओर मोड़ दिया।
राणा का ध्यान सुनने में इतना एकाग्र था कि वे मघवागणी की उस भावना को पकड़
नहीं पाये। उनका ध्यान तब टूटा, जब कि उपदेश की बहती हुई अमृतधारा रुक
गई। महाराणा ने गुरुदेव के मुखारविंद की ओर देखा तो उन्होंने फरमाया कि अब
समाप्त हो चुका है। इस समय हमारे लिए और अधिक समय दे पाना असंभव है,
साधुओं के संध्याकालीन प्रतिक्रमण का समय आ चुका है।

महाराणा तत्काल उठ खड़े हुए और वंदन करके वहाँ से अपने स्थान की ओर चल पड़े।
उपस्थित जनता तथा स्वयं कविराजजी भी मघवागणी के उस व्यवहार से बड़े चिंतित हुए।
उन्हें यह चिंता थी कि इस प्रकार के उत्तर से कहीं महाराणा अप्रसन्न न हो गये हों।

कुछ विरोधी लोगों ने उस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। उन्होंने महाराणा से निवेदन
किया कि जहाँ आपके सम्मान का उचित ध्यान नहीं रखा जाता वहाँ आपका पदार्पण ही
अखरता है। आपको ऐसे स्थान पर जाना ही नहीं चाहिए।

महाराणा ने कहा— नहीं हम उचित स्थान पर ही गये थे। हमारे असम्मान की वहाँ
कोई बात नहीं थी यह तो अपने नियम की बात थी। गीता में जिसे 'नरसूर' कहा गया है,
वे वैसे ही फक्कड़ संत हैं। यह तो प्रसन्नता की बात है कि वे अपने नियम के इतने पक्के
हैं कि हमें भी इन्कार कर सकते हैं।

कविराज श्यामलदासजी ने महाराणा के मुख से जब ये प्रशंसात्मक शब्द सुने, तब वे मन ही
मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने समाज के अन्य सभी व्यक्तियों को यह बात बतलाई, तब जाकर
सबकी चिंता का निराकरण हुआ।

षाण्मासिक पारण

उदयपुर से विहार करते हुए आचार्यदेव मेवाड़ के विभिन्न गाँवों में पधारे। गंगापुर
आदि कई स्थानों में श्रावक-वर्ग में कुछ बातों को लेकर पारस्परिक विग्रह और धड़ाबंदी चल
रही थी उसे मिटाकर पारस्परिक सौहार्द पैदा किया। उस यात्रा में उन्होंने रेलमगरा में
साध्वी सुन्दरजी को छह महीने की तपस्या का तथा [illegible] में साध्वी रंभाजी को
साढ़े छह महीने की तपस्या का पारण करवाया। ये दोनों ही तपस्याएँ आछ के आगार पर की
गई थीं।

अन्य आर्याओ की प्रार्थना

मेवाड-स्पर्शना के पश्चात् वे नयाशहर होते हुए अजमेर पधारे। वहाँ कुछ दिन विराजना भी हुआ। एक दिन कई अन्य सप्रदाय की आर्याओ ने आकर प्रार्थना की कि उन्हें अपने गण में दीक्षित कर लिया जाए। वे कई वार और कई दिन तक इस बात का प्रयास करती रही, किन्तु मघवागणी का ध्यान ऐसा करने का नही था। उन्होने उस प्रसग को टालना ही उचित समझा। उन्होने फरमाया कि हमारे गण की मर्यादाएँ बहुत कडी हैं, बहुत वर्षो तक अपने मनोनुकूल चलते रहने के पश्चात् एकाएक किसी दूसरे के अनुशासन में चल पाना सहज नही है। वे अपने गण में स्वच्छदता और उच्छृङ्खलता का वातावरण पनपने देना नही चाहते थे, अत किसी भी बाहरी व्यक्ति को पूर्ण परीक्षा किये विना अपने गण में सम्मिलित करना पसद नही करते थे। यही कारण था कि उन्होने उन आर्याओ के कथन को बिल्कुल ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा और टाल दिया।

फिर थली मे

अजमेर से विहार करते हुए मघवागणी फिर थली की ओर पधारे। जब वे लाडणू के मार्ग में थे, तब उनके दस्तों की गडबड हो गई। लाडणू मे बीस रात तक ठहर कर उन्होने उसके अनेक उपचार किये, किन्तु कोई विशेष लाभ नही हुआ। वहाँ मे जब वे सुजानगढ पधारे तो वहाँ एक भाई के भी वही गडबड थी। वह सरकारी अस्पताल से औषधि लिया करता था। उसके वह गडबड शात हो गई, अत उसने मघवागणी को अपने पास की अवशिष्ट वही औषधि लेने की प्रार्थना की। उन्होने जब उसका प्रयोग करके देखा तो उन्हें बीमारी में काफी लाभ प्रतीत हुआ। कुछ ही दिनों में वे स्वस्थ हो गये।

सुजानगढ की जनता ने वही चातुर्मास करने के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु उनका विचार बीदासर जाने का था, अत वहाँ से विहार कर आषाढ पूर्णिमा के दिन वे वहाँ पहुँचे और स० १६४४ का चातुर्मास वहीं किया। चार चातुर्मास लगातार थली में हुए और वहाँ की जनता को अच्छा लाभ मिला। उसके पश्चात् स० १६४८ का एक चातुर्मास उन्होंने जयपुर किया और उसके पश्चात् फिर थली में पधार गये।

७

शरीरान्त

प्रतिश्याय का विस्तार

सं० १९४८ के रतनगढ़ चातुर्मास के प्रारंभ में उन्हें साधारण प्रतिश्याय हुआ, किन्तु धीरे बिगड़ कर वह कुछ असाधारण बन गया। उनके शरीर में ज्वर रहने लगा और कुछ पश्चात् उन्हें कै भी होने लगी। शरीर काफी शिथिल हो गया। चातुर्मास-समाप्ति के बिहार हो पायेगा या नहीं यह संकास्पद ही था। किन्तु वे शरीर से जितने कोमल थे, समय उतने ही दृढ़ थे। उन्होंने वहाँ से चूरू की ओर बिहार किया और वहाँ पधार कर मर्यादा-महोत्सव किया। वहाँ पधारने के पश्चात् वे कुछ ही दिन ठीक रह पाये थे कि रोग ने और अधिक उग्ररूप धारण कर लिया। उन्हें बीमारी के उस आक्रमण से यह विश्वास होने लगा कि अब पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर पाना असंभव है। उन्होंने तब संघ की आगामी व्यवस्था करते हुए चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन माणकलालजी को युवाचार्य-पद दिया।

खाँसी का प्रकोप

चैत्र कृष्णा पंचमी की रात्रि उनके लिए काल रात्रि थी। उस दिन उन्हें खाँसी का इतना प्रकोप हुआ कि वे ठसक-ठसक जाते थे। रात्रि के समय तो ठसका और भी जोर हो गया था। संतों को बड़ी चिंता हो रही थी कि आज की यह रात्रि कैसे निकलेगी। मघवागणी ने सबको चिंतित देखकर फरमाया कि घबराने की कोई बात नहीं है। अब मुझे लगता है कि यह कष्ट थोड़े ही समय का है। सचमुच ही उस बात के थोड़ी देर पश्चात् लगभग रात्रि के ग्यारह बजे उनकी वह खाँसी एकदम बंद हो गई। सेवा में बैठे हुए संतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे समझ ही नहीं पा रहे थे कि इस प्रकार अचानक ही खाँसी के बंद हो जाने का आखिर रहस्य क्या है?

मध्य रात्रि में शिक्षा

अर्धरात्रि की उस वेला में मघवागणी ने फरमाया कि माणकलालजी को बुला लाओ, मुझे कुछ बात कहनी है। उस समय बाहर एकदम सन्नाटा था। कुछ संत पीछे जागने के लिए सोये हुए थे और कुछ पीछे सोने के लिए आचार्यदेव की सेवा में बैठे हुए थे। माणकलालजी भी सेठ मंगलराम दूगड़ श्रीचन्दजी गधैया आदि वहीं उपस्थित थे। आचार्यश्री की आज्ञा पर जब माणकगणी को बुलाया गया तब अन्य संतों को भी जगा दिया गया कि आचार्यश्री कुछ फरमाना चाहते हैं।

थोडी ही देर में सब सत वहाँ आकर उपस्थित हो गये और वदन कर उनकी अन्तिम शिक्षा सुनने के लिए सामने बैठ गये। मघवागणी ने युवाचार्य को सबोधित कर उन्हें अतिम रूप से सघ का भार सौपते हुए फरमाया कि सब सत-सतियो की बागडोर अब तुम्हारे हाथ मे है, अत सबकी लज्जा रखना भी तुम्हारा अपना कर्त्तव्य हो जाता है। विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों को आवश्यकतानुसार नरम तथा गरम बनकर जब तक उनकी सयम पालने की भावना हो, तब तक निभा लेना ही चाहिए। पृथक् विहार करने वाले साधुओ की पृच्छा स्वय आचार्य को ही करनी चाहिए, उनके विहरण आदि का समस्त विवरण भी स्वय उन्हें ही देखते रहना चाहिए। न्याय करते समय किसी का भय या पक्ष नही करना चाहिए। इसी प्रकार साधुओ को शिक्षा देते हुए फरमाया कि आचार्य की आज्ञा को प्रमुख समझकर चलने से ही सारे सघ की उन्नति सभव है। शिक्षा देने के पश्चात् जब वे रुके तो काफी थके हुए थे। सतो ने सहारा देकर उन्हें विश्राम करने के लिए लिटा दिया।

एक उबासी

कुछ देर पश्चात् उन्होने फिर बैठने की इच्छा व्यक्त की। साधुओ ने सहारा देकर उन्हें बिठा दिया, किन्तु तभी उन्हें एक उबासी आई और आँखो की पुतलियाँ फिर गई। बडे कालूजी स्वामी ने जब यह देखा तो उन्हें चौविहार सथारा पचखा दिया। साथ ही उन्होने यह भी कहा कि यदि आपने सथारे को अच्छी तरह से श्रद्ध लिया हो तो उसकी सूचना के लिए हुँकारा देने की कृपा करें। उस समय हुँकारा भरने की शक्ति तो उनमें नही रह गई थी, पर स्वीकृति-सूचक शिर हिलाते हुए उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि सथारे को श्रद्ध लिया गया है। उसी समय वे सतों के हाथो के सहारे बैठे हुए देवलोक पधार गये। वह स० १९४९ चैत्र कृष्णा पचमी की रात्रि थी। शरीर का दाह-सस्कार दूसरे दिन किया गया। उसमें हजारों व्यक्ति सम्मिलित हुए।

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-संवत्— १८९७ चैत्र शुक्ला एकादशी

(२) दीक्षा-संवत्— १९०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी

(३) युवाचार्य-पद संवत्— १९२० आश्विन कृष्णा त्रयोदशी

(४) आचार्य-पद संवत्— १९३८ भाद्रव शुक्ला द्वितीया

(५) स्वर्गवास-संवत्— १९४९ चैत्र कृष्णा पंचमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान— बीदासर

(२) दीक्षा-स्थान— लाडनूं

(३) युवाचार्यपद-स्थान— चूरू

(४) आचार्यपद-स्थान— जयपुर

(५) स्वर्गवास-स्थान— सरदारशहर

आयुष्य विवरण

(१) गृहस्थ— ११॥ वर्ष

(२) साधारण साधु— १२ वर्ष

(३) युवाचार्य— १८ वर्ष

(४) आचार्य— ११॥ वर्ष

(५) सर्व आयु— ५३ वर्ष

जन्म-कुण्डली

मघवागणी की जन्म-कुंडली का विवरण 'मघवा सुजश' में इस प्रकार दिया गया है[1]

तनु भवन सूर्य बने मंगल सुत भवन केतु र चंद ही।
सप्तम बुध अष्टम शनीचर इग्यार में राहु कही॥
द्वादशम शुक्र अरु गुरुज अवर भवने ग्रह नहीं।
गणिराज मघवा ग्रह उत्तम पुन्ये शुभ ही आवही॥

१—म सु ११-११

इसके अनुसार उनकी जन्म-कुडली की ग्रहस्थिति का अकन इस प्रकार होता है
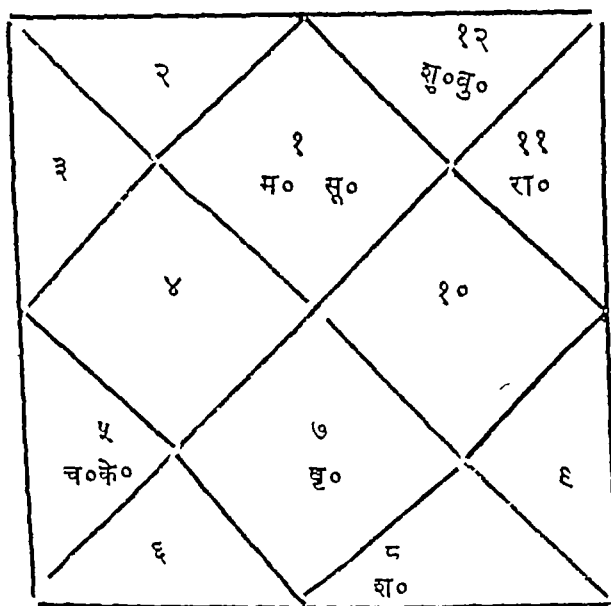
विहार-क्षेत्र

मघवागणी के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य—थली, मारवाड, मेवाड और ढूढाड आदि तथा मालव रहे थे।

चातुर्मास

मघवागणी ने साधारण साधु-अवस्था तथा युवाचार्य-अवस्था के तीस चातुर्मास जयाचार्य की सेवा में ही किये थे। आचार्य-अवस्था मे उन्होने आठ शहरो में ग्यारह चातुर्मास किये। उनका विवरण निम्नोक्त प्रकार से है

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
बीदासर	३	१९३९, ४४, ४७
चूरू	१	१९४०
सरदारशहर	२	१९४१,४५
जोधपुर	१	१९४२
उदयपुर	१	१९४३
लाडणू	१	१९४६
जयपुर	१	१९४८
रतनगढ	१	१९४९

मर्यादा-महोत्सव

मघवागणी ने अपने शासनकाल में विभिन्न स्थानों पर १२ मर्यादा-महोत्सव
उनका विवरण इस प्रकार है

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
जयपुर	२	१९३८ ४७
चूरू	१	१९३९
लाडनूं	३	१९४० ४१ ४६
मोमासर	१	१९४२
दौलतगढ़	१	१९४३
बीकानेर	१	१९४४
रतनगढ़	१	१९४५
सुजानगढ़	१	१९४८
सरदारशहर	१	१९४९

शिष्य-संपदा

मघवागणी के शासनकाल में एक सौ उन्नीस दीक्षाएँ हुई। उनमें छत्तीस साधुओं की और तिरासी साध्वियों की थीं। उन्होंने स्वयं बाईस साधु और तेंतालीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की। शेष सब अन्य साधु-साध्वियों द्वारा दीक्षित हुए थे। उनके दिवंगत होने के समय संघ में इकहत्तर साधु और एक सौ तिरानवे साध्वियाँ विद्यमान थीं।

सप्तम परिच्छेद
आचार्य श्री माणकगणी

: १ :

गृहि-जीवन

जन्म

श्री माणकगणी तेरापन्थ के छठे आचार्य थे। वे जयपुर के श्रीमाल जाति में खारड गोत्र के थे। उनके पिता का नाम हुकमचन्दजी तथा माता का नाम छोटाजी था। उनका जन्म वि० स० १९१२ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को हुआ था। उनके कस्तूरचन्दजी नाम के एक बडे भाई थे। एक बहिन भी थी, जो कि दोनो भाइयो से बडी थी। वह स्थानीय बोहरा-परिवार में व्याही गई थी। माणकगणी के जन्म के कुछ दिन पश्चात् ही उनकी माता का देहावसान हो गया था, अत वे 'धाय' के दूध पर ही पले थे।

पहलवान पिता

माणकगणी के पिता हुकमचन्दजी बडे बलिष्ठ शरीर वाले व्यक्ति थे। वे कुश्ती में विशेष रुचि रखा करते थे, अत प्रतिदिन अखाडे में जाते और पहलवानी किया करते थे। कभी-कभी बाहर से आने वाले पहलवानो के साथ दगल में भी भाग ले लिया करते थे। परन्तु ऐसा वे अपने बडे भाई लिछमणदासजी से छिपकर ही किया करते थे। वे अपने बडे भाई का बहुत ही विनय रखा करते थे।

एक बार 'फतहटीबा' के मैदान में कोई दगल था। हुकमचंदजी भी उसमें सम्मिलित हुए थे। किसी के द्वारा लिछमणदासजी को उस बात का पता लग गया। वे तत्काल बग्घी में बैठकर 'फतह टीबा' गये। वहाँ कई पहलवान आये हुए थे। दर्शकों की भी काफी भीड थी। कुश्तियाँ प्रारम्भ हो चुकी थी। स्वय हुकमचन्दजी भी अखाडे में उतर चुके थे। दूसरे पहलवान के साथ वे गुत्थम-गुत्था हो रहे थे। कुश्ती के दावँ-पेंच चालू थे। उसी समय लिछमणदासजी वहाँ पहुँचे और उन्हें पुकार कर बोले—"हुकमजी ! अखाडे से बाहर आ जाओ। कुश्ती लडने का काम हमारा नही है।"

बडे भाई के शब्द ज्यों ही उनके कानों में पडे, त्यो ही उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी को छोड दिया। भाई के प्रति उनकी विनीतता आश्चर्यजनक थी। उन्होने जय-पराजय को तो कोई महत्त्व दिया ही नही, परन्तु पीछे से किये जाने वाले मजाक तथा तानो की बौछार की भी कोई परवाह नहीं की। उन्होंने अपने कपडे पहने और सिर झुकाये हुए भाई के पास आ खडे हुए। लिछमणदासजी ने मीठा-सा उपालम्भ दिया और अपने साथ ही उन्हें शहर में ले आये।

पिता का देहान्त

लाला हुकमचन्दजी जहाँ पहलवानी में निपुण थे वहाँ जवाहरात के व्यापार में निपुणता रखते थे। वे व्यापार के निमित्त बम्बई आया-जाया करते थे। एक बार सं० [illegible] में वे बम्बई से वापस जयपुर आ रहे थे। वह गदर का समय था। स्थान-स्थान पर लूट-खसोट और मार धाड़ मची हुई थी। वे जयपुर के समीपस्थ नगर सांगानेर तक सकुशल पहुँच गये थे परन्तु वहाँ वे भील डाकुओं द्वारा घेर लिए गये और मार डाले गये। माणकचन्दजी उस समय लगभग दो वर्ष के थे।

चाचा की देख-रेख में

माणकचन्दजी तथा उनके अन्य भाई-बहिनों का लालन-पोषण उनके चाचा लिछमणदासजी की देख रेख में हुआ। वे उन सबको अपने ही पुत्र-पुत्रियों के समान प्यार किया करते थे। माणकगणी सबसे छोटे थे अतः उन्हें उनका विशेष प्यार प्राप्त था। उन्होंने न केवल उन सबका लालन-पोषण ही किया था अपितु उन सबकी धार्मिक रुचि को भी परिपक्वता प्रदान की थी।

लिछमणदासजी स्वयं एक बहुत अच्छे तत्त्वज्ञ श्रावक थे। वे धर्म प्रचार में भी अच्छी रुचि रखने वाले व्यक्ति थे। जवाहरात का व्यापार होने के कारण देश के विभिन्न भागों में उनका आना जाना होता रहता था। बम्बई तथा सूरत आदि की तरफ वे विशेष रूप से जाया करते थे। जब-जब अवसर मिलता तब-तब वे अपने परिचित व्यक्तियों में धार्मिक-चर्चा चलाया करते थे। गुजरात में उन्होंने 'कलारवाला' और 'वकीलवाला' परिवार के अनेक व्यक्तियों को समझाया था। 'कलारवालों' में चुन्नीभाई और 'वकीलवालों' में [illegible] जो कि मगनभाई के दादा थे उन्हीं के समझाये हुए थे। गुजरात में तेरापन्थ के स्थायित्व का आदि बीज बोने में श्रावक लिछमणदासजी का प्रमुख हाथ था।

धार्मिक रुचि

धर्म प्रिय चाचा की छत्र-छाया में रहते हुए बालक माणकचन्दजी के हृदय में भी धर्म की अच्छी रुचि पैदा हो गई थी। सं० १९२८ में जब जयाचार्य ने जयपुर में चातुर्मास किया था तब 'माणकचन्दजी' की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की थी। धर्म के प्रति उनकी भावना प्रारम्भ से ही अच्छी थी। साधुओं के संयोग से वह और भी तीव्र हो गई। उस चातुर्मास में उन्होंने तत्त्व ज्ञान सीखना प्रारम्भ किया।

संसार से विरक्ति

पूर्व जन्म के संस्कार तथा मोह-कर्म के क्षयोपशम के कारण क्रमशः उनकी वृत्ति संसार से विरक्त होती चली गई। कुछ दिन तक उन्होंने अपनी उस भावना को मन में ही परिपक्व होने दिया। एक दिन अवसर देखकर उन्होंने जयाचार्य के चरणों में अपनी भावना रखी। जयाचार्य ने उनकी भावना को सुनकर अनेक प्रकार के प्रश्न किये और उनकी [illegible] की

परीक्षा ली। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि इस भावना के पीछे कोरी भावुकता ही नहीं है, किन्तु सच्ची विराग-वृत्ति है, तो उन्होने कहा कि तुम अपने आपको अधिक से अधिक अध्ययन में लगाओ और अपनी वृत्तियों को कसते रहो। सयम के लिए तुम्हारे बाबा लिछमणदासजी की आज्ञा आवश्यक है। उनका तुम्हारे प्रति अत्यधिक अनुराग है, इसलिए उनके पास यह बात चलाओ तो पहले अवसर अवश्य देख लेना।

आज्ञा की प्रेरणा

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् जयाचार्य कुछ दिन गाँव बाहर सरदारमलजी लूणिया के बाग में तथा कुछ दिन घाट पर लाला भैरू लालजी जौहरी की हवेली में विराजे। माघ महीने के अन्तिम सप्ताह मे उन्होने वहाँ से लाडणू की ओर विहार किया। लिछमणदासजी परिवार सहित सेवा के लिए साथ में आये। एक दिन 'कुचामण' में जब कि जयाचार्य की सेवा में केवल लालाजी का ही परिवार बैठा हुआ था, तब विरागी माणक ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि इस समय लालाजी से मेरी दीक्षा के विषय में आप ही कुछ बात करने की कृपा करें तो अच्छा रहे।

जयाचार्य ने तब अवसर देखकर लालाजी से कहा—"यदि तुम्हारा माणक दीक्षा ले तो दीपता साधु हो।"

लालाजी ने कहा—"यह तो हम लोगो के लिए परम सौभाग्य की बात है कि आप स्वय हमारे परिवार के एक बालक के लिए ऐसे उत्तम शब्द फरमाते है, परन्तु यह सब तो तभी सम्भव हो सकता है, जब किसी के मन में विराग-भावना हो। दीक्षा की कठिन साधना विराग के बिना नही हो सकती।"

जयाचार्य ने फरमाया—"यदि माणक के मन में विराग हो तो तुम्हे आज्ञा देने में तो कोई अडचन नही होगी ?"

लालाजी ने कहा—"यह शहर में रहने वाला है, इसे सयम के कष्टों का कोई पता नही है। इसके कोमल शरीर के साथ सयम के कष्टो का कोई मेल नही बैठ सकता। गर्मी और सर्दी के परीषहों को सह लेना इसके वश की बात नही है। विहारों में भार उठाकर चलना तो और भी कठिन कार्य है।"

ओघा तो उठा लेगा ?

जयाचार्य ने उनको समझाते हुए कहा—"जिसके मन में विराग होता है, वह इन सब कष्टों को सहज ही सह लेता है। कोमलता के विषय में भी तुम्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नही लगती। शरीर को तो जहाँ जैसे रखा जाये, वैसे ही रह लेता है। भार उठाने की चिंता भी हम कर लेंगे। कम से कम यह अपने ओघे का भार तो उठा ही लेगा ? तुमने सघ की बहुत बडी सेवाएँ की है, तो इसे भी एक सेवा ही समझना चाहिए। तुम्हारे

घर का कोई व्यक्ति यदि संघ में अपना जीवन अर्पण करना चाहता है तो उसे न रोककर सहर्ष आज्ञा देनी चाहिए। संघ के प्रति मेरे उत्तरदायित्व का भार वे सकें। परन्तु मघवी को भी तो कोई भार सम्भालने वाला चाहिएगा।"

आज्ञा प्राप्ति

जयाचार्य के शब्दों ने माताजी को काफी प्रभावित किया। उन्होंने दीक्षा विषयक स्वीकृति देते हुए जयाचार्य से कहा — 'यदि आपने इसकी भावना की अच्छी तरह से परीक्षा कर ली है तो मुझे आज्ञा देने में कोई आपत्ति नहीं है। आपके ये अमृतोपम वचन हम सबके लिए और विशेषकर मानक के लिए सौभाग्य के सूचक हैं।

: २ :

साधु-जीवन

दीक्षा ग्रहण

आज्ञा प्राप्ति के पश्चात् विरागी माणक ने श्रमण-प्रतिक्रमण सीखना प्रारभ कर दिया। मार्ग के गाँवों में उन्होने मुख्यत सेवा और सीखना—ये दो ही कार्य किये थे। जयाचार्य क्रमश विहार करते हुए लाडणू पधार गये। लालाजी वहाँ तक सेवा में ही रहे। उसके पश्चात् वे दीक्षा की तैयारी करने के लिए जयपुर चले गये। वहाँ मे उपयुक्त सामग्री लेकर शीघ्र ही वापस लाडणू आ गये।

दीक्षार्थी माणकगणी धनवान् घर के वालक थे, अत दीक्षा से पूर्व किये जाने वाले सारे नेगचार उनके उपयुक्त ही किये गये। दीक्षा-तिथि से पूर्व कई वनौरे निकाले गये। जनता में दीक्षा की काफी धूम-धाम नजर आने लगी। पूर्व निश्चित तिथि के अनुसार स० १९२८ फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन लाडणू के दक्षिणी दरवाजे के वाहर जयाचार्य ने उनको दीक्षा प्रदान की। उस समय लाडणू तथा उसके आसपास की जनता वडी सख्या में एकत्रित हुई थी। लाडणू के ठाकर वहादुरसिंहजी भी उस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। नवदीक्षित साधु को साथ लेकर जयाचार्य ने लाडणू में प्रवेश किया। उससे पूर्व वे गाँव-वाहर ही ठहरे हुए थे।

अग्रणी

दीक्षा ग्रहण करते ही माणकगणी ने अपनी पूरी शक्ति सैद्धान्तिक ज्ञान अर्जित करने में लगा दी। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। हर वात को वे वडी शीघ्रता से ग्रहण कर सकते थे। उन्होने अपने प्रथम तीन चातुर्मास जयाचार्य की सेवा में किये और उस थोडे से समय मे हर विषय की अच्छी निपुणता प्राप्त की। सुसस्कृत-प्रकृति, नम्र-स्वभाव और सहिष्णुता आदि उनमें अनेक ऐसे गुण थे, जिन्होंने जयाचार्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। लगभग तीन वर्ष के पश्चात् ही स० १९३१ में वे अग्रणी बना दिये गये।

अध्ययन

अग्रणी-अवस्था मे उन्होने अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को और प्रखर बनाया तथा सस्कृत का अभ्यास भी किया। उस समय साधुओं में सस्कृतज्ञ बहुत कम थे, अत अध्ययन के लिए किसी पडित की अपेक्षा रहा करती थी। स० १९४३ में उनका चातुर्मास जयपुर में हुआ, तब वहाँ उन्हें एक पडित का योग मिला। उसके पास उन्होने शब्द-बोध तथा सिद्धान्त-चन्द्रिका का अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने जयाचार्य और मघवागणी द्वारा प्रस्तुत की गई ज्ञान-परपरा

को संभालकर आगे बढ़ाया। उनका वह कार्य संघ में संस्कृत-विकास की एक कड़ी माना जा सकता है। पर उस वर्ग के पश्चात् फिर किसी पंडित का योग न मिलने से उसमें प्रबलता नहीं आ सकी।

कविराजजी का प्रश्न

माणकगणी की दीक्षा के पश्चात् लगभग साढ़े नौ वर्ष तक जयाचार्य का रहा। उसके पश्चात् वे मघवागणी के शासन में भी उसी विनीतता और अनुकूलता से काम करते रहे। मघवागणी की दृष्टि प्रारंभ से ही उनपर अनुकूल थी। सं० १९४१ में वह और भी स्पष्ट हो गई। मघवागणी का वह चातुर्मास उदयपुर में था। वहाँ कविराज श्यामलदासजी बहुधा सेवा में आया करते थे। संघ के प्रति उनकी भावना एक निपुण श्रावक जैसी ही थी। मघवागणी भी अनेक बार उनके मकान में विराजा करते थे जो कि 'कविराजजी की वाड़ी' नाम से प्रसिद्ध था।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् मघवागणी उनकी वाड़ी में ही ठहरे हुए थे, तब एक दिन कविराजजी ने बात ही बात में पूछ लिया कि आपके पीछे आपका भार संभालने वाला कौन है?

मघवागणी ने उस प्रश्न को उस समय यह कहते हुए टाल दिया कि अवसर आने दो। अब की बार जब इधर आना होगा तब इस विषय पर बात करने का विचार है।

सर्वाधिक उपयुक्त

उसके पश्चात् मघवागणी मोटेगाँव पधार गये। वहाँ पचीस रात रहकर सीधे मारवाड़ की ओर पधारने का विचार किया। परन्तु विहार करते हुए जब वे गेवला पहुँचे तब उदयपुर वासियों ने आकर उदयपुर पधारने के लिए आग्रह-युक्त प्रार्थना की। उनमें कविराजजी भी सम्मिलित थे। उन्होंने अपनी ओर से भी विशेष आग्रह किया। इस पर उन्हें मारवाड़ की तरफ का विहार स्थगित कर के उदयपुर पधारने का निश्चय करना पड़ा। वे वहाँ पधारे और कविराजजी की वाड़ी में विराजे।

इस बार कविराज जी ने अवसर देखकर मघवागणी से फिर पूछा कि आपने अपने पीछे की व्यवस्था के लिए वापस आने पर विचार करने को कहा था अतः कृपा करके अब इस विषय पर कुछ स्पष्ट फरमाइये।

मघवागणी ने तब फरमाया कि आज तक के मेरे अवलोकन में इस कार्य के लिए माणकचन्दजी सबसे अधिक उपयुक्त लगते हैं। कविराजजी गणेश की इस कृपा और विश्वास पर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस समाचार को प्रसारित करने के लिए श्रावक-वर्ग को सुना दिया।

कृपादृष्टि

माणकगणी के प्रति मघवागणी की वह कृपादृष्टि बहुत पहले से ही थी। सभवत दीक्षा से पूर्व जयाचार्य ने उनके प्रति जो विचार व्यक्त किये थे, वे मघवागणी के विश्वास को प्रेरित करते रहते थे। उनकी कृपा समय-समय पर अनेक कार्यों द्वारा व्यक्त होती रहती थी। एक बार स० १९४५ के शेष काल में मघवागणी ने एक साध्वी को दीक्षा देने के लिए उनको बीदासर से राजलदेसर भेजा था। इसी प्रकार स० १९४८ में जब कि उनका चातुर्मास मघवागणी के साथ ही जयपुर में था, गतदिवस-वार्ता सुनने की आज्ञा फरमाई थी।

रोग-शमन

माणकगणी यद्यपि अग्रणी के रूप में विहार किया करते थे, फिर भी गुरुदेव के दर्शनो की उत्सुकता उनके मन में बनी ही रहती थी। गुरु के प्रति अनन्य-भक्ति उनकी उस भावना को और भी तीव्र बनाती रहती थी। स० १९४६ के जोधपुर-चातुर्मास में माणकगणी के पैर में 'कीडी नगरा' हो गया था। रोग के कारण विहार करने की कोई परिस्थिति नही थी, फिर भी उनका मन गुरु-दर्शन के लिए इतना लालायित हो उठा था कि वे अपने आपको रोक न सके। उनका विश्वास था कि दर्शन होने पर ही उनका यह रोग शात हो सकेगा। उन्होने रुग्ण-अवस्था में ही वहाँ से विहार किया और थली में आकर गुरुदेव के दर्शन किये। उसके पश्चात् बीदासर में केवलचन्दजी यति के औषधोपचार से वह भयकर रोग शीघ्र ही शात हो गया। उसके पश्चात् वे प्राय मघवागणी के साथ ही रहने लगे।

युवाचार्य

स० १९४९ में मघवागणी सरदारशहर पधारे। वहाँ उनके शरीर की स्थिति बहुत ही कमजोर हो गई। यहाँ तक कि शासन-प्रबध कर देने के विषय में भी सोचा जाने लगा। बडे कालूजी स्वामी, मोतीजी स्वामी आदि सतो ने अवसर देखकर अपने वे विचार मघवागणी के सामने रखे। स्वयं मघवागणी भी अपनी शारीरिक स्थिति से अवगत थे, अत स० १९४९ फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी के दिन उन्होने युवाचार्य की नियुक्ति का पत्र लिखा और सती-प्रमुखा नवलाजी को सौंप दिया। उस समय यह पत्र प्रकट तो नही किया गया, पर पत्र लिखने के पश्चात् ही साधुओं को शिक्षा देते समय उन्होने माणकगणी को आलोयणा तथा हाजरी का कार्य सभला दिया था, अत उससे पत्र में लिखित नाम की कल्पना सहज ही कर ली जा सकती थी।

विधिवत् युवाचार्य-पद देने के लिए वे शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा में थे। ज्योतिषियो ने चैत्र कृष्णा द्वितीया का दिन अच्छा बतलाया था। उससे पहले वे अन्य वैधानिक कार्यों की पूर्त्ति कर चुके थे। चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन कालूरामजी जम्मड की हवेली के अन्दर वाले चौक में चारो तीर्थ की उपस्थिति में बडे उत्साह और उल्लासमय वातावरण में माणकगणी को युवाचार्य-पद प्रदान किया गया। वे युवाचार्य-अवस्था में केवल चार दिन ही रह पाये, क्योंकि पंचमी की रात्रि को मघवागणी का स्वर्गवास हो गया।

राजस्थान में अकाल की स्थिति थी, अतः दूर स्थित साधु-साध्वियो को नही बुलाया गया था, इसलिए केवल उनतीस सन्त और अठाईस सतियाँ ही उस अवसर पर एकत्रित हो सकी।

हरियाणा में तेरापन्थ के आचार्यों का वह प्रथम पदार्पण था। स्थानीय जनता में बडा उत्साह और हर्ष था। गाँवों तथा शहरों मे जहाँ भी पदार्पण होता, जनता उन्हें घेरे रहती। महोत्सव के पश्चात् उन्होंने भिवानी में सत्ताईस रात का प्रवास किया और उसके पश्चात् मोठ, लुहारी, मिसाय, कोथ, कापडा आदि हरियाणा के छोटे-छोटे गाँवो में विहार कर फिर थली में पधार गये और स० १९५१ का चातुर्मास चूरू मे किया।

जयपुर

स० १९५२ में उन्होंने अपना चातुर्मास जयपुर में किया। वहाँ दूर-दूर के लोगो का आवागमन बहुत रहा। यद्यपि उस समय आज की तरह रेल आदि की सुविधाओं का अभाव था, फिर भी वहाँ लगभग बीस हजार यात्री आये थे। आचार्य-दर्शन के साथ-साथ उन लोगो को जयपुर शहर के अवलोकन का भी अवसर मिला। जयपुर-वासियो को इतने व्यक्तियो का बाहर से आना बडा आश्चर्यजनक लगा और साथ-ही-साथ सुखद भी। उन यात्रियो के कारण स्थानीय व्यापारियो को उस वर्ष अच्छा लाभ मिला था।

अन्तिम चातुर्मास

स० १९५३ में उन्होंने अपना चातुर्मास बीदासर मे किया। उसमें उन्होने 'मघवा सुजस' की रचना की। उसके पश्चात् अपना अंतिम चातुर्मास उन्होने सुजानगढ में किया। जब वे सुजानगढ में पधारे, तब बिल्कुल नीरोग थे। उस समय कोई यह अनुमान भी नही लगा सकता था कि यह उनका अंतिम चातुर्मास होगा।

चिन्ता-जनक स्थिति

भाद्रमास तक का आधा चातुर्मास बडे आनन्द से सम्पन्न हुआ। परन्तु आश्विन मास में उनको ज्वर हुआ और साथ में पेचिश की बीमारी भी हो गई। अनेक प्रकार के औषधोपचार किये गये, परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। उस समय दर्शन के निमित्त आये हुए बीदासर के यति केवलचन्दजी ने उनकी नाडी देखकर बतलाया कि नाडी की गति बहुत ही मन्द है और साथ में हृदय भी कमजोर हो गया है, अतः यह स्थिति अच्छी न होकर चिन्ता-जनक ही है।

व्यवस्था के लिए प्रार्थना

माणकगणी के नैरन्तरिक स्वास्थ्य-ह्रास से तथा यतिजी के उस निर्णय से सारे सघ को बडी चिन्ता हुई। कुछ सन्तो ने गुरुदेव का ध्यान सघ की भावी व्यवस्था की ओर आकृष्ट करने का विचार किया। परन्तु वह कार्य कोई सहज नहीं था। माणकगणी की अवस्था उस

लिखकर अपने पूठे में रख दें। ऐसा करने से चारो ही तीर्थ को आप एक चिंता से मुक्त कर देंगे और साथ ही नीरोम होने के पश्चात् उस पत्र के नाम को स्थायित्व प्रदान करने या न करने में भी आप स्वतन्त्र होगे।

ज्योतिष पर विश्वास

माणकगणी ने यह सब कुछ सुना, परन्तु कोई उत्तर नही दिया। रोग को उन्होंने उतना गम्भीर नहीं समझा, जितना कि वैद्य बता रहे थे। सन्तो की बात पर ध्यान न देने का दूसरा यह कारण भी था कि वे ज्योतिषी द्वारा लिखित अपनी जन्म-कुण्डली की बातों पर विशेष विश्वास करते थे। कुण्डली मे लिखित अनेक बातें पहले मिल चुकी थी, इसलिए उस पर उनका विश्वास और भी दृढ हो गया था। कुण्डली के अनुसार उनका आयुष्य बासठ वर्ष का था, अत॰ वे यह विश्वास करते रहे कि इस समय उनके वेदनीय कर्म का प्राबल्य अवश्य है, पर शरीर को किसी प्रकार का खतरा नहीं है। इसीलिए वैद्यो की बातो पर उन्हें विश्वास नही हो पा रहा था। सघ के भावी प्रबन्ध की चिंता न होने का भी यही कारण था। उन्हें शीघ्र ही अपने नीरोग हो जाने की शत-प्रतिशत आशा थी।

दिवगत

आश्विन का सारा महीना इसी प्रकार रुग्णावस्था में गुजर गया। शरीर धीरे-धीरे अशक्त होता गया। कार्त्तिक कृष्णा तृतीया को उन्हें एक ऐसा जोर का दस्त हुआ कि वे उसी समय मूर्च्छित हो गये और उसके पश्चात् वे दिन भर मूर्च्छित ही रहे। रात के लगभग ग्यारह बजे उन्हें एक हिचकी आई और उसके साथ ही वे दिवगत हो गये। पार्श्व-स्थित सन्तों ने उन्हें सागारी अनशन भी कराया, परन्तु सचेत न होने के कारण यह निश्चय नही किया जा सका कि उन्होंने उसको श्रद्ध लिया था या नही। उनके शरीर-त्याग से सारे सघ में एक ऐसा औदासीन्य छा गया कि जिसमें निराशा का भी सम्मिश्रण था। दूसरे दिन दाह-सस्कार की क्रिया सम्पन्न की गई।

समय लगभग बयालीस वर्ष की ही थी। ऐसी स्थिति में स्वामी [illegible] के तथा उस बात को गुरुदेव के सामने रखना असामयिक [illegible] का सामना करने के लिए व्यवहार के महत्त्व को लंघित करना ही [illegible] है। एतद्विषयक निवेदन करने का साहस किया।

उन दिनों मघराजजी स्वामी संघ के कार्यों में प्रमुख रूप से भाग लेने लगे थे, संकोच और साहस के अन्तर्द्वन्द्व का सामना करते हुए दो-तीन सन्तों को साथ लेकर पास आये। नम्रतापूर्वक वंदन करने के पश्चात् वे प्रार्थना करते हुए बोले—"स्वामी! दीर्घायु हों और हम सब आपकी चरणों की सेवा का लाभ चिरकाल तक पाते रहें, यही [illegible] कामना है। फिर भी जब आपके शरीर की स्थिति को देखते हैं तो [illegible] है। यद्यपि आपकी अवस्था कोई बड़ी नहीं है पर शक्ति के [illegible] है। औषधोपचार करते हुए कितने दिन हो गये फिर भी न जाने क्यों कोई अन्तर नहीं पड़ रहा है। आप स्वयं सर्वज्ञ पुरुष हैं संघ का हित सदैव आपके ध्यान में रहता है, फिर भी हम लोग इस ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की धृष्टता करने आये हैं। [illegible] उचित समझें तो अपना भार किसी युवाचार्य पर स्थापित करने की कृपा करें। [illegible] मुक्त होकर जब आप युवाचार्य सहित संघ की सार-संभाल करेंगे तब हम [illegible] युवाचार्य की सम्मिलित छत्र-छाया में अपने आपको कृतार्थ कर सकेंगे।"

क्या जल्दी है ?

माणकगणी ने मघराजजी स्वामी द्वारा कही गई सारी बातें बड़े ध्यान से सुनीं [illegible] प्रत्येक इङ्गित को बड़ी गहराई के साथ समझा। उसके पश्चात् कुछ क्षण सोचकर उन्होंने [illegible] आत्म विश्वास के साथ फरमाया— 'इस कार्य के लिए अभी से इतनी क्या जल्दी है ? तुम जो कहना चाहते हो मैं उसे अच्छी तरह से समझता हूं। संघ-हित के लिए तुमने जो [illegible] किया है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है, परन्तु मुझे लगता है कि अभी यह कार्य कर [illegible] समय से पहले होगा। मेरे शरीर की अवस्था देखकर तुम लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक है परन्तु यह कमजोरी और दुर्बलता तो पैत्तिक के कारण से है, [illegible] तब ये भी शीघ्र ही दूर हो जायेंगी।

एक सुझाव

मघराजजी स्वामी आदि सन्तों ने जब देखा कि उनकी बात को अधिक गहराई से नहीं लिया जा रहा है तब उन्होंने और अधिक स्पष्ट होकर एक सुझाव प्रस्तुत करते हुए [illegible]— [illegible] कहते हैं कि आपकी शारीरिक शक्ति क्षीण होती जा रही है [illegible] हो है। वैद्यों की इस मान्यता के आधार पर ही हम लोग आपसे [illegible] अनुरोध करने के लिए आये हैं। यदि आप इस समय युवाचार्य का [illegible]

एक सन्त अपने कार्य में उसी प्रकार से लगा रहा, जिस प्रकार से कि आचार्य की विद्यमानता में लगा रहता था।

चातुर्मास की समाप्ति पर तत्रस्थ सारा श्रमण-संघ वहाँ से विहार कर लाडणू में आ गया। अन्य गाँवों से भी सन्त-सतियो के सिंघाडे विहार करते हुए वहाँ आकर एकत्रित हो गये। पारस्परिक विचार-विमर्श के पश्चात् सब सन्तों की एक सभा बुलाई गई और उसके निर्णयानुसार पौष कृष्णा तृतीया को डालचन्दजी स्वामी को आचार्य घोषित कर दिया गया। दो[1] महीने तक संघ आचार्य के बिना रहा, परन्तु नीति-निपुण और आचार-कुशल साधु-संघ ने निर्विवाद रूप से आचार्य का चुनाव करके उस कमी को पूरा कर लिया।

१—'माणक महिमा' में तीन महीने तक गादी खाली रहने का कथन किया गया है। उसका तात्पर्य डालगणी के पट्टारोहण दिवस तक की गणना से है। वे माघ कृष्णा द्वितीया को विधिवत् पदासीन हुए थे।

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-संवत्—	१९१२ भाद्रव कृष्णा चतुर्थी
(२) दीक्षा-संवत्—	१९२८ फाल्गुन शुक्ला एकादशी
(३) अग्रणी-संवत्—	१९३१
(४) युवाचार्य-पद संवत्—	१९४९ चैत्र कृष्णा द्वितीया
(५) आचार्य-पद संवत्—	१९४९ चैत्र कृष्णा अष्टमी
(६) स्वर्गवास-संवत्—	१९५४ कार्तिक कृष्णा तृतीया

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान—	जयपुर
(२) दीक्षा-स्थान—	लाडनूं
(३) युवाचार्य-पद स्थान	सरदारशहर
(४) आचार्य-पद स्थान	सरदारशहर
(५) स्वर्गवास-स्थान	सुजानगढ़

आयुष्य विवरण

(१) गृहस्थ	१६॥ वर्ष
(२) साधारण साधु	३ वर्ष
(३) अग्रणी	१८ वर्ष
(४) युवाचार्य	४ दिन
(५) आचार्य	४॥ वर्ष
(६) सर्व आयु	४२ वर्ष

जन्म-कुण्डली

६ शु
४ मं
७ के
५ सू बु
३ श
८
२
९
११ रा
१० चं गु
१
१२
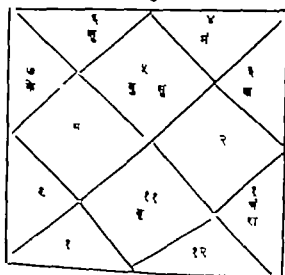
विहार-क्षेत्र

माणकगणी के विहार-क्षेत्र प्रमुख रूप से राजस्थान के तत्कालीन राज्य मेवाड, मारवाड, ढूढाड तथा थली ही थे। उनके अतिरिक्त हरियाणा को भी उन्होंने अपना विहार-क्षेत्र बनाया था।

चातुर्मास

माणकगणी ने स० १९२९ से ३१ तक के तीन चातुर्मास जयाचार्य के साथ, स० १९३२ से ४६ तक के पन्द्रह चातुर्मास अग्रणी-अवस्था में स्वय, फिर स० १९४७ से ४९ तक के तीन चातुर्मास मघवागणी के साथ और स० १९५० से ५४ तक के पाँच चातुर्मास आचार्य-अवस्था में किये।

अग्रणी-अवस्था मे

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
पचपदरा	२	१९३२, ४१
बीकानेर	१	१९३३
जयपुर	२	१९३४, ४३
फलोदी	१	१९३५
बरलू	१	१९३६
तारानगर (रीणी)	१	१९३७
पुर	१	१९३८
देशनोक	१	१९३९
बालोतरा	१	१९४०
पींपाड	१	१९४२
चूरू	१	१९४४
उदयपुर	१	१९४५
जोधपुर,	१	१९४६

आचार्य-अवस्था मे

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
सरदारशहर	१	१९५०
चूरू	१	१९५१
जयपुर	१	१९५२
बीदासर	१	१९५३
सुजानगढ	१	१९५४

अष्टम परिच्छेद

आचार्य श्री डालगणी

: १ :

गृहि-जीवन

जन्म

श्री डालगणी तेरापन्थ के सप्तम आचार्य थे। उनका पूरा नाम डालचन्दजी स्वामी था। वे मालवदेश की प्राचीन राजधानी उज्जयिनी के निवासी थे। उनके पिता का नाम कनीरामजी तथा माता का नाम जडावाजी था। वे ओसवाल जाति के अन्तर्गत पीपाडा गोत्र के थे। उनका जन्म स० १९०९ में आषाढ शुक्ला चतुर्थी को हुआ था। उनके पिताजी का देहान्त उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था।

माता की दीक्षा

पति की मृत्यु के पश्चात् उनकी माताजी ससार से विरक्त रहने लगी थीं। धीरे-धीरे उनके मन में सयम ग्रहण करने की भावना जागृत हुई और उन्होंने इसके लिए परिवारवालों से आज्ञा माँगी। अपने पुत्र डालचन्दजी की देख-भाल का भार भी उन्होने अपने निकट परिजनों पर छोडा और स० १९२० में आषाढ शुक्ला त्रयोदशी को पेटलावद में साध्वी श्री गोमाजी के पास दीक्षित हो गईं।

विराग-भावना

उस समय बालक डालचन्दजी की अवस्था लगभग ग्यारह वर्ष की थी। वे बडे बुद्धिशाली और चतुर बालक थे। माताजी की दीक्षा का असर उनके मन पर बडा तीव्र हुआ। उनके सस्कार धर्म की ओर विशेष रूप से जागरूक होने लगे। लगभग तीन वर्ष पश्चात् ही उनका मन भी सयम ग्रहण करने को उत्सुक हुआ। परिजनों के सामने उन्होंने अपने विचार रखे और उनसे आज्ञा प्राप्त की। उन दिनों इन्दौर में बडे हीरालालजी स्वामी का चातुर्मास था। वही जाकर उन्होने साधु-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक तत्त्वज्ञान सीखा।

: १ :

गृहि-जीवन

जन्म

श्री डालगणी तेरापन्थ के सप्तम आचार्य थे। उनका पूरा नाम डालचन्दजी स्वामी था। वे मालवदेश की प्राचीन राजधानी उज्जयिनी के निवासी थे। उनके पिता का नाम कनीरामजी तथा माता का नाम जडावाजी था। वे ओसवाल जाति के अन्तर्गत पीपाडा गोत्र के थे। उनका जन्म स० १९०९ में आषाढ शुक्ला चतुर्थी को हुआ था। उनके पिताजी का देहान्त उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था।

माता की दीक्षा

पति की मृत्यु के पश्चात् उनकी माताजी ससार से विरक्त रहने लगी थीं। धीरे-धीरे उनके मन में सयम ग्रहण करने की भावना जागृत हुई और उन्होंने इसके लिए परिवारवालों से आज्ञा माँगी। अपने पुत्र डालचन्दजी की देख-भाल का भार भी उन्होंने अपने निकट परिजनों पर छोडा और स० १९२० में आषाढ शुक्ला त्रयोदशी को पेटलावद में साध्वी श्री गोमाजी के पास दीक्षित हो गईं।

विराग-भावना

उस समय बालक डालचन्दजी की अवस्था लगभग ग्यारह वर्ष की थी। वे बडे बुद्धिशाली और चतुर बालक थे। माताजी की दीक्षा का असर उनके मन पर बडा तीव्र हुआ। उनके सस्कार धर्म की ओर विशेष रूप से जागरूक होने लगे। लगभग तीन वर्ष पश्चात् ही उनका मन भी सयम ग्रहण करने को उत्सुक हुआ। परिजनो के सामने उन्होंने अपने विचार रखे और उनसे आज्ञा प्राप्त की। उन दिनो इन्दौर में बडे हीरालालजी स्वामी का चातुर्मास था। वहाँ जाकर उन्होंने साधु-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक तत्त्वज्ञान सीखा।

: २ :

साधु-जीवन

दीक्षा-ग्रहण

वह जयाचार्य का युग था। तेरापन्थ में उस समय व्यक्तिगत [illegible] पर अवश्य था परन्तु दीक्षा देने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वर्तमान आचार्य की [illegible] किसी भाई या बहिन को दीक्षा प्रदान की जा सकती थी। इसी आधार पर परिवारवालों ने हीरालालजी स्वामी से प्रार्थना की कि आप इन्हें यहीं दीक्षा प्रदान करें।

हीरालालजी स्वामी ने विरागी की प्रकृति आदि विषयक कुछ जानकारी तो [illegible] समय कर ली थी और कुछ परिजनों आदि से पूछताछ करके प्राप्त करली। उनकी भावना को भी उन्होंने परखा। सब प्रकार से सन्तुष्ट होने पर उन्होंने सं० १९११ [illegible] कृष्णा द्वादशी के दिन उन्हें दीक्षा प्रदान की।

मालव से विहार

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे हीरालालजी स्वामी के पास रहकर [illegible] आसेवन और ग्रहण शिक्षा प्राप्त करते रहे। उस समय चातुर्मास की पूर्ति में [illegible] महीने अवशिष्ट थे। गुरु-दर्शन की लालसा निरंतर उनके मन को [illegible] रहती थी। फिर भी प्रतीक्षा करना अनिवार्य था। गुरुदेव उस समय थली में थे। चातुर्मास-समाप्ति पर मालव से थली की ओर विहार किया गया। कोटा तथा बूंदी होते हुए हीरालालजी स्वामी देवगढ़ पधारे।

वीरभाणजी के प्रशिष्य

देवगढ़ में वीरभाणजी की मान्यता के अनेक घर थे। वीरभाणजी स्वामीजी के [illegible] साथियों में से एक थे। वे संघ से पृथक् होने पर उन्हीं क्षेत्रों में विचरते रहे थे। [illegible] ने हीरालालजी स्वामी की बड़ी भक्ति की और अपने यहाँ ले गये। कुछ पुस्तकें [illegible] भाई उठा कर सामने रखते हुए उन्होंने बतलाया कि ये सब मुनि नेमराजजी के हैं। वे स्वामीजी के शिष्य वीरभाणजी की परम्परा में दीक्षित हुए थे। श्रावकों ने यह भी [illegible] कि वीरभाणजी ने पर्याप्त व्यक्तियों को दीक्षा दी थी। उनमें से बहुत सारे तो [illegible] परम्परा [illegible] शिष्यों की [illegible] में एक नेमराजजी ही [illegible] थे। [illegible] जब [illegible] मुनि नेमराजजी से उनसे पूछा था कि आप [illegible] है, [illegible] आपके पीछे मैं अकेला ही [illegible] मेरा काम किस प्रकार चलेगा? गुरु ने [illegible]

देते हुए कहा था कि तेरापन्थी शुद्ध साधु हैं, उनमें और अपने में कोई अन्तर नही है । तुम उनमें सम्मिलित हो जाना । मुनि सेजरामजी ने तर्क करते हुए फिर पूछा था कि अपन तो इन्द्रियों को सावद्य मानते है, अत इन्द्रियवादी हैं । किन्तु तेरापन्थी उन्हें क्षयोपशम-भाव मानते है, अत एक कैसे हो सकते हैं ? तब गुरु ने कहा था कि यह कोई अन्तर नही है । मैंने भी अपने गुरु से यही बात पूछी थी, तब उन्होने कहा था कि पृथक् होनेवाले को कुछ न कुछ भिन्नता बतलानी ही पडती है, अन्यथा उसका पृथक् होना लोगो के मन पर कोई प्रभाव नही डाल सकता । इसलिए तुम इस भेद की चिन्ता मत करना ।

इसके कुछ दिन पश्चात् ही उनके गुरु का स्वर्गवास हो गया । मुनि सेजरामजी भी तभी से अस्वस्थ रहने लगे और कुछ दिन की बीमारी भोगकर दिवगत हो गये । उन्होने अपने अन्त समय में हम श्रावकों को अपने गुरु के द्वारा कही गई उपर्युक्त बात को बतलाते हुए कहा था कि मेरी मृत्यु के पश्चात् ये मेरे पुस्तक-पन्ने आदि सब तेरापन्थी साधुओ को दे देना । श्रावको के मुख से यह सारी बात सुनकर मुनिश्री हीरालालजी ने उनके पुस्तक-पन्नो को देखा, परन्तु काम के योग्य न समझकर उन्हें ग्रहण नही किया ।

गुरु-दर्शन

वहाँ से विहार करते हुए वे थली में जयाचार्य के पास पहुँचे और दर्शन करके नवदीक्षित डालचन्दजी स्वामी को गुरु-चरणो में भेंट किया । डालगणी ने प्रथम बार गुरु-दर्शन पाकर अपने को कृत-कृत्य माना । कुछ देर के लिए अपने आपको भूल-से गये । जयाचार्य ने नव-दीक्षित मुनि के सिर पर हाथ रखा और कुछ साधारण प्रश्नो द्वारा उनकी शिक्षा आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की । उसके पश्चात् उन्हें स० १९२४ का आगामी चातुर्मास करने के लिए हीरालालजी स्वामी के साथ ही जयपुर भेज दिया ।

ज्ञानार्जन

डालगणी ने अपने आपको ज्ञानार्जन में लगा दिया । अपने प्रारम्भिक वर्षों में उन्हें कई स्थानो पर रहने का अवसर मिला, परन्तु जहाँ भी वे रहे, वहाँ अपने ज्ञानार्जन का क्रम चालू रखा । स० १९२५ से २८ तक जयाचार्य ने उनको अपने साथ रखा । वे वर्ष उनके सैद्धान्तिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए ।

उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और बृहत्कल्प—ये पाँच सूत्र कठस्थ किये थे । उनकी स्वाध्याय-वृत्ति बहुत तीव्र थी, अत जो ज्ञान कण्ठस्थ कर लेते, वह प्राय अस्खलित रूप से उन्हें याद रहता था । उपर्युक्त आगमो के अतिरिक्त अनेक व्याख्यान भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे । यह प्रवृत्ति उनकी आजीवन एक समान रही । अपने अग्रणी-काल में भी वे प्राय कण्ठस्थ व्याख्यानों का ही अधिक प्रयोग किया करते थे । जो व्याख्यान या

: ३ :

निर्भय अग्रणी

सिद्धान्तवादी व्यक्ति

डालगणी को स० १९३० के शीतकाल में अग्रणी बनाया गया। उनका अग्रणी-जीवन बडा ही प्रभावशाली रहा। वे अपने ही बलबूते पर आगे बढे थे। परिस्थितियो ने जहाँ उन्हें पीछे ढकेलने का प्रयास किया था, वहाँ भी उन्होने अपनी प्रगति का द्वार खोज निकाला। वे एक बहुत बडे साहसी और निर्भीक व्यक्ति थे। अपनी बात और धुन के भी वे एक ही थे। चापलूसी का जीवन न उन्हें कभी पसन्द था और न वे दूसरे की चापलूसी के इच्छुक ही थे। वे एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। आज इधर और कल उधर झुक जाने वाली प्रवृत्ति उनमें नाम को भी नही थी। वे अपनी बात कहने में न कभी झिझकते थे और न भावी आशकाओं से घबराते थे। जो उनके दिल में नही जचता था, वह प्राय दूसरों के द्वारा जचाया भी नही जा सकता था। साधारण व्यक्तियो की भाषा में वे एक अक्खड़ व्यक्ति थे, परन्तु मर्मज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में वे अपनी बात के एक धनी व्यक्ति थे।

उतार-चढाव

अपने अग्रणी-काल के प्रथम दशक में उन्होने केवल तीन चातुर्मास ही स्वतत्र रूप से किये थे। अवशिष्ट सात चातुर्मासो में से चार जयाचार्य के साथ तथा तीन विभिन्न साधुओ के साथ किये थे, परन्तु उसके पश्चात् के चौदह चातुर्मासो मे से केवल एक चातुर्मास उन्होंने मघवागणी के साथ किया था और शेष तेरह चातुर्मास स्वतत्र रूप से किये थे।

अपने अग्रणी-जीवन में उन्होने अनेक प्रकार के उतार-चढाव देखे थे। अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का सामना करने के अनेक अवसर उनके सम्मुख आये थे। सभी परिस्थितियो में स्थित-प्रज्ञ रहकर उन्होने धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व को इतना निखार लिया था कि सबका ध्यान उनकी ओर अपने आप खिचने लगा था।

उदयपुर मे

स० १९४३ मे मघवागणी ने अपना चातुर्मास उदयपुर में किया था। वहाँ डालगणी को भी उन्होंने अपने साथ रखा था। उस समय उदयपुर में तेरापन्थ का विरोध बड़े जोरो से चला करता था, अत डालगणी जैसे निर्भीक तथा चर्चा-परायण व्यक्ति का साथ में होना आवश्यक भी था। मघवागणी जब वहाँ पधारे, तब एक दिन सब साधु-साध्वियों को बुलाकर उन्हें सावधान करते हुए फरमाया कि यहाँ पर विद्वेषी-लोग बहुत हैं। मार्ग में जाते-आते समय यदि कोई भी व्यक्ति चलने-बोलने आदि के सम्बन्ध में कोई गलती निकाले, तो ठीक

लग गये। डालगणी भी उस सारी घटना को समेट कर गोचरी के लिए पधारे और पानी लेकर वापस स्थान पर आ गये।

उचित ही किया है

डालगणी ने स्थान पर आते ही वह सारी घटना मघवागणी के सम्मुख रखी और प्रार्थना की कि यद्यपि आपका आदेश यह था कि कोई गलती भी बताए तो ठीक कहकर उस बात को वही समाप्त कर देना, परन्तु मैंने वहाँ पर काफी उत्तर-प्रत्युत्तर कर लिये हैं। उनके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मघवागणी ने फरमाया—"मेरे कहने का तात्पर्य चलने-बोलने आदि की साधारण गलतियो के लिए था, जिनको कि वाद मे सिद्ध या असिद्ध नही किया जा सकता। ऐसी प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली गलत बात को स्वीकार करने का तो प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? तुमने यह स्पष्टीकरण करके उचित ही कार्य किया है।"

चर्चा की घुडकियाँ

उस चातुर्मास मे एक अन्य सम्प्रदाय के साधु चोथमलजी भी वही थे। वे तेरापन्थ के विरुद्ध प्रचार किया करते थे। वे चर्चा करने के लिए वार-वार आह्वान भी किया करते थे। कभी-कभी तो वे यहाँ तक भी कह देते कि यदि तेरापन्थी सच्चे है तो चर्चा क्यो नही करते ?

मघवागणी ने उनके आह्वान को स्वीकार कर लिया। चर्चा की तैयारी होने लगी। कविवर साँवलदानजी तेरापन्थ की ओर से व्यवस्था कर रहे थे। उन्होंने मुनि चोथमलजी को कहलवाया कि चर्चा में किसी प्रकार का कदाग्रह न होने पाये और सत्यासत्य का ठीक निर्णय हो सके, इसलिए राज्य के कुछ पडितो की मध्यस्थता में यह चर्चा होगी। मध्यस्थता की बात जब उनके सामने आई, तब उन्होने उस प्रकार की चर्चा करने से साफ इनकार कर दिया। वहाँ की जनता ने तब यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि इतने दिन तक चर्चा के लिए जो आह्वान किये जा रहे थे, वे सब केवल घुडकियाँ ही थीं।

मार्ग मे चर्चा नहीं

उदयपुर-चातुर्मास के पश्चात् जब मघवागणी रेलमगरा में पधारे, तब मुनि चोथमलजी भी वहीं आ गये थे। उदयपुर में हुई चर्चा-सबधी बात की झेंप मिटाने के लिये वे वहाँ फिर चर्चा की बात करने लगे। मघवागणी जानते थे कि वह उनकी चर्चा की भावना न होकर केवल जनता में कदाग्रह कराने की ही भावना है। यह बात तब और भी स्पष्ट हो गई, जब कि एक दिन स्थडिल भूमि की ओर जाते समय बाजार में आचार्यदेव की पछेवडी का पल्ला पकडकर उन्होंने उसी समय चर्चा करने के लिये कहा।

चर्चा तो स्थान पर ही हो सकती है। उसके लिए यह बाजार का मार्ग उचित स्थान नहीं है"—ऐसा कहते हुए मघवागणी आगे पधार गये किन्तु डालगणी को उनका यह व्यवहार बहुत अखरा। उन्होंने उदयपुर की बात याद दिलाते हुए कहा—"उस समय आपने चर्चा की मनाही क्यों की थी जब कि मघवागणी तैयार थे। अब इस प्रकार मार्ग में खींचतान करना साधु-जनोचित कार्य नहीं है। यदि आप लोगों के मन में विशुद्ध चर्चा की ही भावना है तो स्थान निश्चित करके जितने दिन चाहें चर्चा कर सकते हैं।" डालगणी की इस बात का उनके पास कोई उत्तर नहीं था अतः वे चुप हो गये। डालगणी तब आगे पधार गये।

स्वामी-बाड़ि का भगवानदास नामक एक भाई वहाँ मघवागणी के दर्शनार्थ आया हुआ था। वह तेरापन्थ में कट्टर श्रद्धा रखता था। उसे अच्छा तत्त्वज्ञान भी था। डालगणी आदि साधुओं के चले जाने पर उसने प्रसंग में मुनि जोधमलजी से कोई चर्चा पूछ ली। उन्हें उसका कोई उत्तर नहीं आया तब क्रुद्ध होकर उल्टे-सीधे बोलने लगे। उनकी गरम बातों से उनके एक श्रावक को इतना जोश आया कि उसने चर्चा पूछने की गुस्ताखी के दंडस्वरूप भगवानदास के मुँह पर थप्पड़ दे मारा। उस अपमान से भगवानदास को भी बड़ा गुस्सा आया। उसने वहीं पास से ही एक लाठी उठा ली और थप्पड़ मारने वाले की ओर लपका। लोगों ने उसे बीच में ही पकड़ लिया अन्यथा वह झगड़ा बहुत बड़ा रूप ले लेता। बीच-बचाव हो जाने से वहाँ मारपीट तो नहीं हुई परन्तु जितना हुआ वह भी कोई कम लज्जास्पद नहीं था। उसकी भी यह बात दूर-दूर तक फैल गई। उदयपुर में महाराणा के पास भी ये समाचार पहुँचे। महाराणा उदयपुर में उठाई गई चर्चा की बात से परिचित थे अतः भलीभाँति जानते थे कि कुछ लोग शास्त्रार्थ के नाम पर झगड़ा खड़ा कर देना चाहते हैं। महाराणा ने उस स्थिति को रोकने के लिये एक आज्ञा प्रसारित की कि जहाँ तेरापन्थ के आचार्य हों वहाँ मुनि जोधमलजी न जायें।

हाकिम को झिड़की

सं० १९४४ का चातुर्मास डालगणी ने गंगापुर में किया। अन्य सम्प्रदाय के मुनि प्रतापजी का चातुर्मास भी वहीं था। वे तेरापन्थ के विरुद्ध काफी प्रचार किया करते थे। बीच-बीच में चर्चा के लिए भी आह्वान किया करते थे। चातुर्मास में चर्चा के लिये अनेक बार बातें चलीं, परन्तु उसके लिए कोई उभयसम्मत निर्णय नहीं हो सका। चातुर्मास के पश्चात् डालगणी जब देवरिया पधारे तब वहाँ चर्चा का निर्णय हुआ।

नियत स्थान और नियत समय पर धर्म चर्चा प्रारम्भ हुई। उदयपुर निवासी पन्नालालजी हिरण भी चर्चा सुनने के लिये आये। वे उस समय पाड़ा गाँव के नायब हाकिम थे। चर्चा के अन्तर्गत वे मुनि प्रतापजी के पक्ष को सबल बनाने के लिए बीच-बीच में बोलने लगे। बात-विशेष पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए वे जनता को प्रभावित करने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग कर रहे थे।

डालगणी को उनका वह व्यवहार वहुत ही अनुपयुक्त लगा। एक-दो वार उन्होने उनको साकेतिक रूप से चेताया भी, परन्तु उन्होने उस चेतावनी पर विशेष व्यान नही दिया और उसी प्रकार अपना कार्य करते रहे। डालगणी ने जव देखा कि ये इस प्रकार से मानने वाले नही है, तो उन्होने सारी परिषद् के सामने उन्हें झिडकते हुए कहा— "आपकी यह हाकिमी गृहस्थो पर ही चल सकती है, साधुओ पर नही। यहाँ जो चर्चा हो रही है, वह आपको नही, किन्तु जैन आगमो को प्रमाण मानकर हो रही है। सत्य का निर्णय आपके अनुमोदन मे नही, किन्तु आगम के अनुमोदन मे होगा।" डालगणी की उस झिडकी के पश्चात् वेचारे हाकिम को तो फिर वोलने का साहस ही नही हुआ।

चर्चा दया के विषय मे थी। दया मात्र अध्यात्मतत्त्व है अथवा उसमे क्वचित् मोह का मिश्रण भी हो सकता है। इस वात के खण्डन-मडन मे आगम के उद्धरण प्रस्तुत किये गये थे। मुनि प्रतापजी को पग-पग पर निरुत्तर होना पड रहा था। फलस्वरूप डालगणी का पक्ष आगम सम्मत ठहरा। उस चर्चा के पश्चात् वहाँ पर डालगणी का ऐसा प्रभाव जमा कि अनेक अन्य मतावलवी व्यक्ति उनके भक्त वन गये।

इस पर डालगणी के अग्रणी-काल की उपर्युक्त घटनाओ से यह जाना जा सकता है कि वे पूर्णरूप से निर्भीक व्यक्ति थे। इन घटनाओ के अतिरिक्त भी उनके साहस की अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जो कि उनके अग्रणी काल के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। कच्छ की यात्राएँ उनके साहस और प्रभाव को व्यक्त करने वाली घटनाओ की ही एक शृङ्खला कही जा सकती हैं। उन यात्राओ का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

: ४ :

कच्छ के भी पूज्य

तीन यात्राएं

अग्रणी-काल में डालगणी के विहार क्षेत्रों में कच्छ का स्थान प्रमुख कहा जा सकता है। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा उनका वहाँ जाना अधिक हुआ। कच्छ की जनता भी उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुई थी। वहाँ के श्रावकों ने डालगणी को कच्छ भेजने के लिये अनेक बार दूर-दूर तक आकर आचार्यदेव के समक्ष प्रार्थनाएं की थीं। कच्छ में डालगणी का पदार्पण तीन बार हुआ। प्रत्येक बार में वहाँ की जनता उनके प्रति अधिकाधिक भक्ति-परायण होती गई। उनकी वे तीनों यात्राएं बहुत ही सफल रहीं। वे उस समय कच्छ के भी पूज्य कहलाने लगे थे।

प्रथम यात्रा

बेला में

सर्वप्रथम सं० १९४१ में मघवागणी ने उनको कच्छ में भेजा था। चातुर्मास से पहले वे वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में विचरे और फिर 'बेला' में चातुर्मास किया। प्रत्येक ग्राम में उनके व्यक्तित्व की अच्छी छाप पड़ी। वहाँ के क्षेत्रों में उनके नाम का एक सहज आकर्षण स्थापित हो गया। हर क्षेत्र के भाई उन्हें अपने यहाँ ले जाने में सौभाग्य का अनुभव करने लगे।

वीरचन्दभाई

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् वे विभिन्न क्षेत्रों में विचरते हुए भुज पधारे। [illegible] के आचार्य हंसराजजी के उत्तराधिकारी मुनि [illegible] भी उस समय वहीं थे। उनके सुप्रतिष्ठित श्रावक वीरचन्दभाई एक प्रभावशाली और शास्त्रज्ञ व्यक्ति थे। तेरापंथी साधुओं के वहाँ आने की बात जब उन्होंने सुनी तो वे स्वयं दर्शन करने के लिये आये तथा डालगणी की विभिन्न बातों पर उन्होंने धर्म चर्चा की। डालगणी ने उनको तेरापन्थ की मान्यता के विषय में समझाया। शास्त्रज्ञ वीरचन्दभाई बड़े प्रभावित हुये और उन्हें तेरापन्थ के मंतव्यों पर विश्वास हो गया।

जब उनकी जिज्ञासाएं शान्त हो गईं तब डालगणी ने उनसे पूछा— बोलो अब क्या करना है? एक तरफ आगमानुमोदित मान्यता है और दूसरी तरफ एक लंबे समय तक अपने द्वारा पोषित मान्यता। तुम किसे महत्त्व देना चाहोगे?

वीरचन्दभाई ने उत्तर दिया— आगमानुमोदित मान्यता ही स्वीकार्य होगी। दूसरी मान्यताएं चाहे कितने ही लंबे समय से पालित और पोषित क्यों न होती रही हों। किन्तु मैं एक बार अपने साधुओं से इन मान्यताओं के विषय में फिर से मीमांसा करना चाहूँगा।

मैं चाहता हूँ कि किसी भी बात की पूरी छान-बीन किये बिना उसे छोडना या ग्रहण करना उपयुक्त नहीं होता ।"

इस पर डालगणी ने उनको कहा—"यह तो बिल्कुल ठीक बात है। मेरे पास से तुमने जो कुछ सुना और समझा है, उसे अच्छी प्रकार से परखने के लिए यदि तुम दूसरे पक्ष को भी कुछ पूछना चाहो, तो उसमें हमें कोई आपत्ति नही होगी।"

वीरचदभाई मुनि बीजपालजी के पास गये और उनके पास उन सारी बातो को तर्क-वितर्क के साथ फिर से सोचा और समझा। उससे उन्हें जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुई, उनको लेकर वे फिर डालगणी के पास आये और कहने लगे—"मुनिवर! अमुक-अमुक बातें तो हमारे मुनि जिस प्रकार से कहते है, वे ही ठीक लगती है।"

डालगणी ने तब उन्हें कहा—"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो इन विषयो पर मुनि बीजपालजी के साथ ही चर्चा कर ली जाये, ताकि तुम्हें बार-बार इधर-उधर आना-जाना न पडे और सत्यासत्य के निर्णय में अधिक सुविधा प्राप्त हो सके।" वीरचन्दभाई ने उस बात को स्वीकार किया और मुनि बीजपालजी को चर्चा के लिए तैयार कर लिया।

निश्चित समय पर वीरचन्दभाई के कथनानुसार डालगणी उनके स्थान पर पधारे और उन्होने धर्म-चर्चा की। वीरचन्दभाई के जिज्ञासित हर प्रश्न पर उत्तर-प्रत्युत्तर चले, परन्तु कुछ देर पश्चात् मुनि बीजपालजी को निरुत्तर हो जाना पडा। एक प्रश्न पर तो उन्हें ऐसी परिस्थिति में अटक जाना पडा कि यदि वे अपनी मान्यता का समर्थन करते तो आगमिक कथन का प्रत्यक्ष खण्डन होता था और यदि आगमिक कथन को स्पष्ट शब्दो में स्वीकार करते तो अपना मन्तव्य खण्डित होता था। उन्होंने उस विकट स्थिति का सामना मौन के द्वारा करने की बात सोची और वे चुप रह गये।

वीरचन्दभाई ने जब देखा कि वे दोनों पक्षो में से किसी का भी स्पष्ट रूप से स्वीकार या परिहार नहीं कर रहे है, तब उन्होने दबाव देते हुए कहा—"उत्तर दो महाराज! मौन कैसे हो गये?"

मुनि बीजपालजी आगम-सिद्ध स्पष्ट सत्य को झुठला कर अपनी मान्यता को पुष्ट करने का दुसाहस नही करना चाहते थे, अत उन्होने वीरचन्दभाई से कहा—"मुझे अपना शिर ओखली मे नहीं देना है।"

वीरचन्दभाई उत्तर देने में उनके सकोच के कारण को समझ रहे थे। उन्हे तब यह दृढ निश्चय हो गया कि डालगणी जो कह रहे है, आगमिक दृष्टि से वही सिद्ध होता है। उन्होने तत्काल डालगणी को वन्दन किया और मुनि बीजपालजी तथा चर्चा मे उपस्थित जन-समूह के सामने खडे होकर डालगणी के पास गुरु-धारणा की। उस चर्चा का वहाँ की जनता पर बहुत अनुकूल प्रभाव पडा। उसके पश्चात् वे वहाँ कई दिन तक ठहरे। व्याख्यान तथा बात-चीत के लिए लोगो का भारी सख्या में आवागमन होता रहा।

मांडवी में

भुज से विहार कर वे मांडवी बन्दर पधारे। वहाँ के अनेक भाई [illegible] करने के लिए बेडा गये थे। उन्होंने उस समय डालगणी को मांडवी पधारने की [illegible] की थी। हाथीभाई और नत्थूभाई महता वहाँ के प्रमुख श्रावकों में से थे। वे बेडा में उनके साथ हो गये थे किन्तु बाद में जब बेडा से विहार हुआ तो वहाँ से [illegible] भी सेवा में रहे। डालगणी जब मांडवी पधारे तब उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ व्याख्यान में जनता बहुत एकत्रित हुआ करती थी। धर्म-चर्चा करके तत्त्व [illegible] वाले व्यक्ति भी बहुत आया करते थे। हाथीभाई, नत्थूभाई तथा [illegible] आदि अनेक व्यक्तियों ने तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर गुरु-धारणा की। अनेक व्यक्ति सुलभ-बोधि बने। डालगणी की इच्छा वहाँ कुछ दिन और ठहरने की थी परन्तु बाहर की [illegible] आकर उन्हें शीघ्र ही विहार करना पड़ा।

जनता का आग्रह

वहाँ से विहार करते हुए वे सरकारपुर आये और रण को पारकर [illegible] पधारने का विचार करने लगे परन्तु मार्ग के सभारी गाँव में बेला, फतहगढ़, देसलपुर आदि अनेक गाँवों के व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर दर्शन किये और उन्हें रोक लिया। उन लोगों का आग्रह था कि आगामी चातुर्मास कच्छ में ही किया जाए। डालगणी ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उस वर्ष के लिए फिर कच्छ में ही रहने का निर्णय किया।

शेषकाल में वहाँ के अनेक शहरों में पधारे और धर्म प्रचार करते हुए सं० १९४२ का चातुर्मास उन्होंने फतहगढ़ में किया। वहाँ भी जनता में धर्म भावना का अच्छा प्रसार हुआ। चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् दो महीने तक वे उसी क्षेत्र में विचरे और फिर [illegible] होते हुए मारवाड़ में पधार कर उन्होंने मघवागणी के दर्शन किये।

द्वितीय यात्रा

कच्छ भेजें

कच्छ की दूसरी यात्रा उन्होंने सं० १९५ में की। कच्छ के शिवजी तथा [illegible] नामक दो भाइयों ने सरदारशहर में मघवागणी के दर्शन किये और प्रार्थना की कि डालचन्दजी स्वामी को आप कच्छ में भेजने की कृपा करें तो हमारे लिए यह एक अच्छा अवसर होगा। हम दोनों वहाँ दीक्षा ग्रहण करने का विचार भी रखते हैं। मघवागणी ने उनकी उस प्रार्थना को स्वीकार किया और डालगणी को कच्छ में विहरण करने का आदेश दिया।

धर्मशाला में चोरी

डालगणी ने आचार्यदेव के आदेशानुसार वहाँ से विहार किया और [illegible] निर्गमन होते हुए [illegible] पधारे। वहाँ उन्होंने [illegible] के लिए धर्मशाला में स्थान लिया। धर्मशाला [illegible]

लिए खुली होती है, अत वहाँ और भी बहुत से मुसाफिर ठहरे हुए थे। रात के समय वहाँ एक यात्री के चोरी हो गई। थाने में रिपोर्ट लिखाई गई, तो सूर्योदय होने से पूर्व ही सिपाहियों को लेकर थानेदार वहाँ आ गया और उसने धर्मशाला का दरवाजा बन्द कर दिया। उसने सबको तलाशी देने के लिए कहा। तलाशी देने से पूर्व किसीको बाहर जाने की आज्ञा नही थी।

डालगणी उसी धर्मशाला में ठहरे हुए थे। उन्हें विहार कर आगे जाना आवश्यक था। सूर्योदय हो जाने पर वे थानेदार के पास गये और कहने लगे—"हम जैन साधु है, सदैव पैदल चलने का हमारा व्रत है। हमें अगले गाँव पहुँचना है, अत अच्छा हो यदि आप पहले हमारी, तलाशी ले लें।"

थानेदार ने कहा—"आपको धूप चढाने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप मजे से जाइये। आप साधु है, अत आपकी तलाशी की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता।"

इतना कहने पर भी डालगणी ने वहाँ से विहार नही किया और थानेदार से कहा—"यह उचित नही होगा, हम विहार कर जायें और पीछे से यदि किसी के पास चोरी का माल न मिले तो जनता को यह सन्देह करने का सहज ही अवसर मिल सकता है कि यहाँ रात को जैन साधु ठहरे थे और प्रात तलाशी दिये बिना ही चले गये, अत. चोरी उन्होंने ही की होगी। इसलिए तलाशी दिये बिना हम जाना नही चाहते।"

थानेदार ने कहा—"अच्छा, तो आप अपनी तलाशी दे दीजिये।"

इस पर साधु अपनी पुस्तकें तथा पात्र आदि सब खोल-खोलकर दिखलाने लगे। साधु जब अपनी तलाशी दे रहे थे, तब थानेदार का ध्यान धर्मशाला के कोने में बैठे एक पगु व्यक्ति की ओर लगा हुआ था। वह पगु भी आँगन में पडे कूडे के ढेर को रह-रहकर बडे गौर से देख रहा था। चतुर थानेदार ने उसकी उस चचलता को देखकर तत्काल भाँप लिया कि अवश्य ही इसी व्यक्ति ने चोरी की है और माल को इस कूडे के ढेर में छिपाया है।

सतो की तलाशी को बीच में छोडते हुए उसने तत्काल उस पगु को जा घेरा और ललकार कर कहा—"चोरी तैंने ही की है, अत सच बतला कि माल को कहाँ छिपाया है?"

पगु ने पहले तो इनकार किया, परन्तु जब दो-चार चाटे पडे और थानेदार ने मारने के लिए हाथ में डडा लिया, तब भयाक्रात होकर कहने लगा—"मुझे मारियेगा नही, मैं आपको माल बतला देता हूँ।"

उसने कूडे के ढेर में जहाँ माल छिपाया था, वह स्थान थानेदार को बतला दिया। माल लेकर थानेदार डालगणी के पास आया और कहने लगा कि आपके विहार में इतना विलब हो गया है इसके लिए क्षमाप्रार्थी हू। यद्यपि मैंने तो आपको विहार कर जाने के लिए कहा था, पर आप गये नहीं। चोरी का माल कहाँ मे और किम तरह से निकाला जाता है, इसे हम लोग अच्छी तरह से जानते है। आप जसे साधुओ के पास वह नही मिला करता।

तपा गो बेर छाँ

वहाँ से आबू होते हुए डालगणी अहमदाबाद पधारे। वहाँ स्थान की प्राप्ति के लिए शहर में इधर-उधर घूमते रहे परन्तु स्थान नहीं मिला। आखिर धर्मशाला में ठहरे। वहाँ तपागच्छीय सुप्रसिद्ध श्रावक हेमजीभाई [illegible] के डालगणी गोचरी के लिए पधारे। उस समय अहमदाबाद में जैन श्रावकों में परस्पर मालिन्य चला करता था अतः यह एक प्रथा-सी हो गई थी कि स्थानकवासी-साधु मूर्तिपूजक श्रावकों के घर और मूर्तिपूजक-साधु स्थानकवासियों के घर गोचरी नहीं जाया करते थे। इसीलिए जब हेमजीभाई ने डालगणी को अपने घर गोचरी आते देखा तो बोले—"स्वामी! म्हाँ तो तपा गो वेर छाँ।

डालगणी ने तत्काल उत्तर दिया—"म्हें तो तेरापन्थी साधु छीए। म्हारे कठे ही खरतर नो कोई अटकाव नथी। शुद्ध भात-पाणी तो ज्याँ कोय मले त्याँ थी लेवो कल्पे।"

यह सुनकर हेमजीभाई बहुत प्रसन्न हुए और आहार-पानी लेने के लिए प्रार्थना की। डालगणी ने भी उन्हें वह लाभ प्रदान किया।

मुनि लाधोजी

वहाँ से विहार करते हुए वे बढ़वाण कैंप पधारे। वहाँ आठ कोटि के साधु लाधोजी ने उनका बड़ा स्वागत किया। डालगणी ने उनको तेरापन्थ की मर्यादाओं, लिखत और हाजरी आदि से अवगत किया। मुनि लाधोजी ने प्रत्येक बात को बड़ी रुचि से सुना। तेरापन्थ की नियमानुवर्तिता पर उन्होंने अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त की।

डालगणी ने उनसे एक प्रश्न करते हुए कहा—"हमने सुना है कि इस वर्ष आपके सम्प्रदाय में भी सबने एकत्रित होकर कुछ मर्यादाएँ बनाई हैं, जरा हमें भी तो बताइये कि वे कौन-कौन सी हैं।"

लाधोजी ने उपेक्षा दिखलाते हुए कहा—"क्या तो मर्यादाएँ हैं और कौन उनको पालता है? जो बनाई हैं वे कागज में ही लिखी पड़ी हैं। हमारे टोले के साधु लींबड़ी में एकत्रित हुए थे और उन्होंने सत्तरह मर्यादाएँ बनाई थीं। उनमें सबसे प्रथम यह थी कि जिस साधु की आँखों से दिखना बन्द हो जाए, उसे लींबड़ी के स्थानक में स्थानापति हो जाना चाहिए। आप जानते हैं कि लींबड़ी के स्थानक में जीव बहुत अधिक हैं। अतः अन्धा व्यक्ति वहाँ रहे तो उसके किसी भी जीव पर पैर आ जाने का भय बना ही रहता है। उस समय वे मर्यादाएँ क्या काम आ सकती हैं? आपको मैं यह और बता दूँ कि मेरी आँख भी जा रही है और मैं तो [illegible] गाँवों के साथ [illegible] हूँ। मैंने उनसे कह दिया है कि उनकी वे मर्यादाएँ मुझे स्वीकार नहीं हैं।"

सफल चातुर्मास

डालगणी वहाँ से मोरवी बदर होते हुए कच्छ पधारे। वहाँ के क्षेत्रों में विचरते हुए उन्होंने वेला में जेष्ठ कृष्णा पचमी को शिवजी तथा लीलाधरजी को दीक्षा प्रदान की। उसके पश्चात् आस-पास के क्षेत्रों में विहार कर उन्होने स० १९५० का चातुर्मास भी वेला में ही किया। वहाँ तेरापन्थ के विरोधी व्यक्ति काफी थे, परन्तु डालगणी का ओजस्वी व्यक्तित्व आतक की तरह उन सब पर ऐसा छाया कि वे विरोध करने का साहस ही नहीं कर सके। लोग व्याख्यान में खूब आते और तृप्त होकर जाते। धर्म-ध्यान, तपस्या तथा प्रसार की दृष्टि से वह चातुर्मास पूर्णत. सफल रहा।

नवाचार्य दिदृक्षा

इस बार कच्छ में डालगणी का एक ही चातुर्मास हो पाया। चातुर्मास से पूर्व चैत्र मास में मघवागणी दिवगत हो गये थे और सघ का भार माणकगणी ने सभाल लिया था। नव्य आचार्य के दर्शनो की सहज आकाँक्षा औरो की ही तरह डालगणी के मन में भी थी। चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् वे सीधा थली की ओर विहार करना चाहते थे, परन्तु 'रण' में पानी भरा होने के कारण उस समय कच्छ से बाहर जाना सभव नही था। उन्हें कुछ समय के लिए कच्छ में ही ठहरना पडा। रण सूखने पर उन्होने वहाँ से विहार किया और चूरू में माणकगणी के दर्शन किये।

तृतीय यात्रा

फिर कच्छ की ओर

तीसरी बार उनका कच्छ में पदार्पण दो वर्ष पश्चात् ही फिर हुआ। स० १९५२ में जब उनका चातुर्मास पचपदरा में था, तब माणकगणी का चातुर्मास जयपुर में था। कच्छ के भाइयों ने वहाँ दर्शन किये और डालगणी को कच्छ भेजने की प्रार्थना की। माणकगणी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् चाहें तो दर्शन करके तथा चाहें तो सीधे ही कच्छ जाने की आज्ञा प्रदान कर दी।

उन भाइयों ने पचपदरा में दर्शन करके जब माणकगणी की यह आज्ञा बतलाई, तब उन्होंने चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् सीधे ही कच्छ जाने का निश्चय किया। उनके साथ के नव-दीक्षित साधु छजमलजी के उन दिनों में अस्वस्थता चल रही थी। उन्हें साथ ले जाना सभव नही था, अत उनको पाली-चातुर्मास वाले पूनमचदजी स्वामी के पास छोडकर स्वय तीन साधुओं से विहार कर गये।

जालोर में

उस यात्रा में जव वे जालोर पधारे, तो वहाँ के मूर्त्तिपूजक-आम्नाय के भाइयों ने उनका बहुत सम्मान किया। वहाँ व्याख्यान में हजार-हजार आदमी की उपस्थिति हो जाया करती

थी। चतुर्दशी के दिन जब सभा के निर्णीत स्थान में जनता समा नहीं पाई, तब व्यक्तियों ने उन्हें मन्दिर में व्याख्यान देने के लिए निवेदन किया। डालगणी ने वहाँ व्याख्यान दिया तो जनता अत्यन्त प्रसन्न हुई। उन्होंने जब 'एकवा वीर प्रभु ने पोसी' यह ढाल गाई तब तो लोग झूम झूम उठे। वहाँ तेरापन्थी श्रावकों का एक भी घर नहीं था फिर भी वे एक महीने तक ठहरे।

धर्मलाभ

वांकानेर से वाव पधारे। वहाँ एक महीना ठहरने के पश्चात् थराद और राधनपुर पधारे। वहाँ पर गोचरी के लिए जब वे एक घर में गये, तो एक मूर्तिपूजक श्रावक ने कहा—"यदि आप वन्दना का उत्तर 'धर्मलाभ' कहकर दें तभी हम आपको आहार-पानी देंगे अन्यथा नहीं।"

डालगणी ने फरमाया—"धर्म का लाभ बतलाने में तो हमें कोई बाधा नहीं है परन्तु तुम जिस प्रकार से वंदन के उत्तर में 'धर्मलाभ' कहलाने की अपनी परम्परा को हमारे पर थोपना चाह रहे हो वैसा नहीं किया जा सकता। धर्मलाभ कहने की शर्त पर तो कोई भिखारी ही आहार लेगा। एक जैन साधु रोटी के लिए कभी ऐसा नहीं करेगा।" यह उत्तर सुनकर वह भाई कुछ नहीं बोला। अतः डालगणी भी आहार लिये बिना ही वहाँ से अन्यत्र पधार गये।

फतहगढ़ में

राधनपुर से विहार करते हुए वे बेला पधारे। वहाँ ज्येष्ठ मास में चुनाला के भाई वीरचन्दजी को दीक्षा प्रदान की। वहाँ से वे सं० १९५१ का चातुर्मास करने के लिए फतहगढ़ पधारे। चातुर्मास की समाप्ति के अनन्तर अनेक क्षेत्रों में विहार कर, वे पुनः फतहगढ़ आये और वहाँ के भाई साकलचन्दजी को उन्होंने मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन दीक्षा प्रदान की। उस वर्ष साध्वी जड़ावांजी का सिंघाड़ा भी कच्छ में ही था। उन्होंने वाव चातुर्मास किया था। दीक्षा के अवसर पर वे भी विहार करती हुई फतहगढ़ आ गई थी। डालगणी ने दीक्षा के पश्चात् वहाँ से विहार कर दिया और साध्वियाँ वहीं ठहर गईं।

कड़ा आचार कड़ी प्ररूपणा

डालगणी रण पार करके मोरबी बन्दर पधारे। वहाँ वे सेठ वर्धमान की दुकान पर ठहरे। वहाँ व्याख्यान के लिए उपयुक्त जगह नहीं थी अतः पास की एक जिनशाला में व्याख्यान देने के लिए पधारे। जनता उनका ओजस्वी व्याख्यान सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। शहर में हर जगह उनके व्याख्यान की प्रशंसा का एक प्रवाह-सा चल पड़ा। उस समय वहाँ अन्य सम्प्रदाय के विभिन्न तीन सिंघाड़ों की तेरह साध्वियाँ भी थीं। डालगणी के व्याख्यान की प्रशंसा सुनकर वे उनके पास आईं और प्रार्थना करने लगीं—आपका व्याख्यान सुनने की हमारी भी बहुत उत्कण्ठा है। हम वृद्ध हैं अतः जिनशाला की ऊँची सेढ़ियों पर चढ़ना हमारे लिए कठिन है।

यदि आप अनुग्रह करके स्थानक में व्याख्यान देने के लिए पधारें, तो हमारी इच्छा पूर्ण हो सकती है।"

डालगणी ने उनके आग्रह को स्वीकार किया और उसके पश्चात् स्थानक में व्याख्यान देने के लिए पधारने लगे। तेरह ही साध्वियाँ प्राय प्रतिदिन व्याख्यान में आया करती। जनता भी पाँच-सात सो की सख्या में एकत्रित होने लगी। वहाँ उन्होने उत्तराध्ययन के अन्तर्गत अनाथी मुनि का आख्यान प्रारम्भ किया था। वीच-वीच में प्रसगोपात्त साधु के आचार-विचार का भी वे विशद विवेचन किया करते थे। वहाँ वे पन्द्रह दिन ठहरे, जिसमें चौदह दिन का व्याख्यान स्थानक में ही होता रहा।

जब उन्होंने वहाँ से विहार किया, तव भारी सख्या में जनता उन्हें पहुँचाने के लिए आई। सारी साध्वियाँ भी गाँव वाहर तक पहुँचाने आई। लोगों के सामने डालगणी के व्याख्यान की चर्चा करते हुए साध्वियो ने कहा—"साधुजी वहुत कडा आचार पालते है, इसीलिए हर वात को वेधडक कहते हैं और वहुत ही कडी प्ररूपणा करते है।"

असली साधु

वहाँ से विहार करते हुए वे टकारा पधारे। वहाँ भी 'कडवी वाई' नामक आर्या ने उनकी बहुत भक्ति की और अनेक सैद्धान्तिक बोल पूछे। वहाँ से वे राजकोट पधारे। लूकागच्छ के यति श्री केवलचन्दजी के उपाश्रय में विराजे। यतिजी उनके पदार्पण से बहुत प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—"हम तो एक प्रकार से गृहस्थ जैसे ही हो गये हैं, किन्तु आप लोग बहुत उत्कृष्ट आचार पाल रहे हैं, अत हम भी गर्व से यह कह सकते हैं कि लूकागच्छ में अभी तक असली साधु विद्यमान है।"

दिगम्बर-मन्दिर मे क्यों ?

वहाँ से अनेक क्षेत्रों में रहते हुए वे गिरनार पर्वत पर पधारे और एक दिगम्बर-मन्दिर में विराजे। उसी रात में कुछ श्वेताम्बर भाई इकट्ठे होकर उनके पास आये और कहने लगे—"आप श्वेताम्बर होकर दिगम्बर-मन्दिर में क्यो ठहरे हैं ? ऐसा करने से हम श्वेताम्बरों की अच्छी नही लगती। आपको यह स्थान बदल लेना चाहिए।"

डालगणी ने कहा—"हमारे लिए श्वेताम्बर और दिगम्बर में कोई भेद-भाव नहीं है। हमें तो जहाँ उपयुक्त स्थान मिल जाता है, वहीं ठहर जाते हैं। आप लोग स्थान बदलने के लिए कह रहे हैं, किन्तु उसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं लगती। विशेष हेतु के बिना हम रात्रि के समय में अन्यत्र जा भी नहीं सकते।" इस उत्तर द्वारा उन्होंने तीर्थस्थानो पर चलने वाले दिगम्बर-श्वेताम्बर झगडों पर करारा प्रहार किया था।

मकान में बन्द

गिरनार से विहार करते हुए वे सिहोर पधारे। वहाँ के जैन वर्ग [illegible] शहर में ठहरने को कहीं स्थान नहीं मिला। आखिर धर्मशाला में ठहरना पड़ा। [illegible] लिए वे स्वयं शहर में गये। एक बड़ी हवेली के सामने पहुँचे तब एक भाई ने [illegible] महाराज! यह मकान ओसवालों का है। आप इसमें गोचरी के लिए पधारिये।"

उसकी बात पर विश्वास करके वे ज्योंही मकान में गये त्योंही उसने [illegible] कर दिया और स्वयं चलता बना। उन्होंने जब देखा कि दरवाजा बंद कर दिया गया है, तो तत्काल मुड़कर वापस आ गये और बाहर आवाज देने लगे। पास ही के एक [illegible] ने आकर दरवाजा खोला तभी वे बाहर आ सके।

वे अनेक घरों में गोचरी पधारे, परन्तु विरोध के कारण आहार-पानी का विशेष योग नहीं मिल सका। आखिर उन्होंने वहाँ से विहार किया और उस दिन लगभग चार कोस चलकर पालीताणा पहुँचे। वहाँ भी शहर में कोई स्थान नहीं मिल सका। अन्ततः घूमते-घामते वे मुर्शिदाबाद-वासी धनपत सिंहजी दूगड़ की धर्मशाला में जाकर ठहरे। वहाँ आहार-पानी का योग भी मिला तथा रात्रि के समय दूगड़जी से साधुओं के आचार-व्यवहार संबंधी अनेक बातें भी हुईं।

सिद्धक्षेत्र में अनन्त बार

पालीताणा से वे शत्रुंजय पर्वत पर पधारे। मार्ग में उन्हें संवेगी साधु श्री शान्तिविजयजी मिले। शत्रुंजय पर्वत जैन मूर्ति-पूजकों का एक प्रमुख तीर्थ क्षेत्र है। उस पर अमूर्तिपूजक साधुओं को देखकर संभवतः श्री शान्तिविजयजी को कुछ आश्चर्य हुआ होगा। अतः उन्होंने सस्मित व्यंग करते हुए डालगणी से कहा— 'अब तो सिद्धक्षेत्र में आ गये हो। तीर्थ-यात्रा अच्छी तरह से कर लेना। यह ऐसा प्रभावक क्षेत्र है कि यहाँ एक बार आने मात्र से ही जीव सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।"

डालगणी ने भी तत्काल उसी प्रकार स्मयमान मुद्रा में उनसे पूछा—"आपका जीव यहाँ कितनी बार उत्पन्न हुआ?

यह एक शास्त्रीय प्रश्न था। उसका शास्त्रीय आधार पर ही उत्तर देते हुए शान्तिविजयजी ने कहा—"अनन्त बार।

डालगणी ने तब फिर हँसते हुए कहा—"आप इसे सिद्ध-क्षेत्र मानते हैं और आपका जीव यहाँ अनन्त बार उत्पन्न होने पर भी सिद्ध नहीं बन सका? हम तो इसे केवल एक पर्वत मानकर ऊपर आये हैं अतः हमारी चिंता छोड़िये और अपनी चिंता करिये कि अभी तक आप [illegible] यहीं कैसे घूम रहे हैं?

व्याख्यान का आग्रह

वहाँ से वे फिर पालीताणा होते हुए लीबडी पधारे। वहाँ उत्तमचन्दजी, देवीचन्दजी आदि दस स्थानकवासी साधु थे। उनमें से एक जीवणजी नामक साधु डालगणी के पास आये और पूछने लगे—"आप स्थानक में पधार सकते हैं या नही ?"

डालगणी ने उत्तर दिया—"हमारे कोई आपत्ति नही है।"

जीवणजी ने अनुनय करते हुए फिर कहा—"उत्तमचन्दजी महाराज ने आपको स्थानक में मिलने के लिए सादर कहलवाया है।"

डालगणी ने उनकी उस बात को स्वीकार किया और स्थानक में पधारे। वहाँ लगभग चार-पाँच सौ श्रावक पहले से ही एकत्रित थे।

मुनि उत्तमचन्दजी ने कहा—"हमने आपके व्याख्यान की बहुत प्रशसा सुनी है, अत बहुत दिनों से इच्छा थी कि कभी अवसर मिले तो सुनने का लाभ लें। आज आपका यहाँ आगमन हुआ सुना, तो हमें बडी प्रसन्नता हुई। वहाँ इतने भाई लाभ नही ले सकते थे, इसलिए आपको यहाँ आने का कष्ट दिया गया है।" उन्होंने व्याख्यान सुनाने और विशेषकर तेरापन्थ की मर्यादाएँ सुनाने के लिए आग्रह किया।

डालगणी ने उनकी दोनों ही माँगो को स्वीकार किया और व्याख्यान सुनाया। उसीके अन्तर्गत प्रसगवशात् तेरापन्थ की मर्यादाओं का भी विवेचन किया। उपस्थित मुनिजन तथा श्रावक-समुदाय पर उसका बहुत ही अनुकूल प्रभाव पडा।

दूसरे स्थानक मे भी

लीबडी में ही एक दूसरे स्थानक में नान्ही-पक्ष के साधु श्री दीपचन्दजी रहा करते थे। वे भी डालगणी के पास आये और कहने लगे—"जब आप उस स्थानक में पधारे है, तो हमारे स्थानक में भी पधारना चाहिए।" इस पर डालगणी वहाँ भी पधारे और तेरापन्थ की रीति, नीति तथा मर्यादाओ से उन्हें अवगत किया।

करामाती अमरसी ऋषि

लींबडी से विहार कर ध्रागध्रा पधारने का उन्होने निश्चय किया। स्थानीय व्यक्तियों ने प्रार्थना की कि ध्रागध्रा मे दरियापुरी सप्रदाय के अमरसी ऋषि रहते है। वे मत्र-विद्या के पारगामी विद्वान् हैं। उनकी इच्छा के बिना जो भी साधु वहाँ जाते हैं, उन्हें कोई-न-कोई कष्ट अवश्य उठाना पडता है। अभी कुछ दिन पहले कई साध्वियाँ उनकी इच्छा के बिना वहाँ चली गई थीं। उससे उनके शरीर से रक्त गिरने लगा। अन्तत जब वे वहाँ से विहार कर गईं, तभी ठीक हुई। ध्रागध्रा में अमरसी ऋषि की धाक पडती है, अत आपका वहाँ पधारना ठीक नही रहेगा।

उन्होंने अपने लोट-पात्र आदि भी दिखाये। उनमे से एक लोट वहुत सुन्दर थी। उस पर नाना प्रकार के चित्र किये हुए थे, उसे डालगणी के हाथ में देते हुए उन्होने कहा—"यह तो आपको अवश्य लेनी पडेगी।"

डालगणी ने कहा—"हम तीन पात्र से अधिक नही रख सकते। अत जव इसे तीन में ही रखेंगे, तो काम मे भी लेना आवश्यक हो जायेगा। ऐसी स्थिति मे कुछ ही दिनो में ये सारे चित्र खराब हो सकते है।"

इस पर अमरसी ऋषि ने कपडा दिखलाते हुए कहा—"मैं वर्ष में एक वार कपडा जाचता हूँ। जितने कपडे की मुझे आवश्यकता होती है, उसके लिए पहले से ही दरवार को कहलवा देता हूँ। वे वढिया से वढिया कपडा अपने आप ही मगा देते है। आप इसमें से कुछ कपडा अवश्य ग्रहण करें।"

डालगणी ने कपडे की भी मर्यादा वतलाते हुए कहा—"इस समय तो कपडे की भी हमें आवश्यकता नही है।"

उसके अनन्तर उन्होने अपना शास्त्र भडार दिखलाया। उसमें से एक वहुत सुन्दर इकतीस पत्रों की प्रति डालगणी के हाथ में देते हुए उन्होने कहा—"यह मेरे गुरु के हाथ की लिखी हुई है, इसमें आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी आदि सूत्र लिखे हुए है। इसे तो आपको मेरी ओर से भेंट मानकर लेना ही होगा।"

डालगणी ने कहा—"यह आपके गुरु के हाथ की लिखी हुई है, अत उनकी स्मृति के रूप में आपके यहाँ तो भंडार में सुरक्षित पडी है, परन्तु हम घूमने वाले व्यक्तियो के पास पठन-पाठन के उपयोग में आती हुई यह खराब भी हो सकती है। एक दूसरी बात यह भी है कि हमारे सघ में हर एक पुस्तक व्यक्ति की न होकर सघ की होती है, अत जब मैं इस प्रति को आचार्यदेव के सामने रखूगाँ, तब वे इसे मुझे ही दें या और किसी को—इसका कोई पता नहीं है।"

अमरसी ऋषि ने कहा—"सवार के पास घोडा कभी खराब नही होता, अत हर किसी को देने के लिए नही, किन्तु आपको व्यक्तिगत रूप से देता हूँ।"

डालगणी ने तब उसको ग्रहण नही किया। इससे अमरसी ऋषि को बडा आश्चर्य हुआ। वे कहने लगे—"आपको तो किसी भी बात की इच्छा नहीं है। ऐसे निर्लोभ साधु तो मेरे देखने में कभी नही आये।"

इन सब बातों से निवृत्त होने के पश्चात् डालगणी ने बातचीत के प्रसग में उनसे कहा—"हमने सुना है कि आप मत्र-विद्या के बहुत वडे ज्ञाता है और करामाती हैं।"

अमरसी ऋषि ने एक गहरा नि श्वास छोडते हुए कहा—"मेरी करामात में तो धूल पड गई।"

डालगणी ने साश्चर्य पूछा—"यह कैसे ?"

अमरसी ऋषि ने तब सारा वृत्तांत सुनाते हुए कहा—"बहुत दिनों से एक बहिन का एक मुसलमान के साथ अनुचित संबंध था। वह उसके घर प्रतिदिन आया जाया करती थी। सूर्योदय होते ही मेरा शिष्य पानी लेने के लिए उसके घर गया तब वह वहाँ मरी हुई पड़ी थी। शिष्य उसे देखते ही वापस मुड़ा और घबराकर दौड़ता हुआ यहाँ आया। उसे दौड़ते देख कर लोगों को कुछ सन्देह हुआ और वे देखने के लिए उस बहिन के घर गये। वहाँ मृत पाया तो शोर मचा दिया कि अमरसी ऋषि के शिष्य ने उसको मार दिया है।

'बात की बात में पुलिस आगई और मेरे उस शिष्य को गिरफ्तार कर लिया। मृत्यु का और कोई सबूत न मिलने पर उसे ही दोषी ठहराया गया। न्यायालय ने हत्या के अपराध में फांसी की सजा दी। अनेक दबाव डालकर मैंने दरबार से क्षमा याचना की, तब कहीं फांसी की सजा काले पानी में परिवर्तित हो पाई। आप मेरी करामात की बात करते हैं। करामात ही होती तो मेरे शिष्य को कलंकित करके यों काला पानी जाता।"

इस प्रकार खुले मन से दोनों व्यक्तियों में बहुत देर तक बातें हुईं। डालगणी जब अपने स्थान पर पधारे और लोगों को वहाँ हुई बातें सुनाईं तो वे बड़े आश्चर्यान्वित हुए। वे कहने लगे कि यहाँ तो इनके भय से कोई भी साधु नहीं आता है। यह आपका पुण्य-प्रताप ही मानिये कि स्वयं अमरसी ऋषि भी आपसे प्रभावित हो गये।

कच्छ में अंतिम चातुर्मास

धांगध्रा से विहार करते हुए वे फिर कच्छ में पधार गये। बेला में उन्होंने ओसवाल भाई कस्तूरचन्दजी को वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन दीक्षा प्रदान की। उसके पश्चात् आस-पास के गाँवों में विहरण कर छह ठाणों से उन्होंने सं० १९५४ का चातुर्मास बेला में किया।

उसी चातुर्मास में सुजानगढ़ से समाचार आये कि कार्तिक कृष्णा तृतीया को माणकगणी दिवंगत हो गये हैं। वे अपने पीछे संघ की कोई व्यवस्था नहीं कर सके हैं। इस समाचार ने संघ के सभी साधु-साध्वियों को चिंतित किया। डालगणी भी उससे बहुत चिंतित हुए। संघ की सुव्यवस्था के विषय में उन सबका चिंतित होना स्वाभाविक ही था। चातुर्मास की समाप्ति पर हर किसी का ध्यान शीघ्रातिशीघ्र पहुँचकर यह जानने की ओर था कि अगले आचार्य का चुनाव किस प्रकार से किया जाएगा। डालगणी भी उसके अपवाद नहीं थे। उन्होंने चातुर्मास समाप्त होते ही वहाँ से थली की ओर विहार कर दिया। यह उनकी अंतिम कच्छ-यात्रा थी।

: ५ :

आचार्य का चुनाव

सघ की चिंता

तेरापन्थ की शासन-व्यवस्था में भावी आचार्य का निर्वाचन करने का एक मात्र अधिकार वर्तमान आचार्य को ही दिया गया है। परन्तु किसी विशेष परिस्थिति के कारण वर्तमान आचार्य वह कार्य करने से पूर्व ही दिवगत हो जाएँ, तो भावी आचार्य का निर्वाचन करने विषयक कोई भी नियम उसके विधान में नही है। माणकगणी के स्वर्गवास होने पर सारे सघ को इसी बात की विशेष चिन्ता थी कि एतद् विषयक किसी प्रकार की सावैधानिक व्यवस्था के अभाव में भावी आचार्य का निर्णय किस प्रकार से किया जा सकेगा। सघ के सामने उस समय वह एक बहुत बडी और विकट समस्या थी। उसे सुलझाने के लिए चातुर्मास-समाप्ति के अनतर हर सिंघाडा लाडणू की ओर नदी के प्रवाह की तरह बढने लगा। चातुर्मास में सबके पास यह सूचना पहुँच चुकी थी कि सघ लाडणू में एकत्रित होकर इस विषय पर विचार करेगा।

विरोधियों का मनोराज्य

जब सारा सघ उस समस्या को हल करने के लिए आतुर हो रहा था, तब दूसरी ओर तेरापन्थ की उन्नति से ईर्ष्या करने वाले व्यक्ति बडी प्रसन्नता का अनुभव करने लगे थे। वे अपनी कल्पनाओं के मनोराज्य में रहते हुए विविध स्वप्न देखने लगे थे। उनमें से अनेक व्यक्तियों का यह विचार था कि जिस तेरापन्थ की जड एडी-चोटी का पसीना एक करके भी हम नहीं खोद सके थे, वह अब अपने आप ही खुद जायेगी। आचार्य-पदवी के लिए जब अनेक व्यक्ति उम्मीदवार बनेंगे और एक दूसरे को नीचा गिराने का प्रयास करेंगे, तब उनकी पारस्परिक फूट का दृश्य अवश्य ही देखने योग्य होगा।

वे लोग ऐसे मनसूबे भी बाँधने लगे थे कि एक आचार्य, एक आचार और एक विचार सबधी तेरापन्थियो का वैशिष्ट्य अब चूर-चूर हो जायेगा। अवश्य ही सघ अब एक आचार्य का चुनाव नहीं कर सकेगा। हर एक समाज में जो दल-बदियाँ चलती हैं, वे ही अब तेरापन्थ में भी प्रारभ हो जाएँगी। फिर प्रत्येक दल अपने पक्ष के किसी व्यक्ति को आचार्य बनाना चाहेगा। ऐसी स्थिति में दो-चार आचार्यो का बन जाना तो स्वाभाविक ही है। जब अनेक आचार्य हो जायेंगे, तब एक आचार और एक विचार की बात भी स्वय ही आकाश-कुसुमवत् बन जायेगी। क्रमश विकसित होने वाली इस घर की फूट से तेरापन्थ अब स्वय ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा।

ऐसे लोगों में से कुछ ने तरह-तरह की झूठी बातें फैलाने में भी काफी सक्रिय रूप से भाग लिया। [illegible] कलह देखने का था,

जैसा कि अन्य सम्प्रदायों में चलता रहा है। वे व्यक्ति [illegible] [illegible]
गाय के चोरी चले जाने का उतना दुःख नहीं होता जितना कि पड़ोसी की
का होता है। शायद ऐसे ही व्यक्तियों की मनोभावना को अभिव्यक्त
में यह पद्य कहा होगा—

मेरी तो गई सो गई सोच कछु है न वई जेठजी की नाक [illegible]। [illegible]

उन व्यक्तियों को सम्भवतः तेरापन्थ के आन्तरिक [illegible] [illegible] से ही संघ के प्रति उत्पन्न की जाने वाली निष्ठा का पता नहीं था। इसीलिए वे मानसिक स्थितियों के आधार पर उन्हें तौलने की गलती कर रहे थे। [illegible] व्यक्तियों को उस समय बड़ी निराशा हुई थी जबकि बिना किसी वाद-विवाद के ही भावी आचार्य का चुनाव सम्पन्न हो जाने की घोषणा की गई थी। [illegible] विपरीत और फूट फैलाने वाली बात प्रसारित करने वाले व्यक्तियों को तो तब जनता में बाहर आकर मुँह दिखलाना भी भारी पड़ गया होगा। परन्तु [illegible] भावी परिस्थिति की चिन्ता नहीं किया करते। वे तो अपने ही मनोराज्य में [illegible] तथ्यों से उनका कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा करता।

कालूजी स्वामी की प्रतीक्षा

तेरापन्थ अपनी समस्याओं को प्रायः अपने ही ढंग से सुलझाता आया है। इस बार भी सारे संघ ने सुरसा के समान मुँह बाये सामने खड़ी समस्या का हल निकालने के लिए बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया। पूर्व योजनानुसार समीप तथा दूर चातुर्मास वाले सिंघाड़े [illegible] शीघ्रता से लाडनूं में एकत्रित होते गए। आहार और व्यवस्था के लिए [illegible] [illegible] की नियुक्ति की जाती रही। अन्य समस्त कार्य भी उपयुक्त व्यक्ति से कराये जाते थे। [illegible] साध्वियों के काफी सिंघाड़े एकत्रित हो चुके थे फिर भी यह विचार किया गया कि [illegible] चातुर्मास से आने वाले कालूजी स्वामी की प्रतीक्षा की जाये। वे काफी वृद्ध होने के साथ-साथ अनुभवी और विचारक भी थे। जयाचार्य से लेकर माणकगणी तक प्रत्येक आचार्य की सेवा का उन्हें अच्छा अवसर मिला था। वे संघ के बहुत बड़े हितैषी होने के साथ-साथ [illegible] पर अच्छा प्रभाव रखने वाले भी थे। उनके आगमन की देरी ही आचार्य के चुनाव की भी देरी थी।

चुनाव-सभा की योजना

कालूजी स्वामी विहार करते हुए पौष कृष्णा तृतीया को लाडनूं पहुँचे। उनके पहुँचते ही सारे संघ में उत्सुकता की एक लहर दौड़ गई। उन्होंने आते ही उसी दिन [illegible] में [illegible] प्रमुख साधुओं से विचार-विमर्श किया और आगामी कार्य के लिए एक रूप रेखा भी [illegible] की। उसी के आधार पर तात्कालीन [illegible] के [illegible] [illegible] कालूजी की [illegible] तथा [illegible]

जाने तथा उसमें भावी आचार्य का चुनाव किये जाने की घोषणा की गई। उसी समय से लोगों के मन में उस घोपणा का फलितार्थ जानने की उमग हिलोरें मारने लगी।

पूर्व घोषणा के अनुसार प्रतिक्रमण करने के पश्चात् सारा साधुवर्ग एक स्थान पर एकत्रित हुआ। श्रावकों को वहाँ रहने की मनाही कर दी गई, अत वे सब हवेली से बाहर द्वार पर खड़े प्रतीक्षा करने लगे कि देखें अन्दर क्या निर्णय होता है ?

एक प्रश्न, एक सुझाव

कालूजी स्वामी ने खडे होकर सब सन्तो से कहा—"बोलो भाई साधुओ ! हम सबको एक शासनपति चाहिए, अत वह भार किसको सौंपा जाए ? आप सभी मिलकर मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें।" उनके उस प्रश्न ने वहाँ के वातावरण में काफी हलचल पैदा कर दी। अनेक कल्पनाएँ और विकल्प सामने आये। उन पर विचार-विमर्श हुआ। आखिर एक सुझाव आया कि हम सब में कालूजी स्वामी अपेक्षाकृत अधिक पुराने और अनुभवी हैं। सघ की अनेक बातें उन्होने देखी-सुनी है। अच्छा हो कि हम सब उन्ही पर यह भार छोड दें कि वे ही आचार्य-पद के योग्य किसी व्यक्ति का नाम प्रकाशित कर दें। हमें विश्वास है कि वे सघ के लिए सर्वथा योग्य व्यक्ति को ही चुनेंगे, क्योकि सघ के हित को और शासन करने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति को वे हम सब से अधिक अच्छी तरह से जानते है। वे जिस व्यक्ति का चुनाव करें, वह हम सबके लिए सहर्ष मान्य होना चाहिए।

कालूजी स्वामी पर भार

उपर्युक्त सुझाव ने उपस्थित सभी व्यक्तियों की भावना को प्रभावित किया, अत सभी ओर से उसका समर्थन हुआ। सबके मुख पर यही बात गूँज उठी कि यह सुझाव उचित है और अपने सघ की शोभा के अनुकूल है। आचार्य के चुनाव का भार कालूजी स्वामी को सौंप देना चाहिए।

कालूजी स्वामी के लिए वह कार्य अवश्य ही कठिन था कि सब की ओर से वे इतना बडा भार अपने पर ले लें, परन्तु जब चारो ओर से दबाव पडा, तब उन्होने उसे स्वीकार कर लिया।

उन्होंने तब अपनी ओर से एक बार फिर सब से पूछा—"क्या आप सब मुझे यह अधिकार देते हैं कि मैं भावी आचार्य का नाम घोषित कर दूँ ? क्या आप सब उसे मान्य कर लेंगे ?"

सब साधुओं ने सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—"हम सबको वह व्यक्ति मान्य होगा।"

नाम की घोषणा

कालूजी स्वामी ने तब सघ, स्वामीजी और अन्य आचार्यों का गुणगान करते हुए कहा—"हमारा शासन भगवान् महावीर का शासन है। उसका सचालन करने के लिए आज हमें एक

आचार्य की आवश्यकता है। मैंने आप आदि ही अपने संघ के साथ विचार विमर्श किया है। हम सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हमें चुनाव सर्वसम्मति से करना चाहिए। एकमत होकर हम जिस व्यक्ति का [illegible] केवल उसी व्यक्ति के लिए नहीं किन्तु सारे संघ के लिए महत्त्वपूर्ण [illegible] होगी। बातचीत कर लेने के पश्चात् आचार्य-पद के लिए जिस व्यक्ति का नाम [illegible] उद्घोषणा करने के लिए आप सबने मुझ को यह भार दिया है। मैं इसके लिए [illegible] समझता हूँ। आप सबकी अनुमति का उपयोग करते हुए मैं अपने संघ के लिए [illegible] के पद पर 'श्री डालचन्दजी स्वामी' का नाम घोषित करता हूँ।"

गुरु-वंदन

उस घोषणा के साथ ही वह तुमुल हर्षध्वनि हुई कि कुछ देर के लिए [illegible] अव्यक्त हो गईं। कालूजी स्वामी ने अपनी बात का सूत्र जोड़ते हुए फिर कहा—"[illegible] 'डालगणी' यद्यपि यहाँ उपस्थित नहीं हैं फिर भी अब वे हमारे आचार्य हो चुके हैं। वे [illegible] से विहार करते हुए इसी तरफ आ रहे हैं। इस समय सुना जाता है कि वे जोधपुर के [illegible] पास कहीं हैं। वे यहाँ पहुँचें उससे पहले हम सब को अपनी स्थानीय [illegible] के अनुसार पूर्ववत् ही काम करते रहना चाहिए। अब से दोनों समय का वंदन [illegible] की दिशा की ओर मुँह करके हुआ करेगा। प्रथम बार का वंदन हमें अभी करना चाहिए और [illegible] को विसर्जित करके बाहर प्रतीक्षा करते हुए भाइयों को भी यहाँ के निर्णय से [illegible] देना चाहिए।" कालूजी स्वामी के उस कथन के अनन्तर सब साधुओं ने 'डालगणी' को वंदन किया।

समाचार-प्रसार

उस समय वहाँ इक्यावन साधु उपस्थित थे। पौष कृष्णा तृतीया की यह [illegible] तेरापन्थ के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ देने वाली सिद्ध हुई। हर्ष-विभोर मुनियों [illegible] बाहर आए और भाइयों के लिए लगाई हुई अंदर आने की रोक को उन्होंने हटा दिया। [illegible] खड़ी हुई सारी जनता अंदर प्रविष्ट हुई और उसे आचार्य-पद के चुनाव से [illegible] गया। जयध्वनि के साथ सारा वातावरण प्रसन्नता से आप्लावित हो गया। [illegible] लोगों ने दूर-दूर के क्षेत्रों में तार द्वारा ये समाचार पहुँचा दिये।

दुराशाओं का अंत

कुछ व्यक्तियों को उस चुनाव पर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह कैसे संभव हो सकता है कि सारे साधु एकत्रित होकर कुछ देर के लिए बैठें और [illegible] ही एकमत होकर आचार्य का चुनाव कर लें। परन्तु चुनाव संपन्न हो गया था उसमें [illegible]

कैसे किया जा सकता था। फलस्वरूप उनकी दुराशाएँ उन्ही में विलीन होकर रह गई। तेरापन्थ ने अपनी एकता का सिक्का उस चुनाव के द्वारा पहले से भी कही अधिक पक्का जमा दिया।

प्रथम दर्शन

डालगणी उस समय कच्छ से विहार करते हुए आ रहे थे। इस घटनावलि तक वे जोधपुर भी नहीं पहुँच पाये थे। चुनाव-सम्बन्धी समाचारों का तार जब जोधपुर पहुँचा, तब लिछमणदासजी भडारी आदि पन्द्रह-बीस भाई वहाँ से डालगणी के सामने गये। उन्होने जोधपुर से तीन कोस पर चापासणी नामक गाँव मे उनके दर्शन किये। वे सब वहाँ पहुँचे, उस समय सत आहार कर रहे थे। भडारीजी ने जाते ही आचार्य-पद के अनुरूप गुणगान करते हुए बडे जोर की ध्वनि से वन्दन किया। आचार्यदेव के प्रथम-दर्शन का हर्ष उन सबमे उमड रहा था।

प्रथम समाचार

डालगणी ने तत्काल उनको टोकते हुए कहा—"भडारीजी ! ऐसे कैसे बोल रहे हो ? तुम जैसे राजकर्मचारी और समझदार व्यक्ति यह कैसे भूल सकते है कि अभीतक हमारे सघ में भावी आचार्य का चुनाव नहीं हुआ है। आचार्यपद के अनुरूप शब्द साधारण साधु के लिए प्रयुक्त नही किये जाने चाहिए।"

भडारीजी अपने साथ लाडणू से आया हुआ तार लेकर आये थे, अत उसे दिखलाते हुए वे बोले—"आचार्यपद का चुनाव तो आज से दो दिन पूर्व ही हो चुका है और वह चुनाव आपका ही हुआ है। इसलिए आप जैसे आचार्य के लिए यदि हम इन शब्दो का प्रयोग करते है, तो यह अपने सघ की प्रणाली के सर्वथा अनुरूप ही है। आप हमें उपालभ देने के स्थान पर प्रथम समाचार देने का पुरस्कार प्रदान कीजिए।"

पूछने की आवश्यकता

डालगणी ने सारी बातें सुनने के पश्चात् फरमाया—"सतों ने इस चुनाव में बहुत शीघ्रता की। हम सब वहाँ पहुँचने वाले ही तो थे। जब मुझे ही आचार्य चुनना था, तो कम-से-कम पहले मुझसे पूछ लेना तो आवश्यक था।"

भडारीजी ने कहा—"सघ को आचार्य की आवश्यकता थी, अत उसने आपको योग्य समझ कर चुन लिया, इसमे आपको पहले पूछ लेने की आवश्यकता ही कहाँ थी ? यदि आपको इस विषय में पूछा भी जाता, तो आप यो कब कहने वाले थे कि हाँ मुझे चुन लो। वहाँ सब सतों ने मिलकर जो चुनाव किया है, वह सर्वथा उचित किया है। हम सब उसकी बधाई लेकर सर्व-प्रथम आपके पास आये है, अत हमको आपके प्रथम चातुर्मास का पुरस्कार मिलना चाहिए।"

जोधपुर में

डालगणी ने चातुर्मास की समाप्ति को आने के निकट पर [illegible] लिए तो यही पुरस्कार समझिये कि हम साथ ही विहार करके जोधपुर पहुँचने का कर रहे हैं।

सबने तत्काल उस कृपा-दृष्टि को सहर्ष शिरोधार्य किया। कुछ साधु वहीं और कुछ ने शीघ्रता से वापस जाकर जोधपुर की जनता को डालगणी के [illegible] सूचित किया। जब सायंकाल के समय डालगणी जोधपुर पहुँचे तो वहाँ की जनता [illegible] छाया हुआ था। यद्यपि उन्हें लाडनूं पहुँचने की शीघ्रता थी, परन्तु जनता के [illegible] के कारण वहाँ उन्हें सात रात तक ठहरना पड़ा। उसके पश्चात् भी वे उन्हें [illegible] ही वहाँ से विहार कर सके।

लाडनूं में पदार्पण

डालगणी ने जोधपुर से नागोर होते हुए लाडनूं की ओर विहार किया। [illegible] आनेवाले संतों में से कुछ तो नागोर से भी आगे तक पहुँच गये। नागोर में [illegible] हुआ। वहाँ सब मिलाकर अठाईस संत एकत्रित हो गये थे। साधु-संघ को साथ लेकर [illegible] विहार करते हुए वे पौष शुक्ला त्रयोदशी के दिन लाडनूं पहुँचे। उस दिन [illegible] आदि वहाँ उपस्थित सारे संत और हजारों श्रावक उनके सम्मुख गये। लाडनूं के ठाकुर आनन्दसिंहजी भी नगाड़े निशान लेकर बड़े आडम्बर के साथ सामने गये। उनका [illegible] बहुत ही शानदार हुआ।

पदारोहण

डालगणी का विधिवत् पट्ट-महोत्सव मनाने के लिए माघ कृष्णा द्वितीया का दिन निश्चित किया गया। उस दिन उनके शासन-सूत्र संभालने के उपलक्ष में अपनी-अपनी [illegible] करते हुए अनेक व्यक्तियों ने उनकी भक्ति-संकुल स्तवना की। पदारोहण का यह [illegible] पंचायती नोहरे में मनाया गया था जो कि काफी बड़ा और नगर के मध्य [illegible] अवस्थित है। डालगणी ने शासन-सूत्र को अपने हाथ में लिया उस समय बहत्तर संत और एक सौ चौरानवे सतियाँ भिक्षु-शासन में थीं।

: ६ :

तेजस्वी धर्माचार्य

औरों से भिन्न

डालगणी एक महान् तेजस्वी आचार्य थे। अग्रणी-जीवन में ही उन्होने अपने व्यक्तित्व की छाप संघ के सभी अगो पर डाल दी थी। उन जैसे प्रखर व्याख्याता और मनस्वी आचार्य को पाकर तेरापन्थ धन्य हो गया था। उन्होंने तेरापन्थ का शासन स० १९५४ माघ कृष्णा द्वितीया के दिन सम्भाला था। अन्य आचार्यों की अपेक्षा डालगणी के व्यक्तित्व को कुछ भिन्न माना जा सकता है, क्योकि उनसे पहले प्रत्येक आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्य के द्वारा नियुक्त किये गये थे, जबकि वे किसी भी आचार्य के द्वारा नियुक्त न किये जाकर सारे सघ के द्वारा चुने गये थे।

तेरापन्थ में आचार्य के द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्ति को नियमत सबको मानना पडता है, अत अन्य सब आचार्यों के लिए सर्व-सम्मत होने का मार्ग सहज था। वस्तुत उनको सर्व-सम्मति की कसौटी पर चढने की आवश्यकता ही नही हुई, यह आवश्यकता तो केवल डालगणी के लिए ही उत्पन्न हुई और वे उस कसौटी में खरे उतरकर सबके सामने आये थे। प्रत्यक्षत सब व्यक्तियों के द्वारा समान रूप से मान्यता प्राप्त करना कोई सरल कार्य नही है और यह असरल कार्य ही डालगणी के व्यक्तित्व को अन्य आचार्यों के व्यक्तित्व से पृथक् कर देता है।

स्वय को आश्चर्य

उनके उस सर्व-सम्मत चुनाव से अन्य अनेक व्यक्तियों को आश्चर्य हुआ था, वह तो कोई असम्भव बात नही थी, परन्तु स्वय डालगणी को भी उसका बडा आश्चर्य हुआ था। उन्होंने उस बात को अभिव्यक्त करते हुए उन्ही दिनो में सन्तों के सम्मुख एक पद्य भी कहा ,था

कुड कुड रो न्यारो पाणी, तुड-तुड री न्यारी वाणी।
था सगलारी सरिखी होई, आ तो बात अजब मैं जोई॥

अर्थात्—प्रत्येक कुएँ में भिन्न-भिन्न प्रकार का पानी होता है और प्रत्येक मुख मे भिन्न-भिन्न बातें होती है, परन्तु मेरे चुनाव के विषय में तुम सब की एक ही सम्मति हुई, यह बडे आश्चर्य की बात है।

मै इनकार कर देता तो ?

पदारोहण-उत्सव के कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् डालगणी ने माणकगणी के देवलोक होने से लेकर स्वय के चुनाव तक की घटनावलि से अवगत होना चाहा। उसके लिए उन्होंने

मगनलालजी स्वामी को चुना। क्योंकि वे आद्योपान्त उन सारी [illegible] रहे थे।

एक बार संध्याकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होंने मगनलालजी स्वामी से इसकी बात चलाई और पूछा— 'मेरी राय लिये बिना ही तुम सब ने मुझे कैसे चुन लिया?'

मगनलालजी स्वामी ने कहा— 'आप इस पद के सर्वथा योग्य थे अतः सभी ने मिलकर आपको चुन लिया। आपकी राय लेने की इसमें कोई आवश्यकता थी ही नहीं।'

डालगणी ने कहा— 'यदि मैं इनकार कर देता तब क्या होता?'

मगन मुनि ने कहा— 'संघ जैसा हम सबका है, वैसा ही आपका भी है, अतः अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसकी सेवा करना प्रत्येक का कर्तव्य है। आप संघ की व्यवस्था-सम्बन्धी सेवा करने के सर्वथा योग्य हैं अतः इनकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।'

डालगणी ने फिर जोर देते हुए कहा— 'तुम कहते हो वह ठीक है परन्तु एक क्षण के लिए कल्पना करो कि यदि मैं अपने को उतना योग्य नहीं समझता और अपनी असमर्थता के कारण इस भार को उठाने से इनकार कर देता तो तुम लोगों ने मेरे विकल्प में किसी दूसरे का नाम सोचा तो अवश्य होगा।

मगन मुनि ने उस प्रसंग को टालने का काफी प्रयास किया परन्तु डालगणी उसीको जानने पर लगे हुए थे। आखिर जब उन्होंने देखा कि आचार्यदेव उस प्रसंग को समाप्त करना नहीं चाहते तब उन्होंने साहसपूर्वक सारी बात स्पष्टतया उनके सामने रखते हुए कहा— 'यथासम्भव हम सब विनय-अनुनय से अवश्य ही आपको मना लेते फिर भी यदि आप नहीं मानते तो हमने कालूरामजी (छापर वालों) को आपके विकल्प में चुना था।'

मगनलालजी स्वामी की इस बात पर डालगणी एक क्षण के लिए स्तम्भित-से रह गये। कुछ देर के पश्चात् उन्होंने फरमाया— 'मैंने भी कई नाम सोचे थे परन्तु मेरी दृष्टि वहाँ नहीं पहुँच पाई थी।' उन्होंने उस नाम की उपलब्धि के साथ ही वार्तालाप को इस प्रकार से समाप्त कर दिया मानो वह कभी हुआ ही नहीं था। ऐसा लगता है कि उन्होंने उसी दिन से एक ऐसे व्यक्ति को पा लिया था कि जिसे अपना दायित्व सौंप कर वे निश्चिन्त हो सकते थे।

सुव्यवस्था की प्रशंसा

इस अवसर पर उन्होंने मगनलालजी स्वामी के कार्यों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि माणकगणी के देवलोक होने के पश्चात् तथा मेरे द्वारा कार्य भार सम्भालने के बीच में जो तीन महीने व्यतीत हुए हैं उनमें अपने संघ की रीति भाँति के अनुसार तुमने वहाँ का कार्य बहुत ही अच्छे ढंग से चलाया।

मगनलालजी स्वामी ने विनम्रभाव से कहा— 'आपकी कृपा से सभी सन्तों का दृष्टिकोण संघ की महत्ता को बनाये रखने का था अतः किसी को काम चलाने की आवश्यकता ही नहीं थी। वह तो सबकी सुनीति के कारण अपने आप ही चलता रहा।'

अच्छी प्राप्ति

डालगणी मनुष्य की पहचान में बडे निपुण थे। मगनलालजी स्वामी की उन बातों से उन्होंने जहाँ कालूगणी को पाया, वहाँ स्वय मगनलालजी स्वामी को भी एक गम्भीर व्यक्ति के रूप में पा लिया था। उनकी दृष्टि में उसी दिन से उनके लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया। उनकी परख प्राय अपने आप में पूर्ण हुआ करती थी। वे किसी व्यक्ति पर पूरी परख के पश्चात् विश्वास करने लगते थे, तो फिर उसे किसी भी प्रकार से मिटा पाना कम ही सम्भव हुआ करता था। अपने शासनकाल के प्रारम्भ से ही उन्होने जो विश्वास मगनलालजी स्वामी के प्रति स्थापित किया, वह अन्त तक क्रमश विकसित होता गया।

प्रथम बार की व्यवस्था

माघ कृष्णा चतुर्दशी तक लाडणू में विराजने के पश्चात् डालगणी ने वहाँ से विहार किया और बीदासर में मर्यादा-महोत्सव किया। वहाँ सत्तावन साधु और एक सौ तीस साध्वियाँ एकत्रित हुई थी। सबकी यथावत् व्यवस्था करने का कार्य डालगणी के लिए प्रथम ही था, फिर भी उन्होंने उस कार्य को बडी कुशलता के साथ किया। उस कार्य को निबटाने में उनके प्रारम्भिक सघर्षमय जीवन के अनुभव काफी सहायक सिद्ध हुए। साधु-साध्वियों को भी यही अनुभव हुआ कि मानो वे किसी नए आचार्य के सम्मुख अपनी बातें प्रस्तुत नही कर रहे हैं, अपितु किसी वर्षों के अनुभवी आचार्य के सम्मुख ही कर रहे हैं।

मर्यादा-महोत्सव के अनन्तर गुरुदेव के पास से अनुज्ञा लेकर अत्यन्त सन्तोष के साथ सबने अपने गन्तव्य स्थलो की ओर विहार किया। जब वे आये थे, तब उन सबकी आकृति पर आचार्य के अभाव में जो अनिश्चय तथा आशका की भावनाएँ थी, वे सब उस समय तक निश्चय और असदिग्धता में परिणत हो चुकी थी। वे सब वहाँ से एक नया उत्साह लेकर आगे बढे थे।

अकाल

स० १९५६ में वर्षा के अभाव में प्रायः समस्त राजस्थान में भयकर अकाल पडा। कहा जाता है कि वैसा दुष्काल बड़े-बूढ़ों की स्मृति में पहले कभी नहीं पडा था। आज भी उस दुष्काल के विषय में अनेक कहावतें प्रचलित हैं। किसी जान-पहचान के व्यक्ति को साधारण खुराक से अधिक खाते या शीघ्रता से खाते देखकर आज भी किसी राजस्थानी के मुँह से सुना जा सकता है—"क्या छपना पड रहा है ?" उस वर्ष गरीब लोगों ने वृक्षों की छाल तथा भरूट (एक प्रकार का घास) के दानो तक को नही छोडा था।

ऐसी स्थिति में चातुर्मास के पश्चात् साधु-साध्वियों का एकत्रित हो पाना सम्भव नहीं था। मेवाड और मारवाड के मार्ग में अनेक गाँव उजड गये थे। लूट-खसोट का जोर बढ गया था। आहार-पानी का योग मिलना असम्भव हो गया था। ऐसी स्थिति में उधर से

किसी भी सिंघाड़े को नहीं बुलाया गया। डालगणी ने उस वर्ष [illegible]
में किया। वहाँ पर आस-पास से इकतालीस सन्त और [illegible] साध्वियाँ—कुल
सत्तासी ठाणे एकत्रित हुए, जबकि पिछले वर्ष एक सौ सत्तावन ठाणे [illegible]

अन्धे की चालाकी

सं० १९५७ में डालगणी बीदासर में विराज रहे थे। वहाँ जयपुर निवासी
बोरा अपने भतीजे को साथ लेकर आया। वह अन्धा था। डालगणी के दर्शन कर
एकांत में निवेदन किया—'एक बार मैं सोया हुआ था कि अचानक आवाज
'डालचन्द! उदयपुर के पाँच सौ घरों के साथ पैरों में पड़ जा।'

मैं सोचने लगा कि यह क्या आवाज आई। तभी दूसरी बार और फिर तीसरी बार वही
आवाज आई। तब मैंने पूछा—'किसके पैरों में पड़ जाऊँ?' उसके उत्तर में मुझे सुनाई
दिया कि डालचन्दजी स्वामी के।

मैंने इस प्रेरणा का कारण पूछा तो उत्तर मिला कि अहमदाबाद के पुस्तक-भंडार में एक
प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ है। उसमें तेरापन्थ के विषय में बहुत-सी बातें लिखी हुई हैं। वे
ही सच्चे साधु हैं अतः तू वहाँ जा।

ये सब बातें इतनी स्पष्ट थीं कि संदेह को कहीं स्थान ही नहीं था फिर भी मैं उसकी
सत्यता को परख लेना चाहता था अतः अपने इस भतीजे को साथ लेकर उस ग्रन्थ को देखने
के लिए अहमदाबाद गया। वहाँ खोज करने पर एक यतिजी से मेरी भेंट हुई। उन्होंने
अपने पुस्तक-भंडार में उस ग्रन्थ के होने की बात कही। मैं कोई कच्चा विश्वासी तो था नहीं,
जो कि बिना देखे ही उस पर विश्वास कर लेता। मैंने ग्रन्थ देखना चाहा तब यतिजी ने
मुझे वह दिखला दिया। मैंने उसका मूल्य पूछा तो उसने दो हजार रुपये कहे। उससे
कम में वे किसी प्रकार भी देने को तैयार नहीं हुए। उस समय मेरे पास इतने रुपये नहीं
थे अतः मैं उसे वहीं रखकर सीधा यहाँ चला आया।

मैं आँखों से तो उस प्रति को नहीं देख सकता था परन्तु टटोलकर देखने से लगता था
कि वह काफी अच्छी है। अपनी बात को अधिक विश्वसनीय बनाने के विचार से उसने पास
में बैठे हुए अपने भतीजे से पूछा—"क्यों रे! तूने तो उसे आँखों से देखा था उसके आकार-
प्रकार के बारे में कोई बात ध्यान में हो तो गुरुदेव को बता।

भतीजा भी पहले से अच्छी तरह पढ़ाया हुआ था अतः कुछ सोचता-सा [illegible]
हुआ बोला—'अक्षर तो काफी सुन्दर थे परन्तु उसके पत्र पुराने हो जाने के कारण बादामी
रंग के हो गये थे फिर भी फटे-टूटे न होकर काफी मजबूत दिखाई देते थे।'"

डालगणी को अन्धे की चालाकी को समझते कोई देर नहीं लगी। उन्होंने उसकी बात
को कोई महत्त्व नहीं दिया। जब वहाँ कोई प्रभाव नहीं दिखा तब वह [illegible] स्वामी के

पास आया। वहाँ भी उसकी दाल नही गली, तब श्रावको से बात-चीत की और ग्रन्थ खरीदने के लिए दो हजार रुपये माँगे। श्रावको को पहले से ही सावधान कर दिया गया था, अत वे कहने लगे कि चलो, हम भी आपके साथ चलें और उस ग्रन्थ को देखकर खरीद लायें।

बोरा ने कहा—"नही वह मेरे अतिरिक्त और किसी को नही देगा। उसको यदि यह पता लग जायेगा कि मैं वह ग्रन्थ किसी अन्य के लिए खरीद रहा हूँ, तो सभवत वह किसी भी मूल्य पर देने को तैयार नही होगा।"

श्रावकों ने कहा—"आप उनसे पूछ लें यदि वे देना चाहेंगे, तो फिर हम अपने आप ही सौदा तय कर लेंगे।"

उसने अपनी चाल को विफल होते देखकर कहा—"ठीक है, मैं पूछ तो लूँगा, फिर काम होना-न-होना भगवान् के हाथ है।" यह कहकर वह गया तो फिर आया ही नही।

डालगणी ने उसकी चालाकी पर टिप्पणी करते हुए फरमाया—"अन्धा व्यक्ति आँखवालो को ठगने की सोच रहा था।"

न पधारने की प्रार्थना

स० १६५६ में डालगणी ने जोधपुर चातुर्मास करने का निर्णय किया। चातुर्मास से पूर्व जब वे पीपाड़ में विराजमान थे, तब उनका विचार पचपदरा, बालोतरा और जसोल आदि क्षेत्रों की ओर पधारने का था। परन्तु उस वर्ष उन क्षेत्रों में पानी की बड़ी कमी थी, अत वहाँ के श्रावकवर्ग ने प्रार्थना की कि आप हम लोगो पर बड़ी कृपा कर रहे हैं, किन्तु गर्मी के दिनो में इस वर्ष हमारे यहाँ पधारने का अवसर नही है। इसलिए हम लोगों को दर्शन देने की कृपा आगामी शीतकाल में करनी होगी। श्रावको की उस प्रार्थना के पश्चात् डालगणी पीपाड में एक महीना विराजकर सीधे जोधपुर की ओर पधार गये।

दो रात से अधिक नही

जोधपुर चातुर्मास में मेवाड-वासियों ने एकत्रित होकर दर्शन किये और मेवाड पधारने की प्रार्थना की। आचार्यदेव ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए, चातुर्मास के पश्चात् मेवाड-पदार्पण के लिए फरमा दिया। सयोगवश उसके बाद ही जसोल, बालोतरा आदि की ओर से प्रार्थना करने के लिए कुछ व्यक्ति वहाँ पहुँचे। डालगणी ने उनको फरमाया कि अब तो मैंने मेवाड जाने के लिए कह दिया है। श्रावको ने कहा—"हमारी प्रार्थना तो मेवाड-वासियों से भी पहले की थी। चातुर्मास से पूर्व जब आप उधर पधार रहे थे, तब तो अवसर नहीं था, किन्तु हमने उसी समय यह निवेदन कर दिया था कि आगामी शीतकाल में आप हम लोगों पर कृपा करें।"

डालगणी का विचार मेवाड़ से पूर्व उधर जाने का नहीं था, परन्तु उन लोगों का आग्रह रहा कि इसी शीतकाल में पदार्पण होना चाहिए। आखिर उन्होंने फरमाया कि इस समय

रहने के लिए तो मेरे पास दिन नहीं हैं, फिर भी कहो तो मैं यह पहले से ही बतला देता हूं कि किसी भी ग्राम में दो रात से अधिक नहीं है। इतने पर भी श्रावक-वर्ग ने यही प्रार्थना की कि आपकी इच्छा हो उतना ठहरियेगा। हम तो आपके पदार्पण मात्र से ही तृप्त हो जायेंगे। उन्होंने तब उधर होते हुए मेवाड़ पधारने का निश्चय किया।

चर्चा का आह्वान

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् डालगणी पंचपदरा पधारे। वहाँ दो रात ठहरकर बालोतरा पधारे। उस समय वहाँ स्थानकवासी-साधु जवाहरलालजी थे। उन्होंने चर्चा करने के लिए आह्वान किया। चर्चा के उस आह्वान में पंचपदरा निवासी प्रतापमलजी चोपड़ा का मुख्य हाथ था। वे जानते थे कि इस समय ये दो रात से अधिक नहीं ठहरेंगे। अतः चर्चा का कोई निष्कर्ष निकलने से पहले यदि विहार कर जायेंगे तो यह कहा जा सकेगा कि चर्चा में पराजय के भय से विहार कर गये।

प्रतापमलजी यद्यपि पहले तेरापन्थी थे परन्तु बाद में विरोधी हो गये। पहले वे यहाँ आया-जाया तो करते थे पर पीछे से निन्दा भी किया करते थे। उनके उस स्वभाव के लिए डालगणी ने उनको जोधपुर चातुर्मास में उपालंभ दिया था। तभी से वे स्पष्टतः विरोध में आने लग गये थे। उन्होंने बालोतरा में डालगणी के पधारने से पूर्व लोगों में ऐसी बातें फैला दी थी कि पराजय के भय से ये लोग चर्चा नहीं करते।

डालगणी के पास चर्चा का आह्वान लेकर जब कुछ लोग आये तो उन्होंने बतलाया कि हम तो इस समय विहार की शीघ्रता में हैं। दो रात से अधिक यहाँ ठहरने का हमारा कोई इरादा भी नहीं है। इतने स्वल्प समय में चर्चा के द्वारा किसी भी निष्कर्ष पर पहुँच पाना संभव नहीं है।

लोगों का फिर भी यह आग्रह रहा कि दो दिन के लिए ही सही चर्चा तो होनी ही चाहिए। स्थानीय तेरापन्थी भाइयों का निवेदन था कि यदि चर्चा किये बिना ही विहार हो जायेगा तो ये लोग मिथ्या प्रचार करेंगे कि चर्चा के भय से इतना शीघ्र विहार कर दिया।

डालगणी ने तब चर्चा के लिए संतों को भेजना स्वीकार कर लिया और यह भी घोषित कर दिया कि दो दिन के पश्चात् भी आवश्यकता हुई तो संतों को यहाँ रखा जा सकता है। चर्चा के लिए तीसरा स्थान निर्णीत किया गया और वहाँ चर्चा प्रारंभ हुई। डालगणी ने उस कार्य के लिए मगनलालजी स्वामी कालूरामजी स्वामी (कालूगणी) आदि संतों को नियुक्त कर दिया। दो दिन की चर्चा में ही विपक्ष को पता लग गया कि चर्चा की बात करना जितना सहज होता है उतना चर्चा करना या फिर चर्चा-क्षेत्र में टिके रहना नहीं होता।

तीसरे दिन प्रात डालगणी ने पूर्व निर्णयानुसार अपना विहार कर दिया। मगनलालजी स्वामी तथा कालूरामजी स्वामी (कालूगणी) आदि ग्यारह सतो को उन्होंने चर्चा के लिए वहाँ छोडा। विहार करते समय उन्होने यह घोषणा भी कर दी कि जब तक चर्चा चलती रहे, सत यहाँ रहें।

तीसरे दिन मध्याह्न में चर्चा के लिए जो समय निर्णीत किया गया था, उसी के अनुसार मगनलालजी स्वामी आदि सत चर्चा-स्थल पर पधार गये। परन्तु प्रतीक्षा करने पर भी दूसरी ओर से कोई नही आया। कुछ लोग उन्हें बुलाने के लिए भी गये, परन्तु वे फिर भी नही आये। मगनलालजी स्वामी ने तब यह घोषित किया कि यदि वे निर्णीत समय की समाप्ति तक भी नही आयेंगे, तो फिर यह समझ लिया जायेगा कि वे चर्चा करना नही चाहते। उस स्थिति में चर्चा समाप्त समझी जायेगी और हम विहार करने के लिए स्वतत्र होगे।

ये समाचार जब उन लोगो के पास पहुँचाये गये, तब भी वे न तो आये ही और न कोई नहीं आने का कारण ही बतलाया। मगनलालजी स्वामी ने तब जनता को बतलाया कि यहाँ ठहरने का हमारा उद्देश्य केवल चर्चा का ही था। जब वे लोग नही आते है, तो हमारे लिए यहाँ ठहरना कोई आवश्यक नही रह जाता है। ऐसी स्थिति में आज साय विहार कर देने का हमने निश्चय किया है। अपनी घोषणा के अनुसार सतों ने वहाँ से विहार कर दिया और आचार्यदेव की सेवा में पहुँच गये।

थलीवालो की स्वीकृति

डालगणी 'मालाणी'[1] के उन क्षेत्रो को पवित्र करते हुए पाली की तरफ पधार गये। वहाँ से मेवाड जाने की तैयारी थी, परन्तु उन्हें 'पानीझरा' निकल आया। अस्वस्थता के कारण उन्हें वहाँ सत्रह रात ठहरना पडा। वहाँ थली के श्रीचन्दजी गधैया, शोभाचन्दजी बेंगानी आदि अनेक श्रावक दर्शन करने के लिए आये और उन्हें थली में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। डालगणी ने उनके आग्रह पर मेवाड में दर्शन देने के पश्चात् थली में आना स्वीकार कर लिया।

महाराणा कहें तो भी नही

वहाँ से विहार करते हुए वे राणकपुर के घाटे से मेवाड में प्रविष्ट हुए। वह घाटा अत्यंत भयकर था, अत सभी को साथ लेकर उसे पार किया। सबसे आगे सतियो ने विहार किया, उनसे कुछ ही पीछे सतो सहित डालगणी थे, फिर भाई और बहिनें थी। घाटे चढते ही डालगणी को पता लगा कि आज उदयपुर के भाई दर्शन करने के लिए आने वाले हैं। उन्हें यह भी पता लगा कि वे इस वर्ष का चातुर्मास उदयपुर में कराने के लिए राणा फतहसिंहजी से प्रार्थना कराने की सोच रहे हैं।

१—जसोल, बालोतरा, पचपदरा आदि के समीपवर्ती क्षेत्र को मालाणी कहा जाता रहा है।

डालगणी अपनी बात के पक्के और बेपरवाह आचार्य थे। उन्होंने मगनलालजी स्वामी को बुलाया और फरमाया कि तुम उदयपुर-वासियों को मेरी ओर से कह दो कि मैंने इस वर्ष यहीं आने का मन किया है अतः यदि महाराणा स्वयं [illegible] वहाँ चातुर्मास करने का विचार नहीं है। बहुत हुआ तो अगला चातुर्मास वहाँ कर दूँ पर यह तो किसी भी प्रकार नहीं कर सकूँगा।

मगनलालजी स्वामी ने कहा— 'आपके आदेश शिरोधार्य हैं अतः वे आपके उपरांत कुछ भी नहीं करेंगे। जब वे यहाँ आयेंगे तब मैं उन्हें समझा दूँगा।'

जब उदयपुर के लोग आये तब पता चला कि वह सुनी हुई बात बिलकुल ठीक थी। वे उस चातुर्मास को प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर प्रयास में लगे हुए थे। मगनलालजी स्वामी ने उनको सारी स्थिति से अवगत किया तब कहीं उन्होंने अपने प्रयास को आगे बढ़ने से रोका।

हमारी मान्यता सत्य हुई तो ?

मेवाड़ में विहार करते हुए डालगणी ने सं० १९६६ का मर्यादा-महोत्सव उदयपुर में किया। वहाँ बच्छराजजी सिंघी ने एक बार उनके दर्शन किये। सिंघीजी जोधपुर के [illegible] मुसद्दी थे परन्तु दरबार की नाराजगी के कारण उदयपुर में रहा करते थे। उदयपुर-दरबार उन्हें घर बैठे एक हजार रुपये मासिक दिया करते थे। यद्यपि वे जैनधर्म को मानने वाले थे, पर साथ ही साथ कुछ लोगों के द्वारा तेरापन्थ के विषय में भ्रांत कर दिये गये थे, अतः कभी-कभी तेरापन्थ की निन्दा करने में भी रस लिया करते थे। जब वे डालगणी के पास आये तो उन्हें साधुओं का आचार विचार बतलाया गया। साथ ही तेरापन्थ की मान्यताओं से भी अवगत कराया गया। उस एक दिन के सत्संग से वे इतने प्रभावित हुए कि उसके पश्चात् जब कभी अवसर मिलता तभी आ जाया करते थे। कुछ ही दिनों में वे डालगणी के पक्के भक्त हो गये।

डालगणी उदयपुर से विहार कर गुंआवा पधारे। पाली के पश्चात् बुखार की कमजोरी ठीक नहीं हो पाई थी अतः उग्र विहार से उनकी आकृति पर कुछ थकान-सी झलक आई। उसी समय सिंघीजी भी दर्शन करने के लिए उदयपुर से वहाँ पहुँच गये। वे बड़ी स्पष्ट प्रकृति के थे। आचार्यदेव के शरीर की कमजोरी को लक्ष्य करके कहने लगे— अभी तक आपके पिछले बुखार की कमजोरी तो पूर्णरूप से मिट भी नहीं पाई है और आपने विहार कर दिया। मुझे तो कभी-कभी आपके नियमों और कष्टाचरणों को देखकर यह चिंता होने लगती है कि खाने-पीने और मौज करने की हमारी मान्यता यदि ठीक निकली तो आपका यह सारा कष्ट-सहन निरर्थक ही जाएगा।

डालगणी ने भी उसी प्रकार से उत्तर देते हुए फरमाया— 'इससे अधिक तो कुछ नहीं होगा न ?'

सिंघीजी ने कहा —"और तो फिर क्या होगा ?"

डालगणी ने फिर एक प्रश्न करते हुए फरमाया—"और यदि हमारी मान्यता सत्य निकली तो ?"

सिंघीजी ने हँसते हुए कहा—"तव तो हम लोगो के इतने जूते पडेंगे कि धरती भी नही झेल सकेगी।"

दो कोस, नौ घटा

शारीरिक कमजोरी चालू थी। विहार भी चालू थे। शरीर पर उसका बुरा प्रभाव हुआ। फलस्वरूप कमजोरी और वढ गई। उस विहार मे नाथद्वारा तक पहुँचने में उन्हें काफी कष्ट उठाना पडा। एक वार तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि सब कोई घवरा गये। एक दिन प्रात काल अमरेली की सराय से उन्होने विहार किया। दो कोस की दूरी पर चिरवा गाँव में उन्हें ठहरना था। इतने छोटे-से मार्ग में उन्हे नौ घण्टे का समय लगा। मार्ग मे वार-वार विश्राम करना पडा। अनेक वार तो विश्राम के लिए उन्हे सोना भी पडा। किन्तु उस दिन के पश्चात् हालत में कुछ सुधार हो गया और वे धीरे-धीरे नाथद्वारा पधार गये।

देवता तुष्ट हुए है

वहाँ से राजनगर, देवगढ आदि क्षेत्रो मे दर्शन देते हुए वे सिरियारी के घाटे से उतर कर थली की ओर पधारने का विचार कर रहे थे, किन्तु देवगढ से विहार होने से पूर्व ही गगापुर, पुर और भीलवाडे आदि की ओर से लगभग पाँच सौ व्यक्ति दर्शन करने के लिए आये तथा उधर पधारने के लिए आग्रह-युक्त प्रार्थना करने लगे।

डालगणी के लिए यह प्रसिद्ध है, कि वे बहुत कडे आचार्य थे। परन्तु वे उतने ही कोमल भी थे। उन्होंने श्रावको के अति आग्रह को देखकर फरमाया कि देखो मेरे शरीर की स्थिति काफी निर्वल है, थली जाने के लिए कहा हुआ है, सामने काफी लवा विहार है, तुम लोग हठ न करो तो सीधा चला जाऊँ, अन्यथा मेवाड का फिर से इतना बडा चक्कर देकर जाना होगा। दोनों ओर की परिस्थिति को देखकर तुम लोग जैसा चाहते हो, वैसा कह दो।

यह वात सुन कर सारे-के-सारे चुप हो गये। गुरुदेव के शरीर की निर्वलता और इतने लम्बे विहार को देखते हुए किसी को वोलने का साहस नही हुआ। सारे इसी चिन्तन में थे, कि अब क्या कहा जाये ? इतने ही में राजनगर के सवाईरामजी पोरवाल ने खडे होकर प्रार्थी लोगो से कहा—"अरे! तुम देखते क्या हो ? देवता तुष्ट हुए है और तुम वर माँगने में सकोच करते हो ?" उनके इतना कहने मात्र की ही देर थी कि चारों ओर से एक ही आवाज गूँज उठी—"पधारने की कृपा करो।" आखिर डालगणी ने उनकी बात को स्वीकार किया और उतनी कमजोर हालत में भी उधर पधारे।

उसने कहा—"आटे का।"

डालगणी ने तब उपस्थित लोगो से पूछा—"क्यो भाई! दस मन आटे में चीनी, घी और पानी डालने पर कितना हलुआ होता है ?"

उनमें से एक ने कहा—"एक मन आटे का आठ मन हलुआ होता है।"

डालगणी ने हिसाब बतलाते हुए कहा—"तब दस मन आटे का अस्सी मन हलुआ हुआ। अब जरा सोचो तो सही कि अस्सी मन हलुआ हम कैसे लाये होगे और कैसे उसे खाए होंगे ? राजनगर से विहार करने के पश्चात् बाईस साधु और सात साध्वियाँ, यो उनतीस ठाणें हमारे साथ रहे है। तीसवाँ ठाणा उस दिन से आज तक हुआ ही नही, अत तुम्हारे हिसाब से हम में से प्रत्येक व्यक्ति ने उस दिन ढाई मन से भी अधिक हलुआ खाया। परन्तु क्या यह बात सभव लगती है ?"

सबके सामने अपनी बात को नीचे गिरते देखकर उस व्यक्ति ने सभलते हुए कहा—"मैंने तो जैसा सुना है, वैसा कहा है। लिया या न लिया, यह तुम जानो।"

डालगणी ने फरमाया—"इतनी बुद्धि तो एक गवार में भी मिल सकती है कि किसी गप्प पर विश्वास न करे और मुँह से बात निकालने से पहले उसकी सत्यता या असत्यता को तोल ले।"

मुहूर्त्त कब काम आयेगा ?

डालगणी थली में पधारे। उनका विचार बीदासर में चातुर्मास करने का था। लाडणू से जब वे सुजानगढ पधारे, तब रूपचदजी सेठिया आदि श्रावको ने वहीं चातुर्मास करने के लिए प्रार्थना की। रूपचन्दजी बडे श्रद्धालु और धार्मिक व्यक्ति थे। डालगणी उनकी बात को बडा महत्त्व दिया करते थे। उनकी प्रार्थना पर उन्होने अपना वह चातुर्मास वही का फरमा दिया। आषाढ़ महीने के प्रथम दिन ही वहाँ पदार्पण हुआ था, अत कल्प के लिए कुछ दिन अन्यत्र जाने की भी आवश्यकता नही थी।

श्रीचदजी गधैया सेवा के लिए सरदारशहर से वहाँ आये हुए थे। उन्होने एक दिन डालगणी से निवेदन किया कि आप जिस दिन यहाँ पधारे थे, उस दिन ज्वालामुखी योग था, अत अच्छा हो कि एक रात गाँव-बाहर विराज कर अच्छे मुहूर्त्त में आप पुन यहाँ पधार जाएँ।

डालगणी मुहूर्त्त आदि के बधन को अधिक महत्त्व नहीं दिया करते थे। उन्होंने हँसते हुए फरमाया कि यह साताकारी स्थान छोडकर एक रात के लिए अन्यत्र रहने से स्थान का कष्ट तो पहले ही देख लेना पडेगा। पता नही वह अच्छा मुहूर्त्त फिर कब काम आयेगा ? यो उन्होंने गधैयाजी की बात को हँसकर टाल दिया और वहीं विराजते रहे। उनका वह चातुर्मास बडी निर्विघ्नता के साथ सम्पन्न हुआ।

डालगणी को जब उस बात का पता लगा, तो उन्होंने श्रावको की उस लापरवाही पर वहाँ का चातुर्मास बन्द कर दिया।

उन लोगों ने बहुत प्रार्थना की तो फरमाया—"तुमसे एक समय के लड्डू भी नही छूटते, तो क्या हमारे साधु-साध्वियाँ फालतू है ?"

इस्पात की तरह

इस प्रकार उनका समग्र जीवन घटना-प्रधान होने के साथ-साथ अपने प्रकार का विचित्र ही था। साधारण और असाधारण दोनो ही प्रकार के जीवन का अनुभव उन्होंने गहराई तक पैठ कर किया था। प्रतिकूल परिस्थितियों की आग में तपकर और अनुकूल परिस्थितियों के ठडे जल में डुबकियाँ लगाकर वे एक इस्पात की तरह मजबूत और अपराजेय व्यक्ति बन गये थे। तेरापन्थ के आचार्यपद को उन्होंने अपने व्यक्तित्व से अत्यन्त गौरवशाली बनाया था। वस्तुत: तेरापन्थ को उस समय उन जैसे तेजस्वी आचार्य की ही आवश्यकता थी।

: ७ :

जीवन की संध्या में

अग्नि के समान

डालगणी अपनी वृद्धावस्था तक प्रायः विचरते ही रहे थे। जीवन की संध्या में भी वे थके नहीं थे। आजीवन उनकी आकृति पर वही तेज बना रहा। अग्नि कभी शिथिल होती ही नहीं। जब तक रहती है पूर्ण तेजस्विता से जलती रहती है। बुझ जाती है तो फिर राख ही रहती है अग्नि नहीं। उनका जीवन सचमुच ही बड़ा तेजस्वी था। वे किसी से कुछ नहीं भी कहते तो भी हर किसी के मन पर उनका प्रभाव इस प्रकार से छाया रहता था कि कहीं वे कुछ कह न दें। किसी साधु को वे बुलाते तो वह यही सोचता कि आज कोई गलती तो नहीं हुई है?

पूंछ पर पैर न रखें

डालगणी अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कई बार साधुओं से कहा भी करते थे कि तुम लोग इतने डरते क्यों हो? गलती का ही तो तुम्हें उपालम्भ मिल सकता है। गलती नहीं करोगे तो कोई उपालम्भ कैसे दे सकेगा? परन्तु वे साथ में यह चेतावनी भी देते थे कि कभी तुम यह मत समझना कि गलती करने पर भी तुम उपालम्भ या दंड से बच सकते हो, यह सम्भव नहीं है। वे एक दृष्टान्त भी दिया करते थे कि लोग सर्प से कहा करते हैं— 'नागदेव! जरा कृपा-दृष्टि रखना' परन्तु उन्हें उस प्रार्थना से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि वे उसकी पूंछ पर पैर न रखें। यदि वे उस सावधानी में चूकते हैं तो उन्हें उसका दंश झेलने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

सोलह हाथ की सौड़

वे बहुधा भिक्षु-शासन को 'सोलह हाथ की सौड़' कहा करते थे। इस कथन से उनका तात्पर्य हुआ करता था कि मर्यादानुसार चलने वाले व्यक्ति के लिए संघ में बहुत बड़ा स्थान है। जिस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण की सौड़ ओढ़कर सोने वाला व्यक्ति इधर-उधर कितना ही लोटे तो भी उसे ठंड लगने की सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार मर्यादा में चलने वाले को उपालम्भ की कोई सम्भावना नहीं होती। जो अनुशासन में नहीं चल सकता उसे संघ में कोई स्थान नहीं मिल सकता। वह यदि ठिठुरता है तो अपने ही दुर्गुणों के कारण से। वे अपनी शिक्षा देते हुए इसी ओर इंगित किया करते थे कि अनुशासन भंग करना संघ के व्यक्ति के लिए एक बहुत बड़ा अपराध है। उसे किसी भी प्रकार से क्षम्य नहीं माना जा सकता।

चरण-स्पर्श का साहस

डालगणी का अनुशासन वहुत कडा समझा जाता था। साधु-वर्ग ही नही, किन्तु श्रावक-वर्ग भी उनकी तेजस्विता से अभिभूत रहा करता था। दर्शन के निमित्त आने वाले व्यक्तियो में से थोडे ही ऐसे होते थे, जो उनके चरण-स्पर्श करने का साहस करते थे। वह साहस भी सम्भवत वे तभी कर पाते थे, जब कि दो-चार वार ठिठक कर अपने मन को यह समझाने में सफल हो जाते थे कि यह कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध नही होगा। यह वात किसी दूर से आने वाले या कदाचित् आने वाले व्यक्ति के लिए ही नहीं थी, किन्तु प्रतिदिन आने वाले व्यक्ति भी इसी तरह सकोच से ही वहाँ तक पहुँच पाते थे।

नाम की महिमा

उनके स्वय के तेज की तरह उनका नाम भी वडा तेजस्वी गिना जाता था। लोग विपत्ति के समय उनके नाम का आश्रय लेकर कृतकार्य हो जाया करते थे। सीकर का गुलावखा नामक एक मुसलमान वगाल में नौकरी करता था। उसको एक वार साँप ने काट लिया। अनेक उपाय करने पर भी विष का प्रभाव वढता गया। आखिर परिवार वालो ने उसके जीवन की आशा छोड दी।

उसी समय एक तेरापन्थी भाई ने उसके परिवार वालों से कहा कि यदि तुम कहो तो मैं एक प्रयास कर के देखूँ। परिवार वालो को उसमें क्या आपत्ति हो सकती थी? उस भाई ने डालगणी का नाम लिखकर वह पानी उसके मुँह में डाला और उन्ही का नाम मन में दुहराते हुए झाडना शुरु किया। सयोग की ही वात समझिये कि धीरे-धीरे विष का प्रभाव दूर होने लगा। जब वह बिल्कुल ठीक हो गया, तब झाडने वाले ने उसे वताया कि डालगणी के नाम के प्रभाव से ही वह ठीक हो पाया है, अत एक वार लाडणू जाकर अवश्य ही उसे उनके दर्शन करने चाहिए।

गुलावखा परिवार सहित लाडणू आया और लोगो से पूछने लगा—"डालूजी महाराज का देहरा (मन्दिर) कहाँ है?"

लोगो ने उस नाम का कोई देहरा नहीं सुना था, अत उसे हर कही से यही उत्तर मिला कि यहाँ तो इस नाम का कोई देहरा नही है।

गुलावखा भी चकराया कि इतने चमत्कार वाले देवता का देहरा स्वय यहाँ के निवासियो से कैसे छिपा हुआ है? फिर भी वह पूछ-ताछ करता हुआ बाजार में आया और वहाँ उपस्थित लोगो से जानकारी चाही। कुछ लोगो ने तो उसे उपर्युक्त प्रकार से ही उत्तर दे दिया, परन्तु कुछ ने उससे वहाँ आने का कारण आदि विवरण सहित पूछा। उसने जब अपना पिछला सारा वृत्तात सुनाया, तब लोगो को मालूम हुआ कि यह तो डालगणी के दर्शन के निमित्त आया है। उसको तब समझाकर वतलाया गया कि उनका यहाँ कोई देहरा नही है, अपितु वे

साक्षात् ही विद्यमान है। उपस्थित लोगों में से एक भाई का [illegible]
और डालगणी के दर्शन कराकर उनसे सारी बात निवेदित की।

मुक्तावस्था कई दिन तक वहाँ ठहरा और साधु-चर्या की।
उसने गल-धारणा कर ली। उसके पश्चात् वह प्राय: दर्शन करने के
डालगणी के नाम की महिमा ने उसे विस्मित ही नहीं किया था,
बना दिया था। उसके परिवार ने तो उसी समय से मांसाहार का परित्याग कर दिया [illegible],
पर सुना जाता है कि उसकी लड़कियाँ भी जहाँ ब्याही गईं वहाँ भी उन्होंने
निरामिष-भोजी बना दिया।

अस्वस्थता

शरीर का अपना स्वभाव है कि वह अपने संध्या-काल में निर्बल हो जाता है। [illegible]
पर अस्वस्थता के आक्रमण उसे और भी निर्बल बना देते हैं। डालगणी का शरीर [illegible]
रहा था परन्तु वृद्धावस्था में उस पर भी रोग छाने लगे। सं. १९६४ में उन्होंने [illegible]
चौमासा किया था। वहाँ श्रीचन्दजी गधैया ने उन्हें सरदारशहर पधारने की प्रार्थना की। डालगणी
ने उसे स्वीकार कर लिया और चातुर्मास की समाप्ति पर वहाँ से विहार कर [illegible]
डागीं पधारे। यद्यपि वह विहार दो कोस का ही था परन्तु मार्ग में उनके [illegible]
हो गई, अत: बड़ी कठिनता से वहाँ तक पहुँच पाये।

श्रीचन्दजी आदि श्रावकगण के साथ ही सेवा में थे। उन्होंने जब उनके शरीर की
अस्वस्थता देखी तो प्रार्थना की कि इस समय हमारे वहाँ पधारने का अवसर नहीं है। [illegible]
आसपास के क्षेत्रों में विहार करें और स्वास्थ्य लाभ होने पर हम लोगों को दर्शन [illegible]
कृतार्थ करें।

डालगणी को भी अपने शरीर की निर्बलता से यह भान होने लगा कि अब [illegible] विहार
करना संभव नहीं है। तब वे छोटे-छोटे विहार कर चाड़वास और सुजानगढ़ होते हुए [illegible]
कृष्णा वदी को लाडनूं पधार गये।

रोगों का घेरा

वह उनका अंतिम प्रवास था। उसके पश्चात् अनेक बार प्रयत्न करने पर भी अन्यत्र नहीं
पधारने में उनके शरीर ने साथ नहीं दिया। धीरे धीरे अन्य रोग भी उन्हें घेरने लगे। उनके
शरीर में कुछ-कुछ शोथ रहने लगा। मल-मूत्र वस्तों की भी गड़बड़ होने लगी। रोगाक्रांत
हो जाने पर उन्हें सं. १९६४ का मर्यादा-महोत्सव और अगला चातुर्मास वहीं करना पड़ा।

विहार का प्रयत्न

चातुर्मास के पश्चात् पौष महीने में उन्होंने एक बार वहाँ से विहार करने का विचार किया
था। लगातार एक वर्ष तक एक ग्राम में रहने से सम्भवत: उनका मन कुछ उचट गया था।

नगर के प्रमुख व्यक्तियों ने मिलकर उन्हे वही रहने के लिए बहुत प्रार्थना की, पर वे नहीं माने। वहाँ के ठाकर ने भी दूसरे दिन आकर बहुत प्रयास किया, परन्तु उन्होने यही फरमाया कि एक बार तो विहार करके देखने का विचार है, जा सकूँगा तो ठीक है, अन्यथा यहाँ तो रहना ही है।

उन्होने बीदासर जाने के लिए 'गनोडा' की ओर विहार किया, परन्तु एक कोस में ही उन्हें बीस-पचीस विश्राम लेने पडे। उतनी-सी दूर मे लगभग एक प्रहर दिन चढ गया। साधुओ तथा श्रावको ने प्रार्थना करते हुए कहा कि अभी तो एक कोस ही पहुँच पाये है, ऐसी स्थिति में बीदासर कैसे पहुँचा जा सकता है ? कही मार्ग के गाँव में ही अटकना पड जायेगा तो वहाँ औषधि आदि का योग मिलना भी कठिन है। अच्छा हो कि आप यहाँ से वापस लाडणू पधार जाएँ। डालगणी ने भी वापस जाना ही उचित समझा, अत वहाँ से वापस मुड गये और गाँव बाहर तखतमलजी फूलफगर की हवेली में विराज गये। वहाँ विराजने में भी उनका विचार यही था कि कुछ ठीक हो जाएँ, तो सीधे यही से विहार कर दें। लगभग एक सप्ताह तक वहाँ रहने पर भी जब स्थिति नही सुधरी, तब उन्होंने कुछ समय के लिए विहार की आशा छोड दी और वापस नगर में पधार गये।

विवशता

स० १९६६ का चातुर्मास भी उन्हे वहीं करना पडा। वह उनका अन्तिम चातुर्मास था। चातुर्मास प्रारम्भ होने के अन्तिम दिन तक उनके मन का साहस उन्हें लाडणू से विहार कर अन्यत्र चातुर्मास करने को प्रेरित करता रहा, परन्तु शरीर ने उसका साथ नही दिया। विवश होकर उन्हें वही रहने का निर्णय करना पडा। उन्होने चातुर्मासिक चतुर्दशी के मध्याह्न तक अपने लिए चातुर्मास की घोषणा नही की थी। सायकाल होने पर ही उन्होंने उसे स्वीकार किया। फडद (तेरापन्थ के साधु-साध्वियों के चातुर्मासिक स्थानों की सूची प्रस्तुत करने वाली प्रति) में भी वह उसके बाद ही लिखने दिया गया।

जम्मड़जी की प्रार्थना

सरदारशहर के कालूरामजी जम्मड ने लाडणू में आचार्यदेव के दर्शन किये। वे उनके शरीर की स्थिति देखकर बहुत चिन्तत हुए। वे एक श्रद्धालु श्रावक होने के साथ-साथ विचार-शील तथा सघ के हित-चिन्तक व्यक्ति भी थे। उन्होने आचार्यदेव को आगामी व्यवस्था कर देने की प्रार्थना की। डालगणी ने 'ध्यान में है' कहकर उस बात को सहज ही टाल दिया। कालूरामजी ने तब अपनी बात पर जोर देते हुए दूसरी बार प्रार्थना की कि आपके ध्यान में तो सब कुछ है ही, परन्तु इस बात का हमें भी पता लग जाए तो ठीक रहे। डालगणी ने फिर भी उस बात को 'देखा जायेगा' कहकर टाल दिया। जम्मडजी ने तब तीसरी बार अधिक स्पष्ट होते हुए कहा—"आप जिस किसी का भी चुनाव करेंगे, वे इन्ही विद्यमान उनहत्तर सन्तों

में से एक होंगे। किसी को अब दीक्षित करके आचार्य-पद समय हाथ में नहीं है तब फिर आपको इस कार्य में आपके हमारे और सारे संघ के हित के लिए यही ठीक होगा कि अधिक शीघ्रता करें।

इस बार कालूगणी ने भी कुछ स्पष्ट होते हुए कहा—"मगनलालजी ! मैं का जला हुआ छाछ को भी फूंक मारता है।' तुम्हारी इस प्रार्थना के पीछे भावना है वह मेरे से छिपी नहीं है। मैं स्वयं इसके लिए सावधान हूं। कर्तव्य को पूरी तरह से निबाहने का ही मेरा विचार है। अवसर आने पर मैं अवश्य पूरा कर देने का विचार रखता हूं।"

सन्त-सतियों की प्रार्थना

मगनलालजी की उपर्युक्त प्रार्थना के कई दिन पश्चात् तक भी जब कोई कार्य आया तब साधु-साध्वियों ने पुनः एतद्विषयक प्रार्थना करने की बात सोची। लेकर उनके पास जाना अवश्य ही एक टेढ़ा कार्य था परन्तु उतना ही मगनलालजी स्वामी आदि सन्तों ने उसके लिए अमुक दिन देखकर प्रार्थना किया उसमें यह भी ध्यान रखा गया कि साध्वी प्रमुखा जेठांजी भी वहीं उपस्थित हों।

प्रथम श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पूर्व निश्चयानुसार स्वामी ने कहा— आप शतायु हों यही हम सबकी अभिलाषा है। परन्तु हम चाहते संघ के लिए भावी आचार्य का प्रबन्ध अभी से हो जाये तो एक चिन्ता मिट जाये। युवाचार्य के नाम को अभी प्रकट करना न चाहें तो युवाचार्य-पत्र को लिफाफे में प्रच्छन्न रख दें।" जेठांजी ने भी उनकी उस बात का समर्थन करते हुए कहा—"यह कार्य ही कर दिया जाये तो अत्युत्तम होगा। आज का दिन अति श्रेष्ठ है।

रूपचन्दजी यहाँ हैं ?

साधु-साध्वियों की उस सम्मिलित प्रार्थना पर ध्यान देते हुए उन्होंने मगनलालजी से पूछा कि रूपचन्दजी सेठिया यहीं पर हैं या सुजानगढ़ चले गए ? मगनलालजी ने बतलाया कि वे कल सुजानगढ़ चले गये। कालूगणी ने तब फरमाया कि उनके आने के पश्चात् ही इस विषय में कुछ करने या कहने का विचार है।

श्रावक-वर्ग ने तत्काल रूपचन्दजी सेठिया के पास ये समाचार भेजे और उन्हें के लिए कहा। वे यथाशीघ्र लाडनूं पहुँचे और गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए। ने कुछ देर तक उनसे बातचीत की।

पत्र-लेखन

उसके पश्चात् उन्होने सन्तो को स्याही, कलम तथा पत्र लाने के लिए कहा। सन्तों ने सारी वस्तुएँ उनके पास ला कर रख दी, तव उन्होने सवको जाने का सकेत करते हुए एकात में वैठकर युवाचार्य-पत्र लिखा और एक लिफाफे में वन्द करके अपने पूठे में रख दिया।

सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होने सव सन्तो को अपने पास वुलाया और फरमाया कि मेरे शरीर में काफी दिनो से गडवड चल रही है। कोई भी औपधोपचार अनुकूल नही पड रहा है। क्षीण से क्षीणतर होते हुए मेरे स्वास्थ्य को देखकर सघ के हर व्यक्ति को भावी सचालक की नियुक्ति के लिए चिंता हो, तो वह विल्कुल स्वाभाविक ही है। मैंने आज अपने आप को तथा तुम सवको इस चिंता से मुक्त कर दिया है। यहाँ उपस्थित पैंतीस सतो में से ही मैंने एक साधु का नाम चुना है और उसे युवाचार्य-पत्र पर लिखकर अपने पूठे में रख दिया है। संतों ने इस वात पर वडा हर्प प्रकट किया और उस नाम की जिज्ञासा भी व्यक्त की, परन्तु डालगणी ने उसे यह कहकर शान्त कर दिया कि अवसर आने पर नाम का पता भी लग जायेगा।

नाम-गोपन

उसके पश्चात् उन्होने सतो को सामूहिक रूप से शिक्षा प्रदान की। अनेक साधु-साध्वियो को सघ की विशिष्ट सेवा करने के उपलक्ष में पुरस्कृत किया। उस दिन के पश्चात् भी समय-समय पर वे शिक्षाएँ देते रहे, परन्तु प्रकट रूप में यह कभी भी पता नही लगने दिया कि उन्होने अमुक व्यक्ति का चुनाव किया है। औरों की तो वात ही क्या, जिसे चुना गया था, उसे भी अपनी ओर से यह भलक नही पडने दी।

क्रमिक क्षीणता

उस कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् वे कुछ निश्चिन्त अवश्य हुए, परन्तु शरीर की स्थिति धीरे-धीरे गिरती ही गई। चातुर्मास प्रारभ होने के पहले से ही उन्हें अन्न की अरुचि रहने लगी थी। फिरना-घिरना प्राय बन्द हो गया था। वैसी स्थिति में भी उन्होंने चातुर्मास की प्रारंभिक चतुर्दशी का उपवास किया। उसके पश्चात् वे चार दिन तक केवल मिर्च-पताशी का पानी (उकाली),ही लेते रहे। उनके लिए वह एक पचोले की सी तपस्या हो गई। उनकी शक्ति क्रमश अधिकाधिक क्षीण होती जा रही थी।

व्याख्यान-प्रेमी

वे व्याख्यान देने के वडे प्रेमी थे, अत ऐसे रुग्ण-अवस्था में भी कुछ दिन पूर्व तक प्रति-दिन लगभग दो घन्टा व्याख्यान दिया करते थे। जनता तो उनके व्याख्यान से कभी अघाती ही नही थी, किन्तु वे स्वय भी व्याख्यान से नही थकते थे। विगत सवत्सरी (स० १९६५) के दिन दो साधुओं का सहारा लेकर वे व्याख्यान-स्थल पर गये। पर विराजने के पश्चात् लगभग नौ मुहूर्त तक लगातार उन्होंने व्याख्यान दिया। अब जब कि कारण बढ जाने से

शरीर-त्याग

प्रतिक्रमण समाप्त होने के पश्चात् उन्होंने फरमाया कि अब मुझे सुला दो। सेवा में बैठे हुए साधुओं ने हाथ का सहारा देकर उन्हें सुला दिया, किन्तु सोते ही उन्होंने आँखें फेर दी। मगनलालजी स्वामी पूर्ण सावधानी से उनके पास में ही उपस्थित थे। उन्होंने जब देखा कि गुरुदेव तो जा रहे हैं, तब तत्काल उन्हें चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान कराया और अतिम समय के उपयुक्त शरण आदि सुनाये। प्राय सभी सत वहाँ उपस्थित थे। सबके देखते-देखते उन्होने शरीर-त्याग कर दिया। स० १९६६ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के सूर्यास्त को अभी पूरा एक घन्टा भी नही हो पाया था कि जैन शासन का एक तेजस्वी सूर्य भी अस्त हो गया।

दाह-सस्कार

आसपास के अनेक शहरों तथा ग्रामो में उनके दिवगत होने का समाचार रातो-रात ही पहुँच चुका था, अत तभी से हजारो की सख्या में लोग बाहर से आने प्रारभ हो गये थे। दूसरे दिन लगभग दस बजे उनकी बैकुठी उठाई गई। तब तक वहाँ इतनी जनता एकत्रित हो चुकी थी कि मूल स्थान से बाजार तक लोग ही लोग दृष्टिगत होने लगे थे। उनके शरीर का दाह-सस्कार गढ के सामने तुलसीरामजी खटेड के नोहरे में किया गया।

विहार-क्षेत्र

डालगणी के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य थली, मारवाड, मेवाड़ और ढूढाड आदि तथा मालव, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ आदि प्रमुख रूप से रहे थे।

चातुर्मास

डालगणी ने साधारण साधु-अवस्था में सात चातुर्मास किये थे। उनमें से क्रमश एक चातुर्मास हीरालालजी स्वामी के साथ, चार जयाचार्य के साथ, एक दुलीचन्दजी स्वामी तथा एक कालूजी स्वामी के साथ किया। अग्रणी-अवस्था में उन्होने चौवीस चातुर्मास किये थे। उनमें सोलह चातुर्मास तो स्वय ने तथा आठ औरो के साथ किये थे। औरो के साथ में से स० १६३२, ३३, ३७, ३८ के चार चातुर्मास तो जयाचार्य के साथ और स० १६३४, ३५, ४०, ४३ के क्रमश एक-एक रूप से तपस्वी गुलहजारी, चिमनजी स्वामी, छोटूजी स्वामी और मघवागणी के साथ किया। आचार्य-अवस्था में उन्होंने बारह चातुर्मास किये। इस प्रकार उन्होंने सर्व तैंतालीस चातुर्मास किये थे। उनका पृथक्-पृथक् विवरण निम्नोक्त प्रकार से है

साधारण साधु-अवस्था मे

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
जयपुर	२	१६२४,२८
जोधपुर	१	१६२५
बीदासर	१	१६२६
लाडणूं	१	१६२७
ब्यावर	१	१६२६
उदयपुर	१	१६३०

अग्रणी-अवस्था मे

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
कानोड	१	१६३१
लाडणू	२	१६३२,३३
चूरू	१	१६३४
बोरावड	१	१६३५
बीदासर	१	१६३६
जयपुर	२	१६३७,३८
छापर	१	१६३६
जोबनेर	१	१६४०

नवम परिच्छेद

आचार्य श्री कालूगणी

: १ :

गृहि-जीवन

पुण्यवान् आचार्य

श्री कालूगणी तेरापन्थ के अष्टम आचार्य थे। वे बडे प्रभावशाली और पुण्यवान् आचार्य थे। उनका प्रभाव इतना तीव्र था कि विरोधी-जन भी उससे अभिभूत हुए बिना नही रह सकते थे। उनकी पुण्यवत्ता भी अद्वितीय थी। जो कार्य सैकडों व्यक्तियो के परिश्रम और धन से भी सम्भव नही होता, वह उनकी पुण्यवत्ता से स्वय ही हो जाया करता था। उनके शासन-काल में अनेक कार्य इस प्रकार से सम्पन्न हुए थे कि मानो उनके पीछे किसी अदृश्य शक्ति का सहयोग रहा हो। उनके युग में यद्यपि अनेक विरोध और बवन्डर उठे थे, परन्तु वे सब इस प्रकार से शात हुए, मानो वे उन्हें और अधिक चमकाने के लिए ही आये थे। उनके युग में तेरापन्थ-समाज की भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों ही प्रकार की उन्नति हुई।

कालूगणी एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। वे तात्कालिक आवश्यकता को महत्त्व न देकर अपनी स्थिर धारणा के आधार पर ही चला करते थे। वे न किसी की चापलूसी मे प्रभावित होते थे और न किसी की धमकी से। किसी भी बात को बिना सोचे-समझे मान लेने की प्रवृत्ति उनमें नही थी, साथ ही सोच-समझकर स्वीकार की गई बात को वे तब तक छोडते भी नहीं थे, जब तक कि उसके विरुद्ध कोई सुदृढ प्रमाण उन्हें प्राप्त नहीं हो जाता था।

जन्म

कालूगणी का जन्म राजस्थान के अन्तर्गत बीकानेर डिवीजन के छापर नामक कस्बे में स० १९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को हुआ था। जन्म-राशि के अनुसार उनका मूल नाम 'शोभाचन्द' दिया गया था, परन्तु वे माता-पिता द्वारा प्रदत्त 'कालूराम' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। उनके पिता का नाम मूलचन्दजी कोठारी तथा माता का नाम छोगाजी था। मूलचन्दजी मूलत ढढेरू ग्राम के निवासी थे, किन्तु वहाँ ठाकर से अनबन हो जाने के कारण स० १९१८ में वे छापर आकर बस गये थे। छोगाजी के पिता नरसिंहदासजी लूणिया भी पहले कोटासर में रहा करते थे, किन्तु स० १९४० में वे भी डूगरगढ आकर बस गये थे।

थली का काया-कल्प

कालूगणी का जन्म ऐसे समय में हुआ था, जबकि थली-निवासी ओसवाल-समाज के लिए एक सक्रमण-काल का प्रारम्भ हो रहा था। वे लोग उस समय कृषिकर्म से हटकर वाणिज्य की ओर झुकने लगे थे। उनका ध्यान छोटे गाँवो को छोडकर शहरों में बस जाने की ओर

समक्ष अपनी भावना रखी और सयम प्रदान करने की प्रार्थना की। मघवागणी सबकी भावना से अवगत हुए, किन्तु कालूगणी की अवस्था उस समय तक कल्प की सीमा में नहीं आई थी। अत उन सबको अपना-अपना तत्त्वज्ञान बढाते रहने की प्रेरणा देते हुए, उन्होंने फरमाया— "अवसर आने पर इस विपय में विचार किया जायेगा।"

तत्त्व-शिक्षा

उसके पश्चात् मघवागणी तो विहार करते हुए मारवाड की ओर पधार गये, फिर भी कालूगणी के विरागभाव को बल देने तथा तत्त्वज्ञान सिखाने के लिए वे साधु-साध्वियो को डूगरगढ तथा छापर, जहाँ भी वे होते, वहाँ भेजते रहते थे। जब वे मारवाड तथा मेवाड में भ्रमण करने के पश्चात् वापस थली में पधारे, तब लाडणू में छोगाजी ने फिर दर्शन किये और दीक्षा के लिए प्रार्थना की। इस पर मघवागणी ने उन्हें साधु-प्रतिक्रमण सीखने की आज्ञा प्रदान की।

दीक्षा-ग्रहण

बीदासर-चातुर्मास में वे फिर दर्शन करने के लिए गये, तब उन्हें दीक्षा की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। स० १९४४ आश्विन शुक्ला तृतीया के दिन बडे उत्सव के साथ कालूगणी तथा उनके साथ ही छोगाजी और कानकवरजी को सहस्रों मनुष्यों की उपस्थिति में सयम-व्रत प्रदान किया गया।

। २ ।

निर्विघ्न साधना के धनी

स्थिरयोग

दीक्षा लेने के पश्चात् कालूगणी ने मघवागणी की सेवा में रहते हुए [illegible] की। बालक होते हुए भी उनके योग बड़े स्थिर थे। वे अपना हर कार्य बड़ी उपयोगिता से किया करते थे। उनकी बुद्धि भी बड़ी तेज थी। जो बात एक बार बताई जाती थी उसे फिर दुबारा बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती थी। [illegible] से समझ जाया करते थे। बाल्यावस्था से ही उनमें यह असाधारण योग्यता थी।

वरद हस्त

मघवागणी का वरद हस्त उन पर था। दीक्षा लेते ही वे [illegible] उनके प्रत्येक कार्य की देख रेख तथा सम्यक् दिशा निर्देश स्वयं आचार्यदेव किया करते थे। उन्हें समय-समय पर अनेक शिक्षाएँ भी देते रहते। भोजन करने के पश्चात् जब थोड़ी देर इधर-उधर घूमा करते थे तब प्रायः उनके कंधों पर हाथ रखकर ही [illegible]। उस समय बीच-बीच में ठहर कर वे उन्हें अनेक उपयोगी बातें बतलाते रहते थे।

शीत से प्रकंपन

कालूगणी अपना अधिकांश समय मघवागणी की सेवा में ही बिताया करते थे। प्रतिलेखन और प्रतिक्रमण आदि भी वे उनके पास बैठकर ही किया करते थे। मघवागणी भी उनकी विनीतता तथा सेवा-परायणता से बड़े प्रसन्न थे। वे वात्सल्यभाव से उनकी देख भाल किया करते थे।

एक बार शीतकाल में वे मघवागणी के पास ही बैठकर प्रतिलेखन कर रहे थे। जब शरीर पर से वस्त्र उतार कर वे उनका प्रतिलेखन करने लगे तो शीत के कारण उनका सारा शरीर धूजने लगा। मघवागणी ने उन्हें धूजते देखा तो तत्काल अपनी पछेवड़ी उतार कर उन्हें ओढ़ाते हुए कहा— सारे वस्त्र एक साथ ही मत उतारा कर। एक वस्त्र का प्रतिलेखन कर पहले उसे ओढ़ लिया कर और उसके पश्चात् दूसरे वस्त्र का प्रतिलेखन किया कर।"

ममता के अनुरूप

कालूगणी के जीवन पर मघवागणी की जो अमिट छाप पड़ी थी वही प्रेरणा-पुंज बनकर उन्हें आजीवन प्रेरित करती रही। वे अपने आचार्य-काल में भी जब कभी मघवागणी को याद करते तब इतने भक्ति विह्वल हो जाया करते थे कि मानो अब भी उनके सामने [illegible]

मघवागणी विद्यमान हो और वे एक लघु शिष्य हो। उस समय उनकी आकृति के उतार-चढाव वस्तुत दर्शनीय और महनीय हुआ करते थे।

उन्होने बाल्यकाल से ही अपने आपको मघवागणी के अनुरूप ढालने का प्रयास किया था। उन्होंने जहाँ आचार-व्यवहार की पवित्रता और हृदय की सरलता आदि अनेक अन्तरग गुण उनसे ग्रहण किये थे, वहाँ बाह्य विशेषताओं में भी उनसे बहुत कुछ समानता प्राप्त की थी। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी लिपि को भी मघवागणी की लिपि के अनुरूप बना लिया था। यदि दोनों की लिखी हुई प्रतियाँ सामने रख कर किसी को परखने के लिए कहा जाए, तो वह कठिनता से ही यह निश्चय कर सकेगा कि ये एक ही व्यक्ति की लिखी हुई है, या दो की।

प्रेरणा-बीज

मघवागणी की सेवा प्राप्त करने का उन्हें लगभग पाँच वर्ष का ही अवसर मिला। उस थोडे से समय में उन्होंने उनसे जो कुछ ग्रहण किया था, वही विकसित होकर बाद में सबके सामने आया। यदि उनको उस सेवा का कुछ और अधिक अवसर मिल पाता, तो सम्भव है वह स्थिति तेरापन्थ की और भी अधिक तीव्र गति से प्रगति करने में सहायक होती। सेवा का थोडा ही अवसर प्राप्त होने का स्वय कालूगणी के मन में भी दु ख था। वे अपने आचार्य-काल में अनेक बार उस कमी की बात को दुहराया करते थे।

वे महान् थे, अत उनकी कल्पनाएँ भी उसी अनुपात से महत्त्व लिए हुए हुआ करती थीं। सेवा का अधिक अवसर प्राप्त कर वे अपनी उन्नति का लक्ष्य कहाँ स्थापित करना चाहते थे, यह तो वे ही जानें, पर इतना तो नि सकोच कहा जा सकता है कि उन्होने उस थोडे-से अर्से में जो प्रेरणा-बीज अपने में पनपाये थे, वे बाद में तेरापन्थ के गौरव को बढाने में आशातीत रूप से सफल सिद्ध हुए।

मूक सेवा-वृत्ति

मघवागणी के पश्चात् लगभग साढे चार वर्ष तक माणकगणी का तथा बारह वर्ष तक डालगणी का शासन-काल रहा। उसमें भी वे पूर्ववत् सेवा-परायणवृत्ति से रहते रहे। माणकगणी जब देवलोक हुए, तब पीछे से शासन-व्यवस्था को सुस्थिर बनाये रखने में भी उनका पूरा-पूरा सहयोग रहा। डालगणी के चुनाव तक वे एक भाव से मूक सेवा करते रहे। अधिक बोलने तथा प्रचार करने का उनका स्वभाव नही था। अत वे बिल्कुल निर्लिप्त-भाव तथा कर्त्तव्य-बुद्धि से ही हर कार्य को किया करते थे।

विकल्प में

उन्होने अपने दीक्षाकाल के थोडे से वर्षों में ही काफी प्रभाव स्थापित कर लिया था।

णकगणी के देवलोक

होने के पश्चात् उन्हें आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित करने तक की बातें थीं। यदि उस समय उनकी अवस्था थोड़ी-सी और बड़ी होती, तो पद पर बिठा दिया जाता।

यद्यपि अन्तरंग रूप से पहले चिन्तन की यह बात उस समय की थी पर डालगणी के चुनाव के तत्काल बाद ही जब स्वयं डालगणी ने यह कहा, यदि मैं इस पद को स्वीकार करने से साफ ही मुकर जाता तो तुम लोगों ने किसका नाम सोचा था? तब मंगलचन्दजी स्वामी ने उन बारे स्पष्ट की थी। डालगणी की दृष्टि तभी से उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गई थी।

किसकी सम्भावना है?

स्वयं कालूगणी अपने विषय में बिलकुल निश्चिन्त तथा निःस्पृह रहा करते थे। उन्होंने विषय में की जाने वाली उपर्युक्त बातों में न कभी उत्सुकता व्यक्त की और विषय की उस महत्त्वपूर्ण भावना को प्रबल बनाने का ही प्रयास किया। दूसरा कोई उनके सामने उस बात को चलाता तो वे ऐसा उत्तर देते कि वह बात वहीं

डालगणी के चुनाव से पहले एक साधु ने उनके पास इसी प्रकार की पूछा— आपके दृष्टिकोण से किसको आचार्य बनाये जाने की सम्भावना है?

उन्होंने उसे उत्तर देते हुए कहा—"मेरी और तुम्हारी तो सम्भावना है किसी को भी बनाया जाए, हमें उसके लिए इतना व्यग्र होने की क्या आवश्यकता है?"

उनके उस एक उत्तर ने ही उस साधु को ऐसा निरुत्साह कर दिया कि फिर कुछ पूछने का उसे साहस ही नहीं हुआ।

बातेड़ी की चिनगी

उनके कुछ व्यवहार्य आदर्श ही ऐसे थे कि वे साधारणतया दूसरों से भिन्न हुआ करते थे। अपने गौरव के विषय में इतने उदासीन रहने पर भी उन्हें जो प्राप्त हुआ उसमें उनके आदर्शों का ही प्राधान्य था। वे अपने आप में और सावधान रहा करते थे। जिस कार्य को कोई बुरा बता सके उससे बचाया करते थे। अपने विषय में ही नहीं किन्तु दूसरों के विषय में भी वे किया करते थे। उनका यह एक सिद्धान्त था कि बातेड़ी की चिनगी बनाने वाले का कार्य सुधरना नहीं अपितु बिगड़ना ही है।

पास बैठने को स्थान

वे बहुत कम बात किया करते थे अतः उनके पास बैठने वालों करनी थी। अधिक भीड़ भाड़ उन्हें पसंद नहीं थी। अपने पास

ध्यान रखा करते थे कि कोई अनर्गल बातें तो नहीं कर रहा है। इसके अतिरिक्त वे उनको आचरणो की विशुद्धि पर ध्यान रखने के लिए प्रमुख रूप से कहा करते थे। आचरणहीन व्यक्ति को वे किसी भी प्रकार का प्रश्रय देना पसद नही करते थे।

उनके पास बहुधा बैठने-उठने वाले एक व्यक्ति ने एक बार उनके उस स्वभाव के विषय में बतलाते हुए कहा था कि आचार्य-अवस्था से पूर्व की बात है—एक बार एक व्यक्ति की आचार-हीनता विषयक कोई बात फैल गई थी। आम जनता में उस समय वह एक चर्चा का विषय बन गया। हम लोग जब कालूगणी की सेवा मे बैठे और परस्पर वही बात करने लगे, तो वे हमें टोक कर विशेष सावधान करते हुए बोले—"उसकी बात तो तुम लोग कर रहे हो, पर अपने विषय में पूर्ण सावधान रहने का निश्चय किया है या नही ? यदि तुम लोगो में से किसी का भी एतद्विषयक अपवाद सुना गया, तो फिर मेरे पास बैठने के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा।" चरित्र-हीनता के प्रति उनका यह कठोर रुख आजीवन समान रूप से ही रहा।

परख का सिद्धान्त

चापलूसी से भी उनके मन में बेहद घृणा थी। जब कोई अपना काम निकालने की वृत्ति से बात करता, तो वे बडे खिन्न हुआ करते थे। उनकी धारणा थी कि जो अधिक मीठी बातें बनाता है, वह अन्दर से अधिक कड़वा भी होता है। किसी की मीठी या कड़वी बातो को नहीं, किन्तु उसकी क्रियाओ में उतरने वाली सत्यता को ही आधार मानकर व्यक्ति को परखा करते थे। यह उनकी परख का एक सिद्धान्त था।

१ :

संस्कृत विद्या का वट-वृक्ष

फलोद्गम तक

तेरापन्थ में पहले जयाचार्य ने संस्कृत का अध्ययन किया था। किन्तु [illegible] समान ही कहा जा सकता है। मघवागणी को उसे अंकुरित रखने का [illegible] नाना विधाओं में फैलाकर बहु-शाखी बनाने तथा पुष्पित और फलित बनाने का एक मात्र कालूगणी को ही दिया जा सकता है। यद्यपि इसके बीजवपन जैसी क्रिया का महत्त्व कम नहीं हो जाता फिर भी उसे परिपूर्ण वृक्ष बनाने स्थिति तक पहुंचाने की प्रक्रिया बहुत लम्बी और श्रम-साध्य होती है—[illegible] भी भुलाया जा सकता। कालूगणी ने इस श्रम-साध्य कार्य को बड़े धैर्य के साथ सम्पन्न किया। [illegible] को विद्या के क्षेत्र में आज जो सुफल प्राप्त हो रहे हैं उनमें जयाचार्य की मघवागणी की सत्प्रेरणा और कालूगणी की सतत परिश्रमशीलता का सम्मिलित [illegible] मूल है।

अध्ययन की कठिनाइयाँ

जयाचार्य ने संस्कृत-पठन की जो प्रवृत्ति चालू की थी मघवागणी उसे आगे बढ़ाना चाहते थे। उन्होंने उस कार्य के लिए कालूगणी को चुना। वे अपनी दृढ़ संकल्प-शक्ति और तीव्र बुद्धि के कारण सर्वथा उपयुक्त पात्र थे। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार संस्कृत-पठन आज की तरह सहज साध्य कार्य नहीं था। सर्वप्रथम बाधा तो यह थी कि उसे पढ़ाने वाला [illegible] था। संघ में सांगोपांग संस्कृत व्याकरण का पाठ करने वाला कोई नहीं था। उस कमी को पूरा करने के लिए किसी पंडित का सहयोग प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक था। किन्तु उस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि निःस्पृहभाव से विद्या का दान देने वाले पंडितों का अभाव सा ही था। अर्थदान के विनिमय में विद्यादान ग्रहण करने की पद्धति [illegible] श्रमण होने के नाते स्वीकार्य नहीं थी।

ऐसी परिस्थिति में पल्लवग्राही ज्ञान भी दुःसाध्य था तो उस विषय के परिपूर्ण ज्ञान की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती थी? इसीलिए अधिकांश साधु संस्कृत पढ़ना प्रारंभ ही नहीं करते थे। कोई कोई प्रारंभ कर देते तो निरंतर पाठ नहीं चल सकने के कारण [illegible] वे और आगे के लिए उस क्रम को बंद कर दिया करते थे। उस समय कालूगणी जैसे विरल और दृढ़संकल्प व्यक्ति ही उस असहज कार्य को सहज बनाने में सफल हो सकते थे।

जैनागमों की चाबी

कालूगणी को संस्कृत-भाषा का अध्ययन करने की मूल प्रेरणा मघवागणी से ही प्राप्त हुई थी। मघवागणी जैनागमों का गंभीर-ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत-भाषा को आवश्यक समझा करते थे। जब कभी वे संस्कृत-पठन की प्रेरणा दिया करते थे, तब उसे जैनागमों की चाबी बतलाया करते थे। कालूगणी के मन में उन्होंने प्रारम्भ से ही ये संस्कार भर दिये थे। यद्यपि मघवागणी के समय में उनका प्रारंभिक ज्ञान पूरा नहीं हो पाया था फिर भी उनके मन में उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति की जो उद्दाम भावना पैदा कर दी थी, वह अंत तक अपना कार्य करती रही।

अध्यापक का अभाव

मघवागणी के दिवंगत होने के पश्चात् कालूगणी का वह विद्याभ्यास एक प्रकार से कुछ समय के लिए बन्द ही हो गया था। जो प्रेरणास्रोत उनके व्यक्तित्व को एक निर्णीत ढाँचे में ढाल रहा था, वह अचानक अवरुद्ध हो जाने से वे स्वयं अपने आपमें एक शून्यता का अनुभव करने लगे थे। इच्छा होते हुए भी अध्यापक के बिना उन्हें अपना अभ्यास चालू रखने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होने लगी। दिशा-निर्देश के अभाव में आखिर उन्हें अपना संस्कृत-अध्ययन बंद कर देना पड़ा।

आगम-मंथन की ओर

क्रियाशीलता कहीं पर भी रुकती नहीं। जल के प्रवाह को एक ओर से रोका जाये तो वह दूसरी ओर से अपना मार्ग बना लेता है। कालूगणी ने जब संस्कृत-अध्ययन विषयक अपना मार्ग अवरुद्ध देखा, तो उन्होंने अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए अपनी क्रिया-शीलता का मुख दूसरी ओर मोड़ दिया। वे आगम-अध्ययन में लग गये। अनेक वर्षों तक लगातार अध्ययन और मनन करते रहे। आगम-समुद्र का उन्होंने जो मंथन किया, उससे प्राप्त ज्ञान-मुक्ताओं से उनका व्यक्तित्व और भी अधिक निखर उठा था।

रिक्त स्थान

उनके आगम-मंथन का आधार स्वामीजी तथा जयाचार्य द्वारा लिखित राजस्थानी ग्रंथ, गुजराती भाषा के टब्बे तथा मूल आगम पाठ ही था। यद्यपि उन्होंने आगम-रहस्य तक पहुँचने के लिए उन सब का खूब उपयोग किया, फिर भी संस्कृत-टीकाओं के द्वारा जो प्राप्य हो सकता था, उसका स्थान तो रिक्त ही था। उसकी पूर्ति की प्रतीक्षा उन्होंने कभी नहीं छोड़ी।

प्रेरक श्लोक

कालूगणी का संस्कृत-पठन एक बार छूटा, तो वह फिर लम्बे समय तक प्रारम्भ नहीं हो सका। अनेक वर्षों की उस बाधा ने उनके संस्कृत सम्बन्धी संस्कारों को मूर्च्छित-सा कर दिया

था। परन्तु एक घटना ने उनके संस्कारों को पुनः उद्बुद्ध कर दिया। [illegible] का बीदासर में पदार्पण हुआ। वहाँ के ठाकुर हुकमसिंहजी साधुओं के [illegible] रहा करते थे। वे विशेष रूप से संस्कृत जानते तो नहीं थे, परन्तु [illegible] होने के कारण कुछ-न-कुछ पढ़ते या सुनते रहते थे। एक बार उन्होंने संस्कृत का श्लोक भेजा। उन्हें अर्थ की जिज्ञासा थी। डालगणी ने वह श्लोक [illegible] दिया जिन्होंने कि संस्कृत का यत्किंचित् अभ्यास किया था किन्तु कोई भी [illegible] बता सका।

उस घटना ने कालूगणी के मन में एक उथल-पुथल मचा दी। एक सामान्य से श्लोक का अर्थ न बता सकने के कारण उन्हें बड़ी आत्मग्लानि हुई। [illegible] मघवागणी द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं तथा मूर्च्छित प्राय संस्कारों का पुनर्जीवन [illegible] उन्होंने उसी समय यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उन्हें संस्कृत का अध्ययन [illegible] ही है।

चाह को राह

अपने निश्चयानुसार उन्होंने तत्काल ही 'सारस्वत' का पूर्वार्ध कंठस्थ करना [illegible] दिया। उन्हें किसी अध्यापक की आवश्यकता अवश्य थी और वे उसकी खोज में भी थे, [illegible] उसके बिना भी वे अपने पाठ को रुकने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने ही [illegible] प्रेरणा से समग्र पूर्वार्ध को थोड़े ही दिनों में कंठस्थ कर लिया। उसके आगे अब क्या और कैसे करना चाहिये इस बात को वे सोच ही रहे थे कि उन्हीं दिनों में डालगणी का चूरू में पदार्पण हुआ। वहाँ बनारस निवासी पंडित घनश्यामदासजी का कालूगणी से परिचय हुआ। वे उन दिनों चूरू में ही रहा करते थे। वहाँ के सुराणा-परिवार से उनका विशेष सम्बन्ध था। [illegible] सुराणा वहाँ के प्रमुख श्रावक थे। वे स्वयं संस्कृत के प्रति विशिष्ट रुचि रखा करते थे। उन्हीं के माध्यम से यह परिचय हुआ था। पंडितजी साधुओं के आचार-व्यवहार से परिचित हुए और साथ-ही-साथ प्रभावित भी। कालूगणी ने उनके सामने अपने पठन की [illegible] की तो उन्होंने तत्काल उसे स्वीकार ही नहीं कर लिया अपितु उसे अपना सौभाग्य भी माना।

चाह को राह मिल ही जाया करती है अतः कालूगणी का अध्ययन फिर से [illegible] चालू हो गया। पण्डितजी प्रतिदिन नियमित रूप से आया करते और उन्हें [illegible] करते। उनको कालूगणी के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि वे निर्धारित समय के अतिरिक्त भी जब समय मिलता तभी आ जाया करते थे।

घनश्यामदासजी की सेवा

पण्डित घनश्यामदासजी ने ऐसे समय में अपनी सेवा प्रदान की थी जब कि [illegible] उनकी बड़ी आवश्यकता थी। आरम्भ में कुछ ईर्ष्यालु पण्डितों ने उन्हें [illegible]

करने के लिए नाना प्रयत्न किये। उन्हें यहाँ तक कहा गया कि जैनो को व्याकरण पढाना तो साँप को दूध पिलाना है, किन्तु वे उन सब बातो को इस प्रकार से पीते चले गये कि मानों उन्हें कुछ कहा ही नहीं गया।

मुख-वस्त्रिका बाध कर भी

पण्डित घनश्यामदासजी को एक ओर जहाँ ब्राह्मण-पण्डितों के विरोध का सामना करना पडा था, वहाँ दूसरी ओर उससे भी बढकर स्थानीय स्थितियों का सामना करना पडा। वे खुले मुँह से बोलकर ही पढाया करते थे, अत उनकी वह प्रवृत्ति कुछ ऊहापोह का कारण बन गई थी। वह बात जब कालूगणी के सामने आई, तब उन्होंने पण्डितजी के सामने उसका जिक्र किया। पण्डितजी कालूगणी के व्यक्तित्व से इतने प्रभावित थे कि उनके लिए मुख-वस्त्रिका बाधकर पढाना भी उन्होंने स्वीकार कर लिया। उन्होंने कुछ समय तक वैसा किया भी था।

इस घटना से ऐसा लगता है कि उस समय वहाँ का वातावरण सस्कृत के लिए विशेष अनुकूल नही था। जब कोई अन्य मतावलम्वी खुले मुँह से प्रश्न आदि पूछता तथा और कोई बातचीत करता, तब उसे उत्तर देने तथा बातचीत करने में उस समय भी कोई बाधा नही थी। तब फिर सस्कृत पढाने में ही यह प्रश्न उठाना, उपर्युक्त निष्कर्ष की ओर ही स्पष्ट सकेत करता है। उस समय पण्डितजी की सेवा-भावना और कालूगणी के दृढ-सकल्प ने उस स्थिति को सहजता से ही पार कर लिया था। यदि दोनो में से किसी एक के भी विचार लडखडा जाते, तो सम्भव है कि सघ में आज जो चतुर्मुखी प्रगति दिखाई दे रही है, वह हो ही नहीं पाती।

थका देने वाली प्रक्रिया

चूरू में तो उनका वह पठन-क्रम सुचारुरूप से चलता रहा, किन्तु वहाँ से विहार करने पर पण्डितजी का सुयोग मिल पाना सम्भव नहीं था। फिर भी कालूगणी ने अपने ही निश्चय के बल पर पाठ चालू रखने का निर्णय किया। बीच-बीच में पण्डितजी का भी आगमन होता रहता था। जब-जब पण्डितजी सेवा में आये हुए होते, तब-तब व्याकरण की साधना चलती और वे न होते तब कठस्थ करने तथा स्वय वाचन और स्मरण करने की प्रवृत्ति चालू रहती।

निरन्तर पाठ चालू रहने पर जितने स्वल्प समय में प्रगति की जा सकती थी, वह उस क्रम में सम्भव नहीं थी। वस्तुत वह पढने की एक ऐसी प्रक्रिया थी, जो कि थका देने वाली होती है। परन्तु कालूगणी न तो थके और न अपने निश्चय से पीछे हटे। धीमी या मध्यम, जैसा भी जिस समय सम्भव हुआ, वे उसी गति से प्रगति करते रहे। उन्होंने उसी स्थिति में व्याकरण तथा 'अभिधानचिन्तामणि कोश' आदि अनेक ग्रन्थ समग्ररूप से कण्ठस्थ कर लिये थे।

आचार्यकाल में अध्ययन

उन्हें जमकर अध्ययन करने का प्रायः कम ही अवसर मिल [illegible] था। [illegible] की समस्या थी तो बाद में अनेक जिम्मेदारियों बढ़ गई थीं। [illegible] उन्हें तब रहना पड़ा था जब कि वे आचार्य-पद पर नियुक्त हुए। [illegible] युवावस्था में उन्हें अधिक समय लगाना पड़ता था। [illegible] का भी सारा दायित्व आचार्य होने के नाते उन पर ही आ पड़ा था। [illegible] करते हुए भी वे संस्कृत-अध्ययन विषयक अपने निश्चय को भूले नहीं थे।

उनका अध्ययन आचार्य होने के पश्चात् भी चालू रहा। [illegible] कार्यों के अतिरिक्त वे अपना अधिकांश समय अध्ययन में ही लगाया करते थे। [illegible] व्यक्तियों से आवश्यक बातचीत तथा जिज्ञासा-समाधान आदि कार्यों का भार [illegible] स्वामी पर छोड़ दिया गया था। इस प्रकार अथक परिश्रम द्वारा उन्होंने संस्कृत-भाषा पर अपना अधिकार किया था।

आचार्य-अवस्था में विद्याभ्यास के लिए इस प्रकार जुट जाने का यह एक अनुपम [illegible] कहा जा सकता है। उनका यह क्रम इस बात का एक जीवित उदाहरण था कि मनुष्य को आजीवन विद्यार्थी बने रह कर नई विद्याओं का अध्ययन करते रहना चाहिए। [illegible] ज्ञान होने पर भी वे उसे संस्कृत के माध्यम से और अधिक गम्भीर करना चाहते थे। [illegible] स्वयं के लिए ही नहीं किन्तु सारे संघ के लिए वे उसे अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उन्होंने अपने संकल्प की पूर्ति के लिए जो परिश्रम किया था वह सब उनकी व्यक्तिगत [illegible] के लिए तो महत्त्वपूर्ण था ही परन्तु समस्त संघ के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था।

स्वप्न का अर्थ

वे अपने उद्देश्य में इतने एकरस हो गये थे कि प्रत्येक बात को उसी रंग में देखने लगे। आचार्य होने के पश्चात् एक बार स्वप्न में उन्हें पुष्पों और फलों से लदा हुआ [illegible] दिखाई दिया। उन्होंने उसका अर्थ बताते हुए कहा—"अब संस्कृत का वृक्ष अवश्य ही [illegible] फलित होगा।" उनके कथन का तात्पर्य था कि साधुओं में अब संस्कृत-भाषा की [illegible] आयेगी। उनके उस स्वप्न ने शीघ्र ही फलीभूत होकर उनके कथन की सत्यता को प्रमाणित कर दिया।

मुनिजनों का विद्याभ्यास

कालूगणी ने अपने आचार्यकाल के प्रारम्भ से ही संस्कृत भाषा को हर प्रकार से प्रोत्साहन दिया। नव-दीक्षितों को संस्कृत-अध्ययन की प्रेरणा देना उनका एक पवित्र कर्तव्य बन गया था। उनके उस उदार दृष्टिकोण के फलस्वरूप अनेक मुनियों ने अध्ययन प्रारम्भ किया। [illegible] कालूगणी उनको पढ़ाया करते थे।

बढते चरण

पठन-पाठन के क्रम में ज्यो-ज्यो चरण आगे वढे; त्यों-त्यो 'सारस्वत' तथा 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' के कतिपय स्थल अपूर्ण प्रतीत होने लगे। किसी वडे व्याकरण का आधार लेने की वात सोची जाने लगी। उसी समय यतियो के प्राचीन भडार मे से उन्हें एक व्याकरण की प्रति प्राप्त हुई। वह किसी प्राचीन जैनाचार्य द्वारा निर्मित थी। 'सारकौमुदी' नाम से वह प्रक्रिया रूप में वनाई हुई थी। उसका अध्ययन किया गया और उसके कतिपय सूत्रो को छाटकर 'सिद्धान्त-चद्रिका' के समास आदि कुछ अपूर्ण स्थलों की पूर्ति करने का प्रयास किया गया। परन्तु दो व्याकरणो को मिलाकर पढना, स्वय ही अपने आप में एक झझट का कार्य था। उससे जिज्ञासा की यथेष्ट तृप्ति नही हो पाई।

अष्टाध्यायी की खोज

कालूगणी ने एक वार अध्ययन-प्रसग में फरमाया—"पाणिनीय के समान यदि 'सारकौमुदी' की अष्टाध्यायी मिल जाये, तो कितना अच्छा हो। उस क्रम से अध्ययन करने पर अधिक विकास होने की सम्भावना है।" कालूगणी का वह चिंतन वहुत स्वल्प समय मे ही पूर्ण हो गया। भादरा के श्रावक रावतमलजी पारख के पास यतियों के प्राचीन पुस्तक-भडारों में से सगृहीत कुछ पुस्तकें थी। मुनि चम्पालालजी 'मीठिया' जव भादरा गये, तव उन्होने उनका निरीक्षण किया। उसमें विशालकीर्त्ति गणी द्वारा विरचित 'विशाल-शव्दानुशासन' (अष्टाध्यायी) की एक प्रति थी। उन्होंने सोचा कि कहीं यह ग्रथ वही तो नहीं है, जिसके लिए गुरुदेव फरमा रहे थे। उन्होने उस प्रति को लाकर गुरुदेव को भेंट किया। उन्होने उसे देखा तो वे वडे प्रसन्न हुए। वह वही ग्रथ था जिसकी प्राप्ति के लिए गवेषणा की जा रही थी। उन्होने शिष्यवर्ग को उसका अध्ययन प्रारम्भ करवा दिया।

नये मार्ग-दर्शन की आवश्यकता

कालूगणी के जीवन की अनेक महत्ताओ में से एक महत्ता जन-मानस को बहुत ही प्रभावित करने वाली थी कि उनको जब किसी बात की आवश्यकता होती थी, प्रकृति उससे पूर्व ही उसकी पूर्ति का सामान जुटाकर तैयार रखा करती थी। वह सदा उनके अनुकूल रही थी। उनके जीवन के वे स्वप्न, जिन्हें उन्होंने स्वय एक स्वप्न-मात्र ही समझा था, सहज रूप से पूर्ण होते देखे गये। सस्कृत के विपय मे भी उन्होने जो स्वप्न देखा था, जो कल्पना की थी, उसकी पूर्ति सहज भाव से होती गई और सघ में सस्कृत-भापा का प्रवाह आगे-से-आगे गतिशील वनता चला गया।

साधुओं को प्राथमिक व्याकरण-ज्ञान हो चुका था। आगे का कदम तभी उठ सकता था, जव कि कोई विशिष्ट व्याकरणज्ञ अपना समय दे। साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिये भी प्रयास किया जाने लगा था। कालूगणी ने शिष्य-वर्ग को उस विपय मे प्रेरित करना प्रारम्भ कर

लिया था। सम्भवतः उनके अन्तःकरण में पहले से ही यह आस्था [illegible] कदम उठाते ही मार्ग-दर्शक भी स्वयं आकर उपस्थित हो जाता है।

पंडित रघुनन्दनजी का आगमन

सं० १९७४ में सरदारशहर चातुर्मास करने के पश्चात् कालूगणी का [illegible] वहाँ के यति रामलालजी बड़े प्रभावशील व्यक्ति थे। तेरापन्थ के प्रति [illegible] था। संस्कृत-भाषा के प्रति कालूगणी के अधिकाधिक झुकाव और उस तरफ बढ़ती हुई अभिरुचि से भी वे अच्छी तरह से परिचित थे।

उन्हीं दिनों उत्तर प्रदेशान्तर्गत सुनामई ग्राम (अलीगढ़ के पास) के रघुनन्दनजी शर्मा किसी कार्यवश वहाँ आये हुए थे। यतिजी का उनसे परिचय हुआ, उनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कालूगणी के समक्ष पंडितजी के विषय में बात- बतलाया कि ऐसे विद्वान् मैंने कम ही देखे हैं। एक दिन में पाँच-सात सौ श्लोकों की रचना कर देना उनके लिए सहज बात है। तत्काल दिये हुए किसी भी विषय पर श्लोक-रचना कर सकते हैं। उनकी इस विशिष्ट शक्ति से प्रभावित होकर विद्वानों ने 'आशुकविरत्न' की उपाधि प्रदान की है। इसके अतिरिक्त वे आयुर्वेदाचार्य भी हैं। उनकी योग्यताएँ वस्तुतः चकित कर देने वाली हैं।

कालूगणी ने उनकी सारी बात सुन लेने के पश्चात् छोटा-सा उत्तर देते हुए कहा— "कभी अवसर मिला तो ऐसे विद्वान् व्यक्ति से अवश्य परिचय करना चाहिए।" साथ ही उन्होंने यतिजी से यह भी कहा कि केवल बाहरी उपाधियों के प्रभाव में आकर ही तो कहीं आप उनकी इतनी प्रशंसा नहीं कर रहे हैं? आजकल विद्वत्ता कम और उपाधियों के आधार पर आत्म विज्ञापन अधिक चल रहा है। अतः वैसी स्थिति से सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है।

यतिजी ने कहा— "वे युवक होते हुए भी अत्यंत धीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। आत्म-विज्ञापन के विरुद्ध आत्म-गोपन की प्रवृत्ति ही मैंने उनमें अधिक पाई है। उनकी विद्वत्ता उनकी उपाधियों से कहीं अधिक है। मैंने आपके समक्ष उनके विषय में जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह बहुत संयत और संक्षिप्त ही है। कम से कम एक बार मैं आपके संपर्क में [illegible] प्रयास करूँगा फिर मेरी बात में कितनी अत्युक्ति या अल्पोक्ति है यह आप स्वयं निर्णय कर लेना।"

यतिजी पंडितजी से बहुधा मिलते रहते थे अतः एक दिन उन्होंने उनके समक्ष कालूगणी की चर्चा की। तेरापन्थ और उनके साधु-वर्ग का परिचय देते हुए उनके आचार-व्यवहार से भी उन्हें अवगत किया। पंडितजी को जैन-साधुओं के विषय में अनेक भ्रांतियाँ थीं। उनमें से कुछ तो आस-पास के वातावरण से पुष्ट अनुश्रुति से तथा कुछ धार्मिक असहिष्णुता के [illegible] [illegible] में [illegible] लिखे गये अलीक विवरणों से पैदा हुई थीं। उनके अतिरिक्त तेरापन्थ के

विषय में भी किसी ने उन्हें भ्रात कर रखा था, अत एक बार तो उन्होंने यतिजी को टालने ही का प्रयास किया, परन्तु यतिजी को जब यह पता लगा कि इनको किसी के द्वारा भ्रात किया गया है, तब उन्होंने थोडा स्पष्ट होते हुए कहा—"सत्य और असत्य का ज्ञान परोक्ष से जितना किया जा सकता है, उससे कही अधिक प्रत्यक्ष से किया जा सकता है। अत आपने जैन धर्म और तेरापन्थ के विषय में जो धारणाएँ बना रखी हैं, वे सब परोक्ष-सूत्रों से ही सबद्ध हैं। उन सबका प्रत्यक्ष के प्रकाश में परीक्षण करने के लिए इससे बढकर अन्य उपयुक्त समय फिर कब मिलेगा ? यदि वे सत्य है तो भी और असत्य है तो भी आप सपर्क करने के पश्चात् अधिक निर्णायकता की स्थिति में हो जाएगे।"

पडितजी को यतिजी की वे बातें ठीक लगी, अत उन्होने कम से कम एक बार वहाँ आने का निर्णय किया। यतिजी दोनों ओर से उपयुक्त समय का निश्चय करके उन्हे अपने साथ लेकर आये। प्रारम्भ में कुछ समय परिचयात्मक बातें चलने के पश्चात् जैन धर्म तथा तेरापन्थ के मूल सिद्धान्तों से उन्हें अवगत किया गया। उनके मन की प्रत्येक भ्राति का निराकरण हो जाने के पश्चात् वे बडे सतुष्ट हुए और अपनी पूर्व भ्रमणाओ के प्रति उन्होने पश्चात्ताप भी किया। आचार्यदेव भी पडितजी की विद्वत्ता से प्रभावित हुए और उन्हें यतिजी के कथन के अनुरूप ही पाया।

साधु-शतक

पडितजी बातचीत करने के अनन्तर जब अपने स्थान पर गये, तो उसी दिन लगभग तीन घण्टे तक एकात में बैठकर उन्होंने 'साधु-शतक' की रचना की। कालूगणी के पास उन्होंने साधुचर्या की जो बातें सुनी थीं, उन्हीं को उसमें पद्यबद्ध किया गया था। जब वे इस शतक को लेकर कालूगणी की सेवा में उपस्थित हुए, तब वे अत्यत भक्ति-विभोर स्थिति में थे। प्रथम सपर्क भ्रात-अवस्था का था, जब कि द्वितीय भक्त-अवस्था का।

समय-दान

उन्होंने अत्यत नम्रता से आचार्यदेव को कहा—"मैं इतने दिन भ्रात था, अत कहने पर भी यहाँ आना नही चाहता था, पर अब चाहूँगा कि मैं अपनी कुछ सेवाएँ दे सकूँ। मैं आपकी सेवा में अपना समय प्रस्तुत करता हूँ। आप जब चाहें तभी उसका उपयोग कर सकते है।" कालूगणी ने पडितजी की इस प्रार्थना को बडे आदर से स्वीकार किया और सस्कृत-अध्यापन के लिए उनके समय का उपयोग करने का विचार व्यक्त किया।

उसके पश्चात् पडितजी का आवागमन प्राय प्रतिवर्ष ही होने लगा। वे अपना आयुर्वेद का कार्य किया करते थे, फिर भी चातुर्मास में कुछ महीनो का समय निकाल कर अध्यापन के लिए अपनी सेवा अर्पित किया करते। वह उनकी एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सेवा थी, जो कि तेरापन्थ की भावी उन्नति की आधारशिला बन गई।

नव्य व्याकरण की कल्पना

पहले पहल साधुओं का अध्ययन 'सारस्वत' के पूर्वार्ध और [illegible] पर प्रारम्भ हुआ था। परन्तु बाद में 'सिद्धान्त-शब्दानुशासन' प्रक्रिया को प्रमुख रूप से पढ़ा जाने लगा। कुछ साधु भी पढ़ते थे। हैमव्याकरण के साथ कोई प्रक्रिया-ग्रन्थ न होने से [illegible] पाठकों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिए [illegible] शब्दानुशासन' तथा 'सारकौमुदी' की उपयुक्तता अधिक प्रतीत हुई।

सिद्धान्त-शब्दानुशासन' में कुछ अपूर्णताएं थीं अतः उन्हें सुधारकर [illegible] विचार किया गया। परन्तु सुधार की उस प्रक्रिया ने उसके मूलों को [illegible] कि उसका वह नाम रखना उचित नहीं रह गया। तब यह विचार [illegible] कि व्याकरण की रचना की जाए जिसमें प्राचीन सभी व्याकरणों का सारतत्त्व तो हो उनकी दुरूहताएं न हों।

भिक्षु शब्दानुशासन' का निर्माण

आचार्यदेव ने उस विचार को अत्यंत सहानुभूति प्रदान की अतः [illegible] उस ओर अधिक अभिरुचि हो गई। मुनि श्री चौथमलजी ने उस कार्य का भार [illegible] लिया और उसमें जुट गये। वे अपनी धुन के पक्के और हाथ में लिए हुए कार्य के प्रति [illegible] निष्ठा बरतने वाले व्यक्ति थे। अनेक वर्षों के परिश्रम तथा [illegible] पश्चात् उन्होंने भिक्षु-शब्दानुशासन' नाम से एक महाव्याकरण तैयार किया। [illegible] ने उसकी बृहद्वृत्ति का निर्माण किया। वह सभी दृष्टियों से परिपूर्ण तथा [illegible] सूक्ष्मताओं का विश्लेषण करने वाला एक अपूर्व ग्रन्थ बन गया। इस प्रकार कालूगणी के [illegible] प्रमाद और सतत प्रेरणा का प्रथम फल तेरापन्थ ने प्राप्त किया।

'कालुकौमुदी' का निर्माण

उसके पश्चात् प्राथमिक ज्ञान के लिए प्रक्रिया निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। वह कार्य भी मुनि श्री चौथमलजी की साधक-तत्परता की अपेक्षा रखता था [illegible] गया। उन्होंने बड़ी लगन के साथ उस कार्य को भी पूर्ण किया। इन ग्रन्थों के निर्माण के [illegible] ही तेरापन्थ के लिए व्याकरण संबंधी परापेक्षता का अवसान हो गया।

प्रथम अध्येता

भिक्षु-शब्दानुशासन' और उसकी बृहद् वृत्ति का सर्वप्रथम पारायण [illegible] के भावी नवमाचार्य श्री तुलसीरामजी तथा उनके सहपाठी मुनि श्री [illegible] चंदनमलजी थे। उनके व्याकरण-पाठ के समय तक प्रक्रिया का निर्माण नहीं [illegible] उन्होंने उसकी पूर्ति चंद्रिका कंठस्थ करके ही की थी।

'कालुकौमुदी' को सर्वप्रथम कठस्थ करने वालो तथा उसका पूर्ण पारायण करने वालो में मैं तथा मेरे सहपाठी मुनि श्री नथमलजी थे। 'कालुकौमुदी' की रचना के तथा हमारे कठस्थ करने के प्रारभिक काल में तो काफी अन्तर था, पर पूर्तिकाल लगभग एक ही था। अनेक वार हमें याद किये हुए पाठ को छोड देना पडता था तथा वीच में डाले गये किसी नये पाठ को याद करना पडता था। प्राय सारी 'कालुकौमुदी' हमने इसी काट-छाँट की परिस्थिति मे याद की थी।

साहित्य-क्षेत्र मे पदन्यास

व्याकरण-रचना के उस कार्य ने जहाँ साधुओं के ज्ञान की भूमिका को सुदृढ वना दिया, वहाँ उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति को भी उद्‌बुद्ध किया। साहित्य-रचना के लिए जिस शब्द-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् व्यक्ति की अपनी कल्पना-शक्ति को अनेक प्रकार से सहारा मिल जाया करता है और उसे अपनी सामर्थ्य का भी विश्वास होने लगता है। इसीलिए व्याकरण-रचना के साहस ने अन्य सभी क्षेत्रो में साधुजनों के साहस के लिए एक प्रगति-द्वार खोल दिया। उस विषय मे प्रथम चरणन्यास था—भक्तामर तथा कल्याण मदिर की पाद-पूर्तियो के रूप में अनेक साधुओ द्वारा विविध स्तोत्रो का निर्माण। उसके पश्चात् क्रमश उस क्षेत्र में अवाध प्रगति होती गई।

अभी बाकी है

कालूगणी शिष्यवर्ग की उस प्रगति से परम प्रसन्न थे, फिर भी वे उतने मात्र से तृप्त होने वाले नहीं थे। उन्होने मार्ग-दर्शन करते हुए कहा—"यह एक सफलता तो हमें प्राप्त हुई है, परन्तु अभी तक न्यायशास्त्र का अध्ययन तो अछूता ही पडा है। जैन दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान उसके विना सभव नहीं है।" उन्होंने अपने अध्ययनशील शिष्यों को, 'षड्दर्शन समुच्चय', 'अन्य-योगव्यवच्छेदिका', 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार' आदि ग्रथ कठस्थ करवाये। इस प्रकार उन्होंने न्याय के क्षेत्र में भी वीज वपन कर दिया।

ज्ञान प्रेरणा के स्रोत

अध्ययन के लिए अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ देते रहना कालूगणी ने अपना लक्ष्य बना लिया था। वे एक मनोवैज्ञानिक की तरह सबके अतरग को छूने वाली प्रक्रियाओ के द्वारा अध्ययन के प्रति सबकी प्रवृत्तियो को जागरित करते रहते थे। गुह्य प्रेरणाओ के साथ-साथ आवश्यकता होने पर बाह्य प्रेरणा देने में भी वे कभी नही चूका करते थे। सीखने वालों की मानसिक तथा शारीरिक अनुकूलताओ पर भी वे ध्यान दिया करते थे। अध्ययनेच्छु के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना, ज्ञान के क्रमिक विकास या ह्रास पर पूरी दृष्टि रखना, समय-समय पर पठित ज्ञान के विषय में पूछते रहना, स्वाध्याय के विषय में सचेष्ट करते रहना, प्रगति बनाये रखने के लिए उत्साह को नीचे न गिरने देना आदि कार्य वे इस सहज भाव से करते थे कि किसी को कुछ ऊपर का दबाव नहीं लगता था।

पश्चात् ही उसे अन्य ज्ञान के लिए उपयुक्त माना करते थे। वे स्वय आगम-स्वाध्याय में निरन्तरता से लगे रहते थे। समग्र मूल आगम और उनकी टीकाओ का उन्होने अनेक बार पारायण किया था।

काव्य-प्रेमी

सस्कृत-भाषा के काव्यों के प्रति उनके हृदय में विशेष आदरभाव था, अत अनेक बार प्रात कालीन व्याख्यान में आगम-व्याख्या के पश्चात् वे गद्य या पद्यात्मक काव्य-ग्रन्थों को स्थान दिया करते थे। नेमिनाथ-चरित्र, पार्श्वनाथ-चरित्र तथा पाडव-चरित्र आदि काव्य उनकी प्रमुख रुचि के ग्रन्थ थे।

व्याकरण-मर्मज्ञ

व्याकरण में उन्होंने 'सारस्वत', 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' तथा 'सारकौमुदी' का पारायण किया था। वे अन्य व्याकरण-ग्रन्थों का तुल्नात्मक ज्ञान भी रखते थे। उस समय के सस्कृत विद्वान् प्राय दूसरों को भुलावे में डालने की प्रवृत्ति अधिक रखा करते थे, अत अपने तुलनात्मक ज्ञान के आधार पर वे उन सब भ्रातियों का निराकरण करने में समर्थ होते थे।

अनेक बार ऐसे पडितों से भी बातचीत करने का अवमर आ जाता था जो कि अनावश्यक ही वाद-विवाद की स्थिति पैदा करने में रस लिया करते थे। अनेक बार वैसी स्थितियों को टालते रहने पर भी कभी-कभी वैसा प्रसग उपस्थित हो जाता था कि उन्हें न चाहते हुए भी एक व्याकरण से दूसरे व्याकरण की तुलना प्रस्तुत करनी पड जाती थी, जो कि विपक्ष के लिए कुछ कटु लगने वाली भी हो सकती थी। ऐसे प्रसगों पर वे इतनी स्पष्टता के साथ अपनी बात सामने रखते थे कि दूसरे व्यक्ति के लिए उसे मानने के अतिरिक्त कोई मार्ग ही शेष नहीं रह जाता था।

'तुच्छ' शब्द

एक बार स० १९७५ में जब कालूगणी रतनगढ पधारे थे, तब वहाँ पडित हरिनन्दनजी आचार्यदेव के पास आये। बातचीत के सिलसिले में उनको सतों के सस्कृत-अध्ययन आदि से अवगत किया गया। जब उन्हें यह पूछा गया कि आपने मुख्य रूप से कौन से व्याकरण का परिशीलन किया है, तो वे थोडे से व्यगात्मक ढग से हँसे और कहने लगे कि व्याकरण तो ससार भर में एक ही है। भट्टोजी दीक्षित रचित 'सिद्धान्त-कौमुदी' से बढकर मैं कोई व्याकरण नहीं मानता। मैंने उसी का अध्ययन किया है। अगस्त्य ने जिस प्रकार तीन अजलियो से सारे समुद्र का पानी पी लिया था, उसी प्रकार तीन मुनियो द्वारा विरचित उस महाव्याकरण ने सभी शब्दों को अपने में समावेश कर लिया है। इसकी तुलना में दूसरे सब व्याकरण बाल-क्रीडा से बढ़कर कुछ नहीं हैं।

अन्य व्याकरणों पर उनका यह आक्षेप कालूगणी को ठीक नहीं [illegible]
प्रतिवाद करते हुए फरमाया— 'यद्यपि 'सिद्धान्त-कौमुदी' एक अच्छा [illegible]
किसी व्याकरण के लिए यह दावा करना कठिन होता है कि उसमें सभी [illegible]
गई है। अगस्त्य के सिंधुपान के पश्चात् भी कुछ जल-बिन्दुओं का शेष रहना कोई [illegible]
नहीं है।

पंडितजी इस बात से और भी अधिक भड़के और कहने लगे— 'कौमुदी का [illegible]
की तरह ही सर्वत्र अबाध संचार है। एक शब्द भी आपको ऐसा नहीं मिलेगा, जो [illegible]
सिद्ध नहीं किया जा सकता हो।

आचार्यदेव ने फिर फरमाया— 'कौमुदी का संचार सर्वत्र होते हुए भी कुछ [illegible]
ऐसे होते हैं जो उससे बिल्कुल अछूते ही रह जाते हैं। उसी प्रकार कुछ ऐसे [illegible]
सकते हैं जो कि व्याकरण विशेष की परिधि से बाहर रह जाते हैं।

इस बार पण्डितजी कुछ उग्र हो गए और कहने लगे— 'कोरी बातों का तो [illegible]
हो नहीं सकता। आप कोई एक भी तो ऐसा शब्द बतलाइये जो कौमुदी से [illegible]
होता हो।

आचार्यदेव ने कहा— 'मेरे कहने का उद्देश्य सिद्धान्त-कौमुदी' की [illegible]
लिए नहीं किन्तु यह है कि प्रत्येक व्याकरण में अपनी कुछ विशेषताएं तथा [illegible]
सम्भव हैं। सिद्धान्त-कौमुदी' भी उसमें अपवाद नहीं हो सकती। [illegible]
व्युत्पत्ति मिलनी चाहिए ऐसी आशा की जा सकती है परन्तु व्याकरण-[illegible]
थोड़ा आगे चलता है अतः कुछ शब्द नये भी बन जाते हैं तथा कुछ [illegible]
जाते हैं।

पण्डितजी ने फिर अपनी बात पर जोर देते हुए कहा— 'अन्य [illegible]
जा सकता है परन्तु सिद्धान्त-कौमुदी के लिए नहीं। मैं प्रत्येक शब्द की [illegible]
करके दिखाने को उद्यत हूं। यदि आप ऐसा कोई भी शब्द मेरे सामने [illegible]
मानूंगा कि केवल यह बात योंही कह दी गई है इसके पीछे [illegible]

कालूगणी ने पण्डितजी के उस कथन से अनुमान किया कि [illegible]
गई है कि वैसा प्रमाण दिये बिना वे हमारे कथन को [illegible]
'यद्यपि मैं ऐसा विवाद नहीं चाहता था फिर भी यह [illegible]
कथन की पुष्टि के लिए इस समय केवल एक शब्द आपके सामने
है—'गुच्छ'। इसकी सिद्धि यदि आप सिद्धान्त-कौमुदी' के आधार से [illegible]
कि मेरा विश्वास गलत था अथवा आपको मेरे विश्वास की [illegible]

सिद्धान्त-कौमुदी की पुस्तक संयोगवशात् उस [illegible]
उस शब्द की सिद्धि के लिए उसे काफी टटोलकर देखा पर [illegible]

हुई। उन्होंने एक दिन का समय मागा और कहा—"कल मैं यही आकर आपको उस शब्द की सिद्धि बतला जाऊँगा।"

आचार्यदेव को उनमे क्या आपत्ति हो सकती थी ? उन्होंने कहा—"आप अच्छी तरह से अन्वेषण कर लीजिये। समय के लिए कोई चिन्ता की बात नही है।"

आखिर काफी अन्वेषण करने के पश्चात् भी जब उन्हें 'सिद्धान्त-कौमुदी' में उस शब्द की सिद्धि प्राप्त नही हो सकी, तब दूसरे दिन मध्याह्न में वे स्वय आये और उन्होने बडी नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'तुच्छ' शब्द 'सिद्धान्त-कौमुदी' से सिद्ध नही हो पाया। मैं कल के अपने गर्वोक्तिपूर्ण विवाद के लिए क्षमा याचना करता हूँ।"

कालूगणी को उनकी क्षमा-याचना की कोई अपेक्षा नही थी। वह तो स्वय पण्डित हरिनन्दनजी की ही एक सहज सरलता के महत्त्वपूर्ण गुण की परिचायक मात्र थी। वे यदि उस स्वीकृति के लिए वापस न भी आते तो भी उन्हें अपनी बात के प्रति कोई आग्रह या आशका नही थी। उन्होंने जिस आत्मविश्वास के साथ पण्डितजी के सामने वह शब्द रखा था, उसके पीछे उनके अध्ययन-रत जीवन की लम्बी साधना कार्य कर रही थी।

इस प्रकार तेरापन्थ मे सस्कृत के वट-वृक्ष का विस्तार उन्होंने अपना समस्त जीवन और श्रम लगाकर किया था। उन्होंने स्वय अपने परिश्रम के बिन्दु उसकी जड मे सींचे थे। यही कारण था कि उन्होने एतद्विषयक सफलता का फल भी उतनी ही शीघ्रता से पाया था।

व्यक्तित्व का निखार

भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन उनके पट्टारोहण का प्रथम उत्सव मनाया गया। उस दिन वे विधिपूर्वक आचार्यपद पर आसीन हुए। आचार्य बनने से पूर्व वे काफी कृशकाय तथा कृष्णवर्ण थे। किन्तु आचार्य बनने के पश्चात् शीघ्र ही उनके शारीरिक व्यक्तित्व में इतना बडा परिवर्तन आया कि मानो वे एकदम से ही परिवर्तित हो गये। गेहुआँ वर्ण, लबा कद, प्रशस्त ललाट और सैकडो व्यक्तियों में स्वय ही पृथक् दिखाई देने वाला उनका व्यक्तित्व द्रष्टाओं की आँखों को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया करता था।

प्रच्छन्नता से प्रकाश मे

युवाचार्य-पद पर रहने का उन्हें अवसर नही मिला था। यद्यपि डालगणी ने युवाचार्य-पद पर उनकी नियुक्ति प्रथम श्रावण की प्रतिपदा को ही कर दी थी, परन्तु उन्होने उस पत्र को प्रकट नही किया था, अत लगभग तीन महीने तक युवाचार्य होते हुए भी वे प्रच्छन्न ही रहे। सम्भवत वह कार्य कालूगणी की प्रकृति के अनुरूप ही था। वे हर प्रकार से अपने को प्रच्छन्न रखना ही पसद किया करते थे। जब वे आचार्य बने, तब उन्हें बहुत ही कम व्यक्ति जाना करते थे। उनका नाम सुनकर पहले-पहल तो बहुत से व्यक्तियो को आश्चर्य ही हुआ था। पर जब उनका व्यक्तित्व एक साथ ही निखर कर सबके सामने आया, तब सबको आश्चर्य-चकित रह जाना पडा।

प्रभावक आचार्य

कालूगणी तेरापन्थ के प्रभावक आचार्यों में से एक थे। उनके युग में तेरापन्थ ने अपना प्रभाव-क्षेत्र काफी विस्तृत किया। वृद्धजन कहा करते थे कि एक बार जयाचार्य को स्वप्नावस्था में स्वय स्वामीजी दिखलाई दिये थे। उन्होने उनको जो-जो बातें बतलाई थी, उनमें से एक यह थी कि आगे जो अष्टम आचार्य होगा, वह बडा प्रभावशाली होगा। उस बात में तथ्य कितना था, यह तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं, परन्तु वे एक प्रभावशाली आचार्य हुए थे, इसमे कोई सदेह नहीं।

अभूतपूर्व प्रगति

कालूगणी के युग में श्रमण-सघ, श्रावक-वर्ग, क्षेत्र, पुस्तक तथा कला आदि में अभूतपूर्व प्रगति हुई। पहले किसी भी आचार्य के समय में साधुओं की सख्या अस्सी से ऊपर नही गई थी, परन्तु उनके युग में वह सख्या बहुत आगे बढकर एक सौ उनतालीस तक हो गई थी। श्रावक-वर्ग में भी उनके समय में अपेक्षाकृत अधिक जागृति हुई। उसमें आन्तरिक प्रेरणा से ही धर्म के प्रति श्रद्धा और अधिकाधिक दृढ़ता का भाव उत्पन्न होना, वस्तुत उन जैसे आचार्यों का अतिशय ही कहा जा सकता है।

। ४ ।

एक महान् आचार्य

मातृ-वात्सल्य-पूर्ण

कालूगणी तेरापन्थ को एक मातृ-वात्सल्य-पूर्ण आचार्य मिले थे। उनके व्यक्तित्व का निर्माण तेजस्विता और शीतलता के मिश्रण से हुआ था। वे [illegible] बड़े निपुण थे। उनके प्रत्येक संरक्षण के साथ चोट और प्रत्येक चोट के साथ संरक्षण रहता था। घड़ा बनाने के लिए निपुण कुम्भकार यही तो करता है। माता की चोट और प्यार में एक ही तो रहस्य काम करता रहता है।

पहले पत्र पढ़िये

सं० १९६६ भाद्रव शुक्ला द्वादशी को डालगणी दिवंगत हुए थे अतः कालूजी के [illegible] जब पट्ट पर आसीन होने की बात उपस्थित हुई तब डालगणी द्वारा
का पत्र खोलकर पढ़ा गया। उसमें कालूगणी का नाम अंकित था। वह पत्र जनता में खड़े सुनाया जाना था अतः सब साधुओं सहित कालूगणी नीचे उपस्थित जन-समुदाय में पधारे। वहाँ पर पट्ट बिछा दिया गया। कालूगणी उसके पास जाकर खड़े हो गये। साधुओं ने उन्हें उस पर बैठने के लिए निवेदन किया किन्तु उनका सिद्धान्तवादी मन जनता में पत्र पढ़कर सुना देने से पूर्व पट्ट पर बैठने को उद्यत नहीं हुआ। उन्होंने मगनलालजी स्वामी से कहा—'आप पहले पत्र पढ़कर जनता को सुना दें उसके पश्चात् मेरा पट्ट पर बैठना उचित होगा।'

साधु-वर्ग उसके विपरीत यह चाहता था कि वे पट्ट पर बैठ जाएँ, उसके पश्चात् सब लोग भी अपने-अपने स्थान पर बैठ जाएँ, तब पत्र सुनाया जाए, अन्यथा कोलाहल में किसी को कुछ सुनाई नहीं देगा।

कुछ क्षणों तक यह विवाद चलता रहा। आखिर मगनलालजी स्वामी ने जो कि बाल-काल से ही कालूगणी के साथी रहे थे हाथ पकड़कर बलपूर्वक उन्हें पट्ट पर बिठाते हुए कहा—'जब साधु-वर्ग ने पत्र पढ़ लिया है और उसमें आपके नाम का उल्लेख है तब चाहे जनता को वह सुनाकर पट्ट पर बैठा जाये या पहले पट्ट पर बैठकर उसे सुनाया जाए, उसमें अन्तर क्या पड़ने वाला है? बैठने से पहले इसका मान्य होने वाला नहीं है अतः यह तो अभी व्यवस्था की पूर्ति के लिए किया जा रहा है।'

कालूगणी सम्भवतः आगे कोई बात कहते या तर्क देते पर मगनलालजी स्वामी ने उससे पूर्व ही उन्हें बलात् पट्ट पर बिठा दिया। उसके पश्चात् जनता को वह पत्र पढ़कर सुनाया गया।

योग कर दिया। उन्होंने एक पत्र में लगभग ढाई हजार श्लोक लिखकर सबको चकित कर दिया। समग्र उत्तराध्ययन सूत्र और समग्र व्यवहार-चूलिका उस एक लघुकाय पत्र के गर्भ में ही समा गई।

यह विकास एक दिन मे नही हो गया था। लम्बे समय तक निरन्तर प्रगति का यह निष्कर्ष था। इसके लिए स्वय कालूगणी ने बहुत श्रम किया था। सब में लिपि-सौन्दर्य के प्रति भावना जगाने का कार्य तो उन्होने किया ही था, साथ ही लक्ष्य तक पहुँचने में मार्ग-दर्शन भी किया था। बाल साधुओ के अभ्यासार्थ उन्होंने ऐसे सैकडों गत्ते तथा पाटियाँ लिखी थी, जिन पर धूजते हुए हाथो से टेढे-मेढे अक्षर लिखते हुए साधुजन क्रमश लिपि-सौन्दर्य के उच्च शिखर तक पहुँचते थे।

न्यायवादी शासन

कालूगणी को एक न्यायवादी आचार्य कहा जा सकता है। वे सदैव न्याय के पक्ष को प्रबल रखा करते थे। अन्याय का प्रतिकार इतनी तीव्रता और कठोरता से करते कि दूसरी बार वैसी स्थिति पैदा करने का सहजतया किसी को साहस ही नही होता। उसमें वे छोटे या बडे, अपने या पराये का कोई भेद नही करते। उनके न्याय की यह एक विशेषता हुआ करती थी कि प्राय दण्ड पाने वाला व्यक्ति भी स्वय अपने लिए उसे उपयुक्त ही माना करता था।

उन्होने न्याय के प्रति सारे सघ में एक ऐसा विश्वास पैदा कर दिया था कि उससे सभी व्यक्तियों में एक अभयता तथा आत्मविश्वास पैदा हो गया। न्याय-पक्ष में रहने वाला कोई भी व्यक्ति शेष तक उस पर डटे रहने का साहस कर सकता था, क्योकि अत में विजय पाने में उसे कोई सदेह नहीं होता था। इसी प्रकार अन्याय-पक्ष वाला व्यक्ति शीघ्र ही अपने को सुधारने की तैयारी करता था, अन्यथा शेष में पराजित होने के अतिरिक्त उसके सामने कोई मार्ग नही रहता था।

सिफारिशों से अप्रभावित

जिस शासन में सिफारिशें चल सकती हो, वहाँ निर्भयता और निश्चिन्तता टिक नही सकती। वहाँ न्याय-पक्ष को सदैव डरते रहना पडता है, क्योकि विरुद्ध-पक्ष की सबल सिफारिशें कहीं भी उसका अपमान करा सकती है। साथ ही अन्याय-पक्ष का दुस्साहस बढ जाता है। वह कैसा भी दुष्कार्य करके सिफारिशो के बलपर बच निकलता है। ऐसी स्थिति में चापलूसो की प्रबलता हो जाती है और स्वाभिमानी व्यक्तियों को प्रतिचरण कठिनाइयो का सामना करना पडता है। कोई भी व्यक्ति तब निर्भयता तथा आत्म-विश्वास के साथ अन्याय का सामना नहीं कर सकता। सारे सघ मे एक प्रकार की आपाधापी और अस्थिरता व्याप्त हो जाती है। कालूगणी ने समस्त सघ को ऐसी स्थितियों से बडी प्रबलता के साथ बचाये रखा था। इसीलिए उनका शासन बडा ही लोक-प्रिय रहा। वे सिफारिशों से सर्वथा अप्रभावित रहकर न्याय किया करते थे।

योग कर दिया। उन्होने एक पत्र में लगभग ढाई हजार श्लोक लिखकर सबको चकित कर दिया। समग्र उत्तराध्ययन सूत्र और समग्र व्यवहार-चूलिका उस एक लघुकाय पत्र के गर्भ में ही समा गई।

यह विकास एक दिन में नही हो गया था। लम्बे समय तक निरन्तर प्रगति का यह निष्कर्ष था। इसके लिए स्वय कालूगणी ने बहुत श्रम किया था। सब में लिपि-सौन्दर्य के प्रति भावना जगाने का कार्य तो उन्होने किया ही था, साथ ही लक्ष्य तक पहुँचने में मार्ग-दर्शन भी किया था। बाल साधुओ के अभ्यासार्थ उन्होने ऐसे सैकडो गत्ते तथा पाटियाँ लिखी थी, जिन पर धूजते हुए हाथो से टेढे-मेढे अक्षर लिखते हुए साधुजन क्रमश लिपि-सौन्दर्य के उच्च शिखर तक पहुँचते थे।

न्यायवादी शासन

कालूगणी को एक न्यायवादी आचार्य कहा जा सकता है। वे सदैव न्याय के पक्ष को प्रबल रखा करते थे। अन्याय का प्रतिकार इतनी तीव्रता और कठोरता से करते कि दूसरी बार वैसी स्थिति पैदा करने का सहजतया किसी को साहस ही नही होता। उसमें वे छोटे या बडे, अपने या पराये का कोई भेद नही करते। उनके न्याय की यह एक विशेषता हुआ करती थी कि प्राय दण्ड पाने वाला व्यक्ति भी स्वय अपने लिए उसे उपयुक्त ही माना करता था।

उन्होने न्याय के प्रति सारे सघ में एक ऐसा विश्वास पैदा कर दिया था कि उससे सभी व्यक्तियों में एक अभयता तथा आत्मविश्वास पैदा हो गया। न्याय-पक्ष में रहने वाला कोई भी व्यक्ति शेष तक उस पर डटे रहने का साहस कर सकता था, क्योकि अत में विजय पाने में उसे कोई सदेह नही होता था। इसी प्रकार अन्याय-पक्ष वाला व्यक्ति शीघ्र ही अपने को सुधारने की तैयारी करता था, अन्यथा शेष में पराजित होने के अतिरिक्त उसके सामने कोई मार्ग नहीं रहता था।

सिफारिशों से अप्रभावित

जिस शासन में सिफारिशें चल सकती हों, वहाँ निर्भयता और निश्चिन्तता टिक नहीं सकती। वहाँ न्याय-पक्ष को सदैव डरते रहना पडता है, क्योंकि विरुद्ध-पक्ष की सबल सिफारिशें कही भी उसका अपमान करा सकती है। साथ ही अन्याय-पक्ष का दुस्साहस बढ जाता है। वह कैसा भी दुष्कार्य करके सिफारिशो के बलपर बच निकलता है। ऐसी स्थिति में चापलूसों की प्रवलता हो जाती है और स्वाभिमानी व्यक्तियों को प्रतिचरण कठिनाइयों का सामना करना पडता है। कोई भी व्यक्ति तब निर्भयता तथा आत्म-विश्वास के साथ अन्याय का सामना नही कर सकता। सारे सघ में एक प्रकार की आपाधापी और अस्थिरता व्याप्त हो जाती है। कालूगणी ने समस्त सघ को ऐसी स्थितियो से बडी प्रबलता के साथ बचाये रखा था। इसीलिए उनका शासन बडा ही लोक-प्रिय रहा। वे सिफारिशो से सर्वथा अप्रभावित रहकर न्याय किया करते थे।

माता को भी नहीं

उन्हें सिफारिश से बेहद घृणा थी। बहुधा वे सिफारिश करने वालों को टोक देते थे। दूसरों की सिफारिश का तो उनपर प्रभाव होता ही क्या था वे अपनी माता साध्वी छोगांजी को भी ऐसे अवसर पर टोक दिया करते थे।

एक बार बीदासर में छोगांजी ने किसी साध्वी के विषय में कोई सिफारिश की। आपने तत्काल उनको टोकते हुए फरमाया —"आप अपने स्वाध्याय तथा ध्यान की ओर रखें। किसके विषय में मुझे क्या करना है इसकी चिंता में न पड़ें। आपको अपनी आवश्यकता के लिए कुछ कहना हो तो कह दें दूसरों के लिए नहीं।"

उस दिन से छोगांजी ने तो फिर कभी ऐसे विषयों में न पड़ने का निर्णय साथ ही सिफारिश करवाने वालों को भी पता लग गया कि जो व्यक्ति स्वयं अपनी सिफारिश को भी पसंद नहीं करता उसके पास किसी दूसरे से सिफारिश निरर्थक है।

स्वर्णिम काल

कालूगणी के उस न्यायवादी शासन से तेरापन्थ को अत्यंत सुस्थिरता और सबलता प्राप्त हुई। उन्होंने संघ की उस सुस्थिरता तथा सबलता का उपयोग अच्छे ढंग से किया और संघ के सामूहिक आत्मविश्वास को बहुत ऊँचा उठा दिया, जो सामूहिक उन्नति के लिए बड़ा उपयोगी होता है। वस्तुतः उनका शासन-काल सभी कोणों से एक स्वर्णिम काल कहा जा सकता है।

: ५ :

एक सामाजिक झगड़ा

झगड़े की भूमिका

कालूगणी के युग में स० १९८३ में थली के ओसवाल-समाज में एक बहुत बडा सामाजिक झगडा खडा हो गया था। यद्यपि उसके मूल में सामाजिक भावना न होकर, पारस्परिक वैमनस्य की भावना ही प्रमुख थी, फिर भी उसका बाह्यरूप से सम्बन्ध मुर्शिदाबाद के इद्रचन्दजी दूघेडिया तथा इन्द्रचन्दजी नाहटा की विलायत-यात्रा से जोडा गया था।

उन लोगों ने स० १९४४ में विलायत-यात्रा की थी। उस अपराध पर उस समय के ओसवाल-समाज ने उन लोगों को जाति-बहिष्कृत कर दिया था। वे लोग बिरादरी के समक्ष क्षमा-याचना करने तथा दण्ड लेने को उद्यत थे, फिर भी तत्कालीन कुछ प्रमुखो ने, जो कि उन लोगों से आतरिक भाव में द्वेष रखते थे, वह कार्य नही होने दिया। फलस्वरूप वे तथा साथी उन्नीस घर समाज से पृथक् रहने को बाध्य हुए।

उस समय विलायत जाने वालो के प्रति समाज में नाना प्रकार के सदेह थे। उनके खान-पान की पवित्रता तथा धर्मचारिता पर विश्वास नही किया जाता था, अत उनका साथ देने वाले व्यक्ति बहुत कम होते थे। किन्तु धीरे-धीरे उस स्थिति में परिवर्तन आने लगा। समय ने उन लोगो का साथ दिया। समाज के और भी अनेक व्यक्ति विलायत जाने लगे। यों अपने आप ही उनका पक्ष बढने लगा। साथ ही वे सब पढे-लिखे तथा सुसपन्न भी थे, अत अनेक व्यक्तियो तथा परिवारो को प्रभावित करते रहते थे। उन लोगो के मन में समाज द्वारा किये गये अपने अपमान पर बहुत क्षोभ था। वे अदर-ही-अदर अपने पक्ष को प्रबल बनाने में लगे हुए थे। फलस्वरूप समाज में गुटबदियाँ चलने लगी और ओसवाल-समाज के प्रमुख रूप से दो घडे—पक्ष गिने जाने लगे। एक मुर्शिदाबाद का और दूसरा मारवाड का। थली के ओसवाल मारवाड के घडे में नही थे। वे विलायत जाने का विरोध करने वाले मुर्शिदाबाद के घडे में सम्मिलित थे। दोनो घडो की पारस्परिक कटुता सतह पर तो उतनी दिखाई नही देती थी, किन्तु तल में काफी उग्ररूप में जीवित थी।

पुनर्जागरण

उस झगडे का पुनर्जागरण चूरू से हुआ। चूरू में उस समय कोठारी तथा सुराणा—ये दोनो परिवार काफी बडे थे। धन, परिजन तथा मान-सम्मान आदि सभी दृष्टियों से दोनों ही सुसम्पन्न तथा समकक्ष थे। उस समकक्षता के कारण ही दोनो में एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता तथा ईर्ष्या चला करती थी। उस ईर्ष्या के मूल में कुछ अपरिहार्य कारण भी थे। उनमें से एक मुख्य कारण यह था कि कोठारी-परिवार को सुराणा-परिवार के दबाव से एक बार किसी

माता को भी नहीं

उन्हें सिफारिश से बेहद घृणा थी। बहुधा वे सिफारिश करने वाले को टोक देते थे। दूसरों की सिफारिश का तो उनपर प्रभाव होता ही क्या था वे अपनी माता साध्वी छोगांजी को भी ऐसे अवसर पर टोक दिया करते थे।

एक बार बीदासर में छोगांजी ने किसी साध्वी के विषय में कोई सिफारिश की तो उन्होंने तत्काल उनको टोकते हुए फरमाया—"आप अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें। किसके विषय में मुझे क्या करना है इसकी चिंता में न पड़ें। आपको आवश्यकता के लिए कुछ कहना हो तो कह दें दूसरों के लिए नहीं।"

उस दिन से छोगांजी ने तो फिर कभी ऐसे विषयों में न पड़ने का निर्णय साथ ही सिफारिश करवाने वालों को भी बता दिया कि जो व्यक्ति स्वयं अपनी सिफारिश को भी पसंद नहीं करता उसके पास किसी दूसरे से सिफारिश निरर्थक है।

स्वर्णिम काल

कालूगणी के उस न्यायकारी शासन से तेरापन्थ को अत्यंत सुस्थिरता और सबलता प्राप्त हुई। उन्होंने संघ की उस सुस्थिरता तथा सबलता का उपयोग अच्छे ढंग से किया और संघ के सामूहिक आत्मविश्वास को बहुत ऊँचा उठा दिया, सामूहिक उन्नति के लिए बड़ा उपयोगी होता है। वस्तुतः उनका शासन-काल सभी कोणों से एक स्वर्णिम काल कहा जा सकता है।

बात पर सामाजिक रूप से वञ्चित होना पड़ा था। वे सब लगातार सदैव अवसर की ताक में रहा करते थे।

उसी अवसर पर सुराणा-परिवार के एक युवक बुधकरणजी का विवाह परिवार की कन्या से निश्चित हुआ। यथासमय बरात अजमेर गई और सम्पन्न हो गया। वहाँ विजयसिंहजी पुरोहित ने जो मुक्तिवाद के पक्ष की 'सामिवच्छल' किया। वे विलायत जाने वालों में से ही थे अतः बरातियों में उनके 'सामिवच्छल' में सम्मिलित हुए तथा कुछ नहीं हुए। तब वहीं से झगड़ा हो गया।

बरात वापस चूरू पहुँची उससे पहले ही वे जाति विच्छेद समाचार पास पहुँच चुके थे। उन्होंने सुराणा-परिवार के विरुद्ध थली के प्रायः सभी स्थानों में कराने प्रारम्भ कर दिये। जब सुराणा-परिवार के मुखिया वहाँ पहुँचे और उन्हें सब का पता लगा तो वे भी अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए प्रत्येक ग्राम में पहुँच गये। और स अपने-अपने परिचितों तथा सम्बन्धियों पर दबाव डाला जाने लगा कि वे उनके ही में हस्ताक्षर करें। कोठारियों का पक्ष 'श्री संघ' के नाम से तथा सुराणों के नाम से पहचाना जाने लगा।

मान-मर्यादा का लोप

थली के प्रायः सभी ओसवाल श्री संघ और विलायती के उस कृत्रिम भेद में ऐसे बँटे कि अपनी मान-मर्यादा भी भुला बैठे। प्रायः हर ग्राम में एक दूसरे के विरुद्ध धड़े बनाये जाने लगे। लड़के-लड़कियों के पूर्व निश्चित सम्बन्ध तो टूटे ही पर जिनके विवाह हो चुके थे उनमें भी जहाँ ससुराल और पीहर वाले एक पक्ष के नहीं थे वहाँ जो लड़की ससुराल में थी वह पीहर जाने से और जो पीहर में थी वह ससुराल जाने से वंचित हो गई।

यह एक ऐसा अविश्वस्त समय आया था कि उसमें प्रायः सभी ने जातीय नियमों की तो मुक्त रूप से अवज्ञा की ही पर नैतिक नियमों का भी किसी ने कोई मूल्य नहीं आँका। बड़े-बूढ़ों का सम्मान करने को अपना कर्तव्य समझने वाले युवक खुलकर उनका अपमान करने लगे। घर-घर की गुह्य बातें भरे बाजार में की जाने लगीं। प्रतिपक्ष की बहू-बेटियों पर विविध आरोप लगाये जाने लगे। इस प्रकार जहाँ पीढ़ियों से प्रेम चला आ रहा था वहाँ वैर के अंकुर फूट आये।

उस झगड़े का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि सामाजिक मान-मर्यादा का एक साथ ही लोप हो गया। पीढ़ियों से संचित जातीय-गौरव उस एक ही भूचाल में धूलिसात् हो गया पर दोनों पक्षों में से किसी ने भी उधर ध्यान नहीं दिया। जो जाति अपने प्राचीन आदर्श तथा गौरव की अवहेलना करके चलती है और नवीन आदर्श तथा गौरव के संस्थापन की ओर ध्यान देना चाहती है वह प्रतिगामी बनकर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारती है। ओसवाल-जाति

ने उस समय कुछ ऐसा ही कार्य किया। उसने अपने जातीयता के दायरे को विशाल बनाने की अपेक्षा और भी अधिक सकुचित बनाकर कोई बुद्धिमत्ता का परिचय नही दिया।

आचार्यदेव की तटस्थता

कालूगणी उस समय थली में ही विहार कर रहे थे। उन्होने छूत के रोग की तरह फैलने वाले उस सामाजिक कलह को रोकने का प्रयास किया, परन्तु उस समय लोगो के मस्तिष्क में एक प्रकार की उन्मत्तता छाई हुई थी। वे किसी की बात सुनने को उद्यत नहीं थे। बुखार के चढते हुए वेग में औषधोपचार न कर उसके चढाव की पूर्णता या फिर उतार की प्रतीक्षा की जाती है, उसी प्रकार कालूगणी ने भी प्रतीक्षा करने का ही निर्णय किया। जब तक वैसा अनुकूल अवसर न आ जाए, तब तक के लिए उस विषय मे तटस्थ रहकर मौन रहना ही उचित था।

अपनी उस तटस्थ-नीति की घोषणा करने के लिए उन्होने सब साधु-साध्वियो को बुलाया और फरमाया—"थली के हर क्षेत्र में श्रावक-समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया है। प्रत्येक वर्ग में साधारण और असाधारण दोनों ही प्रकार के व्यक्ति हैं। दोनो ही पक्ष के प्राय सभी व्यक्ति तेरापन्थी है। जो अत्यन्त धर्मपरायण रहे है, वे भी इस समय सामाजिक आवेश से अछूते नही हैं। साधारण जनता के आवेश की स्थिति भी वैसी ही भयकर है। हमें दोनो ही पक्षों को परोटना है। कोई भी साधु-साध्वी इस सामाजिक कलह की बातों में न पडे। किसी भी पक्ष का न समर्थन करे और न खडन। किसी भी पक्ष के द्वारा एक दूसरे के विपरीत में निकाले गये पत्रो को न पढे। हम लोगों को पूर्णरूप से तटस्थ रहकर उस समय की प्रतीक्षा करनी है, जिसमें कि इन लोगो का यह उन्माद उतार की ओर चलने लगे। उससे पहले यदि किसी भी पक्ष को कुछ कहा जायगा, तो ये लोग हमें भी किसी एक पक्ष के समर्थक होने की सदिग्ध-दृष्टि से देखने लगेंगे। ऐसा होने पर हम किसी भी पक्ष को नही सुधार सकेंगे।"

कालूगणी की उस तटस्थ-नीति ने दोनों ही पक्षो की धार्मिक भावना में दरार नही पडने दी। दोनो ही पक्ष के व्यक्ति समान रूप से सामायक, व्याख्यान आदि का लाभ लेते रहे। उन्होंने दोनों ही पक्षो को यह पूर्ण मनाही कर दी थी कि कोई भी व्यक्ति साधुओ के स्थान में उस झगडे सबधी कोई चर्चा को न छेडे। यही कारण था कि उन लोगों की लगाई हुई वह आग बाहर खूब तेज जलती रही, पर धर्म-स्थान के अदर नही पहुँच पाई, वह पूर्व की ज्योंही एक शाति स्थल बना रहा।

धर्म-विभेद का प्रयास

उस सामाजिक झगडे में कुछ व्यक्ति तेरापन्थ से विद्वेष रखने के कारण उस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने की बात सोचने लगे थे। वे उस झगडे का आधार लेकर धार्मिक क्षेत्र में भी दरार डाल देने के स्वप्न देखने लगे थे। उस कार्य में सरदारशहर के कुछ व्यक्ति प्रमुख रूप से भाग ले रहे थे। उनमें अधिकाश तो वे ही व्यक्ति थे, जो कि पीढ़ियों से तेरापन्थ के प्रति

विरोध भावना रखते आये थे। उनके पूर्वज कोठारी-चतुर्भुजजी के चतुर्भुजजी जयाचार्य के समय में तेरापन्थ से पृथक् हो गये थे। उनकी [illegible] शिष्य प्रशिष्य नहीं रहा फिर भी उनके वे श्रावक वंश-परम्परा से ही सम्बद्ध बने रहे। वे लोग स्थानकवासी तो नहीं थे परन्तु उन [illegible] की बात में तेरापन्थ देने या कम से कम निर्बल बना देने की दृष्टि से उन्हें यहाँ लाना चाहते थे। पूनम कोठारी भी उनकी उस भावना से सहमत थे।

आखिर उन लोगों ने स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी महाराज को, जो कि बीकानेर तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में विचरते थे यहाँ बुला लाने का निर्णय किया। तदनुसार कुछ लोग एकत्रित होकर बीकानेर गये। उन लोगों ने उन्हें थली में आने की प्रार्थना की और यहाँ की सारी परिस्थिति से अवगत किया। प्रलोभन देने के तौर पर यह भी दिखाया कि यदि आप इस समय उधर आयेंगे तो हम लोग तो स्थानकवासी बन ही किन्तु हमारा सारा पक्ष भी स्थानकवासी बन जाएगा। इस प्रकार समस्त थली अनायास ही आपकी हो जाएगी। उसके पश्चात् कुछ लोगों को हम अपने पक्ष में प्रयास करेंगे कुछ को आप समझाएँगे तथा कुछ तेरापन्थियों की मान्यता का खंडन अपने आप आपकी ओर आ जाएँगे। यों धीरे-धीरे समस्त थली आपकी हो जाने वाली है। तेरापन्थ तो अब यहाँ एक बुझता हुआ दीपक है थोड़ी-सी हवा लगने पर समझनी चाहिए। जिस सरलता से थली उनके हाथ में आई थी उससे भी अधिक अब यह थली भी जाएगी।

उन लोगों की यह बात संभवतः उनके मन पर प्रभाव डालने वाली सिद्ध हुई। थली का स्वप्न एक क्षण के लिए छोड़ भी दें तो भी आगामी थली का यों बातों-ही-बातों में भक्त बन जाना कोई कम आकर्षण नहीं था। उन्होंने वातावरण के सभी पहलुओं पर सोच-विचार कर थली में आने का अपना निर्णय घोषित कर दिया। जो लोग उन्हें निमंत्रण देने के लिए गये थे वे अपनी चिर-इच्छाओं की पूर्ति के सुनहले स्वप्न लेकर बड़ी प्रसन्नता के साथ वापस आये और अंदर-ही-अंदर अपनी तैयारी में लग गये।

स्थानकवासियों का आगमन

अपने पूर्व निश्चय के अनुसार सं० १९८४ में स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी का थली के उन क्षेत्रों में आगमन हुआ। सामाजिक झगड़े के आधार पर धार्मिक भेद पैदा कर लाभ उठाने की यह एक बहुत गूढ़ चाल थी। इससे पूर्व एक बार सं० १९७२-७३ में उनके गुरु पूज्य श्रीलालजी भी उधर आये थे उनका उद्देश्य अपने विचारों का यहाँ प्रचार करने का था। उस समय कालूगणी मेवाड़ की ओर पधारे हुए थे अतः अपने लिए प्रचार का एक अच्छा अवसर समझकर ही वे यहाँ आये थे परन्तु उन्हें यहाँ किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। लगभग बारह वर्ष के पश्चात् प्रचार के निमित्त उन लोगों का यह दूसरी बार उधर

आगमन हुआ था। इस बार आगमन का उद्देश्य केवल विचार-प्रसार का ही न होकर, सभवत परिस्थितियों का मुफ्त मे लाभ उठा लेने का भी था।

उन लोगो का प्रथम आगमन तो पूर्णत विफल रहा। द्वितीय आगमन के प्रारभ काल में उन्हें अवश्य कुछ सफलता मिली थी। परन्तु उस सफलता को यदि इतने वर्षो के पश्चात् आज के प्रकाश मे देखें, तो वह एक मरुमरीचिका-मात्र ही कही जा सकती है। आज उन क्षेत्रों में जो भी स्थानकवासी है, वे प्राय उस समय भी तेरापन्थी नही थे। इतस्तत जो तेरापन्थी उस सामाजिक आवेश में स्थानकवासी बन गये थे, वे उस आवेश की समाप्ति के साथ ही पुन सभल गये। उन लोगो को दोनो सप्रदायो के बाह्य और आतरिक सगठन तथा आचार और विचार के सौक्ष्म्य की तुलना करने का जो अवसर मिल गया था, सभवत वह उसी के निष्कर्ष का फल था।

उन लोगों का प्रथम आगमन सभवत इसलिए असफल हो गया था कि उस समय वहाँ की जनता के मस्तिष्क में कोई आवेश नहीं था, अत सोचने और निर्णय करने में वे अपनी जागरूक बुद्धि का ठीक और पूरा उपयोग कर सकते थे। दूसरी बार के आगमन पर सामाजिक आवेश भरपूर था, अत कोई भी चिंतन निष्पक्ष न होकर उस आवेश से प्रभावित हो सकता था। पर फिर भी उनका वह आगमन सभवत इसलिए विफल हो गया था कि वे लोग वहाँ की जनता पर अपनी आचार-कुशलता, एकता और प्रामाणिकता की कोई विशिष्ट छाप नही छोड सके थे।

दो चातुर्मास

आचार्य जवाहरलालजी ने उस समय थली के उन क्षेत्रों में दो चातुर्मास किये थे। प्रथम सरदारशहर में और द्वितीय चूरू में। दोनो ही स्थानों के कुछ प्रमुख व्यक्ति उनको लाने वालों में से थे, अत वहाँ तो प्रचार तथा प्रसार का विशेष प्रयास किया ही गया था। परन्तु अन्यत्र भी शेषकाल में विहार होता था, तब काफी प्रयास किया जाता था। कहा जाता है कि उस प्रचार में स्थानकवासियो की अपनी मान्यताओं की चर्चा से भी कही अधिक तेरापन्थ के खण्डन की चर्चा रहा करती थी। सभवत उन लोगो ने अपना लक्ष्य तेरापन्थ का खडन करने तथा उस पर ऐसे आक्षेप लगाने का ही बना लिया था कि जिससे तेरापन्थ के प्रति जनता में बनी हुई सहज आस्था को मिटाया जा सके।

दूषित प्रचार

उन दिनो तेरापन्थ के प्रति घृणा फैलाने के लिए आये दिन कोई-न-कोई नई बात मौखिक रूप से प्रचारित होती रहती थी। 'हमारे पात्र में पिल्ला डाल दिया गया,' 'पात्र में पत्थर डाल दिये गये,' 'आहार-पानी देने का प्रत्याख्यान करा दिया गया' आदि बातें इसी समय की देन हैं। उन्हीं बातों को बार-बार दुहराकर तथा अपने समाज के दूरवर्ती पत्रों में प्रकाशित कराकर ऐसा रूप दिया जाता था कि जिससे स्वय उनके समाजवालों के मन में तो कम-से-कम

विद्वेष भावना रखते आये थे। उनके पूर्वज
चतुर्भुजजी जयाचार्य के समय में तेरापन्थ से पृथक हो चुके थे।
शिष्य प्रशिष्य नहीं रहा फिर भी उनके वे श्रावक वंश-परंपरा से ही उससे
बने रहे। वे लोग स्थानकवासी तो नहीं थे परन्तु उस [illegible] की जड़ें
हिला देने या कम से कम निर्बल बना देने की दृष्टि से उन्हें [illegible] [illegible]
कोठारी भी उनकी उस भावना से सहमत थे।

आखिर उन लोगों ने स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी महाराज को, जो कि बीकानेर तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में विचरते थे वहाँ बुला लाने का निर्णय किया। तदनुसार कुछ लोग एकत्रित होकर बीकानेर गये। उन लोगों ने उन्हें थली में [illegible] की और वहाँ की सारी परिस्थिति से अवगत किया। प्रलोभन देने के तौर पर दिखाया कि यदि आप इस समय उधर आयेंगे तो हम लोग तो स्थानकवासी बन ही हैं किन्तु हमारा सारा पक्ष भी स्थानकवासी बन जाएगा। इस प्रकार [illegible] थली अनायास ही आपकी हो जाएगी। उसके पश्चात् कुछ लोगों को हम अपने पक्ष में प्रयास करेंगे कुछ को आप समझाएँगे तथा कुछ तेरापन्थियों की मान्यता का [illegible] अपने आप आपकी ओर आ जाएँगे। यों धीरे धीरे समस्त थली आपकी ही [illegible] है। तेरापन्थ तो अब वहाँ एक बुझता हुआ दीपक है थोड़ी-सी हवा [illegible] समझनी चाहिए। जिस सरलता से थली उनके हाथ में आई थी उससे भी [illegible] अब यह थली भी जाएगी।

उन लोगों की यह बात संभवतः उनके मन पर प्रभाव डालने वाली सिद्ध हुई। थली का स्वप्न एक क्षण के लिए छोड़ भी दें तो भी आधी थली का भी [illegible] भक्त बन जाना कोई कम आकर्षण नहीं था। उन्होंने वातावरण के सभी पहलुओं पर [illegible] विचार कर थली में आने का अपना निर्णय घोषित कर दिया। जो लोग उन्हें निमंत्रण देने के लिए गये थे वे अपनी पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के सुनहले स्वप्न लेकर थली [illegible] के साथ वापस आये और अंदर ही अंदर अपनी तैयारी में लग गये।

स्थानकवासियों का आगमन

अपने पूर्व निश्चय के अनुसार सं० १९८४ में स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी का थली के उन क्षेत्रों में आगमन हुआ। सामाजिक झगड़े के आधार पर धार्मिक [illegible] पैदा कर उसे उगाने की यह एक बहुत गूढ़ चाल थी। उससे पूर्व एक बार सं० १९७२-७३ में उनके गुरु पूज्य श्रीलालजी भी उधर आये थे उनका उद्देश्य अपने विचारों का वहाँ प्रचार करने का था। [illegible] समय कालूगणी मेवाड़ की ओर पधारे हुए थे अतः अवसर देख प्रचार का एक अच्छा [illegible] समझकर ही वे वहाँ आये थे परन्तु उन्हें वहाँ किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। लगभग बारह वर्ष के पश्चात् प्रचार के निमित्त उन लोगों का यह दूसरी बार उधर

कालूगणी का आत्मविश्वास

सामाजिक क्षेत्र का झगडा जब धार्मिक क्षेत्र की ओर बढने लगा, तब अनेक सघ-हितैषी व्यक्तियों को कुछ चिंता होने लगी। सामाजिक तनाव के उस वातावरण में कुछ भी हो सकता था। जब कुछ व्यक्ति उधर झुकने लगे, तब तो वह और भी अधिक विचारणीय प्रश्न बनने लगा। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि कोई भी व्यक्ति अपने सहयोगियों को खोना नही चाहता। साधु-साध्वियाँ भी उस विषय पर अपने-अपने ढग से सोचते ही थे, परन्तु कालूगणी को उस विषय में कभी किसी प्रकार का क्षोभ नही हुआ।

जब कभी उस विषय की बात चलती, तब कालूगणी फरमाया करते—"इसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिए कि अमुक व्यक्ति इधर आता है या उधर जाता है। अपनी सच्चाई पर ध्यान रक्खो, यदि वह ठीक है तो कोई कही जानेवाला नही है। कोई चला भी जाएगा तो कुछ दिन पश्चात् अपने आप ही वापस आ जाएगा। कोई नही भी आयेगा तो अपनी आत्मा के हित-अहित की वह स्वय सोचेगा, हम उसके पीछे कब तक चिन्तित होते फिरेंगे?" प्रायः अनेक बार उन्होंने इसी आशय की बातें कही थी। सभवत यह उनके सुदृढ आत्म-विश्वास की ही अभिव्यक्ति थी।

साधु-साध्वियों को निर्देश

उस अस्थिर वातावरण में भी कालूगणी अविचल-भाव से अपनी निर्धारित शाति-नीति पर ही चलते रहे थे। वे नही चाहते थे कि वहाँ के वातावरण मे किसी भी प्रकार की अशाति हो। वे यथासभव सघर्ष को बचाना चाहते थे, अत उसी नीति के अनुसार एक दिन उन्होने साधु-साध्वियो को बुलाया और कहा —"यह एक ऐसा अवसर है जिसमें बोलने से भी अधिक हमारा मौन काम करेगा, विरोधी लोग जनता में तरह-तरह की अफवाहें फैलाने का प्रयास कर रहे हैं। वे पारस्परिक कलह को और अधिक बढाने में लगे हैं। साधु-साध्वियो से झगडा करने

स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी द्वारा विरचित 'सद्धर्म मंडन' की भूमिका (पृष्ठ ११) में उपर्युक्त कथन का खडन करने के लिए अप्रामाणिकता बरती गई है। वहाँ वगचूलिया की प्रथम गाथा जिसमें कि वीर-निर्वाण के २९१ वर्ष पश्चात् सप्रति राजा के होने का उल्लेख है छोड़ दी गई है और शेष वर्षों का मिलान करते हुए कहा गया है—"यहाँ वीर-निर्वाण से १६९९ पर ३३३ वर्ष के लिए धूमकेतु का लगना बतलाया है और विक्रम स० १२२९ मे वीर-निर्वाण काल १६९९ वर्ष का होता है। इसका हिसाब इस प्रकार लगाइये,—वीर-निर्वाण के अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दीवाहन का शक चलता रहा, उसके पश्चात् विक्रम सवत् आरभ हुआ। इसलिए विक्रम स० १२२९ में ४७० वर्ष मिला देने से १६९९ वर्ष होते हैं। यही वगचूलिया के हिसाब से धूमकेतु ग्रह के प्रवेश का समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा, इसलिए विक्रम स० १२२९ मे ३३३ जोड़ देने से १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम स० १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अत 'भ्रम विध्वसन' की भूमिका में वि० स० १८५३ मे धमकेतु के उतरने का समय बतलाना मिथ्या समझना चाहिए।"

कालूगणी का आत्मविश्वास

सामाजिक क्षेत्र का झगडा जब धार्मिक क्षेत्र की ओर बढने लगा, तब अनेक सघ-हितैषी व्यक्तियो को कुछ चिंता होने लगी। सामाजिक तनाव के उस वातावरण में कुछ भी हो सकता था। जब कुछ व्यक्ति उधर झुकने लगे, तब तो वह और भी अधिक विचारणीय प्रश्न बनने लगा। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि कोई भी व्यक्ति अपने सहयोगियो को खोना नही चाहता। साधु-साध्वियाँ भी उस विषय पर अपने-अपने ढग से सोचते ही थे, परन्तु कालूगणी को उस विषय में कभी किसी प्रकार का क्षोभ नही हुआ।

जब कभी उस विषय की बात चलती, तब कालूगणी फरमाया करते—"इसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिए कि अमुक व्यक्ति इधर आता है या उधर जाता है। अपनी सच्चाई पर ध्यान रक्खो, यदि वह ठीक है तो कोई कही जानेवाला नही है। कोई चला भी जाएगा तो कुछ दिन पश्चात् अपने आप ही वापस आ जाएगा। कोई नही भी आयेगा तो अपनी आत्मा के हित-अहित की वह स्वय सोचेगा, हम उसके पीछे कब तक चिन्तित होते फिरेंगे ?" प्रायः अनेक वार उन्होने इसी आशय की बातें कही थी। सभवत यह उनके सुदृढ आत्म-विश्वास की ही अभिव्यक्ति थी।

साधु-साध्वियो को निर्देश

उस अस्थिर वातावरण में भी कालूगणी अविचल-भाव से अपनी निर्धारित शाति-नीति पर ही चलते रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि वहाँ के वातावरण मे किसी भी प्रकार की अशाति हो। वे यथासभव सघर्ष को बचाना चाहते थे, अत उसी नीति के अनुसार एक दिन उन्होने साधु-साध्वियों को बुलाया और कहा –"यह एक ऐसा अवसर है जिसमें बोलने से भी अधिक हमारा मौन काम करेगा, विरोधी लोग जनता में तरह-तरह की अफवाहें फैलाने का प्रयास कर रहे हैं। वे पारस्परिक कलह को और अधिक बढाने में लगे है। साधु-साध्वियों से झगडा करने

स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी द्वारा विरचित 'सद्धर्म मंडन' की भूमिका (पृष्ठ ११) में उपर्युक्त कथन का खडन करने के लिए अप्रामाणिकता वरती गई है। वहाँ वगचूलिया की प्रथम गाथा जिसमें कि वीर-निर्वाण के २९१ वर्ष पश्चात् सप्रति राजा के होने का उल्लेख है छोड़ दी गई है और शेष वर्षों का मिलान करते हुए कहा गया है—"यहाँ वीर-निर्वाण से १६९९ पर ३३३ वर्ष के लिए धूमकेतु का लगना वतलाया है और विक्रम स० १२२९ मे वीर-निर्वाण काल १६९९ वर्ष का होता है। इसका हिसाव इस प्रकार लगाइये,—वीर-निर्वाण के अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दीवाहन का शक चलता रहा, उसके पश्चात् विक्रम सवत् आरभ हुआ। इसलिए विक्रम स० १२२९ में ४७० वर्ष मिला देने से १६९९ वर्ष होते हैं। यही वगचूलिया के हिसाव से धूमकेतु ग्रह के प्रवेश का समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा, इसलिए विक्रम सं० १२२९ मे ३३३ जोड़ देने से १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम स० १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अत 'भ्रम विध्वसन' की भूमिका मे वि० स० १८५३ मे धूमकेतु के उतरने का समय वतलाना मिथ्या समझना चाहिए।

की भी उनकी चेष्टा हो सकती है। वे उन कार्यों से इसलिए
और अधिक आतंक फैले। लोक के वातावरण में दोनों पक्ष अधिक [illegible]
में घुसने के लिए सुगमता से मार्ग मिल जाएगा। [illegible] की फूट डालने वाले
व्यक्ति को बीच में पड़ने का उतना ही अच्छा अवसर मिलता है।
उनके इस उद्देश्य को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए और [illegible] किसी भी
उत्तेजना का हेतु बनने से बचना चाहिए।

कालूगणी ने साधु-साध्वियों को आज्ञा देते हुए कहा—"यदि कोई विरोधी व्यक्ति
मिल जाये तो अपनी ओर से तुम्हें न कुछ उसे पूछने की आवश्यकता है और न कुछ
पूछने पर उत्तर देने की। वे लोग जो कुछ आरोप लगा रहे हैं और लगाएंगे
उनका निराकरण सामूहिक रूप से जनता के सामने ही किया जाना उचित होगा।
रूप से अकेले में कहे गये शब्दों का रूपान्तर होने में देर नहीं लगती [illegible]
ऐसा प्रायः हो ही जाता है। हमें ऐसा नहीं होने देना है।"

आचार्यदेव की यह आज्ञा सामयिक तो थी ही पर साथ ही
संभावित कलह से बचने के लिए यह आज्ञा भगवान् महावीर की उस आज्ञा का स्मरण
देती है जो कि गोशालक के साथ बोलने चर्चा करने तथा उत्तर प्रत्युत्तर करने की वर्जना के
रूप में उन्होंने अपने श्रमण संघ को दी थी।[1]

चूरू में तनाव

चूरू उस समय सामाजिक झगड़े का केन्द्र तो था ही पर साथ ही वह धार्मिक विरोध का
केन्द्र बन जाने की ओर भी झुकने लगा था। वहाँ के कुछ मुखिया व्यक्ति चाहते थे कि
सामाजिक झगड़े में जो व्यक्ति उनके पक्ष में हैं वे अपना धार्मिक पक्ष भी बदल लें और विरोधी
पक्ष से हर प्रकार से पृथक् हो जाएँ। उनकी यह इच्छा सहज रूप से पूरी होने वाली नहीं
थी। अधिकांश व्यक्तियों ने वैसा करने से इनकार कर दिया था। उस स्थिति से विवश होकर
ही संभवतः उन लोगों ने सोचा था कि यदि धार्मिक पक्ष में भी कोई तनाव उत्पन्न किया जा
सके तो अपने मनोनुकूल बात बन सकती है।

वहाँ चातुर्मास प्रायः सुराणा-परिवार के एक मकान में हुआ करता था। दूसरे पक्ष के
प्रमुखों ने उसी बात को लेकर अपने पक्ष के व्यक्तियों को उभाड़ना आरम्भ किया और उस
वर्ष का चातुर्मास अपने यहाँ करवाने पर जोर डाला। वे अपने उस प्रयत्न में दोनों ओर लाभ
देखते थे। यदि चातुर्मास उनके यहाँ होता है तो उसमें विरोधी-पक्ष को [illegible]
दिखाने का अवसर मिलता है और यदि नहीं होता है तो अपने पक्ष के व्यक्तियों को उनके यहाँ
जाने से रोकने और फिर अपने पक्ष की ओर झुकाने में सुगमता मिलती है।

१—भगवती: शतक १५

दोनों ओर का दबाव

इसी प्रकार की कुछ अतरग भावनाओं के साथ उन लोगों ने अपने वहाँ चातुर्मास करवाने की प्रार्थना आरभ की। वह प्रार्थना क्या थी, एक प्रकार की चुनौती ही थी कि या तो हमारे वहाँ चातुर्मास करवाओ, अन्यथा हम अपना कोई दूसरा मार्ग देखेंगे। यद्यपि उनकी प्रार्थना के शब्दों में यह चुनौती नही थी, किन्तु उसके प्रकार और भाव में वह भरी हुई थी, जो कि स्पष्ट पढी जा सकती थी। यदि उन लोगो ने चातुर्मास की वह प्रार्थना सामाजिक झगडा प्रारभ होने से पहले कभी की होती, तो उसे स्वीकार कर लेना बिल्कुल सहज और सभव था, परन्तु उस समय तो सारी स्थिति ही दूसरी थी।

उधर सुराणा-परिवार को जब उनकी प्रार्थना का पता चला, तो वे भी यह प्रार्थना करने लगे कि जब प्रतिवर्ष हमारे वहीं चातुर्मास होते हैं, तो फिर इस वर्ष के लिये उनके कथन पर उधर कराने का अर्थ हमारे पक्ष वाले तो यही निकालेंगे कि कोठारियो ने हम लोगो को नीचा दिखा दिया। इतने वर्षों में कभी उन्होंने चातुर्मास के लिए अपने स्थान की प्रार्थना नहीं की। इस वर्ष प्रार्थना करने का तात्पर्य तो स्पष्ट ही हम लोगो के बाधा देने और यह प्रचार करने का है कि हमने सुराणो की बात नीची कर दी। इस प्रकार दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी ओर चातुर्मास करवाने के लिए दबाव डालने लगे।

तटस्थता की उलझन

तटस्थ रहने वाले व्यक्ति के सामने कभी-कभी ऐसी उलझनें आ जाती हैं कि उनको सुलझाना सहज नही होता। जो व्यक्ति किसी भी एक पक्ष में होता है, उसे अधिक चिंता की वात नही होती, क्योंकि उसके सोचने का दृष्टिकोण अपने एक पूर्व निश्चित साचे में ढला हुआ होता है, परन्तु तटस्थ व्यक्ति को तो सभी परिस्थितिों से समझौता करते हुए, सभी पक्षो से बचते हुए, किसी भी पक्ष के सतोष तथा असन्तोष की मात्रा का सतुलन रखते हुए और सब से अधिक कठिन शर्त यह है कि न्याय को वलि होने से बचाते हुए अपना निर्णय करना पडता है। इसीलिए सक्रिय तटस्थता को निभाना, किसी एक पक्ष में वधकर चलने से कही अधिक दुष्कर कार्य है।

कोठारी-पक्ष की प्रार्थना स्वीकार कर लेने का अर्थ होता, सुराणा-पक्ष का अपमान। कोठारी जव उनके वहाँ सतो का रहना सहन नहीं कर सकते थे, तो कोठारियो के वहाँ रहना सुराणा भी वैसे सहन कर सकते थे। उधर चले जाने का एक अर्थ उस पक्ष का समर्थन करना भी लगाया जा सकता था, जव कि इधर रहने से वैसा नही किया जा सकता था, क्योंकि वहाँ रहने का क्रम तो अनेक वर्षों पूर्व से ही चालू था।

दोनो पक्षों की सारी वातो पर आचार्यदेव ने चितन किया और दोनो को उस विपय में समझौते मे काम लेने को कहा। परतु पूरा चातुर्मास प्राप्त करने मे कम में वे सतुष्ट नही थे और

साध्वियों का विहरण हुआ करता है। उस वर्ष भी कालूगणी ने प्राय प्रत्येक ग्राम में साधु-साध्वियों को भेजा। स्थानकवासी साधु भी वहाँ के प्राय प्रत्येक क्षेत्र में गये। उन्होंने वहाँ तेरापन्थ के विरुद्ध नाना प्रकार का प्रचार करके लोगों को भ्रांत करने का प्रयत्न किया। साधु-साध्वियाँ जब वहाँ जाती, तब वे सब पूर्व प्रचारित बातें जिज्ञासा लेकर उभरतीं। हर प्रश्न को आगमानुसार समाहित किया जाता और साथ ही अपने मन्तव्यो का जनता को ज्ञान कराया जाता। उन लोगों ने जैनेतर जनता में भी तेरापन्थ के विरुद्ध भावना भरने का काफी प्रयास किया, अत उन लोगों पर भी विशेप ध्यान दिया गया।

अनेक शास्त्रार्थ

धार्मिक चर्चाओं की उस लहर ने अनेक स्थानो में शास्त्रार्थ का रूप भी धारण किया। यद्यपि शास्त्रार्थ वहुधा धार्मिक प्रश्नो के समाधान का उतना कारण नही वनता, जितना कि पारस्परिक विवाद की वृद्धि का वनता है, फिर भी वह जिज्ञासुओ के लिए इतनी सामग्री उपस्थित कर देता है कि वे उस वाद-विवाद से दूर रहकर स्वतत्ररूप से भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं। उस समय अनेक बार उन लोगो ने तेरापन्थ को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। तेरापन्थ के मुनिजनों ने भी उन आह्वानों को उसी तत्परता से स्वीकार कर जनता को दोनो पक्षों पर विचार करने का अवसर दिया था।

शास्त्रार्थ के उस कार्य में मुनिश्री हेमराजजी आदि अनेक सन्तो की दक्षता ने उन लोगों के साहस को इतना अस्तव्यस्त कर दिया कि वे उनके नाम से भी घबराने लगे। श्रावक-वर्ग में भी अनेक व्यक्ति शास्त्रार्थ में अच्छे निपुण थे। उनमें वृद्धिचन्दजी गोठी तथा नेमिनाथजी सिद्ध आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अनेक बार उन लोगों के साथ चर्चाएँ की थीं।

व्याख्यान मे शास्त्रार्थ

एक बार स्वयं कालूगणी के साथ भी उन लोगो का शास्त्रार्थ हुआ। कालूगणी उन दिनों चूरू में विराजमान थे। स्थानकवासी भी वहीं आये हुए थे। उनके भावी आचार्य गणेशीलालजी महाराज एक दिन पूर्व सूचना के विना ही कुछ सन्तो सहित आचार्यदेव के पास आ गये। आचार्यदेव उस समय व्याख्यान में विराजमान थे। परिषद् में काफी मनुष्य उपस्थित थे। उनके आगमन पर व्याख्यान का चालू प्रसग स्थगित कर दिया गया और वह व्याख्यान-सभा एक रूप से शास्त्रार्थ-सभा में वदल गई।

वे लोग साधु-साध्वियों की पारस्परिक साभोगिकता-असाभोगिकता के विषय पर चर्चा करने आये थे, अत वही विषय छेडा गया। लगभग पौने दो घण्टे तक प्रश्नोत्तर चलते रहे। आगमिक आधार पर जब कालूगणी ने उनकी साभोगिकता को सिद्ध किया, तव स्वय उनके ही साथ आये हुए पडित ने उन्हें टोकते हुए कहा—"गणेशीलालजी महाराज। इसमें तो

आचार्यश्री कहते हैं वही ठीक है। जब उनके पास जाते ही
रह गया तब वे निरुत्तर होकर वापस लौट गये। सुना है कि
चर्चा के विषय में वहाँ अनेक बार खेद प्रकट करते हुए कहा था कि [illegible]
ही तो था वह अपने पक्ष को ठीक ढंग से नहीं रख सका आदि।

प्रत्यावर्तन

स्थानकवासी जब बंगाल में उधर आये थे तब वहाँ के समाज में बड़ी जोर की मची हुई थी। इसीलिए वे लोग बड़ी-बड़ी आशाओं और कल्पनाओं से भरपूर आये थे, परन्तु वहाँ विहार करने के पश्चात् भी जब कोई आशा और कल्पना फलीभूत न हो सकी तब प्रत्यावर्तन ही उनके सामने एक मात्र प्रशस्त मार्ग रह गया था। आगमन का प्रत्यागमन की खामोशी में बदल गया। ज़ौक का यह शेर कितनी गम्भीर वास्तविकता से भरा है

बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जब चीर कर देखा तो कतराए खून निकला॥

उपशान्ति की ओर

सामाजिक झगड़े का जोश धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा। होली के दिनों में जिस कुछ लोग अपनी शिष्टता और शालीनता को ताक पर रखकर निर्लज्ज हो जाते कर बकते-झकते हैं उसी प्रकार ओसवाल-समाज ने भी झगड़े के उन दिनों में अपने पूर्वार्जित गौरव और प्रभाव को ताक पर रखकर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में कमी नहीं रखी। आखिर कभी-न-कभी तो थकते ही। जब वे थके और पेट भर आया तब तक अपने-अपने काम की ओर दौड़ने लगे। झगड़ा अपने आप उनके दिमाग से विस्मृत होने लगा।

उसमें एक दूसरा कारण यह भी था कि कुछ व्यक्तियों की आंतरिक प्रेरणा से उस झगड़े की मूल भूमिका को ही उखाड़ फेंका था। उनके प्रयास से मुर्शिदाबाद के उन [illegible] व्यक्तियों को फिर से समाज में ले लिया गया था जो कि विलायत जाने के कारण मुर्शिदाबाद के ओसवाल-समाज द्वारा बहिष्कृत किये गये थे। उनको सम्मिलित करने से उस झगड़े की रीढ़ ही टूट गई। यों यह झगड़ा तो एक प्रकार से समाप्त हो गया परन्तु उस समय जो मानसिक कटुता पैदा हो गई थी वह इतनी शीघ्र मिटने वाली नहीं थी। उसमें समय [illegible] आने लगी थी।

पागल कुत्ते के काट खाने पर प्रायः वर्षाकाल में तथा [illegible] के समय उसकी लहर उठा करती है। उसी प्रकार यह झगड़ा या मानसिक दुर्भाव में एक ऐसे रोग के रूप में रह गया था कि जिसकी लहर प्रायः विवाह तथा त्योहार आदि में फिर फिर जीवित हो उठा करती थी। धीरे-धीरे वे सारी स्थितियाँ भी ठीक होती गईं। दुर्भाव भी क्रमशः ही क्षीण होता गया।

बीच में कई वार उसे विधिवत् समाप्त कर देने का प्रयास किया गया, परन्तु ज्योंही समझौते की कोई बात चलती, त्योंही फिर से गडे मुर्दे उखडने प्रारम्भ होते और अपनी-अपनी शान पर अकडने की मनोवृत्ति काम करने लगती। तब अन्तत यही मार्ग उचित समझा गया कि इसे अपने समय-परिपाक के साथ ही समाप्त होने के लिए छोड दिया जाए। वैसा ही किया गया। तब वह स्वय ही उपशात होता चला गया।

सोलह वर्ष पश्चात्

झगडे मे प्रमुख रूप से भाग लेने वाले नेता जब एक-एक कर प्राय दिवगत हो गये, तब अगली पीढी के मन पर उसकी कटुता और भी क्षीण हो गई। आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर समाज का ध्यान उस झगडे से उत्पन्न दुष्परिणामो की ओर खीचा गया। अनेक प्रयासो के पश्चात् अन्तत उसे विधिवत् समाप्त करने का वातावरण बना। उसका श्रेय आचार्यश्री तुलसी को प्राप्त हुआ। उन्होने अपने चूरू चातुर्मास मे उस विषय पर काफी परिश्रम किया और दोनो ही पक्षों को 'खमत खामणा' करने के लिए तैयार कर लिया। दोनो ही पक्ष के व्यक्तियो का उस कार्य को सम्पन्न करने में अच्छा सहयोग भी रहा। स० १९९९ आश्विन शुक्ला त्रयोदशी को प्रभातकालीन व्याख्यान के समय दोनों पक्षों में परस्पर 'खमत खामणा' हो गया। हजारो व्यक्ति उस समय वहाँ एकत्रित थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में सोलह वर्ष का वह प्राचीन जातीय सघर्ष इस प्रकार विधिवत् समाप्त कर दिया गया।

चातुर्मास के लिए

स० १९७९ में कालूगणी ने दूसरी बार बीकानेर पधारने का निश्चय किया। प्रथम बार के पदार्पण ने वहाँ की जनता की आकाक्षाओ को जगा दिया था और यह विश्वास भर दिया था कि अन्य क्षेत्रों के समान यहाँ भी आचार्यदेव का पदार्पण सहज ही हो सकता है। उन लोगो ने बीदासर में आकर कालूगणी के दर्शन किये और अपनी माग प्रस्तुत की। अब वे केवल शेषकाल के कुछ दिनो से सतुष्ट होने वाले नही थे। उनकी माग थी कि इस बार उधर चातुर्मास किया जाए।

कालूगणी ने उनकी प्रार्थना को सुना तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उन लोगो की माग को आदर दिया। यद्यपि उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार तो नही किया, परन्तु कुछ ऐसे आसार अवश्य पैदा कर दिये कि जिनसे वे अपने वहा चातुर्मास होना निश्चित रूप से समझ सकें।

विरोधियों की शिरोर्ति

विरोधी लोगो को जब कालूगणी के उधर आगमन के निश्चय का पता लगा, तब उनमें एक प्रकार की खलबली-सी मच गई। वे इस बात से और भी क्षुब्ध थे कि पिछली बार तो शेष काल में कुछ दिन ठहर कर ही चले गये थे, पर इस बार वे चार महीने तक ठहरने का निश्चय करके आ रहे थे। उनके लिए एक दूसरी बात भी कम चिंता का विषय नही थी, क्योंकि पिछली बार छब्बीस वर्ष के पश्चात् आये थे, जब कि इस बार नौ वर्ष के पश्चात् ही आ रहे थे। उन लोगों को यह स्पष्ट लगने लगा कि ये लोग धीरे-धीरे इन क्षेत्रों को भी बीदायत के समान अपना सुस्थिर विहार-क्षेत्र बना लेंगे। इसीलिए आचार्यदेव का उधर आगमन उनके लिए एक असह्य शिरोर्ति के समान बन गया था। इस बार उन सब ने मिलकर तेरापन्थ का प्रतिकार करने का निश्चय किया।

कालूगणी डूगरगढ होते हुए उधर पधारे। पहले-पहल गगाशहर में विराजना हुआ। विरोधी लोग वहाँ तक तो शात ही रहे, क्योंकि वहाँ उनका कोई जोर नहीं था। परन्तु ज्योंही उनका पदार्पण भीनासर में हुआ, त्योही उन लोगो ने अपनी हलचलें प्रारभ कर दीं। भीनासर निवासी कनीरामजी बाठिया आदि कुछ व्यक्ति उस विरोध-कार्य में विशेष रूप से रुचि ले रहे थे।

शान्ति की नीति

कालूगणी ने उन लोगों की भावनाओं को स्पष्ट रूप से जान लिया था कि इस बार ये भरपूर विरोध करेंगे। वे एक सन्त-पुरुष थे, अत उनके पास पत्थर का उत्तर ईंट से देने का सिद्धान्त न होकर **'उवसमेण हणे कोहं'** का सिद्धान्त था। इसी के अनुसार वे उन लोगों के क्रोध को अपने उपशान्त-भाव से जीतने की ही तैयारी करने लगे।

जब वे चातुर्मास करने के लिए बीकानेर पधारे तब उन्होंने सब [illegible] पास बुलाया और फरमाया— 'वहाँ कुछ व्यक्तियों के मन में बड़ी [illegible] वर्ष हम लोगों को अपने क्षमा धर्म की एक प्रकार से परीक्षा ही देनी [illegible] विरोधी वातावरण में भी उत्तेजित न होकर अपने आपको शान्त और संतुलित [illegible] होगा।

संतों ने उनकी वाणी को शिरोधार्य किया और आने वाले विरोधों के विरुद्ध शान्त भावना की मात्रा का संतुलन बनाये रखने को कृत-संकल्प हुए।

महात्मा बुद्ध ने एक बार दूर प्रदेशों में धर्म प्रचारार्थ जाने वाले बौद्ध-भिक्षुओं का पाठ पढ़ाते हुए पूछा— भिक्षुओ ! यदि तुम्हें वहाँ के लोग गालियाँ देंगे, [illegible] करोगे ?

भिक्षुओं ने कहा— हम समझेंगे कि चलो ये तो गालियाँ ही दे रहे हैं कोई हमें [illegible] थोड़े ही रहे हैं ?

बुद्ध ने फिर पूछा— 'यदि कोई पीटने भी लगेगा तब ?

भिक्षुओं ने कहा— 'हम समझेंगे कि अंगविच्छेद तो नहीं कर रहे हैं।"

बुद्ध ने आगे और पूछा— 'यदि कोई अंगविच्छेद भी करने लगेगा तो ?'

भिक्षुओं ने कहा— 'तो समझेंगे कि प्राणांत तो नहीं कर रहे हैं ?"

इन प्रश्नोत्तरों से लगता है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह बताने का प्रयत्न किया था कि प्रचारार्थ जाने वाले व्यक्ति को विरोधियों द्वारा प्राणांत तक के कष्ट पैदा किये जा सकते हैं अतः वहाँ तक की स्थिति का सामना करने के अपने सामर्थ्य को पहले से ही तोल लेना चाहिए, अन्यथा वह अपने कार्य म सफल नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रकार से कालूगणी ने भी अपने शिष्यों को यह बताया कि चाहे उत्तेजना की कैसी भी स्थिति पैदा क्यों न हो जाए, पर तुम अपनी शांत-वृत्ति को मत खोना। विरोधी उत्तेजित करना चाहते हों तब उत्तेजित हो जाने से उनका ही मनोभिलषित पूरा होता है, यदि उत्तेजित न हुआ जाए तो उन्हें अपनी असफलता ज्ञात होती है और अपना विरोध निष्फल गया लगता है। विरोध का निष्फल होना ही तो शान्ति की जीत है। प्राणान्त पर भी अपने शान्ति के निश्चय से न डिगने वाले को संसार में कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती। कालूगणी ने अपने शिष्य-वर्ग में वही भावना भरने का प्रयास किया था।

एक पक्षीय विरोध

चातुर्मास प्रारम्भ होने के साथ ही विरोध का रूप उग्र से उग्रतर होता चला गया। आये दिन निन्दा-पूर्ण आक्षेपों से भरे छापे छपने लगे। जिधर दृष्टि पहुँचे उधर ही भीतों पर विरोधी पैम्फलेट लगे दिखाई देने लगे। संभवतः बीकानेर की बहुत कम भीत ऐसी रही होगी

जहाँ उनकी पहुँच नहीं हो पाई हो। नीचे सडको पर भी सैकडो पत्र चिपकाए जाने लगे। जिधर से आचार्यदेव तथा सन्त-सतियो का प्रतिदिन आवागमन हुआ करता था, उन सडको को विशेष रूप से उस कार्य के लिए चुना गया था। उन लोगो का यह सारा विरोध एक पक्षीय ही था, क्योकि तेरापन्थ ने ऐसे निम्नस्तरीय विरोधो का न कभी उत्तर दिया है और न कभी ऐसा करना उचित समझा है।

उत्तेजना

सहने की भी अन्तत कहीं सीमा होती है। उस अनर्गल प्रचार से तग आकर वहाँ के समेरमलजी बोथरा आदि कुछ प्रमुख श्रावक बहुत उत्तेजित हो गये। उन्होंने कालूगणी को अपनी सहन-शीलता की सीमा आ जाने की सूचना देते हुए कहा—"आप साधु है, अत सब कुछ सह लेने का मार्ग आपका हो सकता है, हम यदि इस प्रकार चुपचाप यह अन्याय और असत्य-प्रचार सहते जाएँगे, तो ये लोग हमारा यहाँ बसे रहना कठिन कर देंगे। इतने दिन जो सह लिया सो सह लिया, अब आगे से हर प्रहार का बराबर उत्तर दिया जाएगा। हम सबने अब से यही निर्णय किया है।"

शिक्षा के छींटे

कालूगणी उनकी उत्तेजना के कारणो तथा प्रतिकार की भावनाओ को गहराई से जानते थे, फिर भी वे अशान्ति उत्पन्न करना नही चाहते थे। इसलिए शिक्षा के शीतल छींटो से उस आवेश को शान्त करते हुए बोले—"ऐसा करने से आज तक की हमारी शान्ति-नीनि पर आघात पहुँचेगा। क्या इस तुच्छ से विरोध के सम्मुख हमें अपनी चिर-रक्षित नीति को समाप्त होने देना चाहिए ? एक व्यक्ति यदि अपने अज्ञान के कारण गलत साधनों का उपयोग कर रहा हो तो दूसरे द्वारा भी वैसे ही साधनों का उपयोग करने लग जाना, क्या कोई बुद्धिमत्ता का कार्य हो सकता है ? यदि तुम उनके विरुद्ध कोई पैंफलेट आदि छपाओगे तो आज तक उन्होने जो कुछ छपाया है, उसके औचित्य को ही सिद्ध करोगे। जो जनता अब तक तुम्हें शान्ति-प्रिय समझती आ रही है, वह तुम दोनों को एक बराबर ही समझने लगेगी। इस समय अनेक तटस्थ व्यक्ति ऐसे हैं, जो तुम्हारी प्रशसा करते हैं और उनकी अप्रशसा। तुम्हारे द्वारा छपाया हुआ प्रथम पैंफलेट देखते ही उनकी सहानुभूति तुम्हारे साथ नही रह पायेगी। तुम इससे खोओगे अधिक, पाओगे कुछ नहीं।"

उतार-चढाव

कालूगणी की शिक्षा ने उनके आवेश को शात कर दिया। उन्होने अपने निश्चय को बदल कर फिर से शात रहने का निर्णय कर लिया। फिर भी जब-जब दूसरी ओर से उत्ते-जनात्मक कार्य होते, तब-तब उन लोगों के मन में उत्तर देने की भावना जोर मारने लगती

थी परन्तु आचार्यश्री तक पहुँचने से पूर्व ही मगनलालजी
सारा चातुर्मास गावों के इन्हीं उधार चक्करों में बीता।

कोड़े की मार

तेरापन्थियों को उत्तेजित करने के लिए विरोधी लोग
प्रवृत्तियाँ भी कर लेते थे जो कि परस्पर झगड़ा करा देने वाली हो सकती थीं
जनों की सहनशीलता उन सब स्थितियों को चुपचाप टाल दिया करती थी।
लिए जाते समय सन्तों को अपशब्द कहना तो उनके लिए साधारण काम
हो गया था। इतना ही नहीं वे लोग उससे भी कुछ आगे बढ़ गये थे। एक बार
किसी एक ने बड़ा ही दुस्साहस कर डाला था। मगनलालजी स्वामी
थे कि कोई पीछे से उनकी पीठ पर कोड़ा मारकर भाग गया। मगनलालजी स्वामी
रह गये। चुपचाप स्थान पर आ जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग उनके
ही हो सकता था अतः वे इस प्रकार वहाँ से वापस आ गये मानो कुछ हुआ ही
चातुर्मासान्त तक यह घटना केवल कुछ सन्तों तक ही सीमित रही किसी
पहुँची।

हत्या का षड्यन्त्र

आपाधापी वहाँ के विरोध का केवल बाहरी रूप था। अंदर ही अंदर दूसरा
भी चल रहा था। वे लोग कालूगणी की हत्या कर देने तक की योजना बना चुके थे।
तो तेरापन्थ का सौभाग्य और स्वयं कालूगणी का पुण्य प्रताप समझिये कि ऐन वक्त पर
जिघांसु की भावना पलट गई और उसने सारा भेद खोल दिया अन्यथा वह हत्या की
तैयारी करके आया था।

बीकानेर के बाहर काफी दूर में मिट्टी के बड़े-बड़े टीबे बने हुए हैं। कालूगणी शौचार्थ के
लिए उधर ही जाया करते थे। षड्यन्त्रकारियों ने कालूगणी को वहीं एकांत में अपने कार्य
का लक्ष्य बनाने का निश्चय किया। उन लोगों ने एक व्यक्ति को प्रलोभन देकर उस कार्य के
लिए नियुक्त किया। अपनी योजनानुसार पूर्व निश्चित समय पर वह उस स्थान में पहुँच गया।
कालूगणी प्रतिदिन के समान ही स्थंडिल-भूमि की ओर पधारे। जब वे अकेले रह गये तब वह
व्यक्ति उनकी ओर बढ़ा। उसके हाथ में भरी हुई पिस्तौल थी।

हृदय-परिवर्तन

अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए उचित स्थान पर पहुँचने पर उसने कालूगणी की ओर देखा
और अपना काम करना ही चाहा था कि न जाने कालूगणी की निश्छल और करुण [illegible]
दृष्टि का उस पर क्या प्रभाव हुआ कि वह एक क्षण के लिए ठिठक गया। उनकी सौम्य और
निसर्ग-पुनीत आकृति ने उसके मन में एक उथल-पुथल मचा दी। वह उस [illegible]

हत्या के गुरुतम पाप के परिणामो मे काप उठा। पिस्तौल उसके हाथ से छूटकर नीचे गिर गई।

भडाफोड़

एक अज्ञात व्यक्ति को इस प्रकार अपनी ओर देखते देखा, तब कालूगणी ने ठहर कर पूछ लिया—"क्यों भाई! क्या बात है?"

वह व्यक्ति आगे बढा और चरणस्पर्श करते हुए बोला—"बात तो बहुत बडी थी, परन्तु मैं इतना कमीना नही हूँ कि चाँदी के कुछ टुकडों के लिए आप जैसे देव-पुरुष को पिस्तौल का लक्ष्य बनाऊँ।"

गुरुदेव ने साश्चर्य पूछा—"मुझे पिस्तौल का निशाना किसलिए बनाना चाहते थे?"

उस व्यक्ति ने तब बडी भाव-विह्वल भाषा में उस षड्यन्त्र का भडाफोड करते हुए सारी बात बतलाई—"अमुक-अमुक व्यक्तियो ने मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त किया था, पर आप जैसे भाग्यशाली व्यक्ति को देखते ही मेरा मन फिर गया। मेरे हाथो ने काम करने से इनकार कर दिया।"

वह व्यक्ति क्षमा माँगकर अपने घर गया और गुरुदेव पूर्ववत् निर्भय तथा अचचल भाव से शहर में आ गये।

महान् सत

षड्यन्त्रकारियो के पास जब वह खबर पहुँची होगी, तब पता नही उन पर क्या बीती होगी? उन्होंने अपने पाप को छिपाने के लिए न जाने कितने उपाय सोचे होगे। परन्तु कालूगणी ने एक महान् सत की ही तरह अपने साधुओ को चेता दिया कि वे उस बात को किसी भी गृहस्थ के सामने तब तक बिलकुल न चलायें, जब तक कि चातुर्मास समाप्त न हो जाए।

वे जानते थे कि हम तो चातुर्मास की समाप्ति पर चलें जाएँगे, परन्तु इस बात का पता चलने पर गृहस्थों में परस्पर यदि कोई झगडा हो जाएगा, तो वह शात होना कठिन हो जाएगा। इस प्रकार फूँक-फूँक कर बडी सावधानी से पैर धरते-धरते अन्तत वह चातुर्मास समाप्त हुआ।

समझौते का प्रयास

सपूर्ण चातुर्मास में विरोध प्राय अविश्रान्त ही चलता रहा, किन्तु वह सारा एक ही पक्ष के द्वारा किया जाता रहा था, अत जनता में उनके लिए कोई सम्मान की भावना नही बन सकी थी। प्राय साधारण व्यक्तियो से लेकर उच्च राज्याधिकारियो तक सभी ने उनके उस कृत्य को बुरा ही बतलाया।

उन्ही दिनों में तेरापन्थ के एक प्रमुख व्यक्ति किसी कार्यवश युवराज शार्दूल सिहजी से मिले थे। वे उस समय बीकानेर राज्य के गृहमत्री थे। बात ही बात में उस विरोध के सबन्ध

हब बहादुर या श्री महाराज कुमारजी साहब बहादुर की तरफ से दिया जायगा, उसीमें ी तरह का फरक नही घालेगा और अब लिख देते है कि आयदे तेरापन्थियो के खिलाफ ो कोई जातीय हमला किया जायगा और ना उसके खिलाफ उसका अपमान हो, ऐसा ा ना छापेगा और ना ऐसी कोई सभा करके उसमें अनुचित शब्द कहेगा और ना कोई 'बातें तेरापन्थियो की तरफ से सम्बेगी और बाईस सम्प्रदाय के खिलाफ कही जायगी ।"

हस्ताक्षर—

कनीराम बाठिया (स्थानकवासी)
लिखमीचन्द डागा (स्थानकवासी)
पूनमचद कोठारी (सवेगी)
समेरमल बोथरा (तेरापन्थी)

तेरापन्थ की ओर से हस्ताक्षर करने वाले बीकानेर निवासी समेरमलजी बोथरा थे । उस समझौते का तेरापन्थ-समाज के अन्य नेताओ ने साधारणरूप से तो स्वागत ही किया, किन्तु उसमें तेरापन्थियो से किसी अन्य सप्रदाय के विरुद्ध आक्षेपात्मक प्रचार नही करने के लिए जो लिखवाया गया था, उसको उचित नही समझा गया । उसमें दोषी तथा निर्दोषी को एक ही तुला पर तौल दिया गया था । फिर भी सबको यही सतोष था कि आगे के लिये द्वेष-वृद्धि का द्वार वद हो गया है, यह भी कोई कम बात नहीं है ।

खुजलाहट

यदि वह समझौता नही होता तो भी तेरापन्थी अपनी नीति के अनुसार किसी की निंदा नही करते । इसलिए समझौता हो जाने के बाद भी उनको अपनी स्थिति में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हुई । परिवर्तन तो उनको करना आवश्यक था, जिन्होने इतने दिनों तक खूब खुलकर तेरापन्थ की निन्दा की थी । किन्तु वे अधिक दिनों तक अपने को रोक नही सके । खुजलीवाला भला अपने आप को खुजलाए बिना कितनी देर तक रोक सकता है । दूसरो की निंदा करने में रस लेने वाले व्यक्तियों या समाजों की भी प्राय वैसी ही स्थिति होती है । वे अपने आपको रोक नहीं सकते । निदा करना उनके स्वभाव में ऐसा रम जाता है कि वे उसे समझ और पकड नहीं पाते । सम्भवत उन्हें उसी में किसी विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होने लगती है ।

समझौता भग

समझौते की स्याही पूरी सूखने भी नही पाई थी कि कुछ ही समय पश्चात् उन लोगो ने एक पुस्तक—'पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला' छपवाकर वितरीत की । न उन्होंने अपने हस्ताक्षरो का आदर किया और न प्रदत्त वचनो का । उन्होंने समझौता भग करके उन

र्ष रूप प्रभाव पडा, वह यह था कि उनमें मे अनेको को देश-निष्कासन का दड मिला,
के मुचलके लिए गए तथा उनके द्वारा छपाई गई विद्वेष-पूर्ण पुस्तकें जब्त हो गई।

राजपत्र मे

। दड-व्यवस्था का विवरण बीकानेर राजपत्र में प्रकाशित हुआ था, वह इस
:

श्री लालगढ मुबर्रखा ३१ अक्टूबर, सन् १९२३ ई०

न० ६२८ चूके २० दिसम्बर, सन् १९२२ ई० को एक तरफ से समेगी और बाईस टोले के यों और दूसरी तरफ से तेरापन्थियों के मुखियो के दरमियान एक तहरीरी इकरारनामा हुवा था कि आयन्दा किसी फरीक की तरफ से कोई जाती हमला नही किया जावेगा और न जबान से या तहरीर में कोई फोहश या खराब या हतक आमेज अलफाज इस्तैमाल किये जावेंगे कि जिनसे गालिबन किसी खास फिरके या फरीक के जजबात पर बुरा असर पडे और चूँकि यह बात श्रीजी साहब बहादुर की गवर्नमेन्ट के नोटिस में आई है कि बाज समेगी और बाईस टोले वालों ने इकरारनामे मजकूर की खिलाफवरजी की है और वोह एक नई और काबिले ऐतराज किताब "पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला" की बाबत जिम्मेवार हैं के जो मस्तराम के फरजी नाम से शाये की गई है, इसलिये हस्ब जैल अहकाम सादिर किये जाते हैं—

(१) इकरारनामा मजकूर मन्सूख समझा जावे।

(२) हस्ब जैल काबिले ऐतराज किताबें यानि (१) सवालात मुनि मगनसागर (२) कालुमुनि मतव्य व (३) पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला जब्त की गई हैं और जहाँ कहीं वोह रियासत में मिले, जब्त करली जावें और जिन शख्सो के पास इन किताबों की जिल्दें हो, उन्हें उन जिल्दों को फौरन सब से करीबी तहसील या थाने पुलिस में हवाले कर देना चाहिये और इस नोटिफिकेशन की तारीख से दो महीने के बाद जो शख्स इन किताबो की कोई जिल्द ले रक्खेगा तो उस पर मुकद्दमा चलाया जावेगा।

(३) हस्ब जैल अशखास यानी (१) कान्हीराम बाठिया (२) लखमीचद डागा (३) मगलचद मालू, को बहैसियत मुखिया उस फरीक के कि जिसने इकरारनामे की खिलाफवरजी की है, आया इस अमर की वजह जाहिर करनी चाहिये कि उनमें से हर एक से एक-एक हजार रुपये का मुचल्का क्यों न लिया जावे कि वोह आयन्दा ऐसे हमलों में शरीक न हों, या अलानिया तौर पर इस बात का इकरार करें कि उनका उन हमलों से कोई ताल्लुक नही है कि जो २० दिसम्बर, सन् १९२२ ई० से किये गये है और बतामील हुक्म मजकूर कान्हीराम बाठिया और लखमीचद डागा ने पहले ही एक तहरीर लिख दी है कि जिसके जरिये से उन्होंने अपने ऊपर यह जिम्मेवारी ली है कि वोह ऐसे हमलो में हिस्सा नहीं लेंगे और उन्होने ऐसी किताबों और

जो निष्कर्ष रूप प्रभाव पडा, वह यह था कि उनमें मे अनेको की देश-निष्कासन का दड मिला, अनेकों के मुचलके लिए गए तथा उनके द्वारा छपाई गई विद्वेष-पूर्ण पुस्तकें जब्त हो गई ।

राजपत्र मे

उस दड-व्यवस्था का विवरण वीकानेर राजपत्र में प्रकाशित हुआ था, वह इस प्रकार है ·

श्री लालगढ मुवर्रखा ३१ अक्टूबर, सन् १९२३ ई०

न० ६२८ चूके २० दिसम्बर, सन् १९२२ ई० को एक तरफ से समेगी और वाईस टोले के मुखियों और दूसरी तरफ से तेरापन्थियो के मुखियो के दरमियान एक तहरीरी इकरारनामा हुवा था कि आयन्दा किसी फरीक की तरफ से कोई जाती हमला नही किया जावेगा और न जवान से या तहरीर में कोई फोहश या खराव या हतक आमेज अलफाज इस्तैमाल किये जावेंगे कि जिनसे गालिवन किसी खास फिरके या फरीक के जजवात पर वुरा असर पडे और चूँकि यह वात श्रीजी साहव वहादुर की गवर्नमेन्ट के नोटिस मे आई है कि वाज समेगी और वाईस टोले वालो ने इकरारनामे मजकूर की खिलाफवरजी की है और वोह एक नई और काविले ऐतराज किताव "पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला" की वावत जिम्मेवार है के जो मस्तराम के फरजी नाम से शाये की गई है, इसलिये हस्व जैल अहकाम सादिर किये जाते है—

(१) इकरारनामा मजकूर मन्सूख समझा जावे ।

(२) हस्व जैल काविले ऐतराज कितावें यानि (१) सवालात मुनि मगनसागर (२) कालुमुनि मतव्य व (३) पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला जब्त की गई है और जहाँ कहीं वोह रियासत में मिले, जब्त करली जावें और जिन शख्सो के पास इन कितावों की जिल्दें हों, उन्हें उन जिल्दों को फौरन सव से करीवी तहसील या थाने पुलिस में हवाले कर देना चाहिये और इस नोटिफिकेशन की तारीख से दो महीने के वाद जो शख्स इन कितावो की कोई जिल्द ले रक्खेगा तो उस पर मुकद्दमा चलाया जावेगा ।

(३) हस्व जैल अशखास यानी (१) कान्हीराम वाठिया (२) लखमीचद डागा (३) मगलचद मालू, को वहैसियत मुखिया उस फरीक के कि जिसने इकरारनामे की खिलाफवरजी की है, आया इस अमर की वजह जाहिर करनी चाहिये कि उनमें से हर एक से एक-एक हजार रुपये का मुचल्का क्यों न लिया जावे कि वोह आयन्दा ऐसे हमलों में शरीक न हों, या अलानिया तौर पर इस वात का इकरार करें कि उनका उन हमलो से कोई ताल्लुक नही है कि जो २० दिसम्बर, सन् १९२२ ई० से किये गये हैं और वतामील हुक्म मजकूर कान्हीराम वाठिया और लखमीचद डागा ने पहले ही एक तहरीर लिख दी है कि जिसके जरिये से उन्होने अपने ऊपर यह जिम्मेवारी ली है कि वोह ऐसे हमलों में हिस्सा नही लेंगे और उन्होने ऐसी कितावों और

हमलों की बाबत ना पसन्दीदगी जाहिर की है और यह इकरार ताल्लुक नहीं है।

(४) अमीचंद गोलछा और जमनालाल कोठारी शायिकाने [illegible] किताब नम्बर १ रियासत में तकसीम किये जाने के लिये [illegible] हर एक से एक-एक हजार रुपये के मुचलके लिये जावें कि वोह आइन्दा [illegible] न हों।

(५) अलावा इसके मुनि मगनसागर बैदुर वाला और [illegible] हमेशा मना किया जाता है कि वोह ताल्लुकसामी रियासत बीकानेर में

(६) अखीर में यह कि बीकानेर के [illegible] को आगाह किया जाता है किया जाता है कि वोह आइन्दा ऐसी काबिल ऐतराज किताबें न छापें वरना [illegible] चलाया जावेगा।

सही
[illegible][1]

दूसरा बीकानेर

उपर्युक्त राज-व्यवस्था के पश्चात् बीकानेर के अन्य सम्प्रदायों के मन में तेरापन्थ को गुरुतम विद्वेष-भावना थी उसकी एक प्रकार से रीढ़ ही टूट गई। सारी [illegible] करने वाली प्राय: होती ही नहीं कुछ व्यक्ति उन्हें भड़का कर गलत मार्ग पर ले जाते। उनसे उनका संसर्ग छूट जाता है तो वह स्वयं प्रकृतिस्थ होकर अपने किये का स्वयं मिलाती है। जब उसे अपने वास्तविक अध:पतन का पता लगता है तो सावधान भी होती है। सम्भवत: यही मन:स्थिति बीकानेर के विरोध में [illegible] जनता की भी हुई थी।

उसके पश्चात् संवत् १९८१ तथा ८७ में कालूगणी फिर बीकानेर की ओर पधारे। उन्होंने वे दोनों चातुर्मास गंगाशहर में किये। दोनों ही अवसरों पर बीकानेर नगर में भी विराजना हुआ परन्तु अब कहीं शान्ति का साम्राज्य था। उस समय ऐसा था कि मानो सं० १९७९ वाला बीकानेर कोई दूसरा ही था।

अपराजेय शक्ति

विरोध में स्वयं कोई शक्ति नहीं होती आवेश से ही उसके जीवन का काम चलता है। विरोध को जीवित रखने के लिए आवेश के इन्जेक्शन देते रहना अनिवार्य है। शान्ति और सहिष्णुता में स्वयं शक्ति होती है वे स्वयं की शक्ति पर ही जीवित रहती हैं। यही कारण है कि

१—बीकानेर राजपत्र : शनिवार, १ नवम्बर १९२२ (जिल्द १६ नं० ४४)

विद्वेष और शान्ति का जहाँ सामना होता है, वहाँ एक बार चाहे विद्वेष जीतता हुआ दिखाई दे, पर अन्त में उसकी हार निश्चित है। तेरापन्थ की मुख्य नीति सदा से ही शान्ति और सहिष्णुता की रही है। इसी आधार पर उसने हर विरोध के पश्चात् अपने को अधिक समर्थ और आत्मविश्वास-युक्त पाया है। तेरापन्थ की यह एक अपराजेय शक्ति है।

२—हरियाणा-पदार्पण

प्रार्थना स्वीकार

हरियाणा (पंजाब) में तेरापन्थ के आचार्यों में से माणकगणी ही पहले-पहल पधारे थे। परन्तु उस समय वहाँ बहुत थोड़ा समय दिया गया था। उसके छब्बीस वर्ष पश्चात् कालूगणी ने उन लोगों को दूसरी बार वैसा सुअवसर प्रदान किया। सं० १९७६ के मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् जब आचार्यदेव चूरू पधारे थे, तब हरियाणा-निवासी लोग काफी संख्या में दर्शन करने के लिए आये। उन्होंने गुरुदेव के सम्मुख हरियाणा-पदार्पण के लिए बड़ी आग्रह भरी प्रार्थना की। कालूगणी ने उनकी उस प्रार्थना को स्वीकार किया और उधर विहार कर दिया।

हरियाणा के लोग

हरियाणा के लोग बड़े श्रद्धालु और दृढ़ होते हैं। सरल होने के साथ ही पकड़ वाले भी होते हैं। अनुकूल व्यक्ति के प्रति जितनी उग्र उनकी अनुकूलता होती है, प्रतिकूल के प्रति उतनी ही उग्र प्रतिकूलता भी होती है। वे किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए जीभ से कहीं अधिक हाथ से काम लेने के आदी होते हैं। लम्बे समय तक फल की प्रतीक्षा करते रहना, उनकी सैनिक-प्रकृति सहन नहीं कर सकती। 'एक घाव दो टूक' का सिद्धान्त उनके जीवन-क्रम के अधिक निकट पाया जाता है, फिर विषय चाहे समाज का हो या राजनीति का, धन का हो या धर्म का।

सर्वत्र आकर्षण

कालूगणी का ज्यों ही हरियाणा में पदार्पण हुआ, वहाँ के सारे वातावरण में एक नई लहर-सी दौड़ गई। छोटे-छोटे गाँवों और खेड़ों से लेकर शहरों तक में आचार्यदेव के पदार्पण का सर्वत्र बड़ा आकर्षण रहा। जहाँ कहीं पधारना होता, वहाँ के आसपास के अनेक गाँवों के लोग पहले से ही एकत्रित हो जाया करते। वहाँ के ग्रामीण किसान जैन साधुओं की चर्या से परिचित न होने के कारण अनेक बार रुपये और नारियल की भेंट लेकर आ जाया करते, तो उन्हें समझाना बड़ा कठिन हो जाता। उनके मस्तिष्क में यह बात बड़ी कठिनता से ही बैठ पाती कि जैन साधु ऐसी कोई भेंट नहीं लिया करते।

भिवानी में

हरियाणा के काफी क्षेत्रों में विचरते हुए आचार्यदेव टुहाना तक पधारे और सं० १९७७ का वर्षाकाल भिवानी में बिताने का निश्चय किया। भिवानी में उस समय द्वारकादास बड़ा

प्रसिद्ध श्रावक था। वह सारे हरियाणे में अपना विशिष्ट प्रभाव रखता था। उसकी धर्म के प्रति निष्ठा और संघ के प्रति आस्था अद्वितीय थी। बड़ा परिवार अच्छा मान और व्यापक प्रभाव वाले विरल व्यक्तियों में से ही वह एक था। उसने संघ की काफी सेवाएँ की थीं। आचार्यदेव ने भिवानी में चातुर्मास करने का निर्णय करके उसकी तथा सारे भिवानी निवासियों की भावना को और भी अधिक सबल बना दिया। हरियाणा में आचार्यदेव का वह सर्वप्रथम चातुर्मास था अतः तत्प्रदेशीय सभी व्यक्तियों का मन एक प्रकार की सुखानुभूति से आप्लावित हो उठा। वे सब के सब उस दुर्लभ अवसर को पूर्ण सफल बनाने के प्रयास में लग गये थे। उनकी लगन वस्तुतः अनुकरणीय थी।

भयजनित विरोध

उस चातुर्मास में जैनेतर लोग भी व्याख्यान आदि से काफी लाभ उठाया करते थे। आचार्यदेव का उपदेश वृष्टि की तरह सर्व-जन हितार्थ हुआ करता था। उसमें किसी धर्म-विशेष का खण्डन न होकर जीवनोपयोगी बातों का ही विशेष रूप से निदर्शन हुआ करता था। दुर्व्यसनों का निषेध तथा सत्य और अहिंसा को जीवन में उतारने का संदेश भला किसे अच्छा नहीं लगता? सभी लोग दत्तावधान होकर उनका उपदेश सुनते और तदनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयास करते।

आश्विन तक यही क्रम सानन्द चलता रहा। परन्तु अन्दर ही अन्दर कुछ जैनेतर भाइयों के मन में यह सन्देह पैदा होने लगा कि ये कहीं हमारे समाज के व्यक्तियों को जैन न बना लें। इसी भय से प्रेरित होकर उन लोगों ने जैन धर्म के विरुद्ध तरह-तरह की अफवाहें फैलानी प्रारम्भ कर दीं तथा आचार्यदेव की हर प्रवृत्ति का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। वे लोग हर किसी उपाय का सहारा लेकर अपने समाज के व्यक्तियों का वहाँ आवागमन रोकना चाहते थे। 'वहाँ मत जाओ' ऐसा आदेश तो किसी को मान्य हो नहीं सकता था अतः वे किसी ऐसे उपाय की खोज में थे जिससे जनता में कोई विरोध पैदा किया जा सके या फिर क्षुब्ध वातावरण बनाकर पारस्परिक घृणा फैलाई जा सके।

आखिर उन्हें एक उपाय मिल गया। कार्तिक कृष्णा अष्टमी को चार दीक्षाएँ होने वाली थीं। उन्होंने उसका विरोध करने की बात सोची। जनता की भावना को किसी के विरुद्ध उभाड़ना हो और घृणा फैलानी हो तो वहाँ बहुत से तथ्यों की आवश्यकता थोड़े ही होती है। वहाँ तो अधिक विज्ञापन अधिक प्रचार एवं अधिक हल्ला मचाकर उत्तेजना पैदा कर देना ही पर्याप्त होता है। उन लोगों ने विरोधी सभाएँ की नारे लगाये जनता के जोश को उभारा। वह सब जन-साधारण के बीच में ही होता रहा अतः उस प्रचार से प्रवाह में कुछ शान्ति नहीं आ पाई। फिर भी जो कुछ आने जाने रहे उन्हें दबाव देकर इस चमत्कार पर-धर्म प्रवेश का पाप बतलाकर और घृणा फैलाकर रोकने का प्रयास चलता रहा।

दीक्षा-विरोधी सभा

दीक्षा की घोपित तिथि ज्यो-ज्यो पास आती गई, त्यो-त्यो दीक्षा के विरुद्ध उनका अनर्गल प्रचार भी बढता गया। तेरापन्थी भाइयो में उससे चिन्ता फैलना स्वाभाविक ही था। उन्होने भी अपनी ओर से हर प्रकार के विरोध का सामना करने की तैयारी की। आखिर दीक्षा-तिथि से पहली रात में विरोधियो ने एक सार्वजनिक सभा की और उसमें बडे जोशीले भापण हुए। किसी ने दीक्षा के विरुद्ध धरना देने की बात कही, तो किसी ने दीक्षार्थियो को उडा लेने की। एक के पश्चात् एक भापण होते रहे। प्रात सपन्न होने वाली दीक्षा को रोकने के लिए उन्हे क्या-क्या करना है, यही उन लोगो के सम्मुख निर्णय विपय था।

बचाव के लिये

उधर तेरापन्थी लोग इस चिंतन में लगे हुए थे कि प्रात न जाने कौन-सी समस्या का सामना करना पडे ? वे उस अज्ञात समस्या का सभावित हल खोज रहे थे। दोनो ही अपनी-अपनी तैयारी में पूर्ण सतर्क थे। भिवानी में आखिर थोडे से घर ही तो तेरापन्थी हैं। इतने बडे जन-समुदाय का सामना करने में उन्हें यदि चिंतित होना पडा, तो वह कोई अस्वाभाविक बात नही थी। अपने बचाव के लिए उन्हें उस समस्या का सामना करना आवश्यक था। सचाई से अपने मार्ग पर चलने वाला किसी के डराने-धमकाने से अपना मार्ग छोड दे, तो दुनियाँ में उसे जीवित ही कौन रहने देगा ? वस्तुत वह उनके अस्तित्व का प्रश्न था। उससे पीछे हटने का तात्पर्य होता—अन्याय के सम्मुख झुक जाना, समाप्त हो जाना। अन्याय और असत्य के सम्मुख तेरापन्थ ने न कभी घुटने टेके है और न कभी टेकेगा। इसी दृढ निश्चय ने उसे अनेक सघर्ष दिये है, तो उन पर विजय पाने का सामर्थ्य भी दिया है।

एक चमत्कार

भिवानी के तेरापन्थियो ने विरोधियो की हर चाल को विफल कर देने का अपने ढग से उपाय सोचा। पर उन्हें उन उपायो को काम में लेने का कोई अवसर ही नहीं मिला। कालूगणी के किसी अदृश्य प्रभाव से विरोधियो की वह सारी योजना उस रात्रिकालीन सभा में ही अपने-आप समाप्त हो गई। जिस समय भापण पूरे जोश में चल रहे थे और जनता पूरे ध्यान से सुन रही थी, उसी समय अचानक सभा में भगदड मच गई। भयभीत होकर लोग एक दूसरे को रौंदते हुए इस तरह दौडे कि उस अप्रत्याशित भगदड में अनेक व्यक्ति कुचल गये और घायल हो गये। कुछ मिनटो में ही सारा सभा-स्थल इस प्रकार खाली हो गया, मानो वहाँ पर कोई गोली चली हो। जो जैसे बैठा था, वह वैसे ही भाग खडा हुआ। अपनी पगडी, जूते और छाते सभालने तक का लोगो को अवसर नही मिला। सभास्थल में चारों ओर वह सामान बुरी तरह बिखरा हुआ रह गया।

बाद में जब अवसर के कारणों की खोज की गई, तो पता चला कि आकाश से एक बहुत बड़ा सफेद गोला आता दिखाई दिया था तो किसी को उसमें देव और किसी को और कुछ। उन अनेक बातों में सत्य क्या था यह गया पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रायः सभी को कोई तेज वस्तु थी। वह क्या थी? कहाँ से आई थी? कुछ थी भी या केवल भ्रम प्रश्न आज भी प्रश्न ही है जाने के लिए भी प्रश्न ही रहेंगे फिर भी वह घटना घटित हुई थी कि जिससे किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा ऐसा किये जाने की ओर दौड़ती है। उस चमत्कार का प्रभाव सभी लोगों पर बहुत गहरा हुआ। विरोधियों स्वतः ही लज्जावनत हो गये।

दीक्षा-संपन्न

दूसरे दिन प्रातः बड़े शान्त वातावरण में दीक्षा संपन्न हुई। विरोध की सारी स्वयं ही शांति में परिणत हो गई। किसी विरोधी को साहस ही नहीं हुआ कि वह ना कहे। उन सब को रात के उस मामले में स्वयं कालूगणी द्वारा किये गये किसी के ही दर्शन हुए। वस्तुस्थिति यह थी कि उनको किसी चमत्कार का सहारा लेने कभी ही नहीं पड़ती थी। उनकी पुण्य पवित्रता ही स्वयं अपने आप में एक चमत्कार उसीसे उनके समस्त कार्य सरल और सहज हो जाते थे।

झगड़े के लिए सांग

उस चातुर्मास में उस घटना के पश्चात् भी कुछ दुस्साहसी लोगों ने झगड़े का प्रयत्न किया। एक व्यक्ति को जैन साधु का वेष पहनाकर उसे बाजार में घुमा कर उसी मार्ग से लाये जहाँ कि आचार्यदेव विराजमान थे। जब वे वहाँ से गुजरे, तेरापन्थी श्रावकों को पता लगा कि उन लोगों ने साधुओं का 'सांग' निकाला है। उपस्थित भाइयों में आवेश की एक लहर-सी दौड़ गई। कालूगणी ने परिस्थिति को तत्काल भांप लिया, अतः किसी भी व्यक्ति को नीचे जाने से उन्होंने रोका और शांत रहने के लिए कहा। फिर भी कुछ व्यक्ति तो इतने क्रोध में आ गये थे कि उन्हें यदि दूसरे भाइयों द्वारा बाहों से पकड़ कर नहीं रोका जाता तो वहाँ लड़ाई हो जाने में कोई संदेह नहीं था।

विपक्षी लोग तो झगड़ा करना ही चाहते थे क्योंकि दीक्षा के समय उन्हें बड़ा अपमानित होना पड़ा था। उस अवसर पर वे अपना साहस नहीं दिखा सके थे अतः इस बार पिछली हीनता को धो देना चाहते थे। दूरदर्शी आचार्यदेव उन्हें ऐसा कोई अवसर नहीं देना चाहते थे इसीलिए उन्होंने उन सभी भाइयों को जो कि सामना करने को उद्यत हुए थे रोका और शांत किया। विरोधियों को जब झगड़ा खड़ा करने का कोई बहाना नहीं मिल सका तो अन्ततः स्वयं ही मन मारकर बैठ गये।

चार सौ मील

भिवानी का चातुर्मास सानद सपन्न करके कालूगणी हरियाणा के कुछ अवशिष्ट क्षेत्रो मे विचरते हुए सरसा की ओर पधारे और फिर वहाँ से मर्यादा-महोत्सव के लिए सरदारशहर पधार गये। उस यात्रा में हाँसी, हिसार आदि हरियाणा के प्रमुख नगरो में आचार्यदेव का पदार्पण बडा ही प्रभावशाली रहा। सारा हरियाणा उनकी उस यात्रा से परितृप्त था। उस यात्रा मे उन्हें लगभग चार सौ मील चलना पडा।

(३) मारवाड-पदार्पण

लबी यात्रा

कालूगणी ने अपने शासनकाल में बहुत अधिक लवी यात्राएँ तो नही की, किन्तु जो की थीं, उनमें उनकी अतिम यात्रा ही सबसे अधिक लम्बी थी। उसमे वे मारवाड, मेवाड और मालव में पधारे थे। उससे पूर्व थली के अतिरिक्त वे स० १९७६-७७ में हरियाणा और स० १९८० में जयपुर पधारे थे। वे उनकी केवल एक-एक प्रदेश की ही यात्राएँ थीं, अत अपेक्षा-कृत छोटी थीं। उन दोनों से भी पूर्व एक बार वे मारवाड तथा मेवाड की यात्रा स० १९७२ और ७३ मे कर चुके थे। उस समय मालव में पदार्पण नही हो सका था, अत उसे उनकी मध्यम यात्रा कहा जा सकता है। मारवाड-मेवाड की उस प्रथम यात्रा में प्रथम चातुर्मास उदयपुर और फिर दूसरा जोधपुर में किया गया, जबकि दूसरी यात्रा में प्रथम चातुर्मास जोधपुर और फिर दूसरा उदयपुर में किया गया था।

यात्रा का प्रारभ

स० १९९० में लाडणू में मर्यादा-महोत्सव सपन्न करने के पश्चात् कालूगणी कुछ दिन सुजानगढ में विराजे। वहाँ से फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को उन्होने अपनी यात्रा प्रारभ की। डीडवाणा होते हुए उन्होंने छोटी खाटू में होली-चौमासी की और फिर वहाँ के छोटे-वडे सभी क्षेत्रों को सभालते हुए आगे पधारे।

मालाणी मे

मालाणी की जनता ने अपने क्षेत्रों की ओर पधारने की काफी प्रार्थना की थी, अत चातुर्मास से पूर्व गरमी की ऋतु में भी विहार करते हुए वे उधर पधारे। पचपदरा, बालोतरा तथा जसोल आदि का पार्श्ववर्ती क्षेत्र 'मालाणी' नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में थोडे-थोडे दिन विराजना हुआ। उन क्षेत्रों के कुछ व्यक्तियो को टालोकर ऋषिरामजी ने, कुछ महीने पूर्व जब कि वे गण में ही थे, भ्रात कर दिया था। आचार्यदेव का वह पदार्पण उन सब के लिये बडा हितकर हुआ, वे प्राय सभी फिर से ठीक हो गये। वहाँ से विहार करते हुए वे चातुर्मास करने के लिए जोधपुर पधार गये।

जोधपुर की प्रार्थना

जोधपुर को सं० १९९१ का वह चातुर्मास काफी परिश्रम [illegible]
अनेक बार काफी बड़ी संख्या में वे लोग बली के विभिन्न क्षेत्रों में पहुँचे और
की प्रार्थना की थी। उनकी वह अनुनय भरी प्रार्थना तथा आग्रह इतना [illegible]
ही टाल देना सम्भव नहीं था। वे जब व्याख्यान के समय खड़े होकर प्रार्थना
तब कालूगणी के मन का तो पता नहीं पर अन्य श्रोतागण द्रवित हो उठते थे।
लगातार कई वर्षों की प्रार्थना के पश्चात् कालूगणी को भी द्रवित होना ही प[ड़ा]।
उस समय आग्रह की जड़ में जोधपुर-वासियों की वह अदम्य भक्ति काम कर रही
जिससे बंधे हुए कालूगणी को वहाँ आना ही पड़ा।

चातुर्मास की घोषणा

मार्ग में उन लोगों ने काफी सेवा की। मारवाड़ के प्राय प्रत्येक विभिन्न क्षेत्र में
सामूहिक रूप से दर्शन करने में भी वे बहुत रुचि लेते रहे थे। कालूगणी ने वैसी कृपा की थी,
उनकी भक्ति भी वैसी ही थी। आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी को आचार्यदेव का जोधपुर में पदार्पण
हुआ। वहाँ पधारने के पश्चात् ही उन्होंने वहाँ के चातुर्मास की घोषणा की।

संपर्क

जोधपुर निवासी श्रावक प्राय पढ़े लिखे और कुशल व्यक्ति थे। उनमें से अधिकांश तो
राज-कर्मचारी तथा अधिकारी-वर्ग के ही थे। उन लोगों की नौकरियाँ प्राय जोधपुर तथा
जोधपुर-राज्य में ही थी अत वहाँ के अन्य व्यक्तियों से भी उनका संपर्क काफी गहरा और
विस्तीर्ण था। उस संपर्क के कारण वहाँ के अनेक राज्याधिकारियों तथा कर्मचारियों ने
आचार्यदेव के दर्शनों का लाभ प्राप्त किया। उसके अतिरिक्त उस चातुर्मास में अनेक ठिकानों
के राजपूत सरदारों ने भी धर्म का लाभ उठाया।

बाईस दीक्षाएँ

उस चातुर्मास में कार्तिक कृष्णा अष्टमी को एक साथ बाईस दीक्षाएँ दी गईं। एक साथ
इतनी दीक्षाओं का होना जोधपुर निवासियों के लिए एकदम ही प्रथम अवसर था। दीक्षाएँ
स्थानीय कालेज के मैदान में हुईं। उस अवसर पर शहर की जनता बहुत बड़ी संख्या में
उपस्थित हुई। जोधपुर में किसी धार्मिक समारोह के अवसर पर इतनी बड़ी उपस्थिति
संभवत प्रथम बार ही हुई थी।

थली में विहरण

चातुर्मास की समाप्ति पर आचार्यदेव ने थली की ओर विहार किया। थली के प्राय
सभी क्षेत्रों को उन्होंने टेढ़े-मेढ़े चलते हुए दर्शन दिये। मर्यादा-महोत्सव के लिए तेरापन्थ का
ऐतिहासिक क्षेत्र लाडनूं चुना गया। आचार्यदेव के वहाँ पदार्पण से पूर्व साधु-साध्वियों को

वगडी के आसपास के क्षेत्रो में ही विचरते रहने की आज्ञा थी, अत प्राय सभी ग्राम उस समय साधु-समागम से परितृत हो गये थे। आचार्यदेव के वगडी-पदार्पण के साथ ही साधु साध्विओ का भी वहाँ आगमन हुआ।

वगडी का वह मर्यादा-महोत्सव मारे काठा क्षेत्र के लिए एक विशेष अवमर के रूप में ही था, अत सभी मे अच्छा उत्साह था। उस क्षेत्र के प्राय वहुत से परिवार व्यापार के लिए दक्षिण भारत में रहने लग गये थे, किन्तु उस अवसर पर वे प्राय अपने-अपने गाँव में आ गये थे और आचार्यदेव के पदार्पण का तथा मर्यादा महोत्सव का उन्होने पूरा-पूरा लाभ उठाया।

काठा क्षेत्र के प्राय अनेक राजपूत-परिवारो तथा ठिकाणों से तेरापन्थ का प्राचीन काल से ही परिचय रहा है, अत आचार्यदेव के पदार्पण के अवसर पर उन लोगो ने अपने-अपने गाँवो में तो सेवा का लाभ उठाया ही था, पर अनेक वार आसपास के गाँवो में आकर भी वह लाभ प्राप्त किया। उनमें से अनेको ने मद्य, माँस तथा शिकार आदि के दुर्व्यसनों का परित्याग भी किया।

महोत्सव की सपन्नता के पश्चात् आचार्यदेव को कुछ समय तक काठे के क्षेत्रो में ही विहार करना आवश्यक था, क्योकि वहाँ एक ओर के क्षेत्रो म तो पदार्पण हो चुका था, किन्तु दूसरी ओर के प्राय सभी क्षेत्र चरण-स्पर्श के लाभ की आशा लगाये हुए थे। इसीलिए सत-सतियो को यथावश्यक आदेश-निर्देश देने के पश्चात् कालूगणी उन सभी क्षेत्रो की ओर पधारे।

घुटनो की पीडा

होली-चौमासी के पश्चात् आचार्यदेव को अपने घुटनो में कुछ पीडा की अनुभूति होने लगी। यों तो वह पीडा कई वर्षों से थी, परन्तु कभी-कभी अधिक हो जाया करती थी, तव कुछ विचारणीय स्थिति उत्पन्न कर दिया करती थी। वहाँ से उन्हें मेवाड में जाना था, अत वह पीडा और भी चिन्तनीय वन गई थी। पर्वतीय प्रदेश में पैरो की पीडा लेकर जाना वहुत कठिन कार्य था, अत वहीं उसका कुछ उपचार कर लेने की वात सोची गई। उन दिनों वे रामसिंहजी के गूडे में विराजमान थे। कुछ वर्ष पहले भी एक वार उनके घुटनों में पीडा बढ गई थी, तव भिलावा लगाया गया था और उससे काफी लाभ भी हुआ था। इसलिए यही निश्चय किया गया कि कुछ दिन वहाँ ठहर कर भिलावा ही लगा लिया जाए, ताकि काफी समय के लिए उस दुविधा से मुक्ति मिल जाए।

उपचार

पूर्व निश्चयानुसार भिलावे की एक पतली-सी लीक घुटने के एक पार्श्व पर खीच दी गई। एक सूई की नोक पर टिके जितने से भिलावे में न जाने कितना तेज होता है कि उससे प्राय सारा पैर फफोलों से भर गया और उनसे पीप झरने लगा। फफोलों का विस्तार जितना

अनुमानित किया गया था उससे कहीं अधिक हो गया [illegible] दिन ठहरना पड़ा। क्योंकि एकदम ठीक नहीं हो पाने से फिर स्थिति होते ही वहाँ से बोयावर तथा सिरियारी की ओर [illegible] मारवाड़ का उस ओर अंतिम क्षेत्र है। वहाँ कुछ दिन विराजकर [illegible] कर दिया।

(४) मेवाड़-पदार्पण

फूलाद की चौकी पर

सिरियारी के पश्चात् अर्बुद (अरावली) पर्वत-श्रेणी प्रारंभ हो जाती है। [illegible] ने उन पर्वत-श्रेणियों को लांघते हुए पीपली के नाटे से मेवाड़ में प्रवेश करने [illegible] किया था। पूर्व निर्णयानुसार सिरियारी से विहार कर वे [illegible] की [illegible] की चौकी पर पधार गये। यह स्थान एकदम पहाड़ों से घिरा हुआ है। [illegible] चौकी का एक मकान ही था। रेलवे-लाइन बिछाई जा रही थी अतः कुछ दूर [illegible] पर कुछ क्वार्टर भी बने हुए थे। रात को साधु उन दोनों ही स्थानों में रहे। [illegible] में आये हुए मेवाड़ मारवाड़ तथा पाली के सैकड़ों व्यक्ति बिल्कुल खुले [illegible] में आकाश के नीचे ही सोये।

वृक्षों और लताओं की सघनता से घिरा हुआ ऐसा पहाड़ी प्रदेश देखने का मेरे जैसे बालक साधुओं के लिए तो यह प्रथम अवसर ही था। रात्रि के समय ऐसे स्थानों में रहने का संभवतः अनेक प्रौढ़ों के लिए भी यह प्रथम अवसर ही रहा होगा। वहाँ जंगली जानवरों का काफी भय बतलाया जाता था अतः लोगों द्वारा काफी सावधानी बरती गई थी। रात भर जागते हुए अनेक व्यक्तियों ने पहरा दिया था। रात को वहाँ सिंह की दहाड़ भी सुनी गई थी जो कि कहीं थोड़ी दूर से ही आ रही प्रतीत होती थी। उस समय लोग [illegible] उठ बैठे और अधिक सावधान हो गये। उस रात में एकदम निश्चिन्तता की नींद तो संभवतः हम जैसे कुछ बालक-साधुओं को ही आई थी। औरों को तो कभी सिंह की दहाड़ से, कभी पास के वृक्षों की खड़खड़ाहट से कभी पहरा देने वाले लोगों के आवागमन से तथा कभी जागते हुए लोगों की बातचीत से कई-कई बार जागना पड़ा था।

अरावली की घाटियों में

प्रातःकाल होते ही सब लोग वहाँ से प्रयाण करने को तैयार हो गये। [illegible] वाले व्यक्ति तो विहार में साथ रहे पर पहाड़ की काफी दुरूह चढ़ाई में भी [illegible] सकते थे उनके लिए टट्टुओं की व्यवस्था की गई थी। अनेक वृद्धों और [illegible] साधनों का सहारा लेकर अर्बुद पहाड़ की उस चढ़ाई को पार किया था।

पहाड़ की चोटी से [illegible]
नहीं थी, पर वह [illegible]
मार्ग में वैसा सुहावना [illegible]
लताओं की भीनी-भीनी सुगन्ध [illegible]
का शुभ्र जल, [illegible]
[illegible] मार्ग के वृक्षों की टहनियों [illegible]
मनोहर पक्षी—ये सब [illegible]
पूर्व ही आकर वसन्त ने इस मार्ग [illegible]

हर कुसुम और चट्टान के पीछे से [illegible]
आने की कल्पना का [illegible]—
इसका भी अपनी-अपनी कल्पनानुसार [illegible] ।
कुछ दूर चलने के पश्चात् चढ़ाई प्रारम्भ हो गई । [illegible]
हुई ऊपर की ओर चढ़ रही थी । [illegible]
अंकित किये हुए पगडंडी का प्रत्येक [illegible]
और समेट कर बाहर से चिकना बना हुआ था । [illegible]
उनकी मनोभावना में अंकित [illegible], [illegible] मानो [illegible]
को अपने हृदय के तराजू पर तौल-तौल कर [illegible] रहे थे । धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता हुआ
सारा काफिला जब पहाड़ के मध्यभाग तक पहुँचा, तब ऐसा लग रहा था मानो नीलाकाश
में राजहंसों की एक लम्बी कतार उड़ी चली जा रही हो ।

वहाँ कुछ क्षण ठहर कर देखा तो प्रकृति के दो विरोधी रूप सब के सामने थे । बाईं ओर पहाड़ की ऊँची दीवार खड़ी भयभीत कर रही थी, तो दाईं ओर उससे भी अधिक भयावह गहरी खाई मन में कंपन उत्पन्न कर रही थी । न सीधा चढ़ना सहज था और न सीधा उतरना, किन्तु मार्ग के माध्यम से वे दोनों ही सहज हो गये थे । वहाँ से जब सामने दूर-दूर तक दृष्टि फैलाते हुए देखा तो मारवाड़ का बहुत बड़ा भाग समतल रूप में बिछा हुआ-सा प्रतीत हो रहा था । सूखी नदियाँ अनेक घुमावों सहित मटमैली सर्पिणियों की तरह मालूम हो रही थीं । सब कुछ नीरस हो जाने पर भी उनकी रेत अपने अस्तित्व को आस-पास की भूमि से पृथक् बताने पर अड़ी हुई थी । अर्बुद मानो मौन होकर उन सबको देख रहा था, न जाने कब से और कब तक के लिए । ज्यों-ज्यों सारा संघ आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों उपत्यका अधिकाधिक दूर होती चली गई और अधित्यका समीप । काफी चढ़ाई चढ़ लेने के पश्चात् मार्ग के पास ही उन अनेक सुरंगों में से एक सुरंग भी आई, जो कि रेल के लिए पहाड़ को बीच से तराश कर बनाई गई थी । प्रकृति की उन दुर्जेय दीवारों में अनेक सूराख करके मनुष्य ने मानो वहाँ अपनी अजेयता की घोषणा को दुहराया था ।

फूलाद की चौकी से कुछ दूर तक तो साधारण मार्ग ही था। उसमें कोई विशेष चढाई नही थी, पर वह साधारण भी इतना विशेष था कि थली और मारवाड के अन्य किसी भी मार्ग में वैसा सुहावना दृश्य मिलना कठिन था। चारो ओर फैली हुई अपार हरीतिमा, वन्य लताओं की भीगी-भीगी सुगंध, कभी दायें और कभी बायें कल-कल निनाद से बहता हुआ झरने का शुभ्र जल, अज्ञात फलो और फूलो से लदे हुए छोटे बडे वृक्ष, विविध वर्णो और स्वरूपों से सजधज कर मार्ग के वृक्षो की टहनियो पर फुदकते हुए विविध ध्वनियो में सत्कार करने वाले मनोहर पखी—ये सब उस मार्ग की सुषमा के अवयव थे। आचार्यदेव के आगमन से कुछ दिन पूर्व ही आकर वसंत ने उस मार्ग को संवार कर और भी अधिक मनोहर बना दिया था।

हर झुरमुट और चट्टान के पीछे से किसी सिंह या भालू जैसे वन्य पशु के अचानक निकल आने की कल्पना का रस लेते हुए तथा वैसी स्थिति उत्पन्न होने पर क्या किया जाना चाहिए—इसका भी अपनी-अपनी कल्पनानुसार किला बाधते हुए सब लोग गतव्य की ओर आगे बढे। कुछ दूर चलने के पश्चात् चढाई प्रारम्भ हो गई। छोटी-सी पगडडी सर्प की तरह बलखाती हुई ऊपर की ओर चढ रही थी। मनुष्य के चरणो की कठोरता की मूक कहानी को हृदय पर अंकित किये हुए पगडडी का प्रत्येक पत्थर मनुष्य की ही तरह अपने नुकीलेपन को अन्दर की ओर समेट कर बाहर से चिकना बना हुआ था। साधुजनो के अनावृत पैरो का कोमल स्पर्श उनकी मनोभावना में अंकित मनुष्य के स्वरूप से बिलकुल भिन्न था, अत वे मानो फिर से सब को अपने हृदय के तराजू पर तौल-तौल कर परखना चाह रहे थे। धीरे-धीरे ऊपर चढता हुआ सारा काफिला जब पहाड के मध्यभाग तक पहुँचा, तब ऐसा लग रहा था मानो नीलाकाश में राजहसो की एक लम्बी कतार उडी चली जा रही हो।

वहाँ कुछ क्षण ठहर कर देखा तो प्रकृति के दो विरोधी रूप सब के सामने थे। बाई ओर पहाड की ऊँची दीवार खडी भयभीत कर रही थी, तो दाई ओर उससे भी अधिक भयावह गहरी खाई मन में कपन उत्पन्न कर रही थी। न सीधा चढना सहज था और न सीधा उतरना, किन्तु मार्ग के माध्यम से वे दोनो ही सहज हो गये थे। वहाँ से जब सामने दूर-दूर तक दृष्टि फैलाते हुए देखा तो मारवाड का बहुत बडा भाग समतल रूप से बिछा हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। सूखी नदियाँ अनेक घुमावों सहित मटमैली सर्पिणियो की तरह मालूम हो रही थीं। सब कुछ नीरस हो जाने पर भी उनकी रेत अपने अस्तित्व को आस-पास की भूमि से पृथक् बताने पर अडी हुई थी। अर्बुद मानो मौन होकर उन सबको देख रहा था, न जाने कब से और कब तक के लिए। ज्यो-ज्यो सारा संघ आगे बढता गया, त्यों-त्यो उपत्यका अधिकाधिक दूर होती चली गई और अधित्यका समीप। काफी चढ़ाई चढ लेने के पश्चात् मार्ग के पास ही उन अनेक सुरगो में से एक सुरग भी आई, जो कि रेल के लिए पहाड को बीच से तराश कर बनाई गई थी। प्रकृति की उन दुर्जेय दीवारो में अनेक सूराख करके मनुष्य ने मानो वहाँ अपनी अजेयता की घोषणा को दुहराया था।

उसके पश्चात् एक चढ़ाई और आई। फिर [illegible] व्यक्तियों के मन में यह कल्पना रही थी कि चढ़ने के पश्चात् [illegible] यह कल्पना आकार ग्रहण नहीं कर सकी। बड़े आश्चर्य के साथ वह सब हजम हो गया और अब उतनी ऊँची भूमि पर ही विहार [illegible] प्रकृति का यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य था। न जाने उसमें कितनी विचित्रताएँ और वे सब एक दूसरे की पूरक होकर रह रही हैं।

मेवाड़-प्रवेश

अरावली की पर्वत-श्रेणियों में ही मेवाड़ की सीमा प्रारंभ हो जाती है। उस दिन मेवाड़ प्रवेश की अपनी प्रथम मंजिल तय करके सीसोदा में पधार गये। जोधपुर चातुर्मास में उदयपुर से स्पेशल ट्रेन ले जाकर सैकड़ों मेवाड़-वासियों ने आचार्यश्री के चरणों में मेवाड़-पदार्पण के लिए प्रार्थना की थी। उस समय तो उन्हें केवल एक साधारण आश्वासन ही मिल सका था किन्तु उसी के परिणामस्वरूप को वे मेवाड़ में पा रहे थे। अपनी उस सफलता पर सारा मेवाड़ [illegible]

विभिन्न क्षेत्रों में

वहाँ से देवगढ़ आमेट केलवा राजसमंद कांकरोली तथा नाथद्वारा प्रायः सभी क्षेत्रों में आचार्यश्री पधारे। मेवाड़ का प्रत्येक क्षेत्र उनके स्वागत [illegible] हुए प्रतीक्षा कर रहा था। मेवाड़ के इतिहास में सुप्रसिद्ध सोलह तथा बत्तीस के प्रारम्भ से ही तेरापन्थ का अच्छा संबंध रहा था अतः उनके क्षेत्रों में जब तो वे लोग भी सामने आते दर्शन करते और व्याख्यान आदि का [illegible] उनकी बीसों चली आ रही प्राचीन पद्धति से ही रहा करती थी अतः [illegible] आती थी। उनकी प्रार्थना पर अनेक जगह आचार्यश्री महलों में पधार कर भी थे। प्रत्येक क्षेत्र में उनके पदार्पण से एक नवीन हलचल मच जाया करती थी।

रावलियों की ओर

आचार्यश्री नाथद्वारा से [illegible] की जन्म भूमि रावलियों की ओर पधारे, तो वहाँ की भूमि अपेक्षाकृत और भी ऊँची थी। प्रत्येक विहार में प्रायः अनेक चढ़ाव आ जाते, पर उतार बहुत कम आते। छोटा पगडंडी-सा मार्ग वह भी बड़ा ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढ़ा, बिना नाप के कोस जो कि कहीं तीन मील के और कहीं चार चार मील तक के [illegible] जाया करते थे। अब तो प्रायः हर ओर सड़कें बन गई हैं परन्तु उस समय वहाँ किसी ने सड़क का स्वप्न भी नहीं देखा होगा। अब तो उन पहाड़ों में मोटरें दौड़ रही हैं पर उस समय तो बैलगाड़ियों के लिए भी मार्ग नहीं था। टट्टुओं पर ही आवागमन अवलम्बित था।

वनास नदी प्राय हर विहार मे घूम-फिरकर मार्ग में अनेक वार आ जाया करती थी। कही धूल से भरी हुई तो कही पत्थरो से। स्वय ही घिसपिट कर गोल-मटोल वने हुए और एक दूसरे के ऊपर चढे हुए उन पत्थरो को देखकर कल्पना होती कि प्रकृति की गोद में पडे ये सव महादेव न जाने कितने समय से किसी भक्त की प्रतीक्षा में व्याकुल हो रहे है। शायद उनकी भावना से अनभिज्ञ लोग अपनी ही कल्पना के अनुसार उन्हे वहाँ से ले आते है और चटनी पीसने के लिए लोढी के रूप मे काम लेते है। आचार्यदेव की सेवा में साथ चलने वाले व्यक्तियो में से भी अनेकों ने, विशेप कर थली की स्त्रियों ने, उन्हें इसी काम के लिए चुन-चुन कर लिया और थली के अपने गाँवो में ले गई।

गोगूदा में

रावलियाँ दो हैं—छोटी और वडी। वहाँ कुछ दिन विराजकर वे गोगूंदा की ओर पधारे। गोगूदा को मोटा-गाम भी कहा जाता है। वहाँ की भूमि आवू पर्वत से भी कुछ ऊँची वतलाई जाती है। ठडा प्रदेश है, अत लू नही चलती। जेठ के मध्य में भी अच्छी ठड रहती है। वही समय वहाँ आमो के लिए भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि आधे जेठ से आधे आपाढ तक तो आमों की इतनी भरमार रहती है कि उन्हें अवेरा तक नही जा सकता। अनेक वार तो चार आने में एक टोकरी तक के भाव में विकने लगते है। उस समय परिवहन तथा मार्गो की सुविधा के अभाव में न वे कही वाहर भेजे जा सकते थे और न ही अधिक समय तक सुरक्षित रखे जा सकते थे। वाहर से आये हुए यात्रियों ने उस ऋतु का काफी लाभ उठाया।

महताजी की वाड़ी में

वहाँ से आचार्यदेव उदयपुर की ओर पधारे। नाथद्वारा से रावलियाँ और गोगूदा आते समय जहाँ चढाई अधिक और उतार कम था, वहाँ उदयपुर के मार्ग में उतार अधिक और चढाई कम थी। आपाढ़ शुक्ला तृतीया के दिन उदयपुर में पदार्पण हुआ और वहाँ फतहसिंहजी महता की वाडी में विराजे। महताजी यो तो वैष्णव थे, पर कालूगणी के बडे भक्त थे। पहले-पहल उन्होने स० १९८३ के गगाशहर-चातुर्मास में आचार्यदेव के दर्शन किये थे। उस समय उनके पिता पन्नालालजी महता उदयपुर के दीवान थे। फतहसिंहजी को महाराणा ने उसी वर्ष वीकानेर-दरवार के वहाँ किसी काम के लिए भेजा था। वहाँ उन्होने वह कार्य तो किया ही था, साथ ही कालूगणी के दर्शन का भी उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी समय से वे कालूगणी के भक्त हो गये थे। उसके पश्चात् उन्हें फिर दर्शन करने का अवसर उस वार मेवाड पधारने पर ही मिला था। गोगूदा में उदयपुर के भाई जब दर्शन के लिए तथा उदयपुर पधारने की तिथि निश्चित कराने के लिए गये थे, तव महताजी भी उनके साथ थे। महताजी ने वहाँ कुछ दिन के लिए अपनी वाडी मे विराजने की प्रार्थना की थी। फलस्वरूप आचार्यदेव ने पहले-पहल का समय उन्हें ही दिया।

महाराणा का आगमन

दूसरे ही दिन सायंकाल के समय वहाँ महाराणा भूपालसिंहजी दर्शन करने के लिए आये। उस समय मेघ की संभावना भी काफी थी। बादल उमड़ घुमड़ कर इस प्रकार चढ़े हुए थे कि अब-तब में वर्षा आने ही वाली हो रही थी। कालूगणी खुले आकाश के नीचे पट्ट पर विराजे थे। महाराणा आये और वंदन कर सम्मुख बैठ गये। कालूगणी ने धर्मोपदेश दिया और वे हाथ जोड़ श्रद्धावनत श्रवण करते रहे। लगभग आध घण्टे तक वह क्रम चलता रहा। उसके पश्चात् आचार्यदेव को नमस्कार कर महाराणा अपनी मोटर की ओर चले गये तथा आचार्यश्री मकान में। वे मोटर तक पहुँच भी नहीं पाये होंगे कि एक साथ ही बड़े वेग से वर्षा प्रारम्भ हो गई।

महाराणा ने बाद में मेहताजी को कहा था कि महाराज का उपदेश बड़ा निःस्पृह था। फिर कभी ऐसा अवसर हो तो मुझे अवश्य कहना। ऐसे सन्तों के दर्शन करने से चित्त बड़ा प्रसन्न होता है। यद्यपि उसके पश्चात् महाराणा को फिर कभी दर्शन करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका फिर भी वे अनेक बार आचार्यदेव के समाचार पूछते रहा करते थे। कभी मेहताजी को तो कभी हीरालालजी मुरड़िया को। कई बार आवश्यकता-अनुसार उन्होंने अपनी ओर से संघहित के अनुकूल कुछ सुझाव भी प्रेषित किये थे।

उदयपुर चातुर्मास

मेहताजी की वाड़ी में दो दिन विराजकर पंचमी के दिन आचार्यदेव ने शहर में प्रवेश किया। बीस वर्षों के पश्चात् उनका वहाँ पदार्पण हुआ था। जनता में अपार उल्लास था। हर व्यक्ति के मन में उस शुभ दिन के लिए एक लम्बे समय से प्रतीक्षा थी। उसकी पूर्ति जिसके लिए आह्लाद-जनक न होती? चातुर्मास में वहाँ के पंचायती नोहरे में विराजना हुआ। वहाँ बाहर के लोग भी दर्शन-सेवा के निमित्त बहुत आये। मेवाड़-वासियों के लिए तो सेवा का वह सर्वोत्तम अवसर था ही।

दीक्षा की तैयारी और विरोध

कार्तिक महीने में कुछ दीक्षाएं होने वाली थीं अतः दीक्षार्थी अपने-अपने अभिभावकों को साथ लेकर अपने लिए दीक्षा की स्वीकृति पाने की चेष्टा करने लगे थे। बहुधा उन दिनों में दीक्षाएं हुआ करती थीं अतः उदयपुर में भी वैसा वातावरण बन रहा था। विरोधी जनों को सारे चातुर्मास में अपनी प्रकृति के अनुसार हो हल्ला मचाने की कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हुई थी। वर्षा के दिनों में कुछ दिन वर्षा नहीं हुई तब उन लोगों को [illegible] यह कहने का अवसर मिला था कि तेरापन्थियों ने वर्षा रोक रखी है परन्तु उस प्रचार को वर्षा ने अधिक चलने नहीं दिया। तब [illegible] प्रतीक्षा में थे कि अब क्या किया जाए। ऐसा

की बातें चलने लगी, तो उन्हे लगा कि अब कुछ हाथ दिखाये जा सकते है। आचार्यदेव ने दीक्षा की कोई तिथि निश्चित नही की थी, उससे पूर्व ही उन लोगो की काररवाई प्रारभ हो गई। उन्होने ठेट दरबार तक अनेक चिट्ठियाँ पहुँचाई, उनमे तेरापन्थ की भावी दीक्षाओ को रोकने की प्रार्थना थी।

महाराणा का सुझाव

विरोधी लोगो ने चाहा तो तेरापन्थ के विपरीत ही था, परन्तु वही कार्य उलटा तेरापन्थ के अनुकूल हो गया। आने वाले अनेक प्रार्थना-पत्रो को हीरालालजी मुरडिया को दिखाते हुए महाराणा ने उनके माध्यम से आचार्यदेव से प्रार्थना करवाई कि कार्त्तिक के शुक्ल पक्ष में वे दिल्ली जाने का सोच रहे है, अत दीक्षा उससे पहले-पहले हो जाए तो ठीक रहे। कुछ व्यक्ति उसमें बाधाएँ डालने का सोच रहे है। उनके दिल्ली जाने के पश्चात् सभव है, वे अधिक उद्दडता पर उतर आयें। महाराणा के उस आशय को हीरालालजी ने आचार्यदेव से निवेदित कर दिया। चातुर्मास मे दीक्षाएँ प्राय कार्त्तिक मास मे ही हुआ करती थी, अत कालूगणी ने कार्त्तिक कृष्णा पचमी का दिन दीक्षा के लिए घोपित कर दिया।

दीक्षा का जुलूस

उस अवसर पर पन्द्रह दीक्षाएँ होने वाली थी। दर्शनार्थी लोगों का आगमन दीक्षा के आस-पास और भी अधिक होने लगा था। सारे नगर में एक प्रकार की नई हलचल-सी प्रतीत होने लगी थी। द्वेपीजनों को वह सब खटकने वाला था। रात्रि के समय दीक्षार्थियों का जुलूस निकाला गया। उसमें विरोधियो द्वारा अनेक प्रकार से बाधा डालने का प्रयास किया गया। पर तेरापन्थ की शान्ति-नीति के अनुसार ही वह सब झझट पार कर लिया गया और उन्हें अशाति उत्पन्न करने का अवसर नही दिया गया।

दीक्षा के दिन प्रात जो जुलूस निकाला गया, वह बहुत बडा और भव्य था। उसके लिए स्वय महाराणा ने अपना 'रण-ककण' बाजा और 'ग्यारसिये' घोडे, जो कि केवल महाराणा की सवारी के जुलूस में ही सम्मिलित होते थे, विशेप रूप से भेजे और किसी प्रकार की बाधा न आने पाये—इसके लिए विशेप प्रबन्ध किया था।

दीक्षा स्थानीय कालेज के मैदान में होने वाली थी, अत वहाँ प्रात काल से ही सहस्रों की सख्या में जनता एकत्रित होने लगी थी। जब वहाँ आचार्यदेव का पदार्पण हुआ और उसके पश्चात् जब जुलूस वहाँ पहुँचा तब तक तो जनता का एक सागर-सा लहराने लगा था।

बाधा का अन्तिम प्रयत्न

वहाँ ऐन अवसर पर अन्तिम प्रयत्न के रूप में बाधा डालने के लिए विरोधियो ने पहले से ही कुछ तैयारी कर रखी थी। उन लोगो ने पुलिस इन्सपेक्टर तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट को सूचना

दी थी कि उदयपुर के [illegible] कोठारी के लड़के
रही है। उसके माँ-बाप तो रो रहे हैं। सात दिनों से उन्होंने
लिया है और औंधे मुँह पड़े हैं। स्वयं बालक भी रो रहा है। उसकी दीक्षा
की इच्छा नहीं है परन्तु तेरापन्थ के अन्धभक्त श्रावकों ने उसे [illegible] कर दीक्षा
तैयार कर रखा है।

उस सूचना के आधार पर वे लोग दीक्षा-पंडाल में आये और [illegible] छिपाते हुए साधारण रूप से ही दीक्षा के विषय में आचार्यदेव से जानकारी प्राप्त की। दीक्षाएं जन-समूह के सम्मुख ही होने वाली थीं उसमें छिपाने जैसी कोई बात [illegible] आचार्यदेव ने तेरापन्थ की दीक्षा प्रणाली बतलाते हुए उन्हें [illegible] आज्ञा-पत्र दिखलाए। उन्होंने उसे ध्यान से पढ़ा। उसके पश्चात् दीक्षा के लिए [illegible] को भी उन्होंने देखा। विशेषकर बालक मीठालालजी से उन्होंने दीक्षा विषयक कुछ पूछे। उनके माता पिता जो कि वहीं पास में खड़े थे उन्हें भी देखा और बातचीत की।

जब उन्हें किसी भी प्रकार की कोई गड़बड़ नहीं लगी और उन दीक्षार्थियों के [illegible] उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया तब सारी बात खोलते हुए उन्होंने बतलाया कि हमारे पास ऐसी सूचनाएँ पहुँची थीं और हम उन्हीं के आधार पर यहाँ आये। हमारा विचार था कि यदि सचमुच ही सूचना के कथनानुसार कार्य हो रहा होगा तो हम लोग [illegible] परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष देखने से पता लगा कि हमें बिल्कुल विपरीत सूचना दी गई थी। [illegible] भी दीक्षा देखने वालों में सम्मिलित हो गये।

दीक्षा-प्रदान

उसके पश्चात् दीक्षार्थी व्यक्ति जब साधु का बाना पहनकर उपस्थित हुए, तब जनता के उत्सुक नेत्र मानो उनकी ओर ही लग गए। आचार्यदेव ने दीक्षार्थियों के अभिभावकों से फिर मौखिक आज्ञा ली। और उसके पश्चात् उन सबको दीक्षा प्रदान की। दीक्षा के उस सारे दृश्य को प्रत्यक्ष देख लेने के पश्चात् विरोधियों के प्रचार से प्रभावित व्यक्तियों को भी पता लग गया कि वे किस प्रकार भ्रांत हो गए थे। उन पुलिस-अधिकारियों ने भी संभवतः अपने मन में यही कहा होगा कि चलो अच्छा ही हुआ अन्यथा हम लोग यह दृश्य नहीं देख पाते।

महाराणा के पास जाकर जब उन पुलिस अधिकारियों ने अपनी सारी कथा सुनाई और कहा कि हम लोग तो गए थे कुछ और ही उद्देश्य को लेकर पर वहाँ जो सुना था उससे बिल्कुल उल्टा मिला। तब महाराणा ने कहा कि आँख और कान का अन्तर तो सदा चार अंगुल का ही है पर उसे लाख हाथ का कहा जाय तो भी थोड़ा ही होता है। इस प्रकार अनेक विरोधों और बाधाओं के पश्चात् भी दीक्षा का कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ।

मालव की प्रार्थना

उदयपुर-चातुर्मास में मालव देश के भाइयों ने आचार्यदेव के चरणो में मालव-पदार्पण के लिए वहुत जोर देकर प्रार्थना की। उन लोगो ने स० १९७२ में भी वहुत प्रार्थना की थी। स्पेशल ट्रेन लेकर वहाँ से एक सौ छह आदमी उदयपुर आये थे। उस समय आचार्यदेव ने विधिवत् स्वीकृति तो प्रदान नही की थी, परन्तु उन्हें काफी आश्वस्त अवश्य कर दिया था। इतना ही नही किन्तु मालव पधारने की धारकर मालव-सीमा के पार्श्ववर्ती क्षेत्र कानोड तक पधार गये थे। फिर भी परिस्थितिवशात् उस समय उधर पधारना नही हो सका था। वहाँ से वापस मुडकर वे रेलमगरा और मोई की तरफ पधारकर वाद में थली की ओर पधार गये।

इस वार भी मालव-निवासी वडे उत्साह से आये थे। तीन सौ आदमी स्पेशल ट्रेन में उदयपुर पहुँचे थे। उन्होने प्रार्थना करते हुए कहा था कि मालव में आचार्यो का पदार्पण हुए इक्यासी वर्ष हो चुके है। स० १९११ मे जयाचार्य पधारे थे। उसके पश्चात् हम लोगो को मानो भुला दिया गया है। ये वाक्य उनके हृदय की व्यथा के द्योतक थे, अत इस वार उन्हें यों ही भुलाया जाना उचित नही था। उन लोगों को आचार्यदेव ने निश्चित वचन तो इस वार भी नही दिया, पर प्रकारान्तर से यह जता अवश्य दिया कि यथासभव इस वार उनकी प्रार्थना निष्फल नही जायेगी। वे लोग आचार्यदेव के उस आश्वासन को गाठ मे बाँधकर ही वहाँ से वापस मालव गये थे।

सारणा-वारणा का कार्य

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् एक ओर तो मालव में पधारने की वात थी तथा दूसरी ओर शीतकाल में सम्मिलित होने वाले सारे सघ की सारणा-वारणा की वात थी। जहाँ यात्रा में देरी करना अभीष्ट नही था, वहाँ साधु-साध्वियों का वह कार्य भी अत्यन्त आवश्यक था। उन सव को मालव तक ले जाना सभव नही था। इन्ही सव वातों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने चातुर्मास समाप्त होते ही शीघ्रता से राजनगर पहुँचने का निश्चय किया। साधु-साध्वियो को भी वहीं एकत्रित होने का आदेश दिया।

राजनगर में पधारते ही वे साधु-साध्वियो की पूछताछ में लग गये। दो महीनों में किया जाने वाला वह कार्य केवल पाँच दिनों में ही उन्होंने सपन्न कर दिया। आगामी चातुर्मास के लिए निर्देश तथा विहार के लिए चोखले आदि भी प्रदान कर दिये। थली के कुछ सिंघाडे इतने शीघ्र नही पहुँच सके थे। अत उनके लिए आदेश-निर्देश देकर झमकूजी को कुछ दिन के लिए वही रख दिया और स्वय विहार करते हुए कानोड पधार गये।

(५) मालव-पदार्पण

स्वीकृति

कानोड मालव की सीमा के पास ही पडता है। अत वहाँ पदार्पण से मालव-वासियों को वडा आत्मतोष हुआ। उन्हें अपनी चिरकालीन पिपासा को शात करने का अवसर नजदीक

आचार्यदेव ने उन्हें समझाते हुए फरमाया—"मकान देना या न देना यह तो आप लोगो की इच्छा की बात थी, परन्तु मन में जो गलत धारणाएँ है, वे तो कम-से-कम नहीं रहनी चाहिए। आप लोग इतना तो शायद जानते ही है कि उन्होने थली मे दो चातुर्मास किये थे। यदि किसी ने मकान नही दिया होता, तो फिर दो वर्ष तक कैसे ठहर पाते ? दूसरी बात पत्थर और पिल्ले पात्र में डाल देने की है, उसे तो आप लोग स्वय ही थोडा-सा अनुमान लगाकर जान सकते है कि क्या कभी यह सभव है ? यह केवल भ्रातियाँ फैलाने के लिए किया गया प्रचार ही है। यदि एक क्षण के लिए इसे सत्य भी मान लिया जाय, तो क्या यह प्रश्न पैदा नही होता कि क्या लेने वाला व्यक्ति कुछ देखता ही नही है, जो उसके पात्र में पिल्ला या पत्थर भी डाला जा सकता है ?" इन भ्रातियो के निराकरण के पश्चात् आचार्यदेव ने उन्हें तेरापन्थ की मान्यता विपयक जानकारी भी दी। दूसरे दिन वहाँ से विहार कर मदसोर की ओर पधार गये।

जावरा में विरोधी प्रचार

मदसोर से विहार करते हुए आचार्यदेव जावरा पधारे। विरोधियो ने उनके आगमन से पूर्व ही तरह-तरह के विरोधी प्रचार से वहाँ के वातावरण को इस प्रकार का बना दिया था कि मानो नगर में उनके आगमन से कोई बहुत ही भयकर घटना घटित होने वाली हो। जिन्होंने अपने जीवन मे तेरापन्थ का नाम तक भी नही सुना था, उनके सामने जब पैम्फलेटो के रूप में उसका गलत और भयकर रूप प्रस्तुत किया गया, तो सहज ही जनता को यह उत्सुकता हुई कि आखिर ये आने वाले कौन है ? इनके विरुद्ध इतना प्रचार किसलिए किया जा रहा है ?

द्वेप और विरोध तो जिन व्यक्तियों के मन में था, उन्हीं के था, जनसाधारण को तो उस अकारण द्वेष से आश्चर्य ही हुआ। जब आचार्यदेव का जावरा में पदार्पण हुआ, तो प्राय प्रत्येक नुक्कड पर आदमियों की भीड उनकी प्रतीक्षा में खडी थी। यदि इतना विरोधी प्रचार न हुआ होता, तो जनता में इतनी जिज्ञासा और उत्सुकता भी न हुई होती। उन लोगो का विरोध भी तेरापन्थ के लिए अनुकूलता में परिणत हो गया।

आचार्यदेव का वहाँ बाजार की एक धर्मशाला में विराजना हुआ। पहले एक दूसरे मकान में ठहरने का निर्णय किया गया था, किन्तु विरोधियो द्वारा मकान मालिक पर दबाव डालकर उसे इनकार कर देने को बाध्य कर दिया गया। इसलिए विराजने तथा प्रथम व्याख्यान के लिए उस धर्मशाला को ही उपयुक्त समझा गया। धर्मशाला के बाहर का चौक जनता से ठसाठस भरा हुआ था। इतनी जनता के आगमन की कल्पना भी नही थी। परन्तु वह सब उनके ही कारण सभव हुआ, जो कि यह चाहते थे कि तेरापन्थियो के पास कोई भी न जाए।

पडित-वर्ग ने आचार्यदेव के मुखारविंद से जब यह बात सुनी, तो वे गद्गद् हो गये। उन्होंने आचार्यदेव के उस सिद्धान्त को एक अमूल्य सिद्धान्त माना और उन्हे देव-पुरुष मानते हुए श्रद्धा-युक्त प्रणाम करके अपने को पवित्र किया।

बड़नगर मे मर्यादा-महोत्सव

आचार्यदेव रतलाम से विहार कर बडनगर की ओर पधारे। मर्यादा-महोत्सव वही करने का निर्णय था, अत विलम्ब करना उचित नही था। यद्यपि उस समय वहाँ तेरापन्थ के केवल तीन ही घर थे, परन्तु तीनो ही सुसम्पन्न थे। आचार्यदेव के मालव-पदार्पण मे उन लोगो ने विशेषरूप से सेवा की थी। यद्यपि उस मर्यादा-महोत्सव पर अडतालीस साधु और बावन साध्वियाँ ही एकत्रित हो सकी थी, किन्तु जनता बहुत बडी सख्या मे दर्शनार्थ आई थी। वहाँ पर मालव के कुछ तो ऐसे व्यक्ति भी आये थे, जिन्होंने अपने जीवन में प्रथम बार ही आचार्यदेव के दर्शन किये थे। वहाँ माघ शुक्ला चतुर्थी को पदार्पण हुआ और पूर्णिमा को उज्जयिनी की ओर विहार हो गया।

उज्जयिनी मे

उज्जयिनी भारत की प्राचीन नगरियो मे से एक है। वह नगरी अपने गर्भ में न जाने कितने साम्राज्यों के उत्थान और पतन का इतिहास छिपाई हुई है। किसी युग में वह सारे भारत का हृदय थी, पर अब उसके वे दिन बीते युग की एक कहानी मात्र रह गये हैं। अब वह कहीं की राजधानी नही है। भारत की वह गौरवमडिता प्राचीन राजधानी अब एक भारतीय विधवा का सा जीवन बिता रही है। वहाँ के विशाल मदिरों आदि का जो रोचक वर्णन और परिवर्तनशील इतिहास मिलता है, वह अब उसे केवल प्राचीनता का ही गौरव प्रदान कर सकता है। उसके साथ समाज के हृदय की धडकन का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह गया है।

आचार्यदेव के पदार्पण से वहाँ के सुप्त वातावरण में एक लम्बे समय के पश्चात् फिर से जनता के कानो में यह बात पडी की धर्म का सम्बन्ध सीधा जीवन से है। यदि जीवन में कोई परिवर्तन लाये बिना जीवन भर क्रिया-काडों में अपने को लगाये रखे, तो उससे लक्ष्य की प्राप्ति नही की जा सकती। उनकी वह वाणी अवश्य ही एक नवीन सदेश देने वाली थी।

इन्दौर मे

उज्जयिनी के पश्चात् वे इन्दौर पधारे। वहाँ सर हुकम चदजी के मकान मे विराजे। सर हुकम चदजी दिगम्बर जैन थे। वे बड़े धनाढ्य व्यक्ति थे। शहर मे उनके अनेक महल और कोठियाँ थी। उन्होंने सेवा में आये हुए यात्रियों का अच्छा सत्कार किया। मोती-महल में उन सबको ठहराया गया। आचार्यदेव के पास वे अनेक बार आये और दर्शन, सेवा तथा

व्यक्तियों तथा परिवारों ने उस यात्रा में प्रारम्भ से अन्त तक सेवा की। मेवाड तथा मारवाड आदि प्रदेशों के व्यक्तियो का भी आवागमन प्राय चालू ही रहा था। सब मिलकर उस यात्रा में काफी लोग आचार्यदेव की सेवा में साथ-साथ रहे। अनेक व्यक्तियो ने उस यात्रा में एक-दो तथा तीन-तीन बार तक दर्शन किये थे। बम्बई वाले मगन भाई ने तो इस विषय में पराकाष्ठा ही कर दी थी। उन्होंने तेरह बार दर्शन किये थे। सरदारशहर के गणेशदासजी गधैया ने उस यात्रा में जन-सम्पर्क में काफी बडा सहयोग दिया। इस प्रकार मालव-यात्रा का वह प्रेरक प्रसग सारे सघ के लिए बडा ही महत्त्वपूर्ण रहा।

: ७ :

विविध जीवन प्रसग

जन्म-घोषणा

आचार्य कालूगणी का जब जन्म हुआ था तब मघवागणी बीदासर में विराजमान थे। उसी दिन व्याख्यान में वहाँ के नामी श्रावक मघराजजी बैंगानी ने खड़े होकर कहा—"तेरापथ के एक प्रभावक आचार्य का आज जन्म हुआ है और वह स्थान यहाँ से चार कोस के अन्दर है। कहा जाता है कि उनके किसी देव का इष्ट था और उसीके कथनानुसार उन्होंने यह बात सभा में कही थी।

भविष्य-वाणी

कालूगणी के दादा बुधसिंहजी कोठारी ने नवजात शिशु का जन्म-समय देकर अपने एक परिचित ज्योतिषी से कुण्डली बनवाई। उस वृद्ध ज्योतिषी ने कुण्डली बनाकर देते हुए यह भविष्यवाणी की थी कि इस बालक (बच्चाण) के तेतीसवें वर्ष में द्वार पर हाथी बंधेगा। यह इतना प्रभावशाली होगा कि प्रतापी नरेशों के बीच में इसको कुर्सी मिलेगी। उनकी ज्योतिषी की वह भविष्यवाणी उस रूप में तो नहीं किन्तु अपने दूसरे रूप में कितनी स्पष्ट और सत्य थी—यह उनके जीवन से परिचित हर एक व्यक्ति जान सकता है। वे तेतीसवें वर्ष में आचार्यपद पर आसीन हुए थे और अनेक नरेश उनके प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे।

स्वाभिमानी व्यक्तित्व

कालूगणी का स्वाभिमान बाल्यावस्था से ही अत्यंत जागरूक था। जब वे दीक्षा ग्रहण करने के लिए बीदासर गये तब उनकी बनोरियां निकाली जाने लगीं। वहाँ के प्रमुख श्रावक शोभाचन्दजी बैंगाणी ने उस समय के लिए उनके गले में अपना एक बहुमूल्य कण्ठहार पहनाना चाहा किन्तु स्वाभिमानी बालक ने पहनने से इनकार कर दिया। काफी आग्रह करने के पश्चात् भी वे उसके लिए उद्यत नहीं हुए। दूसरों के आभूषणों से बढ़ने वाली शोभा और सुन्दरता की अपेक्षा उनके लिए अपना स्वाभिमान कहीं अधिक मूल्यवान् था। विचारों का वही बीज आगे चलकर उनके जीवन में सिद्धान्तवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

छोटे बछड़े

कालूगणी अनेक बार अपने कुछ विशिष्ट स्वप्नों का अर्थ बता दिया करते थे और वह बहुधा मिल जाया करता था। एक बार आचार्य बनने के कुछ समय पश्चात् उन्होंने एक स्वप्न में छोटे-छोटे बछड़े देखे। उन्होंने उसका अर्थ लगाते हुए कहा— 'बालक अवस्था में

साधु बनने वाले व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक होगे।" उनका वह स्वप्नफल बिल्कुल ठीक निकला। उनके शासनकाल में बाल्यावस्था में दीक्षित होने वाले साधु-साध्वियों की सख्या बहुत बडी थी।

मुझे आवश्यकता है

बालक-साधुओ के जीवन निर्माण में वे सदा जागरूक रहा करते थे। उनका वात्सल्य बालक साधुओं के लिए अमृत के समान कार्य करने वाला होता था। उनका एक-एक वाक्य बालकों के प्रति उनकी गहरी दिलचस्पी का द्योतक होता था। स० १६८० के जयपुर-चातुर्मास की बात है। मुनिश्री धनराजजी तथा मुनिश्री चन्दनमलजी उस समय नवदीक्षित बाल साधु ही थे। एक बार उनमें परस्पर झोड हो गया। मुनि धनराजजी उनके ससार-पक्षीय बडे भाई थे, अत वे छोटे भाई की शिकायत लेकर कालूगणी के पास पहुँचे और निवेदन किया—"यह तो कहता है—'आपको सिखाने की गरज हो तो स्वय रटते जाइये। आप रटेंगे, तब मैं सुन-सुन कर ही याद कर लूंगा।' पर मुझे क्या आवश्यकता है कि मैं अनावश्यक ही इसके लिए रटन लगाता रहूँ?"

मुनि चन्दनमलजी ने भी अपनी सफाई प्रस्तुत करते हुए बाल-सुलभ सरलता से कहा—"जब इन्हें सिखाने की गरज नही है, तो मुझे सीखने की क्या गरज है? इन्हें आवश्यकता हो तो स्वयं रट-रट कर सिखाएँ, नहीं तो न सही।"

कालूगणी ने दोनों के सिर पर हाथ रखते हुए समाधान किया—"न तो तुझे आवश्यकता है और न इसे, पर मुझे आवश्यकता है, अत दोनो को ही परिश्रम से सीखना चाहिए।"

धब्बों वाला कबल

कालूगणी बालकों की प्रत्येक मानसिक उलझन को बडे मनोवैज्ञानिक ढग से सुलझाया करते थे। स० १६८६ के सरदारशहर-चातुर्मास की बात है। तब मैं और मुनि नथमलजी बालक ही थे। एक कबल आया था, वह हम दोनों को आधा-आधा दिया जाने वाला था। हमें किसी के कथन से यह पता लग गया कि उसके एक हिस्से में कुछ काले धब्बे लगे हुए हैं। जब दो टुकडे करके कालूगणी हमें देने लगे, तो हम दोनों ने ही समानरूप से बिना धब्बे वाला टुकडा मांगा। आखिर कालूगणी ने दोनों टुकडों को अपने नीचे दबाया और केवल दो छोर ऊपर रखकर उनमें से एक-एक को पकड लेने के लिए कहा। हम दोनो ठिठके तो सही, पर आखिर एक-एक किनारा पकड लिया। कबलों की पाती हो चुकी थी। धब्बो वाला टुकडा मुनि नथमलजी के आया, अत वे थोडे से उदास हुए, किन्तु बाद में जब वे धुलकर वापस हमारे पास आये तो धब्बे दोनों में से किसी पर भी नहीं थे।

• ७ •

विविध जीवन प्रसंग

जन्म-घोषणा

आचार्य कालूगणी का जब जन्म हुआ था तब मघवागणी बीदासर में विराजमान थे। उसी दिन व्याख्यान में वहाँ के नामी श्रावक नथमलजी बैंगानी ने खड़े होकर कहा—"तेरापंथ के एक प्रभावक आचार्य का आज जन्म हुआ है और वह स्थान यहाँ से चार कोस के अन्दर अन्दर है।" कहा जाता है कि उनके किसी देव का इष्ट था और उसीके कथनानुसार उन्होंने यह बात सभा में कही थी।

भविष्य-वाणी

कालूगणी के दादा बुधसिंहजी कोठारी ने नवजात शिशु का जन्म-समय लेकर अपने एक परिचित ज्योतिषी से कुण्डली बनवाई। उस वृद्ध ज्योतिषी ने कुण्डली बनाकर देते हुए यह भविष्यवाणी भी की कि इस बालक (सन्तान) के तेंतीसवें वर्ष में द्वार पर हाथी बँधेगा। यह इतना प्रभावशाली होगा कि प्रतापी नरेशों के बीच में इसकी कुर्सी लगेगी। अनुभवी ज्योतिषी की यह भविष्यवाणी उस रूप में तो नहीं किन्तु अपने दूसरे रूप में कितनी स्पष्ट और सत्य थी—यह उनके जीवन से परिचित हर एक व्यक्ति जान सकता है। वे तेंतीसवें वर्ष में आचार्यपद पर आसीन हुए थे और अनेक नरेश उनके प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे।

स्वाभिमानी व्यक्तित्व

कालूगणी का स्वाभिमान बाल्यावस्था से ही अत्यंत जागरूक था। जब वे दीक्षा ग्रहण करने के लिए बीदासर गये तब उनकी बनोरियाँ निकाली जाने लगीं। वहाँ के प्रमुख श्रावक शोभाचन्दजी बैंगाणी ने उस समय के लिए उनके गले में अपना एक बहुमूल्य कण्ठहार पहनाना चाहा किन्तु स्वाभिमानी बालक ने पहनने से इनकार कर दिया। काफी आग्रह करने के पश्चात् भी वे उसके लिए उद्यत नहीं हुए। दूसरों के आभूषणों से बढ़ने वाली शोभा और सुन्दरता की अपेक्षा उनके लिए अपना स्वाभिमान कहीं अधिक मूल्यवान् था। विचारों का यही बीज आगे चलकर उनके जीवन में सिद्धान्तवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

छोटे बछड़े

कालूगणी अनेक बार अपने कुछ विशिष्ट स्वप्नों का अर्थ बता दिया करते थे और वह बहुधा मिल जाया करता था। एक बार आचार्य बनने के कुछ समय पश्चात् उन्होंने एक स्वप्न में छोटे-छोटे बछड़े देखे। उन्होंने उसका अर्थ लगाते हुए कहा— "बालक अवस्था में

लोगों को फिर भी आग्रह रखना चाहिए था ? आखिर तुम लोग वहाँ जाकर देख आये तभी विश्वस्त हुए।" मगनलालजी स्वामी की ओर रुख करते हुए उन्होने फरमाया—"ये तो क्या जाने बच्चे थे, पर आप भी इनमें ही मिल गये। मेरे द्वारा इतना स्पष्ट कहे जाने पर भी इन्हें आग्रह करने तथा जाकर देखने से आपने टोका नहीं।"

मगनलालजी स्वामी अत्यन्त सावधान व्यक्ति थे, फिर भी उस समय उनका ध्यान चूक गया था, अत वे भी उपालम्भ के भागी बन गये। उन्होने तत्काल आचार्यदेव के कथन का सम्मान करते हुए आगे के लिए सावधानी बरतने की प्रार्थना की।

सुसरा देखै के सै?

भिवानी का सुप्रसिद्ध श्रावक द्वारकादास प्राय प्रतिवर्ष एक या दो बार सेवा में आ ही जाया करता था। उसका परिवार बहुत बडा था, अत जब भी सेवा में आता, तब उसके साथ दस-पन्द्रह व्यक्तियों का होना तो एक साधारण बात थी। थोडे से व्यक्तियों के साथ उसे अच्छा भी नहीं लगा करता था। वह उदार-प्रकृति का व्यक्ति था, अत अपने परिवार के अतिरिक्त भी अनेक व्यक्तियो को वह अपने यहाँ ठहरने तथा भोजन करने को बाध्य करता रहता था। दान की प्रवृत्ति उसमें यथेष्ट से भी कुछ अधिक थी, अत कदाचित् मनाही करते रहने पर भी पात्र में अधिक गिराने की चेष्टा वह कर लिया करता था।

बीदासर में एक बार मुनिश्री मगनलालजी उसके यहाँ गोचरी पधारे। स्वभावानुसार उसने कुछ अधिक डाल दिया। उन्होंने स्थान पर आकर आचार्यदेव से निवेदित किया कि आज तो द्वारकादास ने अधिक डाल दिया है। आचार्यदेव ने फरमाया कि यों अधिक कैसे डाल देता है, अपनी ओर से थोडी अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। मगनलालजी स्वामी ने 'तहत्त' कहकर उस बात को वहीं समाप्त कर दिया।

कालातर में महीने भर की सेवा के पश्चात् जब द्वारकादास वापस जाने को तैयार हुआ, तब उसने स्वय कालूगणी को गोचरी पधारने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और गोचरी के समय वहाँ पधारे। वे जब किसी के घर गोचरी पधारा करते थे, तब झोली में एक छोटी पात्री रखकर उसे वे स्वय अपने हाथ में ही लेकर पधारा करते थे। उसी क्रम से वहाँ भी पधारे।

गोचरी लेते समय जब कालूगणी ने वही पात्र सामने किया, तो द्वारकादास ने बहुत अनुनय-विनय किया कि जब आप स्वय ही पधार गये हैं तो कुछ बडा पात्र हाथ में लेने की कृपा कीजिए। किन्तु आचार्यदेव नही माने। आखिर द्वारकादास उसी पात्र में बहराने के लिए पहले-पहल स्वय ही प्रस्तुत हुआ। जितना उसके हाथ से लेना अभीष्ट था, उतना ही जब उसके हाथ में आहार रहा, तब आचार्यदेव ने झोली खोली और उसमें रखे पात्र में बहरा देने के लिए कहा। द्वारकादास ने अपने हाथ में लिया हुआ आहार झोली में रखे पात्र में रख दिया और

मुझे भी भर्तृ शतक चाहिए

सं० १६८१ में एक बार आचार्यदेव डूंगरगढ़ में विराज रहे थे। उन्होंने मुनिश्री नथमलजी को भर्तृ शतक प्रदान किया। मैं उस समय वहाँ नहीं था अतः वे उसे लेकर सीधे मेरे पास ही आये। मैंने उसे देखा तो सीधा गुरुदेव के पास जाकर बोला— 'मुझे भी भर्तृ शतक चाहिए।' एक बार तो उन्होंने फरमाया कि अब भर्तृ शतक कहाँ है ? पर जब मैंने दुबारा भी उसी बात को दुहराया तो उन्होंने मुनिश्री चौथमलजी के 'पूठे' से एक दूसरा भर्तृ शतक निकलवाकर मुझे दिया। यह थी बालकों के मन को परोटने की उनकी पद्धति।

कविता का पत्र

सं० १६६० में गुरुदेव जब बीदासर में थे तब उन्होंने कविता का एक पत्र मुझे प्रदान किया। उस समय मुनि नथमलजी वहाँ नहीं थे। मैंने उन्हें यह पत्र दिखलाया तो वे भी तत्काल आचार्यदेव के पास से उन्हीं कविताओं का पत्र माँगने लगे। आखिर आचार्यदेव ने उन्हें नवीन पत्र लिखवाकर प्रदान किया। वस्तुतः वे बालकों के मन को तोड़ना तो कभी जानते ही नहीं थे।

आप भी बच्चों में मिल गये

एक बार आचार्यदेव डूंगरगढ़ में विराजमान थे। वहाँ रात्रि के समय वहीं थोड़ी ही दूर पर से एक प्रकाश दिखाई दे रहा था। आचार्यदेव के पास उस समय मुनि धनराजजी मुनि चंदनमलजी तथा मुनि तुलसीरामजी (आचार्य श्री तुलसी) बैठे हुए उसी प्रकाश के विषय में चर्चा कर रहे थे। कोई उसे बिजली का प्रकाश बतला रहा था तो कोई अन्य कुछ।

कालूगणी ने उन्हें टोकते हुए बीच में ही फरमाया— 'नहीं यह तो पानी के गुवाड़ पर लगी हुई लालटेन का प्रकाश है।

यह बात सुनकर सबने 'तहत' तो कह दिया किन्तु समर्थन फिर भी बिजली का ही होता रहा। पास में विराजमान मगनलालजी स्वामी ने भी बिजली का ही समर्थन किया। तब आचार्यदेव ने फिर फरमाया— मैंने पहले इसे देखा था यह बिजली का नहीं किन्तु लालटेन का ही प्रकाश है।"

इस पर मगनलालजी स्वामी तो 'तहत' कहकर चुप हो गये पर तीनों विद्यार्थी साधुओं का मन माना नहीं। उनमें से एक उठा और बाहर बरामदे में जाकर, जहाँ से कि वह स्थान स्पष्ट दिखाई देता था देख आया। उसके आते ही सबने उत्सुकतावश पूछा कि क्या था ? उसने बतलाया कि बिजली नहीं लालटेन ही है।

इतनी देर सारी बात ध्यान से सुन लेने के पश्चात् कालूगणी ने सबको उपालंभ देते हुए फरमाया जब मैंने दो बार कह दिया कि यह लालटेन का ही प्रकाश है तो क्या तुम

था। जब सबकी ऐसी तैयारी देखी, तो उन्होंने सरदारशहर के लिए मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति प्रदान कर दी। श्रीचन्दजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रारभिक तैयारी के लिए सरदारशहर चले गये। बीदासर वालों को वह बात अवश्य अखरी। किसी-किसी ने तो कह भी दिया कि आज यदि शोभाचन्दजी बैंगानी जीवित होते, तो यहाँ का निश्चित-प्राय महोत्सव यो कोई भी नहीं ले जा सकता था।

उस मर्यादा-महोत्सव की प्रार्थना के विषय को लेकर एक दिन कालूगणी ने विनोद में सतों को फरमाया—"तुम सब चियडों के शेर हो गये। इस बार तो मगनलालजी स्वामी भी तुम लोगों में ही मिल गये। सारे सघ की सुविधा-असुविधा को देखे बिना ही किसी की प्रार्थना पर इतना मुग्ध हो जाना किस काम का है ?"

नि शल्यभाव और चातुर्मास

सरदारशहर के श्रीचन्दजी गधैया तथा बालचन्दजी सेठिया में परस्पर किसी बात को लेकर अनबन हो गई थी। दोनों ही व्यक्ति वहाँ के प्रमुख श्रावक तथा धर्म के मर्मज्ञ थे। बात की पकड भी दोनों के ही काफी थी। साधु-साध्वियाँ प्राय वहाँ कभी इनके और कभी उनके मकान में रहा करते थे। अनबन अधिक बढ जाने पर वे एक दूसरे के स्थान की भी कमियाँ बताने लगे। गधैयाजी के यहाँ साधु ठहरे हुए होते तो सेठियाजी तथा सेठियाजी के वहाँ ठहरे हुए होते तो गधैयाजी, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से साधुओ के मन पर यह प्रभाव डालना चाहते कि यह स्थान ठहरने योग्य नहीं है।

वर्षों तक यह तनाव योंही चलता रहा। अनेक प्रयास करने पर भी कोई झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। उन्ही दिनों कालूगणी का वहाँ पदार्पण हुआ। सरदारशहर की जनता ने काफी उत्साह से आचार्यदेव की सेवा की। जब वहाँ से विहार होने लगा तो सबने साधुओं का चातुर्मास कराने के लिए प्रार्थना की। चातुर्मास प्रारम्भ होने में अधिक दिन अवशिष्ट नहीं थे, अत सभी को यही आशा थी कि अब तो फरमा ही देंगे। किन्तु उन्होंने कुछ नहीं फरमाया। आखिर दुबारा-तिबारा प्रार्थना की गई तो भी नहीं फरमाया, तब लोगों को कुछ आश्चर्य तथा कुछ दुःख भी हुआ। उन लोगो ने फिर से काफी दबाव देकर प्रार्थना की, उसमें श्रीचन्दजी गधैया तथा बालचन्दजी सेठिया दोनो ही सम्मिलित थे।

कालूगणी ने अवसर देखकर उन दोनों को लक्ष्य करते हुए फरमाया—"साधु-साध्वियाँ ग्राम में केवल रोटी खाने के लिए ही नही आते हैं। तुम लोगों में परस्पर जो फूट है, उसके फलस्वरूप एक दूसरे के स्थान को बुरा बतलाया जाता है। उससे साधु-साध्वियाँ बडे असमजस में पड जाते हैं कि किसकी बात मानी जाए और किसकी नहीं ? मैं ऐसा नही चाहता। अत जब तक तुम्हारा यह झगडा तय न हो जाए, तब तक के लिए यहाँ चातुर्मास नही कराना ही अधिक श्रेयस्कर लगता है।'

साथ ही अपना हाथ भी उसी में रख लिया। पास में खड़े दूसरे व्यक्ति को कोहनी से इशारा करते हुए कहा— 'भुसरा! देखे के से? इसा मोका के बार-बार आवे से?'

बस उसके इतना कहते ही साथ के भाइयों ने वह पात्र भर ही नहीं दिया किन्तु ऊपर तक उसके शिखा चढ़ा दी। कालूगणी फरमाते ही रह गए, किन्तु हारकादास ने अपना हाथ तब तक झोली में से नहीं निकाला जब तक कि सबने अपनी ओर से थोड़ा-बहुत नहीं भरा दिया। आखिर उसने हाथ उठाया तब उस आहार को दूसरे बड़े पात्र में ही रखना पड़ा। कालूगणी ने उसे समझाने के लिए फरमाया कि यह डालने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। तब उसने वापस प्रार्थना करते हुए कहा— 'हमें भिवानी में तो ऐसा अवसर ही नहीं मिलता क्योंकि वहाँ तो थोड़े से साधु या साध्वियाँ आती हैं अतः अधिक डाल देने से वस्तु बिगड़ सकती है, पर यहाँ तो बहुत से साधु-साध्वियाँ हैं। यहाँ आप छोटी-सी पात्री रखकर ही हमें संतुष्ट करना चाहते हैं यह कैसे हो सकता है?'

कालूगणी ने तब मगनलालजी स्वामी से कहा— 'ये लोग जब मेरे साथ भी ऐसा कर देते हैं तो संतों के साथ ऐसा करने में तो आश्चर्य ही क्या हो?'

मगनलालजी स्वामी ने विनोद में कहा—"साधुओं को तो आपके उपालंभ का डर रहता है, अतः वे पूरी सावधानी बरतते हैं। पर आपको तो कोई उपालंभ देने वाला भी नहीं है। इस बात पर सारा वातावरण हँसी से गूँज उठा।"

चिथड़ों के ढेर

एक बार सती छोगांजी की प्रार्थना पर बीदासर में मर्यादा-महोत्सव होना प्रायः निश्चित सा हो चुका था। परन्तु आचार्यदेव के द्वारा उसकी घोषणा होनी अवशिष्ट थी। श्रीचंदजी गधैया सरदारशहर के लिए प्रार्थना कर रहे थे। उन्होंने आचार्यदेव को तो बहुत जोर देकर प्रार्थना की ही थी पर साथ संतों को भी अपनी सहायता के लिए तैयार कर लिया था। यहाँ तक कि मगनलालजी स्वामी ने भी श्रीचन्दजी की प्रार्थना स्वीकार करने की ओर आचार्यदेव का ध्यान आकृष्ट किया।

आचार्यदेव ने सन्तों को बुलाकर सामूहिक रूप से पूछा— श्रीचन्दजी इतनी प्रार्थना कर रहे हैं परन्तु अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष शीत कहीं अधिक जोर से पड़ रहा है। ऐसी ऋतु में वृद्ध ग्लान आदि सब साधु-साध्वियों को लेकर वहाँ तक जाना कष्ट-साध्य हो सकता है। इस विषय में तुम लोगों का क्या विचार है?"

उस पृच्छा पर प्रायः सभी ने एक स्वर से वही प्रार्थना की— हमको जाने में कोई कष्ट नहीं है आप श्रीचन्दजी पर अवश्य कृपा करें।

आचार्यदेव उनकी एक-स्वरता पर जहाँ आश्चर्य चकित हुए वहाँ श्रीचन्दजी की विलक्षणता पर भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि उन्होंने छोटे से लेकर बड़े सन्तों तक सभी के पास पहुँचकर उनको उस शीत में चलने को तैयार किया

उस व्रण ने समय भी काफी लबा लिया। उसकी वेदना से प्रभावित कालूगणी का शरीर आश्विन तक भी पूर्ण सशक्त नही हो सका। व्याख्यान भी वे आश्विन के पश्चात् ही दे पाये थे। मगनलालजी स्वामी ने उसके चीरा दिया था और प्रतिदिन उसकी सफाई भी वे ही किया करते थे। मवाद निकालते समय कालूगणी को क्तिनी वेदना होती, उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि एक दिन स्वयं उन्होने मगनलालजी स्वामी से कहा कि जव आपको आता देखता हूँ तब काँप-सा जाता हूँ। इतनी असह्य वेदना होते हुए भी वे उसे शात भाव से सहा करते थे।

लू की परेशानो

स० १९८९ का चातुर्मास करने के लिए कालूगणी तारानगर से विहार करते हुए सरदारशहर पधार रहे थे। गर्मी की ऋतु थी। राजस्थान में प्राय गर्मी बहुत अधिक पडती है। उसमें भी थली की रेतीली और टीलो वाली धरती पर उसका प्रकोप और भी भयकर हो जाता है। एक प्रहर दिन चढते-न-चढते तो गर्मी इतनी तेज हो जाती है कि बाहर निकलना कठिन हो जाता है। लू के झोके शरीर को झुलसा डालते हैं। अनेक व्यक्तियों को लू लगने की बीमारी भी हो जाती है। जिस व्यक्ति को लू लग जाती है, उसे अन्न की अरुचि हो जाती है। धूप के सामने जाने मात्र से उसके शरीर में काटे-से चुभने लगते हैं। गर्म हवा तो असह्य पीडा बन जाती है। अशाति इतनी हो जाती है कि उसके लिए वे गर्मी के दिन एक प्रकार से मृत्यु-दड जैसे बन जाते हैं। वह अशाति तब तक तकलीफ देती रहती है, जब तक कि वर्षा ऋतु नहीं आ जाती और कम से कम एक तेज वर्षा नही हो जाती। उस बीमारी से प्राय प्रतिवर्ष सैकडों व्यक्तियो का प्राणात हो जाता है।

कालूगणी जब छोटे-छोटे ग्रामो की मजिलें तय करते हुए सरदारशहर की ओर बढ रहे थे, तब एक दिन मार्ग में उन्हें लू लग गई। उसके पश्चात् वे चलकर ग्राम तक पहुँचे तो सही, पर उसमें शरीर के बल की अपेक्षा मन का बल ही अधिक सहयोगी हुआ। उस समय की उनकी अशाति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि वे पधारते ही बिछौने की प्रतीक्षा किये बिना एक छोटे से कम्बल पर ही लेट गये।

उस छोटे ग्राम में आये हुए व्यक्तियो के पास जो कुछ औषध आदि प्राप्त हुआ, उसी के अनुसार तात्कालिक उपचार किया गया। व्यवस्थित उपचार तो सरदारशहर पहुँचने के पश्चात् ही हो सकता था, पर वहाँ पहुँचने में कई मजिलें बाकी थी। मनोबली आचार्यदेव लू की उस बेचैनी को अपने में समेटे हुए उस तेज धूप और लू में प्रतिदिन विहार करते हुए सरदारशहर पहुँचे। वहाँ उसका व्यवस्थित उपचार किया गया। काफी दिनों के निरतर प्रयास से वह बीमारी कुछ शान्त हुई। पूर्ण शान्ति तो वर्षा होने के पश्चात् ही प्राप्त हुई। फिर भी प्रति वर्ष गर्मी के दिनों में उसका प्रभाव शरीर पर प्राय अन्त तक प्रकट होता रहा था।

आचार्यदेव का वह उपालंभ सुनकर पर्वैयाजी तथा सेठियाजी तो मूकवत् खड़े के खड़े ही रह गये मानो उनमें बोलने का साहस ही नहीं रहा हो। नगर के अन्य व्यक्तियों पर भी उस उपालंभ की असाधारण प्रतिक्रिया हुई। सारे नगर के लिए अंतराय का कारण न पर्वैयाजी बनना चाहते थे और न सेठियाजी। विरोध चाहे कितना भी तेज क्यों न हुआ हो पर दोनों ही व्यक्ति आचार्यदेव की दृष्टि से विरुद्ध कार्य करने को बिलकुल तैयार नहीं थे। अतः दोनों ने ही उदारता-पूर्वक अपने विरोध को भुला दिया और एक दूसरे से वहाँ की भरी सभा में क्षमा-याचना कर पूर्णतः शल्यरहित हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने फिर आचार्यदेव के पास चातुर्मास की प्रार्थना की। निःशल्यभाव से की गई उस प्रार्थना को आचार्यदेव कैसे ठुकरा सकते थे उन्होंने तत्काल उसके लिए स्वीकृति प्रदान कर दी।

बर्फ का उपचार

कालूगणी का शरीर साधारणतया नीरोग था। फिर भी कभी-कभी रोग उन्हें घेर लिया करता था। घुटनों की पीड़ा उन्हें कई वर्षों तक लगातार रही पर उसमें कमी-बेशी होती रहती थी। सं० १९७४ में उनका चातुर्मास सरदारशहर में था। वहाँ वे काफी लंबे समय तक बीमार रहे। कमजोर भी इतने हो गये कि खड़े होते ही उन्हें चक्कर आने लगते थे। एक बार तो स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि लोगों को उनके बच जाने में भी संदेह होने लगा था। अनेक प्रकार के उपचार किये जाने पर भी रोग शांत नहीं हो पाया। डा० अश्विनीकुमार ने आखिर बहुत सोच विचार के पश्चात् मगनलालजी स्वामी से कहा—"अब सभी उपाय परख लेने के पश्चात् अब अंतिम रूप से एक यह उपाय और परख देखें। यदि कहीं बर्फ मिल सके तो उसका सेक किया जाय।"

साधुओं के सामने बर्फ प्राप्त करने की एक समस्या थी। पानी की बर्फ सचित्त पानी से जमाई जाती है अतः वह अग्राह्य होती है उससे सेंक कैसे किया जा सकता था? आखिर बालचन्दजी सेठिया ने समस्या को सुलझाते हुए सुझाव दिया कि खाने के लिए जो बर्फ जमाई जाती है उसमें दूध या चीनी आदि मिले होते हैं अतः उसी का सेंक किया जाये। मैं स्वयं बर्फ बेचने वालों से बातचीत करता हूँ कि वे बिना किसी मूल्य के अपनी बर्फ दे सकते हैं या नहीं? उन्होंने बर्फ बेचने वालों से पूछ-ताछ की तो वे उसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। प्रतिदिन चार-पाँच सेर बर्फ का सेक उनके शरीर पर कई दिनों तक किया गया। वह इलाज अनुकूल पड़ गया और वे धीरे धीरे पुनः पूर्ण स्वस्थ हो गये।

व्रण-वेदना

कई बार उन्हें व्रण की वेदना भी सहन करनी पड़ी। कई अन्य वर्षों की व्रण-वेदना के अतिरिक्त सं० १९७५ में उन्हें पैर में हुए व्रण से बड़ा परेशान रहना पड़ा था। उस वर्ष उनका विचार बीदासर में चातुर्मास करने का था परन्तु व्रण के कारण राजलदेसर में ही वह करना पड़ा।

किसान की माँग

एक बार मारवाड में आचार्यदेव के पास एक किसान आया। मैले और फटे हुए कपडे, हाथ में जेई, धूलि-धूसरित शरीर, उसके किसान होने का बिना पूछे ही परिचय दे रहे थे। वह सीधा आचार्यदेव के पास आकर खड़ा हो गया, तो उन्होंने भी सहज-भाव से उसे आने का कारण पूछ लिया।

किसान ने कहा—"वो पानो देखणो है।"

कालूगणी ने समझा कि सूक्ष्म लिपि वाला पत्र देखना चाहता होगा। इसलिए अपना 'पूठा' मगाया और वह पत्र निकाल कर उसे देखने के लिए दिया। उसने कुछ इधर-उधर करके उसे देखा, परन्तु उसकी भाव-भगिमा यह स्पष्ट बतला रही थी कि उसे उसमें कोई आनन्द प्राप्त नही हो रहा था।

कालूगणी ने तत्काल उसे पूछा "क्यो भाई! यही पत्र देखना था या और कोई?"

किसान ने कुछ निराशा के स्वर में कहा—"महाराज! वो पानों दिखावो, जके में कुंभार को गधो खो गयो है।"

आस-पास में बैठे हुए लोग उसकी इस ऋजुता पर हँस पडे। परन्तु दयालु कालूगणी ने सन्तो के पास से वह पत्र मगाया और उसे देखने के लिए देते हुए कहा—"अब तुम इसमें खोज कर बतलाओ कि वह खोया हुआ गधा कहाँ पर है?"

इस प्रकार कालूगणी एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति की इच्छा को भी यथेष्ट महत्त्व देते और उसके मन को जीत लेते थे। वस्तुत वे **'जहा पुण्णस कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ'** इस आगम-वाणी के एक मूर्त्त उदाहरण थे।

प्रकोप-शमन

एक बार एक पडित आचार्यदेव के दर्शनार्थ आये। बातचीत के सिलसिले में मुनिश्री सोहनलालजी ने जिज्ञासावश पूछ लिया कि रघुवश महाकाव्य में **'कथ द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्'** इस पद में 'द्वयेषा' का प्रयोग क्या अशुद्ध नहीं है?

पडितजी ने उस प्रश्न का आशय यह सोचा कि ये जैन होने के कारण हमारे प्राचीन मनीषियों की कृतियों में त्रुटि निकाल कर उन्हें अपमानित करना चाहते है। बस वे एकदम कुपित होकर उस शब्द की सिद्धि के लिए बोलना प्रारम्भ किया तो रोके भी नही रुके। उनका वाग्-वैदग्ध्य चोट खाये हुए साप की तरह फुफकारता रहा।

कालूगणी पडितजी की वाक्-शक्ति पर मुग्ध हुए, पर साथ ही उनकी गलतफहमी पर खिन्न भी हुए। उन्होंने बडे शात स्वर में कहा—"आपने जिज्ञासा से पूछी गई बात को सम्भवत अन्यथा समझ लिया है। हम आपके पाडित्य का आदर करते हैं, परन्तु आप यह मत समझियेगा कि हम कम बोलने पर किसी को मूर्ख समझ लेते हैं।"

पात्र सीधा कर लें

सं १९७३ में कालूगणी ने बोरावड़ चातुर्मास किया। वहाँ पहले कुछ दिन तक वृष्टि की कमी रही। विरोधियों ने उसका सारा दोष तेरापन्थियों पर ही मढ़ा। लोगों में उसका काफ़ी प्रचार हो गया। लोग पूछने लग गए कि वर्षा को तुमने क्यों रोक रखा है ?

उन लोगों में वर्षा के सम्बन्ध में एक यह बात भी फैल गई, कि इनके पास एक ऐसा पात्र है जिसे उलटा कर दें तो वर्षा होने लगे और सीधा कर दें तो वह रुक जाये। किसी किसी ने यह कहा भी कि अपने पात्र को कुछ दिन के लिए उलटा करके रख दीजिये न।

प्रकृति का वैचित्र्य ही समझिये कि शीघ्र ही वहाँ वर्षा प्रारम्भ हो गई। वर्षा का वह क्रम कई दिन तक लगातार चलता रहा। यहाँ तक कि लोग चाहने लगे अब वर्षा बन्द हो जाए और धूप निकले परन्तु वैसा नहीं हुआ। एक दिन स्थंडिल-भूमि जाते समय एक व्यक्ति ने कालूगणी से कहा कि अब आप अपना पात्र सीधा कर लें न ? अन्यथा ये हमारे सारे घर बह जायेंगे।

मार्ग में बैठकर उपदेश

सं १९९२ में मालव की ओर प्रयाण करते हुए कालूगणी सादड़ी पधारे। वहाँ एक रात रहकर दूसरे दिन प्रातःकाल विहार कर दिया। पीछे से वहाँ के राजराणा जो कि मेवाड़ के सोलह उमरावों में मुख्य माने जाते थे मोटर में बैठकर आये और मार्ग में दर्शन किये। उनके कुँवर आदि कुछ अन्य व्यक्ति भी उनके साथ थे। राजराणा ने प्रार्थना की कि हम लोग कुछ आवश्यक कारणों से कल दर्शन नहीं कर सके थे। आज आने का विचार था परन्तु हमें पता चला कि आपने तो विहार ही कर दिया है। हम उसी समय मोटर में बैठकर दौड़ आये हैं। आपने हमारे इस ग्राम को एक दिन ठहरने के ही योग्य समझा। यह तो कोई बात नहीं हुई। आपको वापस पधारना चाहिए और वहाँ की जनता तथा हमारे जैसे लोगों को जो कि आपके उपदेश से वंचित रह गये हैं लाभ प्रदान करना चाहिए।

आचार्यदेव ने उन्हें अपनी मालव यात्रा तथा उसके लिए निश्चित की हुई तिथियों का विवरण बतलाते हुए फरमाया कि अब वापस वहाँ जाकर ठहरने जितना समय तो हमारे पास नहीं है उपदेश की बात यहाँ भी पूरी की जा सकती है।

सन्तों ने आचार्यदेव का आशय समझा और प्रासुक भूमि देखकर कम्बल बिछा दिया। आचार्यदेव वहाँ विराज गये। आगन्तुक सज्जन भी सामने बैठ गये। यद्यपि वहाँ बहुत थोड़े समय के लिए ही ठहरना हुआ पर उसी में उपदेश तथा तेरापन्थ का परिचय आदि तो दिया ही पुस्तक खोलकर सूक्ष्म लिपि का पत्र और अन्य कलाकृतियाँ भी उन्हें दिखलाईं। उसके पश्चात् आचार्यदेव ने आगे विहार कर दिया और वे लोग कृत विभोर होकर वापस सादड़ी चले गये।

किसान की माँग

एक बार मारवाड में आचार्यदेव के पास एक किमान आया। मैले और फटे हुए कपडे, हाथ में जेई, धूलि-धूसरित शरीर, उसके किमान होने का बिना पूछे ही परिचय दे रहे थे। वह सीधा आचार्यदेव के पास आकर खडा हो गया, तो उन्होंने भी सहज-भाव से उसे आने का कारण पूछ लिया।

किसान ने कहा—"वो पानों देखणो है।"

कालूगणी ने समझा कि सूक्ष्म लिपि वाला पत्र देखना चाहता होगा। इसलिए अपना 'पूठा' मगाया और वह पत्र निकाल कर उसे देखने के लिए दिया। उसने कुछ इधर-उधर करके उसे देखा, परन्तु उसकी भाव-भगिमा यह स्पष्ट बतला रही थी कि उसे उसमें कोई आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा था।

कालूगणी ने तत्काल उसे पूछा "क्यों भाई! यही पत्र देखना था या और कोई?"

किमान ने कुछ निराशा के स्वर में कहा—"महाराज! वो पानों दिखावो, जके में कुभार को गधो खो गयो है।"

आस-पास में बैठे हुए लोग उसकी इस ऋजुता पर हँस पडे। परन्तु दयालु कालूगणी ने सन्तो के पास से वह पत्र मगाया और उसे देखने के लिए देते हुए कहा—"अब तुम इसमें खोज कर बतलाओ कि वह खोया हुआ गधा कहाँ पर है?"

इस प्रकार कालूगणी एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति की इच्छा को भी यथेष्ट महत्त्व देते और उसके मन को जीत लेते थे। वस्तुत वे **'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ'** इस आगम-वाणी के एक मूर्त्त उदाहरण थे।

प्रकोप-शमन

एक बार एक पडित आचार्यदेव के दर्शनार्थ आये। बातचीत के सिलसिले में मुनिश्री सोहनलालजी ने जिज्ञासावश पूछ लिया कि रघुवश महाकाव्य में **'कथ द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्'** इस पद में 'द्वयेषा' का प्रयोग क्या अशुद्ध नहीं है?

पंडितजी ने उस प्रश्न का आशय यह सोचा कि ये जैन होने के कारण हमारे प्राचीन मनीषियों की कृतियों में त्रुटि निकाल कर उन्हें अपमानित करना चाहते हैं। बस वे एकदम कुपित होकर उस शब्द की सिद्धि के लिए बोलना प्रारम्भ किया तो रोके भी नहीं रुके। उनका वाग्-वैदग्ध्य चोट खाये हुए साप की तरह फुफकारता रहा।

कालूगणी पडितजी की वाक्-शक्ति पर मुग्ध हुए, पर साथ ही उनकी गलतफहमी पर खिन्न भी हुए। उन्होंने बडे शात स्वर में कहा—"आपने जिज्ञासा से पूछी गई बात को सम्भवत अन्यथा समझ लिया है। हम आपके पाडित्य का आदर करते हैं, परन्तु आप यह मत समझियेगा कि हम कम बोलने पर किसी को मूर्ख समझ लेते हैं।"

कालूगणी के उन शब्दों ने पंडितजी पर गारुड़ी मंत्र का सा काम किया। वे तत्काल चुप हो गये। तब उन्हें पूछने का सारा आशय बतलाया गया। वे पूर्ण संतुष्ट तो नहीं हुए फिर भी उस समय संतोष-सा ही प्रकट करते हुए चल गये। बाद में उन्हें अनावश्यक ही पैदा हुए अपने रोष पर पश्चात्ताप हुआ। वे दूसरे दिन प्रातःकालीन व्याख्यान में आये और कालूगणी की स्तुति के ग्यारह श्लोक बनाकर लाये। उन्होंने उन श्लोकों को परिषद् में पढ़ा और पूर्व दिन की घटना पर खेद प्रकट किया। उनके भाव और भाषा से समृद्ध उन श्लोकों में से अंतिम यह था

सार्धं तने गत दिने भवदीय शिष्य, साकं विवादविषयेऽत्र मते! प्रवृत्ते।
यत् किञ्चिदस्यमपि जल्पितमस्तु कोष्ण, तत्क्षम्यमेव भवताऽत्र कृपा-परेण ॥

डा० हर्मन जेकोबी का आगमन

जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी विभिन्न अठारह भाषाओं के विद्वान् थे। जैनागम तथा जैन दर्शन के भी वे विशेषज्ञ थे। दशवैकालिक उत्तराध्ययन आचारांग आदि आगमों का उन्होंने जर्मन भाषा में अनुवाद किया था। एक बार पहले भी वे भारत में आये थे। दूसरी बार की यात्रा में उन्होंने कालूगणी और उनके व्यक्तित्व के विषय में कुछ बातें सुनीं तो दर्शन करने का निश्चय किया।

उन्होंने सं० १९७० में लाडनूं आकर कालूगणी के दर्शन किये। वहाँ तीन दिन तक ठहरे। साधुओं की दिन-चर्या देखी। अनेक विषयों पर बातचीत की। जैनागम विषयक कुछ अपनी भार्शकाओं की भी निवृत्ति की। उन्होंने अपनी आशंका सामने रखते हुए कहा—'अहिंसा धर्मी जैन तीर्थंकर मांस खाते थे यह बात मेरे मन को सर्वेव कचोटती रही है पर जैनागम—आचारांग का अनुवाद करते समय 'मंस वा मच्छ वा' से मैंने यही पाया कि ऐसा होता था।

कालूगणी ने तब आचारांग दशवैकालिक तथा भगवती आदि में आये हुए विभिन्न पाठ उनका पूर्वापर संबंध तथा टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थों के संदर्भ में उसे प्रज्ञापना के वनस्पति-पद में आये हुए वे नाम भी दिखलाए, जो कि उन शब्दों से उत्पन्न होने वाली भ्रांति का निराकरण करने वाले थे। उसके अतिरिक्त 'चेइय' शब्द पर भी काफी लंबी चर्चा चली।

जब वे गये तो बड़े प्रभावित होकर गये अपनी उस तत्त्व-चर्चा का उन्होंने भारत से विदा होने से पूर्व जूनागढ़ में हुई एक सभा में उल्लेख करते हुए कहा—"इस बार की यात्रा में मुझे भगवान् महावीर की परम्परा के श्रमणों का दर्शन-लाभ हुआ।'

उनके अतिरिक्त और भी अनेक विदेशी विद्वानों तथा व्यक्तियों ने समय-समय पर कालूगणी के दर्शनों का लाभ प्राप्त किया था। उनमें से इटालियन विद्वान् टेसी टोरी मिकाओं के डा मिल्की जयपुर के प्रधान कैम्बी आदू के ए बी की होर्लेज आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वाव के राणा का आग्रह

वाव के राणा कालूगणी के वडे भक्त थे। उन्होंने दो वार वाव से आकर आचार्यदेव के दर्शन किये। प्रथम वार डूगरगढ में स० १९८६ के पौष महीने मे और दूसरी वार जोधपुर में सम्वत् १९९१ के चातुर्मास में। डूगरगढ में उन्होने आचार्यदेव के समक्ष अपने वहाँ चातुर्मास के लिए विशेष आग्रहपूर्वक प्रार्थना की थी। उनकी प्रार्थना के आधार पर ही कालूगणी ने हुलासाजी (सरदारशहर वाला) का वहाँ चातुर्मास करवाया था।

महाराणा का सुझाव

स० १९७२ में कालूगणी का उदयपुर चातुर्मास था। पचायती नोहरे में विराजना हुआ। विरोधी व्यक्तियों ने नाना प्रकार के निंदात्मक पर्चे छपाकर जनता में वितरित किये। वे उन्हें महाराणा फतहसिंहजी तक भी पहुँचाते रहे। महाराणा-परिवार भारमलजी स्वामी के समय से ही तेरापन्थ का भक्त रहा है। महाराणा ने उन पर्चों को देखकर हीरालालजी मुरडिया से पूछा कि तुम लोगों ने इनका क्या प्रतिकार सोचा है।

मुरडियाजी ने बतलाया कि तेरापन्थियों की तो यह परपरा ही रही है कि कोई कितना ही गदा प्रचार क्यों न करता रहे, पर वे उसके समान निम्नस्तर पर आकर पर्चेबाजी में नही पडते। महाराणा ने उस नीति को सराहा।

कुछ समय पश्चात् ही विरोधियो द्वारा प्रचारित एक अन्य पर्चा महाराणा के सामने पहुँचा। उसमें लिखा था कि पचायती नोहरे की भट्टी में एक गाय जलकर मर गई। तेरापन्थी लोग वहाँ विद्यमान थे, परन्तु किसी ने उसे बचाया नही।

महाराणा ने हीरालालजी को बुलाकर कहा—"इस पर्चे का उत्तर तो तुम लोगो को अवश्य दे देना चाहिए। अन्यथा लोगों में भ्रम फैलेगा।"

मुरडियाजी ने महाराणा के उस सुझाव की बात कालूगणी के सामने रखी और बाद मे उस पर्चे के उत्तरस्वरूप स्पष्टीकरण निकाला कि चातुर्मास में पचायती नोहरे में कोई जीमनवार नहीं होता। इसलिए वहाँ भट्टी जलने का प्रसग ही उपस्थित नही होता। ऐसी स्थिति में भट्टी में गाय के पडने तथा जल जाने का जो प्रचार किया गया है, वह सब असत्य है और विद्वेषवश किया गया है।

मै नहीं मानता

स० १९७९ में कालूगणी बीकानेर के चौखले में पधारे। भीनासर में कनीरामजी बाठिया आदि कुछ व्यक्ति चर्चा करने के निमित्त आये। मध्याह्न का समय था। चर्चा प्रारम्भ हुई। कालूगणी ने उनको चर्चित विषय पर टीका का मत दिखलाया। उन लोगों के साथ उस समय सस्कृत समझने वाला कोई नहीं था, अत कनीरामजी ने कहा—"मैं कल फिर आऊँगा और किसी पडित को लेकर इस टीका का ठीक अर्थ करवाऊँगा।"

आचार्यदेव ने कहा— 'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

दो-तीन दिन के पश्चात् वे लोग फिर आये। वे टीका का अर्थ कराने के लिए पंडित मनोहरलालजी को अपने साथ लाये। उस दिन बीकानेर से भी उनके लोग काफी बड़ी संख्या में आये थे।

कालूगणी ने पिछली बार की बातचीत का सिलसिला जोड़ते हुए टीका का कथन पढ़कर सुनाया और उसका अर्थ किया।

उन लोगों ने पंडितजी से कहा कि आप इस टीका को पढ़कर देखिये कि यही अर्थ होता है या और कुछ।

पंडितजी ने पत्र लिया। कुछ देर तक पढ़कर उसके आशय को हृदयंगम किया और कहने लगे— 'कनीरामजी! इसका तो यही अर्थ होता है जो आचार्यजी कह रहे हैं।

कनीरामजी तथा उधर के अन्य भाइयों ने पंडितजी पर जोर देते हुए कहा— 'पंडितजी! यों सुने-सुनाये अर्थ को ही ठीक मत कह दो अपने दिमाग से सोचकर अर्थ लगाओ और फिर निर्णय करके बतलाओ।"

पंडितजी ने उस टीका को दुबारा पढ़ा और कहने लगे— पिष्टपेषण से कोई लाभ नहीं होगा। इसका अर्थ जब स्पष्ट यही है तो मैं अन्यथा कैसे कह दूं ?

जब उस प्रश्न पर आगे कुछ बोलने का मसाला नहीं रहा तब उनमें से एक भाई ने कहा— 'चलो कोई दूसरा प्रश्न लेवो।"

कालूगणी ने फरमाया— 'हाँ पहला प्रश्न यदि हल हो गया हो तो उसे स्वीकार कर आगे दूसरा प्रश्न लिया जाये।'

कनीरामजी ने कहा— 'मैं उस प्रश्न को हल हुआ नहीं मानता। मुझे यह अर्थ कतई स्वीकार नहीं है।

कालूगणी ने कहा—"तो फिर उसी प्रश्न में आगे कोई तर्क उपस्थित किया जाए ताकि जो अंश हल हुए बिना रह गया लगता है उसको हल किया जा सके।"

सब मौन थे। कोई तर्क भी उनके पास नहीं था। तब कालूगणी ने फरमाया कि 'मैं नहीं मानता' की तो फिर किसीके पास कोई औषध भी नहीं है।

: ८ :

प्राणहारी व्रण

वेदना का प्रादुर्भाव

मालव की यात्रा सम्पन्न कर आचार्यदेव स० १९९३ की ग्रीष्म-ऋतु में जावद से विहार करते हुए मेवाड में प्रविष्ट हुए और चित्तौड पधारे। वहाँ उनके बायें हाथ की तर्जनी अगुली में एक छोटा-सा व्रण हुआ। पहले तो उसे व्रण समझा ही नही गया, किन्तु बाद मे वही विस्तार खाकर उनके लिए प्राणहारी बन गया था। यद्यपि उस अगुली में कुछ अपरिचित-सी पीडा तो जावद में ही अनुभूत होने लगी, किन्तु वह इतनी प्रारम्भिक तथा स्वल्प थी कि उसे पीडा का पूर्वाभास ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

चित्तौड आने के पश्चात् भी अगुली के उस भाग पर पहले-पहल तो कुछ 'सली' की रडकन ही अनुभूत की गई थी। इसीलिये उसे थोडा-सा कुरेद भी लिया गया था। सली तो कही नहीं मिली, किन्तु कुरेदने से वह पीडा विस्तार खा गई। अगुली में शोथ हो गया। इस पर भी उसे योंही कोई साधारण व्रण समझा गया और उसी आधार पर साधारण-सा उपचार प्रारम्भ किया गया।

जिस प्रकार किसी बडे आदमी को भूल से साधारण समझ लेने पर उसके साथ साधारण औपचारिकता का ही बर्त्ताव कर लिया जाता है और तब वह प्राय रुष्ट हो जाया करता है, सम्भवत उसी प्रकार वह व्रण भी उसे तुच्छ समझ लेने पर रुष्ट हो गया था।

वह कुछ विस्तार खाने लग गया था। शोथ अगुली से बढकर हथेली तक हो गया। वह टीस भी देने लगा, अत रात को नींद कम आने लगी, दिन में बेचैनी रहने लगी और अन्न की रुचि भी कम हो गई। चित्तौड में पधारते ही रात्रिकालीन व्याख्यान प्रारम्भ किया, किन्तु बेचैनी के कारण उसे भी तुलसीरामजी स्वामी (आचार्य तुलसी) को सम्भला देना पडा।

चातुर्मास की स्वीकृति

चित्तौड में गगापुर-निवासियों ने अपने वहाँ चातुर्मास करने के लिए बडी जोर से प्रार्थना की। वे पहले भी अनेक बार दूर-दूर तक जाकर प्रार्थना कर चुके थे। वे निर्णय-पूर्वक घोषणा चाहते थे। चातुर्मास के प्रारम्भ होने में दिन बहुत कम रह गये थे, अत आचार्यदेव को भी निर्णय करना ही था। शरीर की अस्वस्थता अवश्य थी, पर उस समय वह कोई बाधक बन सकने वाली नहीं लग रही थी। इसलिए स० १९९३ का अपना चातुर्मास उन्होंने गगापुर करने की घोषणा कर दी।

डाक्टरों का सुझाव

चित्तौड़ से हम्मीरगढ़ होते हुए आचार्यदेव ने भीलवाड़ा की ओर विहार किया। भीलवाड़ा में उस समय उदयपुर निवासी मदनसिंहजी मुरड़िया पुलिस-सुपरिन्टेंडेंट थे। हम्मीरगढ़ में ही उन्होंने आचार्यदेव के पदार्पण की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। वहाँ डाक्टरों तथा वैद्यों का संयोग भी सुलभ था। भीलवाड़ा से दो मंजिल पूर्व आचार्यदेव 'मकसिया' नामक एक छोटे से ग्राम में विराजे। वहाँ मुरड़ियाजी दो डाक्टरों को साथ लेकर दर्शन करने के लिए आये। उन डाक्टरों में से एक नन्दलालजी तो उस समय भीलवाड़ा में ही काम करते थे। दूसरे डाक्टर मोतीलालजी गुलाबपुरा में काम करते थे। दोनों ने ही आचार्यदेव के उस व्रण को देखा। अच्छी तरह से परीक्षण कर लेने के पश्चात् उन लोगों ने निवेदन किया कि पीप सारी हथेली में फैल चुका है अतः जितना शीघ्र हो सके इसे शल्य क्रिया के द्वारा बाहर निकाल देना आवश्यक है।

आचार्यदेव ने फरमाया कि चीरा तो भीलवाड़ा जाने के पश्चात् ही ठीक रहेगा। उससे पहले यहाँ ग्राम में शल्य के उपयुक्त शस्त्र तथा औषधि आदि का मिल पाना भी कठिन होगा।

डाक्टरों ने कहा— 'भीलवाड़ा पधारने में अभी दो दिन और लगने की सम्भावना है। तब तक व्रण का विस्तार इतना हो चुका होगा कि उस पर नियन्त्रण करना कठिन हो जायेगा। इसलिये चीरे के विषय में तो एक घंटा का भी विलम्ब करना उचित नहीं है। शल्य के उपयुक्त शस्त्र तथा औषधि आदि का सब सामान हमारे पास है। इस विषय में आपको किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होने पाएगी।

उनकी सारी बात सुनकर आचार्यदेव ने फरमाया—"इस समय आप लोग केवल दर्शन के निमित्त ही नहीं आये हैं किन्तु मुख्यतः मेरे व्रण की चिकित्सा के निमित्त आये हैं अतः आपके ये शस्त्र और औषधि आदि हमारे निमित्त होने के कारण काम नहीं आ सकेंगे।" इसके साथ ही उन्होंने डाक्टरों का एक दूसरी बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"यह तो सम्भवतः आप लोगों को पता ही होगा कि हम लोग अपने नियमानुसार किसी गृहस्थ के हाथ से शल्य क्रिया आदि कार्य नहीं करवा सकते अतः यदि चीरा देना अत्यंत आवश्यक ही हो तो आपको यह भी सोच लेना है कि वह यहाँ प्राप्त हो सकने वाले किसी चाकू से तथा किसी साधु के द्वारा ही दिया जा सकेगा।

डाक्टरों ने इन बातों पर एक बहस-सी प्रारंभ कर दी। काफी देर तक तर्क-वितर्क चलता रहा किन्तु आखिर जब आपरेशन करानेवाला व्यक्ति स्वयं वैसा कराने को तैयार ही न हो तो तर्क वितर्क क्या काम कर सकते थे। हार कर उन लोगों ने यही कहा – 'आपका जैसा आचार और नियम हो आप उसी के अनुसार कार्य करिये किन्तु चीरा तो आज ही लग जाना चाहिए।

शल्य-क्रिया

उसी दिन शल्य-क्रिया करने का जब निश्चय हो गया, तब किसी अच्छे चाकू की खोज की गई। आचार्यदेव की सेवा में चलने वाले भाइयो के पास कलम काटने के कई चाकू थे। उन्ही में से तेज तथा नया देखकर एक चाकू लिया गया और उसे गरम पानी में अच्छी तरह से धो लिया गया। अन्य उपयुक्त सामग्री भी तैयार कर ली गई। मुनि श्री चौथमलजी ने डाक्टर द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर चाकू लगाया और यथा-विधि शल्य-क्रिया सपन्न की।

हथेली के पिछले भाग मे लगभग एक इच गहराई तक चाकू लगाने पर एक साथ ही पीप का फव्वारा-सा छूट पडा। मुनि श्री मगनलालजी तथा मुनि श्री चौथमलजी ने धीरे-धीरे आस-पास के स्थान को दवा-दवाकर काफी मवाद बाहर निकाला और फिर वहाँ प्राप्त कोई साधारण मलहम लगाकर पट्टी बाँध दी। बहुत सारा मवाद बाहर निकल जाने से उस दिन आचार्यदेव को काफी साता का अनुभव हुआ। थोडी-बहुत नींद भी आई।

डा० नदलालजी की सेवा

आषाढ कृष्णा तृतीया को आचार्यदेव ने भीलवाडा में पदार्पण किया। वहाँ मुरडियाजी ने तो रात-दिन एक करके सेवा की ही थी, पर डा० नदलालजी की सेवा भी बहुत प्रशसनीय रही। वे प्रतिदिन आते और अपने सामने ही व्रण को धुलवाते। पीप से भरे काफी चिथडे बाहर निकाले जाते और सफाई करने के पश्चात् घाव में काफी सारा 'गोज' भर दिया जाता। सफाई करने के उस समय में कालूगणी को बडी वेदना हुआ करती, किन्तु वे बडे आत्मबली पुरुष थे, अत मुख पर सिकन तक भी नही आने देते थे। डाक्टर नदलालजी भी उस समय को सरस बनाने के लिए अनेक रुचिकर बातें तथा डाक्टरी के अपने विशिष्ट अनुभव सुनाते रहते थे।

चार डाक्टरों का परामर्श

व्रण और उसकी शल्य-चिकित्सा के समाचार प्राय सभी स्थानो पर पहुँच चुके थे, अत समाज के प्राय सभी मुखिया व्यक्ति भीलवाडे में एकत्रित हो गये। दूर-दूर से अन्य दर्शनार्थी भी बहुत बडी सख्या में वहाँ पहुँच गये। पत्रो द्वारा प्राप्त सुखसाता के समाचारो से सभवत उनके मन को पूरा समाधान नही मिल पाया था।

उन आगतुक व्यक्तियों में दो बगाली डाक्टर भी थे। एक अश्विनीकुमार और दूसरे विभूतिभूषण। दोनों सगे भाई थे और आचार्यदेव के बडे भक्त थे। उन्होंने गुरु-धारणा भी कर रखी थी। थली के अनेक नगरों में उन दोनों ने वर्षो तक डाक्टरी की। तेरापन्थ के प्रति तथा साधु-साध्वियों के प्रति उनके मन में अगाध भक्ति थी। आचार्यदेव के अस्वास्थ्य का समाचार पाकर वे अपने आपको रोक नहीं सके। अश्विनीकुमार उस समय कलकत्ता से आये थे और विभूतिभूषण लाडणू से। उदयपुर के श्रावक मालमसिंहजी डोसी, जो कि उस समय

डाक्टरों का सुझाव

चित्तौड़ से हम्मीरगढ़ होते हुए आचार्यदेव ने भीलवाड़ा की ओर विहार किया। भीलवाड़ा में उस समय उदयपुर निवासी मदनसिंहजी मुरड़िया पुलिस-सुपरिन्टेंडेंट थे। हम्मीरगढ़ में ही उन्होंने आचार्यदेव के पदार्पण की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। वहाँ डाक्टरों तथा वैद्यों का संयोग भी सुलभ था। भीलवाड़ा से दो मंजिल पूर्व आचार्यदेव 'मंडपिया' नामक एक छोटे से ग्राम में विराजे। वहाँ मुरड़ियाजी दो डाक्टरों को साथ लेकर दर्शन करने के लिए आये। उन डाक्टरों में से एक नन्दलालजी तो उस समय भीलवाड़ा में ही काम करते थे। दूसरे डाक्टर मोतीलालजी गुलाबपुरा में काम करते थे। दोनों ने ही आचार्यदेव के उस व्रण को देखा। अच्छी तरह से परीक्षण कर लेने के पश्चात् उन लोगों ने निवेदन किया कि पीप सारी हथेली में फैल चुका है अतः जितना शीघ्र हो सके इसे शल्य क्रिया के द्वारा बाहर निकाल देना आवश्यक है।

आचार्यदेव ने फरमाया कि चीरा तो भीलवाड़ा जाने के पश्चात् ही ठीक रहेगा। उससे पहले यहाँ ग्राम में शल्य के उपयुक्त शस्त्र तथा औषधि आदि का मिल पाना भी कठिन होगा।

डाक्टरों ने कहा— "भीलवाड़ा पधारने में अभी दो दिन और लगने की सम्भावना है। तब तक व्रण का विस्तार इतना हो चुका होगा कि उस पर नियन्त्रण करना कठिन हो जायेगा। इसलिये चीरे के विषय में तो एक घंटा का भी विलम्ब करना उचित नहीं है। शल्य के उपयुक्त शस्त्र तथा औषधि आदि का सब सामान हमारे पास है। इस विषय में आपको किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होने पाएगी।"

उनकी सारी बात सुनकर आचार्यदेव ने फरमाया— "इस समय आप लोग केवल दर्शन के निमित्त ही नहीं आये हैं किन्तु मुख्यतः मेरे व्रण की चिकित्सा के निमित्त आये हैं अतः आपके ये शस्त्र और औषधि आदि हमारे निमित्त होने के कारण काम नहीं आ सकेंगे।" इसके साथ ही उन्होंने डाक्टरों का एक दूसरी बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"यह तो सम्भवतः आप लोगों को पता ही होगा कि हम लोग अपने नियमानुसार किसी गृहस्थ के हाथ से शल्य क्रिया आदि कार्य नहीं करवा सकते अतः यदि चीरा देना अत्यंत आवश्यक ही हो तो आपको यह भी ध्यान रखना है कि वह यहाँ प्राप्त हो सकने वाले किसी चाकू से तथा किसी साधु के द्वारा ही दिया जा सकेगा।

डाक्टरों ने इन बातों पर एक बहस-सी प्रारंभ कर दी। काफी देर तक तर्क वितर्क चलता रहा किन्तु आखिर जब आपरेशन करानेवाला व्यक्ति स्वयं वैसा कराने को तैयार ही न हो तो तर्क वितर्क क्या काम कर सकते थे। हार कर उन लोगों ने यही कहा — आपका जैसा आचार और मन्तव्य हो आप उसी के अनुसार कार्य करें किन्तु चीरा तो आज ही लग जाना चाहिए।

ठीक उसी तरह कालूगणी ने भी उन लोगो से कहा —"मेरे अनुयायी यहाँ कितने है और कितने नहीं—मैं इस बात का कोई विचार नही करता । आप जिस भक्ति-भावना से प्रेरित होकर मुझे यहाँ रहने के लिए कह रहे है, मैं उसका आदर करता हूँ, किन्तु इस वर्ष का चातुर्मास मैंने गगापुर में करना स्वीकार कर लिया है, अत जहाँ तक शरीर में थोडी-बहुत भी चलने की शक्ति रहेगी, तब तक तो वही पहुँचने का प्रयास करूँगा ।"

प्राण जाहि पर वचन न जाही

कालूगणी का वचन भीष्म-प्रतिज्ञा के समान ही अपरिवर्त्तनीय हुआ करता था । वे जो कुछ एक बार कह दिया करते थे, उसके पश्चात् उनके सामने दूसरा कोई विकल्प रह ही नही जाता था । इसीलिए उन लोगो की प्रार्थना का आदर करते हुए भी वे उसे स्वीकार नही कर सके । उन्होने अपने निश्चयानुसार आषाढ शुक्ला तृतीया को भीलवाडा से विहार कर दिया । एक रात बीच में रहकर पुर पधारे । वहाँ के लोगों ने भी वही ठहरने के लिए काफी प्रार्थना की, पर केवल तीन रात ही वहाँ ठहर कर उन्होने विहार कर दिया ।

विहार की वह स्थिति बडी विकट थी । एक हाथ तो व्रण की पीडा से पीडित था ही, किन्तु दूसरा हाथ भी स्वतत्र नही रह पाया था । चलने मे बडी थकावट रहती थी, अत दूसरा हाथ प्राय सहारा लेने के लिए किसी शिष्य के कधे तथा हाथ पर रखकर ही चलना होता था । मेवाड का वह मार्ग भी ऊबड-खाबड था । चलने वाले को समतल भूमि प्राय कठिनता से ही मिल पाती थी । छोटे-छोटे गावो में रोगी के अनुकूल स्थान मिलने की भी एक बहुत बडी कठिनाई थी ।

लबे विहार करने की शक्ति तो थी ही नही, किन्तु छोटे-छोटे विहारो में भी अनेक जगह विश्राम लेकर चलना पडता था । ऐसी स्थिति थी कि मानो आत्मा अब शरीर का सचालन नहीं करके उसे केवल ढो रही थी । वह इतना सारा परिश्रम तथा कष्ट केवल अपने वचन को निभाने मात्र के लिए ही उठाया गया था । यदि चातुर्मास के लिए पहले स्वीकृति दी हुई न होती, तो गगापुर तक पहुँचना किसी भी प्रकार से सभव नही था । "प्राण जाहिं पर वचन न जाहीं" का वह एक बहुत उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है ।

गगापुर-पदार्पण

भीलवाडा से गगापुर तक की यात्रा यों तो बहुत छोटी-सी थी, परन्तु कालूगणी के शरीर की उस समय की स्थिति को देखते हुए वह एक बहुत लबी यात्रा से भी अधिक कष्टपूर्ण थी। उसे सपन्न कर आषाढ़ शुक्ला द्वादशी के दिन आचार्यदेव ने गगापुर में प्रवेश किया । वहाँ रगलालजी हिरण की हवेली (रग-भवन) में विराजे । गगापुर पहुँच जाने से आचार्यदेव को बडी मानसिक शाति मिली ।

दिवर में डाक्टर वे वहाँ पहुँच गये। डाक्टर मंगलास्वामी वहाँ थे ही। इस प्रकार वहाँ चार डाक्टर एकत्रित हो गये। उन लोगों ने मिलकर परस्पर विचार विमर्श किया। सामान्यत उपचार ठीक चल रहा था फिर भी न घाव भर पा रहा था और न वेदना उपशांत हो रही थी। यही उन सबके सामने एक विचारणीय समस्या थी। वे लोग रोग तथा उपचार के विषय में एकमत नहीं हो पाये। डाक्टर अश्विनीकुमार का विचार उन सबसे भिन्न था। आखिर उन सबने आचार्यदेव तथा मगनलालजी स्वामी के सामने अपने-अपने विचार रख दिये।

डाक्टर अश्विनीकुमार के विचारानुसार आचार्यदेव के मधुमेह की बीमारी भी प्रारंभ हो गई थी अत वह घाव नासूर हो गया था। अन्य डाक्टर उससे सहमत नहीं थे वे मधुमेह होने से इनकार करते थे। बाद मे जब परीक्षण किया गया तब अश्विनीकुमार का कथन ही सत्य पाया गया। उसके पास उस रोग पर की जानवाली औषधि भी थी किन्तु वह आचार्यदेव की बीमारी के निमित्त ही वहाँ आया था अत उसकी औषधि नहीं ली जा सकती थी। वहाँ गवेषणा करने पर अन्य किसी के पास वह मिल नहीं सकी।

आखिर सभी डाक्टरों के द्वारा सामान्यरूप से जो उपचार निर्दिष्ट किया गया उसी प्रकार से सब कुछ चलने लगा किन्तु फिर भी व्रण की स्थिति ठीक नहीं हो पा रही थी। शल्य क्रिया के फलस्वरूप एक बार जो शांति मिली वह भी स्थिर नहीं रह पाई। धीरे-धीरे वेदना तीव्र ही होती गई। प्रातःकाल जब घाव धोया जाता था तब मवाद काफी मात्रा में निकला करता। शनै शनै शरीर में निर्बलता भी आने लगी।

भीलवाड़ा निवासियों का अनुनय

उपचार के निमित्त भीलवाड़ा में काफी दिन विराजना हुआ। परन्तु जब शीघ्र ही घाव ठीक हो जाने की संभावना नहीं रही तब उन्होंने वहाँ से विहार करने का निश्चय कर लिया। व्रण की बढ़ती हुई वेदना नींद का अभाव शरीर की निर्बलता आदि विविध प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी उन्होंने चौदह दिन विराजकर वहाँ से विहार करने की घोषणा कर दी।

भीलवाड़ा निवासियों को जब उस घोषणा का पता लगा तो वहाँ के प्राय सभी मुखिया लोग एकत्रित होकर आचार्यदेव के पास आये और अनुनय करते हुए कहने लगे कि इस वर्ष का आप अपना चातुर्मास यहीं कीजिये। आप यह विचार मत कीजिए कि यहाँ आपके अनुयायी कम हैं। हम सभी आपके शिष्य हैं आपके उपदेशों से लाभ उठाने का यह अवसर हमें ही प्रदान कीजिये। उन लोगों ने काफी आग्रह किया तथा दबाव भी डाला परन्तु कालूगणी तो उन महान् व्यक्तियों में से थे जो कि अपने वचन को बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं।

राम ने अपने विषय में कहा था—"द्वि शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते" अर्थात् राम एक लक्ष्य के लिए दो बाण नहीं मारता और एक बात को पलट कर दूसरी नहीं कहता"

धीरे उनका शरीर दबता ही चला गया और एक के पश्चात् एक कार्य क्रमश बन्द होते चले गये ।

रोगों ने उनके विरुद्ध मानो कोई व्यूह-रचना कर ली थी । एक ही साथ अनेक रोगो के आक्रमण तथा प्रहारों का सामना करते हुए वे एक वीर योद्धा की तरह अविचल भाव से जूझ रहे थे । चक्रव्यूह में प्रविष्ट वीर अभिमन्यु की तरह अपने अतिम अस्त्र तथा अतिम मास तक वे उन सबका सामना करते रहे ।

रघुनन्दनजी की औषधि

श्रावण के शुक्लपक्ष में पडित रघुनन्दनजी गगापुर आए । वे प्राय प्रत्येक चातुर्मास मे इसी महीने में आया करते थे । उस वर्ष उनके आगमन पर मगनलालजी स्वामी ने उन्हें आचार्यदेव के रोग की सारी परिस्थिति बतलाई और आगे के लिये रोग-निदान करने तथा औषधि प्रदान करने के लिए कहा ।

पडितजी ने बडे ध्यान से गुरुदेव के सारे शरीर का निरीक्षण किया और तब विभिन्न रोगों के लिए विभिन्न औषधियाँ प्रारम्भ की । कई दिनों तक उनके कथनानुसार उपचार चलता रहा, परन्तु फिर भी कोई लाभ नही हुआ । तब स्वय पडितजी को भी अपने निर्णय पर सन्देह हुआ । उन्होंने उस सन्देह को दूर करने के लिए सोचा कि क्यो न किसी विख्यात वैद्य से इस विषय में सम्मति ले ली जाए ?

पत्र-परामर्श

पडितजी ने अपने विचार को कार्यरूप देने के लिए जयपुर-निवासी राजवैद्य स्वामी लच्छीरामजी से विमर्पण करने का निश्चय किया । स्वामी लच्छीरामजी उस समय के अति प्रसिद्ध वैद्यों में से एक थे । पडितजी ने आचार्यदेव की रोग-स्थिति तथा अपने द्वारा दी जाने वाली औषधियाँ और पथ्य आदि का सारा वृत्तात सस्कृत के इक्कीस पद्यो में सक्षिप्त रूप से निबद्ध कर पत्ररूप में वहाँ भेजा और सम्मति मागी कि औषधियाँ काम नही कर रही है, अत आपके विचारानुसार मुझे क्या करना चाहिए ।

स्वामी लच्छीरामजी ने पडितजी की उपचार-प्रक्रिया का अनुमोदन करते हुए सस्कृत के छह पद्यों में अपनी ओर से कुछ सुझावों के साथ पत्र का उत्तर दिया । एक अति प्रसिद्ध तथा निपुण वैद्य के उस अनुमोदन ने पडितजी के आत्म-विश्वास को और भी अधिक दृढ कर दिया । पत्र के माध्यम से प्राप्त हुए परामर्श को ध्यान में रखते हुए उन्होंने पूर्ववत् उत्साह के साथ कुछ घटा-बढाकर औषधि चालू रखी । सूखी खासी के लिए तो उन्होने जो औषधि दी थी, उसने एक प्रकार का चमत्कार सा दिखलाया । कई दिनों से जो खासी उनको नीद नही लेने देती थी, वह एकदम ठीक हो गई । उससे उन्हें रात को नीद लेने में सुविधा हुई और बहुत दिनो के पश्चात् कुछ शाति का अनुभव हुआ ।

यह उनका अंतिम चातुर्मास था। उदयपुर चातुर्मास से विहार करने के पश्चात् लगभग आठ सौ मील का विहरण करके वे यहाँ पधारे। गंगापुर निवासियों को बहुत भारी हर्ष था। चिरकाल से अभिलषित स्वप्न के पूरा होने का यह अवसर उन लोगों को प्राप्त हुआ। सभी व्यक्ति यह आशा लगा रहे थे कि अब आचार्यदेव को कुछ शारीरिक विश्राम मिलेगा। एक जगह जमकर औषधि की सामग्री तब क्रमशः स्वास्थ्य-लाभ मिल जायेगा।

एक शरीर अनेक रोग

आचार्यदेव ने साधारणरूप से औषधि तो पहले से ही चालू कर रखी थी परन्तु गंगापुर पहुँचने के पश्चात् व्यवस्थित रूप से उपचार प्रारम्भ किया गया। फिर भी उनकी शारीरिक स्थिति में कोई अनुकूल परिवर्तन नहीं आ सका। रोग क्रमशः विस्तार ही पाता गया। अन्न की अरुचि तो पहले से ही चलती थी पर वह धीरे-धीरे इतनी बढ़ गई कि सामने अन्न देखते ही उबाक आने लगती। उस अस्वस्थता के साथ साथ कुछ ज्वर भी होने लग गया। यकृत की क्रिया भी दूषित हो गई तथा सारे शरीर में कुछ-कुछ शोथ भी रहने लगा।

नाव में एक छिद्र हो जाने के पश्चात् जिस प्रकार पानी आने से आगे भरता ही चला जाता है उसी प्रकार व्रण का वह एक रोग मानो हुआ शरीर की नाव में एक छिद्र ही हो गया था। एक के पश्चात् एक रोग उसमें घुसते ही चले आ रहे थे। यद्यपि बदल-बदल कर अनेक व्यक्तियों ने अनेक प्रकार से उपचार किया परन्तु किसी की भी औषधि ने अनुकूल प्रभाव नहीं दिखलाया। उनके उस एक शरीर में अनेक रोगों ने मानो अपना अड्डा ही जमा लिया था।

कार्यों पर प्रभाव

विकट रुग्ण-अवस्था में भी कालूगणी ने अपने शरीर पर आत्मा का ही नियंत्रण कर रखा था। किन्तु धीरे-धीरे शरीर की शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि उसके लिए आत्मा की प्रत्येक आज्ञा बजा लाना कठिन हो गया था। फिर भी श्रावण की अमावस्या तक वे शौचादि के निमित्त बाहर ही जाते रहे और व्याख्यान भी देते रहे। उसके पश्चात् बाहर जाना तो बंद हो गया पर प्रातःकाल का व्याख्यान चालू रहा। धीरे-धीरे व्याख्यान का श्रम भी शरीर के लिए सह्य नहीं रहा फिर भी उन्होंने साधुओं द्वारा कई बार निवेदन करने पर भी उसे बंद नहीं किया।

उनका दृष्टिकोण था कि व्याख्यान बंद कर देने से दूर-दूर तक लोगों में अनावश्यक ही चिन्ता फैलेगी वे उसे बचाना चाहते थे। परन्तु शरीर के ऊपर होकर कोई भी काम कब तक चल सकता था। आखिर भाद्रपद के प्रथम सप्ताह में वह बंद कर देना पड़ा। उसके पश्चात् भी दोनों समय का प्रतिक्रमण वे जनता के सम्मुख बैठ कर ही किया करते थे किन्तु शूगी लोगों का जोर बढ़ जाने पर वह भी बंद कर देना पड़ा। नवकालीन व्याख्यान तो प्रारम्भ से ही उन्होंने मुनिश्री तुलसीरामजी (आचार्य तुलसी) को सौंप दिया था इस प्रकार धीरे

अश्विनीकुमार का आगमन

डाक्टर अश्विनीकुमार भीलवाडा मे आचार्यदेव की सेवा करके वापस कलकत्ता चले गये थे। आचार्यदेव की शारीरिक स्थिति से वह वहाँ भी बरावर अवगत होता रहा। यो तो उसने भीलवाडा में ही व्रण की दुष्पूरता व्यक्त की थी, पर उस समय अन्य डाक्टरो की आशावादिता के सामने उसने अधिक बल देना उपयुक्त नही समझा। अब जब कि इतने दिनो के पश्चात् भी घाव भरा नहीं तथा अन्य बीमारियो की भी वृद्धि हो गई, तब वह अपने आपको फिर नही रोक सका। उसने भाद्रपद मास में गगापुर पहुँच कर आचार्यदेव के दर्शन किये।

पण्डितजी के समान ही वह भी पूर्ण विश्वस्त व्यक्ति था। उसके कथन में जितनी स्पष्टता होती थी, उतनी कम व्यक्तियों में ही मिलती है। डाक्टरों और वैद्यों में तो और भी कम। कुछ लोग डाक्टरों आदि की स्पष्टवादिता को एक दोष मानते हैं। वे कहते हैं कि उससे रोगी का साहस टूट जाने तथा निराश होकर अधिक रोगी हो जाने की आशका रहती है, परन्तु अश्विनीकुमार के विचार उस विषय में कुछ भिन्न थे। स्पष्ट पता चल जाने के पश्चात् रोगी को निरर्थक भ्रम में रखना उसके विचारानुसार उसके साथ एक धोखा करने के समान ही था। रोगी को कहने कि स्थिति नही, तो पारिवारिको को सावधान कर देना तो वह नितान्त आवश्यक माना करता था। यही आकर अन्य डाक्टरों तथा वैद्यों के साथ कुछ ले देकर उसका समझौता हो जाया करता था।

शरीर-परीक्षण

डाक्टर अश्विनीकुमार जिस दिन आया, उसी दिन मगनलालजी स्वामी ने आचार्यदेव के शरीर का परीक्षण करने के लिए कहा। उसने बडे ध्यान से वह कार्य किया और जब परीक्षण करने के पश्चात् निष्कर्ष बताने के लिए बैठा, तो उससे कुछ बोला नहीं गया। आँखो से आँसू टपक पडे। उसने अपने आवेग को छिपाने के लिए मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

मगनलालजी स्वामी ने उससे पूछा—"आखिर इतनी दिलगीरी का क्या कारण है ? जो भी बात हो, वह सारी साफ-साफ कहो। सकोच करने की कोई आवश्यकता नही है।"

उसने मगनलालजी स्वामी को एकात में ले जाकर सारी बातें कही और बतलाया कि गुरुदेव के शरीर की स्थिति अब ऐसी नहीं रह गई है कि उसके ठीक हो जाने की आशा की जा सके। मुझे लगता है कि अब यह शरीर अधिक दिन तक नही टिक सकेगा।

त्रिजन-परामर्श

उतनी स्पष्टता के साथ वह बात पहले-पहल ही सामने आई। अत मगनलालजी स्वामी ने कहा—"पण्डितजी को उपचार करते हुए कई दिन हो गये है, अत यदि हम इस विषय में

जनता का ऊहापोह

पंडितजी की औषधि पर स्वयं आचार्यदेव तथा मगनलालजी स्वामी आदि पूर्णरूप से विश्वास करते थे। उनकी औषधि अन्य आयुर्वेदिक औषधियों की परम्परा के समान ही कुछ लम्बा समय तो अवश्य लिया करती थी परन्तु उससे रोगोपशान्ति स्थायीरूप से हो जाया करती थी। उस बार भी उसी आशा से औषधि चालू की किन्तु फल वैसा प्राप्त नहीं हो रहा था। एक बार कुछ लाभ दिखाई देता और फिर मूल अवस्था ही हो जाया करती थी।

जनता चाहती थी कि आचार्यदेव का शरीर शीघ्रातिशीघ्र ठीक हो परन्तु दिन-पर-दिन लम्बे चले जा रहे थे। इसलिए पंडितजी की औषधि के विषय में कुछ ऊहापोह प्रारम्भ हो गया। लोगों ने संकेतात्मक भाषा से कई बार पंडितजी को बता भी दिया कि अब आपकी औषधि कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा रही है तो फिर आप दूसरों के लिए मार्ग रोक कर क्यों खड़े हैं।

पण्डितजी का निवेदन

पण्डितजी लोगों की उस भावना को समझे तब पहले तो बड़े असमंजस में पड़ गये किन्तु बाद में अपना कर्तव्य निश्चित करके आचार्यदेव तथा मगनलालजी स्वामी के पास आये और निवेदन किया कि मेरी औषधि लेते हुए आपको कई दिन हो गये हैं मैं जिस गति से लाभ की आशा करता था वह नहीं मिल सका। अतः अब चाहें तो किसी दूसरे वैद्य या डाक्टर की औषधि ग्रहण करें संभव है उनकी औषधि कुछ काम कर सके। जनता का भी यही ध्यान है कि अब मुझे अन्य व्यक्तियों को अवसर देना चाहिये।

कालूगणी का विश्वास

कालूगणी ने फरमाया—'जनता तो मेरे स्वास्थ्य के लिए आतुर है। इसलिए सोचती है कि एक वैद्य से जो रोग ठीक नहीं हुआ सम्भवतः दूसरे से हो जाये। व्यवहार-दृष्टि से उनका यह सोचना उचित ही है। परन्तु मूल बात वैद्यों को बदल लेने की नहीं है। यह तो सातावेदनीय के उदय की है। आप क्या कोई कम परिश्रम कर रहे हैं ? फिर भी असाता वेदनीय का जब तक उदय है तब तक यह सब भोगना ही है। पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है अतः किये जा रहे हैं। फल की प्राप्ति न आपके हाथ है और न अन्य किसी के। औषधि काम करती है परन्तु उसके साथ विश्वास भी कुछ कम काम नहीं करता। मुझे आपकी औषधि पर विश्वास है। सम्भवतः औरों की अपेक्षा यह अधिक ही है। दूसरों की औषधि जो काम करेगी आपकी उससे कुछ अधिक ही करेगी। क्योंकि इसमें अपेक्षाकृत विश्वास की मात्रा कुछ अधिक रहेगी। आप अपना उपचार चालू रखिये। जनता की बातों से घबराने की आवश्यकता नहीं है। मगनलालजी स्वामी ने भी उनकी सेवा का अनुमोदन किया। इस प्रकार विश्वास की दृढ़ मात्रा पाकर पण्डितजी फिर उत्साह से भर गये और अपना उपचार चालू रखा।

अधिक सावधानी पूर्वक कर्त्तव्य-पालन करने का था। वे उससे पीछे नही हटे। उन्होने आचार्य देव से उनकी शारीरिक स्थिति के सम्बन्ध में तो विचार-विमर्ष किया ही, साथ ही उससे सघ पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा भी उन्होने की।

वह सब विचार-विमर्षण भाद्रपद कृष्णा दशमी के दिन हुआ। उससे गुरुदेव को अपने प्रति तथा सघ के प्रति विशेष जागरूकता रखने की प्रेरणा मिली। यद्यपि उससे पूर्व भी वे इस विषय में कोई उपेक्षा-भाव नही रखते थे, किन्तु मगनलालजी स्वामी की मत्रणा के पश्चात् उस जागरूकता में एक वेग आ गया था।

एक निश्चय

कालूगणी अनेक बार बातचीत के प्रसग में फरमाया करते थे कि प्रत्येक आचार्य पर यदि कोई सबसे बड़ा उत्तरदायित्व का भार है तो वह है—सघ का भावी सुप्रबन्ध। अत्यन्त सावधानी के साथ यथासमय अपने इस भार से निवृत्त होकर ही वह सघ के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभा सकता है और ऋण-मुक्त हो सकता है। अपने उस कथन को वे दूसरो के लिए उपदेश मात्र ही नही मानते थे, अपने जीवन का एक सूत्र भी मानते थे। यही कारण था कि जब उन्हें अपने शरीर की वास्तविक स्थिति का पता लग गया, तब वे अन्य सब बातों को गौण समझ कर सघ की आगामी व्यवस्था पर ही विशेष ध्यान देने लगे। भार-मुक्ति के लिए उपयुक्त व्यवस्था करना ही तब उनका लक्ष्य बन गया।

कर्त्तव्य-परायण

युवाचार्य की नियुक्ति का महान् कार्य वे शुभ मुहूर्त्त देखकर करना चाहते थे। वैसा दिन देखा गया तो वह भाद्रपद शुक्ला तृतीया से पहले नही था। मुहूर्त्त की प्रतीक्षा मे कार्य को गौण कर देना उन जैसे कर्त्तव्य-परायण आचार्य के लिए सम्भव नही था। उन्होंने निश्चय किया कि यदि शरीर साथ दे सके तो शुभ-मुहूर्त्त के दिन विधिवत् युवाचार्य-पद दे दिया जाये, परन्तु यदि वह साथ न दे पाये, तो भी प्रकारान्तर से सघ को यह जतला दिया जाये कि वे किसे भावी आचार्य बनाना चाहते है। उन्होने उस दिन से मुनिश्री तुलसीरामजी को अपने पास बुलाना प्रारम्भ कर दिया और एकात में सघ की भावी व्यवस्था के विषय में आदेश-निर्देश देना प्रारम्भ कर दिया।

निश्चिन्त हो गया हूँ

सौभाग्य से उनके शरीर ने साथ दिया और भाद्रपद शुक्ला तृतीया के दिन प्रात काल में युवाचार्य-पद प्रदान करने की विधि उन्होंने सानन्द सम्पन्न कर दी। उसके साथ ही उन्होने सघ के प्रति अपने अन्य अनेक उत्तरदायित्व भी युवाचार्य को सौंप दिये और फरमाने लगे कि मैं अब पूर्णरूप से निश्चिन्त हो गया हूँ।

उनसे भी कुछ विचार विमर्श कर लें तो कैसा रहे ? अश्विनीकुमार को उसमें क्या अड़चन हो सकती थी । उसमें उसे सम्मिलित करने के लिए किसी आदमी को भेजा और तत्काल पण्डितजी वहाँ पहुँच गये ।

मगनलालजी स्वामी ने अश्विनीकुमार द्वारा कथित सारी बात पण्डितजी के सामने रखी और पूछा कि आपके इस विषय में क्या विचार हैं ? उन्होंने यह भी कहा कि यदि ऐसी कोई चिंतनीय बात हो तो उसे अधिक प्रचारित करने की आवश्यकता तो नहीं है परन्तु बिल्कुल गोप्य रखने का खतरा भी नहीं उठाना चाहिये ।

पण्डितजी ने तब अश्विनीकुमार की बात का समर्थन करते हुए कहा— 'यद्यपि यह बात मेरे मन में भी अनेक बार चक्कर काटती रही है पर मैं उसे इस प्रकार स्पष्ट कह देने का साहस नहीं कर सका हूँ । अनेक प्रकार से उलट-पलट कर औषधोपचार कर लेने पर भी कोई फल उपलब्ध नहीं हुआ है यह बात मन में बड़ी निराशा उत्पन्न करती है । मेरा मन बार बार कहता है कि अब तो औषधि केवल इसीलिए दी जा रही है कि कहीं रोगी का साहस कम न हो जाए ।

दोनों व्यक्तियों की बातें सुनकर मगनलालजी स्वामी बड़े गम्भीर हो गये । उन्होंने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए और भी अधिक स्पष्टता से पूछताछ की । वह विचार-परामर्श अन्य सभी से गुप्त रखा गया । वे सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब यह बात आचार्यदेव से गुप्त नहीं रखी जानी चाहिये । कम से कम उनके सामने स्थिति को इतनी दूर तक तो स्पष्ट कह ही देना चाहिये कि जिससे उन्हें संघ की आगामी व्यवस्था के विषय में सावधान होने का अवसर प्राप्त हो सके ।

आचार्यदेव से मंत्रणा

डाक्टर अश्विनीकुमार की स्पष्टोक्ति तथा पण्डित रघुनन्दनजी के समर्थन के पश्चात् मगनलालजी स्वामी के सामने आचार्यदेव के शरीर की स्थिति तो एकदम स्पष्ट हो गई थी । किन्तु तब उनके सामने यह एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई कि इस प्रकार की अस्वस्थता में उनके सामने सारी स्थिति स्पष्टरूप से कैसे रखी जाए ? यद्यपि सबकी मुख मुद्राओं को देखकर तथा बातचीत की गम्भीरता को देखकर आचार्यदेव से कुछ छिपा नहीं रह सका था फिर भी उस बात को उनके सामने कहना भी कोई छोटी बात नहीं थी । आखिर कर्त्तव्य प्रेरणा को सामने रख कर उन्होंने अश्विनीकुमार द्वारा कथित सारी बातें कथन चातुरी के साथ आचार्यदेव के सम्मुख रख दीं ।

मगनलालजी स्वामी प्रारम्भकाल से ही कालूगणी के साथी रहे थे । उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को वे सदा से ही दृढ़तापूर्वक निभाते आये थे । वह समय तो उनके लिए और भी

कि एक नाडी बन्द हो गई है। डाक्टर अश्विनीकुमार ने भी देखा और बतलाया कि स्थिति काफी विषम है। आचार्यदेव पूर्ण सावधान और सचेत थे। शरीर की स्थिति विषम हो गई थी, मन की नहीं।

उन्होंने सन्तों से युवाचार्य को जगाकर बुला लाने के लिए कहा। सतो ने उनके आदेशानुसार तत्काल युवाचार्य को जगाया तथा अन्य सभी सन्तो को भी जगाया। सब-के-सब तत्काल आचार्यदेव की सेवा में उपस्थित हो गये।

शिक्षा के बोल

महापुरुष अपने शरीर की परवाह कम ही किया करते है। कर्त्तव्य के सामने तो वे अपने शरीर को एक मिट्टी के ढेले जितना भी महत्व नही देते। उनके सामने कर्त्तव्य का स्थान शरीर से सदैव पहले रहता है। महापुरुषों की उसी परम्परा के धनी आचार्यदेव ने शरीर की उस विषम-स्थिति में भी सघ की सुव्यवस्था सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य को नहीं भुलाया। वे सारे सघ को अपनी अन्तिम शिक्षा के रूप में कुछ कहना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सबको अपने पास बुलाया।

पहले-पहल उन्होंने युवाचार्य को शिक्षा देते हुए फरमाया—"अब सघ के ये सभी साधु-साध्वी तेरे ही शरण में हैं। तू इनकी पूरे तन-मन से सार-सभार करना। जिसकी इच्छा साधुता पालने की हो, उसे अन्त तक पूरा सहयोग देना। जो साधुता निभाने में असमर्थ हो, उसे गण से पृथक् कर देने में किंचित् भी ढील मत करना। यथायोग्य उपालम्भ और धन्यवाद देने में किसी प्रकार का पक्षपात मत करना। न्याय करने में किसी को अपना या पराया मत समझना।"

उन्होंने सन्तों को लक्ष्य करके फरमाया—"सभी साधु-साध्वियों का यह प्रथम कर्त्तव्य होता है कि वे आचार्य की आज्ञा को अपने प्राणो से भी अधिक समझें और उसका पूर्णरूप से पालन करें। गण और गणी के प्रति अखड विश्वास रखें। हर परिस्थिति में अपने सयम को निर्मल बनाये रखने का ध्यान रखें। भिक्षु-शासन सबका है तथा सबके लिए है, अतः उसकी उन्नति को ही अपनी उन्नति समझें। सघ से प्रतिकूल व्यक्तियों को किसी प्रकार का महत्त्व न दें। सघ के अनुकूल व्यक्तियों को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखें।"

विशेष-नामोल्लेख

उसके पश्चात् उन्होंने विभिन्न सतों को उनकी विशेष सेवाओ के उपलक्ष में विभिन्न पारितोषिक दिये। अनेक सन्तों के कार्यों की विशेष-नामोल्लेख पूर्वक सराहना की। चौथमलजी स्वामी के विषय में उन्होंने फरमाया कि यह मेरे शरीर के लिए विशेष साताकारी रहा। शिवराजजी स्वामी के लिए फरमाया कि यह एक खरा आदमी है। ऐसा दूसरा आदमी

केशलुंचन

संवत्सरी का दिन निकट आ रहा था अतः उससे पूर्व केश-लुंचन करा लेना आवश्यक था। जिस प्रकार संघ-व्यवस्था से वे निश्चिन्त हो चुके थे उसी प्रकार उसी दिन वे केश-लुंचन की ओर से भी निश्चिन्त हो जाना चाहते थे। रुग्णावस्था के नाम पर वे अपने लिए इतना-सा भी अपवाद सेवन करना नहीं चाहते थे। यद्यपि उनकी शारीरिक स्थिति उस कार्य के लिए बिल्कुल अनुकूल नहीं थी फिर भी उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की। उनके मन की प्रबलता शरीर की निर्बलता को प्रायः सदैव ढाँक लिया करती थी। वे शरीर निरपेक्ष होकर सुस्थिर बैठ गये और मुनिजनों ने बड़ी सावधानी से उस कार्य को सम्पन्न कर दिया। उनके मस्तक के पिछले भाग में केवल थोड़े से केश विद्यमान थे। वे शुभ्र होने के साथ-साथ चक्राकार में अवस्थित रहा करते थे अतः बड़े सुशोभित लगा करते थे। साधारण अवस्था में उनका लुंचन कोई विशेष वेदना का कारण नहीं होता परन्तु रुग्णावस्था में वह थोड़ा-सा कष्ट सहन भी बहुत बड़ा साहस का कार्य हो गया था।

सन्तों का रात्रि-जागरण

उस दिन प्रातःकाल युवाचार्य-पद प्रदान करते समय और फिर मध्याह्न में लुंचन कराते समय आचार्यदेव के शरीर को काफी परिश्रम उठाना पड़ा। इसलिए सायंकाल में काफी शिथिलता बढ़ गई। रात्रि के समय तो वेदना का इतना प्राबल्य हुआ कि उन्हें बहुत बेचैनी अनुभूत होने लगी। कभी सोते तो कभी बैठते किन्तु दोनों ही स्थितियों में अधिक देर तक टिक पाना असम्भव हो गया। कभी आँख खोलते तो कभी बन्द करते थे। वेदना की तीव्रता उनकी आकृति पर झलकने लगी थी। संत प्रायः सभी उनके आसपास बैठे थे। प्रहर रात्रि व्यतीत हुए देर हो गई थी फिर भी गुरुदेव को उस अवस्था में छोड़कर किसी का मन सोने को नहीं हो रहा था। युवाचार्य भी सेवा में ही विराजमान थे।

कुछ देर पश्चात् स्वयं आचार्यदेव ने युवाचार्य को सो जाने के लिए कहा किन्तु वे वैसी स्थिति में जा नहीं पा रहे थे। संतों ने तब उन पर सो जाने को दबाव डाला और कहा कि यदि कोई विशेष बात ध्यान में आयेगी तो आपको तत्काल जगा दिया जायेगा। इस आश्वासन पर वे सोने के लिए गये। अन्य साधुओं ने भी कुछ मंडल बना लिए और निश्चय किया कि आज सारी रात जागते रहना चाहिए। इस प्रकार पहले-पीछे के क्रम का एक निर्णय करके वे जागते रहे। कुछ श्रावक भी उसी प्रकार से बारी बाँधकर जागते रहे।

नाड़ी की विषम गति

रात्रि के लगभग एक बज चुके थे। उस समय अचानक आचार्यदेव के श्वास का वेग बढ़ गया। नाड़ी की गति भी विषम हो गई। पंडित रघुनन्दनजी ने नाड़ी देखते हुए बतलाया

प्रकार गगापुर के लिए उस जन-समुद्र को सम्भाल पाना कठिन हो गया। वे सब एक ही लक्ष्य से आये हुए थे, अत अन्य आगन्तुकों को भी अपने में ही समाते चले गये।

समाचार-व्यवस्था

जो व्यक्ति किसी कारणवश दर्शनार्थ नही आ पाये, तथा जो शीघ्र ही आने का निर्णय किये बैठे थे, वे प्रतिदिन गगापुर के समाचारो से अवगत रहना चाहते थे। इसीलिए आचार्यदेव के स्वास्थ्य-सम्बन्धी समाचारो की जानकारी के लिए आने-जाने वाले पत्रो तथा तारो की सख्या इतनी अधिक हो गई थी कि वह वहाँ के सरकारी कर्मचारियो के लिए एक जटिल समस्या बन गई थी। वर्षभर में जितने तार वहाँ नही आते-जाते थे, उससे कही अधिक एक ही दिन में आने-जाने लगे थे। उस समस्या को हल करने के लिए राज्य को विशेष व्यवस्था करनी पड़ी।

दर्शन-व्यवस्था

दर्शनार्थ समागत बन्धुओ की बृहत् सख्या से एक यह समस्या उत्पन्न हो गई थी कि यदि उनको आचार्यदेव के दर्शनों की छूट दी जाती, तो रोगी की शाति के भग होने का भय था और यदि छूट नही दी जाती, तो उनके दूर-दूर से आने का सारा प्रयास ही निष्फल हो जाता। ऐसी स्थिति में कार्यकर्त्ताओ ने लोगो के चढने और उतरने के पृथक्-पृथक् मार्ग निश्चित कर दिये। प्रत्येक दर्शनार्थी एक जीने से चढता और चुपचाप कमरे के बाहर से आचार्यदेव के दर्शन करके दूसरे जीने से उतर जाता था। न वहाँ किसी को अधिक देर तक रुकने दिया जाता और न कमरे के अन्दर जाने दिया जाता था। अन्तिम दिनो में तो वह क्रम प्रात काल से प्रारम्भ होता और प्राय सायकाल तक लगातार चलता रहता। वह समय ही ऐसा था कि उसमें केवल एक क्षण के लिए आचार्यदेव का मुखारविंद दिखाई दे जाना ही सारे दिन की सफलता का माप-दड बन गया था।

साधु-साध्वियो का आगमन

मेवाड में चातुर्मास करने वाले साधु-साध्वियाँ आचार्यदेव के अन्तिम दर्शन पाने को बहुत लालायित थे। चातुर्मास में साधारणतया कोई भी साधु-साध्वी अपने निश्चित ग्राम के अतिरिक्त किसी अन्य ग्राम में रात्रि व्यतीत नही कर सकता। परन्तु उसमें कई अपवाद भी हैं। उनमें से एक यह है कि यदि आचार्य आदि के सथारा हो तथा विशेष रुग्णावस्था हो तो वे वहाँ जा सकते तथा रह सकते है। उसी अपवाद-मार्ग का आश्रय लेते हुए उस समय काकरोली, राजनगर, पुर, पहुँना, बागोर, पीथास तथा आमेट से अनेक साधु-साध्वियों ने गगापुर पहुँच कर आचार्यदेव के दर्शन किये।

कठिनता से ही मिलता है। मैंने इसके योग से बड़ी मानसिक-घाता का अनुभव किया है। शरीर की उस विषम-स्थिति में भी उन्होंने उस रात लगभग एक घण्टा तक लगातार सन्तों को शिक्षाएं दीं।

मेरा हृदय नहीं धड़कता

आचार्यदेव की उस आत्मशक्ति से पंडित रघुनन्दनजी तथा डाक्टर अश्विनीकुमार आदि सभी व्यक्ति चकित थे। जिस व्यक्ति की एक नाड़ी बन्द हो चुकी हो तथा अब जाने-तब जाने का सन्देह होने लगा हो उससे भला घण्टा भर तक लगातार अपने कर्तव्य के लिए इस प्रकार चिंतनपूर्वक बोलते रहने की आशा कहाँ रखी जा सकती है? किन्तु वहाँ तो यह सब उन लोगों के सामने प्रत्यक्ष ही था।

दूसरे दिन डाक्टर अश्विनीकुमार ने टेथिस्कोप लगाकर आचार्यदेव के हृदय की जाँच करनी चाही। वह देखना चाहता था कि रात के परिश्रम से उस पर क्या असर आया है और वर्तमान में उसकी स्थिति कैसी है? आचार्यदेव ने उसके मानसिक भावों को ताड़ लिया अतः स्मितभाव से कहने लगे— क्या देखना चाहता है? मेरा हृदय यों कभी नहीं धड़कता।" उनका यह कथन वस्तुतः ही ठीक था क्योंकि डाक्टर ने जब परीक्षण करके देखा तो यही पाया कि वह पूर्ववत् सुदृढ़ है उसमें किसी प्रकार की दुर्बलता या सशोथता नहीं आ पाई है।

जन-समुद्र

कालूगणी की रुग्णावस्था ज्यों ज्यों बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों जनता में एक प्रकार की चिन्ता बढ़ती जाती थी। उनके अन्तिम दर्शन पाने की अभिलाषा से बहुत दूर-दूर से लोग इस प्रकार उमड़ पड़े थे मानो कोई समुद्र ही उमड़ पड़ा हो। गंगापुर के इतिहास में इतने लोगों के एकत्रित होने का यह प्रथम अवसर ही था। यद्यपि रेल की सुविधा वहाँ पर नहीं थी फिर भी दूर से आने वाले व्यक्ति सरदारगढ़ तक रेल में आकर आगे लगभग सोलह मील का मार्ग लारियों में तय करके आया करते थे। कच्ची सड़क वर्षा का समय कीचड़ से भरा हुआ मार्ग कहीं नदी नाले और कहीं सड़क की खराबी ऐसी स्थिति में लारियों का अटक जाना सहज बात थी अतः कहीं चढ़कर तथा कहीं पैदल चलकर जहाँ जैसा आवश्यक हुआ वहाँ वैसा ही करते हुए लोग चले आ रहे थे। दर्शन प्राप्ति के लिए उस समय 'चरैवेति चरैवेति' ही उनके सामने एक मात्र लक्ष्य था।

उन दिनों गंगापुर की प्रत्येक गली तथा मुहल्ला जनाकीर्ण हो गया था। वहाँ कोई ऐसा घर शायद ही बचा हो जो कि ठहरने के लिए लोगों ने नहीं मांगा हो। छोटी-छोटी कोठरियों तक में लोग एक प्रकार से भरने लग गये। सामान रखने भर को स्थान मिल पाना कठिन हो गया था। सोने-बैठने के लिए दुकानों की चौकियाँ तक खाली नहीं मिल पाती थीं। इस

मगनलालजी स्वामी सायकाल के समय स्थडिल-भूमि से प्राय सूर्यास्त होने के आस-पास ही वापस आया करते थे। यह उनकी बहुत काल की प्रकृति थी। उस दिन वे स्वय ही सदा की अपेक्षा कुछ शीघ्र लौट पडे थे। बुलाने के लिए गये हुए सत ज्योही उनके पास पहुँचे और आचार्यदेव की पृच्छा से उन्हें अवगत किया, तो वे अत्यत शीघ्रता से चलकर स्थान पर पहुँचे। उनका शरीर भारी था, अत शीघ्रता से चलने तथा ऊपर चढने के कारण हाँफने लग गये। परन्तु उस समय उन्हें अपने शरीर की ओर ध्यान देने का समय नही था, वे उसी हाँफती हुई स्थिति में सीधे आचार्यदेव के पास पहुँचे और निवेदन किया कि मैं आपकी सेवा में उप-स्थित हूँ।

अनशन

आचार्यदेव को मगनलालजी स्वामी के आगमन का पता लगा, त्योही उन्होने आँखें खोलकर उनके सामने देखा और कहा—अब' ' । इन दो अक्षरो से अधिक वे कुछ बोल नहीं पाये। श्वास के वेग ने उनकी बोलने की शक्ति को अवरुद्ध कर दिया।

मगनलालजी स्वामी ने उनके मनोभावों को जानकर उनके वाक्य को पूरा करते हुए पूछा—"क्या आप यही कहना चाहते है कि अब सथारा करा दिया जाए ?"

धीमे किन्तु दृढ स्वर में आचार्यदेव ने कहा—"हाँ।"

मगनलालजी स्वामी ने तब उन्हें चारो आहारो का प्रत्याख्यान कराते हुए यावज्जीवन का अनशन करा दिया।

लौ बुझ गई

अनशन स्वीकार करने के कुछ मिनट पश्चात् ही उनके आत्मप्रदेश खिंचने लग गये। सात मिनट का अनशन प्राप्त कर वे छह बजकर नौ मिनट पर दिवगत हो गये। इस प्रकार एक प्रकाश जो कि ससार को अपनी ज्योति-किरणों से जगमगा रहा था, सदा के लिए मिट गया। एक लौ, जो कि असयममय तिमिस्रा के सघन अधकार को निगलती हुई निर्धूम जल रही थी, बुझ गई।

साधुजन उन्हें घेरे हुए निर्वाक् खडे-के-खडे रह गये। उस समय ग्यारह मिनट लगभग दिन अवशेष था। नीचे खडी जनता में वह समाचार पानी में पडे तैल-बिन्दु की तरह अपने आप ही फैल गया। सूर्य भी उस कारुणिक दृश्य के सामने अपने को नहीं टिका सका, अत अपनी अन्तिम किरणों को समेटता हुआ वह अन्यत्र चला गया। उदासीनता का अन्धकार चारो ओर परिव्याप्त हो गया।

देह का व्युत्सर्ग

एक क्षण पहले जो शरीर नाना चेष्टाओ से युक्त था, वही एक क्षण पश्चात् एकदम निश्चेष्ट पडा हुआ था। साधुवर्ग उदासमुद्रा में काल के वैचित्र्य का चिंतन कर रहा था।

संवत्सरी का उपवास

भाद्रपद शुक्ला पंचमी को संवत्सरी थी। उससे पूर्व दिन प्रायः दिनभर उनका श्वास कम ही रहा, पर सायंकाल में उसका कुछ प्रकोप हो गया। शरीर की स्थिति भी कुछ बदली हुई सी लगने लगी। हाथ-पैर ठंडे पड़ गये। कुछ देर तक वैसी चिंताजनक स्थिति रही किन्तु बाद में शीघ्र ही उसमें कुछ सुधार हो गया। एक बार के लिए सभी को कुछ आश्वस्त होने का अवसर अवश्य मिला परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह विचार झकझोर रहा था कि संवत्सरी का दिन किस प्रकार से निकलेगा।

चतुर्थी के सायंकाल में ही कालूगणी ने षष्ठी के सूर्योदय तक के लिए सागारिक अनशन ग्रहण कर लिया। संवत्सरी का दिन यों तो ठीक ही बीत गया किन्तु अशक्ति इतनी बढ़ गई कि उनमें बोलने तक की शक्ति भी शेष नहीं रह गयी थी। पश्चिम रात्रि में जाकर उन्हें कुछ शक्ति प्रतीत हुई और तभी वे दो चार बार कुछ बोले। षष्ठी के दिन प्रातःकाल सबके उपवास का पारणा हुआ। आचार्यश्री ने भी नाम मात्र के लिए पारणा किया।

श्वास का प्रकोप

षष्ठी के दिन लगभग तीन प्रहर तक शरीर की स्थिति एक समान बनी हुई ही लगती थी, किन्तु चतुर्थ प्रहर में श्वास का प्रकोप प्रारम्भ हो गया साथ-साथ कुछ घबराहट भी होने लगी। सायंकाल के समय लगभग पौने छह बजे उन्होंने पूछा—"सूर्यास्त होने में कितनी देर है ?" संतों ने पता लगाकर बतलाया— लगभग पैंतीस मिनट दिन है।"

उन्होंने तब पानी पीने की इच्छा व्यक्त की। संत पानी लेकर आये और सोये-सोये ही पिला देने का उपक्रम करने लगे तो उन्होंने बिठाने के लिए कहा। संतों ने प्रार्थना की कि शक्ति कम है अतः सोये-सोये ही जल-पान कर लें तो ठीक रहेगा। किन्तु आचार्यदेव उनकी उस बात से सहमत नहीं हुए। उन्होंने फरमाया— 'कोई भी तरल वस्तु सोये-सोये नहीं पीनी चाहिए।' संतों ने तब हाथ का सहारा देकर उन्हें बिठाया और पानी पिलाया। श्वास का वेग उस समय काफी तेज था। उनके मुंह के सामने पानी किया गया तब वह श्वास की तेजी के कारण उछल-सा रहा था। पानी पिलाने के पश्चात् जब उन्हें वापस लिटाया गया तब एकाएक श्वास का वेग और भी अधिक तीव्र हो गया।

मगनलालजी स्वामी आये कि नहीं ?

कालूगणी को उस समय अपने शरीर की स्थिति काफी शिथिल लगने लगी तब कुछ सोचकर उन्होंने संतों से पूछा— मगनलालजी स्वामी अभी तक आये कि नहीं ?

संतों ने प्रार्थना की— अभी आए तो नहीं हैं किन्तु आते-आते ही होने चाहिए। फिर भी शीघ्रता के लिए उन्हें बुलाने को एक संत भेज रहे हैं।"

मगनलालजी स्वामी सायकाल के समय स्थडिल-भूमि से प्राय सूर्यास्त होने के आस-पास ही वापस आया करते थे। यह उनकी बहुत काल की प्रकृति थी। उस दिन वे स्वय ही सदा की अपेक्षा कुछ शीघ्र लौट पडे थे। बुलाने के लिए गये हुए सत ज्योही उनके पास पहुँचे और आचार्यदेव की पृच्छा से उन्हें अवगत किया, तो वे अत्यत शीघ्रता से चलकर स्थान पर पहुँचे। उनका शरीर भारी था, अत शीघ्रता से चलने तथा ऊपर चढने के कारण हाँफने लग गये। परन्तु उस समय उन्हें अपने शरीर की ओर ध्यान देने का समय नही था, वे उसी हाँफती हुई स्थिति में सीधे आचार्यदेव के पास पहुँचे और निवेदन किया कि मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ।

अनशन

आचार्यदेव को मगनलालजी स्वामी के आगमन का पता लगा, त्योही उन्होने आँखें खोलकर उनके सामने देखा और कहा—अब'' ' । इन दो अक्षरो से अधिक वे कुछ बोल नहीं पाये। श्वास के वेग ने उनकी बोलने की शक्ति को अवरुद्ध कर दिया।

मगनलालजी स्वामी ने उनके मनोभावो को जानकर उनके वाक्य को पूरा करते हुए पूछा—"क्या आप यही कहना चाहते हैं कि अब सथारा करा दिया जाए ?"

धीमे किन्तु दृढ स्वर में आचार्यदेव ने कहा—"हाँ।"

मगनलालजी स्वामी ने तब उन्हें चारो आहारो का प्रत्याख्यान कराते हुए यावज्जीवन का अनशन करा दिया।

लौ बुझ गई

अनशन स्वीकार करने के कुछ मिनट पश्चात् ही उनके आत्मप्रदेश खिचने लग गये। सात मिनट का अनशन प्राप्त कर वे छह बजकर नौ मिनट पर दिवगत हो गये। इस प्रकार एक प्रकाश जो कि ससार को अपनी ज्योति-किरणो से जगमगा रहा था, सदा के लिए मिट गया। एक लौ, जो कि असयममय तिमिस्रा के सघन अधकार को निगलती हुई निर्धूम जल रही थी, बुझ गई।

साधुजन उन्हें घेरे हुए निर्वाक् खडे-के-खडे रह गये। उस समय ग्यारह मिनट लगभग दिन अवशेष था। नीचे खडी जनता में वह समाचार पानी में पडे तैल-बिन्दु की तरह अपने आप ही फैल गया। सूर्य भी उस कारुणिक दृश्य के सामने अपने को नहीं टिका सका, अत अपनी अन्तिम किरणों को समेटता हुआ वह अन्यत्र चला गया। उदासीनता का अन्धकार चारो ओर परिव्याप्त हो गया।

देह का व्युत्सर्ग

एक क्षण पहले जो शरीर नाना चेष्टाओं से युक्त था, वही एक क्षण पश्चात् एकदम निश्चेष्ट पडा हुआ था। साधुवर्ग उदासमुद्रा में काल के वैचित्र्य का चिंतन कर रहा था।

थोड़ी-सी प्रतीक्षा के पश्चात् जब अनुमानतः यह निश्चय हो गया कि अब देह में प्राण-शक्ति का अंश भी अवशिष्ट नहीं है तब उसका प्रत्यक्षतः परीक्षण किया गया। डाक्टर तथा वैद्य प्रभृति ने भी वही निष्कर्ष घोषित किया। उसके पश्चात् देह का विधिवत् व्युत्सर्ग कर दिया गया।

देह-दर्शन

देह-व्युत्सर्ग के साथ ही साधु-संघ का उसके प्रति कर्तव्य समाप्त हो गया। श्रावकों ने उसे सम्भाला और उसे वहाँ से उठाकर वे रंग भवन की निचली मंजिल में ले गये। वहाँ उसे चौक में एक स्तम्भ के सहारे बाजोट पर विराजित कर दिया गया। वहाँ बैठे भी वे ऐसे लगते थे मानो अभी अभी बोल उठेंगे। किन्तु यह केवल देखने वालों के मन की कल्पना ही कही जा सकती है। न उनके बोलने की और न उठने की कोई बात शेष रह गई थी। जनता उनकी देह को अन्तिम रूप से दर्शन के लिए उमड़ पड़ी। सायंकाल से उसका तांता प्रारम्भ हुआ तो प्रातःकाल तक लगातार चलता ही रहा। एक क्षण के लिए भी उसमें व्यवधान शायद ही पड़ा हो।

विशाल जुलूस

सप्तमी के दिन लगभग ग्यारह बजे रंगभवन से कालूगणी के शरीर को उठाया गया और विमान में आरूढ़ किया गया। सवारी चली तो दूर-दूर तक की बस्तियाँ मनुष्यों से भरी हुई थीं। छतें महिलाओं से भरी हुई थीं। जिधर दृष्टि उठाई जाती उधर मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे। अनुमानतः पचीस चालीस हजार व्यक्ति तो बाहर से आये हुए थे। स्थानीय व्यक्तियों की संख्या भी काफी बड़ी थी। जुलूस जहाँ से चला तब ऐसा लग रहा था मानो विमान तैरता चला जा रहा था। विमान के सम्मुख भजन-मंडली द्वारा भजन गाये जा रहे थे। भीड़ का नियंत्रण करने के लिए स्वयं-सेवकों का दल सावधान भाव से कार्य-रत था। पुलिस की ओर से भी काफी अच्छी व्यवस्था थी।

दाह-कर्म

जुलूस के विभिन्न मार्गों में घूमता हुआ वह [illegible] श्मशान भूमि में पहुँचा। वहाँ [illegible] के लिए स्थान चुना गया। चिता आदि की सम्पूर्ण [illegible] पूरी थी। थोड़ी देर के पश्चात् चिता प्रज्वलित कर दी गई [illegible] [illegible] किन्तु [illegible] आज भी [illegible] है। [illegible] चिता के [illegible] [illegible] किन्तु [illegible] है।

: ६ :

पवित्र स्मृति

धर्म-जागरण के रूप मे

कालूगणी के दिवगत होने के समाचार प्राय अधिकाश स्थानो पर रात-रात में ही पहुँच गये थे। अत उनकी पवित्र स्मृति में प्राय प्रत्येक स्थान पर साधु-साध्वियो ने सामूहिक रूप में उपवास किये। श्रावक-श्राविकाओं ने भी बहुत बडी सख्या में उपवास किये। सर्वत्र उस दिन को धार्मिक-जागरण के रूप में मनाया गया।

व्यापारिक नगरों मे बन्दियाँ

उनकी स्मृति में बगाल तथा आसाम के अनेक नगरो में पूर्णरूप से बन्दी रखी गई। कलकत्ता तथा बम्बई के भी अनेक बाजार बद रहे। बाजार बन्द होने से लोगो ने माल नही उठाया, तो कलकत्ता रेलवे ने हरजाना छोड दिया। प्राय प्रत्येक व्यापारिक नगरों में उनके भक्त रहा करते थे। उनकी पवित्र स्मृति में उन्होने इस रूप में भी श्रद्धाजलि अर्पित की थी।

रियासतो में

बीकानेर-रियासत भर में राज्य की ओर से बन्दी की घोषणा की गई। स्वय बीकानेर महाराज गगासिंहजी ने राजमहलो मे प्रतिदिन गाये जाने वाले गीतों को तीन दिन के लिए बन्द रखा। मेवाड तथा मारवाड में भी प्राय अनेक शहरो मे बन्दी रखी गई। मेवाड-नरेश भूपालसिंहजी को आचार्यदेव के दिवगत होने का समाचार कुछ दिन बाद मिल पाया था। उससे वे बहुत खिन्न हुये। उन्होंने सुदरलालजी मुरडिया को, जो कि तेरापन्थी श्रावक थे और महाराणा के निजी व्यक्तियो में से थे, बुलाकर उपालभ देते हुए कहा—"हीरालाल (सुन्दरलालजी के पिता, के विद्यमान न रहने का मुझे वस्तुत आज अनुभव हुआ है। वह आज विद्यमान होता तो क्या मुझे पूज्यजी के दिवगत होने का तत्काल पता नही हो जाता ? वे अपने देश में दिवगत हुए और हम उनकी स्मृति में राज्य की ओर से बन्दी भी नही कर सके, यह हमारे लिए शोभा की बात नही हुई। मेरे मन में यह एक सदा के लिए पछतावा रह गया।"

सुन्दरलालजी ने अपनी उस भूल के लिए काफी पश्चात्ताप किया और क्षमा-याचना भी की, परन्तु वह अवसर तो बीत ही चुका था। उसके लिए पश्चात्ताप के अतिरिक्त किया भी क्या जा सकता था ?

विरल में से एक

कालूगणी के दिवंगत होने के समाचार सुनकर उनके भक्तों को जो आघात लगा उसमें कोई आश्चर्य नहीं था परन्तु जो व्यक्ति जीवन भर उनका विरोध करते रहे उन्हें भी वह समाचार एक बार के लिए व्यग्र कर देने वाला हुआ। सुना जाता है कि उस समय अनेक विरोधियों के मुख से अनायास ही उनके लिए श्रद्धाभिषिक्त वचन निकल पड़े थे। उनकी दृष्टि में वे विरल आचार्यों में से एक थे।

वीरमाता छोगांजी

कालूगणी की संसारपक्षीया माता छोगांजी जो कि एक तपस्विनी साध्वी थीं उस समय लगभग इकानवे वर्ष पार कर चुकी थी। वृद्धावस्था के कारण वे काफी वर्षों से बीदासर में स्थिरवास के रूप में रह रही थीं। वे विरक्त भावना की एक जीती-जागती मूर्ति थीं। जो भी कोई उनके पास आता वे सदैव उसे विराग भाव की ओर ही आकृष्ट करने का प्रयास किया करती थीं। यदि कोई अपने प्रियजन की मृत्यु से शोक विह्वल भी उनके पास आता तो वे उसे भी यही कहा करती थीं कि हृदय को दृढ़ रखना चाहिए जो वस्तु जाने की थी वह चली गई अब उसकी चिन्ता करने से क्या होना-जाना है।

जब कालूगणी दिवंगत हुए तब लोगों ने सोचा कि दूसरों को विराग का उपदेश देना ही सहज होता है पर जब अपने पर बीतती है तब उसे पालन करना बहुत कठिन होता है। उनकी दृष्टि में संभवतः छोगांजी भी उन्हीं व्यक्तियों की संख्या में गिनी जाने वाली हो सकती थीं। कई व्यक्तियों का तो यहाँ तक अनुमान था कि अब वे संथारा कर लेंगी। हजारों लोग उस समय छोगांजी की प्रतिक्रिया को देखने के लिए बीदासर में एकत्रित हो गये थे।

उन सबने वहाँ देखा कि वीर माता छोगांजी पर वैसी कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हुई जैसी कि वे सोच रहे थे। संथारा कर देने की भी कोई बात सामने नहीं आई। जिसने भी उनके सामने कालूगणी की बात चलाई, उसके कानों को वापस यही बात सुनाई दी— 'अरे! गई वस्तु चाहे कितनी भी प्रिय क्यों न हो वापस नहीं आती है? फिर उसकी चिन्ता क्या करना ? मेरे लिए तो जैसे वे थे वैसे ही तुलसीगणी भी हैं।' लोग उनकी इस स्थित प्रज्ञता से बहुत ही प्रभावित हुए।

कालूगणी के दिवंगत होने के पश्चात् वे लगभग पाँच वर्ष तक फिर जीवित रहीं और छियानवे वर्ष की अवस्था में दिवंगत हुई। जब तक आचार्य श्री तुलसीगणी ने गंगापुर से विहार करके थली में आकर छोगांजी को प्रथम दर्शन दिये और उनके लिए कालूगणी ने जो कुछ फरमाया था वह सब सुनाया तब वे बहुत आह्लादित हुई। उन्होंने कालूगणी की पवित्र स्मृति को आचार्य तुलसीगणी के रूप में प्रत्यक्षता का रूप दे दिया था।

इस प्रकार धर्मात्मा आचार्य कालूगणी की पवित्र स्मृति विभिन्न रूपों में की गई थी। उन सभी स्मृतियों की पृष्ठभूमि में जनता की उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा ही एक मात्र कारणभूत थी।

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-सवत्	१९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया
(२) दीक्षा-सवत्	१९४४ आश्विन शुक्ला तृतीया
(३) आचार्यपद-सवत्	१९६६ भाद्रपद पूर्णिमा
(४) स्वर्गवास-सवत्	१९९३ भाद्रपद शुक्ला षष्ठी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान	छापर
(२) दीक्षा-स्थान	बीदासर
(३) आचार्यपद-स्थान	लाडणू
(४) स्वर्गवास-स्थान	गगापुर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ	१०॥ वर्ष
(२) साधारण साधु	२२ वर्ष
(३) आचार्य	२७ वर्ष
(४) सर्व आयु	५९॥ वर्ष

जन्म-कुण्डली
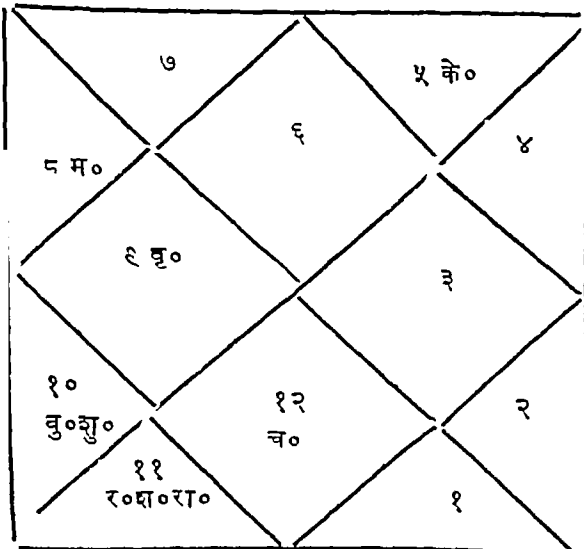
विहार-क्षेत्र

कालूगणी के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य—थली मारवाड़ मेवाड़ और ढूंढाड़ तथा पंजाब (हरियाणा) और मालवा रहा था।

चातुर्मास

कालूगणी ने साधारण साधु-अवस्था में बाईस चातुर्मास किये थे। उनमें से क्रमशः पाँच चातुर्मास मघवागणी पाँच माणकगणी और बारह डालगणी की सेवा में किये थे। आचार्य अवस्था में उन्होंने सत्ताईस चातुर्मास किये थे। उनका विवरण निम्नोक्त प्रकार है :

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
सरदारशहर	१	१९६७ ७४ ८९
बीदासर	४	१९६८ ७६ ८२ ८८
चूरू	२	१९६६ ८१
लाडनूं	२	१९७ ८६
सुजानगढ़	२	१९७१ ९
उदयपुर	२	१९७२,९२
जोधपुर	२	१९७३ ९१
राजलदेसर	१	१९७५
भिवानी	१	१९७७
रतनगढ़	१	१९७८
बीकानेर	१	१९७९
जयपुर	१	१९८
गंगाशहर	२	१९८३ ८७
डूंगरगढ़	१	१९८४
छापर	१	१९८५
गंगापुर	१	१९९३

मर्यादा-महोत्सव

कालूगणी ने अपने शासनकाल में विभिन्न स्थानों पर २७ मर्यादा-महोत्सव मनाये। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत
बीदासर	१	१९६६ ९९०
राजलदेसर	४	१९६७ ७४ ७९
[illegible]	[illegible]	[illegible]

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
गगापुर	१	१९७१
पाली	१	१९७२
सुजानगढ	३	१९७५,८०,८६
सरदारशहर	४	१९७६,७७,८१,८७
चूरू	१	१९८४
छापर	१	१९८८
डूगरगढ	१	१९८९
सुधरी	१	१९९१
वडनगर	१	१९९२

शिष्य-सपदा

कालूगणी के शासन-काल में चार-सो-दस दीक्षाएँ हुई । उनमें एक सौ पचपन साधु और दो सौ पचपन साध्वियाँ थीं । वे दिवगत हुए उस समय एक सौ-उनचालीस साधु और तीन सौ तेईस साध्वियाँ सघ में विद्यमान थी ।

दशम परिच्छेद

आचार्य श्री तुलसी

: १ :

गृहि-जीवन

वर्तमान व्यक्तित्व

आचार्य श्री तुलसी तेरापन्थ के नवम आचार्य हैं। उनके अनुशासन में रहते हुए वर्तमान में तेरापन्थ ने जो उन्नति की है, वह अभूतपूर्व कही जा सकती है। प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भी इस अवसर पर तेरापन्थ ने बहुत बड़ा सामर्थ्य प्राप्त किया है। जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशातीत रूप में विस्तीर्ण हुआ है। सक्षेप में कहा जाए तो यह समय तेरापन्थ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का रहा है। आचार्य श्री ने अपना समस्त समय सघ की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है। वे अपनी शारीरिक सुविधा-असुविधा की भी परवाह किये बिना अनवरत इसी कार्य में जुटे रहते हैं। इसीलिए आचार्यश्री के शासन-काल को तेरापन्थ के प्रगति-काल या विकास-काल की संज्ञा दी जा सकती है।

आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक—दोनो ही प्रकार का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। मझला कद, गौरवर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाँकती हुई तेज आँखें, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मुखमण्डल—यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। दर्शक उन्हें देखकर महात्मा बुद्ध की आकृति की एक झलक अनायास ही पा लेता है। अनेक नवागन्तुकों के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बातें मैंने स्वय सुनी हैं। दर्शक एक क्षण के लिए उन्हें देखकर भावविभोर-सा हो जाता है।

उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उससे भी कहीं बढ कर है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी सभी सम्प्रदायों की विशेषताओ का आदर करते हैं और सहिष्णुता के आधार पर उन सब में नैकट्य स्थापित करना चाहते है। वे मानवतावादी है, अत समस्त मानवो के सुसस्कारों को जगाकर भूमण्डल से अनैतिकता और दुराचार को हटा देने के स्वप्न को साकार करने में जुटे हुए हैं। अथक परिश्रम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करता है। वे बहुधा अपने भोजन तथा शयन के समय में से भी कटौती करते रहते है। अपराजेय साहस, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावो को सहजता से ही ताड लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहार्द्रता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्त्वशील बना दिया है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जहाँ सन्देहो से परे है, वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियो के लिए सन्देह-स्थल भी बना है। कुछ लोगो ने उनमें द्वैध-व्यक्तित्व की आशकाएँ की हैं। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदायातीत मालूम दिया है, तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमें उदारता और स्नेहार्द्रता के दर्शन किये है तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता

के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियों के लिए अभी तक अज्ञेय रहे हैं। वे समन्वयवाद को लेकर चलते हैं अतः अपने आपको बिलकुल स्पष्ट मानते हैं परन्तु उनमें भयङ्कर असत्यता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते हैं। वे अहिंसक हैं अतः अपने लिए किसी को अमित्र नहीं मानते फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयङ्कर विरोधी मानते हैं। भारत के प्रायः सभी प्रमुख पत्रों ने तथा कुछ विदेशी पत्रों ने भी जहाँ उनको तथा उनके कार्यों को महत्त्वपूर्ण बतलाया है तो कुछ छोटे पत्रों ने उनको जी भर कर कोसा भी है। इतना ही नहीं किन्तु उन्होंने उनकी तथा उनके कार्यों की निम्नस्तरीय आलोचनाएँ भी की हैं। पर वे उन सबको एकभाव से देखते रहे हैं। न स्वयं उन विरोधों का प्रतिकार करते हैं और न अपने किसी अनुयायी को करने देते हैं। वे सत्यशोध के लिए विरोध को आवश्यक समझते हैं और उसे विनोद की तरह सहजभाव से ग्रहण करते हैं। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने एक पद्य में भी व्यक्त किया है

जो हमारा हो विरोध हम उसे समझें विनोद।
सत्य सत्य-शोध में तब ही सफलता पायेंगे॥

अनेक विचारक व्यक्तियों ने उनके विचारों का समर्थन करने वाला तथा अनेकों ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है। उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होंने उसी उच्चस्तर पर उत्तर भी दिया है। वे 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' को एक बहुत बड़ा तथ्य मानते हैं। वे आलोचनाओं से बचने का प्रयास नहीं करते किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते हैं। उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होंने सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है और उस पर उनकी भावनाएं मुखर होती रही हैं जब कि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णतः मौन धारण करते रहे हैं।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय में विविध व्यक्तियों के विविध विचार हैं पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रखरता और असमनोरता का परिचायक है। वे समन्वयवादी हैं अतः जहाँ दूसरों को अन्तर्-विरोध का आभास होता है वहाँ उनको समन्वय की भूमिका दिखाई पड़ती है। उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियों को एक उलझन।

ऐसे व्यक्तियों को शब्दों में बाँधना बहुत कठिन होता है परन्तु यह भी सच है कि एक व्यक्तित्व ही शब्दों में बाँधने योग्य होते हैं। जिनके जीवन में न वेग होता है न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य उनका व्यक्तित्व शब्द में छिप कर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं उनके व्यक्तित्व में शब्द छिप कर रह जाता है। समस्या दोनों जगह पर है परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधने वालों के लिए यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसे जितना बाँधा जाता है उतने कहीं अधिक वह

वाहर रह जाता है। शब्द उसके सामस्त्य को अपने में अटा नही पाते, उनके व्यक्तित्व की गुरुता के सम्मुख शब्दो के ये वाट वहुत ही हल्के पडते हैं।

जन्म

आचार्य श्री तुलसी का जन्म वि० स० १६७१ कार्तिक शुक्ला द्वितोया राजस्थान (मारवाड) के लाडणू शहर मे हुआ। उनके पिता का नाम झूमरमलजी तथा माता का नाम वदनाजी है। वे ओसवाल जाति के खटेड गोत्रीय हैं। छ भाइयो में वे सबसे छोटे है। उनके तीन वहिनें भी है। उनके मामा हमीरमल्जी कोठारी उन्हें 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' वडे नामी आदमी होगे। उनकी वह वात उस समय तो सम्भवत प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी, परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्यवाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्यश्री के ससार-पक्षीय दादा राजरूपजी खटेड काफी प्रभावशाली तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगज (अव यह पूर्वी पाकिस्तान में है) में राजवहादुर वावू बुधसिंहजी के यहाँ मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत वडा व्यापार था और उसकी सारी देखभाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार में बडे निपुण थे, अत उस क्षेत्र में उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका वडा रोबीला था।

स० १६४४ में बुधसिंहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत यात्रा पर गये तो लौटने पर वहाँ एक सामाजिक झगडा चल पडा। उनके विरोधी-पक्ष ने उनको तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालो को जाति-बहिष्कृत कर दिया। उस झगडे में श्री सघ के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उनके वहाँ से नौकरी छोड दी और घर आ गये। पहले कुछ दिनों तक वे कहीं अन्यत्र मुनीमी प्राप्त करने का प्रयास करते रहे, परन्तु जिस सम्मान और रौब से वे सिराजगज में रह चुके थे, उससे कम में रहना उन्हें पसन्द नहीं था। उतना कहीं मिल नहीं सका, अत वे तब से प्राय घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र झूमरमलजी एक सरल-स्वभावी व्यक्ति थे। वे व्यापार में अधिक सफल नही हो सके। आय साधारण रही और परिवार बडा होने से व्यय अधिक रहा। अत धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया।

स० १६७३ में राजरूपजी का देहान्त हो गया। उसके पश्चात् स० १६७६ में झूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतों के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी अधिक दवाव पडा, किन्तु आचार्यश्री के वडे भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साहस से उस स्थिति को सम्भाल लिया। उन्होंने वहुत कम समय में ही उस ऋण को उतार दिया [illegible]

अपने घर की स्थिति को फिर से सुव्यवस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार-कार्य में लगे और उन्होंने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने में यथाशक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरों पर खड़ा होकर सम्मानित जीवन बिताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालों में प्रायः सभी के धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमें भी वदनांजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। लाडनूं में सं० १९९४ से लगातार वृद्ध यतियों का स्थिरवास चला आ रहा है। साध्वियाँ जहाँ रहती हैं वहाँ पास में ही उनका घर है अतः उनका फुरसत का समय प्रायः वहीं व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार से निश्चित बन्धे हुए थे ही। वे अपने बालकों को भी दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रहती थीं। जब कोई बालक प्रातराश के लिए कहता तो वे बहुधा पूछ लिया करती थीं कि दर्शन कर आया कि नहीं। यदि दर्शन किये हुए नहीं होते तो वे यही चाहतीं कि एक बार वह दर्शन कर आये। उनकी उस नैसर्गिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया कि साधु-साध्वियों के स्थान पर जाकर दर्शन कर आना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था में ही थे फिर भी घर के अन्य सदस्यों के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। धर्म के प्रति उनका एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बड़े भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब सं० १९८१ में दीक्षा ग्रहण की तब से तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर आकृष्ट हुए। उनका वह झुकाव धीरे-धीरे अनुकूल वातावरण में वर्धिष्णु होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन में जब दैवी संस्कारों का बीज-वपन होता है तब बहुधा आसुरी-संस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने का जोर मारते हैं। वे किसी न किसी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते हैं। वैसी स्थिति में अनेक व्यक्ति भटक जाते हैं तो अनेक सम्भल कर वैसे संस्कारों पर विजय पा लेते हैं और उन्हें सद्-संस्कारों में परिणत कर लेते हैं। आचार्यश्री के बाल-जीवन में भी कुछ-एक ऐसे क्षण आए, जब कि एक ओर तो धार्मिक संस्कार उनके मन में जड़ जमाने लगे और दूसरी ओर से आसुरी संस्कारों ने उन्हें भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होंने स्वयं अपने अतीत के कुछ संस्मरण लिखते हुए एक घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—एक बार उन्हीं के एक कौटुम्बिक जन ने उन्हें बतलाया कि यहाँ गाँव से बाहर ओरण में एक रामदेवजी का मन्दिर है। वहाँ देवता बोलता है परन्तु उसको नारियल चढ़ाना आवश्यक

होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सको तो हम तुम्हें देवता की बोली सुना सकते है। वाल-सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होने नारियल ले आने का वचन दिया और घर में जाकर चुपके से एक नारियल उठा लाये। मन्दिर में छिपकर किसी व्यक्ति के बोलने को ही उन्होंने अपनी वाल-सुलभ सरलता मे देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर मे उन्होंने कई वार नारियल चुराये, परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुमगति से छूट गये और सत्-सस्कारों की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

स० १९८२ के मार्गशीर्ष महीने मे आचार्यश्री कालूगणी का लाडणू पदार्पण हुआ। उस समय वालक तुलसी को निकटता से आचार्यदेव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि सुनने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। उस निकट सपर्क ने उनके पूर्वार्जित सस्कारो को उद्‌बुद्ध कर दिया। फलस्वरूप वालक होते हुए भी वे विराग-भाव से रहने लगे। जो बात व्याख्यान आदि में सुनते, उस पर विशेषरूप से मनन करते। मन में जो प्रश्न उठते, उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान खोजते। माता वदनाँजी उन्हें जो सरल-सा उत्तर देती, उस समय उनकी जिज्ञासा उसीसे तृप्त हो जाया करती।

एक दिन उन्होंने अपने घरवालों के सामने अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, परन्तु उसे वाल-भाव का एक विनोद-मात्र समझकर यो ही टाल दिया गया। उन्होंने कुछ दिन पश्चात् फिर अपनी वात को दुहराया, परन्तु किसी ने उस बात पर गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस वात पर वहुत खेद हुआ कि वे जिस बात को एक तथ्य के रूप में कहना चाहते हैं, घरवाले उसे एक बाल-भाव मात्र समझते हैं, परन्तु वस्तुत वात ऐसी नही थी। घरवाले उनकी उस भावना से परिचित होने के साथ-साथ सावधान भी हो गये थे। अपनी 'हाँ' या, 'ना' से वे उस वात को खीचकर अधिक पक्का करना नही चाहते थे। वे उस समस्या को सुलझाने का अन्दर ही अन्दर कुछ प्रयत्न सोचने में लगे थे।

एक समस्या

उनकी वहिन लाडाजी के कुछ समय से दीक्षा लेने के विचार थे। आचार्यश्री कालूगणी के पदार्पण से ऐसी सम्भावनाएँ की जाने लगी थी कि सम्भवत इस अवसर पर उन्हें दीक्षा की स्वीकृति मिल जाए। परिवार के प्रमुख तथा अगुआ सदस्य मोहनलालजी उस समय बगाल में थे। उनको बुलाये विना न लाडाजी के विषय में कोई निश्चित कदम उठाया जा सकता था और न बालक तुलसी के विषय में। दोनों समस्याओं का हल एक ही था कि मोहनलालजी को बुला लिया जाये। यह चिन्ता फिर वे स्वय ही कर लेंगे कि क्या करना है तथा कैसे करना है।

वे उन दिनों सिराजगंज (पूर्वी बंगाल) में रहा करते थे। उन्हें तार दिया गया कि लाडांजी की दीक्षा की संभावना है शीघ्र आओ। तार पढ़कर वे तुरंत लाडनूं चले आये। स्टेशन पहुँचने पर पता चला कि तुलसी भी दीक्षा की बात कर रहा है तो वे बहुत घबड़ाए। कहने लगे कि मुझे यह खबर होती तो मैं आता ही नहीं। आखिर वे घर पर आये। घरवालों को बहुत कुछ कहा-सुना। बालक तुलसी को भी अच्छी-खासी डाँट सुनाई और आगे के लिए ऐसी बात को मुंह में भी न लाने की चेतावनी दी।

जो टलने का नहीं होता उसे कैसे टाला जा सकता है? बात रुकने की नहीं थी सो नहीं रुकी जब-तब सामने आती रही। उनके चौथे भाई मुनिश्री चम्पालालजी पहले ही दीक्षित हो चुके थे। उनकी प्रेरणा थी कि वे उस दीक्षा में बाधा न दें परन्तु मोहनलालजी अब और किसी भाई को दीक्षित होने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि वे दीक्षा की स्वीकृति नहीं देंगे। तेरापन्थ की दीक्षा विषयक नियमावली के अनुसार अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षा नहीं दी जा सकती। मोहनलालजी को अनेक व्यक्तियों ने समझाने का प्रयास किया। मुनिश्री चम्पालालजी ने भी उनसे कहा पर वे नहीं माने।

समस्या का सुलझाव

बालक तुलसी ने जब देखा कि यह समस्या यों सुलझने वाली नहीं है तो वे अपने में से ही कोई मार्ग खोजने लगे। मन में एक विचार कौंधा और वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे। उस समय आचार्यश्री कालूगणी व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ की विशाल परिषद् उनके सामने उपस्थित थी। वे वहाँ गये और व्याख्यान में खड़े होकर कहने लगे— 'गुरुदेव! मुझे आजीवन विवाह करने और व्यापारार्थ परदेश[1] जाने का त्याग करा दीजिए।' सुनने वाले चकित रह गये। मोहनलालजी सोच में पड़ गये कि यह क्या हो रहा है? आचार्यदेव ने शांत भाव से समझाते हुए कहा—"तू अभी बालक है इस प्रकार का त्याग करना बहुत बड़ी बात होती है।"

गुरुदेव के उस कथन से मोहनलालजी बड़े आश्वस्त हुए, परन्तु बालक तुलसी के मन में बड़ी उथल-पुथल मच गई। जो सोचा था वह द्वार खुल नहीं पाया। वे एक क्षण रुके कुछ असमंजसता में पड़े और दूसरे ही क्षण दूसरे मार्ग का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने साहस को बटोरा और कहने लगे—"गुरुदेव! मैं आपकी साक्षी से ये त्याग करता हूँ।"

मोहनलालजी अब कहें तो क्या कहें और करें तो क्या करें? बहुत व्यक्तियों ने पहले उनको समझाया था पर भ्रातृ-मोह बाधक बन रहा था। समस्या की जो डोर सुलझ नहीं

१—उन दिनों थली के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे। वे इसे 'परदेश जाना' कहा करते थे।

पा रही थी, आपके उस उपक्रम से वह अपने आप सुलझ गई। बात का और डोर का सिरा हाथ लग जाने पर उसे सुलझते कोई देर नहीं लगती।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामो की उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। आखिर उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करने का ही निर्णय किया। उन्होने गुरुदेव के चरणों में दीक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिक्रमण सीखने के लिए आज्ञा प्रदान की और उसके कुछ दिन पश्चात् फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा-प्रदान करने के लिए पौष कृष्णा पचमी का दिन घोषित कर दिया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी उनके ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई बिछी हुई थी। जब वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे, तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही ठीक अवसर समझकर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बात करते हुए कहा—"कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु जीवन में कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होती हैं, अत बड़ी सावधानी और साहस से तुम्हें रहना होगा। अभी तुम बालक हो, अत भूख-प्यास के कष्ट भी काफी सतायेंगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा तो कभी किसी समय। कही आचार्यदेव के द्वारा दूर प्रदेशो मे विहार करने के लिए भेज दिए जाओगे, तो मार्ग में न जाने कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अन्य सब कष्ट तो मनुष्य फिर भी सह सकता है, परन्तु यदि आहार-पानी नही मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूख और प्यास के कष्टों को सहना बड़ा ही कठिन हो जाएगा। परन्तु हाँ, उसका एक उपाय हो सकता है।" इतना कहकर उन्होने अपने पास से एक सौ रुपये का एक नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे—"यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूख-प्यास का सकट आए, तब तुम इसे अपने काम मे ले लेना।"

अपने बड़े भाई की वह बात सुनकर वे बहुत हसे और छोटा सा उत्तर देते हुए कहने लगे —"साधु हो जाने के पश्चात् नोट रखना कल्पता ही कहाँ है ?"

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा—"रुपये-पैसे रखने तो नही कल्पते, किन्तु यह तो एक कागज है। क्या तुम प्रतिदिन नही देखते कि साधुओ के पास कितने कागज होते हैं ? तुमने अभी जो साधु-प्रतिक्रमण सीखा है, वह भी कागजो पर ही साधुओ द्वारा लिखा हुआ था। वे इतने सारे कागज कल्प से बाहर नहीं हैं, तो फिर यह छोटा सा कागज क्यो नही कल्पेगा ? उनमें और इसमें आखिर अन्तर भी क्या है ? अपने 'पुठे'

में एक ओर रख लेना पड़ा रहेगा तुम्हारा इसमें नुकसान भी क्या है ? समय-बे-समय काम ही आयेगा।"

उनकी इतनी सारी बातों के उत्तर में वे केवल हंसते रहे और बोले— "ये तो रखे ही हैं। यह नहीं कल्पता।" बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृढ़ रहे तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नहीं है अपितु अन्तरंग से है और साथ में संयम की सीमाओं का भी ज्ञान है। उन्होंने नोट को यथास्थान रख लिया और परीक्षा में उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही-मन प्रसन्न हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्यश्री कालूगणी को लाडनूं आये एक महीना पूर्ण हो चुका था अतः चतुर्थी के दिन ही वहाँ से विहार कर गांव से बाहर माणकचन्दजी बोरड़ की कोठी में पधार गये। कोठी के बाहर ही बहुत बड़ा खुला चौक है। वहीं दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया। प्रातःकाल सहस्रों व्यक्तियों के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वहीं से विहार करके सुजानगढ़ पधार गये। वह दिन सं० १९८२ पौष कृष्णा पंचमी का था।

उस दीक्षा को आचार्यश्री कालूगणी ने सम्भवतः प्रारम्भ से ही कुछ विशिष्ट समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होंने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नहीं की किन्तु कुछ दिन पश्चात् एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बात चल रही थी। मुनिश्री चौथमलजी ने कहा— 'पहले तो शकुनों के फल प्राय: मिला करते थे यही सुना जाता है पर अब तो वैसा कुछ नहीं देखा जाता।' कालूगणी ने तब उसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया— नहीं ही मिलते ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभी हम लोग बीदासर से विहार कर के लाडनूं आ रहे थे अच्छे शकुन हुए। फलस्वरूप तुलसी की दीक्षा कैसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई ?

मालूम होता है उनके उन शब्दों के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी जिसको कि उन्होंने कुछ खोला और कुछ ढके ही रहने दिया। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी की निष्ठा हुई हो चाहे न हुई हो पर अब यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आचार्यश्री कालूगणी का उस शकुन के विषय में जो विचार था वह बिल्कुल सत्य निकला। आचार्यश्री तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।

: २ :

मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की लघु अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके पश्चात् वे तत्काल ही विद्यार्जन में लग गये। प्रारम्भ से ही विद्या के विषय में उनकी विशेष आतुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था में जब उन्होने अपना प्रारम्भिक अध्ययन प्रारम्भ किया था, तब भी उनकी वह आतुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी कक्षा के सबसे अधिक बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाते थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष विश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होने गृहस्थ-जीवन मे किया था, किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम – इन तीनो का एकत्र सयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बडी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठा, दाम अण्टा

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए दशवैकालिक सूत्र, जो कि प्राय प्रत्येक नव-दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है, उन्होने बहुत थोडे ही समय मे कण्ठस्थ कर लिया। उसके पश्चात् वे सस्कृत-अध्ययम में लग गये। वे 'ज्ञान कण्ठा और दाम अण्टा' इस राजस्थानी कहावत के हार्द को भली-भाँति जानते थे, अत कण्ठस्थ करने मे उनका विशेष ध्यान था। उन्होंने अपने विद्यार्थि-जीवन में लगभग बीस सहस्र श्लोक-परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीनकाल मे तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्व दिया जाता था। सारा-का-सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था, परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओ के समय मे भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया। उनके कण्ठस्थ किये गये ग्रन्थो में व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम-विषयक ग्रन्थ मुख्य थे।

घो-चो-पू-लो

अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त उन्होंने सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ का अधिकार-पूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के सचालक मुख्यत स्वय आचार्यश्री कालूगणी ही रहे थे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न, पडित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमे काफी

अच्छा सहयोग रहा था। संस्कृत-व्याकरण की दुरूहता का विमर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओं को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

खान-पान चिन्ता तजै, निश्चय मांडै मरण।
घो-ची-पू-ली करतो रहै, तब आवै व्याकरण॥

अर्थात् जब कोई खान-पान आदि की चिन्ताओं को छोड़कर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन झोंक देता है तथा उसके समय के लिए घोटने चितारने (घोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने) पृच्छा-वाचना करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है तब कहीं संस्कृत-व्याकरण को हृदयंगम करने में सफलता मिलती है।" इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्य-वर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते कि व्याकरण सीखने वालों को अपना संकल्प कितना दृढ़ करने की तथा अपनी वृत्तियों को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने विद्यार्थि-जीवन में कालूगणी की उसी प्रेरणा को चरितार्थ कर दिखाया था। केवल व्याकरण के लिए ही नहीं वे तो जिस विषय को हाथ में लेते थे उसके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही अपने आपको झोंक दिया करते थे। कभी न थकने वाली उनकी उस लगन ने ही उनको आज अकल्पनीय को भी कल्पनीय और असम्भव को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थि-जीवन की उनकी वह प्रकृति आज भी रूपान्तर पाकर उसी तरह से विद्यमान है।

कण्ठस्थ ग्रन्थ

अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे जिस किसी भी ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने का निर्णय करते उसे बहुत स्वल्प समय में ही पूर्ण कर छोड़ते। इसीलिए उनकी त्वरता में दूसरों का उनके साथ मिल पाना प्राय कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक उत्तराध्ययन अभिधान चिन्तामणि (नाममाला) सिद्धान्त चन्द्रिका भिक्षुशब्दानुशासन प्रमाण-नयतत्त्वालोक और षड्दर्शन समुच्चय आदि आगम व्याकरण तथा दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होंने कण्ठस्थ किये ही थे परन्तु शान्त-सुधारस भक्तामर आदि अनेक स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे बड़े व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे जिन्हें साधारणतया पढ़ लेने से ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण संस्कृत-धातु पाठ अमरत्न-महोदधि तथा उणादिसूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थों में गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते हैं परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़ा-सा विशेष ध्यान देकर पढ़ने-मात्र से ही सब पाठ

[illegible]

नहीं होते

हैं ? सम्भवत उस अवस्था में आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेने में ही अधिक आनन्द मिलता था ।

सौ-सवासौ पद्य

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा त्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है । आचार्यश्री कालूगणी स० १९९१ के शीतकाल में मारवाड के छोटे-छोटे गावों में विहार कर रहे थे । कही अधिक दिनों तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अवसर आने की सम्भावना नही थी । ऐसी स्थिति में भी उन्होंने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया । प्रात कालीन समय का अधिकाश भाग प्राय विहार करने में ही व्यतीत हो जाता था । किसी भी कृत्रिम प्रकाश में पढना सघीय मर्यादा से निषिद्ध होने के कारण रात्रि का समय भी काम नही लग सकता था । दिन में साधुचर्या के अन्यान्य दैनदिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था । उन सबके पश्चात् दिन में जो समय अवशिष्ट रहता, उसमें से कुछ हम लोगों को पढाने में लगा दिया जाता था और शेष समय में वे स्वय पाठ कण्ठस्थ किया करते थे । इतनी सब दुविधाओं के बावजूद भी उन्होने उस विशाल ग्रन्थ को केवल अडसठ दिनों में ही समाप्त कर डाला । बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे । उन दिनों वे प्रतिदिन पच्चास-साठ से लेकर सौ-सवासौ पद्यों तक याद कर लिया करते थे ।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने में जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्त्तना (चितारना) के द्वारा उसे याद रखने में भी । अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्त्तना कर लिया करते थे । शीतकाल में तो प्राय पश्चिम रात्रि में आचार्यश्री कालूगणी उन्हें अपने पास बुला लिया करते और पाठ-श्रवण किया करते थे । पूर्वरात्रि के समय में भी उन्हें जितना समय मिल पाता, उसका अधिकाश वे स्वाध्याय में ही लगाने का प्रयास किया करते थे । यदि कभी नींद या आलस्य आने लगता तो खडे हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे । कभी-कभी तो शयन से पूर्व दो-दो हजार पद्यो तक का स्वाध्याय कर लिया करते थे । प्रारम्भिक समय की अपनी उस प्रवृत्ति को आज भी आचार्यश्री अपने में सुरक्षित रखे हुए हैं । यद्यपि पूर्वरात्रि में जन-सम्पर्क आदि कार्यों की व्यस्तता से उन्हें विशेप समय नही मिलता, फिर भी पश्चिम रात्रि में वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते है । कभी-कभी वे नव-दीक्षितों का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं ।

सुयोग्य-शिष्य

तेरापन्थ में आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते हैं, उन सब में बडा दायित्व है—भावी सघपति का चुनाव । उसमें आचार्य को अपनी व्यक्तिगत रुचि से ऊपर उठकर समाज में से ऐसे

व्यक्ति को खोज कर निकालना होता है जो प्रायः सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने में सफल हुआ हो तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते हैं पर श्रद्धेय नहीं बना सकते। श्रद्धेय बनने में आचार-कुशलता आदि आत्म-गुणों की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रद्धेयता के साथ प्रभावशालिता अवश्यम्भावी होती है जबकि प्रभावशालिता के साथ श्रद्धेयता हो भी सकती है और नहीं भी।

इस विषय में आचार्यश्री कालूगणी बड़े भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने में उन्हें कभी चिन्तित नहीं होना पड़ा। आप जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गये। आप अपने विद्यार्थि-जीवन में ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ संघ के अधिकांश व्यक्तियों के लिए श्रद्धास्पद भी बन गये थे। प्रभाव व्यक्तियों के शरीर पर ही नियन्त्रण स्थापित करता है जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा संचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियंत्रण की अपेक्षा यह बहुत उच्चकोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवनदायिनी शक्ति के समान होता है। उसके बिना शिष्यत्व न पनपता है और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो यह कोई विशेष बात नहीं है किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते हैं तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्य श्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी परन्तु आपको शिष्य रूप में प्राप्त कर स्वयं आचार्य श्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई वह अवश्य ही आश्चर्यजनक थी। आपने आचार्य श्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया वह निश्चय ही असाधारण था। एक ओर जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नहीं था। कोरा वात्सल्य उच्छृंखलता की ओर ले जाता है तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब वे जीवन में साथ-साथ चलते हैं तब जीवन में संतुलन पैदा करते हैं। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति को विकासशील बनाता है।

आचार्य श्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य विभाग (जो सब साधुओं को बारी से करना होता है) से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को शिक्षा में लगा देखना चाहते थे। इस विषय में आप स्वयं भी बड़े जागरूक रहते थे। पाँच-दस मिनट का समय भी आपके लिए

बहुमूल्य हुआ करता था। आप उसका उपयोग स्वाध्याय में कर लिया करते थे। स्वय गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग करें। इस विषय में समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता है कि गुरुदेव आपके समय को कितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जन-पद विहार चालू था। वृद्धावस्था के कारण मार्ग में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-साथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—"तुलसी! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीखा कर।" आप साथ में रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे, अतः आपने साथ में रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा, वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके पश्चात् आगे जाने लगे। इस क्रम से लगभग आध घण्टा समय निकल सकता था। उसे आप अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का झुकाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन में हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्याभ्यास के द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त कराने का उपक्रम चला। उसके पश्चात् वक्तृत्वकला में भी आपको निपुण बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न का व्याख्यान आपको सौंपा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षित-सा कार्य बन गया है, कहीं होता है, कही नहीं भी होता, परन्तु उस समय उसका बडा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कण्ठ मधुर थे और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाते, तब लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिका गाते और आचार्य श्री कालूगणी स्वय उसकी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नथमलजी तथा मैं (मुनि बुद्धमल्ल) 'सूक्ति-मुक्तावली' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के सान्निध्य में आप उनका अर्थ किया करते। आप अपने कण्ठों का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते है कि मैं ज्यों-ज्यो अवस्था में बडा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वर में गाने और बोलने का प्रयास करने लग गया। इसका कारण आप यह बतलाते हैं कि ऐसा किये बिना कण्ठों का माधुर्य बना नहीं रह सकता। आपके विचार से लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आस-पास, जब कि शारीरिक विकास त्वरता से होता है, तब ध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक विस्वर बन जाते है

आचार्यश्री कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्षों में से थे। वे वर्ष क्रमशः मारवाड़ मेवाड़ और मालवा की यात्रा में ही बीते। उससे पूर्व बहुत वर्षों तक वे थली में ही विहार करते रहे। आपकी दीक्षा के पश्चात् वह उनका प्रथम लम्बा विहार था तथा कालूगणी का अपने जीवन की दृष्टि से अन्तिम। वह विहार मानो आपको अपने श्रद्धालुओं तथा उनके क्षेत्रों से परिचित कराने के लिए ही हुआ था। उस यात्रा से पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल में उसका काफी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए वे वर्ष बहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुए।

आचार-कुशलता और अनुशासन-कुशलता आपको अपने संस्कारों के साथ ही प्राप्त हुई थी। उनको आपने अपने प्रयास से दिन-प्रतिदिन और भी निखार लिया था। शिक्षा तथा व्यवहार-कुशलता आपने आचार्य श्री कालूगणी के सान्निध्य में प्राप्त की और उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर एक आकर्षक रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओं का निखार स्वयं आचार्य श्री कालूगणी को इष्ट था। वे उनकी प्रगति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

संघ की आन्तरिक प्रवृत्तियों में भी आचार्य श्री कालूगणी समय-समय पर आपका उपयोग करते। उनका बहुमुखी अनुग्रह हर दिशा में आपको परिपूर्ण बनाने का रहा करता था। इन्हीं कारणों से आपकी ओर समूचे संघ का ध्यान खिंच गया। लोग आपके विषय में बड़ी बड़ी कल्पनाएँ करने लगे। संघ के विशिष्ट साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर छाने लगा। आपने जिस अप्रत्याशित गति से योग्यता का सम्पादन किया वह सचमुच ही बड़ा प्रभावशाली था।

शिक्षा या संकेत ?

कालूगणी का विहार उन दिनों मारवाड़ में कांठे के गांवों में हो रहा था। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् जब आप वंदन के लिए गए, तो आचार्यश्री कालूगणी ने आपको अपने पास आने का संकेत किया। आपने समीप आकर वंदन किया तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रचकर सुनाया और फरमाया कि इसको लिख लेना। वह सोरठा था

सीखो विद्या सार, पड़ो कर परमाद में।
बधसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनें॥

दूसरे दिन शाम को गुरु-वंदन के पश्चात् जब आप मुनिश्री मगनलालजी को वंदन करने गये तब उन्होंने पूछा—"कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था उसके उत्तर में तूने वापस कुछ निवेदन किया या नहीं ?"

आपने कहा— किया तो नहीं।"

आगे के लिए मार्ग बतलाते हुए मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—"अब कर देना।"

आपने उस बात को शिरोधार्य कर उत्तर में जो सोरठा निवेदित किया, वह इस प्रकार था

महर रखो महाराय, लख चाकर पद-कमल नो।
सीख आपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव-गति लहूं ॥

अकेले आचार्य श्री कालूगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यो को शिक्षा दी गई है। पूर्व भूमिका सहित जब दोनो सोरठो को देखते हैं, तब लगता है कि सवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है ? वह अपने समाधान के लिए गहराई में जाता है, तब इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओं के प्रकाश में जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अध-प्रकाशित सकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री कालूगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे, अत उनके मन की गहराई को स्पष्ट समझ पाना जरा कठिन होता था। मुनि श्री मगनलालजी उनके बाल्यावस्था के साथी थे, अत सम्भवत वे उनके सकेतों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होंने आपको उस साकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। अन्य किसी के पास उन सकेतों को समझने के साधन तो नहीं थे, पर अनुमान अनेकों का यही था कि उसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी अतिशय कृपा का द्योतन करने के साथ-साथ भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वचन भी दिया था।

विस्तार मे योगदान

बीज छोटा होता है, पर उसकी योग्यताएँ बहुत बडी होती हैं। उसके अपने विकास के साथ-साथ योग्यताओं का भी विस्तार होता रहता है। उस विस्तार में अनेको का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है और आगे बढता है। आचार्यश्री में व्याप्त बीज-शक्तियों का विकास भी उसी क्रम से हुआ है। वे आज जो कुछ हैं, वैसे बनते अनेक वर्ष लगते हैं। आज भी वे अपने आपको परिपूर्ण नही मानते। वे मानते है कि निर्माण की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। मनुष्य को सीखते ही रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे नि सकोच भाव से ग्रहण करते रहना चाहिए।

उन्होंने अपने बाल्यजीवन से आज तक अनेकों व्यक्तियो से सीखा है। हर एक का यही क्रम होता है। पहले स्वय सीखता है, तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु बन पाया है ? हर एक व्यक्ति के ज्ञात तथा अज्ञात अनेक गुरु होते हैं। प्रथम गुरु माता को माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसी से प्रारम्भ होता है। उसके अतिरिक्त परिवार के तथा आस-पास के वे सब व्यक्ति कुछ-न-कुछ सिखाने में सहयोगी बनते ही हैं। जिनके कि सम्पर्क में आते रहने का अवसर मिलता है। किसने क्या और कितना सिखाया है, इसका विश्लेषण करना सहज नही होता, अत उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यही उपाय हो

सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुत से व्यक्तियों के उपकार बहुत स्पष्ट भी होते हैं। उन्हें पृथक रूप से पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो विनम्र तथा भक्ति-संयुत व्यवहार होता है, वही कृतज्ञता का मापदण्ड बन जाता है।

आचार्यश्री आज सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को उपकृत कर रहे हैं परन्तु वे स्वयं भी अनेकों से उपकृत हुए हैं। वे अपने उपकर्ताओं के विषय में अपने कर्तव्य को जानते हैं। उन व्यक्तियों के नाम से ही वे कृतज्ञता से भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष-उपकारकों में वे अपना सबसे बड़ा उपकारक आचार्यश्री कालूगणी को मानते हैं। इसीलिए वे उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित होकर चलते हैं और अपनी हर क्रिया की *श्रेयोभिमुखता में उन्हीं की आन्तरिक प्रेरणा मानते हैं। उनके उपकारों को वे अनिर्वचनीय* मानते हैं। वे आज जो कुछ हैं वह सब आचार्यश्री कालूगणी की ही देन है।

माता वदनांजी के उपकार को भी वे बहुत महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही तो आज विकसित होकर फल-शाली बना है। आगम कहते हैं कि पुत्र पर माता का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन उनके मनोनुकूल रहे सभी शारीरिक सेवाएं करे, तो भी वह ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। उनको धार्मिकता में नियोजित करे तो ऋण-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही किया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताएँ इतिहास में विरल ही मिल पायेंगी। स्वभाव की ऋजुता निरभिमानिता तथा तपस्या ने उनके संयम को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मुनि श्री मगनलालजी ने भी आपके निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया था। सर्व-प्रथम वे आपकी दीक्षा में सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालों को इतनी शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्तव्यों का मार्ग प्रशस्त करते रहे। आचार्य बनने के पश्चात् वे आपकी मंत्रणा के प्रमुख अवलम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके उस महत्त्वपूर्ण योग-दान को यों प्रकट किया है—"उस संधिकाल में जब पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ और मैंने छोटी अवस्था में संघ का उत्तरदायित्व सम्भाला था यदि वे (मुनिश्री मगनलालजी) नहीं होते तो मुझे न जाने किन किन कठिनाइयों का अनुभव करना होता ?

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे यह भी आचार्यश्री के शब्दों में ही पढ़िये— 'एक दिन वे आये और बोले कि आप कभी-कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें। मेरा तो उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं दूसरों को एक बोध-पाठ मिलेगा।" यह उस समय की बात है जबकि आपने शासन-भार सम्भाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना

१—जैन भारती २८ फरवरी १९६
२—जैन भारती २८ फरवरी १९६

करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघुवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न कर पाये।

मन्त्री मुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा—"वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है ? कोई एक साधु उनकी विशेषताओं को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओं को सजो लें। उन्हे जाने न दें।"[१]

मुनि श्री चम्पालालजी आचार्यश्री के ससार पक्षीय बडे भाई है। वे उनकी दीक्षा में प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्ही की देख-रेख में रहते रहे। उनका नियंत्रण काफी कठोर होता था, पर जो स्वय अपने नियन्त्रण में रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियन्त्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होता है। रात्निक तथा बडे भाई होने के नाते वे उनका उस समय भी सम्मान करते रहे और आज भी करते है। अपने निर्माण में वे उनका भी श्रेयोभाग मानते है।

आपके अध्ययन-कार्य में मुनिश्री चौथमलजी का भी अच्छा सहयोग रहा। वे एक सेवाभावी और कार्य-निष्ठ व्यक्ति थे। 'भिक्षुशब्दानुशासन' महाव्याकरण तथा 'कालुकौमुदी' आदि के निर्माण में उनका जीवन खपा था। तेरापन्थ के भावी छात्रों के लिए उनका श्रम वरदान बन गया। वे जो भी कार्य करते, पूरी लगन से करते थे।

आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पडित रघुनन्दनजी शर्मा तेरापन्थ में विद्या-प्रसार के लिए बहुत बडे निमित्त बने हैं। उनसे पूर्व पडित घनश्यामदासजी ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। उन्होंने अपना सहयोग उस समय प्रदान किया, जबकि बिना अर्थ-प्राप्ति के उतना प्रयत्न करने वाला मिलना ही कठिन था। पडित रघुनन्दनजी का महत्त्व इसलिए है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णत उन्ही के योग से खुला। मुनिश्री चौथमलजी ने 'भिक्षुशब्दानुशासन' का निर्माण किया। पडितजी ने उस पर बृहद्वृत्ति लिखकर तेरापन्थ के मुनि-समाज को सस्कृत अध्ययन में स्वावलम्बी बना दिया। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में इन्हीं का योगदान रहा।

आगम-ज्ञान अर्जन करने में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शक मुनि श्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमो का जितना गहरा ज्ञान था, उतना कम ही व्यक्तियों को होता है। वे अनेक सतो को आगम का अध्ययन कराते रहते थे। समय के बडे पक्के थे। निर्णीत समय से पाच मिनट पहले या पीछे भी उन्हें अखरता था। आगम-रहस्यों की गहराई तक स्वय उनकी तो अबाध गति थी ही, पर वे अपने छात्रों में भी वैसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमो का अध्ययन किया। वे अपने

१—जैन भारती २८ फरवरी १९६०

शेष जीवन तक अपने ही प्रकार से जिये। सेवा लेना उन्होंने प्राय: कभी पसन्द नहीं किया। पराश्रयी होकर जीना उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नहीं किया। आचार्यश्री की दृष्टि में उनके गुण अनुकरणीय तो थे ही पर साथ ही अनेक गुण ऐसे भी थे जो अद्वितीय थे।

मुनिश्री हेमराजजी का भी आगम-ज्ञान बड़ा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परिपूर्णता की ओर ले जाने में उनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ रहे हैं। बातचीत के सिलसिले में जब कभी इन व्यक्तियों में से किसी का भी प्रसंग उपस्थित हो जाता है, तब वे बड़े भावुक *बनकर इनका वर्णन करते हैं। अपने गुरुजनों और बड़ेरों के प्रति उनकी अतिशय कृतज्ञता की* यह भावना उनके गौरव को और ऊंचा उठा देती है।

: ३ :

युवाचार्य

घोषणा

स० १९९३ में आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मासिक निवास गगापुर (मेवाड) में था। वहाँ पहुचने से पूर्व ही उनका शरीर रोगाक्रात हो गया। फिर भी वे गगापुर पहुचे। शरीर क्रमश रोगों से अधिकाधिक घिरता गया। बचने की आशाएं धूमिल होने लगीं। ऐसी स्थिति में सघ के भावी अधिकारी का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक था।

तेरापन्थ के विधानानुसार आचार्य अपनी विद्यमानता में ही भावी आचार्य का निर्धारण करते हैं। यह उनका सबसे बडा और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है। यदि वे किसी कारणवश अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं कर पाते, तो वह उनके कर्त्तव्य की अपूर्त्ति तो होती ही है, परन्तु वह स्थिति सारे सघ के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है। कालूगणी उस विषय में पूर्णत सजग थे। उन्होंने उचित समय पर उस कार्य को सम्पन्न कर देने की घोषणा कर दी।

आदेश-निर्देश

गुरुदेव ने आपको एकान्त में बुलाना प्रारम्भ कर दिया। उसमें आपको सघ के सारणा-वारणा-सम्बन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश दिये गये। कुछ बातें मुखस्थ कहीं गईं तथा कुछ लिखाई भी गईं। इतने दिन तक जो बातें केवल सकेत के रूप में ही सामने आती थी, उस समय वे सब स्पष्टता से सामने उभरने लगीं। जन-जन की कल्पनाओं में बना हुआ अव्यक्त चित्र तब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओ के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। गुरुदेव जब उन दिनों साधु-साध्वियों को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहते—"किसी समय आचार्य अवस्था में छोटे होते हैं, किसी समय बडे, फिर भी सबको समान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिए। गुरु जो कुछ करते हैं, वह सघ के हित को ध्यान में रखकर ही करते हैं।" तब प्राय: सभी जानने लग गये कि गुरुदेव का सकेत क्या है। गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नहीं थे। नाम की उद्घोषणा नही की गई थी, केवल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे।

उत्तराधिकार-पत्र

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्रपद शुक्ला तृतीया को सम्पन्न किया गया। प्रात काल का समय था। रग-भवन के हॉल में साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे। सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नहीं दी जा सकती थी। [illegible]

संख्या में आए हुए थे। सभी में अपार उत्सुकता थी। युवाचार्य-पद प्रदान करने के उत्सव में सब कोई सम्मिलित होना चाहते थे पर ऐसा सम्भव नहीं था। स्थितियाँ विवशता की। रुग्ण होने के कारण गुरुदेव पंडाल में तो क्या उस कमरे से बाहर भी नहीं आ सकते थे। हॉल में भी अधिक भीड़ का एकत्रित होना अभीष्ट नहीं था। उससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर आचार्यश्री कालूगणी बैठे। युवाचार्य पद का पत्र लिखा। फूलते हुए साँस भूलते हुए हाथ और पीड़ा-व्याकुल प्रसंग की अवहेलना करते हुए उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिखीं। मोटे मोटे अक्षर और टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों वाला वह ऐतिहासिक पत्र कई विभागों के पश्चात् पूरा हुआ। तदनन्तर आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढ़कर जनता को सुनाया गया। उसमें लिखा था

"युवमोत्तम
भिक्षु पाट भारीमल
भारीमल पाट रायचंद
रायचंद पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचंद
डालचंद पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम
विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे चालसी सुखी होसी।
संवत् १९९३ भादवा प्रथम सुदी ३ गुरुवार।

आचार्यश्री कालूगणी तथा युवाचार्यश्री तुलसी के जयनादों से वातावरण गुंजायमान हो गया। योग्य धर्म-नेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री कालूगणी तो संघ प्रबन्ध की चिंता से मुक्त हुए ही परन्तु साथ में सारे संघ को भी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ।

अनुभव-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के क्या कर्तव्य होते हैं यह जानने वाले वहाँ बहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मघवागणी अनेक वर्षों तक युवाचार्य रहे थे। उसके पश्चात् लगभग पचपन वर्षों में कोई ऐसा अवसर आया ही नहीं। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य पद दिया गया पर वह अत्यन्त स्वल्पकालीन था अतः कर्तव्य-बोध के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ। उसे देखने वालों में भी एक तो स्वयं गुरुदेव तथा दूसरे

मुनिश्री मगनलालजी, बस ये दो ही व्यक्ति वहाँ विद्यमान थे। शेष के लिए तो वह पद्धति अदृष्ट-पूर्व ही थी।

पहले-पहल स्वय गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियो के कर्त्तव्यो का बोध प्रदान किया। शेष सारी बातें मुनिश्री मगनलालजी यथासमय बतलाते रहे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते है। पद की दृष्टि से भी आचार्य के पश्चात् उन्ही का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तिगत सेवाकार्यों का भार मुनि श्री दुलीचन्दजी (सादुलपुर) को सौंपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप-भाव से कर रहे है।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणी को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पडी, अन्यथा उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने इस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में विवेचन करते हुए एक दिन उन्होंने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी, वह मेरे मन में ही रह गई। अब उसकी पूर्ति सम्भव नही है। जिस कार्य को मैं छोगाजी (घोर तपस्विनी गुरुदेव की ससार पक्षीय माता) के पास बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढग से करने वाला था, वह मुझे यही पर बिना किसी विशेष आयोजन के करना पडा है। काल के सम्मुख किसी का कोई वश नही है।

नये वातावरण मे

युवाचार्य बनने के साथ ही आपको नये वातावरण में प्रवेश करना पड़ा। वहाँ सब कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना बढ गया कि आप उससे बचना चाहते थे, परन्तु बच नहीं पा रहे थे। जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ में आप अपने को घिरा-सा अनुभव कर रहे थे। जिन रात्निक मुनियो का आप सम्मान करते रहे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे। उनके सामने पडते ही आपकी आँखें झुक जाती थी। तेरापन्थ-सघ की विनय-पद्धति की एकार्णवता ने आपको अप्रत्याशित रूप में अभिभूत कर लिया था। उन दिनों आप जिधर से भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार तृप्त होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप में अपूर्व क्षमता थी, परन्तु उस दिन जब कि युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम

व्याख्यान देने गये तब आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी कभी अपनी उस मानस स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते हैं तब भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठकर पहले मुनि श्री मगनलालजी ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर पश्चात् व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। वृद्ध मुनिश्री मगनलालजी तथा समस्त जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढ़कर पट्ट के पास आये किन्तु सहसा ही ठिठक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठ तो कैसे? मुनिश्री ने देखा तो झुककर आगे आये प्रार्थना की ओर दिया और जब उससे भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा भक्ति-संभृत दबाव से आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्रायः समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये। वह नये उत्तरदायित्वों की झिझक थी जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमें से भी झाँक-झाँक कर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा सर्वस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के पश्चात् आचार्यश्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता मुक्त हो गये थे। संघ प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे परन्तु अब व्याख्यान आज्ञा धारणा आदि भी आपको सम्भला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी परन्तु वह अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन पश्चात् ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ़ पाये होते तो कितना ठीक होता? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के संसार में उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे संघ ने उन चार दिनों में जो कुछ देखा पाया उसी को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।
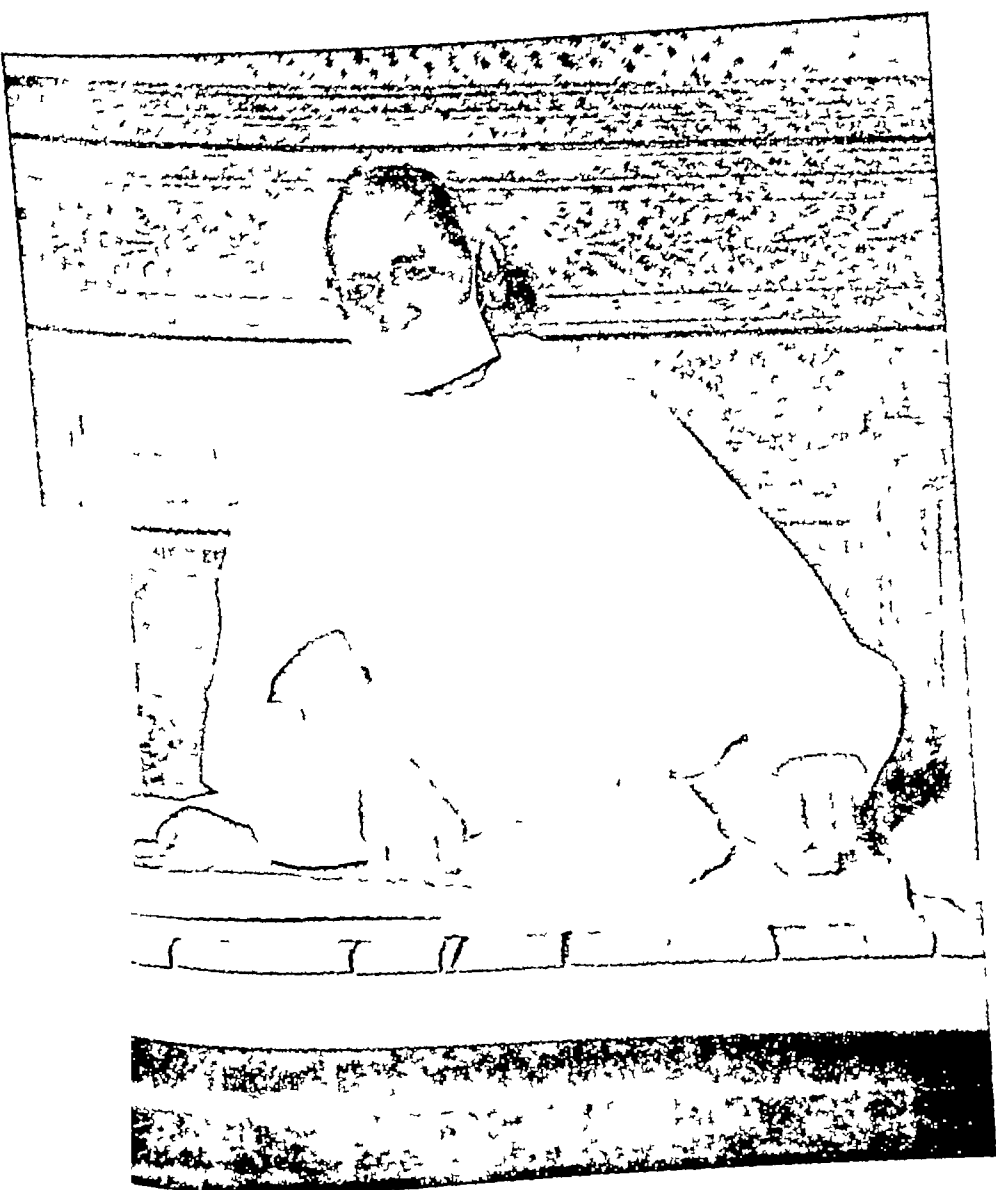
वर्तमान नवमाचार्य श्रीतुलसी

: ४ :

तेरापन्थ के महान् आचार्य

(१) शासन-सूत्र

तेरापन्थ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य है। उनका निर्माण तेरापन्थ में हुआ है, अत. उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापन्थ से परिचित हुआ है तो कोई आश्चर्य नही। वे तेरापन्थ से और तेरापन्थ उनसे भिन्न नही है। तेरापन्थ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापन्थ की शक्ति के केन्द्र हैं। यह शक्ति कोई विनाशक या वियोजक शक्ति नहीं है, यह धर्म-शक्ति है, जो कि विधायक और सयोजक है। तेरापन्थ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापन्थ गौरवान्वित हुआ है।

जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा, उसे तेरापन्थ को और जो तेरापन्थ को गहराई से जानना चाहेगा, उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा। उन्हें एक दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नहीं जाना जा सकता। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री वी० पी० सिन्हा ने अपने एक वक्तव्य में कहा है—"मेरी समझ में तेरापन्थ की सब से बडी देन आचार्यश्री तुलसी हैं, जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का शख फूका है।"[1] उनके इस कथन में जहाँ आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रति आदर-भाव है, वहाँ ऐसे नररत्न का निर्माण करने वाले तेरापन्थ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार को प्रख्यात करती है, वहाँ उसके निर्माण-सामर्थ्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापन्थ के नवम अधिशास्ता है। उनके अनुशासन में रहने वाला शिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के वल से थोपा जाता है और न किसी प्रकार की उसमें वाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दो मे उसका स्वरूप यह है—"तेरापन्थ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहाँ वल-प्रयोग का कोई स्थान नही है। जो कुछ होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देता है, समूचा सघ उसका पालन करता है। इसके मध्य मे श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नही है। श्रद्धा और विनय—ये हमारे जीवन के मन्त्र हैं। आज के भौतिक जगत् में इन दोनो के प्रति

१—जन भारती २४ जुलाई १९६०

तुच्छता का भाव पनप रहा है यह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अमद्रता और अविनय की ओर मुड़ जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी नसों में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या ? जहाँ अहिंसा है वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखता किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है। [१]

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और सुव्यवस्था के विषय में तेरापन्थ को प्रारम्भ से ही ख्याति उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य बातों के विषय में चाहे कुछ भी कहते हों परन्तु इन विषयों में तो बहुधा वे तेरापन्थ की प्रशंसा ही करते पाये गये हैं। तेरापन्थ का लक्ष्य है—चारित्र की विशुद्धि। अनुशासन और सुव्यवस्था के बिना चारित्र की विशुद्ध आराधना असम्भव होती है। तेरापन्थ के प्रतिष्ठाता आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणों पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। अनुशासन और व्यवस्था के विघटन में जिन प्रमुख कारणों को उन्होंने अन्य साधु-संघों में देखा था तेरापन्थ में उनको पनपने ही नहीं दिया। उन्होंने तेरापन्थ के संविधान का उद्देश्य यही बतलाया—"न्यायमार्ग चालण रो न चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छ।"

आचार्यश्री ने इस विषय में कहा है—"तेरापन्थ का उद्भव ही चारित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है इस तथ्य को आचार्यश्री भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापन्थ के उद्भव का रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था—ये दोनों स्वयं प्राप्त होने हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम-सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए झगड़ करते हैं। उन्होंने शिष्य-परंपरा को समाप्त कर दिया। तेरापन्थ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

'आज तेरापन्थ के साधु-साध्वियाँ इसलिए सन्तुष्ट हैं कि उनके शिष्य शिष्याएँ नहीं हैं।

"आज तेरापन्थ इसलिए संगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमें शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

१—जैन भारती १४ जुलाई १९६

"आज तेरापन्थ इसलिए शक्ति-सपन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन में रहता है और उसका साधु-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओ में बटा हुआ नही है ।"[1]

तेरापन्थ की व्यवस्था बहुत सुदृढ है । इसका कारण यह है कि उसमे सबके प्रति न्याय हो, यह विशेप ध्यान रखा गया है । आचार्यश्री भिक्षु ने दो-सौ वर्ष पूर्व सघ-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये, वे इतने सुदृढ प्रमाणित हुए है कि आज के समाजवादी सिद्धान्तो का उन्हें एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दो मे वह इस प्रकार है— "आचार्य श्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब-के-सब श्रमिक है और सब-के-सब पण्डित । हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलगाव नही है । सामुदायिक कार्यो का सविभाग होता है । सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती है । खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का सविभाग होता है । यदि खाने वाले चार हो तो एक रोटी के चार टुकडे हो जाते है । यदि पीने वाले चार हो तो एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागो में बट जाता है ।"[2] यह सविभाग साधु-साध्वियो के जीवन-व्यवहार में आने वाली प्राय: हर वस्तु पर लागू पडता है । **असविभागी न हु तस्स मोक्खो**[3] अर्थात् सविभाग नही करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता, यह आगम-वाक्य तेरापन्थ-सघ-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है ।

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि "एक के लिए सब और सब के लिए एक" यह तेरापन्थ के लिए बहुलाश में लागू पडता है । जननेता श्री जयप्रकाशनारायण जयपुर मे जब पहले-पहल आचार्य श्री से मिले, तब तेरापन्थ की व्यवस्था को जानकर बडे आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने कहा —"हम जिस समाजवाद को आज लाना चाहते हैं, वह आपके यहाँ तो शताब्दी पूर्व ही आ चुका है, यह प्रसन्नता की बात है । हम इन्ही सिद्धान्तो को गृहस्थ-जीवन में लागू करना चाहते है ।"

प्रथम वक्तव्य

आचार्य श्री ने तेरापन्थ का शासन-भार स० १६६३ भाद्रपद शुक्ला नवमी को सभाला था। उस समय सघ में एक सौ उनचालीस साधु और तीन सौ तेतीस साध्वियाँ थीं । उनमें से छिहत्तर साधु तो आपसे दीक्षा-पर्याय में बडे थे । छोटी अवस्था, बडा सघ और उन सब पर समान अनुशासन की समस्या थी । उस समय भी आचार्य श्री का धैर्य विचलित नही हुआ । उन्हे जहाँ अपने सामर्थ्य पर विश्वास था, वहाँ सघ के साधु-साध्वियो की नीतिमत्ता

१— जैन भारती २४ जुलाई १९६०
२—जैन भारती २४ जुलाई १९६०
३—दशवैकालिक ९-२-२२

और अनुशासन प्रियता पर भी कोई कम विश्वास नहीं था। मघवी के मध्याह्न में उन्होंने अपनी नीति के बारे में जो प्रथम वक्तव्य दिया था उसमें ये दोनों ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गये थे। उस वक्तव्य का कुछ अंश यों है

'श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया। इससे मैं स्वयं खिन्न हूं। साधु-साध्वियाँ भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है। उसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होने से क्या बने ? इस बात को विस्मृत ही बना देना है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

'अपना संघ नीति प्रधान संघ है। इसमें सभी साधु-साध्वियाँ नीतिमान् हैं रीति-मर्यादा के अनुसार चलने वाले हैं। इसलिए किसी को कोई विचार करने की जरूरत नहीं है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे संघ का कार्यभार सौंपा है। मेरे नन्हें कंधों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। संघ के साधु-साध्वियाँ बड़े विनीत अनुशासित और इंगित को समझने वाले हैं इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। संघ की नियमावली को सब साधु-साध्वियाँ पहले की ही तरह हृदय से पालन करते रहें। मैं पूर्वाचार्य की तरह ही सबकी अधिक से अधिक सहायता करता रहूँगा—ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है। इसके साथ में सबको सावधान भी कर देना चाहता हूं कि मर्यादा की उपेक्षा मैं सहन नहीं करूंगा।

"सब तेरापन्थ-संघ में फूलें-फलें संयम में दृढ़ रहें इसी में सबका कल्याण है संघ की उन्नति है। यह सब का संघ है इसलिए सभी इसकी उन्नति में प्रयत्नशील रहें।

बयासी वर्ष के

एक बाईस वर्ष के युवक पर संघ का भार देकर आचार्य श्री कालूगणी ने जिस साहस का काम किया आचार्य श्री ने अपने कर्तृत्व से उसमें किसी प्रकार की आशंका नहीं आने दी। वे उस अवस्था में भी एक स्थविर आचार्य की तरह कार्य करने लगे। प्रारम्भ में जो लोग यह आशंका करते कि आचार्यश्री की अवस्था बहुत छोटी है उन्हें मुनि श्री मगनलालजी कहा करते—'कौन कहता है आचार्यश्री की अवस्था छोटी है? आप तो बयासी वर्ष के हैं।' वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते—'जन्म के वर्षों से ही अवस्था नहीं होती वह अनुभवों की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा से आप अवश्य बाईस वर्ष के हैं किन्तु अनुभवों की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बड़ी है। आचार्य श्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गये हैं अतः अनुभवों की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं।' मंत्री मुनि के इस कथन ने उस समय के वातावरण में एक प्रभावना और गौरव का दिया था।

सुचारु संचालन

तेरापन्थ का शासन-सूत्र संभालते ही आचार्य श्री के सामने सबसे प्रमुख कार्य था—सङ्घ का सुचारु रूप से संचालन। सङ्घ-संचालन का अनुभव एक नवीन आचार्य के लिए होते-होते ही होता है, किन्तु आचार्यश्री ने उसमें सहज ही सफलता प्राप्त कर ली। वे अपने कार्य में पूर्ण जागरूक रह कर बढ़े। अनुशासन करने की कला में यो तो वे पहले से ही निपुण थे, पर अब उसे विस्तार से कार्यरूप देने का अवसर था। उन्होंने अपने प्रथम वर्ष में ही जिस प्रकार से सङ्घ-व्यवस्था को सम्भाला, वह श्लाघनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी था। उन्होंने साधु-सङ्घ के स्नेह को जीत लिया था। जिन व्यक्तियों को यह आशंका थी कि एक बाईस वर्षीय आचार्य के अनुशासन में सङ्घ के अनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि कैसे चल पायेंगे, उनकी वह आशंका शीघ्र ही निर्मूल हो गई।

तेरापन्थ में समूचे साधु-सङ्घ के चातुर्मासिक प्रवास तथा शेषकालीन विहरण के क्षेत्रों का निर्धारण एकमात्र आचार्य ही करते है। वह कार्य यदि सुव्यवस्था से न हो तो असन्तोष का कारण बनता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक सिंघाडे में पारस्परिक प्रकृतियों का संतुलन भी बिठाना पडता है। पिछले वर्ष में किये गये समस्त कार्य का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है। सङ्घ-उन्नति के विशिष्ट कार्यों की प्रशंसा और खामियों का दोष-निवारण भी एक बहुत बड़ा कार्य है। रुग्ण साधु-साध्वियों की व्यवस्था के लिए विशेष निर्धारण करना पड़ता है। वृद्धजनो की सेवा और उनकी चित्त-समाधि के प्रश्न को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है। इतना सब कुछ करने के पश्चात् शेष सिंघाडो के लिए आगामी वर्ष का मार्ग-निर्धारण किया जाता है। लेखन-पठन आदि के विषय में भी पूछताछ तथा दिशा-निर्देशन करना आचार्य का ही काम होता है। ये सब कार्य गिनाने में जितने लघु हैं, करने में उतने ही बड़े और जटिल है। जो आचार्य इन सब में अत्यन्त जागरूकता के साथ मुनिजनों की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है, वही संघ का सुचारु रूप से सञ्चालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब कार्यों का व्यवस्थित सञ्चालन ही नहीं किया, अपितु इनमें नये प्राणो का संचारण भी किया।

(२) असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गये अनेक विकास-कार्यों में प्रमुख और प्रथम है—चिन्तन-विकास। अन्य समाजों के समान तेरापन्थ भी एक सीमित दायरे में ही सोचता था। सम्प्रदाय-भावना उसमें भी प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में हुआ करती है। आचार्यश्री ने उस चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोड़ा। सम्प्रदाय शब्द का मूल अर्थ होता है—

गुरु-परम्परा। यह कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह बुरी तब बनती है जब असहिष्णुता के भाव आते हैं। वृक्ष का मूल एक होता है पर शाखाओं प्रशाखाओं तथा टहनियों के रूप में उसकी अनेकता में भी कोई कमी नहीं होती फिर भी उनमें कोई असहिष्णुता नहीं होती अत: वे परस्पर एक-दूसरे की शक्ति और शोभा बढ़ाती हैं। मनुष्य जहाँ भी रहा है सम्प्रदाय संगठन परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब आज कैसे कोई सम्प्रदायातीत हो सकता है? अपने सामूहिक-जीवन की कोई न कोई परम्परा अवश्य ही विरासत में हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न भिन्न सम्प्रदाय नहीं रहने चाहिए। यह कहने वाले भी तो अपना एक सम्प्रदाय बनाकर ही कहते हैं। आचार्यश्री की दृष्टि में असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत सहिष्णुता। जब तक मनुष्य में पर-मत-सहिष्णुता रहती रहेगी तब तक मत-भेद होने पर भी मन-भेद नहीं हो सकेगा। असहिष्णुता ही मत भेद को मन-भेद में बदलने वाली होती है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के भाव रखता है वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय में रहता हो असाम्प्रदायिक ही कहा जायेगा।

इस चिन्तन विकास ने तेरापन्थ को वह उदारता प्रदान की है जो कि पहले की अपेक्षा बहुत बड़ी है। इससे इतर सम्प्रदायो के साथ तेरापन्थ के सम्बन्ध मधुर हुए हैं दूरी कम हुई है। आचार्यश्री के प्रति सभी सम्प्रदाय वालों के मन में आदर भाव बढ़ा है।

वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं। उसकी सारणा-वारणा करना उनका कर्तव्य है। वे उसे बड़ी उत्तमता से निभाते हैं। फिर भी सम्प्रदाय उनके लिए बन्धन नहीं साधना-क्षेत्र है। *वे एक वृक्ष की तरह हैं जिसका मूल निश्चित स्थान पर लगा हुआ होता है* पर उसकी छाया और फल सबके लिए समान रूप से आवश्यक होते हैं।

पाँच सूत्र

आचार्यश्री के चिन्तन तथा कार्यकलापों का रुझान समन्वय की ओर ही रहा है। उन्होंने समय-समय पर सभी सम्प्रदायों से सहिष्णु बनने और परस्पर मैत्री रखने का अनुरोध किया है। इसके लिए उन्होंने एक पंचसूत्री योजना भी प्रस्तुत की थी। सभी सम्प्रदायों के लिए वे सूत्र माननीय हैं

(१) मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाएं।

(२) दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

(३) दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

(४) कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

(५) धर्म के मौलिक तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

धर्म-सम्प्रदायो में परस्पर सहिष्णुता का भाव पैदा करना कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं, क्योंकि उनमें मूलत ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते हैं। यदि विरोधी तत्त्वो की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। धार्मिकों के लिए यह एक लज्जास्पद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक-दूसरे पर आक्षेप करें, घृणा फैलायें और असहिष्णु बनें। आचार्यश्री का विश्वास है कि विचारों की असहिष्णुता मिट जाए तो विभिन्न सम्प्रदायों के रहते हुए भी सामजस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारों के आधार पर ही उन्हे एक महत्त्वपूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हें भारत के एक महान् सत के रूप मे जानने लगी है।

समय नही है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारो का केवल दूसरो के लिए ही निर्यात नही करते, वे स्वय इन सिद्धान्तों पर चलते है। वे किसी की व्यक्तिगत आलोचना करना तो पसन्द करते ही नही, पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हें पसन्द नही है। एक बार एक, अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय मागा। आचार्यश्री ने उन्हें दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारों से असन्तुष्ट थे, अत उनकी कमियों का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमें कुछ रस लेते तो वे तेरापन्थ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियो का पता दे सकते थे, परन्तु उन्हें यह अभीष्ट ही नहीं था। उन्होंने इस साधु से कहा—"मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व-विषयक चर्चा करना चाहते हैं, इसीलिए मैंने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नही है। इस विषय में मैं आपकी कोई सहायता भी नही कर सकता।" उसी क्षण बातचीत का सिलसिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम में लग गये।

सार्वत्रिक उदारता

उनके उदार विचारों का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति से खुलकर विचार-विमर्श करते हैं। वे इसमें कोई कार्पण्य या सकोच नहीं करते। वे अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानों पर भी नि सकोच-भाव से जाते हैं। जहाँ लोग अन्य सम्प्रदायों के स्थानों में जाना अपना अपमान समझते है, वहाँ आचार्यश्री बडी रुचि के साथ जाते हैं। वे जानते है कि दूर रहकर दूरी को नहीं मिटाया जा सकता। सम्पर्क में आने पर वह दूरी भी मिट जाती है, जिसे कभी न मिटने वाली समझा जाता है। वे अनेक बार दिगम्बर और श्वेताम्बर

मंदिरों में जाते रहे हैं । अनेक बार वहाँ उन्होंने प्रार्थनाएँ भी की हैं । मूर्ति-पूजा में उन्हें विश्वास नहीं है पर वे मानते हैं कि जब अन्य सभी स्थानों में भावपूजा की जा सकती है तो वह मन्दिर में भी की जा सकती है । आचार्यश्री के ऐसे विचार सभी लोगों को सहजतया आकृष्ट कर लेते हैं । उनकी यह उदारता इस या उस किसी एक पक्ष को आधार रखकर नहीं होती किन्तु सार्वत्रिक होती है । वस्तुतः उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती हैं ।

आगरा के स्थानक में

उत्तर प्रदेश की यात्रा में आचार्यश्री आगरा पधारे । धर्मशाला में ठहरना था । मार्ग में जैन-स्थानक आया । वहाँ संसद-सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावकों ने आगे खड़े होकर प्रार्थना की— 'यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे हैं । आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिए । यद्यपि काफी विलम्ब हो चुका था फिर भी इस समन्वय के क्षण को आचार्यश्री ने छोड़ा नहीं । साधुओं सहित अन्दर पधार गये । इतने में कविश्री भी ऊपर से आ गये । वे अच्छे विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति हैं । स्थानकवासी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा है । वे 'उपाध्यायजी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । आते ही बड़ी उल्लासपूर्ण मुद्रा में कहने लगे— 'मैं नहीं जानता था कि आप अन्दर आ जायेंगे । आपकी उदारता स्तुत्य है । परोक्ष में जो बातें सुनी थीं उससे भी कहीं अधिक महत्ता को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है । फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ । बातचीत और विचार विमर्श में इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी । कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की अहिंसा-दर्शन' नामक पुस्तक में कई जगह तेरापन्थ की आलोचना की गई थी । बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री ने उन स्थलों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा । मुनिश्री नथमलजी उन स्थलों को खोजने लगे पर वे मिले नहीं । उपाध्यायजी ने मुस्कराते हुए कहा— 'यह दूसरा संस्करण है । इसमें आप जो खोज रहे हैं वह नहीं मिलेगा । आचार्यश्री की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वयं लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा से उन सब आलोचनात्मक स्थलों को अपनी पुस्तक में से हटा दिया था ।

वर्णीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर-समाज के बहुमान्य गणेशप्रसादजी वर्णी के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे । पारसनाथ हिल का स्टेशन 'ईसरी' है । वे वहाँ एक आश्रम में रहते थे । आचार्यश्री विहार करते हुए वहाँ पधारे तो आश्रम में भी पधारे । आचार्यश्री की इस उदारता से वर्णीजी बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए । बातचीत के सिलसिले में उन्होंने तेरापन्थ के विषय में बड़ी गुणग्राहकता और उदारता भरी वाणी में कहा— 'आपका धर्म-संघ बहुत

ही सगठित है। ऐसी अद्वितीय अनुशासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-सघ में दिखाई नही देती।" इस प्रकार के स्वल्पकालीन मिलन भी सौहार्द-वृद्धि में वडे उपयोगी होते है। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक मूक, किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। ये छोटी-छोटी दिखाई देने वाली बातें ही आचार्यश्री की महत्ता के पट मे ताना और वाना वनी हुई है।

विजयवल्लभ सूरि के यहाँ

वम्वई में मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे। वहाँ भी वडे उल्लासमय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहाँ के मूर्त्तिपूजक जैन-समाज पर तो गहरा असर हुआ ही, पर वाहर भी उस मिलन की वहुत अनुकूल प्रतिक्रियाएँ हुई।

दरगाह मे

आचार्यश्री केवल जैनो के धर्म-स्थानो या जैनधर्माचार्यों के यही जाते हो, सो वात नही है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहाँ उसी सहजभाव से चले जाते है, मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर में वे एक वार वहाँ की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गये। वहाँ के सरक्षक ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। नगे सिर वह किसी को अन्दर नहीं जाने देना चाहता था। आचार्यश्री तत्काल वापस मुड गये। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के विना उनके इस प्रकार वापस मुड जाने ने उसको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने सम्मुख आकर कहा—"आप तो स्वय पहुँचे हुए व्यक्ति है, अत आप पर इन नियमो को लागू करना कोई आवश्यक नही है। आप मजे से अन्दर जाइये और देखिये।" जिस सौम्यभाव से वे वापस मुडे थे, उसी सौम्यभाव से फिर दरगाह की ओर मुड गये। अन्दर जाकर उसे देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

वे गुरुद्वारा, सनातन-मन्दिर, आर्यसमाज-मदिर, चर्च आदि में भी इसी प्रकार की निर्वन्वता के साथ जाते रहे है। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयवादी दृष्टि को वहुत वल दिया है।

श्रावको का व्यवहार

आचार्यश्री के सहिष्णु और समन्वयी विचारों का अन्य सम्प्रदाय वालो पर अच्छा प्रभाव पडा है। ऐसी स्थिति में स्वय तेरापन्थी-समाज पर तो उसका प्रभाव पडना ही चाहिए था। वस्तुत वह पडा भी है। कही अधिक तो कहीं कम, प्राय सर्वत्र वह देखा जा सकता है। तेरापन्थ-समाज को प्राय वहुत कट्टर माना जाता रहा है। उसमें एतद्विपयक परिवर्त्तन को एक आश्चर्य-जनक घटना के रूप में ही लिया जा सकता है। कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना में कमी और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हुई है।

बम्बई के तेरापन्थी भाई मोतीचन्द हीराचन्द जवेरी ने संविग्न सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। चोपाटी के अपने मकान पूलचन्द निवास में सात दिन उन्हें भक्ति-बहुमान सहित ठहराया। तेरापन्थ-समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी करवाया गया। आचार्यजी ने उस भाषण में बड़े मार्मिक शब्दों में जैन-एकता की आवश्यकता बतलाई। इस घटना के विषय में भाई परमानन्द ने लिखा है—"एक सम्प्रदाय के श्रावक-जन अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जायें व्याख्यान दें ऐसी घटना पहले तो कभी कोई भाग्य से ही घटित हुई हो तो हो। एकता के इस वातावरण को उत्पन्न करने में तेरापन्थी-समाज निमित्त बना है अतः वह धन्यवाद का पात्र है।"[१]

फादर विलियम्स

आचार्यश्री उन दिनों बम्बई में थे। कुछ तेरापन्थी भाई वहाँ के ईडियन मेथडस चर्च में गये। पादरी का उपदेश सुना। बातचीत की। उन लोगों के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे एस विलियम्स पर बड़ा ही रुचिकर प्रभाव पड़ा। उनके मन में यह भावना उठी जिसके शिष्य इतने उदार हैं कि उन्हें दूसरे धर्म का उपदेश सुनने में कोई एतराज नहीं है तो उनका गुरु न जाने कितना महान् होगा? इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया। वे किसी गद्दीधारी महंत की कल्पना करते हुए आये थे पर वहाँ की सारी स्थितियों को देख-सुनकर पाया कि ईसा के उपदेशों का सच्चा पालन यहीं होता है। वे अत्यन्त प्रभावित हुए। एक धर्मगुरु होते हुए भी उन्होंने अणुव्रत स्वीकार किये। अधिकांश अणुव्रत-अधिवेशनों में वे सम्मिलित होते रहे हैं। आचार्यश्री के प्रति उनकी बड़ी उत्कट निष्ठा है।

साधु-सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्दपूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर भीनासर की भी है। भीनासर में एक साधु-सम्मेलन हुआ। उसमें अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे। भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा कस्बा है। उससे बिलकुल सटा हुआ ही गंगाशहर है। वह उससे कई गुना बड़ा है। वहाँ तेरापन्थ के लगभग सौ परिवार रहते हैं। उन्होंने उस सम्मेलन में हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया। वह सहयोग बन्धुत्व भाईचारे के नाते ही था और उससे दोनों समाजों में काफी निकटता का वातावरण बना।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई। उनका जब बीकानेर में जुलूस निकाला गया तब वहाँ के तेरापन्थ-समाज की ओर से उन्हें माला पहनाई गई तथा सम्मेलन की सफलता के

१—प्रबुद्धजीवन १ मई '५१

लिए शुभकामना व्यक्त की गई। इस घटना ने उन लोगो को और भी अधिक प्रभावित किया।

इन सब घटनाओ का अपना एक मूल्य है। ये तेरापन्थ के मानस का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाए है। इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारो का बल है। तेरापन्थ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओ से अनुप्राणित हो चुके हो, ऐसी बात तो नही है। अनेक व्यक्ति ऐसे भी है, जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार कार्यो को सन्देह की दृष्टि से देखते है। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापन्थ को लाभ नही, अलाभ ही पहुँचा रहे है। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियों से श्रावको की एक-निष्ठता हटती है। आचार्यश्री उनके विचारो को यह समाधान देते है कि तेरापन्थ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापन्थ है और जहाँ सत्य नही है, वहाँ तेरापन्थ भी नही है, यह व्याप्ति है। समन्वयवादिता तथा गुणज्ञता आदि गुण अहिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते है, अत वे सत् और आदेय होते है। कदाग्रहवादिता और अवगुणग्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते है, अत वे असत् और हेय होते है। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापन्थ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापन्थ के प्रति निष्ठा रखता रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो, तो वह वास्तविक तेरापन्थ तक पहुँचा ही नही है। सम्प्रदाय के रूप में तेरापन्थ एक मार्ग है। उस पर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है, साध्य नही।

(३) चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएँ

सेतुबन्ध

आचार्यश्री किसीके द्वारा 'नई चेतना के प्रहरी' करार कर दिये जाते हैं तो किसी के द्वारा 'पुराणपथी'। ये बिलकुल गलत भी नही हैं, क्योंकि आचार्य श्री को नवीनता मे भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनो पैर है। एक उठा हुआ, तो दूसरा टिका हुआ। वे दोनों पैर आकाश में उठाकर उडना नही चाहते, तो दोनों पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नही चाहते। वे चलना चाहते हैं, प्रगति करना चाहते है, निरतर और निर्बाध। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो तो कुछ टिका हुआ भी। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पडता रहे।

साधारणतया लोग नई बात से कतराते है और पुरानी से चिमटते है। पुरानी के प्रति विश्वास और नई के प्रति अविश्वास, उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगो से सर्वथा पृथक् हैं। वे प्राचीनता की भूमिका पर खडे होकर नवीनता का स्वागत करने में कभी नही हिचकिचाते। वस्तुत वे प्राचीनता और नवीनता को जोडनेवाला उपादेयता का ऐसा सेतु-बध बनाना जानते हैं कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनो तटों में सहज ही सामजस्य स्थापित हो जाता है।

उनकी इस वृत्ति को स्वयं तेरापन्थ-समाज के कुछ व्यक्तियों ने सशंक दृष्टि से देखा है। वृद्धों का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते हैं न जाने समाज को कहाँ ले जायेंगे? युवक कहते हैं कि वे पुरातनता को साथ लिए चलते हैं इस प्रकार कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। दोनों का साथ-साथ निभाव करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनों को ही लाभ नहीं मिल सकता। यों वे दोनों की आलोचनाओं के लक्ष्य बनते रहते हैं। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगों ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरह-तरह के आक्षेप किये ही हैं।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध से घबराते नहीं हैं। वे उसे विचार मन्थन का हेतु मानते हैं। दो पदार्थों के घर्षण से जिस प्रकार उष्मा पैदा होती है उसी प्रकार दो विचारों के संघर्ष में नव चिंतन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने उनके मार्ग में जहाँ बाधाएं उत्पन्न की हैं वहाँ अनेक बार उन्हें लाभान्वित भी किया है। जो व्यक्ति विरोधज्ञ हैं वे किसी भी प्रकार की चेतना को प्रत्यक्ष सम्पर्क से तो आंकते ही हैं पर कभी-कभी उसके विरोध में किये जाने वाले प्रचार को देख सुनकर परोक्ष रूप से भी आंक लेते हैं। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा बम्बई के समाचार पत्रों में आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को पढ़कर ही सम्पर्क में आये थे। वे जानना चाहते थे कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध हो रहा है वह वस्तुतः कितना चैतन्य-युक्त होगा। काका कालेलकर भी जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले तो बतलाया कि मैं तेरापन्थ के विरोध में बहुत कुछ सुनता आ रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है वहाँ अवश्य चैतन्य है। मृत का कभी कोई विरोध नहीं करता।

विरोधी-साहित्य-प्रेषण

आचार्यश्री के प्रति विरोध भाव रखने वालों में अधिकांश ऐसे मिलेंगे जो उनके चैतन्य को —उनके सामर्थ्य को सहन नहीं कर पा रहे हैं। वे अपनी शक्ति से 'सबजन हिताय' बिखरे चैतन्य का बटोरने के बजाय आवृत कर देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध में नाना प्रकार से भ्रम फैलाते हैं उनके विरुद्ध पुस्तक लिखते तथा छपाते हैं। जहाँ अवसर मिले वहाँ इस प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु वे उनके भास्वर व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार आच्छन्न नहीं कर पाये हैं। आज तक उनका व्यक्तित्व जितना निखर चुका है भविष्य में वह उतना ही नहीं रहेगा उसमें और निखार आयेगा। उनके चैतन्य तथा सामर्थ्य का प्रकाश और जगमगायेगा यही एकमात्र सम्भावना की जा सकती है। यदि कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोक लगेगी तो वे भूल करते हैं। इस प्रकार के कुछ प्रयासों के कतिपय

देख लेने से पता चल सकता है कि उनका यह शस्त्र उल्टा आचार्यश्री के व्यक्तित्व को और अधिक निखारने वाला ही सिद्ध होता रहा है।

ढेर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने एक बार हरिजन में अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना की। फलस्वरूप उनके पास इतना तेरापन्थ-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होने पत्र द्वारा आचार्यश्री को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है, तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि एक ढेर-का-ढेर लग गया है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना श्री उ० न० ढेबर के साथ भी घटी। वे उन दिनो सौराष्ट्र के मुख्यमन्त्री थे। आचार्यश्री वम्बई-यात्रा के मध्य अहमदावाद पधारे। वहाँ वे आचार्यश्री के सम्पर्क में पहले-पहल ही आये। उन्होंने आचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमों की वहाँ बडी आवश्यकता है। आप अपने कार्यक्रम में सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करें। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरे दिन वे फिर आये और बात-चीत के सिलसिले में अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए उन्होने कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। आचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमें किसी प्रकार का बडा हेर-फेर कर पाना सम्भव नही रह गया था, अत वह बात स्वीकृत नही हो सकी।

कुछ समय पश्चात ढेबर भाई काग्रेस-अध्यक्ष बनकर दिल्ली में रहने लगे। उन दिनों मैं (मुनि बुद्धमल्ल) भी दिल्ली में ही था। मिलन हुआ तो बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझे यह सारी घटना सुनाई और कहा कि जब से मेरे निमत्रण देने के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए, तभी से मेरे पास आचार्यश्री के विषय में विरोधी साहित्य इतनी मात्रा में पहुँचने लगा कि मैं चकित रह गया।

मैंने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई ? तब वे कहने लगे—"मैं सोचता हूँ कि हर एक कार्य के प्रारम्भ में बहुधा ऐसा होता ही है। ऐसा हुए विना कार्य में चमक नही आती।"

व्यक्तिगत पत्र

अभी कुछ दिन पूर्व साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में तेरापन्थ, अणुव्रत और आचार्यश्री के विषय में अनेक लेख प्रकाशित हुए। कुछ व्यक्तियो को वे अखरे। उन्होंने सम्पादकों के पास काफी मात्रा में विरोधी साहित्य तथा सम्पादको को कर्त्तव्य-वोध देने वाले व्यक्तिगत पत्र भेजे। ऐसा ही एक पत्र सयोगवशात् मुझे देखने को मिला। वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के

सम्पादक श्री बांकेबिहारी भटनागर के नाम था। उसमें आचार्यश्री, तेरापन्थ तथा अणुव्रत आन्दोलन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध किया गया था। परन्तु उसका प्रभाव क्या होना था? उस पत्र के कुछ दिन पश्चात् ही स्वयं श्री भटनागरजी का एक लेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ। उसमें आचार्यश्री तथा अणुव्रत आन्दोलन के प्रति एक गहरी श्रद्धा भावना व्यक्त की गई थी।

ऐसी घटनाएँ अनेक हैं और होती रहती हैं पर जो आचार्यश्री के कार्यों से प्रभावित होते हैं उनकी संख्या के सामने वे नगण्य-सी हैं। जहाँ गति होती है वहाँ का वायु-मण्डल उसका विरोधी बनता ही आया है। गति में जितनी त्वरा होती है वायुमण्डल भी उतना ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है पर क्या कभी गति की प्राण-शक्ति क्षीण हुई है?

समय ही कहाँ है?

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपों के प्रति कोई विशेष ध्यान नहीं देते। उनका उत्तर देने की तो तेरापन्थ में प्रायः पहले से ही परिपाटी नहीं रही है। यह ठीक भी है। कार्य करने वाले के पास विरोध और झगड़ा करने का समय ही कहाँ रह पाता है? वे इतने कार्य-व्यस्त रहते हैं कि कभी-कभी उन्हें समय की कमी खटकने लगती है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति निठल्ला रहकर या कलह आदि में समय व्यतीत करता है उसका यह समय मुझे मिल पाता तो कितना अच्छा होता? उनकी कर्मठता और अदम्य शक्ति मानव जाति के लिए एक नव आशा का संचार करती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—'तुलसीजी को देखकर ऐसा लगता है कि यहाँ कुछ है। जीवन मूर्च्छित और पराजित नहीं है। उसमें आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व में गम्भीरता है और एक विशेष प्रकार की तत्परता, यद्यपि हड़बड़ाहट नहीं। वातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों और सम्प्रदायों के प्रति संवेदनशीलता। एक आक्रमणशील वृत्ति उनमें पाई, जो परिस्थिति की ओर से अपने में दाक्षिण्य लेने को तैयार नहीं है बल्कि अपने आस्था-संबल के बल पर उन्हें बदल डालने को तत्पर है। धर्म के [illegible] के साथ इस [illegible] का योग अधिक नहीं मिलता। आस्था [illegible] निष्क्रिय हो जाती है। यहाँ [illegible] सक्रिय हो तो विस्मय ही मन में आशा उत्पन्न होती है।'

[illegible] हार मान सकते हैं

[illegible]

१—आचार्यश्री तुलसी : पृष्ठ [illegible]

शास्त्रार्थों में बडा रस लिया जाता था, पर अब उन्हें वैमनस्य बढाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है। इसीलिए वे यथा-सम्भव ऐसे अवसरो से बचना चाहते है।

एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये। धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय मे जो मेरा विचार है, वह मैंने आपको बता दिया है। अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये।

वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नहीं आये थे, जितने कि वाद-विवाद की दृष्टि से। उन्होने कहा—"ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है।"

आचार्यश्री ने सौम्यभाव रखते हुए कहा—"आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चिन्तता से मेरी हार मान सकते हैं। मुझे इसमें कोई आपत्ति नही है।"

उपर्युक्त बात किसी ने मुझे सुनाई थी, तब मुझे गाधीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गाधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पडित उनसे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम-धर्म जब शास्त्र-सम्मत है, तब हरिजनों को स्पृश्य कैसे माना जा सकता है? गाधीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ में कोई रस नही था। उन्होंने उस बात को वहीं समाप्त कर देने के भाव से कहा—"मैं शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनो के विषय में मेरे जो विचार है, वे ही मुझे सत्य लगते हैं।"

गाधीजी ने बडे सहज भाव से हार मान ली, तब उन लोगों के पास आगे कुछ कहने को शेष नहीं रह गया था। वे जब उठ कर जाने लगे तो गाधीजी ने कहा—"हरिजन-फण्ड में कुछ चन्दा तो देते जाइये।"

पण्डित-वर्ग उनकी बात को टाल न सका। प्रत्येक व्यक्ति ने चन्दा दिया। गाधीजी ने वह सहर्ष ग्रहण किया और अपने काम में लग गये। विवाद से बचकर काम में लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलत उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापन्थ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओ तथा विरोधों का कोई उत्तर नही दिया जाना चाहिए। विरोध से विरोध का उपशमन नहीं हो सकता। उससे तो उसमें और अधिक तेजी आती है। विरोधो का असली उत्तर है— कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्क कार्य में आकर समाहित हो जाते हैं। आचार्यश्री इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना में समय विनष्ट करते रहते है, तब आचार्यश्री कोई-न-कोई कार्य निष्पादन करते रहते है। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने में वे अपना तनिक भी समय लगाना नही चाहते।

बम्बई में आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी लोग समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध धुआँधार प्रचार कर रहे थे। पत्र उनके अपने थे। प्रेरणाएँ किनकी थीं यह कहने से अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण यों किया जा सकता है कि वह दूसरों की भी हो सकती है और उनकी अपनी भी। सभी पत्र वैसे नहीं थे। फिर भी कुछ विशेष पत्रों में जब लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे तो दूसरे पत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। या तो वे उसी राग में आलापने लगते हैं या फिर उसकी सत्यता की गवेषणा में लगते हैं। वहीं के एक पत्र 'बम्बई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारों से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। बातचीत करने पर उन्होंने पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है वह विद्वेष-प्रेरित है। उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जब इतना विरोधी प्रचार हो रहा है तब आप उसका उत्तर क्यों नहीं देते ?

आचार्यश्री ने कहा— 'हम यहाँ जो काम कर रहे हैं वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने में हमें कोई विश्वास नहीं है।' वस्तुतः आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को—सामर्थ्य को कार्य में लगा देना चाहते हैं। उसका एक कण भी वे निरर्थक बातों में अपव्यय करना नहीं चाहते। विरोध है और रहेगा कार्य भी है और रहेगा परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन बहुत बड़ा होता है। अतः शेष में विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तब उनके अपराजेय चैतन्य की विजय सबकी समझ में आयेगी। उनमें पूर्व किसी के आयेगी और किसी के नहीं।

(४) सर्वाङ्गीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

संघ के सर्वाङ्गीण विकास के सम्बन्ध में आचार्यश्री ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उनके अनुशासन में तेरापन्थ ने नई करवट ली है। युग-चेतना की गंगा को संघ में बहाने के लिए उन्होंने भगीरथ बनकर तपस्या की है। अब भी कर रहे हैं। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बड़ा तथा श्रम-साध्य है पर लाभ भी उतनी ही बड़ी मात्रा में है। जिन्होंने प्रारम्भ में उनकी इस तपस्या का मूल्य नहीं आँका वे आज आँकने लगे हैं। जो आज भी नहीं आँक पाये हैं वे उसे कल अवश्य आँकेंगे। आचार्यश्री के प्रयासों ने तेरापन्थ को ही नहीं अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

विकास-काल

जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय में उसका प्रभाव सारे भारत में व्याप्त था परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुड़ता और सूखता चला जा रहा है। पता नहीं कौन-सा वर्षाकाल उसे फिर से बल और पूर्णता प्रदान करता। इस समय तो वह

अनेक शाखाओ में विभक्त है। मुख्य शाखाएँ दो है—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग है—सवेगी, स्थानकवासी और तेरापन्थ। इन सब मे तेरापन्थ अपेक्षाकृत नया है। वि० स० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा को इसकी आयु दो-सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। एक धर्म-सघ के लिए दो-सौ वर्ष कोई लम्बा समय नही होता। तेरापन्थ की प्रथम शती तो बहुलाश में सघर्ष-प्रधान ही रही। हर क्षेत्र में उसे प्रबल सघर्षो में से गुजरना पडा। प्रगति के हर कदम पर उसे बाधाओं का सामना करना पडा। द्वितीय शती के दो चतुर्था शो में साधारण गति ही होती रही। उसमें कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नहीं था। तृतीय चतुर्था श में प्रविष्ट होते ही उसमे कुछ विलक्षणताएँ कुलबुलाने लगी, प्रवाह और वेग भी दृग्गोचर होने लगे, हालाकि वे उस समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में थे। अन्तिम चतुर्था श वस्तुत प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा-का-पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व में ही बीता है। वे उसका सर्वाङ्गीण विकास करने में जुटे हुए है।

व्याख्या-विकास

आचार्यश्री ने तेरापन्थ की व्याख्या में भी एक नया विकास किया है। स्वामीजी ने तेरापन्थ की व्याख्या की थी—"हे प्रभो। तेरापन्थ।" आचार्यश्री ने उसे विकसित करते हुए कहा—"हे मनुष्य। तेरापन्थ।" दोनों वाक्यो का सम्मिलित अर्थ यो किया जा सकता है कि जो प्रभु का पन्थ है, वही मनुष्य का भी पन्थ है। प्रभु को पन्थ की आवश्यकता नही है, वह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु मार्ग के दो छोरो पर है। एक छोर मजिल का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण हैं, मनुष्य को पूर्ण होना है, मजिल तय करने के लिए चलना है। मार्ग चलने वाले के लिए ही उपयोगी है। पहुँच जाने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो, पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की व्याख्या में धर्म की स्थिति विश्लिष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या में गति। स्थिति और गति, दोनो ही परस्पर सापेक्ष भाव है। कोरी गति या कोरी स्थिति की कल्पना भी नही की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता-पद में उपर्युक्त दोनो अर्थो का समावेश इस तरह किया है

हे प्रभो ' यह तेरापन्थ,
मानव मानव का यह पथ,
जो बने इसके पथिक,
सच्चे पथिक कहलाएँगे।

युग-धर्म के रूप में

बहुत वर्षो तक तेरापन्थ का परिचय प्राय राजस्थान से ही रहा था। उससे बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था। राजस्थान में भी कुछ निश्चित वर्ग के लोगो

तक ही इसकी परिधि सीमित रही थी। उस समय जन-साधारण में तेरापन्थ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारों में उसके प्रसार की योजनाएँ थीं। उनका मन्तव्य है कि निस्सीम धर्म को किन्हीं सीमाओं में जकड़ कर रखना गलत है। वह हर व्यक्ति का है जो करे उसीका है। उन्होंने 'अमर गान' में अपने इन विचारों को यों गूँथा है

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पाँति का भेद मिटाया,
निर्धन धनिक न अन्तर पाया
जिसने धारा जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नहीं किया भी है। वे ग्रामीण किसानों से लेकर शहरी व्यापारियों में और हरिजनों से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक में धर्म के संस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिंसा सत्य आदि उसके अंग हैं। यही तेरापन्थ है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिंसा और अहिंसा की जिन सीमा रेखाओं को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया उसका महत्त्व उस युग में उतना नहीं आंका जा सका जितना कि आज आंका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप में परिणत हो रहे हैं। हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने कहा— 'उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को कहीं खण्डित नहीं होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़-मरोड़ कर परिस्थितियों के साथ उसकी संगति बिठाते हैं पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नहीं पहुँच पा रहे हैं तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—"पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकती।

ऊपर का स्तर

तेरापन्थ के मन्तव्यों को लेकर प्रारम्भ से ही काफी ऊहापोह रहा है। उसकी महत्ता[1] को बहुत दिलचस्पी से लिया गया और बहुधा उसका परिहास किया जाता रहा है। जैन के महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' को शंकराचार्य और धर्मकीर्ति जैसे उद्भट विद्वानों ने जिस प्रकार आज व्यंग्य का विषय बनाया और कहा— 'स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो

१. जैन भारती [illegible]

यह सिद्ध होगा कि 'ऊँट ऊँट भी है और दही भी' परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होती है तब क्या कोई ऊँट को दही मानकर खाने लगता है ?" ऐसी ही कुछ बिना सिर-पैर की उल्टी-सीधी तर्कों के आधार पर तेरापन्थ के मन्तव्यो पर भी व्यग किये जाते रहे है।

विरोधियो को तेरापन्थ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो अबाध गति से मिलता रहा है, क्योंकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापन्थ में नही रही। फलस्वरूप तेरापन्थ के मन्तव्यो को विकृत रूप से प्रस्तुत करने वाला साहित्य जनता और विद्वानो तक प्रचुर मात्रा में पहुँचता रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला साहित्य बिल्कुल नही पहुँच पाया। इस वास्तविकता से भी इनकार नही किया जा सकता कि उत्तर देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई समाधान-कारक साहित्य लिखा भी नहीं गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यो के प्रति धारणा बनाने का साधन विरोधी-साहित्य ही बनता रहा। यह स्थिति आचार्यश्री जैसे क्रान्तदर्शी मनीषी कैसे सहन कर सकते थे ? उनके विचारो में मन्थन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिये बिना किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा ? आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखना क्या उचित है ? इस विचार-मन्थन में से जो नवनीत के रूप में निर्णय उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओं का उसी स्तर पर उत्तर देना चाहिए। उससे विवाद बढने के बजाय तत्त्व बोध होने की ही अधिक सम्भावना है। इस निर्णय के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओं के उत्तर दिये जाने लगे, जो कि द्वेष-मूलक न होकर तत्त्व-चिंता-मूलक होती थीं। उसका जो फल आया, उससे यही अनुभव किया गया कि वह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

निरूपण-शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापन्थ के मन्तव्यों को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वजन-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने साधु-समाज को एतद्-विपयक साहित्य लिखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यों की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुँची तो उसका स्वागत हुआ। फलत आलोचनाओं का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता ने जहाँ अनेक व्यक्तियो को तत्त्वलाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टि-कोण को यथार्थता से नही आक सके। उन्होने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारो को बदल कर जनता के सामने रख रहे हैं। सिद्धान्तो का यथावत् प्रतिपादन करने में उन्हें भय लगने लगा है। परन्तु ये सब निर्मूल बातें हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जहाँ आचार्य श्री ने विद्वत्-सभाओ में तेरापन्थ के मन्तव्यो का बडी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसीके भी सामने यथार्थ रूप में ही निरूपित करना चाहिए, उसे छिपाना बहुत बडी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि तत्त्व-निरूपण में जितनी निर्भिकता की आवश्यकता है, उससे कही अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत साधना

जैनाचार्य भाषा के विषय में बड़े उदार रहे हैं। वे जब जिस स्थान पर रहे तब वहीं की भाषा को उन्होंने अपनी भाषा बनाया और उसके साहित्य भण्डार को भरा। जनता तक पहुँचने तथा उन तक अपने विचार पहुँचाने का इससे अधिक और कोई उत्तम प्रकार नहीं हो सकता। उन्होंने भारत के प्राय हर प्रान्त के साहित्यार्जन में अपना योग-दान दिया है। अर्ध मागधी अपभ्रंश गुजराती महाराष्ट्री तेलगु, तमिल कन्नड़ आदि भाषाओं में तो उन्होंने इतना लिखा है कि ये भाषाएँ जैनाचार्यों के उपकार से ऋण-मुक्त नहीं हो सकतीं। प्रेमीय भाषा में तो उन्होंने लिखा ही परन्तु जब संस्कृत का प्रभाव बढ़ा तब उसमें भी वे पीछे नहीं रहे। प्राय हर विषय पर उन्होंने अधिकारी ग्रन्थ लिखे वह एक प्रवाह था। खूब बढ़ा बहता रहा पर पीछे धीरे धीरे मन्द होने लगा। कई सम्प्रदायों में तो उसके रुकने की-सी स्थिति आ गई। प्रान्तीय भाषाओं का पल्लवन अवश्य सुचारु रूप से होता रहा।

तेरापन्थ का प्रवर्तन ऐसे समय में हुआ जबकि संस्कृत का कोई वातावरण नहीं था। आगमों का अध्ययन खूब चलता था पर संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापन्थ की प्रथम सदी केवल राजस्थानी साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही। यह उचित भी था क्योंकि स्वामीजी का विहार क्षेत्र राजस्थान था। वहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उनका लक्ष्य था। दूसरी भाषा वहाँ इतनी सफलता नहीं पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाचार्य ने तेरापन्थ में संस्कृत का बीज-वपन किया। एक संस्कृत विद्यार्थी को उन्होंने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनों को विद्या देना नहीं चाहते थे। उनकी दृष्टि में वह साँप को दूध पिलाने जैसा था। उनके शिष्य मघवागणी ने उस अध्ययन-परम्परा को कुछ आगे बढ़ाया परन्तु वह पनप नहीं सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

आचार्यश्री कालूगणी ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। उनके युग में अनेक साधु संस्कृत-व्याकरण के पारंगत विद्वान् बने। उन्हीं के युग में मुनिश्री चौथमलजी द्वारा महा व्याकरण भिक्षु शब्दानुशासन का निर्माण हुआ। उसकी बृहद्वृत्ति पं रघुनन्दनजी ने लिखी। धीरे-धीरे उसके अन्य अंगोपांग भी बना लिए गये। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से आत्म निर्भर तो अवश्य बन गये पर विषय विस्तार नहीं हो सका। साहित्य निर्माण की गति कुछ स्तोत्र बनाने तक ही सीमित रही।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष व्याकरण ज्ञान की गलियों में घूमते ही बीते थे। आज जो कुछ उनके पास है वह तो सब बाद का ही अर्जन है। यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था। आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी काल में दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का बीज-वपन कर दिया था पर वह पल्लवित तो आचार्य बनने के पश्चात् ही हो सका।

आचार्यश्री के पास पढने वाले हम विद्यार्थी मुमुक्षुओ को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाओं का विशेप सामना नही करना पडा। उसमे आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी, साथ ही क्रम-निर्धारण भी हो गया था। परन्तु हम लोगो को दर्शन के जगल में बिलकुल विना मार्ग के चलना पडा था। सयोग ही कहना चाहिये कि उसमें भटकते-भटकते जव सहज ही वाहर आये तो अपने को मजिल के पास ही पाया। हम लोगों के वाद के विद्यार्थियों को अन्य अनेक असुविधाए या वाधाए भले ही देखनी पडी हो परन्तु अध्ययन सम्वन्धी असुविधाएँ प्राय समाप्त हो गई थी।

यह तेरापन्थ में सस्कृत-भाषा के विकास की सक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसकी गति को त्वरा प्रदान करने में आचार्यश्री का ही श्रेयोभाग अधिक रहा है। आपकी दीक्षा से पूर्व वह गति वहुत मन्द थी। दीक्षा के पश्चात् कुछ त्वरा आई। उसमें आपका प्रयास भी साथ था। आचार्य बनने के पश्चात् उसमें पूर्ण त्वरा भरने का श्रेय तो पूर्णत आपको ही दिया जा सकता है। आपने अपने वुद्धि-कौशल से न केवल अपने शिष्य-वर्ग को सस्कृत भाषा का ही अधिकारी विद्वान् वनाया है, अपितु उसको प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् बनाने में प्रयत्न चालू रखा है। इससे दर्शन तथा साहित्य विषयक निर्माण को वहुत प्रोत्साहन मिला। स्वय आचार्यश्री ने तथा उनके शिष्य-वर्ग ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थो का निर्माण कर सस्कृत-वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे है।

हिन्दी मे प्रवेश

भारत गणतन्त्र की राजभाषा हिन्दी स्वीकृत की गई है। इससे इस भाषा के महत्त्व में किसीको आशका नही हो सकती। स्वतन्त्रता से पूर्व भी भारत में हिन्दी का वहुत महत्त्व रहा है। यह भाषा सारे राष्ट्र को एक कडी में जोडने वाली रही है। विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास में अनेक बाधाए उत्पन्न कर दी, जो कि अब तक भी बाधक वनी हुई हैं, फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नहीं हो सकती। हिन्दी का अपना साहित्य है, अपना इतिहास है। उसका वहुत लम्बा-चौडा विस्तार है। पर तेरापन्थ में हिन्दी-भाषा का प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नहीं है।

तेरापन्थ का विहार-क्षेत्र इतने वर्षों तक मुख्यत राजस्थान ही रहता रहा है। पहले यहाँ प्राय देशी रियासतों का ही बोलवाला था। भाषा के सबन्ध में वहाँ के लोगो की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाए थीं। वहाँ प्राय सर्वत्र राजस्थानी (मारवाडी) भाषा का ही प्रचलन था। अत हिन्दी बोलना एक अह का सूचक समझा जाता था।

एक बार सुजानगढ में हिन्दी भाषा के विषय में कोई प्रकरण चल पडा। शुभकरणजी दसाणी भी वही थे। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा—"सन्तों में क्या कोई हिन्दी भाषा में निवन्धादि लिख सकते हैं ?" आचार्यश्री ने हम तीनो सहपाठियो (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) की ओर देखकर कहा—"क्या उत्तर देते हो ?" हम तीनों ने जब

उत्तर में स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। मुनिश्री ने यहीं यह बात खोलने के लिए ही चलाई थी अन्यथा उन्हें पता था कि हम लिखते हैं। वस्तुतः हम तीनों उन दिनों हिन्दी में कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे पर वह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणा मूलक विचार पाकर हमें भी सुखद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रच्छन्नता से हटकर प्रकट रूप में आ गया। हम लोगों ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नहीं की थी। सीधे संस्कृत से ही उसमें आये थे परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढ़ते रहने के कारण वह अपने आप ही हृदयंगम हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अच्छे विद्वान् तथा लेखक बन गये। अनेक स्वतन्त्र ग्रंथों का प्रणयन हिन्दी में किया गया। स्वयं आचार्य श्री ने हिन्दी में अनेक रचनाएं की हैं। तेरापन्थ में हिन्दी को बड़ी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनागमों के हिन्दी अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके हैं। कार्य बड़े वेग से आगे बढ़ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य में लगे हुए हैं।

भाषण शक्ति का विकास

वि सं १९९४ में आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल में भीनासर पधारे। उन दिनों हम लोग स्तोत्र रचना कर रहे थे। पंडित रघुनन्दनजी वहीं आये हुए थे। हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये। उन्होंने सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्र रचना की बात रख दी। आचार्यश्री ने हम सब से श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया। साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा— मैंने अनुभव किया है कि अब तक संस्कृत पठन के पश्चात् श्लोक-रचना की ओर तो सन्तों की सहज प्रवृत्ति होती रही है पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ।

हम सबको आचार्यश्री के इस दिशा निर्देश से बड़ी प्रेरणा मिली। बाद आगे वहीं अभ्यास-वृद्धि के मार्गों का निश्चय किया गया। पंडितजी भी उस विचार-विमर्श में सहायक थे। समय-समय पर वाद विवाद प्रतियोगिता तथा भाषण-प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया। संस्कृतज्ञ संतों को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता में भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की। योजना-पूर्वक भाषण-प्रवृत्ति को विकसित करने का यह प्रथम प्रयास था। उससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता पर उससे बोलने की झिझक नहीं मिटती। सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने से जो अभ्यास होता है उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है।

शीतकाल का समय था। बाहर से साधु-वर्ग आया हुआ था। संस्कृत भाषण का नवीन कार्य प्रारम्भ होने जा रहा था। सभी की आखों से उल्लास झाक रहा था। किसी के मन में बोलने की उत्सुकता थी, तो किसी के मन में सुनने की। आचार्यश्री ने समवयस्कता और समयोग्यता के आधार पर दो-दो व्यक्तियो के अनेक ग्रुप बना दिये और उन्हें एक-एक विषय दे दिया। इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद-प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। आचार्यश्री को सतों के सामर्थ्य को तौलने का अवसर तो प्राय मिलता ही रहता है, पर उससे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य से परिचित होने का अवसर मिला।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यत उपयोगी सिद्ध हुआ। उससे विद्यार्थि-वर्ग में आत्म-विश्वास का जागरण हुआ। उसके पश्चात् हम लोग स्वत. अभ्यास में भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए। प्रभात-काल में गाम-बाहर जाते, वहाँ अकेले ही खडे-खडे वक्तव्य दिया करते। समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताएँ होती रहती। उससे हमारी गति में अधिक त्वरा आती रहती।

शीतकाल में संस्कृतज्ञ साधुओ की जितनी सख्या होती, उतनी वाद में नही रह सकती थी। अत बडे पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताएँ प्राय शीतकाल में ही हुआ करती। कई बार ऐसी प्रतियोगिताएँ अनेक दिनों तक चलती रहती। एक बार छापर में वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आढसर में भाषण-प्रतियोगिता। वे दोनो ही काफी लम्बे समय तक चलती रहीं। धीरे-धीरे वक्तव्यकला में अनेक नवोन्मेष होते रहे। अनेक व्यक्तियो ने धारा-प्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की। आढसर से प्रारम्भ हुई भाषण-प्रतियोगिता में मुनिश्री नथमलजी पुरस्कारभाग् रहे।

एक बार आचार्यश्री सरसा में थे। सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होने सतो को बुलाया और संस्कृत-भाषण के लिए कहा। यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी तथा मुनि बुद्धमलजी) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण में कोई विशेष योग्यता दिखाएगा, तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा। अनेक सतों के भाषण हुए। उनमें मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने यह उद्घोषित पुरस्कार प्राप्त किया। वे दोनो ही एकाक्षर-प्रधान संस्कृत बोले थे।

संस्कृत के समान ही हिन्दी में भी भाषण-कला के विकास की आवश्यकता थी, अत कभी-कभी हिन्दी-भाषणो का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है। कभी-कभी विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। उसमें किसी एक विद्वान् साधु का साहित्य, दर्शन आदि किसी भी निर्णीत विषय पर वक्तव्य रखा जाता है और भाषण के पश्चात् उसी विषय पर प्रश्नोत्तर चलते हैं। एक बार स० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वर्ष की विचारगोष्ठियों के भाषण तथा प्रश्नोत्तर 'विचारोदय' नाम से हस्तलिखित पुस्तक के रूप में सकलित भी किये गये थे। वक्तव्य-कला के विकासार्थ इस प्रकार के अनेक उपक्रम होते रहे हैं। हर नवीन

उपक्रम एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यश्री की प्रेरणाओं के बल पर संघ ने हर बार उसे प्राप्त किया है।

कहानियाँ और निबंध

अध्ययन-क्षमता के साथ-साथ चिन्तन-क्षमता की वृद्धि करना भी आवश्यक था। आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र में विकास करने के उद्देश्य को लेकर चल रहा था। हम सब उस चिन्तन के प्रयोग क्षेत्र बने हुए थे। आचार्यश्री ने हम सबको मार्ग-दर्शन देते हुए कहा—"तुम लोगों को प्रतिमास संस्कृत में एक कहानी लिखनी चाहिए।" इसके लिए प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष का पन्द्रहवाँ दिन निश्चित कर दिया गया। इस बार कौन-सी कहानी लिखनी है यह उस दिन बता दिया जाता और हम प्रायः चार दिन के अन्दर-अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेंट कर देते। अनेक महीनों तक यह क्रम चलता रहा। इससे हमारा अभ्यास बढ़ा चिन्तन बढ़ा और भाषा-प्रयोग का सामर्थ्य बढ़ा।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निबंध लिखना अनिवार्य कर दिया गया। यह क्रम भी अनेक महीनों तक चलता रहा। कई बार निबंध-प्रतियोगिताएँ भी की गईं। अशुद्धियाँ निकालने के लिए पहले तो हम एक दूसरे की कथाओं तथा निबंधों का निरीक्षण करते पर बाद में कई बार गोष्ठी के रूप में सब सम्मिलित बैठकर बारी-बारी से अपना निबंध पढ़कर सुनाते और एक दूसरे की अशुद्धियाँ निकालते। संस्कृत भाषा के अभ्यास में यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग में ही चालू हो चुका था। अनेक संतों ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तामर स्तोत्रों के विभिन्न पदों को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वयं आचार्यश्री ने कालूगणी की स्तुति-रूप में कल्याण मन्दिर की समस्या-पूर्ति की थी। हम लोगों के लिए आचार्यश्री ने इस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप में न होकर अन्य रूप में था। किसी काव्य आदि में से लेकर तथा नवीन बनाकर पूरा पद दिये जाते और एक निश्चित अवधि में उसकी पूर्ति करवाई जाती। शीतकाल में बाहर से भी मुनिजन आ जाते तब यह कार्यक्रम रखा जाता। फिर वे श्लोक सभा में सुनाये जाते। बड़ा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार संघ में भाषण, लेखन और कविता निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती थीं। अनेक बार ऐसे नियम बनाये जाते जिनमें यह प्रतिज्ञा रहती कि साधुओं के साथ बातचीत केवल संस्कृत में ही बोली जावे। उस समय का सारा वातावरण संस्कृतमय ही रहा करता था।

जयज्योति

सं २००५ के फाल्गुन में जय-ज्योति नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति में किया गया। इसमें संस्कृत और हिन्दी, दोनों ही भाषाओं के लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ समय तक 'प्रयास' नामक पत्र भी निकाला गया। वह प्राय नवीन विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से निकलता था।

एकाह्निक शतक

पडित रघुनन्दनजी शर्मा जब पहले-पहल आचार्यश्री कालूगणी के सम्पर्क में आये, तब उन्हें जैन-साधुओं का आचार-व्यवहार बतलाया गया था। जो कुछ उन्होंने वहाँ सुना, उसे घर जाकर कुछ ही घंटों में संस्कृत के सौ श्लोकों में आबद्ध कर दिया। उनकी वह कृति 'साधु-शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। हम लोगों के विचारों में वह शतक घूमने लगा। हम भी एक दिन में शतक बनाने की सोचने लगे। पांखें खुलते ही पक्षी उडने को आतुर हो जाता है, वही स्थिति हमारी कल्पनाओं की थी।

सं० २००० के फाल्गुन में आचार्य श्री भीनासर में थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री नगराजजी ने एकाह्निक शतक बनाये। मैं आचार्यश्री कालूगणी के दिवगत होने की मूलतिथि के दिन ही उनकी स्तुति में शतक बनाना चाहता था, अत भाद्रपद शुक्ला षष्ठी तक के लिए मुझे रुकना पडा। वह तिथि आई, तब मैंने भी एकाह्निक शतक बनाया। आचार्यश्री ने हम सबको पुरस्कृत किया। कालान्तर में और भी अनेक संतों ने शतक लिखे।

हमसे अगली पीढी के विद्यार्थियो ने उस कार्य को और भी बढ़ाया। मुनिश्री महेन्द्र-कुमारजी 'प्रथम' ने एक दिन में पचशती (पाच-सौ-श्लोक) की रचना की। कई वर्ष पश्चात् मुनि राकेशकुमारजी ने एक हजार श्लोक बनाये और मुनि गुलाबचन्दजी ने ग्यारह-सौ।

आशु कविता

आशुकविता का अर्थ होता है शीघ्रता से कविता करना। यह तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का सबधित भाषा पर पूर्ण अधिकार हो, कल्पना-शक्ति तीव्र हो और विषयानुसार शब्द-योजना का चातुर्य हो। किसी भी भाषा में आशुकविता कर पाना सहज नहीं होता, संस्कृत में तो वह और भी कठिन हो जाता है। तत्काल प्रदत्त विषय या समस्या पर उसी समय पद्य-बद्ध बोलने की क्षमता प्राप्त करने वाले को मानसिक एकाग्रता की बहुत बडी आवश्यकता होती है। उसके मस्तिष्क को एक साथ अनेक बातों पर ध्यान रखकर उन सबमें सामजस्य बिठाना पडता है। प्रतिपाद्य को क्रमश आगे बढाते जाना, तदनुकूल शब्दों का चयन करते जाना, छदों भग न होने देना और व्याकरण की दृष्टि से कोई अशुद्ध प्रयोग न होने देना आदि ऐसी अनेक गुत्थियाँ है, जिनको एक साथ ही सुलझाते हुए चलना पडता है। जो एक साथ इतना सब कुछ नहीं कर सकता, वह आशुकविता भी नहीं कर सकता।

सं० २ १ का मर्यादा-महोत्सव सुजानगढ़ में था। वहाँ मैंने (मुनि बुद्धमल्ल) अपने आशुकविता के अभ्यास को आचार्यश्री के चरणों में निवेदित किया। आशुकविता के क्षेत्र में यह सर्वप्रथम पदन्यास था। उसके पश्चात् सं० २ ४ के मार्गशीर्ष महीने में राजलदेसर में मुनिश्री नथमलजी और मैंने जनता के सम्मुख आशुकविता की। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी चतुर्थ आशुकवि हुए। उनके पश्चात् मुनि दुलीचन्दजी (सादुलपुर) मुनि मीठालालजी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' आदि अनेक संतों ने आशुकविता का अभ्यास किया। इस क्षेत्र में भी पंडित रघुनन्दनजी का आशुकवित्व ही प्रेरणा का मूल बना। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादों और प्रेरणाओं ने इस क्षेत्र में मुनिजनों को जो सफलता प्रदान की है वह विद्वत्-समाज में संघ के गौरव को बहुत ऊँचा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनों में यह विद्या दीर्घकाल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातों पुत्रियों की चामत्कारिक स्मरणशक्ति का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी शतावधानी थे। श्रीमद् रायचन्द भी अवधान विद्या में निपुण थे। इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों के नाम तो प्रायः बहुत समय से सुनते आये थे परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप सं० १९९६ बीदासर में देखने को मिला। गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसी शाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये। वे शतावधानी थे। उन्होंने आचार्यश्री के सामने अवधान प्रस्तुत किये। आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए। तेरापन्थ-संघ में भी इस विद्या का प्रवेश हो ऐसा उनके मन में संकल्प हुआ। कालान्तर में मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई में हुआ। वहीं धीरजलाल भाई ने उनको यह विद्या सिखाई। उन्होंने वहाँ विधिवत् सौ अवधानों का प्रयोग कर इस क्षेत्र में पहल की। आचार्यश्री का संकल्प मूर्त बन गया।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अवधान विद्या को मात्र विश्रुत ही नहीं परन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया। दिल्ली में किये गये उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे। पत्रों में उनकी बहुत चर्चाएँ हुईं। स्वयं राष्ट्रपति इस विषय में जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति भवन में वह प्रयोग करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति भवन की ओर से ही वह कार्यक्रम रखा गया था। राजधानी के अनेकानेक उच्चतम व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्, प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू आदि उसमें प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित थे। अवधानकार ने आसन जमाया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गये। निर्धारित प्रश्नों की समाप्ति के पश्चात् जब उन्होंने एक-से-एक क्लिष्ट उन सभी प्रश्नों को यथावत् दुहरा दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गये। एक अन्य समारोह में गृहमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने तो यहाँ तक

कहा था कि यह तो कोई दैवी चमत्कार ही हो सकता है। मुनिश्री नगराजजी ने उस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्हे बतलाया कि दैवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नही है। यह केवल साधना और एकाग्रता का ही चमत्कार है।

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगो और उस विषय में हुई हलचलो ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियो ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकरणजी ने पाँच-सौ, मुनि चम्पालालजी (सरदारशहर) और धर्मचन्दजी ने एक-हजार तथा मुनि श्रीचन्दजी ने डेढ-हजार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यश्री ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अकुरित हुए है, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अखण्ड स्रोत हैं। उन्होंने अपने शिष्य-वर्ग को सत्-प्रेरणाओं से अनुप्राणित कर सदैव आगे बढने का साहस प्रदान किया है। उन्होने न केवल अपना ही, अपितु सारे सघ का सर्वाङ्गीण विकास किया है। हतोत्साह को उत्साहित करने और निराश को आशान्वित करने का उन्हे अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

(५) अध्यापन कौशल

कार्य-भार और कार्य-वेग

अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वय के लिए स्वय को खपाना होता है, जबकि अध्यापन में पर के लिए अपने को खपाना होता है। अध्यापक को अपनी शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमें रबड जैसे सक्षेप-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। उसे अपने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर क्षण विद्यार्थियो की योग्यता के अनुसार घटा-बढाकर प्रस्तुत करना पडता है। ऐसी और भी अगणित कठिनाइयाँ इस मार्ग में रहा करती हैं। फिर भी किसी-किसी की उदात्त भावनाएँ इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती है। आचार्यश्री उन्ही उदात्त भावनाओ वाले व्यक्ति है। उनमें क्रिया-जन्य अध्यापन-कुशलता से कहीं अधिक वह सस्कार जन्य प्रतीत होती है। बहुत से लोग तो अध्यापक बनते है, पर वे अध्यापक है। बनने की बात तो तब आती हैं, जबकि होने की बात गौण रह जाती है।

वे तेरापन्थ के एक मात्र शास्ता है, अत न केवल अध्यापन का ही, अपितु सघ की व्यवस्था, सरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व भी उन्ही पर है। अपने अनुयायियो के धार्मिक सस्कारो का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ साथ वे जन-साधारण में आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्ही विचारों का मूर्तरूप है। जनता के नैतिक अधोगमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता

और भी बढ़ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ़ गया है अतः यह व्यस्तता उन्हें अस्त-व्यस्त नहीं कर पाती। उनके कार्य भार को उनका कार्य-वेग सम्भाले रहता है।

आत्मीयता का आकर्षण

वे अपने अनेक कार्यों का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन के लिए निकाल लेते हैं। इस कार्य को वे परोपकार की दृष्टि से नहीं किन्तु कर्तव्य की दृष्टि से करते आरहे हैं। जब वे स्वयं छात्र थे और निरंतर अध्ययन-रत रहा करते थे तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख रेख में अध्ययन किया करते थे। छात्रों पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नहीं मृदु होता था। वे अपने छात्रों को कभी विशेष उलाहना नहीं दिया करते थे। डाँट-डपट करने में तो उन्हें विश्वास ही नहीं था। फिर भी शैक्ष साधुओं को वे इतना नियन्त्रण में रख लेते थे कि कोई भी कार्य उनको बिना पूछे नहीं हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमें आत्मीयता की एक ऐसी आकर्षण-शक्ति थी कि उससे बाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनों वे अपने विद्यार्थी साधुओं के खान-पान सोने-बैठने से लेकर छोटे-से-छोटे कार्य को भी सुव्यवस्थित रखने की चिंता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नहीं किन्तु संरक्षक माता पिता तथा सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओं को कहीं इधर-उधर भटकने न देना परस्पर बातों में समय व्यय न करने देना एक-के-पश्चात् एक काम में उनका मन लगाये रखना अपनी संयत वृत्तियों के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को संयतता की ओर प्रेरित करते रहना इन सबको वे अध्यापन-कार्य का ही अंग मानते रहे हैं।

अपना ही काम है

अपने अध्ययन-कार्य में जैसी उनकी तत्परता थी वैसी ही शैक्ष साधुओं के अध्यापन-कार्य में भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरों को आदान की ओर दूसरों को अपना स्वत्व सौंपने की उनमें भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी उनको अपना मानते और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु समुदाय में विद्या का अधिक-से अधिक प्रचार हो यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलते रहे। मुनिश्री चम्पालालजी (उनके संसार पक्षीय बड़े भाई) कई बार उनको टोकते हुए कहते— तू दूसरों-ही-दूसरों पर इतना समय लगाता है अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?

इसके उत्तर में वे कहते—"दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है। उस समय के इस उदारता-पूर्ण उत्तर के प्रकाश में जब हम वर्तमान को देखते हैं तो लगता है कि वस्तुतः ही वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नींव उन्होंने डाली थी वही तो आज प्रतिबिम्बित होकर सामने आ रही है। समस्त संघ की सामूहिक प्रगति आज को व्यक्तिगत प्रगति बन गई है।

तुलसी डरै सो ऊबरै

जिन विद्यार्थियो को उनके सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनमें मे एक मैं भी हूँ। हम छात्रो में उनके प्रति जितना स्नेह था उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितना कोमल रहा करते थे, उतने ही कठोर भी। उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी बाल-कल्पनाओ का कोई अन्त नही था। एक बार मैं और मेरे सहपाठी मुनिश्री नथमलजी आचार्यश्री कालूगणी की सेवा में बैठे थे। उन्होने हमे एक दोहा कण्ठस्थ कराया

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी मे सार।
'तुलसी' डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार।

इसके तीसरे पद का अर्थ हमने अपनी बाल-सुलभ कल्पना के अनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रिया के प्रति भय रखना आवश्यक है, उतना ही 'तुलसी' से डरना भी आवश्यक है। उस समय हमारी कल्पना में यह 'तुलसी' नाम किसी कवि का नही, किन्तु अपने अध्यापक का ही नाम था, जिनसे कि हम डरा करते थे। हम समझे थे कि आचार्यदेव हमें बता रहे हैं, तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है।

उस समय तो यह तर्क नहीं उठ सका कि उनसे भय खाना क्यो ठीक है ? पर आज उसी स्थिति का स्मरण करते हुए जब उस बाल-सुलभ अर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तब मन कहता है कि वह अर्थ ठीक था। जिस विद्यार्थी में अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासनहीन बन जाता है। इसी तरह जिसमें स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धा-हीन बन जाता है। सफलता उन दोनों के सम्मिलन में है। हम लोगों में उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौहों का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनो नही समझते थे, उतना आज समझ रहे हैं।

उत्साह-दान

विद्यार्थियों का अध्ययन में उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-अवस्था में आचार्यश्री ने अनेकों में उत्साह जागृत किया तथा अनेको के उत्साह को बढाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूँगा। जब हमने 'अभिधान-चिन्तामणि कोश' (नाममाला) कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमको उबा दिया था। उन्होंने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भाप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घण्टा तक हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पड़ने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता में भी कमी लगने लगी। थोड़े दिनो

पश्चात् हम उसी कोश के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका था, अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड़ चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के वहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ यह सबसे अधिक बड़ा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति में यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्ययन-गत असुविधाओं को मिटाने में आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ ही छात्रों तक सीमित था, पर आज वह समूचे संघ में व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही, पर कर जानना उससे भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी अवस्था में बालक होता है, स्वभाव से चंचल तो प्रकृति से स्वच्छन्द। अन्य अन्य जीवन-व्यवहारों के समान अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो बात सीखने से आती है उसमें बहुधा स्खलनाएं भी होती हैं। स्खलनाओं को असह्य मानने वाले अध्यापक छात्रों में अनुशासन के प्रति श्रद्धा नहीं, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र में उत्पन्न न हो पाए, तब तक अनुशासक को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूतियुक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसीलिए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास अनेक छात्र पढ़ा करते थे, किन्तु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियों को कब कहना और कब सहना, उसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

एक शिकायत : एक कथा

मैं (मुनि बुद्धमल्ल) और मुनिश्री नथमलजी छात्र अवस्था के ही थे। आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूज्य कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। आचार्यदेव सोने की तैयारी में थे। हम दोनों ने पास में जाकर वंदन किया तो आचार्यदेव ने पूछा—"दोनों किसलिए आये हो?"

हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बटोरकर कहा—"तुलसीरामजी स्वामी हम पर बहुत कड़ाई करते हैं। हमें परस्पर बात भी नहीं करने देते।"

आचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—"क्या वह तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या और किसी कारण से?"

हमने कहा—"करते तो पढ़ाई के लिए ही हैं।"

आचार्यदेव बोले—"तब फिर क्या शिकायत करने आये हो? इसमें तो वह जितना करे उतना ही थोड़ा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी।"

हम दोनों ही अवाक् थे। आचार्यदेव ने एक कहानी सुनाई कि राजा का पुत्र गुरुकुल में पढा करता था। पढाई समाप्त होने पर आचार्य उसे राज-सभा में ले जा रहे थे। बाजार में एक दूकान से उन्होंने गेहूँ खरीदे और पोटली बांधकर राजकुमार को उठाने के लिए कहा। वह अस्वीकार तो नहीं कर सका, पर मन-ही-मन बहुत खिन्न हुआ। मार्ग में थोडी दूर जाकर पोटली उतरवा दी गई। वे राज-सभा में पहुचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषयो में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक से पूछा—"राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा ?"

अध्यापक—"बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।"

राजकुमार से पूछा—"आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?"

राजकुमार—"इतने वर्ष तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज का व्यवहार उससे भिन्न था।"

राजा—"कैसे ?"

राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई। राजा भी उसे सुनकर बहुत खिन्न हुआ। आचार्य से कारण पूछा तो उत्तर मिला कि वह भी एक पाठ ही था। उसकी आवश्यकता अन्य छात्रों को उतनी नहीं थी, जितनी कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बतला देना चाहता था कि भार उठाने में कितना कष्ट होता है। इस बात को जान लेने पर यह अत्यन्त गरीबी में रहने वाले और परिश्रम से पेट भरने वाले अभावग्रस्तो के श्रम का मूल्य आक सकेगा और किसी पर अन्याय नहीं कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—"अध्यापक तो राजकुमार से भी पोटली उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है ? उसने तो तुम्हें केवल बात करने से ही रोका है। जाओ, पढ़ा करो और वह कहे वैसे ही किया करो।"

हम आशा लेकर गये थे और निराशा लेकर चले आये। दूसरे दिन पढने के लिए गए तो वह भय सता रहा था कि हमारी बात का पता लग गया तो क्या होगा ? हम कई दिनों तक कतराते-कतराते से रहे, पर उन्होंने यह कभी मालूम तक नहीं होने दिया कि शिकायत करने की बात का उन्हें पता है।

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कही अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यो को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रो पर पडने वाले रौब से कहीं अधिक, उसके द्वारा अपने आप पर किये जाने वाले सयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

छूट पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि संघ-संचालन और आन्दोलन प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होता ही नहीं उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड़ देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव शिक्षार्थियों को शब्द-रूप और धातु-रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न मुद्रा में दिखे जाते हैं उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी देखे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी यह प्रसन्नता ग्रंथ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नहीं होती अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं। वे अपने नित्य-प्रति आवश्यक कार्यों में इसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। संघ के उत्थान-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्च कोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कंठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भांति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गांधीजी से कहा—"बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं?"

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—"मैं सर्वोदय कर रहा हूँ।"

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। शिक्षा को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहीं मैं ही गलत न होऊं?

हिन्दी की तृतीय भाषा वहाँ व्याकरण के दृष्टिकोण से तो हिन्दी दोनों भाषाओं से छोटी थी पर व्यवहार के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के

आगमन का प्रवाह प्राय निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानो पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनो दिन का प्राय समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे, दिन मे समय न मिला तो पश्चिम-रात्रि मे ही सही। 'शातसुधारस' का अर्थ छात्रो को बताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दो की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेपण भी चलता रहता।

एक बार आचार्यश्री ने 'शान्तसुधारस' में प्रयुक्त किसी समास के विषय में छात्रो से पूछा। उन्हें नहीं आया, तब उनसे अग्रिम श्रेणी वालो को बुलाया और उसी समास के विषय में पूछा। उन्हें भी नही आया, तब आचार्यश्री ने हम लोगो (मुनि नथमलजी, मुनि नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) को बुलाया। हमने कुछ निवेदन किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान से वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नहीं था। पर वे बोले— "तो कहीं मैं ही गलत न होऊ ?" अपनी धारणा वाला सूत्र बतलाते हुए उन्होने कहा—"क्या यह समास इस सूत्र से सिद्ध होने वाला नही है ?" हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान में आ गई और हम बोल पडे—"सचमुच में यही सूत्र समास करने वाला है।"

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्खलित है, परन्तु वे उसका कभी अभिमान नही करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते हैं। कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है, वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नही होती और जहाँ शोधन की तत्परता नहीं होती, बहुधा वहीं उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

उदार व्यवहार

शिष्यों की विकासोन्मुखता में आचार्यश्री असीम उदारता बरतते है। विकास के जो क्षितिज सघ के साधु-साध्वियों के लिए खुल नही पाये थे, उनको खोलने और सर्व-सुलभ बनाने की प्रक्रिया से उन्होंने विकास में एक नया अध्याय जोडा है। शिष्यों के विकास को वे अपना विकास मानते है और उनकी श्लाघा को अपनी श्लाघा। अपनी प्रवृत्तियों से तो उन्होने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओं में भी इस भावना का अकन किया है। 'कालू-यशोविलास' में वे एक जगह कहते हैं

बढे शिष्य नी साहिबी, जिम हिम रितु नी रात।
तिम तिम ही गुरु नी हुवै, विश्वव्यापिनी ख्यात॥

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्य-वर्ग को जहाँ आगे बढने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदारता का परिचय भी देता है। **'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'** अर्थात् पुत्र को अपने से बढकर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्तरूप कहे जा सकते है।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का शिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था अतः अनेक साधु उनके जीवन-काल में ही निपुण बन चुके थे, लेकिन साध्वी-समुदाय में ऐसी स्थिति नहीं थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नहीं थी कि उस पर साध्वियों की शिक्षा का भार छोड़ा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वयं अधिक समय नहीं दे पाते थे फिर भी उन्होंने शिक्षा का बीज-वपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप में चुना तब संघ विकास के जिन कार्यक्रमों का आपको निर्देश किया उनमें साध्वी शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान में रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझनें भी बहुत होती हैं परन्तु आप उन सबको सुलझाने के साथ ही अध्यापन-कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ में कुछ साध्वियों को संस्कृत-व्याकरण 'कालकौमुदी' पढ़ाकर इस कार्य का प्रारम्भ किया गया और क्रमशः अनेक विषयों के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। सं० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया। इसमें अनेक कठिनाइयाँ थीं। अध्ययन निरन्तरता चाहता है पर यह अन्य कार्यों के बाहुल्य से अन्तरित होता रहा। जब-जब आचार्यश्री अन्य कार्यों में अधिक व्यस्त होते तब-तब अध्ययन को स्थगित करना पड़ता। फिर भी निरन्तरता की ओर विशेष सावधानी बरती गई और कार्य चलता रहा। उसी का यह फल है कि साधुओं के समान ही साध्वियाँ भी आज दर्शन शास्त्र तक का अध्ययन करने में लगी हुई हैं।

अध्यापन की एक समस्या

साध्वी-समाज में अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर आचार्यश्री ने जहाँ उनके मानस को जागरूक बना दिया है वहाँ अध्यापन विषयक एक समस्या भी खड़ी कर दी है। आचार्यश्री के साथ साथ विहार करने वाली साध्वियों को तो अध्ययन का सुयोग मिल जाता है परन्तु वे संख्या में बहुत थोड़ी होती हैं। अधिकांश साध्वियाँ पृथक् विहार करती हैं उनको अध्ययन सिखाने को शीघ्र करने की समस्या आज भी विचारणीय ही है।

साध्वियों को विदुषी बनाने का काम बड़ा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय में आचार्यश्री बराबर चिन्तन करते रहे हैं। तेरापन्थ द्विशताब्दी के अवसर पर उन्होंने यह घोषणा भी की है कि हर प्रतिभाशाली को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा परन्तु उस योजना को कार्यरूप में परिणत करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही कहा जा सकता है। साधुओं के अध्ययन की व्यवस्था तो पर्याप्त ही की जा सकती है पर साध्वियों के लिए वैसा कर सकना सम्भव नहीं है। किसी विदुषी साध्वी को देख रख ही इसलिए कोई विशेष अध्ययन करने का विचार तक परिस्थितिवश मन में लाया जाता है परन्तु अभी इस समस्या

का कोई स्थायी समाधान नही निकल पाया है। जो सीखना चाहता है, उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते हैं। इसीलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य में यह समस्या सुलझने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षो के अध्यापन-कार्य ने अध्ययन-विषयक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता अनुभव कराई। व्यवस्थित क्रमिकता के अभाव में साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियों का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण उस समय उपस्थित थे। सम्पूर्ण चद्रिका अथवा कालूकौमुदी कठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियो का कोई विकास नही हो पाया था। इसकी जड में एक कारण यह था कि उस समय प्राय सस्कृत इसलिए पढी जाती थी कि उससे आगमो की टीकाओ का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वय टीका बनाने का सामर्थ्य तथा बोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य सामने नहीं था। इसीलिए व्याकरण कठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही बल दिया जाता था। उसके व्यावहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता था। उस समय तक सस्कृत समझ लेना ही अध्ययन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना में परिवर्तन आया और कुछ छुट-पुट रचनाएँ होने लगी, पर यह सब अध्ययन के बाद की प्रक्रियाएँ थीं। अध्ययन-क्रम क्या हो, यह निर्धारण बहुत बाद में हुआ।

आचार्यश्री ने साध्वी-समाज को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया, तब उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक बार आचार्यश्री कोई पत्रिका देख रहे थे। उसमें किसी सस्था-विशेष का पाठ्यक्रम छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील बुद्धि ने तत्काल उस बात को पकडा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-परिणति में लम्बी दूरी नही होती। आगम कहते है कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तिया साथ ही गिनी जाती है। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य माना जाय तो कोई अत्युक्ति नही मानी जायेगी। वे सोचते है, बतलाते हैं और कर डालते हैं। उनके कार्य की प्रायः यही प्रक्रिया रही है। पाठ्यक्रम के निर्धारण का विचार उठा, शिष्यो में चर्चा की गई, रूपरेखा बनाई गई और उसे लागू कर दिया गया। यह स० २००५ के आश्विन की बात है। अगले वर्ष स० २००६ के माघ में लगभग तीस व्यक्तियो ने परीक्षाए दीं।

इस पाठ्यक्रम ने शिक्षा को बहुमुखी बनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारो के बहुमुखी विकास का मार्ग खोला। विचारों का विकास ही जीवन का विकास होता है। जहाँ उसके लिए मार्ग अवरुद्ध होता है, वहाँ जीवन-विकास की कल्पना ही नहीं की जा

सकती। तेरापन्थ के शिक्षा क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन करने वाली इस पाठ्य प्रणाली का नाम दिया गया—'आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम'।

इस शिक्षा क्रम के निर्धारण में उन विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखा गया जो कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा पाने की ओर उन्मुख हों। इसके तीन विभाग हैं—योग्य योग्यतर और योग्यतम। संघ में इस शिक्षाक्रम का सफलतापूर्वक प्रयोग चालू है। अनेक साधु-साध्वियों ने इस क्रम से परीक्षा देकर इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर दिया।

एक दूसरी पाठ्य प्रणाली 'सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम' के नाम से निर्धारित की गई। इसकी आवश्यकता उन व्यक्तियों के लिए थी जो अनेक विषयों में निष्णात बनने की क्षमता नहीं रखते हों वे आगम-ज्ञान में अपनी पूरी शक्ति लगाकर कम-से-कम उस एक विषय में पारंगत हो सकें। इन शिक्षा-क्रमों में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं और सम्भवतः आगे भी होते रहेंगे। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है परन्तु यह निश्चित है कि हर परिवर्तन पिछले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बन सके यह ध्यान रखा जाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने संघ में विद्या विषयक जो कल्पना की थी उसे मूर्त रूप देने का अवसर आचार्यश्री तुलसी को मिला। उन्होंने उस कार्य को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापन्थ युग भावना को समझ सकता है और आवश्यकता होने पर उसे नया मोड़ देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप में आचार्यश्री के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नहीं है।

(६) महान् साहित्य-स्रष्टा

अतुलनीय विशेषता

आचार्यश्री जहाँ एक सफल आध्यात्मिक नेता कुशल संघ-संचालक तथा अनुभवी अध्यापक हैं वहाँ महान् साहित्य स्रष्टा भी हैं। साहित्य-सर्जन की उनकी प्रक्रिया में एक अतुलनीय विलक्षणता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकांत तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-संकुल और कोलाहलपूर्ण वातावरण में बैठकर भी एकाग्र हो जाते हैं और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवतः उनको इसलिए बना लेना पड़ा है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नहीं छोड़ती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमें बाधक होती रही है। इतने पर भी साहित्य-स्रोतस्विनी अपनी अव्याहत गति से बहती ही रहती है।

विविधाङ्गी साहित्य

उनका साहित्य गद्य और पद्य दोनों ही रूपों में है। भाषा की दृष्टि से वे राजस्थानी हिन्दी तथा संस्कृत में लिखते हैं। राजस्थानी तो उनकी मातृ भाषा है ही किन्तु हिन्दी और

सस्कृत को भी उन्होंने मातृभाषावत् ही वना लिया है। विपय की दृष्टि से उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि अगो में विभक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके धर्म-सन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनों के सग्रह भी स्वतन्त्र कृतियों के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

अध्यात्म-प्रेरक

अध्यात्म आचार्यश्री की जीवन-शक्ति है, इसलिए उनका साहित्य भी अध्यात्म से अनुप्राणित है। उनकी भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाएँ जन-मानस को रसाप्लुत कर देने वाली होती है। जव उन गीतिकाओ को वे स्वय गाते हैं, तव जनता मे एक अतिरिक्त आत्म-विभोरता उत्पन्न हो जाया करती है। उनके द्वारा रचित विभिन्न पद्यात्मक आख्यान तथा प्रवन्ध काव्य भी जनता के लिए अध्यात्म-प्रेरणा के स्रोत होते है।

वास्तविकता तो यह है कि वे जो कुछ लिखते है केवल वही साहित्य नही होता, वे जो कुछ वोलते है, वह भी ऋषिवाणी के रूप में स्वय-सिद्ध साहित्य वन जाता है। यही कारण है कि उनके दैनदिन प्रवचनों को अनेक व्यक्तियो ने विभिन्न रूप में सकलित किया है और वह सव साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग वन गया है।

आचार्य-चरितावलि

आचार्यश्री ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के जीवन-चरित्र लिखकर तेरापन्थ के इतिहास को एक महत्त्वपूर्ण देन दी है। तेरापन्थ के प्रथम पाँच आचार्यों के जीवन-चरित्र पूर्वाचार्यों द्वारा पद्यवद्ध किये जा चुके थे, परन्तु उसके पश्चात् तीन आचार्यों के जीवन-चरित्र अवशिष्ट थे। वे सम्भवत आचार्यश्री की कुशल लेखनी की प्रतीक्षा में थे। आचार्यश्री ने उस कार्य को हाथ में लिया और अत्यन्त व्यस्तता में भी उसे सम्पन्न किया। फलस्वरूप माणक महिमा, डालिम-चरित्र और कालूयशोविलास नामक ग्रन्थों ने तेरापन्थ के पूर्वाचार्यों की चरितावलि की विच्छिन्न कडी को जोडा और उसे परिपूर्णता का रूप प्रदान किया।

प्रवेश-द्वार

एक अनुभवी अध्यापक होने के कारण उन्होंने संस्कृत के माध्यम से जैन तत्त्व तथा दर्शन का अध्ययन करने वाले छात्रों का मार्ग सुगम वनाने का काफी सफल प्रयास किया है। उनके विभिन्न सस्कृत-ग्रन्थों में से 'जैन-सिद्धान्त-दीपिका' तथा 'भिक्षु-न्याय कर्णिका' उसके लिए विशेप उल्लेखनीय है। ये ग्रन्थ अपने-अपने विषय में विद्यार्थियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करते हैं।

असमाप्य प्रवाह

आचार्यश्री के साहित्य का प्रवाह अनवरत क्रम से प्रवहमान है। एक के पश्चात् एक रचनाएँ सामने आती जा रही हैं। उनमें भाषाओं की विभिन्नता है विषयों की भी विभिन्नता है किन्तु वे सब मेरे वाणी-मन्दिर में चढ़े हुए विभिन्न रंग तथा रूप के पुष्पों के सदृश हैं। उनकी साहित्यिक कृतियों आज के लिए तो असमाप्य ही कही जा सकती हैं क्योंकि जिस त्वरा से वे चल रहे हैं उसमें उनकी इयत्ता स्थापित नहीं की जा सकती। उसकी अपेक्षा भी नहीं है। उनके साहित्य का असमाप्य प्रवाह अव्याहत चलता रहे—यही काम्य है।

: ५ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की माग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियो में हुआ, उन सबके अनुशीलन पर ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक माग थी। वह ऐसा समय था, जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् क्षत-विक्षत मानवता के घावो से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था, अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम प्राय यही हुआ करता है। भारत महायुद्ध के अभिशापों से मुक्त होता, उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय सघर्षों ने उसे आ दबोचा। भीषण क्रूरता के साथ चारो ओर विनाश-लीला का अट्टहास सुनाई देने लगा। उसमें जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओ का बहुत भयकरता से पतन हुआ। ज्यों-त्यो करके जब वह वातावरण शान्त हुआ, तब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयो का हल खोजने में जुटने लगे। देश के कर्णधारो ने आर्थिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाएँ बनायी और देश को समृद्ध बनाने का सकल्प किया। कार्य चालू हुआ और देश अपनी मजिल की ओर बढने लगा।

उस समय देश में अध्यात्म-भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलत समस्या थी, उस ओर प्राय न किसी जन-नेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यश्री तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने उस कमी को महसूस किया और उस ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया।

आत्मा की भूख

नि श्रेयस् को भूलकर केवल अभ्युदय में लग जाना कभी खतरे से खाली नही होता। उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है, साथ ही अस्वाभाविक भी। मनुष्य जड नहीं है, अत भौतिक उन्नति उसकी स्वय की उन्नति कैसे हो सकती है? मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्मगुणों की अभिवृद्धि से ही सम्भव है। आत्म-गुण, अर्थात् आत्मा के सहज भाव। आगम-भाषा में जिन्हें सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है।

मनुष्य शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है। न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा। उसके शरीर को भी भूख लगती है और आत्मा को भी। अभ्युदय शारीरिक भूख को परितृप्ति देता है और नि श्रेयस् आत्मिक भूख को। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तब तो

किसी भी प्रकार से नहीं मिल सकता। वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। देश में उस समय जो योजनाएँ बनीं वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थीं। आत्म-परितृप्ति के लिए उनमें कोई स्थान नहीं था।

उपेक्षित क्षेत्र में

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र में काम किया। अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने जनता को आत्मतृप्ति देने का मार्ग चुना। देश के कर्णधारों का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट करने में वे सफल हुए। उनकी योजनाओं कार्यक्रमों और विचारों का कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष प्रायः सर्वत्र प्रभाव हुआ ही है। आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान के घोष को प्रबल करने में आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियों का स्वर भी समवेत हुआ है जो इस क्षेत्र में अपना चिन्तन रखते हैं।

देश की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में जहाँ नैतिकता या सदाचार सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं की गई वहाँ तृतीय योजना उससे बिल्कुल रिक्त नहीं कही जा सकती। यह देश के कर्णधारों के बदले हुए विचारों का ही तो परिणाम है। इन विचारों को बदलने में अन्य अनेक कारण हो सकते हैं पर उसमें कुछ न कुछ भाग अणुव्रत-आन्दोलन तथा उसके द्वारा देश में उत्पन्न किए वातावरण का भी कहा जा सकता है।

अपेक्षाकृत पहले

आचार्यश्री ने जनता की इस भूख को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा पहले अनुभव किया इसलिए वे किसी की प्रतीक्षा किए बिना इस कार्य में जुट गए। अन्य जन अब अनुभव करने लगे हैं तो उन्हें अब इस ओर त्वरता से आगे आना चाहिए। पंडित नेहरू के विचार भी इन दिनों में बहुत परिवर्तित हो गए हैं। वे अब मनुष्य की इस अद्वितीय भूख को पहचानने लगे हैं। 'ब्लिट्ज' के सम्पादक श्री आर० के० करंजिया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने में यह परिवर्तन स्वीकार भी किया है।

करंजिया ने पूछा— 'आपके कुछ वक्तव्यों में यह चर्चा है कि देश की समस्याओं के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की भी सहायता लेनी चाहिए। क्या हम समझें कि जीवन के सांध्य में नेहरू बदल गया है ?

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा— 'इस बात को यदि आप प्रश्न के रूप में रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' में ही उत्तर दूँगा। मैं वस्तुतः बदल गया हूँ। मेरे वक्तव्यों में नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की चर्चा अनर्गल या केवल औपचारिक नहीं होती। बहुत सोच विचार कर ही मैं उन पर बल देता हूँ। बहुत चिंतन के पश्चात् मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आज

के मानव की आत्मा अशात और भूखी है। यदि भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूखी रहेगी तो ससार का समस्त भौतिक वैभव भी उस भूख को नही मिटा सकेगा।"[1]

आन्दोलन का उत्स

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ एक वहुत ही साधारण-सी घटना से हुआ। वडी-से-वडी नदी का भी उत्स प्राय साधारण ही होता है। स० २००५ मे आचार्यश्री ने अपना वर्षा-कालीन प्रवास छापर मे किया। एक दिन वहाँ उनके पास वैठे हुए कुछ व्यक्ति नैतिकता के विषय में परस्पर वात करने लगे। उनमे से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए वडा जोर देकर कहा कि इस युग में नैतिकता कोई रख ही नही सकता। यद्यपि आचार्यश्री उस वातचीत में भाग नहीं ले रहे थे, किन्तु उस भाई के इन शव्दो ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया। वे उस समय कुछ भी नही वोले, किन्तु उनके मन मे एक उथल-पुथल अवश्य मच गई।

नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से आचार्यश्री को एक प्रेरणा मिली। वे वहाँ से उठकर प्रभात-कालीन प्रवचन करने के लिए सभा में गये। जो वात उनके मस्तिष्क में घूम रही थी, वही प्रवचन में शत-शत धारा वनकर फूट पडी। उन्होने नैतिकता को पुष्ट करते हुए मेघ-मन्द्र स्वर में पच्चीस ऐसे व्यक्तियो की माग की, जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सकें और हर सम्भावित खतरे को झेल सकें। उस माग के साथ ही वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने आत्म-वल को तोलने लगे। मनो-मथन का वह एक अद्भुत दृश्य था।

सहसा सभा में से कुछ व्यक्ति खडे हुए और उन्होने अपने नाम प्रस्तुत किये। वातावरण उल्लास से भर गया। एक-एक कर पच्चीस नाम आचार्यश्री के पास आ गये। सभा-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगो के मन में गूजती रही। राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे से कस्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल वन गया। उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुव्रत-आन्दोलन की नीव के लिए प्रथम ईंट वन गई।

1—Is not that unlike the Jawaharlal of yesterday, Mr Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions? What you say raised visions of Mr Nehru in search of God in the evening of his life?

Ans —If you put it that way, my answer is 'yes, I have changed The emphasis on ethical and spiritual solutions is not unconscious It is deliberate, quite deliberate There are good reasons for it First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in term of moral and spiritual development, without which all the material advance may not be worth while.

—The Mind of Mr Nehrus p 31

रूपरेखा

उस समय यह कल्पना भी नहीं की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा। प्रारम्भ में केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क में आते हैं उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न मान उसे जीवन-शोधक के रूप में स्वीकार करें।

जिन व्यक्तियों ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे उनके लिए नियम-संहिता बनाने के लिए सोचा गया। उसके स्वरूप निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएँ चलने लगीं। आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा। उन्होंने व्रतों की रूपरेखा बनाई और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। राजलदेसर में मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श-श्रावक-संघ' के रूप में यह योजना जनता के सम्मुख रखी गई।

चिंतन फिर आगे बढ़ा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग में ही नहीं है यह तो हर धर्म के व्यक्तियों में समायी हुई है। क्यों न इस योजना के रूप को विस्तृत कर सबके लिए एक सामान्य नियम-संहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर उस चिंतन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और सं० २००५ में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) में आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय में अनेक प्रयोग करते थे परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था। उनकी 'नव-सूत्री[1] योजना' और 'तेरह-सूत्री योजना'[2] के द्वारा लगभग तीस हजार व्यक्तियों को नैतिक उद्बोधन मिल चुका था। उन व्यक्तियों ने उन योजनाओं के व्रतों को स्वीकार कर अणुव्रत-आन्दोलन के लिए एक सुदृढ़ भूमिका तैयार कर दी थी।

१—(१) आत्म-हत्या करने का त्याग (२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग (३) मांस और अंडा खाने का त्याग (४) बड़ी चोरी करने का त्याग (५) जूआ खेलने का त्याग (६) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग (७) झूठा मामला और असत्य की साक्षी का त्याग (८) मिलावट का व नकली को असली बताकर बेचने का त्याग (९) तौल-माप में कमी-बेशी करने का त्याग।

२—(१) निरपराध चलते फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना (२) आत्म-हत्या न करना (३) मद्य न पीना (४) मांस न खाना (५) चोरी न करना (६) जूआ न खेलना (७) झूठी साक्षी न देना (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना (९) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन न करना (१०) वेश्या-गमन न करना (११) धूम-पान व नशा न करना (१२) रात्रि-भोजन न करना (१३) साधु के निमित्त भोजन न बनाना।

नामकरण

प्रारम्भ में अणुव्रत-आन्दोलन का नाम 'अणुव्रती-सघ' रखा गया था। 'अणुव्रत' शब्द जैन परम्परा से लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब सकल्प का रूप ग्रहण करता है, तब वह व्रत कहलाता है। वह अपनी पूर्णता की सीमा में महाव्रत कहलाता है और अपूर्णता की स्थिति में अणुव्रत। एक सयम की उच्चतम स्थिति है, तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण सयम में रहना कठिन साधना है, तो पूर्ण असयम मे रहना सर्वथा अहितकर। दोनो अतियो के मध्य का मार्ग है—अणुव्रत। अणुव्रत-नियमों का पालन करने वाले व्यक्तियो के सगठन का नाम रखा गया—'अणुव्रती-सघ'।

जनता ने इस आन्दोलन का अच्छा स्वागत किया। हजारो व्यक्ति अणुव्रती बने, लाखों ने उसका समर्थन किया और उसकी आवाज तो करोडो तक पहुँची। बम्बई में हुए पचम अधिवेशन तक अणुव्रतियों के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमश बढती हुई सख्या की सुव्यवस्था रखने में शक्ति लगाने का विचार छोड दिया गया। सख्या का लोभ पहले भी नही रखा गया था, केवल भावना-प्रसार के रूप में ही जनता उसमें भाग ले, यही अभीष्ट माना गया। वहाँ अनेक नियमो में परिवर्त्तन किया गया। नाम के विषय में भी सुझाव आया कि 'सघ' शब्द सीमा को सकुचित करता है, जबकि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था, अत मान लिया गया। तभी से इसका नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

व्रतो का स्वरूप निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन बहुलाश में राजस्थान के सम्पर्क में ही रहे थे। नियमावली बनाते समय वही के गुण-दोष स्पष्ट रूप से सामने आ सके, अत वहाँ की जीवन-यापन पद्धति को आधार मानकर ही व्रतों का स्वरूप-निर्धारण किया गया। पहले-पहल व्रतों की सख्या चौरासी थी। आन्दोलन की ज्यो-ज्यो व्यापकता होती गई, त्यो-त्यो देश तथा विदेश के व्यक्तियो की प्रतिक्रियाए सामने आने लगी।

सुप्रसिद्ध विचारक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने आन्दोलन के प्रयास को प्रशसनीय बताते हुए कुछ बातो की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हें लगा कि अन्य व्रत तो असाम्प्रदायिक हैं, परन्तु अहिंसा-व्रत पर पथ की पूरी छाप है। उन्होंने उदाहरण के रूप में मासाहार और रेशमी-वस्त्रो के विपय में लिखा है कि जैनो और वैष्णवो की एक छोटी-सी सख्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अधिकाश व्यक्ति मासाहार के नियम निभाने की स्थिति में नहीं होते। इसी प्रकार रेशम के लिए व्रत बना, तो मोती के लिए क्यों नही बना? रेशम के समान उनमें भी छोटे जीवो की हिंसा होती है।[1]

१—हरिजन सेवक, २० मार्च, १६५०

इस पर चिंतन चला तो यह निष्कर्ष सामने आया कि मांसाहार यद्यपि मानव-जाति में बहुत व्यापक रूप से प्रचलित है फिर भी यह विषय पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। जैनों और वैष्णवों ने इसका बहुत समय पूर्व से बहिष्कार कर रखा है परन्तु आज यह केवल धार्मिक प्रश्न ही नहीं रह गया है। उसमें बहुत सारे वैज्ञानिक तथ्य भी हैं। शरीर-शास्त्रियों की मान्यता भी यही बनती जा रही है कि मांस मनुष्य के लिए खाद्य नहीं है। शाकाहार का समर्थन करने वाले व्यक्ति आज प्रायः हर देश में मिल जाते हैं अतः इसमें किसी पंथ के दृष्टिकोण को महत्त्व देने या न देने का प्रश्न नहीं है। आचार्यश्री का चिंतन रहा है कि निरामिषता का क्रमिक विकास होना चाहिए। साथ ही आमिषभोजियों को अणुव्रत में स्थान न हो यह भी अभीष्ट नहीं माना गया अतः प्रवेशक-अणुव्रती के व्रतों में यह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियों के व्रतों में रख दिया गया। इससे उनकी साधना को क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

मोती में यद्यपि रेशम के समान ही हिंसा सन्निहित है फिर भी उसका उपयोग रेशम के समान व्याप्त नहीं है। स्वल्प वर्गों से संबद्ध होने के कारण फिलहाल एतद्विषयक नियम को आगे के चिन्तन पर छोड़ दिया गया।

सत्य—अणुव्रत के विषय में आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है, अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नहीं बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि स्वरूप की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना में जब तक पूर्णता का समावेश नहीं हो जाता तब तक न अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं। जहाँ हिंसा है वहाँ सत्य नहीं हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखंडता को मान्य करते हुए भी आचार पालनता के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खंड भी आवश्यक माने गए हैं।

जापान के कुछ व्यक्तियों की प्रतिक्रिया थी कि इनमें से कुछ नियमों को छोड़कर शेष नियमों का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नहीं। वे सब भारतीय जीवन को दृष्टि में रख कर ही बनाए गए प्रतीत होते हैं। उन लोगों की यह बात कुछ अंशों में ठीक ही थी क्योंकि स्थानीय परिस्थितियों का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीप्सित नहीं रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों के प्रकाश में नियमावली को फिर से संशोधित करने का निश्चय किया गया। उस बार के संशोधनों में यह बात मुख्यता से ध्यान में रखी गई कि असंयम की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती हैं उपभेदों में भले ही अन्तर आता रहे। इसीलिए वह नियमावली मूल प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए ही बनाई गई। शेष नियम देश कालानुसार स्वयं निर्धारित करने के लिए छोड़ दिए गए। इस क्रम से नियमों की संख्या पचहत्तर से केवल बयालीस रह गई।

तीन श्रेणियाँ

प्रथम रूप-रेखा में अणुव्रतियो की कोई श्रेणी नही थी। सशोधन के फलस्वरूप उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गई —(१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियाँ किसी पद की प्रतीक नही है, अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति-सूचक सीढियाँ है। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियम अथवा वर्गीय नियम है। अणुव्रती के लिए चमालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए उन चमालीस नियमो के साथ-साथ छ नियम और है। इस प्रकार व्रतो के स्वरूप और श्रेणियो का जो निर्णय किया गया है, वह कई परिवर्तनो के वाद की स्थिति है।

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारभ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विशुद्ध रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सव धर्मों की समान भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ मे लोगो को यह विश्वास नही हो पा रहा था कि सम्प्रदाय विशेप का एक आचार्य इतना उदार वनकर मव धर्मो की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई आन्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न वार-वार आचार्यश्री के सामने आता रहता था कि अणुव्रती वनने पर क्या हमें आपको धर्म-गुरु मानना होगा। दिल्ली में एक भाई ने यही प्रश्न सभा में खडे होकर पूछा था।

आचार्यश्री ने कहा—"यह कोई आवश्यक नही है। आपके लिए केवल आन्दोलन के व्रतो का पालन करना ही आवश्यक है। कौन से धर्म को मानते हैं, किसको धर्म गुरु मानते हैं, अथवा किसी धर्म को मानते भी हैं या नही—इन सव वातो में अपने विचार और प्रवृत्ति को यथारुचि रखने में आप स्वतत्र हैं। आन्दोलन उसमें वाधक नही बनता।"

जनता ज्यों-ज्यों सम्पर्क में आती गई, त्यो-त्यो साम्प्रदायिकता का भय अपने-आप दूर होता गया। धीरे-धीरे उसमें सभी तबको के मनुष्य सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिख, मुसलमान, और ईसाई आदि सभी धर्मो को इसमें अपने ही सिद्धान्त प्रतिबिम्बित हुए लगने लगे।

सर्वदलीय

आचार्यश्री ने इस आन्दोलन में राजनैतिक-सम्प्रदायों का भी समन्वय किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक-पार्टी की कठपुतली नहीं बना देना चाहते। समय-समय पर प्राय अनेक राजनैतिक दलों के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमों में सम्मिलित होते रहे हैं। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न रहते हों, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की आवश्यकता तो वे सब समान रूप से ही समझते हैं।

सन् १९५६ में चुनावो की तैयारियाँ हो रही थी, तब आचार्यश्री भी दिल्ली में ही थे। आम चुनावों में अनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियों का समावेश न हो, इस लक्ष्य से आचार्यश्री

के सान्निध्य में एक सभा का आयोजन किया गया। उसमें भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री उ० न० ढेबर, साम्यवादी नेता श्री ए० के० गोपालन तथा समाजवादी नेता श्री जी० म० इस्लामी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए। सभी ने आन्दोलन के व्रतों को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया। इस भूमिका में आंदोलन को निर्दलीय अथवा सर्वदलीय कहा जा सकता है।

सहयोगी भाव

असम्प्रदाय भावना ने अणुव्रत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का जो सर्व साधारण में अभ्याहत रूप से फैल चुकी हो सामना करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खड़े होते हैं तो उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने में एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियों का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियों से श्रेष्ठ अवश्य होता है पर जीवन-व्यवहार में टिक तभी सकता है जबकि अनेक अच्छे व्यक्ति उसकी जीवन-यापन-पद्धति के पोषक तथा सहायक हों।

आचार्यश्री सभी दलों तथा व्यक्तियों का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते हैं कि उससे *धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियों* को एक एकता प्रदान की जा सके और उससे अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते हैं तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दस सम्मिलित होकर काम क्यों नहीं कर सकते? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा— मैं सर्वोदय कार्यकर्ताओं के सम्मुख चर्चा करूँगा कि ऐसे समान उद्देश्यों के कार्यों में परस्पर सहयोगी बनें।

प्रथम अधिवेशन

अणुव्रत आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ। यद्यपि आन्दोलन के प्रसार की दिशाएँ जयपुर से ही उन्मुक्त होने लगी थीं पर सार्वजनिक रूप उसे दिल्ली में मिला। वह आचार्यश्री का दिल्ली में प्रथम बार पदार्पण था। आन्दोलन नया-नया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुकूल नहीं थीं। अविश्वास संदेह और विरोध की मिली-जुली भावनाओं का सामना करना पड़ रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने अपनी बात पूरे बल के साथ जनता में रखी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातों को उपेक्षा व उपहास की दृष्टि से देखा पर उनकी आवाज समय की आवाज थी उसकी उपेक्षा की

नहीं जा सकती थी। उनकी बातो ने धीरे धीरे जनता के मन को छूआ और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढने लगा।

कुछ दिन पश्चात् वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली-नगरपालिका-भवन के पीछे के मैदान में हजारो व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण में एक उल्लास था। दिल्ली के नागरिकों ने एक आशा भरे दृष्टि-कोण से अधिवेशन की कार्यवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्य-कर्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी सख्या में उपस्थित थे।

कार्य प्रारभ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनाई गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारभिक दिनो में जहाँ पचहत्तर व्यक्ति थे, वहाँ प्रथम अधिवेशन के समय छ सौ पचीस व्यक्तियों ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए वह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का वही सबसे बडा आकर्षण था। उससे देश में नैतिक क्रान्ति के बीज अकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखाई देने लगा। चारो ओर चलनेवाली अनैतिकता में खडे होकर कुछ व्यक्ति यह सकल्प करें कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नही करेंगे, तो वह एक अघटनीय घटना ही लग सकती है। अनैतिक वातावरण में मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूलकर भी याद नही करता, वहाँ कुछ व्यक्तियों का अणुव्रती बनना एक नया उन्मेष था।

पत्रो की प्रतिक्रिया

पत्रकारो पर उस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश के प्रायः सभी दैनिक पत्रों ने बडे-बडे शीर्षकों से उन समाचारो को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रो में एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। हिन्दुस्तान टाईम्स (नई दिल्ली) ने अपने साध्य-सस्करण में लिखा—"चमत्कार का युग अभी समाप्त नही हुआ, एक किरण दीख पडी है। .. जब अनुचित रूप से कमाये गए पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन बिताने का आन्दोलन शुरू करते हैं, तब कौन उनसे प्रभावित नहीं होगा। ...उन्होंने यह सत् प्रतिज्ञा आचार्य श्री तुलसी के सामने अणुव्रती-सघ के पहले वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है आचार्य तुलसी जो कि इस सगठन या आन्दोलन के दिमाग हैं, राजपूताना के रेतीले मैदानो को पार करके दिल्ली की पक्की सडकों पर आये हैं।"

हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती-सघ का स्वागत करते हुए लिखा था "इस देश में व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या जोरों पर है। यह भय है कि कहीं उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढाचा ही नष्ट न हो जाये, इसलिए कुछ व्यापारियों का यह आन्दोलन कि वे व्यापार—व्यवसाय में मिथ्या आचार न करेंगे, देश में स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा, इस दिशा मे अणुव्रती-सघ के आचार्य श्री तुलसी ने जो पहल की है, उसके लिए [illegible]

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बंगला दैनिक आनंद बाजार पत्रिका ने 'नूतन सतयुग' शीर्षक से लिखा था— तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है ? क्या सतयुग प्रकट होने को है ? नई दिल्ली १० अप्रैल का एक समाचार है कि मारवाड़ी समाज के कितने ही लखपति और करोड़पति लोगों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोरबाजारी नहीं करेंगे। इसके प्रेरक हैं आचार्य श्री तुलसी जिन्होंने मानव-जाति की समस्त बुराइयों को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारंभ किया है। उसके समर्थन में ये प्रतिज्ञाएं की गई हैं। हम आचार्य श्री तुलसी से सविनय अनुरोध करना चाहते हैं कि वे कलकत्ता नगरी में पधारने की कृपा करें।'

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी अंग्रेजी व गुजराती-संस्करणों में श्री किशोरलाल मशरूवाला ने संघ के व्रतों की विवेचना करते हुए सम्पादकीय में लिखा— 'अणुव्रत का अर्थ है प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमशः बढ़ता हुआ पालन। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास तो रखता है लेकिन उनके अनुसार चलने की ताकत अपने में नहीं पाता वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हद के बाहर और किसी खास ढंग से संग्रह न करने का संकल्प करेगा और धीरे धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ेगा। ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।"

इस प्रकार आन्दोलन की प्रतिध्वनि समस्त देश में हुई। क्वचित् विदेशी पत्रों में भी उस विषय में लिखा गया। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई १९५०) में यह संवाद प्रकाशित हुआ— अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक दुबला पतला ठिगना चमकती आंखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यंत चिन्तित है। चौंतीस वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है जो जैन तेरापन्थ-समाज का आचार्य है। यह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १९४९ में अणुव्रती-संघ की स्थापना की थी। जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे तब शेष संसार को व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

देशी और विदेशी पत्रों में होने वाली उक्त प्रतिक्रिया से ऐसा लगता है कि मानो ऐसे किसी आन्दोलन के लिए मानव-समाज भूखा और प्यासा बैठा था। प्रथम अधिवेशन पर उसका वह स्वागत आशातीत और कल्पनातीत था।

आशावादी दृष्टियाँ

आन्दोलन का लक्ष्य पवित्र है, मार्ग निष्काम है अतः उससे हर एक व्यक्ति की सहमति ही हो सकती है। जब देश के नागरिकों की संकल्पशक्ति जागरित होती है तब मन में मधुर आशा का एक अंकुर प्रस्फुटित होता है। आन्दोलन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के उद्गार यहीं इस बात के साक्षी हैं। उनमें से कुछ ऐसे व्यक्तियों के उद्गार यहाँ दिये जा रहे हैं जिनका सर्वव्यापी प्रभाव है तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं।

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—'पिछले कई वर्षो से अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरुआत में जब कार्य थोड़ा आगे बढ़ा था, मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज तक हुआ है, वह सराहनीय है। मैं चाहूँगा इसका काम देश के सभी वर्गों में फैले, जिससे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरों की भलाई करते हैं, इतना ही नही, अपने जीवन को भी शुद्ध करते है, अपने जीवन को बनाते हैं। संयम की जिन्दगी सबसे अच्छी जिन्दगी है। इसीलिए हम चाहते हैं कि सब वर्गों में इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहित किया जाये।"[1]

उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे लिखा है—"हम ऐसे युग में रह रहे हैं, जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रमाद का राज्य है। हमारे युवक तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे है। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश में अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है, जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढ़ावा मिलना चाहिए।"[2]

प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू कहते हैं—"हमे अपने देश का मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यों ही रेत ढह जायेगी, मकान भी ढह जायेगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश मे जो काम हमें करने हैं, वे बहुत लंबे-चौड़े है। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूँ, इस काम की जितनी तरक्की हो, उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी तरक्की चाहता हूँ।"[3]

अणुव्रत-सेमिनार में उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डॉ० लूथर इवान्स ने कहा—"हम लोग यूनेस्को के द्वारा शांति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-आन्दोलन भी प्रशसनीय काम कर रहा है, यह बडी खुशी की बात है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ कि आपका सत्कार्य संसार में फैले और शान्ति का मार्ग-दर्शन करें।"[4]

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है—"श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने जीवन को जगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-आन्दोलन में नैतिक विचार-क्रान्ति के साथ-साथ बौद्धिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है।"[5]

१—नवनिर्माण की पुकार, पृष्ठ ४१, २—अणुव्रत-आन्दोलन
३—अणुव्रत-जीवन-दर्शन ४—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ३४

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है – मेरी राय में यह जनता के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की दिशा में पहला कदम है।"

आचार्य जे० बी० कृपलानी ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अपने भाव यों व्यक्त किये हैं— मैं मानता हूँ कि व्रतों के बिना दुनिया चल नहीं सकती। व्रतों को त्यागने से सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति-सुधार में विश्वास नहीं रखता। सामूहिक सुधार को लक्ष्य मानकर चलता हूँ। व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया में वह वेग और उत्साह नहीं रहता जितना सामूहिक सुधार में रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगों को आकृष्ट कर लेते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में मार्गसूचक बने ऐसी मेरी भावना है।'[1]

हिन्दी जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं—"सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है जो व्यवहार पर खरा सिद्ध नहीं होता वह सिद्धान्त कैसा ? मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् से एकदम निरपेक्ष नहीं है अणुव्रत उसका उदाहरण है। व्रत जीवन में किनारे जैसे हैं। यदि नदी के किनारे न हों तो उसका पानी रेगिस्तान में सूख जाये। किनारे नदी को बांधने वाले नहीं होने चाहिएं, वे उसको मर्यादा में रखने वाले होने चाहिएं। ऐसे ही वे किनारे जीवन चैतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते हैं।[2]

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामन्त्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यों व्यक्त की है— 'अणुव्रत-आन्दोलन की जब से शुरू जानकारी हुई है तभी से मैं इसका प्रशंसक रहा हूँ। इसके संबंध में मेरा आकर्षण इसलिए हुआ कि यह आन्दोलन जीवन की छोटी-छोटी बातों पर भी विशेष ध्यान देता है। बड़ी बातें करने वाले बहुत हैं किन्तु छोटी बातों को महत्त्व देने वाले कम होते हैं।

यह आन्दोलन क्रमिक विकास को महत्त्व देता है यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जा सकता एक-एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है।"[3]

संसद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा है— 'अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनों शुद्ध होते हैं तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओं का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतों का कार्य क्रम भी पवित्र है इसलिए इनके कहने का असर पड़ता है।

१– नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ४५ २—वही पृष्ठ ५२ ३—वही पृष्ठ ५१

"अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमें व्रत रखे गए हैं। यह इसकी अपनी विशेषता है। व्रतो की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतो का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतो में शब्दो का सकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीडा पहुचाना तो हिंसा है ही, किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है। अधिकारों का दुरुपयोग भी हिंसा है। कम पैसों से अधिक श्रम लेना भी हिंसा है, आदि-आदि। इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को छूते है। अणुव्रतियो का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है। आचार्यजी का सत्-प्रयास सफल हो, यह मेरी कामना है।"[1]

उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में बहुत श्रद्धाशील और आशावादी हैं। उन सबके उद्गारों का सकलन एक पृथक् पुस्तक का विषय हो सकता है। यहा उन सबका उल्लेख सम्भव नही है।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय में जहाँ अनेक व्यक्ति आशावादी है, वहाँ कुछ व्यक्तियो को एतद्-विषयक नाना सदेह भी है। किसी भी विषय में सन्देहो का होना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। वस्तुत वे बात को अधिक गहराई से सोचने की प्रेरणा ही देते है। सावधान भी करते हैं। यहाँ आन्दोलन के विषय में किये जाने वाले कुछ सन्देहो का प्रश्नोत्तर रूप से सक्षेप में समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ प्रश्न—भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गाधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढाचे में नहीं ढाल सके, तो आचार्यश्री वह कार्य कैसे कर सकेंगे ?

उत्तर – समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नहीं है। नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी। हर युग में इन दोनो का परस्पर संघर्ष चलता रहा है। ससार के रग-मच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की, पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैतिकता मिटी है और न ही अनैतिकता। जब-जब मानव समाज में नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है, तब-तब पतन। एक न्याय, मैत्री और साम्य की सवाहक बनकर शाति का साम्राज्य स्थापित करती है, तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की सवाहक बनकर अशाति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महापुरुषों का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक बने, किन्तु वे सब यह भी जानते रहे हैं कि यह सम्भव नहीं है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिंत होकर केवल कार्य पर लगे रहे। उससे समाज में आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्य श्री भी अपना पुरुषार्थ इसी

---

[1]—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ५३-५४

चिंता में लगा रहे हैं। कितना क्या कुछ बनेगा इसकी चिंता न वे करते हैं और न उन्हें करनी ही चाहिए।

२ प्रश्न—सारा संसार ही जब भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनों में फंसा है तब चन्द मनुष्य अणुव्रती बनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते हैं?

उत्तर—सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितांत अपेक्षित नहीं है। सफलता संख्या पर नहीं भावना पर निर्भर है। संसार के प्रायः सभी सुधार थोड़े व्यक्तियों से ही प्रारंभ हुए हैं। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध में रहे हैं क्योंकि विचारशील और स्वार्थ त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अणुव्रतियों की संख्या स्वल्प ही रहनी चाहिए, किन्तु यह है कि संख्या को सफलता का मापक यंत्र नहीं मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग को चुनते हैं वह सच्चा ही हो यह आवश्यक नहीं है। अतः सत्य-सेवी के लिए बहुमत का महत्त्व अधिक नहीं रह जाता। उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास रखते हुए बहु-जन-मान्य अनैतिक विषयों का सामना ही नहीं अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियों को सत्य-मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है जो साथी के अभाव में अपने कदम आगे बढ़ने से घबराते हैं।

३ प्रश्न—जिस गति से लोग अणुव्रती बन रहे हैं, वह बहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भिक्ष मिट नहीं सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती बनते रहें तो भी अकेले भारत की चालीस करोड़ जनता को नैतिक बनाते लाखों वर्ष लग जायेंगे। तब आन्दोलन के पास इस समस्या का क्या हल है?

उत्तर—यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिये किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलता है। संख्या का महत्त्व उसमें गौण है। यदि गुण का आधिक्य हो तो औषधि की अल्प मात्रा भी जिस तरह प्रभूत परिणाम ला सकती है उसी तरह अल्पसंख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते हैं। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नहीं किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलों से बंधकर नहीं चला करती।

सहस्रों व्यक्तियों की सम्मिलित भावना का जब कहीं एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया में एक के रूप में सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधारपर यों समझा जा सकता है कि जब सहस्रों व्यक्तियों के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है, तब उनमें से तीव्रतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति जो कि उन सहस्रों की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है प्रतिज्ञाबद्ध होता है। अणुव्रत-भावना से प्रभावित होते हुए

भी अवशिष्ट व्यक्ति उस सख्या से बाहर रह जाते है। इसलिए अणुव्रतियो की सख्या को ही अणुव्रत-भावना का विकास-क्षेत्र नही मान लेना चाहिए।

भारत के स्वातन्त्र्य सग्राम के अहिंसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाण भूत माने जा सकते हैं। सारे भारतवासी तो क्या पर शताश भी उस सस्था के सदस्य नहीं थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस सस्था के सदस्य थे, केवल उतने ही स्वतंत्रता के पुजारी थे? अवशिष्ट व्यक्तियो का स्वतत्रता-सग्राम से कोई सम्बन्ध नही था?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हर एक व्यक्ति को मान्य होगा कि अभाव से तो स्वल्प-भाव अच्छा ही होता है। स्वल्प-भाव को सर्व भाव की ओर बढने में अपनी गति तीव्र करनी चाहिए, इसमें स्वय अणुव्रत-आन्दोलन सहमत है, परन्तु सर्व-भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए, स्वल्प-भाव की कोई आवश्यकता नहीं है, इस बात से वह सहमत नहीं हो सकता।

४ प्रश्न—अणुव्रतों की रचना में मुख्यत निपेधात्मक दृष्टि ही क्यों अपनायी गई है, जब कि जीवन-निर्माण में विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है?

उत्तर—यों तो विधि में निषेध और निषेध में विधि स्वत गर्भित रहती ही है, फिर भी मनुष्य की आचार-सहिता में विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा में रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए, इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए, यह बतलाया जाये। सीमा या मर्यादा का भावात्मक अर्थ निषेध ही तो होता है। माता-पिता या गुरु अपने बालक को निषिद्ध वस्तु की मर्यादा ही बतलाते हैं। 'बिजली को मत छूआ करो' यह कहकर वे उसकी जो सुरक्षा कर सकते हैं क्या वही कमरे की 'ये-यें वस्तुए छुआ करो' कहकर कर सकते हैं? सरकार भी विदेश से जिन-जिन व्यापारों का निषेध करना चाहती है, उन्हीं का नाम-निर्देश करती है, किन्तु जो-जो मगाया जा सकता है, उसका सूची-पत्र प्रसारित नहीं करती। सरलता भी इसी में है।

५ प्रश्न—हर कार्य की उपलब्धि सामने आने पर ही उस पर विश्वास जमता है। अणुव्रत-आन्दोलन की कोई उपलब्धि दृष्टिगत क्यों नहीं हो रही है?

उत्तर—भौतिक समृद्धि के लिए किये जानेवाले कार्यो से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती हैं, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपलब्धि किसी स्थूल पदार्थ के रूप में प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलों के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नही लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओ को एक तुला पर तोलने की तो बात ही क्या की जा सकती है, जबकि भौतिक वस्तुओं में भी परस्पर अतुलनीय अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तोला जा सकता है?

अणुव्रत-आन्दोलन की उपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हो सकती फिर भी उसने क्या कुछ किया है इस बात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अतः-उसने भ्रष्टाचार मिलावट झूठा तोल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्यपान और धूम्रपान के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। इन्हीं व्यक्तियों का उपर्युक्त दुर्गुणों से दूर कर देना आत्मशुद्धि के क्षेत्र में जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है वहाँ जन-सामान्य की दृष्टि में आनेवाली आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु आन्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस सूक्ष्म उपलब्धि को अधिक महत्त्व देता है जिससे कि जन-मानस में अध्यात्म का बीज-वपन होता है।

आन्दोलन की आवाज

अणुव्रत-आन्दोलन की आवाज तालाब में उठने वाली उस लहर की तरह है, जो कि धीरे-धीरे आगे बढ़ती और फैलती जाती है। आज जितने व्यक्ति इससे परिचित हैं वे सब धीरे धीरे ही इसके सम्पर्क में आये हैं। प्रारम्भ काल में बहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक आन्दोलन मानते रहे थे। आचार्यश्री को अनेक बार एतद् विषयक स्पष्टीकरण करना पड़ता था। फिर भी सबके मस्तिष्क में यह बात कठिनता से ही बैठ पाती थी। आचार्यश्री यथाशीघ्र इस अविश्वसनीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक यह स्थिति मिट नहीं जाती तब तक आन्दोलन गति नहीं पकड़ सकता।

वे इस विषय में दूसरों के सुझाव लेने में भी उदार रहे हैं। जयपुर में डा० राजेन्द्रप्रसाद आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे उन दिनों भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री ने उनके सामने अणुव्रत आन्दोलन की रूपरेखा और कार्यक्रम रखा तो उन्होंने कहा— 'देश को ऐसे आन्दोलन की इस समय बहुत आवश्यकता है। इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिये।

आचार्यश्री ने तब निःसंकोच भाव से अपनी समस्या रखते हुए कहा—"हम भी यही चाहते हैं परन्तु इसमें बाधा यह है कि लोग अभी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं इससे प्रसार होने में बहुत बाधाएँ आती हैं।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—"आन्दोलन यदि असाम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यों ज्यों लोग सम्पर्क में आयेंगे त्यों-त्यों यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जायेगा।" बात भी यही हुई। आज प्रायः सभी व्यक्ति यह मानने लगे हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का कार्य सम्प्रदाय-भाव से प्रभावित नहीं है। राष्ट्रपति बनने के पश्चात् डा० राजेन्द्रप्रसाद ने आन्दोलन की इस सफलता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा था— 'मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात से है कि देश में इस आन्दोलन ने सार्वजनिक रूप ले लिया है। मैं समझता हूँ कि अब

लोगो में ये भावनाएँ नही रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का एक सार्वजनिक रूप ही उसके सुनहरे भविष्य का सूचक है।"[1]

इतना होने पर भी क्वचित् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते हैं। डा० राममनोहर लोहिया तथा एन० सी० चटर्जी आदि कुछ व्यक्तियों ने ऐसा अनुभव किया कि आचार्यश्री द्वारा कांग्रेस की नींव गहरी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय में यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नही है, पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से असम्बद्ध रहना भी नहीं चाहता। मानव-मात्र के लिए किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष-विशेष से बधना ही चाहिये और न किसी पक्ष-विशेष को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षों में भी उसे समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते रहने के कारण आज अणुव्रत आन्दोलन को सभी दलों का स्नेह प्राप्त है। वह अपनी आवाज सभी दलो तक पहुँचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र में दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वय ही अभेद में परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्बलता को समर्थन देना नहीं है, वह तो हर एक को सबल बनाना चाहता है।

आन्दोलन का मुख्य बल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। यों सभी दलो तथा सरकारो का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। सबकी शुभकामनाएँ तथा सहानुभूति उसने चाही है और वे उसे हर क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में मिलती रही है। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी आवाज को गावो से लेकर शहरो तक तथा किसान से लेकर राष्ट्र-पति तक पहुँचाने में सहायक हुई है। आन्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

राज्य-सभा मे

भारत की राज्य-सभा में सन् ५७ में जब अणुव्रत-आदोलन विषयक प्रश्नोत्तर चले थे, तब उसका उत्तर देते हुए गृहमत्रालय के मन्त्री श्री बी० एन० दातार ने कहा था—"इस आन्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधानमत्री नेहरू की शुभकामनाए प्राप्त हैं।" आन्दोलन के अन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था—"यह कार्य सिर्फ भाषणो तक ही सीमित नही रहेगा, अपितु साधु-जन घर-घर जाकर-स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियो व कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से बचने की प्रेरणा देंगे।" यह कथन सरकार की ओर से उसके सचालकों की शुभकामना का सूचक ही है। आन्दोलन के कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नही झुके हैं। यह आन्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सबका मुक्त सहयोग पा सका है।

१—अणुव्रत—आन्दोलन

विधान-परिषद् में

इसी प्रकार सन् ५९ की फरवरी में उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद् में विधायक श्रीसुमनचन्द्र द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया जिस पर अन्य सत्ताईस विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें कहा गया था— 'यह सदन निश्चय करता है कि उत्तरप्रदेशीय सरकार देश में आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाये गए आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे।'[१]

इस प्रस्ताव से कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा संदेह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता मांगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रश्न उठा तब अनेक विधायकों ने उसका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा— 'यह प्रस्ताव सरकार से धन की मांग नहीं करता है और न किसी अन्य वस्तु की मांग करता है लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और अध्यात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो।'[२]

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति प्राप्त हो। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जायें। पैसे की कमी नहीं। मान्यवर! पैसा मांगता कौन है?[३]

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने कहा— 'जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के जनर प्रयोग किये गए हैं शायद उसके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है। ... लेकिन यह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है मैं ऐसा समझता हूं। जहाँ तक इन चीजों का सम्बन्ध है श्रीमन् मुझे सरकार की तरफ से यह कहने में संकोच नहीं है कि अणुव्रत-आन्दोलन को सरकार गलत नहीं समझती है। और ऐसा भी ख्याल करती है कि अणुव्रत-आन्दोलन कोई रिट्रोग्रेसिव स्टेप नहीं है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जंजीर है यह धर्म की स्थापना का नया तरीका है।[४]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर आन्दोलन की आवाज व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे आन्दोलनों में वैचारिक तथा

१—जैन भारती १५ नवम्बर, १९५९ २—वही २७ दिसम्बर, १९५९

३—वही २७ दिसम्बर, १९५९ ४—वही २४ जनवरी १९६०

आचारिक सहयोग से बढकर अन्य कोई सहयोग नही हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो ऐसे आन्दोलनों को नष्ट करने वाली ही हो सकती है। आन्दोलन की आवाज को आगे बढाने में सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहायता की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नही करता।

जन-जन मे

इस आवाज को जन जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षो में अनेक लम्बी-लम्बी यात्राए कीं और भारत के अनेक प्रान्तो मे पहुँचे। लाखो व्यक्तियो से साक्षात्कार हुआ। शहरों और गावों के व्यक्तियों से आन्दोलन-विपयक चर्चा करने में ही उनका बहुत-सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, मार्गस्थ गावों मे थोडा-थोडा ठहरकर जनता को उद्‌बोध देना और फिर आगे चल पडना, यह एक ऐसी थका देने वाली प्रक्रिया है कि दृढ निश्चय के विना लगातार ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। अपनी बात को शिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितों में किस तरह—इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते है। वे जितना विद्वानो को प्रभावित करते हैं, उतना ही अशिक्षित ग्रामीणों को भी प्रभावित कर लेते है।

अनेको का श्रम

आचार्यश्री के शिष्यवर्ग ने भी इस कार्य में बहुत परिश्रम किया है। अनेक क्षेत्रों में उनके श्रम ने ही आन्दोलन के मूल को सुदृढ किया है। दिल्ली जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचलों से भरे शहरों में आन्दोलन की आवाज को घर-घर में पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है, फिर भी मुनिश्री नगराजजी के निर्देश में रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुस्साध्य कार्य को सहज वना दिया। मुनिश्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विद्वत्ता और मुनि महेन्द्रकुमारजी की श्रमशीलता का योग आन्दोलन के लिए बड़ा ही गुणकारी हुआ है। दिल्ली में रहने का अवसर मुझे भी अनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने भी वहाँ इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। वहाँ के साहित्यकारों और पत्रकारों से उन्होंने जो विशिष्ट सम्पर्क स्थापित किया, वह आन्दोलन के लिए अतिशय गुणकारी सिद्ध हुआ। मेरा विश्वास है कि आन्दोलन की आवाज का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है, वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रों में मुनि गणेशमलजी, मुनि छत्रमलजी, मुनि मगनलालजी, मुनि पुष्पराजजी, मुनि राकेशजी आदि साधुओं तथा कस्तूराजी आदि साध्वियो का परिश्रम भी इस दिशा में उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती में उप्त नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी सुपुप्त-अवस्था में रहता है, किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियों में उप्त कर दिया जाता है, तो वह अकुरित

होकर नये-नये उन्मेष करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारों का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है वे या तो सुपुप्त रहते हैं या फिर जागृत होकर नये-नये उन्मेष प्राप्त करते हुए फल निष्पत्ति की ओर अग्रसर होते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ तब साधारण आचार-संहिता के रूप में उसका बीज विचार-क्षेत्र से निकलकर कार्य-क्षेत्र में उप्त हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों उसमें अनेक नये-नये उन्मेष होते गए।

हर उत्थान अनेक उत्थानों को साथ लेकर आता है और हर पतन अनेक पतनों को। भारतीय जीवन में जब पुराकाल में आचरणों के प्रति सावधानी हुई, तब उसका विकास यहाँ तक हुआ कि माल से भरी दुकानों में भी ताला लगाने की आवश्यकता नहीं रही। लिखी हुई बात का तो कहना ही क्या किन्तु कही हुई या यों ही सहज भाव से मुँह से निकली बात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई बड़ी बात नहीं रही परन्तु जब उसी भारत में दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जेब में पड़ी चीज भी गायब होने लगीं। लिखी हुई बात भी विश्वसनीय नहीं रही। परमार्थ की वृत्ति में अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ में निमग्न हो गए।

साहित्य द्वारा

ऐसी स्थिति में आचार्यश्री ने पुन: आचरण-परिशोध की बात प्रारम्भ की तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशोधों की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत-साहित्य का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था जो बातें शत-शत बार के कथन से हृदयंगम नहीं हो पातीं वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयंगम हो जाती हैं। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशोध की जो प्रेरणाएँ दीं वे अन्यथा सुलभ नहीं हो सकती थीं।

गोष्ठियां आदि

विचार प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिषदें गोष्ठियां प्रवचनों तथा सार्वजनिक भाषणों का क्रम प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियों में एक नवोन्मेष ही था।

विविध अभियान

कार्य-क्षेत्र में भी विविध उन्मेष हुए। दहेज विरोधी अभियान व्यापारी-सप्ताह, मद्य विरोधी तथा रिश्वत विरोधी कार्यक्रम—ये सब आन्दोलन के कार्य-क्षेत्र को और अधिक विकसित करने में सहायक हुए। यही क्रम कुछ विकसित होकर वर्गीय नियमों के आधार पर विचार प्रसार का माध्यम बना।

विद्यार्थि-परिषद्

विचारों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियों को विशेष रूप में उचित पात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापकों और विद्यार्थियों के

द्वारा वहाँ अणुव्रत विद्यार्थि-परिषदों की स्थापना हुई। दिल्ली में यह कार्य विशेष रूप से सगठित हुआ। लगभग पचास हायर सेकेण्ड्री स्कूलों में अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् स्थापित हुई। उन सबको एक सूत में ग्र थित करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियों के आधार पर केन्द्रीय अणुव्रत-विद्यार्थि-परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिल्ली में अनेक बार दहेज-विरोधी कार्यक्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, बाद-विवाद-प्रतियोगिता आदि आयोजनों द्वारा छात्रों की सुरुचि को जागृत करने का प्रयास किया।

केन्द्रीय अणुव्रत समिति

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्रो में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'अणुव्रत' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। अणुव्रत-अधिवेशन के रूप में प्रतिवर्ष विचारो का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है।

स्थानीय समितियाँ

आन्दोलन के प्रसारार्थ आचार्यश्री तथा मुनिजनो का विहार-क्षेत्र ज्यो ज्यों विकसित हुआ, त्यों-त्यों स्थानीय अणुव्रत-समितियों की भी काफी सख्या में स्थापना हुई। उन्होंने अपने स्थानीय आधार पर बहुत कुछ काम किया है। उनमें कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशसनीय रहा है, परन्तु कुछ वहुत ही स्वल्पकालिक निकली।

कमजोर पक्ष

अणुव्रत-आन्दोलन का यह एक बहुत कमजोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढाते रहे हैं, पीछे से उसकी सार सभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण विहार तथा उत्तरप्रदेश के अनेक स्थानों में स्थापित अणुव्रत-समितियों से आज कोई विशेष सम्पर्क नही रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती, तो आन्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तव 'परिश्रम अधिक और फल कम' की वात कहने का किसी को अवसर नहीं मिलता।

सामूहिक सुधार

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है, किन्तु वह सामूहिक सुधार में भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने एक वार आन्दोलन का अगला कदम परिवार-सुधार को वतलाते हुए कहा था—"अव हमें व्यक्ति मे समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा में ही एक कदम है।" आचार्यश्री उस घोपणा के पश्चात् क्रमश उस ओर आन्दोलन को प्रगति देते रहे है।

उन्हीं दिनों मैं (मुनि बुद्धमल) दिल्ली में था। वहाँ राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद से मिलने के लिए १८ जुलाई १९५५ का दिन निश्चित हुआ था। यथासमय मैं उनसे मिला। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा— 'अब समय आ गया है जब कि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में काम करना चाहिए।"

मैंने तब आचार्यश्री द्वारा घोषित सामूहिक सुधार की योजना उनके सामने रखी और कहा कि दो चिन्तकों के मन में एक ही प्रकार के विचार कार्य कर रहे हैं यह आन्दोलन के लिए बहुत शुभ है।

राष्ट्रपति ने उस योजना में बड़ी दिलचस्पी ली और अपने अनेक सुझाव भी दिये।

नया मोड़

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर आचार्यश्री ने कुछ समय पश्चात् नये मोड़ के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बातें रखीं। उसमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया। समाज के ऐसे बहुत से कार्य हैं जो चालू परम्परा से किये जाते हैं परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं किन्तु प्राचीन कार्यों को सहसा छोड़ नहीं पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं और छोड़ने के बजाय उनसे चिमट कर रह जाते हैं। उनकी गति सांप छछूंदर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापों की बातें सुनते रहे हैं। उनके विषय में कुछ कहते भी रहे हैं। समाज में जन्म विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक हैं कि उन सबको यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है परन्तु प्रायः हर व्यक्ति कुछ पुराने संस्कार को छोड़ देता है तो कुछ नये अपना लेता है। यों वह बराबर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मन्त्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' ग्रंथ में तथा उसी समय के काशी के पंडित नीलकंठ कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में हिन्दुओं के क्रिया-काण्डों का विचार विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रतिवर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं अर्थात् प्रतिदिन पाँच-छह अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानों में से बहुत से तो केवल पुस्तकों में ही रह गये हैं फिर भी जो अवशिष्ट हैं तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्त्व नहीं दिया जायेगा तब तक अणुव्रत भावना के प्रसारार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नहीं हो सकेगी। इसीलिए वे नये मोड़ पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नही बने है, वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्राय हर गाव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसद करते हैं, परन्तु इस कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासो के स्थान पर नये विश्वासों को जमाना प्राय सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है, तो वह अपने लक्ष्य में से एक बहुत बडे कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

आना ही न पड़ता

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिमाण में भले ही बहुत कम हो, किन्तु मात्रा में काफी महत्त्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये हैं, जो कि विरले ही मिल सकते है। एक बार दिल्ली सेंट्रल जेल में आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बदी को लिए हुए जा रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही जा रहा था। मार्ग में उस भाई ने बन्दी से पूछा—"क्या तुमने जेल में आचार्यश्री का भाषण सुना था ?" बन्दी ने कहा—"हाँ, सुना तो था, लेकिन वही भाषण यदि कुछ पहले सुन पाता तो मुझे यहाँ आना ही न पडता।"

एक सौ नौ

उत्तरप्रदेश में विहार करते हुए जब आचार्यश्री हाथरस पधारे, तब वहाँ मुनिश्री नगराजजी आदि ने व्यापारियो को प्रेरणा दी और अणुव्रत-आन्दोलन के वर्गीय-नियमो की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप एक सौ नौ व्यापारियों ने मिलावट न करने आदि के नियम ग्रहण किये। उनमें छोटे-बडे सभी प्रकार के व्यापारी थे।

उन दिनों मैं दिल्ली में था। हाथरस की उस घटना के कुछ दिन पश्चात् ही पण्डित नेहरू के साथ मेरा अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में विचार-विनिमय हुआ। पौन घण्टा के उस वार्तालाप-प्रसग में जहाँ आन्दोलन के विविध पहलुओ पर बातें हुई, वहाँ हृदय-परिवर्त्तन के विषय में भी बात हुई। उस सिलसिले में मैंने हाथरस की घटना को उनके सामने रखा। वे हृदय-परिवर्तन की उस घटना से जहाँ आश्चर्याभिभूत हुए, वहाँ कुछ जिज्ञासु भी हुए। उन्होंने पूछा—"क्या उन सबके नाम पत्रों में प्रकाशित किये गये है ? यदि नही, तो शीघ्र ही वे नाम प्रकाशित होने चाहिये, ताकि अन्य व्यक्ति भी उनसे प्रेरणा ले सकें।' वस्तुत वे नाम उत्तरप्रदेश के पत्रों में उसी समय प्रकाशित हो चुके थे।

सबके सम्मुख

हृदय-परिवर्तन के ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध तो होते रहते हैं, परन्तु वे सकलित कठिनता से ही किये जाते हैं। अणुव्रत-समिति के वार्षिक अधिवेशनों के समय ऐसे उदाहरणों

का संकलन सहज होता है। उस समय अधिवेशन से पूर्व आचार्यश्री के सान्निध्य में एक अन्तरंग सम्मेलन किया जाता है। उसमें समागत अणुव्रती भाई-बहिन सम्मिलित होते हैं और अपनी अपनी कठिनाइयाँ सामने रखते हैं। जिससे उन कठिनाइयों का सामना करने में किसी विशेष पद्धति का अनुसरण किया हो तो वह भी दूसरों की सुविधा के लिए सामने रखा जाता है।

अणुव्रतियों के अनुभवों से पता लगता है कि वे अनैतिकता के सामने डटे हैं। अपने उस कर्तव्य में मानवीय स्वभाव के अनुसार कदाचित् किसी की भूल हो जाना भी स्वाभाविक है परन्तु वहाँ सबके सामने अनेक व्यक्तियों ने अपनी उन भूलों को भी स्वीकार किया है तथा उसका प्रायश्चित्त किया है। भूल करना बुरा होता है परन्तु उसे छिपाना उससे भी अधिक बुरा होता है। जहाँ अधिकांश व्यक्ति अपनी भूल को छिपाना चाहते हैं वहाँ अनेक व्यक्तियों के सम्मुख अपने ही द्वारा उसे स्वीकार कर लेना बड़ा साहस का कार्य कहा जा सकता है।

एक ओर अर्थ-लाभ हो तथा दूसरी ओर नैतिकता वहाँ अर्थ-लाभ को ठुकरा देना बहुत कठिन होता है। किन्तु अनेक सदस्यों ने ऐसा किया है। उनके कुछ प्रेरणाप्रद उदाहरण अवश्य ही यहाँ प्रासंगिक होंगे।

क्या पूजें?

एक व्यक्ति जब अणुव्रती बनकर अपने मालिक के यहाँ गया और उसने बहीखाते में मृषा बही न करने की अपनी प्रतिज्ञा उनको बतलाई तो मालिक ने कहा—"यदि ऐसा नहीं कर सकता तो क्या हम तुझे यहाँ बिठा कर पूजें? और उसने उसे अपने यहाँ से हटा दिया। काफी समय तक उसे आर्थिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा किन्तु अब उसका कथन है कि वह विपत्ति ही उसके लिए वरदान बन गई। अब बाजार में उसकी साख बहुत ऊँची है और इस समय वह पहले से कहीं अधिक कमा लेता है।

नदी में

एक औषधि विक्रेता के यहाँ दस हजार रुपये का मिलावटी पिपरमेण्ट आ गया। एक अणुव्रती होने के नाते उसने उसे नदी में बहा दिया। यदि वह चाहता तो जैसे आया था वैसे खपा भी सकता था। पर सहस्रों रुपयों की हानि उठाकर भी उसने ऐसा नहीं किया

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अन्य अणुव्रती ने दो सौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स जमा देने पर मुकदमा लड़ा। लोगों ने कहा—'मुकदमा लड़ने पर तो दो सौ की जगह शायद दो हजार खर्च होने की सम्भावना होती है तब फिर ये दो सौ ही क्यों नहीं दे देते?" उसने कहा—"दो सौ रुपये भी दूँ और चोर भी बनूँ, यह मुझे मंजूर नहीं।

रिश्वत या जेल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक उदाहरण सामने आये हैं, जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को बढाने में आन्दोलन की सतत जागरूकता का परिचय मिलता है। उदाहरण-स्वरूप उडीसा प्रान्तीय काग्रेस-कमेटी तथा ग्राम-पचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है। एक बार उसके गाब में सवर्ण तथा असबर्ण हिन्दुओ का परस्पर झगडा हो गया। उसमें एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई। पुलिस-अफसर ने पचायत वालों द्वारा जोर डालने पर भी, न जाने क्यों, उस मामले पर विशेष ध्यान नही दिया। उन्ही दिनो सम्बलपुर में नेहरूजी आने वाले थे। उस अवसर पर टिटलागढ सब-डिवीजन के प्रतिनिधि के रूप में उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ काग्रेस-कमेटी में भाग लेने वाला था। सयोगवश उसने पुलिस अफसर से कह दिया कि मैं यहाँ की सारी घटना सम्बलपुर-काग्रेस-कमेटी में कहूँगा। बस, फिर क्या था, पुलिस ने झूठा गवाह तैयार करके उसे फासा और हत्या में उसका भी हाथ होने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया। जब वह हिरासत में था, पुलिस वालों ने अपने ढग से उसे यह जतला दिया कि कुछ देकर वह इस झझट से बच सकता है। किन्तु उसने रिश्वत देकर छूटने से साफ इनकार कर दिया। आखिर मुकदमा चला और सोलह महीने के पश्चात् वह निर्दोष होकर छूटा। उसका कहना है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था तथा पुलिस पर आक्रोश के भाव तो मन में अवश्य उभरे, पर इस बात का सन्तोष है कि कष्ट सहकर भी मैंने रिश्वत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्बन नही लिया।

ब्लैक स्वीकार नही

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिकचूर्ण का एक बडा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमें लगभग तीन लाख का मुनाफा होता था, किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नही था, अत उसे वह व्यापार ही छोड देना पडा।

गुड की चाय

आसाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के पश्चात् कोई भी वस्तु ब्लैक से नही खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे विना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव-प्राय था। वे भाई अपने नियम में पक्के रहे और गुड की चाय पीने लगे। एक बार उनके किसी सम्बन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। उन अतिथियो में एक टैक्सटाइल सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थे। चायपार्टी में वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु औरों के लिए जहाँ चीनी की चाय आई, वहाँ उसके लिए गुड की चाय मगायी गई। अतिथि उनके उस विचित्र व्यवहार से वडे चकित हुए, किन्तु जब उन्हें कारण से अवगत किया गया तो वे वहुत प्रभावित हुए। समागत अफसर ने तभी से ऐसा प्रवन्ध कर दिया कि उन्हें प्रति-सप्ताह ढाई सेर चीनी नियन्त्रित भावों से मिलती रहे।

सत्य की शक्ति

एक सच्चाई-क्लर्क को उसके अफसर ने बुलाकर कहा—"स्टॉक में सीमेंट कम है और मांग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियों को सीमेन्ट दिलाना है अतः आप अपनी रिपोर्ट में अन्य व्यक्तियों की दरख्वास्त पर स्टॉक में सीमेण्ट न होना लिख देना।"

क्लर्क ने कहा— 'श्रीमन् ! माफ करें। मैं गलत रिपोर्ट नहीं दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न मांगें। जिन्हें दिलाना चाहें उनकी दरख्वास्त पर आर्डर लिख दें मैं परमिट बना दूंगा।

उस अफसर पर उस बात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके पश्चात् वे उसके द्वारा पेश किये गए कागजों पर बिना किसी संशय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागों के कागजात भी उसके पास भेजकर कह देते थे कि इस पर आर्डर लिख देना मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य में काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा में डटे रहना ही सबसे अधिक कठिन है।

दूकानों की पगड़ी

दिल्ली में एक भाई ने नया मकान बनवाया। उसमें आठ दूकानें किराये पर देनी थीं। शहर में दूकानों की प्रायः कमी होती है अतः लोग किराये के अतिरिक्त पगड़ी के रूप में भी हजारों रुपये सहर्ष देने को तैयार रहते हैं। उस भाई को दूकानों के लिए भी पांच पांच हजार रुपये की पगड़ी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार अनायास ही आठ दूकानों का चालीस हजार रुपया पगड़ी के रूप में मुफ्त ही मिल रहा था। परन्तु अणुव्रती होने के नाते उसने वह पैसा स्वीकार नहीं किया और अपनी सारी दूकानें केवल उचित किराये पर ही दे दीं।

एक चुभन

एक अणुव्रती भाई की दुकान पर [illegible] रेलवे इन्स्पेक्टर आया। उसने कुछ कपड़ा खरीदना चाहा। पर वह जो कपड़ा वह चाहता था वह पहले ही [illegible]-वारण्ट द्वारा खरीदा जा चुका था। अतः वह कपड़ा दुकान में था नहीं। दुकानदार ने कहा —"आप दूसरा [illegible] [illegible] खरीद [illegible] यह खरीदा हुआ कपड़ा मैं आपको कैसे दे सकता हूँ ?"

इन्स्पेक्टर कुछ रुष्ट हुआ और चला गया परन्तु उसके मन में उस बात की चुभन रह गई। एक बार रेलवे-ऑफिसर को उस व्यापारी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] लिखा। वह उस पर [illegible] लिखने ही वाला था कि इतने में वह इन्स्पेक्टर वहीं आ गया और बोला— [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। ऑफिसर ने वह लिख कर [illegible]। [illegible] उस दुकानदार [illegible] [illegible] रेलवे ऑफिसर ने इन्स्पेक्टर के [illegible] [illegible] [illegible]।

वह उसे आये दिन तग करने लगा। समय-असमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता। वह एक प्रकार से वैर लेने की वृत्ति से काम कर रहा था। उसे फसाने के लिए उसने उन सब तारीखों को गुप्त रूप से सग्रहीत कर रखा था, जिनमे कि विभिन्न स्थानो से उसकी दूकान पर माल आया था। उसके पास इसका भी पूरा-पूरा व्योरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टरमिनल टैक्स कब दिया और कितना दिया। बहुत दिनो तक वह उसके वही-खाते भी देखता रहा। आखिर कही भी कोई पकड वाली बात हाथ न लगी, तब वह स्वय ही अपने कार्य के प्रति लज्जित हुआ। दूकानदार के प्रति उसका हृदय भी बदला आखिर उसने अपनी इन्क्वायरी की समाप्ति इन शब्दो में लिख कर की—"मैंने फर्म के वही खाते बडी सावधानी से देखे हैं। इनमें कही भी गोलमाल नही मिला।"

इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण है जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन में निष्ठा उत्पन्न करते है और दूसरो को यह प्रेरणा भी देते हैं कि सकल्प करने पर हर कोई वैसा बन सकता है। वस्तुत शुभ सकल्प करना इतना कठिन नही होता, जितना कि बाद में प्रतिक्षण उस पर डटे रहना। किन्तु ऐसा किये बिना समाज में न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता। उपर्युक्त उदाहरण हर एक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान है। कठिनाइयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती है, परन्तु उन सबको हल करने का एक मात्र यही तरीका हो सकता है कि वह अपने-अपको इतना दृढ बनाये कि उस पर असत्य का नाग फन मार-मार कर भले ही मर जाये, पर उस पर उसके विष का कोई प्रभाव न हो सके।

६

विहार चर्या

प्रशस्त चर्या

'विहार चरिया इसिण पसत्था' इस आगम-वाक्य में ऋषियों के लिए विहार चर्या को ही प्रशस्त बताया गया है। भारतवर्ष में प्रायः हर सन्यासी के लिए यायावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गति-शीलता के साथ पैरों की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारों ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषद्कारों ने 'चरवेति-चरवेति' सूत्र से केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नहीं, अपितु देशाटन—यायावरता को भी विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है।

जैन मुनियों के लिए तो यह चर्या मुनि-जीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनों के विकास ने क्षेत्र की दूरी को संकुचित कर दिया है तथा स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे धीरे गम्यता में परिणत हो गई है तब भी जैन मुनि उसी प्राचीन परिपाटी के अनुसार पाद चार से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए देखे जा सकते हैं।

सम्पर्क के लिए

विहार चर्या जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गांवों और शहरों में हर प्रकार के व्यक्तियों तक पहुँचने के लिए एक मात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज वाहनों पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता। मुनि-जीवन के लिए जिस साधारणीकरण की आवश्यकता होती है वह इस चर्या के द्वारा ही संपन्न हो सकती है। विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श अपने आप में जन-सम्पर्क की अद्वितीय क्षमता संजोये हुए है।

राजघाट पर आचार्य श्री तुलसी और विनोबाजी का मिलन हुआ। विनोबाजी ने कहा—'मैंने भी जैन मुनियों की तरह पैदल चलने का निश्चय किया है।' उनके इस कथन से लगा कि जन-सम्पर्क के लिए विनोबाजी ने भी इसे सर्वोत्तम साधन माना है। किन्तु दोनों की स्थितियों में अंतर है। विनोबाजी की पद यात्रा उनका व्रत नहीं है जब कि आचार्य श्री की पदयात्रा उनका व्रत है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यों तो प्रत्येक जैन मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पद-यात्री बन जाता है परन्तु आचार्य श्री की पदयात्राएं अपने साथ एक विशाल कार्यक्रम लिए हुए हैं। वे आजतक हजारों मील घूम चुके हैं उससे कहीं अधिक चलना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति को देखकर यही लगता है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है निश्चित गति से उनकी

पूर्ति नहीं की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह-हजार मील चल चुके है, परन्तु अब भी उनका चलने का उत्साह बिलकुल नया बना हुआ है।

वे एक यात्रा समाप्त करते है, उससे पहले ही अन्य यात्राओ की भूमिका बाध लेते है। गुजरात-यात्रा के अवसर पर वे 'वाव' गये थे, परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ जाने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड से थली में आने से पूर्व ही वापस मेवाड और उदयपुर पहुचने की अतिम तिथि का निर्धारण उन्होने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन में एक अधूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की माग करता रहता है। वस्तुत यात्रा मे वे अपने आपको अपेक्षाकृत अधिक ताजा और प्रसन्न अनुभव करते है। नवीनता से वे चिर-बधन करके आये है। एक स्थिति में या एक क्षेत्र में ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नही किया है। वे गति चाहते हैं, अपने लिए भी और दूसरो के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञात रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

दैनिक गति

आठ-दस मील चलने को अब वे बहुत साधारण गिनते है। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हें कहीं विहार करने का मनस्तोष मिल पाता है। आवश्यकता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हें कोई अधिक कठिन कार्य नही लगता। स० २०१३ में सरदारशहर से दिल्ली पहुँचे, तो प्राय प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता से थली में आये, तो प्राय प्रतिदिन पद्रह-सोलह मील चले। बीच-बीच में क्वचित् उसमे अधिक भी चले। उन्हें मानो गति में थकान नही आती, स्थिति में आती है। अपने आचार्य-काल के प्रथम बारह वर्षों में वे बहुत कम घूमे, उस समय उनकी गतिविधि केवल थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित रही। परन्तु अगले बारह वर्षों में वे इतने घूमे कि पूर्व काल में कम घूमने की बात अविश्वसनीय-सी बन गई।

शाश्वत यात्री

अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना और सुदूर यात्राएँ प्राय साथ-साथ ही प्रारभ हुई। राजस्थान, दिल्ली, पजाब , उत्तरप्रदेश, बिहार, बगाल, मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके हैं। भारत के अवशिष्ट प्रान्त उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा में हैं। आगामी यात्राओं का उनका क्या कार्यक्रम है, यह तो वे ही जाने, परन्तु पिछली यात्राओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी यात्राओं का क्रम अखड रूप से चालू रहेगा। जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राएँ बहुत ही उपयोगी होती हैं।

उनकी यात्राओं को चार भागों में बाटा जा सकता है—दिल्ली, पजाब-यात्रा, गुजरात-महाराष्ट्र-मध्यभारत-यात्रा, उत्तरप्रदेश-बिहार-बगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा। यद्यपि

उनके इस प्रसंग के लिए 'यात्रा' शब्द उतना अनुकूल नहीं बैठता क्योंकि यात्री किसी एक निर्धारित स्थान से चलता है और जब पुनः अपने स्थान पर पहुंच जाता है तब उसकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है। परन्तु आचार्य श्री के लिए अपना कोई स्थान नहीं है। यों सभी स्थानों को वे अपना ही मानते हैं पराया उनके लिए कोई नहीं है। तब फिर कहाँ से यात्रा का प्रारंभ हो और कहाँ अंत ? वे शाश्वत यात्री हैं और उनकी यात्रा भी शाश्वत है। वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है। इसीलिए ऐसी यात्रा को शास्त्र विहार चर्या के नाम से पुकारते हैं। केवल जन प्रचलित भाषा प्रयोग की सरलता के लिए ही यहाँ मैंने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है।

(१) प्रथम यात्रा

चरत भिक्खवे

आज से लगभग ढाई-हजार वर्ष पूर्व जब कि अध्यात्म प्राण भारत भूमि में हिंसा, अनैतिकता, कामुकता, शोषण और संग्रह आदि की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थीं तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा था—

चरत भिक्खवे चारिकं चरत भिक्खवे चारिकं

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

अर्थात्— हे भिक्षुओ! बहुत जनों के हित और सुख के लिए तुम पर विहार करो। भिक्षुओं ने पूछा— 'भन्त! अज्ञात प्रदेश में जाकर हम लोगों से क्या कहें ?" बुद्ध ने कहा—

पाणी न हंतब्बो

अदिन्नं न दातब्बं

कामेसु मुच्छा न चरितब्बा

मूसा न भासितब्बा

मज्जं न पातब्बं।

अर्थात्— प्राणियों की हिंसा मत करो चोरी मत करो कामासक्त मत बनो मृषा मत बोलो और मद्य मत पीओ। उन्हें इस पंचशील का संदेश दो।" अपने शास्ता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पड़े। उस छोटी-सी घटना ने वह विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया भूखण्ड में पंचशील का घोष फैल गया।

अणुव्रत आन्दोलन का प्रारंभ भी उसी प्रकार की स्थितियों में हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में हिंसा, अनैतिकता, चोरी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से बढ़ने लगा। लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल शून्यता के आसपास ही चल रहा था। देश की सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता थी चरित्र निर्माण की थी। उस समय आचार्य श्री ने अपने शिष्यों से कहा—"आयुष्मन्! जन-जन-कल्याण के लिए विहार करो और सबको ...

आचार्यश्री द्वारा अनुष्ठित नैतिक निर्माण की गूज राजधानी मे निरन्तर सुनी जाती रही। उससे उच्च राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। सम्भवत इसीलिए पडित जवाहरलाल नेहरू ने मुनिश्री नगराजजी से हुई एक मुलाकात में आचार्यश्री के दिल्ली-आगमन-विषयक निवेदन किया था। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्य समर्थको और कार्यकर्ताओ की भी यह प्रवल इच्छा थी कि उस महत्वपूर्ण अवसर पर आचार्यश्री अवश्य राजधानी में आयें, क्योकि वे वहाँ आयोजित होने वाले सास्कृतिक कार्यक्रमो का लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए प्राप्त करने की प्रवल इच्छा रखते थे।

राजधानी के अनेक विशिष्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे कि स० २०१३ का वर्षाकाल वे दिल्ली मे ही वितायें। किन्तु अनेक कारणो से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नही कर सके और उन्होने वह वर्षाकाल सरदारशहर में विताया। वहाँ उन लोगो का यह निवेदन रहा कि वर्षाकाल-समाप्ति के तत्काल वाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुँच जायें, तो उन सभी सास्कृतिक कार्यक्रमो तथा जन-सपर्क का सहज-प्राप्य लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

ग्यारह दिनो मे

आचार्यश्री को उन लोगो का सुझाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का वातावरण वनाने लगे। उन्होने इस विषय में मुनिजनों से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली-यात्रा की घोषणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। अपने एक प्रवचन में उन्होंने दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—"मेरा वहाँ जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगों से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियो की प्रार्थना पूरी करना है। वहाँ के नेताओ का भी ख्याल है कि मेरा वहाँ जाना उपकारक हो सकता है।"[1]

आचार्यश्री को वहाँ जिन कार्यक्रमों में भाग लेना था, उनकी तिथियाँ काफी पहले से निश्चित हो चुकी थी। उनमें परिवर्तन की गुजायश नही थी। समय बहुत कम था और मार्ग बहुत लम्बा। सरदारशहर से दिल्ली लगभग दो-सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करते हुए सिर्फ ग्यारह दिनों में वहाँ पहुच गए।

विभिन्न सम्पर्क

जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे, वह आशातीत रूप से परिपूर्ण हुआ। वहाँ यूनेस्को के प्रतिनिधि, बौद्ध-भिक्षु, देश-विदेश के विद्वान्, नैतिक व सास्कृतिक आन्दोलनो में लगे हुए अनेक प्रचारक तथा राष्ट्र के धुरीण राजनीतिज्ञ आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। विदेशी व्यक्तियों में अग्रेज, अमेरिकन, फ्रासीसी, जर्मनी, जापानी और श्रीलङ्कावासी लोगों का सम्पर्क

१—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ १०

दूसरी बार

वहाँ से हरियाणा तथा पंजाब के विभिन्न स्थानों पर अपना संदेश देते हुए आचार्यश्री वर्षावास करने के लिए पुनः दिल्ली पधारे। वह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। उसमें उन्होंने जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक अणुव्रत-आन्दोलन की विचार-धारा को पहुँचाया।

उसी यात्रा में उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोबा भावे आदि के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियों के विषय में प्रथम विचार विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति संक्षिप्त शब्दों में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उसकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्भिक्षता के अवसर पर आचार्य श्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में एक जीवन-दायी वरदान लेकर आये हैं।

तीसरी बार

उस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष पश्चात् आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली में फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना में उस समय बहुत बड़ा अंतर आ गया था। पहले-पहल वहाँ आचार्य श्री तथा अणुव्रत—आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पड़ा था तरह-तरह की आशंकाओं का सामना करना पड़ा था साम्प्रदायिक संकीर्णता धार्मिक गुटबन्दी तथा पूँजीपतियों का राजनैतिक स्टण्ट होने के आरोप झेलने पड़े थे वहाँ तीसरी बार की यात्रा में उनका आशातीत स्वागत और कल्पनातीत समर्थन किया गया। प्रथम बार ही आचार्य श्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व नैतिक वातावरण में एक प्रचंड हलचल पैदा कर दी थी। तीसरी यात्रा में उसकी लहरें और भी अधिक प्रभावक रूप में सामने आई। यद्यपि वह प्रवास केवल बाईस दिन का ही था फिर भी उस थोड़े से समय में जनमतों के विम्बरूप की जो छाप राजधानी के माध्यम से देश तथा विदेश के विचारकों पर पड़ी वह उस यात्रा की सबसे बड़ी सफलता थी।

विभिन्न प्रेरणाएं

आचार्य श्री के उस पदार्पण का अवसर ही कुछ ऐसा था कि उस समय यूनेस्को—कान्फ्रेंस, बौद्ध-गोष्ठी तथा जैन-गोष्ठी आदि के सांस्कृतिक समारोहों के कारण देश विदेश के कुछ विशिष्ट विचारक पहले से ही राजधानी में उपस्थित थे। उस स्थिति से आचार्य श्री के संदेश को उन लोगों तक पहुँचाने के लिए अनायास ही अनुकूलता हो गई थी। लगता है उस प्रवास के पीछे कोई सुदृढ़ आन्तरिक प्रेरणा काम कर रही थी। बाहरी प्रेरणा भी कोई कम नहीं थी। राष्ट्र की आध्यात्मिक और नैतिक स्थिति को देखते हुए देश के सभी विचारक यह अनुभव कर रहे थे कि राष्ट्रोत्थान की अन्य योजनाओं के साथ नैतिक उत्थान का कार्य भी बहुत आवश्यक है। इसी अनुभूति ने उन सबका ध्यान आचार्यश्री और उनके आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया।

हम आचार्यश्री की धर्मयात्राओं का विवरण इन शब्दो में देने का साहस कर रहे हैं—वे आये, उन्होंने देखा और जीत लिया।"[1]

चौथी बार

उस यात्रा के पश्चात् आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली मे तब पधारे जबकि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे थे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नही था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री आदि से हुई मुलाकातो से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्व का हो गया। दिल्ली की ये सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती है। इन सब में अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

(२) द्वितीय यात्रा

गुजरात की ओर

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा स० २०१० के राणावास मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् प्रारभ हुई। कुछ दिन काठे के गावों में विचर कर वे आबू के मार्ग से गुजरात में प्रविष्ट हुए, आबू में रुघनाथजी के मन्दिर में ठहरे। वहाँ से दूसरे दिन देलवाडा के प्रसिद्ध जैन-मन्दिरो में गये। प्राचीनकाल के गौरव-मडित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खडे ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता मे मन को आकृष्ट करते हैं। शान्त और स्निग्ध वातावरण में प्रशान्त मुद्राशील मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती हैं। देलवाडा मार्ग में नहीं था। टेढे मार्ग से जाना पडा था, अत वापस आबू ही आ गये। आबू राजस्थानियों की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियों की ओर से किये गये स्वागत का सधिस्थल बन गया।

बाव में

गुजरात में प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पडने लगी थी। लूएँ झुलसाये डालती थीं, तो सूर्य की किरणो का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मजिल पर मजिल कटती गई और आचार्यश्री बाव पहुच गये। बाव अब थराद सब-डिवीजन का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राजा राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहुत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर-दूर तक आकर दर्शन भी करते रहे हैं। पाँच-छ वर्ष पूर्व बाव के श्रावको तथा राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे। तब बाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्य श्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्बे समय के पश्चात् अब वह वचन पूर्ण हुआ।

१—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ६,

अपेक्षाकृत अधिक रहा । उनकी मुलाकातें जिज्ञासाएँ तथा विचार-मंथन बहुत ही रोचक रूप से चला करते थे ।

हरमन जेकोबी के शिष्य

कई व्यक्ति तो वहाँ ऐसे भी मिले जो साक्षात् रूप से परिचित तो नहीं थे किन्तु परम्पर रूप से परिचित थे । उनमें जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जेकोबी के दो शिष्य—प्रो० ग्लासनाप और प्रो० हॉफमैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है । वे दिल्ली प्रवेश के प्रथम दिन ही जबकि आचार्यश्री वाई० एम० सी० ए० के हॉल में बौद्ध-गोष्ठी में सम्मिलित होने गये, बहुत देर से बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते हुए मिले । उनके गुरु प्रो० हरमन जेकोबी जैनागमों के ख्यातनामा विद्वान् थे । वे जब भारत-यात्रा पर आये तब लाडनूं (राजस्थान) में अष्टमाचार्यश्री कालूगणी से मिले थे और जैनागमों की अनेक उलझी हुई समस्याओं पर विचार विनिमय किया था । उन दोनों जर्मन प्रोफेसरों को इस बात की विशेष प्रसन्नता थी कि आचार्यश्री के गुरु और उनके गुरु का जो धार्मिक सम्पर्क हुआ था वह आज दोनों ही ओर की अगली पीढ़ी में पुनः नवीन हो रहा था ।

व्यस्त कार्यक्रम

वह यात्रा न केवल जन-सम्पर्क की दृष्टि से ही सम्पन्न थी, अपितु नाना आयोजनों ने भी उसके महत्त्व को बढ़ा दिया था । अणुव्रत-सेमिनार, राष्ट्रीय चरित्र निर्माण-सप्ताह, मैत्री दिवस, चुनाव-शुद्धि प्रेरणा, संस्कृत-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी तथा विविध संस्थाओं और स्थानों पर हुए आचार्यश्री के प्रवचन मुख्यतः अणुव्रत विचार प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए । अणुव्रत-सेमिनार का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातनामा विद्वान् डॉ० लूथर इवान्स ने, मैत्री दिवस का उद्घाटन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र निर्माण सप्ताह का उद्घाटन प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था ।

जीत लिया

दिल्ली के वे बावीस दिन आचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता में बिताये थे कि उनके पास प्रायः अतिरिक्त समय बच ही नहीं पाता था, फिर भी वे वहाँ के नागरिकों की आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नहीं कर सके । उन्होंने सब्जी-मंडी-महोत्सव की स्वीकृति सरदारशहर के लिए पहले ही दे दी थी, अतः उससे अधिक ठहरना वहाँ सम्भव नहीं था । वहाँ तत्कालीन प्रवास का सभी दृष्टियों से इतना प्रभाव रहा कि सुप्रसिद्ध पत्रकार श्रीसत्यदेव विद्यालंकार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिश्र विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दों से की है । जूलियस सीजर ने अपनी बात को अति संक्षेप में यों कहा था—"मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया ।" सत्यदेवजी कहते हैं— जूलियस सीजर के शब्दों को कुछ बदलकर

हम आचार्यश्री की धर्मयात्राओ का विवरण इन शब्दो में देने का साहस कर रहे है—वे आये, उन्होने देखा और जीत लिया।"[१]

चौथी बार

उस यात्रा के पश्चात् आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली में तब पधारे जबकि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे थे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नहीं था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री आदि से हुई मुलाकातों से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्व का हो गया। दिल्ली की ये सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती है। इन सब में अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

(२) द्वितीय यात्रा

गुजरात की ओर

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा स० २०१० के राणावास मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् प्रारभ हुई। कुछ दिन काठे के गावो में विचर कर वे आबू के मार्ग से गुजरात मे प्रविष्ट हुए, आबू मे रुघनाथजी के मन्दिर में ठहरे। वहाँ से दूसरे दिन देलवाडा के प्रसिद्ध जैन-मन्दिरो में गये। प्राचीनकाल के गौरव-मडित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खडे ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता मे मन को आकृष्ट करते है। शान्त और स्निग्ध वातावरण मे प्रशान्त मुद्राशील मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती हैं। देलवाडा मार्ग में नहीं था। टेढे मार्ग से जाना पडा था, अत वापस आबू ही आ गये। आबू राजस्थानियो की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियों की ओर से किये गये स्वागत का सधिस्थल बन गया।

बाव में

गुजरात में प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पडने लगी थी। लूएँ झुल्साये डालती थी, तो सूर्य की किरणों का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मजिल पर मजिल कटती गई और आचार्यश्री बाव पहुच गये। बाव अब थराद सब-डिवीजन का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राजा राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहुत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर-दूर तक आकर दर्शन भी करते रहे हैं। पाँच-छ वर्ष पूर्व बाव के श्रावको तथा राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे। तब बाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्य श्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्बे समय के पश्चात् अब वह वचन पूर्ण हुआ।

१—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ६,

सौराष्ट्र की प्रार्थना

वहाँ से आचार्यश्री अहमदाबाद पधार गए। वह क्षेत्र कच्छ सौराष्ट्र तथा गुजरात तीनों के ही लिए अनुकूल पड़ सकता है अतः वर्षाकाल वहीं व्यतीत करने की प्रार्थना की गई पर वह स्वीकृत नहीं हुई। सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री ढेबर भाई ने सौराष्ट्र-पदार्पण के लिए काफी आग्रह भरी प्रार्थना की पर वह भी स्वीकृत नहीं हुई। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन में जो निर्णय कर रखा था उसी के अनुसार उन्होंने सूरत की ओर प्रस्थान किया।

सूरत में

गुजरात में तेरापन्थ के प्रतिष्ठापन में सूरत प्रमुख रूप से कार्य करने वाला क्षेत्र रहा है। धर्म प्रचार में धी-धाम कमाने वाले सुप्रसिद्ध श्रावक मगन भाई वहीं के थे। वहाँ केवल तीन दिन ठहरना हुआ। सम्भवतः वहाँ और अधिक विराजते किन्तु उस क्षेत्र की वर्षा-ऋतु के क्रम को देखते हुए शीघ्र ही बम्बई पहुँच जाना आवश्यक था।

बम्बई की ओर

बम्बई की ओर विहार करते हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्रायः पन्द्रह-सोलह मील चला करते फिर भी मार्ग में वर्षा शुरू हो गई। उससे गर्मी की तीव्रता से तो कुछ छुटकारा मिला पर दूसरी अनेक दुविधाएं पैदा हो गई। वर्षा के कारण विहार का समय बिलकुल अनिश्चित हो गया। कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नहीं। मार्ग काटना था। अतः कभी मध्याह्न में और कभी सायं अन्धेरा चलना पड़ता। नदी-नालों से बचने के लिए रेल की पटरी का मार्ग लिया गया किन्तु वहाँ कंकरों के मारे पैर छलनी हो जाते। नीचे चलते तो वर्षा से भीगी हुई चिकनी मिट्टी पैरों से इतनी मात्रा में चिपट जाती कि उसका भार महसूस होने लगता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए आचार्यश्री बम्बई के एक उपनगर 'बारीवली' पहुँच गए। तब तक वे लगभग एक हजार मील चल चुके थे। उनकी उद्दिष्ट यात्रा का वहाँ एक चरण सम्पन्न हो गया।

नौ महीने

चातुर्मासिक काल से पूर्व तथा पश्चात् बम्बई के विभिन्न उपनगरों में रहना हुआ। वर्षा काल सिक्कानगर में बिताया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुनः सिक्कानगर आये। लगभग नौ महीने का वह प्रवास हुआ। उस प्रवास-काल के प्रारम्भिक महीनों में ज्यों ज्यों कार्य बढ़ा त्यों-त्यों एक ओर तो जनता आकृष्ट हुई, पर दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में थे जो आचार्यश्री तथा उनके मिशन से विरोध रखते थे। धीरे धीरे उन लोगों को यह पता लग गया कि आचार्यश्री का विरोध कर वे जन-दृष्टि में अपने पत्र के ही महत्त्व को गिरा रहे हैं। फलतः पिछले महीनों में विरोध की गौणता प्रगट हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् आचार्यश्री ने उस यात्रा का दूसरा चरण प्रारभ किया। उस समय उन्हें चौपाटी पर विदाई दी गई। एक ओर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी ओर जन-समुद्र था। उस समय दोनो ही उद्वेलित थे। एक वायु से, तो दूसरा विदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण-मूर्ति उन दोनो की ही समस्याओ को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास में खडी थी। लोगो के मन मे उस समय एक ओर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी ओर विरह के भाव उमड रहे थे, किन्तु आचार्यश्री उन दोनो से अलिप्त रहकर अपने पथ पर आगे बढने को उद्यत हुए।

पूना मे

वे पूना पधारे। पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है। वहाँ सस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी सख्या मे हैं। वहाँ के विद्या-व्यसनी कुछ व्यक्तियो ने तो अपना जीवन ही इस कार्य में झोक दिया है। आचार्यश्री के पदार्पण से वहाँ का सास्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगध से महक उठा। यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति सक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानो से परिचय की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा।

एलौरा और अजता में

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गावों में विहार करते हुए आचार्य श्री एलौरा तथा अजता की सुप्रसिद्ध गुफाओ में पधारे। ये दोनो ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय है। ये गुफाएँ वहाँ उस पहाड को उत्कीर्ण करके ही बनाई गई है। वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण और सजीव है। उन्हें प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। एलौरा में जहाँ जैन बौद्ध और वैदिक—तीनों ही सस्कृतियो की गुफाए तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वहाँ अजता में केवल बौद्ध मूर्तियाँ ही है। उसमें बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ तथा जातक-कथाएँ आलिखित तथा उत्कीर्ण हैं। आलिखित चित्रों का रग बहुत प्राचीन होने पर भी नवीन-सा लगता है। कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से उत्कीर्ण की गई हैं कि उन्हें विभिन्न तीन कोणों से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखालाई पडती हैं। वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हें हाथ से बजाने पर तबले की-सी ध्वनि उठती है। वहाँ मनुष्यों तथा पशुओं की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राएँ अकित की ही गई हैं, किन्तु बेल-बूटों के भी मनोहारी दृश्य चित्रित है। अजन्ता में जाने से पूर्व-दिन की रात्रि उन्होंने 'व्यू पोइण्ट' पर बिताई थी। 'व्यू पोइण्ट' उस स्थान को कहते है, जहाँ से एक अग्रेज शिकारी को अजन्ता की उन विस्मृत गुफाओ का पहले-पहल आभास मिला था।

प्रत्यावर्त्तन

इस प्रकार आचार्यश्री महाराष्ट्र के प्राकृतिक दृश्यो तथा जालना, भुसावल, जलगाव धूलिया, डोंडायचा, शाहदा आदि विभिन्न शहरों का समान आनन्द लेते हुए विचरते रहे। लोगों का अनुमान था कि वे उस यात्रा के तीसरे चरण में बगलौर तक पहुच जायेंगे। सम्भवतः

आचार्यश्री का भी कुछ-कुछ ऐसा विचार रहा हो किन्तु परिस्थिति-वश [illegible] । वहाँ से वे मध्य भारत की ओर मुड़ गये । मालव के विभिन्न क्षेत्रों में [illegible] अपनी यात्रा का तीसरा चरण उज्जैन में [illegible] प्रवास के [illegible] का अंतिम चरण उज्जैन से गंगापुर-पदार्पण था । [illegible] हुआ । राजस्थान प्रवेश के साथ आचार्यश्री की यह द्वितीय यात्रा सम्पन्न हुई ।

(३) तृतीय यात्रा

नया कार्य-क्षेत्र

आचार्यश्री की तृतीय यात्रा बहुत लंबी होने के साथ-साथ बहुत महत्त्वपूर्ण भी रही । इस यात्रा में आचार्यश्री ने अपने कार्य क्षेत्र के लिए नया विस्तृत क्षेत्र और नये प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण किया । भारत के सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रांत उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल इस यात्रा के लक्ष्य थे । किसी युग में इन प्रदेशों में जैन श्रमणों का बड़ा महत्त्व रहा था । बिहार तो भगवान् महावीर का मुख्य कार्य-क्षेत्र था ही । राजगृह और वैशाली का महत्त्व उस समय केवल बिहार के लिए ही नहीं अपितु सारे भारत के लिए था । आचार्यश्री ने इस यात्रा का निश्चय किया और राजस्थान की राजधानी जयपुर से विहार करते हुए उधर पधारे ।

उत्तर प्रदेश में

पहले उत्तरप्रदेश ही मार्ग में आया । समाचार-पत्रों द्वारा आचार्यश्री के पदार्पण का समाचार पाकर वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों की जनता अति उत्सुकता के साथ उनकी प्रतीक्षा करने लगी । जहाँ-जहाँ पदार्पण होता वहाँ की जनता में चेतना की एक लहर-सी दौड़ जाती । आचार्यश्री के पदार्पण से पूर्व मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अनेक क्षेत्रों में घूमकर एक भूमिका तैयार कर दी थी । आचार्य श्री वहाँ चरित्र निर्माण के बीज बिखेरते जा रहे थे । जनता आचार्यश्री के चरित्रोत्थानमूलक कार्यक्रमों में बड़ा रस लेती थी । अनेक स्थानों पर स्थानीय अणुव्रत-समितियों का गठन हुआ । आचार्यश्री के मिशन को आगे बढ़ाने के लिए तथा नैतिकता के पक्ष में उत्पन्न हुए वातावरण को स्थायित्व देने के लिए प्रायः सभी लोग उत्सुक थे ।

[illegible] भक्ति

आचार्यश्री ग्रीष्म ऋतु में वहाँ खूब विचरे । राजस्थान की लुओं में पले हुए व्यक्तियों के लिए वहाँ की गर्मी यद्यपि अधिक कठोर नहीं थी परन्तु वहाँ की लुओं ने राजस्थान की भी रीढ़ तोड़ दिया । राजस्थान में संभवतः लुएँ ने इतने व्यापक नहीं चलते होंगे जितने कि उत्तरप्रदेश और बिहार में चलते हैं । वहाँ की लुओं ने एक साध्वी की बलि तो ले ही ली, पर दो-तीन साधुओं को भी एक बार तो उस किनारे के निकट तक पहुँचा ही दिया । यह दूसरी बात है कि वे बच गए । उस गर्मी में जन-समुदाय के उत्साह से विहार करते हुए आचार्यश्री ने अपना वर्षा-वास कानपुर में बिताया ।

नगरो और ग्रामों में

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ, विद्वत्ता और पवित्रता के लिए प्रख्यात वाराणसी तथा उद्योग-नगरी कानपुर आदि में जहाँ महत्त्वपूर्ण जन-सम्पर्क हुआ, वहाँ छोटे-छोटे गावो में भी वह कम नही हुआ। पर मानस-सम्पर्क की जहाँ तक बात है, वहाँ शहरो की अपेक्षा गाव सदैव आगे रहे है। शहरो की जनता जहाँ सभ्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दों के क्रमिक विधि-विधानो के माध्यम से बात करती है, वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से सम्बद्ध सरल और आडबरहीन क्रम से बात करना पसंद करती है। ग्रामवासियो का व्यवहार यद्यपि असभ्य और अशिष्ट नही होता, परन्तु वह सभ्यता और शिष्टता की भापा में भी नही बधता। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे समीप से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो, तो उसे 'सहज भाव' कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण जन अवश्य ही गरीब होते है, परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होते हैं कि उन जैसा धनी शहरो में चिराग लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति आते रहे हैं। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनो की विभिन्न समस्याओ का भी उन्हें पता है। वे उन दोनो के लिए मार्ग-दर्शन देते हैं, अत दोनों के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गए हैं।

बिहार में

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बगाल पहुचने का लक्ष्य सामने था। बिहार मार्ग में पडता था। चरण बढ चले। बिहार-भूमि में प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है।

तीर्थ स्थानो में

वहाँ आचार्य श्री पटना, पावा, नालन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रो में भी गये। नालंदा में सरकार द्वारा स्थापित 'नव नालदा महाविहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-सस्थान है। पाली भाषा के अध्ययनार्थ वह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। नालन्दा में बौद्ध तथा जैन विद्वानों द्वारा आचार्यश्री का बडा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह में जैन-संस्कृति सम्मेलन रखा गया। उसमें अनेक विद्वानो ने भाग लिया। दोनो श्रमण-परम्पराओ के ये दोनों विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप हैं।

भय और आग्रह

शहरो की स्थिति से वहाँ गावो की स्थिति भिन्न थी। गावो में जैन साधुओ को बहुत कम लोग जानते हैं, प्राय नहीं ही जानते, अत ठहरने के लिए स्थान आदि की बडी दिक्कतें रहतीं। डाकुओं का आतक होने के कारण कहीं-कहीं आचार्यश्री के साथ चलने वाले काफिले को भी उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। कहीं-कही यह भय भी स्थान देने में बाधक

सकता कि इतने व्यक्तियों को कहीं भोजन करना न पड़ जाये ?
तब निर्मूल सिद्ध हो जाता जबकि आचार्यश्री के साथ चलने [illegible]
पकाते उन लोगों का गाँव पर किसी प्रकार का कोई भार नहीं [illegible]
उपदेश देते भजन सुनाते सत्य की प्रेरणा देते और [illegible]
को तब अपने पूर्वकृत व्यवहार पर पछतावा होता । जो लोग [illegible]
चाहते वे ही दूसरे दिन अधिक ठहरने का आग्रह करने लगते ।

बंगाल में

बिहार को पार कर आचार्यश्री बंगाल में प्रविष्ट हुए । [illegible]
बंगाल में राजस्थान के लोग बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं । उनमें अधिकांश [illegible]
बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं । वहाँ के काफी लोग ठेठ कानपुर से ही आचार्यश्री के
साथ थे ।

कलकत्ता में

भारत की महानगरी कलकत्ता के लोगों का प्रारंभ से ही यह आग्रह था कि आचार्यश्री
का वहाँ पदार्पण हो । उनकी प्रार्थना को मान्य करते हुए आचार्यश्री ने जब कलकत्ता में प्रवेश
किया तब वहाँ के जन-समुदाय का हर्ष देखने योग्य था । प्रवेश के समय [illegible]
सचमुच ही अगाध समुद्र के समान बन गया था । कलकत्ता पहुँचने पर वे कुछ दिनों तक विभिन्न
उपनगरों में रहे और बाद में वर्षाकाल व्यतीत करने के लिए बड़ा बाजार क्षेत्र में [illegible]
तेरापन्थी-महासभा भवन में ठहरे । प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर बनाए गये विशाल [illegible]
पण्डाल में हुआ करता था ।

उपस्थिति

प्रतिदिन के प्रवचन में उपस्थिति प्रायः सात-आठ हजार व्यक्तियों की हो जाया करती
थी । रविवार को इससे भी अधिक होती थी । कलकत्ता जैसा व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र में धार्मिक
विषय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है किन्तु
वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था । जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ बड़े उत्साह से [illegible]
किये जाते रहे । वहाँ के निम्न-वर्ग से लेकर अभिजात्य-वर्ग तक के लोग आचार्यश्री के सम्पर्क
में आये । जन-सम्पर्क तथा उनसे मिलने वाले मेलजोलभाव ने अनेक व्यक्तियों को [illegible]
बनाया । ऐसे व्यक्तियों ने अपनी शक्ति का उपयोग आचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण बनाने में
किया । परन्तु उनसे आचार्यश्री क्यों घबराते ? वे अपना काम करते रहे और आचार्यश्री [illegible] ।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री वहाँ से वापस चले तो बिहार उत्तर-[illegible],
दिल्ली होते हुए हाँसी में आकर उन्होंने मर्यादा-महोत्सव किया । वहीं उस प्रसंग [illegible]
समाप्ति समझी जा सकती है ।

(४) चतुर्थ यात्रा

अन्तर-काल

इन विशिष्ट यात्राओ के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैंने चतुर्थ यात्रा के रूप में मान लिया है। उपर्युक्त तीनो यात्राओ से पूर्व आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीजन में विचरते रहे। वह समय उन्होने मुख्यतः सघ के विद्या-विकास पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारभ की है, अतः एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप में ही देखा गया है।

राजस्थान में

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कही वह बालू-प्रधान है, कही पर्वत-प्रधान और कहीं समतल। कही ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनता से ही मिलती है, तो कही खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार वहाँ के बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर और जयपुर डिवीजनों में ही बहुधा होता रहा है।

अजस्र स्रोत

इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अजस्र चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त मे वे उसी सहज भाव से जाते-आते रहते है, जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाता-आता रहता है। कोई दिक्कत, अनभावन या परायापन नही। कोई थकान नही, तो कोई समाप्ति भी नही।

लोगों को ऋण आदि से काफी दबा रखा है। तरह-तरह से वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते हैं। आचार्यश्री जब स० २०१७ में मेवाड गये, तब 'रावलिया' के आस-पास के गमेतियो ने अपनी दशा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दशा और महाजनो के अत्याचारों के विषय में चार पृष्ठ का एक पत्र भी लिख कर लाये थे। उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय में महाजनो को कहा भी तथा कुछ सन्तों को एतद्-विपयक दोनो पक्षों की पूरी जानकारी के लिए वहाँ छोडा भी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार है—

"श्री श्री १००८ श्री श्री श्री माराज धरमीराजजी पुजनीक माराज, थला री धरती वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका (दुखियों) की पुकार—

"तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीकजी··· · कर सकेगा, गरीव जाति रो हेलो जरूर सुणेगा, यचाव (हिसाव) तो लेगा। धरमराज रो भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोड करके अरज है के मारी गरीव जाती वोत दुखी है' '' '।" कुछ महाजनो के नाम देकर आगे लिखा है—"फरजी जुटा-जुटा खत माडकर गरीवाँ रे पास से जमी ले लीदी है और गाया, भैंसा, बकर्‍या बी ले लीदी है। बडा भारी जुलम कीदा है, जुटा-जुटा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जवरदस्ती करने वसूली करे है। गरीबा ने ५) रुपया दे ने ५००) रुपया रा खत माडे। सो मारा सब पसा (पचो) री राय है, के ·· ·जल्दी सू जल्दी पद मगाकर देकाया जावे, जल्दी सू जल्दी फैसला दिया जावे।

द० दलीग सब जन्ता (जनता) रा केवा सु

२०१७ जेठ सुद सातम "[1]

इस पत्र का भावार्थ है—"आचार्यश्री से दु खियो की पुकार। हमें विश्वास है कि आप हम गरीबों की पुकार अवश्य सुनेंगे, शीघ्र फैसला कर हमें उचित न्याय देंगे। गमेती जनता बहुत दु खी है। अमुक-अमुक · व्यक्तियों ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये हैं, पशु भी ले लिये हैं। झूठे दावे करके कुर्की करा दी जाती है और फिर बलपूर्वक उसको वसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँच-सौ लिख लिये जाते है, अत हमारे पचों की राय है कि आप हमारा फैसला करें।

हस्ताक्षर—'दलीग' सब जनता के कहने से

स० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी"

हरिजनों का पत्र

मारवाड के काणाना नामक गाव में मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणो में प्रस्तुत किया गया। उसमें कुछ महाजनों के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की गई थी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार है—

१—जैन भारती, ९ अक्तूबर, १९६०

बालक ने कहा—"अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है।"

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया। फलस्वरूप उसी रात्रि को वह झगडा मिट गया। प्रात आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना कर ली गई। जो व्यक्ति समूचे गाँव और पचो की बात ठुकरा चुका था, वही आचार्यश्री की कुछ प्रेरणा पाकर सरल बन गया।

एक सामाजिक विग्रह

कुछ समय पूर्व थली के ओसवालो मे 'देशी-विलायती' का एक समाज-व्यापी विग्रह उत्पन्न हो गया था। वह अनेक वर्षो तक चलता रहा। उसमे समाज को अनेक हानियाँ उठानी पडी। एक प्रकार से उस समय समाज की सारी शृ खला ही टूट गई थी। धीरे-धीरे वर्षो बाद उसका उपरितन रोष और खिंचाव तो ठडा पड गया, किन्तु उसकी जड नही गई। सामूहिक भोज आदि के अवसर पर उसमे अनेक बार नये अकुर फूटते रहते थे।

स० १९९९ के चूरू चातुर्मास में आचार्यश्री ने लोगो को एतद्विषक प्रेरणा दी। दोनो ही दलों के व्यक्तियो को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से समझाया। आखिर अनेक दिनो के प्रयास के पश्चात् उन लोगों ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना की। वह विग्रह चूरू से ही प्रारम्भ होकर समग्र थली मे फैला था और सयोगवशात् चूरू में ही उसकी अन्त्येष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह बतलाते हैं कि विभिन्न समाजो के व्यक्तियो पर आचार्यश्री का कितना प्रभाव है और वे सब उनके वचनो का कितना आदर करते हैं। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेश मात्र से मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा से ही सम्भव है। यह श्रद्धा और विश्वास उनके नैरन्तरिक सम्पर्क से ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

(२) विशिष्ट जन-सम्पर्क

व्यापक सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियो से भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक दलबन्दी को प्रश्रय नहीं देते, पर परिचित सभी से रहना अभीष्ट समझते है। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ परिचय है। साहित्यकारों तथा पत्रकारो से भी वे बहुधा मानवीय समस्याओ पर विचार-विमर्श करते रहते है। वे चिन्तन के आदान-प्रदान में विश्वास करते हैं, अत अनुकूल और प्रतिकूल बातों को समरसता से सुन लेने के अभ्यस्त है।

दूसरों के सुझावों में से ग्राह्य तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता से पकडते है। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतिज्ञों से बातें करते हैं, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण

किन्तु सुनाने के लिए आया हूँ ।" वे लगभग दस-मिनट ठहरे होगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह मे भरे होने के कारण बातचीत के क्रम में कोई सरसता नही आ सकी ।

वे ही कृपलानीजी जब स २०१३ में दिल्ली में दुवारा मिले, तब वह तनाव तो था ही नहीं, अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उनका स्थान ले लिया था। अणुव्रत-गोष्ठी में भी उन्होने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके पश्चात् सुचेताजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा मानो प्रथम भेंटवाले कृपलानी कोइ दूसरे ही थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेंट की याद दिलाई तो वे हस पडे ।

आचार्यश्री और डा० राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय जनतत्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महान् थी, उतने ही वे नम्र थे। आचार्यश्री के प्रति उनके मनमें बहुत आदर-भाव था। वे पहले-पहल जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उस समय वे भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके पश्चात् वह सिलसिला चालू रहा। और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त होता रहा। वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रशसक थे। वे इसे एक समयोपयुक्त योजना मानते थे और इसका प्रसार चाहते थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में मनाये गये प्रथम मैत्रीदिवस का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा—"आप यदि अणुव्रत आन्दोलन में मुझे कोई पद देना चाहें तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूगा।"

राष्ट्रपति का आचार्यश्री से अनेक बार और अनेक विषयो पर वार्तालाप होता रहता था। उसमें से कुछ वार्ता-प्रसग यहाँ दिये जाते हैं।

राजेन्द्र बाबू—"इस समय देश को नैतिकता की सबसे बडी आवश्यकता है। स्वतत्रता के बाद भी यदि नैतिक स्तर नहीं उठ पाया तो यह देश के लिए बडे खतरे की बात है।"

आचार्यश्री—"इस क्षेत्र में सबको सहयोगी बनकर काम करने की आवश्यकता है। यदि सब एक होकर जुट जायें तो यह कोई कठिन काम नही है।"

राजेन्द्रबाबू—"राजनैतिक नेताओं की बात आप छोडिये, उनमें परस्पर बहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है। इस वस्तु-स्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह सभाला जाये, वह विचारणीय है।"

आचार्यश्री—"जो नेता-गण आध्यात्मिकता में विश्वास करते हैं, वे सब सहयोग-भाव से इस कार्य में लग सकते हैं।"

राजेन्द्रबाबू—"सर्वोदय समाज भी इन कार्यों में रुचि रखता है, अत आपका उससे सम्पर्क हो सके तो ठीक रहे।"

आचार्यश्री—"हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे सक्रिय है।"

डा० राधाकृष्णन्—"मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नही होता। इसलिए आप जो काम करते है, उसका जनता पर स्वत सुन्दर प्रभाव होता है, क्योकि आपका जीवन उसके अनुरूप है।"[१]

आचार्यश्री और जवाहरलाल नेहरू

आचार्य श्री का भारत के प्रधान मत्री पडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार विमर्श हुआ है। प्रथम बार का मिलन स० २००८ में हुआ था। उसमें आचार्यश्री ने उन्हें अणुव्रत-आन्दोलन से परिचित कराया था। उस समय वे प्राय सुनते ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी बार जब स० २०१३ में मिलना हुआ, तो काफी खुलकर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था—"मैं चाहता हूँ, आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुत वह बातचीत खुले मस्तिष्क से हुई और परिणाम-दायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारभ करते हुए कहा—"हम जानते हैं कि गाधीजी व आप लोगों के प्रयत्नों से भारत को आजादी मिली। पर आज देश की क्या स्थिति है? चरित्र गिरता जा रहा है। कुछेक व्यक्तियों को छोडकर देश का चित्र खिंचा जाये तो वह स्वस्थ नही होगा, यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा? कोरी बातों से चरित्र उन्नत नही होगा। लोगों को चरित्र-सबधी कोई काम दिया जाये, यही मैं चाहता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना आवश्यक है। पाँच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बताई थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नहीं दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नही लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नही है।"

प० नेहरू—"मैं जानता हूँ, आपको पैसा नही चाहिए।"

आचार्यश्री—"इस आन्दोलन को मैं राजनीति से भी जोडना नहीं-चाहता।"

प० नेहरू—"मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा?"

आचार्यश्री—"जैसे आप राजनैतिक हैं, वैसे स्वतत्र व्यक्ति भी हैं। हम आपके स्वतत्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नही। पहली मुलाकात में आपने कहा था—'मैं उसे पढूंगा' पता नही आपने पढा या नहीं।"

प० नेहरू—"मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढी है, पर मैं वहुत व्यस्त हूँ। आन्दोलन के वारे में मैं कह सकता हूँ।"

१—नव निर्माण की पुकार

आचार्यश्री— 'सबके उत्थान के लिए सबके सहयोग की सम्पर्क का प्रसंसक हूँ।'[1]

आचार्यश्री और डा० राधाकृष्णन्

भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री में अच्छी रुचि रखते हैं। सं २ ११ में जब आचार्यश्री दिल्ली पधारे, उस समय वे उपराष्ट्रपति के पद पर थे। वे अणुव्रत-गोष्ठी में भाग लेने, किन्तु देहावसान हो जाने से नहीं आ सके थे। जब आचार्यश्री उनकी कोठी में उन्होंने कहा भी था कि मैं आपके किसी भी कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सका।

उस समय आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण वार्तालाप कुछ अंश इस प्रकार है

डाक्टर राधाकृष्णन्— जैन-मंदिर में हरिजन प्रवेश के विषय में आपका क्या अभिमत है ?

आचार्यश्री— 'जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके वह क्या मंदिर है? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना मैं धर्म में बाधा डालना मानता हूँ। जैन धर्म तो अमूर्तिपूजक है। जैनों में मुख्य दो परंपराएं है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं में दो प्रकार के सम्प्रदाय है—एक अमूर्ति पूजक और दूसरा मूर्ति-पूजक। जैन सम्प्रदायों में मान्यता के विषय में मौलिक-दृष्टि से प्राय सभी एकमत है। कुछ एक बातों की जैसे कोई पार्थक्य है जो अधिकांश बाह्य व्यवहारो का है और क्रमश कम होता जा रहा है। जैन-सेमिनार में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के साधुओं ने भाग लिया। मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप मे निमंत्रित किया गया था और अच्छा सहिष्णुता का वातावरण बना था।

डा राधाकृष्णन्— समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के युग की यह सबसे बड़ी मांग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।

आचार्यश्री— आपका पहले राजदूत के रूप में और अब उपराष्ट्रपति के रूप में राजनीति में प्रवेश हमें कुछ अटपटा-सा लगा था कि एक दार्शनिक किधर जा रहे हैं पर अब आपकी सांस्कृतिक रुचियों और अन्य कामों को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की जो राजनीति है उसमें कोई विचारक ही सुधार कर सकता है और उसे एक नया मोड़ दे सकता है क्योंकि उसके पास सोचने की अपनी पद्धति होती है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है सुधार का कार्य प्रारंभ कर देता है।'

डा राधाकृष्णन्— आज द्रव्य हिंसा का तो फिर भी कुछ अंशों में विरोध हो रहा है, पर भाव हिंसा का प्रभाव तो और भी जोरो से बढ़ रहा है इसके विरोध के लिए कुछ उपाय होना चाहिए।

1. जैन-मुनियों-विरस्ल

आचार्यश्री—"हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में सक्रिय है।"

डा० राधाकृष्णन्—"मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नही होता। इसलिए आप जो काम करते हैं, उसका जनता पर स्वत सुन्दर प्रभाव होता है, क्योंकि आपका जीवन उसके अनुरूप है।"[1]

आचार्यश्री और जवाहरलाल नेहरू

आचार्य श्री का भारत के प्रधान मत्री पडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार विमर्श हुआ है। प्रथम बार का मिलन स० २००८ में हुआ था। उसमें आचार्यश्री ने उन्हें अणुव्रत-आन्दोलन से परिचित कराया था। उस समय वे प्राय सुनते ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी वार जब स० २०१३ में मिलना हुआ, तो काफी खुलकर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था—"मैं चाहता हूँ, आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुत वह बातचीत खुले मस्तिष्क से हुई और परिणाम-दायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारभ करते हुए कहा—"हम जानते हैं कि गाधीजी व आप लोगों के प्रयत्नों से भारत को आजादी मिली। पर आज देश की क्या स्थिति है? चरित्र गिरता जा रहा है। कुछेक व्यक्तियो को छोडकर देश का चित्र खिंचा जाये तो वह स्वस्थ नही होगा, यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा? कोरी बातो से चरित्र उन्नत नही होगा। लोगों को चरित्र-सबधी कोई काम दिया जाये, यही मैं चाहता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना आवश्यक है। पाँच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बताई थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नही दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नही लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नही है।"

प० नेहरू—"मैं जानता हूँ, आपको पैसा नही चाहिए।"

आचार्यश्री—"इस आन्दोलन को मैं राजनीति से भी जोडना नही-चाहता।"

प० नेहरू—"मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा?"

आचार्यश्री—"जैसे आप राजनैतिक हैं, वैसे स्वतत्र व्यक्ति भी है। हम आपके स्वतत्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नही। पहली मुलाकात में आपने कहा था—'मैं उसे पढूंगा' पता नही आपने पढा या नहीं।"

प० नेहरू—"मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढी है, पर मैं वहुत व्यस्त हूँ। आन्दोलन के वारे में मैं कह सकता हूँ।"

१—नव निर्माण की पुकार

दिशा में कितने सावधान हैं। कई लोग वापस हट भी जाते हैं। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते हैं, वे उन्हें दृढता से पालते है। अणुव्रतियो में अधिकाश जो हमारे सम्पर्क में आते रहते हैं, उनकी सार-सम्भाल तो मैं और सौ-सवा सौ जगह अलग-अलग घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते हैं। कठिनाइयो के कारण अगर कोई व्रत नही निभा सकता है, तो उसे अलग कर दिया जाता है और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुव्रतियो का भाग नब्बे प्रतिशत रहता है।

"हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे है, उसमे हमें सभी लोगो के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नही है। हम चाहते हैं कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनो में इसकी चर्चा करते रहे, तो इससे आन्दोलन गति पकड सकता है। अत हम आपसे भी चाहेंगे कि आप हमें इस प्रकार का सहयोग दें।"

श्री मेहता—"उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नही, क्योकि हमलोग राजनैतिक व्यक्ति हैं। राजनीति में जिस प्रकार हमने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध में कहने का अधिकार है। पर धर्म का यह उपदेश नही कर सकते और करना भी नही चाहिए। वैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूँ और आगे भी करता रहूँगा।"

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—"मैं अभी यहाँ रहने वाला हूँ नहीं। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम में जरूर भाग लेंगे। पर काम केवल घोषणा से नही होने वाला है। इसके लिए तो खडे होने वाले उम्मीदवारो और विशेषत जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अत आप जनता में भी कार्य करें।"

आचार्यश्री—"जनता में हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारो में भी शुरू करना चाहते हैं।"[1]

आचार्यश्री और सत विनोबा भावे

आचार्यश्री ने स० २००८ का वर्षाकाल दिल्ली मे बिताया। उसके पूर्ण होते ही उन्हे वहाँ से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुँचने वाले हैं। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिलें। आचार्यश्री स्वय भी उनसे विचारविनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गाधी-समाधि के पास बैठकर बातचीत प्रारभ हुई। उसके कुछ अश यहाँ दिये जाते है

१—नव निर्माण की पुकार

आचार्यश्री— 'आपने कभी कहा तो नहीं क्या आप [illegible] समझते ?"

पं० नेहरू— 'यह कैसे हो सकता है ?'

आचार्यश्री— 'हमारे सैकड़ों साधु-साध्वियों का चरित्र-निर्माण के कार्य में [illegible] आध्यात्मिक क्षेत्र में यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

पं० नेहरू— 'क्या 'भारत-साधु समाज' से आप परिचित हैं ?"

आचार्यश्री— जिस भारत-सेवक-समाज के आप अध्यक्ष हैं, वही [illegible] नहीं तो ?

पं० नेहरू— 'हाँ भारत-सेवक-समाज का मैं अध्यक्ष हूँ। वह राजनैतिक संस्था नहीं है। उसी से संबंधित यह 'भारत-साधु-समाज' है। आप भी [illegible] क्या है मिले हैं ?"

आचार्यश्री— 'पाँच वर्ष पहले मिलना हुआ था। भारत-साधु-समाज से मेरा संबंध नहीं है। जब तक साधु लोग मठों और पैसों का मोह नहीं छोड़ेंगे तब तक वे [illegible], नहीं हो सकते।

पं० नेहरू—"साधुओं ने धन का मोह तो नहीं छोड़ा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था, तुम यह क्या तो रहे हो पर इसमें खतरा है।

आचार्यश्री— 'जो मैं सोच रहा हूँ वही आप सोच रहे हैं। आप जानते ही हैं [illegible] हमारा संबंध कैसे हो ?

पं० नेहरू— उनसे आपको संबंध जोड़ने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है—ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।"

वार्तालाप की समाप्ति पर पंडितजी ने कहा—"आन्दोलन की गतिविधियों [illegible] यूँ ऐसा ही हो तो बहुत अच्छा रहे। आप नन्दाजी से बातें करते रहिये। मुझे उनसे सब जानकारी मिलती रहेगी। मेरी उसमें पूरी दिलचस्पी है।"

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ८ दिसम्बर १९५६ को [illegible] आचार्यश्री के पास आये। आचार्यश्री से विचार विनिमय के प्रसंग में जो बातें चलीं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं

श्री मेहता— 'अणुव्रती व्रत लेते हैं वे उनका पालन करते हैं या नहीं इसका आपको क्या पता रहता है ?"

आचार्यश्री— प्रतिवर्ष होने वाले अणुव्रत-अधिवेशन में अणुव्रती परिषद् के बीच अपनी छोटी-छोटी गलतियों का भी प्रायश्चित्त करते हैं। इससे पता चलता है कि वे व्रत-पालन की

१—नव निर्माण की पुकार

दिशा में कितने सावधान है। कई लोग वापस हट भी जाते है। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते है, वे उन्हे दृढता से पालते है। अणुव्रतियो में अधिकाश जो हमारे सम्पर्क में आते रहते है, उनकी सार-सम्भाल तो मैं और सौ-सवा सौ जगह अलग-अलग घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते है। कठिनाइयो के कारण अगर कोई व्रत नही निभा सकता है, तो उसे अलग कर दिया जाता है और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुव्रतियो का भाग नब्बे प्रतिशत रहता है।

"हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे है, उसमे हमें सभी लोगो के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नही है। हम चाहते है कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनो में इसकी चर्चा करते रहे, तो इससे आन्दोलन गति पकड सकता है। अत हम आपसे भी चाहेंगे कि आप हमे इस प्रकार का सहयोग दें।"

श्री मेहता—"उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नही, क्योकि हमलोग राजनैतिक व्यक्ति है। राजनीति में जिस प्रकार हमने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध में कहने का अधिकार है। पर धर्म का यह उपदेश नही कर सकते और करना भी नही चाहिए। वैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूँ और आगे भी करता रहूँगा।"

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होने कहा—"मैं अभी यहाँ रहने वाला हूँ नही। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम में जरूर भाग लेंगे। पर काम केवल घोषणा से नही होने वाला है। इसके लिए तो खडे होने वाले उम्मीदवारो और विशेषत जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अत आप जनता में भी कार्य करें।"

आचार्यश्री—"जनता में हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारों में भी शुरू करना चाहते हैं।"[1]

आचार्यश्री और सत विनोबा भावे

आचार्यश्री ने स० २००८ का वर्षाकाल दिल्ली में बिताया। उसके पूर्ण होते ही उन्हे वहाँ से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुँचने वाले हैं। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिलें। आचार्यश्री स्वय भी उनसे विचारविनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गाधी-समाधि के पास बैठकर बातचीत प्रारभ हुई। उसके कुछ अश यहाँ दिये जाते हैं

1—नव निर्माण की पुकार

संत विनोबा— 'श्रमण-परम्परा में तो पद-यात्रा [illegible]
उस वृत्ति को ले लिया है।"

आचार्यश्री— 'लोग मुझ से पूछा करते हैं कि आप कैसे
आये हुए हैं? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र स्थान-स्थान पर
वहाँ पैदल चलकर पहुँचने में समय का बहुत अपव्यय होता है। मैं
की जनता ग्रामों में बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा [illegible]
आपका ध्यान भी इधर गया है यह प्रसन्नता की बात है। अब यदि किसी [illegible]
सामने यह प्रश्न रखा तो मैं कहूँगा कि वह उसका उत्तर विनोबाजी से ले ले।"

और फिर वातावरण हँसी से गूँज उठा।

संत विनोबा— 'आप प्रतिदिन कितना चल लेते हैं?

आचार्यश्री— 'साधारणतया लगभग दस-बारह मील।"

संत विनोबा—"इतना ही लगभग मैं चलता हूँ।

आचार्यश्री— जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से अणुव्रती संघ के रूप में एक आन्दोलन प्रारंभ किया गया है। क्या आपने उसके नियमोपनियम देखे हैं?"

संत विनोबा— हाँ मैंने उसे पढ़ा है। आपने अच्छा किया है। अणुव्रत का मतलब यही तो है कि कम से कम इतना व्रत तो होना ही चाहिए।"

आचार्यश्री— हाँ आप ठीक कह रहे हैं। पूर्ण व्रत की असमर्थता में वे अणुव्रत हैं। नैतिक जीवन की यह एक साधारण सीमा है।

संत विनोबा— 'अहिंसा और सत्य का मेल नहीं हो पा रहा है इसीलिए अहिंसा का पक्ष दुर्बल हो रहा है। अहिंसा पर जितना बल दिया गया है उतना बल सत्य पर नहीं दिया गया, यही कारण है कि जैन गृहस्थों में अहिंसा विषयक जितनी सावधानी देखी जाती है, उतनी सत्य विषयक नहीं।

आचार्यश्री— अहिंसा और सत्य की पूर्णता परस्परापेक्ष है। एक के अभाव में दूसरे की भी गौरवपूर्ण पालना नहीं हो सकती। अणुव्रत-कार्यक्रम व्यवहार में चलने वाले असत्य का एक प्रबल प्रतिकार है। अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सत्य-मूलक व्यवहार की व्यापकता होगी, तभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत बन सकेगा।

'अणुव्रत नियमों में निषेधपरक नियम ही अधिक हैं। हमारे विचार में किसी भी मर्यादा के विषय में निषेध जितना पूर्ण होता है उतना विधान नहीं। इस विषय में आपके क्या विचार हैं?

संत विनोबा— 'मैं नकारात्मक दृष्टि को पसन्द करता हूँ। इसका मैंने कई बार समर्थन भी किया है।

१—वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री और मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई में थे। उस समय मुरारजी देसाई वहाँ के मुख्य मन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमों में दो बार सम्मिलित हो चुके थे, परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नही हुआ था। वे चाहते थे कि आचार्यश्री से व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उसके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानो के कारण ऐसा नही हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया, तब अतिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था, तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच में बहुत थोडा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहाँ पधारे। मुरारजी भाई ने बडा सत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बातें हुई, उनमें से कुछ ये हैं

आचार्यश्री—"आप दो बार सभा में आये, पर वैयक्तिक बातचीत नही हो सकी।"

श्री देसाई—"मैं भी ऐसा चाहता था, परन्तु मुझे यह कठिन लगा। इधर कुछ दिनो से मैंने धार्मिक उत्सवों में जाना कम कर दिया है और आपको अपने यहाँ बुला कैसे सकता था।"

आचार्यश्री—"धार्मिक कार्यों में कम भाग लेने का क्या कारण है ?"

श्री देसाई—"मेरे नाम का वहाँ उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायों से दूर भागने वाला व्यक्ति इसे कतई पसद नही करता।"

आचार्यश्री—"जहाँ सम्प्रदाय बढाने की बात हो, वहाँ के लिए तो मैं नही कहता, पर जहाँ असाम्प्रदायिक रूप से काम किया जाता हो और उससे यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता को बल मिलता हो, तो उसमें किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि में कोई बुरा नही है।"

श्री देसाई—"आप लोग प्रचार-कार्य में क्यों पडते हैं ? सतो को तो प्रचार से दूर रहना चाहिए।"

आचार्यश्री—"साधुत्व की अपनी मर्यादा में रहते हुए जनता में सत्य और अहिंसा-विषयक भावना को जागृत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है।"

श्री देसाई—"बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नही लगता। इस विषय में गाधीजी से भी मेरा विचार-भेद था। मैंने उनसे कहा था—'आप प्रतिज्ञा दिलाकर लोगो को आश्रम में रखते है। लोग आपको खुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं। यहाँ की प्रतिज्ञाएँ न निभापाने पर वे उसे छिपकर तोडते हैं।' गाधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा। आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको खुश करने के लिए लोग अणुव्रती बनते जाते हैं, परन्तु वे उसे ठीक ढग से निभाते हैं, इसका क्या पता ?"

आचार्यश्री—"प्रतिज्ञा के बिना सकल्प में दृढता नही आती, इसलिए उसमें मेरा दृढ विश्वास है। कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा आत्मा से ली जाती है और आत्मा से ही पाली जाती

है। बलात् न यह ग्रहण करायी जा सकती है और न [illegible] प्रतिज्ञाओं को पालता है और कौन नहीं इस विषय में मैं [illegible] देता हूं।

'अणुव्रतों के विषय में आपके कोई सुझाव हों तो बतलाइये [illegible]

श्री देसाई— इस दृष्टि से मैंने अभी तक पढ़ा नहीं है। इस दृष्टि से पढ़ूंगा और आपके विचार मिलेंगे उन्हें बतला दूंगा।"

(२) प्रश्नोत्तर

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपों में है कि उन सबको [illegible] प्रयास-साध्य कार्य है। कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मोपदेश सुनने के लिए आते हैं, तो कुछ धर्म चर्चा के लिए। कुछ उन्हें सुझाव देने के लिए आते हैं तो कुछ [illegible] कुछ की बातों में केवल व्यावहारिक रस होता है तो कुछ की बातों में [illegible] जिज्ञासा। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपों में अपनी जिज्ञासाएँ उनके सामने रखते रहे हैं। आचार्यश्री उन सबकी जिज्ञासाओं को शांत करने का प्रयत्न करते रहे हैं। अनेक जिज्ञासुओं को आचार्यश्री के उत्तर तथा व्यवहार से तृप्त होकर जाते देखा गया है। यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा किन्तु उन व्यक्तियों के द्वारा आचार्यश्री के प्रति [illegible] व्यक्त किये गए उद्गार इस बात के साक्षी हैं। यहाँ हम देशी तथा विदेशी विद्वानों के द्वारा किये गए कतिपय प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे हैं।

डा० के० बी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० बी० रामाराव एम० ए०, [illegible] आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक [illegible] उनमें से कुछ यों हैं

श्री रामाराव— 'जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity)। [illegible] का होना कर्म विमुखता है अतः वैराग्य तथा जीवन का सामंजस्य कैसे हो सकता है?"

आचार्यश्री—"जिस रूप में आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं जीवन की वे क्रियाएँ सोपाधिक हैं। जैसे भोजन करना तब तक आवश्यक है जब तक भूख का अस्तित्व है। जिन कारणों से ये सोपाधिक सक्रियताएँ रहती हैं वे कारण यदि नष्ट हो जायें तो फिर उनकी (सक्रियताओं की) आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है—ज्ञान के [illegible] स्वरूप में रमण करना जो हर क्षण रह सकती है। इस रूप में सक्रिय रहती हुई आत्मा [illegible] से (आत्म रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओं से) अक्रिय रहती है। सोपाधिक सक्रियता [illegible] या वैभाविक है। उसे मिटाने के लिए त्याग तपस्या आदि की आवश्यकता होती है।

१—वार्तालाप-विवरण

श्रीरामाराव—"समाज-प्रवृत्ति का हेतु है—दूसरो के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य अगीकार कर ले, तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा। स्वार्थपरता दो प्रकार की है—एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सासारिक सुख-साधनो के सचय का प्रयत्न करना। दूसरी यह कि दूसरों की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना। इस स्थिति में केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है ?"

आचार्यश्री—"दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी, वस्तुत वह स्वार्थपरता नहीं है। यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जायें तो मेरे खयाल में उसमें दूसरो को हानि की कोई सभावना नही होगी। सभी विकासोन्मुख होगे। वह स्वार्थ नही, परमार्थ होगा। जबकि हम मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विकास करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की—आत्म-विकास करने की, चेष्टा करता है तो, उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा ?"

श्री रामाराव—"क्या पुण्य कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की ओर ले जाने वाला नहीं है ?"

आचार्यश्री—"पुण्य शुभ कर्म है। कर्म बधन है, अत पुण्य भी मोक्ष में बाधक है। 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) क्रिया, (२) क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्‌गल आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं, वे भी कर्म कहे जाते हैं। अच्छे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते है। बुरे कर्म तो स्पष्टत मोक्ष में बाधक है ही। अच्छे कर्मों का फल दो प्रकार का है—उनसे पुराने बधन टूटते हैं, किन्तु साथ-साथ मे शुभ पुद्‌गलो का बधन भी होता रहता है। बधन मोक्ष में बाधक है।"

श्री रामाराव—"अच्छे कर्मो से बधनो के टूटने के साथ-साथ पुन बन्धन कैसा ?"

आचार्यश्री—"उदाहरणस्वरूप बगीचे में आप घूमने जायेंगे, वहाँ उसमे अस्वस्थता के पुद्‌गल दूर होंगे और स्वस्थता के अच्छे पुद्‌गल समाविष्ट होगे। अच्छी क्रिया में मुख्य फल आत्म-शुद्धि है, किन्तु जब तक उस क्रिया में राग-द्वेष का अश समाविष्ट रहता है, उसमें बधन भी है। गेहूँ की खेती की जाती है, गेहूँ के साथ चारा या भूसा भी पैदा होता है। बादाम के साथ छिलके भी पैदा होते हैं। जब तक वीतरागता नही आयेगी, तब तक की अच्छी प्रवृत्ति यत्-किंचित् अश में राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नही होगी, अत बधन होता रहेगा।"

श्री रामाराव—"बन्धन से छुटकारा कैसे हो ?"

आचार्यश्री—"ज्यो-ज्यों कषायावस्था का शमन होता रहेगा, त्यो-त्यो जो क्रियाएँ होंगी उनमें बधन कम होगा, हल्का होगा, आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी जिसमें सर्वथा बधन नही होगा, क्योंकि उसमें बधन के कारणों का अभाव होगा।"

श्री रामाराव—"क्या निष्काम भाव मे कर्म करने पर बन्धन कम होगा ?"

आचार्यश्री— 'निष्काम भावना के साथ आसक्त-[illegible] लोग पहले को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं किन्तु [illegible] नहीं होती तब तक वह निष्कामता नहीं आ सकती।"

श्री रामाराव— 'साइकोलोजी (मनोविज्ञान-शास्त्र) [illegible] ऊपर नहीं जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं ?"

आचार्यश्री— 'आत्मा की मानसिक वाचिक व कायिक क्रियाएं तो हैं ही, 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। [illegible] किन्तु उनके भी वह सूक्ष्म क्रिया होती है जिसे 'ओघ' 'संज्ञा' आदि शब्दों से कहा जाता है।

श्री रामाराव— जिनके मन नहीं होता क्या उनके आत्मा नहीं होती ?"

आचार्यश्री— 'आत्मा के आलोचनात्मक ज्ञान के साधन का नाम मन है। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविकसित होती है, उन्हें[1] अमनस्क कहा जाता है अर्थात् उनके मन नहीं होता।"

श्री रामाराव— 'क्या इन्द्रियों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है ?"

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की है— 'सत् प्रवृत्ति तथा असत् प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आत्म-मुक्ति की साधनभूत हैं।

श्री रामाराव— 'मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार-शक्ति में मनुष्य [illegible] (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जो [illegible] हैं। मनोविज्ञान में विचारधारा के तीन प्रकार माने गए हैं—(१) माता पिता की अपनी संतति के प्रति जैसी रक्षात्मक भावना होती है वैसी भावना रखना और दूसरे से वैसी ही [illegible] भावना की मांग करना (२) घृणित भावनाओं से घृणा करना व उन्हें रोकने की प्रवृत्ति तथा और (३) उत्तेजक काम क्रोध वासना आदि। ये तीनों भावनाएं स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) हैं। इनको सर्वथा मिटाया नहीं जा सकता। इनको दूसरी ओर बदला जा सकता है अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलों में [illegible] की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहली को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी को रोकने की चेष्टा की जाये क्या यह ठीक है ?"

आचार्यश्री— 'तीसरी को रोकने का प्रयत्न करना बहुत ठीक है। पहली में प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचारधारा है उसको प्रश्रय देना प्रोत्साहन देना उत्तम है।"

१—[illegible]

डा० हर्बर्टटिसि

डा० हर्बर्टटिसि एम० ए०, डी० फिल्० आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार तथा लेखक है। वे डाक्टर रामाराव के साथ ही हासी में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार है

डा० हर्बर्टटिसि—"लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालों में ऐसी भावधारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमें अविश्वास या भूल की कोई गुजाइश नही। किन्तु इस पर लोगो ने यह शङ्का की कि मनुष्य से भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय मे ऐसा मानते हैं ? अर्थात् वे जो कुछ कहते है, क्या वह एकान्तत स्खलन-शून्य ही होता है ?"

आचार्यश्री—"यद्यपि सघ के लिए, अनुयायियो के लिए आचार्य ही एकमात्र प्रमाण है। उनका कथन—आदेश सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है, किन्तु हम ऐसा नहीं मानते कि आचार्यो से कभी भूल होती ही नही। जब तक सर्वज्ञ नही होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसग हो तो आचार्य को वह बात निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देते है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"क्या कभी ऐसा काम पड सकता है, जबकि एक पूर्वतन आचार्य के बनाये नियमों में परिवर्तन किया जा सके ?"

आचार्यश्री—"ऐसा सम्भव है। पूर्वतन आचार्य उत्तरवर्त्ती आचार्य के लिए ऐसा विधान करते है कि देश, काल, भाव परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमो में परिवर्तन करना चाहें तो कर सकते है। किन्तु साथ-साथ में यह ध्यान रहे—धर्म के मौलिक नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है ?"

आचार्यश्री—"हाँ, जीव पुद्गलों को अनुकूल-प्रतिकूल अनुवर्तित या परिणत करने का सामर्थ्य रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल हैं। जीव कर्म-बन्ध भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"जीव मनुष्य के शरीर में कहाँ है ?"

आचार्यश्री—"शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। कही एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नही। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जब शरीर के किसी भी अग-प्रत्यग पर चोट लगती है, तत्क्षण पीडा अनुभव होती है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"जब सब जीव ससार-भ्रमण शेष कर लेंगे, तब क्या होगा ?"

आचार्यश्री—"बिना योग्यता व साधनों के सब जीव कर्म-मुक्त नही हो सकते। जीव सख्या में इतने हैं कि उनका कोई अन्त नही है। उनमें से बहुत कम जीवों को वह सामग्री

उपलब्ध होती है जिससे वे मुक्त हो सकें। [illegible] संसार की [illegible] में लाखों शिक्षित हैं लाखों में हजारों विद्वान् या कवि हैं हजारों [illegible] को स्वानुभूत बात कहने वाले तत्त्व-ज्ञानी हों। तब [illegible] कौन [illegible] को संसार प्रमाण शेष कर लेते हैं ? [1]

डा० फेलिक्स वेल्लि

प्राच्य संस्कृति विषयक उच्चतर अध्ययन के लिए एक शिक्षा-संस्थान के [illegible] संचालक डा० फेलिक्स वेल्लि द्वारा किये गए प्रश्नों के आचार्यश्री द्वारा [illegible] प्रकार है

डा० वेल्लि—"योग की उपयोगिता क्या है ?

आचार्यश्री— मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए एवं [illegible] के लिए उसका व्यवहार होता है।

डा० वेल्लि— इन्द्रिय दमन का प्रथम स्तर क्या है ?

आचार्यश्री— 'आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान होना एवं आत्मा के [illegible] तक पहुँचने की भावना होना इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है।

डा० वेल्लि— 'ज्ञान व चरित्र—इन दोनों में जैनों ने किसको अधिक महत्त्व दिया है ?"

आचार्यश्री— 'जैन-दृष्टि में ज्ञान और चरित्र निर्विवाद दोनों समान महत्त्व रखते हैं।"

डा० वेल्लि— 'जैन योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?

आचार्यश्री— 'जैन योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

डा० वेल्लि— काम विजय के सक्रिय उपाय कौन से हैं ?

आचार्यश्री— 'मोहजनक कथा न करना, वाक्-संयम रखना, मादक व [illegible] न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण में न रहना, मन को स्वाध्याय [illegible] या अन्य सत्प्रवृत्तियों में लगाये रहना आदि काम विजय के सक्रिय उपाय हैं।

डा० वेल्लि — क्या जैन विवाह को एक धर्म-संस्कार मानते हैं ? विवाह विच्छेद प्रथा के प्रति जैनों का दृष्टिकोण क्या है ?

आचार्यश्री — जैन विवाह को धर्म-संस्कार नहीं मानते। विवाह विच्छेद की प्रथा जैन समाज में नहीं है। जैन लोग उक्त प्रथाओं को धर्म में सम्मिलित नहीं करते।

डा० वेल्लि—"जैन साधुओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नहीं ?

आचार्यश्री— आत्म-साधना एवं अध्ययन के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होती है। [illegible] की स्पर्धा जैन नहीं है। यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।

१—तरुण-चर्चा

डा० वेल्यि—"क्या धर्म-गुरु से कभी कोई गलती नही होती ? क्या वे सदा सतुष्ट रहते है ? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं ? क्या औपधोपचार भी विहित है ? क्या उन्हे स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है ?"

आचार्यश्री—"गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना में कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते है। हमारी दृष्टि मे सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-सतोप है। इसकी गुरु में कमी नहीं होती। शारीरिक स्थिति के बारे में कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। क्योंकि वह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियो पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते है, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले, यह बात आवश्यक नहीं।

"साधु को शारीरिक व्यथाएँ होती है और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी वैध है। औपधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।"

डा० वेल्यि—"ससार के प्रति साधुओ का कर्तव्य क्या है ?"

आचार्यश्री—"हमें विश्व के दु ख के जो मूल-भूत कारण हैं, उन्हे नष्ट करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना, अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना, साधुओ का लक्ष्य है।"[१]

श्री जे० आर० बर्टन

आचार्यश्री बम्बई के उपनगरो में थे, तब दो अमेरिकन सज्जन—सर्वश्री जे० आर० बर्टन और डब्ल्यू० डी० वेल्स दर्शनार्थ आये। वे विभिन्न धर्मों की अन्तर-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई देशो में भ्रमण करते हुए यहाँ आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप इस प्रकार हुआ

श्री बर्टन—"मैंने बौद्ध-दर्शन में यह पढा है कि तृष्णा या आकाक्षा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन-दर्शन की इस विषय में क्या मान्यता है ?"

आचार्यश्री—"जैन-धर्म मे भी वासना, तृष्णा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश हैं। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचाने में ये दोष बडे बाधक है।"

श्री बर्टन—"ईसा के उपदेशों के सम्बन्ध में आपका क्या खयाल है ?"

आचार्यश्री—"अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म-तत्त्वों के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होने कहा है, वह हृदयस्पर्शी है।"

श्री बर्टन—"क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते हैं ?"

आचायश्री—"हमारा कार्य तो धर्म के सत्य-तत्त्वो के प्रति व्यक्ति के मन में श्रद्धा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ का सच्चा

१—जनपद विहार पृष्ठ २३ से २६

पवित्र बनाता है। कहीं भी रहता हुआ व्यक्ति ऐसा
रङ्ग-ढङ्ग को बदलने में मुझे [illegible] प्रतीत नहीं होता क्योंकि
स्वत्व के परिमार्जन और परिष्कार से है।"

श्री बर्टन— श्रद्धा का क्या तात्पर्य है?

आचार्यश्री— सत्य विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

श्री बर्टन— 'सत्य विश्वास किसके प्रति?

आचार्यश्री— आत्मा के प्रति परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति।"

श्री बर्टन— क्या कर्तव्य ही धर्म है?

आचार्यश्री—"धर्म अवश्य कर्तव्य है पर सब कर्तव्य धर्म नहीं। सामाजिक जीवन [illegible] हुए व्यक्ति को पारिवारिक सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐसे भी करने पड़ते हैं, जो धार्मिक मोक्षित नहीं होते। समाज की दृष्टि से तो वे कर्तव्य हैं पर अध्यात्म-धर्म नहीं। आत्म-विकास उनसे नहीं सधता।

श्री बुकॉक केसर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री [illegible] केसर जो शाकाहार एवं अहिंसावादी लोगों से मिलने व विचार विमर्श करने भारतीय यात्रा आये थे बम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केसर ने कहा—"भारतवर्ष एक शाकाहार प्रधान देश है और जैन धर्म में विशेष रूप से आमिषवर्जन का विधान है। अतः भारतवर्ष से तथा मुख्यतः जैनों से हमारा एक सहज सम्बन्ध एवं आत्मीयभाव हो जाता है।

आचार्य प्रवर के साथ श्री केसर का जो वार्तालाप हुआ उसका सारांश यों है

श्री केसर— इस विश्व की उलझनों अथवा समस्याओं के लिए साम्यवाद के रूप में जो समाधान प्रस्तुत करता है उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?

आचार्यश्री— 'साम्यवाद समस्याओं का स्थायी और शुद्ध हल नहीं है यह अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं का एक सामयिक हल है। आर्थिक समस्याओं का सामयिक हल जीवन की समस्याओं को सुलझा सके यह सम्भव नहीं।

श्री केसर—"क्या राजनैतिक विधि विधानों से लोक-जीवन की बुराइयों और विकृतियों का विनाश हो सकता है?

आचार्यश्री— विकारों अथवा बुराइयों के प्रतीकार का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन। विकारों के प्रति व्यक्ति के मन में घृणा और उपेक्षा का भाव पैदा होने से उनमें स्वतः परिवर्तन आता है। हृदय बदलने पर जो बुराइयाँ छूटती हैं वे स्थायी रूप से छूटती हैं और

१—जैन भारती १८ नवम्बर १९५८

कानून या डण्डे के बल पर जो बुराइयाँ छुडाई जाती हैं, वे तब तक छूटी रहती है, जब तक विकारो में फसे व्यक्ति के सामने डडे का भय रहे।"

श्री केलर—"ससार में जो कुछ दृश्यमान है, वह क्षणभगुर है, नाशवान् है, फिर व्यक्ति क्यों क्रियाशील रहे, किसलिए प्रयास करे ?"

आचार्यश्री—"दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं, भौतिक सुख क्षण-विध्वसी हैं, पर आत्म-सुख तो शाश्वत, चिरन्तन और अविनश्वर है। उसीके लिए व्यक्ति को सत्कर्म-निष्ठ और प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख-सामग्री जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार, आत्म-विशोधन।"

श्री केलर—"दूसरे लोगों मे जो बुराइयाँ हैं, उनके विषय में आप टीका करते हैं या मौन रहते है ?"

आचार्यश्री—"वैयक्तिक आक्षेप या टीका करने की हमारी नीति नही है। पर सामुदायिक रूप में बुराइयो पर तो आघात करना ही होता है, जो आवश्यक है।"

श्री केलर—"मनुष्य जो कर्म करता है, क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?"

आचार्यश्री—"ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसका फल स्वय उसे मिलता है। फल-परिपाक कर्म का सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत-बन्धन है, निर्विकार है, स्वस्वरूप में अधिष्ठित है। कर्म-फल-प्रदातृत्व से उसका क्या लगाव ?"[1]

डानेल्ड-दम्पति

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्त्ताओ के साथ जलगाव में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनका वार्तालाप-प्रसग निम्नाकित है

श्रीमती कैप—"बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन बिताता है।"

आचार्यश्री—"हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् वही है, जो अपने जीवन में अन्याय को प्रश्रय नही देता।"

श्रीमती कैप—"प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है।"

आचार्यश्री—"भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह वह सबको प्रिय है। सब जीव जीना चाहते है, इसलिए तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरों के प्राण हरो। इस प्रकार बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो विभिन्न धर्मों में समन्वय बताती हैं।"

१—जैन भारती, २० फरवरी, १९५५

श्री कैप— 'संसार में व्याप्त अशांति और दुःख का कारण [illegible]

आचार्यश्री— आज का संसार भौतिकवाद में पूरी तरह फँसा है। [illegible] कामनाएँ असीमित बन गई हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नजर नहीं [illegible] शांति का सही तत्त्व है वह दिन-पर दिन भुलाया जा रहा है। [illegible] के संघर्ष और अशांति का सही कारण है।"

श्री कैप— 'हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है तो [illegible] को लिए हुए पैदा होता है।

आचार्यश्री— हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो पाप और पुण्य दोनों लिये हुए पैदा होता है। यदि पुण्य साथ नहीं लाता तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाएं कैसे मिलतीं?'

श्री कैप—"जो प्रभु यीशु की शरण में आ जाते हैं उनकी मान्यता रखते हैं उनके पापों के लिए वे पेनेल्टी (दण्ड) चुका देते हैं।

आचार्यश्री— 'तब मनुष्य का अपना कर्तव्य क्या रहा? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करनेवाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति नहीं है। मनुष्य-जाति अनादिकालीन है। सत्-असत्, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कर्मों पर आधारित हैं। उनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो तब मनुष्य का क्या दोष? वह तो ईश्वर के चलाये चलता है।'

श्री कैप— 'मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग खुद कुछ नहीं कर सकते [illegible] प्रेरणा से करते हैं।

आचार्यश्री— 'इसमें हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने [illegible] के स्वयं उत्तरदायी हैं और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है, किसी दूसरी शक्ति से नहीं।"[1]

१—जैन भारती २९ मई १९५५

: ८ :

सघर्षों के सम्मुख

स्थितप्रज्ञता

आचार्यश्री का जीवन सघर्षमय जीवन की एक कहानी है। ज्यो-ज्यो उनका जीवन विकास करता रहा है, त्यों-त्यो सघर्ष भी बढता रहा है। उनके विकास-शील व्यक्तित्व ने जहाँ अनेको भक्त तैयार किये है, वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणज्ञता से उत्पन्न होती है, तो विरोध अश्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध चट्टान वनकर वार-बार उनके मार्ग में अवरोधक बनकर आता रहा है, किन्तु उन्होने हर वार उसे अपनी सफलता की सीढी वनाया है। वे जहाँ जाते है, वहाँ हजारो स्वागत करने वाले भी मिलते हैं, तो पाँच-दस आलोचना करने वाले भी निकल आते है।—'विकास विरोधियो के साथ सघर्प का नाम है'—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध—इन दोनो ही परिस्थितियो में अपने-आपको सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है। अनुरोधजन्य अह-भाव और विरोधजन्य हीनभाव उन्हें प्रभावित नही करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए है।

दो प्रकार

सघर्ष प्राय हर जीवन में रहते हैं। सफल जीवन में तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन में वे काफी मात्रा में रहे हैं, कुछ साधारण, तो कुछ असाधारण। वर्तमान वातावरण को तो सभी सघर्ष झकझोरते ही हैं, परन्तु उनमें कुछ स्वल्पकालिक प्रभाव छोडने वाले होते है तो कुछ चिरकालिक। आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले सघर्षो में कुछ आन्तरिक है तथा कुछ वाह्य।

(१) आन्तरिक-सघर्ष

दृष्टि-भेद

आन्तरिक सघर्ष से यहाँ तात्पर्य है—तेरापन्थियों द्वारा किया हुआ सघर्ष। आचार्यश्री तेरापन्थ के आचार्य है, अत तेरापन्थ के विधानानुसार उनकी आज्ञा सभी अनुयायियों को समान रूप से शिरोधार्य होनी चाहिए, परन्तु कुछ प्राचीनतावादियो के मन में उनके प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए हैं। उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें तेरापन्थ की परम्परा के विरुद्ध होती जा रही हैं। वे सोचते हैं कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वे सब अन्तत अहितकर ही होगे।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हों, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना, जीवन की गति का ही विरोध करना है। मूल-गुणो

को सुरक्षित रखते हुए उत्तर-गुणों से सम्बद्ध अनेक परम्पराओं का [illegible] परिवर्तन किया है उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार [illegible] सकती है।

नवीनता से भय

प्राचीनता और नवीनता का यह संघर्ष कोई नया नहीं है। हर [illegible] इसी आशंका भरी दृष्टि से देखती है कि यह नहीं सारे [illegible] जो दूर-दृष्टा होते हैं वे जानते हैं कि नवीन प्राण-शक्ति के [illegible] सीमित नहीं रह सकता। इसी आधार पर वे प्राचीनता के [illegible] होते और आवश्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन [illegible] मार्ग में आने वाले विरोधों को उन्होंने विचार-मंथन का ही एक [illegible] है। जिस क्रिया में विरोध या रुकावट नहीं आती वह कार्य उतना प्रभावकारी [illegible] होता। जिस काम में चेतना लाने वाली शक्ति होती है वही हर एक के [illegible] सकता है। कुछ लोगों के लिए यह हलचल भय का कारण बन जाती है। [illegible] के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तों में से कुछ का [illegible] अनुचित नहीं होगा।

संघर्ष का बीज-वपन

आन्तरिक संघर्ष का बीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के [illegible] से हुआ। उससे पूर्व आचार्यश्री के प्रति सभी की अटूट निष्ठा थी। [illegible] विहार-क्षेत्र प्राय थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित था। [illegible] बहुलांश प्राय उसी समाज के बंधे हुए दायरे में लगता था। आन्दोलन की [illegible] साथ ज्यों ज्यों दायरा विशाल बनता गया—दृष्टिकोण व्यापक होता गया [illegible] पर लगनेवाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुड़ता [illegible] कतिपय व्यक्तियों को लगने लगा कि आचार्यश्री तेरापन्थ से दूर हटने लगे हैं। [illegible] में घिरते चले जा रहे हैं।

आन्दोलन के प्रति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शंकाएं उठाई जाने लगीं। [illegible]

१ जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं है क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है?

२. यदि जीवन के विषय म नियम बनाना क्या मान्यताओं के अनुकूल है?

३ श्रावक के बारह व्रतों को छोड़कर नया प्रचार करना [illegible] नहीं है? आदि-आदि।

आचार्यश्री ने यथासमय उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य सभी [illegible] किया। जो व्यक्ति अणुव्रती शब्द की उलझन में थे वे [illegible]

को भी श्रावक ही कहा करते थे। श्रावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की तुलना पर ध्यान देने से वह शका स्वय ही निरस्त हो जाने वाली थी। परन्तु श्रावक शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता उसे समझने में बाधक बनी रही। गृहि-जीवन के विषय में नियम बनाने की बात भी श्रावक के बारह व्रतो की नियमावली के आधार पर समझ में आ सकती थी। भगवान् महावीर ने श्रावकों की तात्कालिक जीवन-व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे, उसी प्रकार के ये नियम थे, जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। अणुव्रत और बारह व्रतों में तो कोई सघर्ष ही नहीं था। उस समय भी अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादशव्रती अणुव्रत के नियमों को भी स्वीकार करते थे। इतना स्पष्ट होते हुए भी ये शकाएँ दुहराई जाती रहीं।

प्रार्थना मे

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था, तब अणुव्रत-प्रार्थना में भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उसके विरोध में यह प्रचारित किया गया कि प्रात भगवान् का नाम लेना चाहिए, वह तो इसमें है नहीं। इसमें तो झूठ, फरेब आदि के नाम भर दिये गये हैं, जिनको कि उस समय याद ही नही करना चाहिए। कई लोग इसीलिए प्रात कालीन प्रार्थना में सम्मिलित होते सकुचाते है।

एक बार की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए कहा, तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ में ही नही बैठती।

मैंने पूछा—"क्यों, ऐसी कौनसी उलझन की बात है उसमें ?"

उसने कहा—"नित्य सबेरे ही यह ढिंढोरा पीटना कि हम अणुव्रती बन चुके हैं। अतः हमारे भाग्य बडे तेज हैं—मुझे तो बिलकुल पसद नही है, और मैं तो अभी तक अणुव्रती बना भी नहीं, अत मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा।"

अणुव्रत-प्रार्थना की प्रथम कडी का जो अर्थ उसने लगाया था, उसे सुनकर मैं दग रह गया। इस विरोध के प्रवाह में बहकर और भी अनेक व्यक्ति न जानें किन-किन बातों का क्या-क्या मनमाना अर्थ लगाते रहते होगे। मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस आया। मैंने समझाते हुए उससे कहा—"तुमने प्रार्थना की कडी का गलत अर्थ लगाया है, इसीलिए तुम्हें उसके विषय में भ्रम हुआ है। उस कडी का अर्थ तो यह है कि यदि हम अणुव्रती बन सकें, तो यह हमारे लिए बडे भाग्य की बात होगी। जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथों का उल्लेख आगमों में आता है और उनके द्वारा भाव-विशुद्धि होती है, उसी प्रकार का इस प्रार्थना में जीवन-शुद्धि के लिए जो सकल्प है, उनसे भाव-विशुद्धि होती है। अणुव्रती बन सकने का सामर्थ्य न होने पर भी वैसा बनने की भावना करना बुरा नही है।" इन सब बातों को समझ लेने के पश्चात् वह व्यक्ति प्रार्थना में सम्मिलित होने लगा।

आचार्यश्री ने अनेक वार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा—"साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है, वह मैं करता हू। सस्था मे चलने वाली अन्य प्रवृत्तियो से मेरा सम्बन्ध नही है। यहाँ तक कि सस्था में किसे लिया जाये और किसे नही, यह निर्णय भी स्वय सस्था के पदाधिकारी करते है। प्रत्येक दीक्षार्थी को सस्था मे रहना ही पडेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नही करूंगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नही है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस सस्था में रहे तो मैं कोई वाधा नही देखता और न रहे तो भी मेरे सामने कोई वाधा नही है।"

(२) वाह्य संघर्ष

सामजस्य-गवेषणा

आचार्यश्री को आन्तरिक सघर्षो की तरह ही वाह्य सघर्षों का भी सामना करना पडा है। तेरापन्थ के लिए ऐसे सघर्ष नवीन नही है। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही चले आ रहे हैं। समय-समय पर उन सघर्षों का रूप अवश्य वदलता रहा है, परन्तु विरोधी जनो की भावना की तीव्रता सम्भवत कम नही हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने सघ की सारी शक्ति को निर्माण मे लगा देना चाहते है। पारस्परिक सघर्षो में शक्ति खपाना उन्हें विलकुल अभीष्ट नही है। इसीलिए यथासम्भव वे सघर्षो को टालना चाहते है। विरोधी स्थितियो में भी वे सामजस्य का सूत्र खोजते रहते है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वे विरोधो का सामना कर नही सकते। उनके सामने अनेक विरोध आये है और उन्होने उनका वडे सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त है, अत जहाँ उसकी प्राप्ति होती है, वहाँ कट्टर विरोधी की वात मानने में भी वे कभी हिचकिचाहट नही करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी वात नहीं मानते। सत्याश की अवज्ञा और असत्याश को प्रश्रय उन्हें किसी भी परिस्थिति में इष्ट नही है।

विरोध के दो स्तर

तेरापन्थ की मान्यताओं को लेकर अनेक आलोचनाएँ होती रहती हैं। उनमें वहुत-सी निम्नस्तरीय होती है। आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती हैं, उनका वे आदर करते है। अपनी आलोचना में लिखी गई वातों को वे वडे ध्यान से पढते हैं, उन पर मनन करते है, आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढग से उसका प्रतिवाद भी करते हैं। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मानकर सौहार्दपूर्ण ही मानते हैं।

निम्नकोटि की आलोचना में वहुधा इतर सम्प्रदायों के कुछ असहिष्णु व्यक्ति रस लेते है। उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो अपने-आपको किसी भी सम्प्रदाय का न कहें, तथा कुछ ऐसे भी हो सकते है, जो स्वय को तेरापन्थी कहें, पर उन सवका ध्येय प्राय विरोध के लिए विरोध होता है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियों का भी उपहास करते है, जिनको कि

साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क में आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियों ने भी उनके कार्यक्रमो को सराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। वह कुछ व्यक्तियों को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप वह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियो आदि द्वारा कार्य में परिणत की जाने लगी। समाचार पत्रों में भी एतद् विषयक विरोधी लेख, टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गई। जनता को बडे पैमाने पर भ्रान्त करने का वह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

एक प्रवचन

आचार्यश्री को उस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगो में फैलाई जाने वाली भ्रान्त धारणाओ का निराकरण करना आवश्यक था, अत उन्हीं दिनो में जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमें आचार्यश्री ने तेरापन्थ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय में उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—"मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते है और न सारे युवक या वृद्ध ही, कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते है और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा में अवस्था की परिपक्वता का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि सस्कारो की परिपक्वता का होता है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्तव्य नहीं है। इस विषय में मेरा कोई आग्रह भी नहीं है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य दीक्षा नहीं होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यों न हो।"

विरोधी समिति के सदस्यो को भी आह्वान करते हुए उन्होने कहा--"वे दूर-दूर से ही विरोध क्यों करते हैं ? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समझें तथा अपने विचार समझायें। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन में विश्वास न करने वालो में नहीं हूँ। देश-काल की परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ नही हूँ, पर साथ में यह भी कह दूँ, कि किसी भी प्रकार के वातावरण के प्रवाह में वह जाने वाला भी मैं नहीं हूँ।"

विरोध मे तीव्रता

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा में विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे उस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये, बातचीत हुई, परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप में ही सामने आया। उन लोगों द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानों को बुलाया गया। विरोधी सभाएँ आयोजित की गई। धुआधार भाषण किये गए। पैम्फलेटो, समाचार-पत्रो तथा पुस्तिकाओ द्वारा भी काफी विप-

न ठीक समझते होते हैं। आचार्यश्री जब हरिजनों में व्याख्यान आदि के लिए जाने लगे तथा अस्पृश्यता का खण्डन करने लगे तब इसी प्रकार के कुछ लोगों ने उस प्रवृत्ति का मजाक— 'कौआ चला हंस की चाल' कह कर किया था। जब अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया तो उन लोगों ने उसे 'नयी बोतल में पुरानी शराब' बतलाया। एसे व्यक्ति अंधेरा-ही-अंधेरा देखते रहने के आदी हो जाते हैं। ज्योत्स्ना की धवलिमा या तो उनके बाँटे ही नहीं पड़ती या फिर अपने स्वाभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नहीं करते।

दीक्षा विरोध

जो व्यक्ति गृहि-जीवन से विरक्त हो जाते हैं वे मुनि-जीवन में दीक्षित होते हैं। दीक्षा की पद्धति प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों में है तेरापन्थ में भी है। तेरापन्थ इन दीक्षाओं में विशेष सावधानी बरतता है। इसमें केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षित नहीं किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक-ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वर्षों तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणों की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है तब उसको जन-समूह में दीक्षित किया जाता है। तेरापन्थ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है तब तो वह और भी सहज हो जाता है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है कहीं 'बाल दीक्षा' के नाम पर, तो कहीं साधु-संस्था को ही अनावश्यक बताकर। तेरापन्थ के सामने ऐसे अनेक विरोध आते रहे हैं। कहीं-कहीं ये विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध ही लगते हैं पर अन्तरङ्ग में वे तेरापन्थ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा विरोध इसी कोटि का था।

विरोधी समिति

सं० २००६ के जयपुर चातुर्मास में आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति सम्भवतः विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हें वह अवसर मिल गया। उन लोगों ने 'बाल दीक्षा विरोधी समिति' का गठन किया। हालांकि उन दीक्षार्थियों में एक भी एसा बालक नहीं था जिसके लिए उन्हें विरोध करने को बाध्य होना पड़े फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुतः वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढ़ते हुए व्यक्तित्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अणुव्रत आन्दोलन का आरम्भ-काल था। आचार्यश्री उसके प्रचार प्रसार में पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन बातों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से

साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क में आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियों ने भी उनके कार्यक्रमो को सराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। वह कुछ व्यक्तियों को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप वह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियो आदि द्वारा कार्य में परिणत की जाने लगी। समाचार पत्रो में भी एतद् विषयक विरोधी लेख, टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गई। जनता को बडे पैमाने पर भ्रान्त करने का वह एक सुनियोजित षडयन्त्र था।

एक प्रवचन

आचार्यश्री को उस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगो में फैलाई जाने वाली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक था, अत उन्ही दिनो में जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमें आचार्यश्री ने तेरापन्थ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय में उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—"मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते है और न सारे युवक या वृद्ध ही, कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते है और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा में अवस्था की परिपक्वता का उतना महत्त्व नही होता, जितना कि सस्कारों की परिपक्वता का होता है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्तव्य नही है। इस विषय में मेरा कोई आग्रह भी नहीं है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य दीक्षा नही होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यों न हो।"

विरोधी समिति के सदस्यों को भी आह्वान करते हुए उन्होने कहा--"वे दूर-दूर से ही विरोध क्यों करते हैं ? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समझें तथा अपने विचार समझायें। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन में विश्वास न करने वालों में नहीं हूँ। देश-काल की परिस्थितियो से भी अनभिज्ञ नहीं हूँ, पर साथ में यह भी कह दूँ, कि किसी भी प्रकार के वातावरण के प्रवाह में बह जाने वाला भी मैं नहीं हूँ।"

विरोध मे तीव्रता

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा में विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे उस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये, बातचीत हुई, परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के, बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप में ही सामने आया। उन लोगो द्वारा दीक्षा या विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानों को बुलाया गया। विरोधी सभाएँ आयोजित की गईं। धुआधार भाषण किये गए। पैम्फलेटों, समाचार-पत्रो तथा पुस्तिकाओं द्वारा भी काफी विष-वमन किया गया। तेरापन्थ से या तेरापन्थ की प्रगति से विरोध रखने वाले प्रायः सभी

इतने सुव्यवस्थित तथा सुसगठित विरोध को परास्त कर देना कोई सामान्य बात नही थी, वह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवत अन्तिम भी।

योग्य कौन ?

उस विरोध में कई समाचार-पत्रों के सचालक और सम्पादक भी सम्मिलित थे। विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने में उनका खुलकर उपयोग हुआ था। एक ओर जहाँ बाहर के पत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अनुकूल विचार जाते थे, वहाँ दूसरी ओर बालदीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी। फल यह हुआ कि आचार्यश्री बालदीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे। पर वे न तो बालदीक्षा के कट्टर समर्थक है और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही। वे तो अपने-आपको केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते हैं। वह योग्यता क्वचित् बालक में भी हो सकती है तथा क्वचित् युवा और वृद्ध में भी। बालक में वैसी योग्यता हो ही नहीं सकती—इस मान्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य है।

एक पृच्छा

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी हैं, उन्हें वे कुछ नही कहना चाहते, परन्तु जो किसी एक भी अवस्था में, चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था, दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उनसे वे पूछना चाहते हैं कि ऐसा करके क्या वे जन्मान्तर को नही मान लेते है ? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-सस्कार अमान्य हो सकते है ? यदि पूर्वसस्कार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक में भी उद्बुद्ध होता है। दीक्षा और क्या है ? पूर्व-सस्कारों के उद्बोध की फल-परिणति का नाम ही तो है। उसमें अवस्था का प्रश्न मुख्य नही, गौण रह जाता है।

विधेयक और आचार्यश्री

यद्यपि आचार्यश्री युग-भावना के साथ सगति बिठाकर ही चलते हैं, परन्तु जहाँ तत्त्व-विवेक का प्रश्न है, वहाँ उससे आँखें मीचना भी तो उचित नही होता। वे इसी आधार पर जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते है, वहाँ-वहाँ दीक्षा के साथ आयु का अनिवार्य सबध जोडने का विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में यह भी उचित नहीं है कि कानून द्वारा बालदीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदों में इस विषय के विधेयक प्रस्तुत होते रहे हैं। आचार्यश्री ने उनका विरोध किया है।

विधेयक और मुरारजी देसाई

बम्बई विधान परिषद् में 'बाल-सन्यास-दीक्षा-प्रतिबधक बिल' आया था। तब वहाँ मुरारजी देसाई मुख्यमत्री थे। उस बिल के सिलसिले में मुनि श्री नगराजजी उनसे मिले थे। विचारों का आदान-प्रदान हुआ, तो पता लगा कि वे भी आचार्यश्री के समान ही कानून के द्वारा उसे रोकने के विरोधी है। उनकी उस नीति के कारण ही वह प्रस्ताव वहाँ पारित नहीं हो सका था।

उदाहरण नही है, ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते है । महामना रायचन्द्र ने, जिनमें महात्मा गाधी श्रद्धा रखते थे, बारह से सोलह वर्ष की आयु में लिखना प्रारभ कर दिया था और उनकी पुस्तकें आज भी पढी जाती हैं । वे सन्यासी नही थे, लेकिन निरतर जीवन अपनी पसन्द के अनुसार विताते थे । इससे कोई मतलब नही कि ऐसे आदमी सन्यास लेते है या नही । मान लीजिये कोई ऐसा बच्चा दीक्षा लेना चाहता है तो क्या मुझे उसे रोकना चाहिए ?

.... "यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने जो उदाहरण दिये हैं, वे प्राय जैनों के है, और किसी के नही । इसलिए अगर जैन यह सोचें कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल उनके द्वारा जो दीक्षाएँ दी जाती हैं, उन्ही को रोकने के लिए है, तो वे गलत नहीं कहे जायेंगे । मेरे पास सैकडो विरोध-पत्र व तार पहुँचे है और वे तमाम जैनों के हैं, लेकिन एक दूसरी बात और है, जिसे मैं स्पष्ट करना चाहूँगा । साधु या सन्यासियो के तमाम सघों में, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओं ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी सघ के साधुओ ने नही । यह जैनियो के लिए गौरव की बात है । ऐसे सम्प्रदायों पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एक मत नहीं, आक्रमण करने से कोई फायदा नही ।

"मुझे किसी व्यक्ति को सन्यास-जीवन अपनाने से नही रोकना चाहिए— इस कारण से कि मैं खुद सन्यास-जीवन को नही अपना सकता । इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है । सिर्फ इसी कारण से कि मैं सासारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हर एक व्यक्ति को सासारिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए । अगर सन्यासी लोग कहें भी कि सासारिक जीवन अच्छा नही है, तो भी मैं सन्यासी होने के लिए तैयार नही हूँ । तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सासारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अत किसी को भी सन्यासी नहीं होना चाहिए । जिस तरह मैं अपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतत्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतत्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसद करते हों । • मैं यह नही सोचता कि शकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोडा अटकाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं, तो उसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं, बल्कि ससार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वचित करते हैं । मैं नही सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगों को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यो न हो ।

..... "धर्म मानव के अन्तर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नही जा सकता । जब हम कहते हैं कि बच्चों को इस क्षेत्र में नही जाने देना चाहिए, तब हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत-से दूसरे क्षेत्रो में जाने देते हैं । क्या हमने बच्चों को स्वतत्रता के

संग्राम में भरती नहीं किया और उस संग्राम में उनके उनका सारे विकास को नहीं रोका ? क्या यह उनकी भावना [illegible] यह सोचते हैं कि हम बच्चों का [illegible] के लिए प्रयोग कर रहे थे ? [illegible] एक महान् कार्य था। महात्माजी ने बच्चों से लड़ने के लिये और [illegible] क्या वे बच्चे जानते थे कि वे क्या कर रहे थे ? क्या यह कहा जा सकता है [illegible] काम कर रहे थे और महात्मा गांधी हमारी भावी सन्तान को महान् [illegible] की शिक्षा दे रहे थे लेकिन आज मैं यह सोचता हूं कि यह सब सही था। मैं [illegible] पाता। जब कभी हम मनुष्यों को व बच्चों को अच्छी बातों की शिक्षा देते हैं [illegible] समझता हूं कि हमें उसका अनादर नहीं करना चाहिए वरन् [illegible]

विरोध की मृत्यु

उपर्युक्त विचार दीक्षा के समर्थकों और विरोधियों—दोनों के लिए ही [illegible] भाषण में जिन तथ्यों का निरूपण है प्रायः वे ही तथ्य आचार्यश्री पहले [illegible] चुके हैं। उनके इन विचारों से सभी सहमत हों— यह कोई आवश्यक बात नहीं है। [illegible] तथ्यों की अवहेलना कैसे की जा सकती है ? इन विचारों ने जो अनेक संघर्ष [illegible] हैं उनमें से एक वह जयपुर का संघर्ष भी था। उठा तो वह तूफान की तरह था, [illegible] ठोस तथ्यों पर उसका आधार नहीं था अतः उसकी समाप्ति [illegible] की मृत्यु के समान ही हुई।

एक अकारण विरोध

आचार्यश्री का कलकत्ता महानगरी में पदार्पण हुआ। जनता की ओर से [illegible] स्वागत किया गया। आचार्यश्री के विचार जनता के हृदय को आलोकित कर रहे थे क्योंकि उनके विचार युग की भूख को तृप्ति प्रदान करने वाले थे। यों भी कहा जा सकता है कि युग की भूख उन विचारों को पाने के लिए तड़प रही थी। उनके विचार समय के अनुकूल थे और समय उनके विचारों के अनुकूल था। लोगों ने उन्हें युग-चेतना के प्रतिनिधि के रूप में देखा। वहाँ के व्यापारिक क्षेत्रों में नैतिकता और अध्यात्म की चर्चा होने लगी। वहाँ लोग प्रायः व्यापार या नौकरी के लिए ही पहुँचते हैं वहाँ कोई नैतिकता और अध्यात्म की अलख जगाने पहुँचे तो वह एक अनोखी-सी ही बात लगेगी। आचार्यश्री [illegible] गए थे अतः एक नये प्रकार के व्यक्तित्व को देखने का कुतूहल हर किसी में सहज ही उत्पन्न होने लगा था। जो परिचित थे वे तो आते ही पर जो अपरिचित थे, वे भी काफी बड़ी संख्या में आते। देखने-सुनने की भावना लेकर आते और तृप्त होकर जाते।

१—जैन भारती १८ दिसम्बर ५५

चातुर्मास से पूर्व उस महानगरी के अनेक अचलो मे आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। सर्वत्र जनता का अपार उत्साह और अपार स्नेह उन्हें मिला। उन्होने भी जनता को वह उपदेश दिया, जो उसे वहाँ कभी भूले-भटके भी नही मिल पाता। विशेष प्रवचनो तथा कार्यक्रमो की सफलता भी अद्वितीय रही। आचार्यश्री को कलकत्ता और कलकत्ते को आचार्यश्री भा गए।

कुछ व्यक्ति आचार्यश्री की यशो-गाथा के प्रति असहिष्णु थे। वे उनके वर्चस्व को किसी भी मूल्य पर रोक देना चाहते थे। आचार्यश्री ने जब तक अपने वर्षाकालीन प्रवास का निर्णय नही किया था, तब तक तो वे लोग प्राय शान्त ही रहे। सम्भवत उन्होने उस थोडे दिन के प्रवास को साधारण और अस्थायी प्रभाव वाला ही समझा हो, अत उसकी उपेक्षा कर दी हो। परन्तु जब आचार्यश्री ने वहीं वर्षाकाल बिताने का निर्णय कर दिया, तब उनके प्रयत्नो मे त्वरता आ गई। विरोधी वातावरण निर्मित करने के उपाय खोजे जाने लगे। वे किसी-न-किसी बहाने से आचार्यश्री और उनके मिशन के प्रति ऐसी घृणा फैला देना चाहते थे कि जिससे उनके पूर्वोपार्जित समस्त वर्चस्व और प्रभाव को आवृत किया जा सके।

उन विरोधी व्यक्तियो में कुछ तो ऐसे थे, जो कि आचार्यश्री और उनके कार्यों का जब-तब विरोध करते रहे है। उसमें उन्होंने सच-झूठ का भी कोई विशेष अन्तर नही किया है। यों उनमें अनेक व्यक्ति पढे-लिखे है, कार्यकुशल है, शिष्ट हैं, परन्तु आचार्यश्री के विरोध मे वे अपनी शिष्टता को बहुधा नही निभा पाते। सम्भवत उसकी आवश्यकता भी नही मानते। यद्यपि मैं उनमें से अनेको को व्यक्तिश नही जानता, परन्तु आचार्यश्री के प्रति किये जाते रहे उनके भाषा-प्रयोगो ने कम से कम मेरे मन पर तो यही छाप छोडी है। मूलत विरोधी भाव उन्ही कुछ लोगो के मन में था। उन्होने जब वैसा वातावरण बनाया, तब कुछ और व्यक्ति भी उसमें आ मिले। कुछ उनके मैत्री-सम्पर्क से, तो कुछ भुलावे से।

विरोध का वह एक विचित्र प्रकार था, परन्तु आचार्यश्री का साहस उससे भी विचित्र था। वे देखते रहे, सुनते रहे और अपने कार्यों में लगे रहे। वे स्वय भी तो कलकत्ता में विरोध करने के लिए ही गये थे। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री अनीति और अधर्म का विरोध कर रहे थे, जबकि उनके विरोधी लोग अनीति और अधर्म का विरोध करने वालो का विरोध कर रहे थे।

आचार्यश्री के विरुद्ध वह अभियान लगभग छ महीने तक चलता रहा, कभी धीमे, तो कभी तेज। पर न कभी वे उससे उत्तेजित हुए और न कभी भयभीत। वे विरोध को विनोद समझकर चलने के आदी है। जहाँ उन्हे किसी विरोध का सामना करने को बाध्य होना पडता है, वहाँ वे उसके लिए कभी घबराते नही। वे मानते है—"विरोध से घबराने की कोई आवश्यकता नही। उससे घबराने वाले समाप्त हो जाते है और उठकर उसका सामना करने वाले विजय प्राप्त कर लेते है।"[1]

१—नैतिक सजीवन, पृष्ठ ३६

६

जीवन शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पंखुड़ी अपनी विशिष्ट आकृति और विशिष्ट महत्ता लिए हुए होती है। उन पंखुड़ियों की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओं की पंखुड़ियों से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप में परिपूर्ण होती है फिर भी अपने से उच्च पूर्णता का एक अंग बन कर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा में लगी पंखुड़ियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती हैं जबकि उसके बाहरी घेरे की बिखरी बिखरी-सी। फिर भी मूल से बंधी हुई वे उससे अभिन्न होती हैं। जीवन घटनाओं में भी यही क्रम होता है। कुछ घटनाएं एक ही किसी क्रम में बंधकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती हैं पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो जीवन का अभिन्न अंग होने पर भी अलग-अलग-सी लगती हैं। अपेक्षाकृत कुछ अधिक खुलापन उन्हें ऐसा बना देता है। फिर भी पंखुड़ियों के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अविरामता तो उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय में आचार्यश्री के जीवन शतदल की उन अलग-अलग दिखाई देने वाली स्फुट घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्यश्री का जीवन किसी एक बंधी-बंधाई परिपाटी का जीवन नहीं है। वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमें घुमाव है, कटाव है तथा नव निर्माण की उच्च अभिलाषा है, बहाव तो उन सब में व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-संकुल है। उन घटनाओं के प्रकाश में हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणों से देख सकते हैं। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-से-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और नई आकृति प्रदान करता है उसी तरह इन छोटी-छोटी स्फुट घटनाओं की प्रत्येक स्फुरणा आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया रूप खोलने वाली है। यहाँ कुछ घटनाएँ संकलित की गई हैं।

(१) शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है वहाँ बाह्य-सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में रूप-सम्पदा को खुले हाथ से लुटाया है इसलिए उनके शारीरिक अवयवों की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कला-कृति के समान है। साधारण व्यक्तियों की आँख उनकी आकृति पर टिके यह कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु दार्शनिकों और विद्वानों को भी उनकी आकृति आकृष्ट कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान में आचार्यश्री के पास आये। कई दिनों तक नाना दार्शनिक विषयों पर

विमर्षण होता रहा। जब वे विदा होने लगे तो बोले—"सभी तृप्तियो के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे है।"

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—"कौन सी अतृप्ति ?"

उन्होने कहा—"मुखवस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्णमुख का दर्शन नही कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमें प्रतिदिन पूर्ण-दर्शन के लिए उत्सुक करता रहा है। हमें आज सकोच छोडकर यह कहने को विवश होना पड रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय बाधा न हो तो क्षण भर के लिए भी अपने अनावृत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें।"

नेत्रो का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपाध्यक्ष श्री बुडलेण्ड केलर बबई में सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे, तब श्रीमती केलर आचार्यश्री के नेत्रो की ओर बडी उत्सुकता से देख रही थी। बात-चीत की समाप्ति पर श्रीमती केलर ने कहा—"मुझे बहुत लोगो से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो ओज, आभा और आत्म-तेज आपके नेत्रो मे है, वैसा अन्यत्र कही देखने मे नही आया। निस्सन्देह आपके नेत्रो का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाली है।"

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की लब्ध-ख्याति चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर दिल्ली में जब मेरे सम्पर्क मे आयी, तब उन्होंने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखलाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया। एक दिन 'शाति-निकेतन' में अचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट हो गई। आचार्यश्री अपनी बगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सास्कृतिक व ऐतिहासिक संग्रहालय तथा शाति-निकेतन के समृद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिजाबेथ अन्दर जा रही थी। एक क्षण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ। इतने मात्र से ही वे इतनी प्रभावित हुई कि पुनः कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिली और एक महीने तक वहाँ ठहर कर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था।

वे ऐसा करने के लिए क्यों प्रेरित हुई, उन्होंने इस विषय पर एक लेख भी लिखा, जो कि कलकत्ता के पत्रों मे प्रकाशित हुआ था। उस लेख में उन्होने बतलाया है—"शाति-निकेतन में जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची, तो उधर से आते व्यक्तियो के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि वे नगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे, जो कवि-गृह से आ रहे थे। वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत वस्त्र बधा हुआ था। मैं आदर-पूर्वक एक ओर खडी हो गई। वे निकट पहुँचे। मुझे शान्ति अनुभव हुई। उन्होंने मेरे नाम व देश के विषय में प्रश्न पूछे। उनके प्रश्न गहरे थे और मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी कि उनकी आँखें बडी तेज हैं।"

प्रखर तेज

ब्यावर में 'अणुव्रत-प्रेरणा-दिवस' पर बोलते हुए अजमेर के तपे हुए कार्यकर्त्ता रामनारायण चौधरी ने कहा—"मेरे दिमाग में कल्पना थी कि आचार्यश्री तुलसी कोई वृद्ध मनुष्य होगे, पर आज ज्योंही मैंने उनके दर्शन किये, तो पाया कि आचार्यश्री मे प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आयु और शरीर का भी तेज है।"

शक्ति का अपव्यय क्यो ?

राजस्थान विधान-सभा में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम था। उसके बारे में एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ अनर्गल बातें लिखी थी। विधान-सभा के उपाध्यक्ष निरजननाथजी को वह बहुत बुरा लगा। उन्होने उस कार्य को अपमान-जनक समझा और आचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे—"यह हमारा और विधान-सभा का अपमान है। हम इस पर कानूनी कार्यवाही करेंगे।"

आचार्यश्री ने कहा—"हमारे लिए किसी व्यक्ति का अहित हो, यह मैं नही चाहता। किसी की इस प्रकार की आलोचना करना अज्ञान है। अज्ञान को मिटाना है, तो उसके दोष को क्षमा कर देना होगा। दूसरी बात यह भी है कि इन तुच्छ घटनाओ में हमें अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करना चाहिए।"

प्रशसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने आचार्यश्री से कहा—"मैंने आपके दर्शन तो आज पहली बार ही किये है, किन्तु मैं लोगों के बीच आपकी बहुत प्रशसा करता रहता हूँ। अनेको व्यक्तियो को मैंने आपके सम्पर्क में आने की प्रेरणा दी है।"

आचार्यश्री ने कहा—"पुरोहितजी ! हमे अपनी प्रशसा नही चाहिए। हम उसका क्या करें ? हम तो चाहते है कि हर कोई अपने जीवन की सत्यता को पहचाने। इसी में उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।"

क्या पैरो मे पीड़ा है ?

आचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया, तो सेठ जुगलकिशोरजी बिडला भी विदा देने के लिए दूर तक साथ-साथ आये। मार्ग में वे आचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। आचार्यश्री जब-जब बोलते, तब पैर रोक लेते। बिडलाजी ने समझा, सम्भवत पैरों में पीडा है, जिससे वे ऐसा कर रहे है। जब कई बार ऐसा हुआ, तो उन्होने पूछ लिया—"क्या पैरों में पीडा विशेष है ?"

आचार्यश्री ने कहा—"नहीं तो, कोई भी पीडा नही है।"

बिड़लाजी ने तब साश्चर्य पूछा—"तो आप रुक-रुक कर क्यो चल रहे हैं ?"

आचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझाते हुए कहा—"चलते समय बात न करने का हमारा नियम है अतः जब-जब बोलने का अवसर आता है, तब-तब मैं रुक जाता हूं।"

बिड़लाजी ने क्षमा माँगते हुए कहा—'तब तो मुझे भी नहीं बोलना चाहिए था।"

(३) शान्तिवादिता

आचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति प्रधान रही है। अशांति को न वे चाहते हैं और न दूसरों के लिए पैदा करते हैं। जहाँ अशांति की सम्भावना होती है वहाँ वे अपने को तत्काल अलग कर लेते हैं। इसी शांतिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

आचार्य-काल के प्रारंभ में ही उनकी शान्ति प्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर में किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहाँ से विहार किया तब कई सहस्र व्यक्ति उनके साथ थे। वहाँ के सुप्रसिद्ध रांगड़ी चौक की सड़क जन संकुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के मुख्याचार्य आ गए। उनकी नीति सदा से ही तेरापन्थ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अच्छे इरादे से नहीं आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई बड़े अपमान-जनक ढंग से 'हटो-हटो' कहते हुए आगे बढ़े।

आचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। सबको चीर कर आगे बढ़ने के उनके इरादे से इधर वाले भाइयों में बड़ी उत्तेजना फैली परन्तु आचार्यश्री ने स्थिति को सम्भाला और सड़क छोड़कर एक ओर हो गए। साथ के जन-समुदाय के लिए इधर-उधर हटने का कोई स्थान नहीं था। फिर भी आचार्यश्री ने सबसे शांत रहने तथा उनका मार्ग न रोकने का निर्देश दिया। सड़क पर के सभी व्यक्तियों ने एक-दूसरे से सटते हुए उनके लिए मार्ग खाली किया। दूर तक केवल दो आदमी गुजर सकें इतनी-सी पट्टी में से वे लोग 'विजय' का गर्व करते हुए गुजरे। यदि आचार्यश्री उस समय शांति न रख पाते तो झगड़ा अवश्यम्भावी था।

उस कार्य की जन प्रतिक्रिया यह रही कि आचार्यश्री ने बड़ी समझदारी और शान्ति से काम लिया। स्वयं दूसरे पक्ष के समझदार व्यक्तियों ने भी आचार्यश्री के कार्य की प्रशंसा की और अपने पक्ष की नीति की आलोचना की। यह उनकी शान्तिवादिता की जन-साधारण के लिए प्रथम झलक थी।

स्वाध्याय ही सही

सरदारशहर में रात्रिकालीन व्याख्यान बाजार में हुआ और शयन स्थान के दिगम्बर-मंदिर में। जनता ने अगले दिन फिर वहीं व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया। आचार्यश्री ने स्वीकृति

दे दी। जब दूसरे दिन साय बाजार में पहुचे, तो सुना कि वहाँ किसी वैष्णव साधु का व्याख्यान होने वाला है। आचार्यश्री कुछ असमजस में पडे, पर तत्काल ही निर्णय कर लिया कि चलो, आज रात को मदिर में स्वाध्याय ही करेंगे।"

कुछ लोगो ने आकर कहा—"आप भी यही ठहर जाइये। हम दोनो का ही व्याख्यान सुन लेंगे।"

आचार्यश्री ने कहा—"यद्यपि एक सभा में दो धर्मावलम्बियो के व्याख्यान आजकल कोई आश्चर्य का विषय नही रहा है, फिर भी यहाँ जिस ढग से यह कार्यक्रम रखा गया है, उससे मुझे लगता है कि उसके पीछे कोई विद्वेष-बुद्धि काम रही है। ऐसी स्थिति में वहाँ व्याख्यान देने से शान्ति रहनी कठिन है।" आचार्यश्री वहाँ नही ठहरे और मन्दिर में चले गये।

जब उस वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा, तो आदमी भेजकर कहलाया कि मुझे यह पता नही था कि वहाँ पहले किसी जैनाचार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझसे आग्रह करने वालो ने मुझे इस स्थिति से अनजान रखा। यद्यपि मैंने उस स्थान पर व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया, पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नही जाऊँगा। पूर्व निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझसे सुनने की इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—"हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नही हैं। हमारा व्याख्यान कल वहाँ हो ही चुका है, आज यदि लोग उनका सुनें, तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नही है।" इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नहीं आयेंगे। आचार्यश्री फिर भी वहाँ नही गये, तब बाजार के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने आकर पुन निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की अशाति का भी भय नहीं रहा है। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शाति का मार्ग

सौराष्ट्र में जिन दिनो विरोधी वातावरण चल रहा था, तब मास्टर रतिलाल भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र में धर्मप्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालों में वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये, तो उनके मन में यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेंगे ? मुनिजनो को वहाँ भेजने की प्रार्थना करते समय उन्हें यह पता नही था कि विरोधी लोग वातावरण को इतना कलुषित कर देंगे। किन्तु अब उसका सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नही था।

आचार्यश्री ने पूछा—"कहिये, सौराष्ट्र में कैसी स्थिति है ? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है ?"

पैडी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्‌गारों को सुनकर आचार्यश्री ने उस बात को गहराई तक पहुँचाते हुए कहा—"पर-दोष-दर्शन कितना सहज होता है और आत्म-दोष-दर्शन कितना कठिन, यह इस पैडी की बात ने सिद्ध कर दिया है। चोट खाने वाला हर कोई पैडी को दोष देता है, जब कि वस्तुतः दोष अपनी असावधानी का है। पैडी की बनावट में कुछ कमी हो सकती है, फिर भी कुछ दोष अपनी ईर्या का भी तो है।"

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण पहले-पहल जब जयपुर में आचार्यश्री से मिले, तब सफेद टोपी पहने हुए थे। किन्तु जब दूसरी बार दिल्ली मे मिले, तब लाल टोपी पहने हुए थे। वार्तालाप के मध्य आचार्यश्री ने टोपी के लिए पूछ लिया कि सफेद के स्थान पर यह लाल टोपी कैसे लगाई हुई है?

जयप्रकाशजी ने कहा—"हमारी पार्टी वालो ने यही निर्णय किया है। सफेद टोपी अब बदनाम भी हो चुकी है।"

आचार्यश्री ने स्मितभाव से कहा—"टोपी बदनाम हो गई, इसलिए आपकी पार्टी ने उसका रग बदल दिया, परन्तु बदनामी के काम तो टोपी नहीं, मनुष्य करता है। उसकों बदलने की आपकी पार्टी ने क्या योजना बनायी?"

सम्प्रदाय, धर्म की शोभा

आचार्यश्री विहार करते हुए जा रहे थे। मार्ग में एक विशाल आम्र वृक्ष आ गया। संतों ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट करते हुए कहा—"यह वृक्ष बहुत बड़ा है।"

आचार्यश्री ने भी उसे देखा और गम्भीरता से कहने लगे—"एक मूल में ही कितनी शाखाएँ प्रशाखाएँ निकल जाती है। धर्म-सम्प्रदाय भी इसी प्रकार एक मूल में से निकली हुई विभिन्न शाखाएं हैं, परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इनमें परस्पर कोई झगडा नही है, जबकि सम्प्रदायों में नाना प्रकार के झगडे चलते रहते हैं। शाखाएं वृक्ष की शोभा हैं, उसी प्रकार सम्प्रदायों को भी धर्म-वृक्ष की शोभा बनना चाहिए।"

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कीर्तनकार डा० रामनारायण खन्ना आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होने अपनी कुछ चौपाइयाँ आदि भी सुनाई। बातचीत के क्रम में वे थोडी-थोडी देर के पश्चात् 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवत उन्होने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा, पर बाद में वह उनके लिए एक मुहावरा बन गया था।

आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया, तो कहने लगे—"डाक्टर साहब! आप मनुष्य के पुरुषार्थ को भी कुछ मानियेगा? 'रामकृपा', 'प्रभुकृपा' आदि शब्दो को भक्ति-सम्भृत हृदय के उद्‌गारो से अधिक महत्त्व देने पर स्वय प्रभु को भी राग-द्वेष-लिप्त मान लेना होगा।

इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को असमंजस में डाल दिया। वे कुछ सोच नहीं पा रहे थे कि इसका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है ? फिर भी उन्होंने कुछ साहस करके कहा—"एक प्रकार से ठीक ही चल रहा है किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति में पूर्ववत् तीव्रता नहीं रह सकी है।"

आचार्यश्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमें अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाये रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं इस ओर ध्यान न देकर, हमें क्या करना चाहिए—यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमें विरोध का शमन विरोध से नहीं अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शांति का है।

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होंने कहा—"गुरुदेव ! मुझे तो यह भय था कि आप कड़ा उलाहना देंगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों के प्रति किये जा रहे व्यवहार से अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होंगे किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।

(४) गहराई में

आचार्यश्री अनेक बार साधारण-सी बात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमें दार्शनिक तत्त्व नवनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण-सी-साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर बन जाती है। साधारण व्यक्ति बहुधा घटना के बहिस्तल को ही देखता है जबकि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

पीछे से भी

एक बार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रुका हुआ था। मुनिजन अपना अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार बैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के पश्चात् थोड़ा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि अब कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खड़े होकर सामने दूर तक दृष्टि फैलाते हुए कहा— अब कुहासा मिटने में अधिक देर नहीं है। यह बात चल ही रही थी कि इतने में पीछे से रुई के फाहे जैसे कुहासे के बादल उमड़ आये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने उस बात को गहराई तक ले जाते हुए कहा— 'आगे सब देखते हैं पर पीछे कोई नहीं देखता। विपत्ति पीछे से भी तो आ सकती है। सच तो यह है कि यह प्रायः सामने से कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।

पैड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान में ठहरे थे उसकी एक पैड़ी बहुत खराब थी। अपनी असावधानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियों ने उससे चोट खायी। चोट खाकर अन्दर आने वाले प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने उस पैड़ी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा।

फोटो चाहिए

अचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास मन्त्री अमृतलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ। वातचीत के दौरान में यादवजी की पत्नी ने कहा—"मुझे नैतिक कार्यों में वडी अभिरुचि है। मैंने अपने घर में उन्ही लोगो के फोटो विशेप रूप से लगा रखे है, जिनकी सेवाएँ ससार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे मे लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए।"

आचार्यश्री ने कहा—"फोटो का आप क्या करेंगी, जव कि मैं स्वय ही आपके घर में बैठा हुआ हूँ। मेरी दृष्टि में आवश्यकता तो यह है कि मनुष्य की आकृति को न पूजकर उसके गुणों का या कथन का अनुसरण किया जाए।"

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियो में प्रवचन कर वाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउन्टेनपेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ वढाते हुए विद्यार्थियो ने कहा—"आप इसमें हस्ताक्षर कर दीजिए।"

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—"देखो वालको! मैंने अभी जो बातें कही हैं, उन्हे जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।"

गर्म का बिगाड़

एक प्याले मे दूध पडा था और उसके पास में ही अचित्त किया हुआ नीबू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—"क्या नीबू के रस से दूध तत्काल फट जाता है ?"

पास में खडे एक साधु ने कहा—"फट तो जाता है।"

आचार्यश्री ने नीबू लिया और थोडा-सा दूध लेकर उसमें चार-पाँच बूदें डाली। दो एक मिनट के बाद देखा, तब तक वह नहीं फटा।

एक साधु ने कहा—"गर्म दूध जल्दी फट जाता है। यह ठडा है, शायद इसीलिए नही फटा।"

आचार्यश्री ने उस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—"ठीक ही है। ठडी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नहीं बिगाड सकता। गर्म प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड हुआ करता है।"

पन्थ और बाड़ा

बडी सादडी के जवाहर चौक में आचार्यश्री प्रवचन दे रहे थे। जनता अधिक थी, अत कुछ लोग मार्ग में बैठ गये। गायें आई, उनमें से एक डर गई। आचार्यश्री उस समय तेरापन्थ की व्याख्या कर रहे थे। गाय की स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होने कहा—"पन्थ

अहंभाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएं आवश्यक हैं तो क्या अकर्मण्यता और हीनभाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए ? मैं मानता हूं कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है पर क्या अपने आपको न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है ?

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पड़े। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था वह उनके लिए एक बिलकुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखलाया। उसमें आचार्यश्री के विषय में बहुत सी अनर्गल बातें लिखी हुई थी उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होंने भी पत्र देखा। वे बड़े खिन्न हुए। कहने लगे— 'यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादकों पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा— कीचड़ में पत्थर फेंकने से कोई लाभ नहीं। मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूं अतः मुकदमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानों से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

भूख नहीं सताती

एक बार भागरा सेन्ट्रल जेल में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया था। वापस स्थान पर शीघ्र ही पहुंच जाने की संभावना थी अतः भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होंने किसी को कुछ निर्देश नहीं दिया। संयोगवशात् देरी हो गई। उधर मुनिजन इसलिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आने वाले ही होंगे। इतनी देरी का अनुमान उनका भी नहीं था।

जेल दूर थी। गरमी काफी बढ़ गई थी। सड़क पर पैर जलने लगे थे। इन सभी कठिनाइयों को भुगतते हुए वे आये। अपने विश्राम से भी पहले उन्हें सबकी चिन्ता थी अतः आते ही उनका पहला प्रश्न था— 'क्या अभी तक भिक्षाचरी के लिए तुम लोग नहीं गये ?

सन्तों ने कहा— 'कुछ निर्देश नहीं था अतः हमने सोचा कि अभी आ ही रहे होंगे प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा में समय निकल गया।"

आचार्यश्री ने थोड़ी-सी आत्मग्लानि के साथ कहा— 'तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना।

सन्तों ने कहा— 'आप भी तो अभी निराहार ही हैं।

आचार्यश्री बोले— हां निराहार तो हूं पर काम के सामने मुझे कभी भूख नहीं सताती।"

फोटो चाहिए

अचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास मन्त्री अमृतलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत के दौरान में यादवजी की पत्नी ने कहा—"मुझे नैतिक कार्यों में बडी अभिरुचि है। मैंने अपने घर मे उन्ही लोगो के फोटो विशेष रूप से लगा रखे हैं, जिनकी सेवाएँ ससार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे में लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए।"

आचार्यश्री ने कहा—"फोटो का आप क्या करेंगी, जब कि मैं स्वय ही आपके घर मे बैठा हुआ हूँ। मेरी दृष्टि में आवश्यकता तो यह है कि मनुष्य की आकृति को न पूजकर उसके गुणों का या कथन का अनुसरण किया जाए।"

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियों मे प्रवचन कर बाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउन्टेनपेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ बढाते हुए विद्यार्थियो ने कहा—"आप इसमे हस्ताक्षर कर दीजिए।"

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—"देखो बालको! मैंने अभी जो बातें कही हैं, उन्हे जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।"

गर्म का बिगाड़

एक प्याले मे दूध पडा था और उसके पास में ही अचित्त किया हुआ नीबू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—"क्या नीबू के रस से दूध तत्काल फट जाता है ?"

पास में खडे एक साधु ने कहा—"फट तो जाता है।"

आचार्यश्री ने नीबू लिया और थोडा-सा दूध लेकर उसमें चार-पाँच बूंदें डाली। दो एक मिनट के बाद देखा, तब तक वह नही फटा।

एक साधु ने कहा—"गर्म दूध जल्दी फट जाता है। यह ठडा है, शायद इसीलिए नही फटा।"

आचार्यश्री ने उस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—"ठीक ही है। ठडी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नही बिगाड सकता। गर्म प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड हुआ करता है।"

पन्थ और बाडा

बडी सादडी के जवाहर चौक में आचार्यश्री प्रवचन दे रहे थे। जनता अधिक थी, अत कुछ लोग मार्ग में बैठ गये। गायें आई, उनमें से एक डर गई। आचार्यश्री उस समय तेरापन्थ की व्याख्या कर रहे थे। गाय की स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने कहा—"पन्थ

अहंभाव को रोकने के लिए 'रामत्सा' जैसी भावनाएं आवश्यक हैं तो क्या अकर्मण्यता और हीनभाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए ? मैं मानता हूं कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है पर क्या अपने आपको न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है ?

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पड़े। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था वह उनके लिए एक बिलकुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखलाया। उसमें आचार्यश्री के विषय में बहुत सी अमर्गल बातें लिखी हुई थीं उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होंने भी पत्र देखा। वे बड़े खिन्न हुए। कहने लगे— 'यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादकों पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा— 'कीचड़ में पत्थर फेंकने से कोई लाभ नहीं। मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूं अतः मुकदमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानों से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

भूख नहीं सताती

एक बार आगरा डिस्ट्रिक्ट जेल में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया था। वापस स्थान पर शीघ्र ही पहुंच जाने की संभावना थी अतः भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होंने किसी को कुछ निर्देश नहीं दिया। संयोगवशात् देरी हो गई। उधर मुनिजन इसलिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आप आते ही होंगे। इतनी देरी का अनुमान उनका भी नहीं था।

जेल दूर थी। गरमी काफी बढ़ गई थी। सड़क पर पैर जलने लगे थे। इन सभी कठिनाइयों को झेलते हुए वे आये। अपने विश्राम से भी पहले उन्हें सबकी चिन्ता थी अतः आते ही उनका पहला प्रश्न था— 'क्या अभी तक भिक्षाचरी के लिए तुम लोग नहीं गये ?

सन्तों ने कहा— 'कुछ निर्देश नहीं था अतः हमने सोचा कि अभी आ ही रहे होंगे प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा में समय निकल गया।"

आचार्यश्री ने थोड़ी-सी आत्मग्लानि के साथ कहा— 'तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना।

सन्तों ने कहा— 'आप भी तो अभी निराहार ही हैं।

आचार्यश्री बोले— हाँ निराहार तो हूं पर काम के सामने मुझे अभी भूख नहीं सताती।

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—"आप तो बहुत ज्ञानी हैं। मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नही ?"

आचार्यश्री ने कहा—"तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नही ?"

छात्रा—"अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।"

आचार्यश्री—"तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय में शकाशील क्यो बन रहा है ? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष-वाणी या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नही करा सकती।"

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्यान्ह मे एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढाते हुए कहा—"आप तो सर्वज्ञ है, कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नही ?"

आचार्यश्री ने कहा—"मैं कोई ज्योतिषी नही हूँ, जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुपार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुपार्थ मे लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका भविष्य बुरा हो ही नही सकता।"

(६) दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र पिघल जाते हैं। सघ-सचालक के लिए यह आवश्यक भी है कि वह विशिष्ट स्थितियों पर अपनी दयार्द्रता का परिचय दे। नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ उनके सम्मुख आती रहती हैं। कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं, तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने योग्य होती हैं, कुछ नही। जिसकी प्रार्थना नही मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो, पर स्वाभाविक है। इन सब स्थितियो में से गुजरते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना, उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है, पर उन्हें दूसरों का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव में दयार्द्रता हुए बिना ऐसा हो नहीं सकता।

कैसे जा सकते हैं ?

मेवाड-यात्रा में आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोडी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक ग्राम में प्रवचन देकर जब वे चलने लगे, तब एक वृद्धा ने आगे बढकर आचार्यश्री को कुछ रुकने का संकेत करते हुए कहा—"मेरा 'मोभी' बेटा (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोडी देर ठहरकर उसे दर्शन दे दें।"

लोगों ने उसे टोकते हुए कहा—"आचार्यश्री को आगे जाना है, पहले ही काफी देर हो चुकी है, धूप भी प्रखर है, अत वे अब नहीं ठहर सकते।"

चलने के लिए होता है बैठने के लिए नहीं। पन्थ में रुकावट न हो यह सबके लिए खुला रहे यही अच्छा है। उसे बांध लेने पर दूसरे डरने लगते हैं। यह भाव इसीलिए बढ़ रही है कि लोगों ने पन्थ को घेर कर अपना बना लिया है। पन्थ को पन्थ ही रहने दो बाड़ा मत बनाओ।

उनकी प्रत्युत्पन्न मति ने मार्ग के रूपक में जहाँ अपना मंतव्य प्रकट कर दिया वहाँ उनको शिक्षा भी दे दी जो कि मत के व्यामोह में घेराबन्दी किया करते हैं। साथ ही व्यवस्था भंग करने वालों को भी बता दिया कि वे गलत काम कर रहे हैं। कहना नहीं होगा कि मार्ग में बैठे लोगों ने तत्काल उठकर मार्ग को खुला कर दिया।

बरगद का नयामोह

सड़क के किनारे बरगद का पेड़ था। विहार के समय मार्ग में आचार्यश्री कुछ क्षण के लिए उसके नीचे रुके। पेड़ काफी पुराना था। नीचे भूमि तक पहुँचने वाली उसकी जटाएं इस बात की साक्षी थीं। फिर भी ऋतु-परिवर्तन के कारण उस समय उस पर नये किसलय आये हुए थे। नयनाभिराम सौंदर्य ने वहाँ एक मनोहारी वातावरण बना रखा था। आचार्यश्री ने एक क्षण के लिए उसे ऊपर से नीचे तक देखा और साथ में चलने वाले मेवाड़ी भाइयों से कहने लगे— 'देखा आपने इस बरगद को ? कितना समयज्ञ है यह ? समय की पुकार पर अपने चिरपोषित पुराने पत्तों को छोड़कर नया मोड़ लेने में इसे तनिक भी संकोच नहीं होता। तभी तो आज यह अपनी सघन छाया और नव-सौन्दर्य से पथिकों का मन मोह रहा है। मेवाड़ी भाईयों को इस बरगद से शिक्षा लेनी है। उन्हें सोचना है कि प्राचीनता के व्यामोह में वे कहीं पिछड़ तो नहीं रहे हैं ? नये मोड़ की पुकार पर उन्हें ध्यान देना है।"

(५) परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम में विश्वास करते हैं। वे एक क्षण के लिए भी किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते वे भाग्य को बिल्कुल ही नहीं मानते हैं, ऐसी बात नहीं है। परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात दिन अपने काम में जुटे रहते हैं। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं। अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

अधिक बीमार न हो जाऊँ

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विश्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वैद्य की राय है—आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—"मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझसे तो सर्वथा निष्क्रिय होकर नहीं बैठा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं कहीं अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

उसके पश्चात् आचार्यश्री प्राय प्रतिदिन उन्हें दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री की इस दयालुता से बहुत ही तृप्त हुए। वे बहुधा अपने साथियो के सामने अपनी पिछली भूलो का स्पष्टीकरण करते रहते थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक बहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुजर गए। तभी उस शहर में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। उस बहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की बडी उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के पश्चात् सन्तों से कहा—"चलो। उस बहन को दर्शन दे आयें।"

देर हो गई थी और धूप भी काफी थी, अत सतो ने कहा—"रेत में पैर जलेंगे, अत सध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"नहीं, हमें अभी चलना चाहिए।" यद्यपि उसका घर दूर था, फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये, बहन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोडी देर वहाँ ठहरकर वापस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर पश्चात् ही उस बहिन के दिवगत होने के समाचार भी आ गये।

आचार्यश्री ने सतों से कहा—"अगर हम उस समय नही जाते, तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यों में हमें देर नही करनी चाहिए।"

झोंपडे का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर से विहार कर ढाणी में पधारे। बस्ती छोटी थी। स्थान बहुत कम था। कुछ झोंपडे बहुत अच्छे थे, पर कुछ शीतकाल के लिए बिलकुल उपयुक्त नहीं थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोंपडे को पसन्द किया कि जहाँ शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तों ने दूसरे झोंपडे का सुझाव दिया, तो कहने लगे—"हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते हैं, अत पर्दे आदि का प्रबन्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओं के पास प्राय वस्त्र कम ही मिलते हैं, अत उनके लिए सर्दी का बचाव अधिक आवश्यक होता है।"

(७) वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री में जितनी दयालुता अथवा मृदुता है, उतनी ही दृढता भी। आचार्यश्री की मृदुता शिष्य-वर्ग में जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है, वहाँ दृढता, अनुशासन और आदर के भाव भी। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढता से। दोनों का सामजस्य बिठा कर ही वे अपने कार्य में सफल हो सकते है। आचार्यश्री ने इन कामों का अपने में अच्छा सामजस्य बिठाया है। वे एक ओर बहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते हैं, तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते है।

वृद्धा ने दुनकते हुए कहा— 'तुम कौन होते हो पूछने वाले ? [illegible]
बाट देख रही हूँ। महाराज दर्शन दिये बिना ही कैसे चल [illegible]
रोक कर खड़ी हो गई। [illegible]

आचार्यश्री ने उसकी भक्ति विह्वलता को देखा तो [illegible]
"माँजी! तुम्हारा घर किधर है? उधर ही चलें तो दर्शन हो [illegible]

वृद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली। [illegible]
तो कुछ ही दूर पर वह लड़का आता हुआ मिल गया। [illegible]
तब आचार्यश्री ने वृद्धा से पूछा— 'क्यों माँजी! अब तो हम चलें ?' [illegible]

वृद्धा गद्‌गद हो गई और वाष्पार्द्र नेत्रों से उसने विदाई दी।

बिना भक्ति तारो तो पै तारबो तिहारो है

सुजानगढ़ में चांदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था में [illegible]
बड़े समझदार तथा दृढ़-संकल्प व्यक्ति थे। वे कालान्तर में [illegible]
स्थिति में उनके विचारों में भी परिवर्तन आया। उन्होंने आचार्यश्री [illegible]
करायी। आचार्यश्री वहाँ गये तब उन्होंने अपनी धर्म विमुखता का [illegible]
एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' सुनाया। उसकी अन्तिम कड़ी थी— [illegible]
पै तारबो तिहारो है' अर्थात् भक्तों को तो भगवान् तारते ही हैं पर मुझ [illegible]
भी तारें तभी आपकी विशेषता है।

आचार्यश्री उनकी इस भावना पर मुग्ध हो गए। उसके पश्चात् [illegible]
और धर्मोपदेश सुनाते रहे। अनेक बार सन्तों को भी वहाँ भेजते रहे।

दुःख को विस्मृत कर दो

लाडनूं के सुरजमलजी चोरड़िया पहले धार्मिक प्रकृति के थे किन्तु बाद में [illegible]
धर्म विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लोगों को भ्रांत किया। परन्तु जब [illegible]
विचार बदल गए। उन्होंने आचार्यश्री को दर्शन देने की प्रार्थना करायी। [illegible]
पधारे तब आत्म निन्दा करते हुए उन्होंने अपने कृत्यों की क्षमा माँगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें की। प्रसंगवशात् [illegible]—
'स्वामीजी के सिद्धान्तों में कोई भ्रांति हो गई थी या कोई मानसिक दुःख ही था? [illegible]
थी तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि दुःख था तो अब [illegible]
तुम्हारे कारण से जिन लोगों में धर्म के प्रति भ्रांतियाँ पैदा हुई हैं उन्हें [illegible]
देना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया— 'मेरी श्रद्धा ठीक रही है किन्तु [illegible]
यह इतनी पूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रांत किया है उनसे भी [illegible]

उसके पश्चात् आचार्यश्री प्राय प्रतिदिन उन्हें दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री की इस दयालुता से बहुत ही तृप्त हुए। वे बहुधा अपने साथियो के सामने अपनी पिछली भूलों का स्पष्टीकरण करते रहते थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक बहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुजर गए। तभी उस शहर में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। उस बहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की बडी उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के पश्चात् सन्तों से कहा—"चलो। उस बहन को दर्शन दे आयें।"

देर हो गई थी और धूप भी काफी थी, अत सतों ने कहा—"रेत में पैर जलेंगे, अत सध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"नहीं, हमें अभी चलना चाहिए।" यद्यपि उसका घर दूर था, फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये, बहन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोडी देर वहाँ ठहरकर वापस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर पश्चात् ही उस बहिन के दिवगत होने के समाचार भी आ गये।

आचार्यश्री ने सतो से कहा—"अगर हम उस समय नही जाते, तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यो में हमें देर नही करनी चाहिए।"

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर से विहार कर ढाणी में पधारे। बस्ती छोटी थी। स्थान बहुत कम था। कुछ झोंपडे बहुत अच्छे थे, पर कुछ शीतकाल के लिए बिलकुल उपयुक्त नहीं थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोंपडे को पसन्द किया कि जहाँ शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तों ने दूसरे झोपडे का सुझाव दिया, तो कहने लगे—"हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते है, अत पर्दे आदि का प्रबन्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओं के पास प्राय वस्त्र कम ही मिलते है, अत उनके लिए सर्दी का बचाव अधिक आवश्यक होता है।"

(७) वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री में जितनी दयालुता अथवा मृदुता है, उतनी ही दृढता भी। आचार्यश्री की मृदुता शिष्य-वर्ग में जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है, वहाँ दृढ़ता, अनुशासन और आदर के भाव भी। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढता से। दोनों का सामजस्य बिठा कर ही वे अपने कार्य में सफल हो सकते हैं। आचार्यश्री ने इन कामों का अपने में अच्छा सामजस्य बिठाया है। वे एक ओर बहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते है, तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते है।

मुझे रोकता है

एक बार आचार्यश्री लाडनूं में थे। वहाँ कुछ भाइयों ने भवन की प्रेरणा दी। वे आये तो उसमें कुछ लोगों ने आपत्ति की। कुछ [illegible] थे तो कुछ विपक्ष में। वातावरण में गरमी आयी और कुछ [illegible] लगा। यह बात आचार्यश्री तक पहुँची। उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता के साथ [illegible] कहा—"इस समय यह स्थान साधुओं की निश्राय में है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए [illegible] व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुकों को रोकता है तो वस्तुतः मुझे ही रोकता है।"

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शान्त कर दिया। यह उस समय की घटना है जब कि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्रारम्भिक चरण बढ़ाये थे। अब तो यह प्रश्न प्रायः समाप्त हो चुका है कि व्याख्यान में कौन आता है और कहाँ बैठता है?

मंदिर में भगवान् नहीं है

एक गाँव में आचार्यश्री को एक मन्दिर में ठहराने का निश्चय किया गया। वे [illegible] आये तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ साथ वे भी मन्दिर [illegible]। पुजारिन ने जब यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो [illegible] ध्यान ही नहीं गया पर जब पता लगा तो साधुओं से कहने लगे—"चलो भाई, अपना [illegible] वापस समेट लो। यहाँ मन्दिर में तो भगवान् नहीं क्रोध—चाण्डाल रहता है। इस [illegible] अपवित्रता में ठहर कर क्या करेंगे?"

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये वचन सुने तो कुछ ठण्डी पड़ गई। कहने लगी—"आप क्यों जा रहे हैं? मैं आपको थोड़े ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगों से कह रही हूँ।"

आचार्यश्री ने कहा—तुम जब हम लोगों को ठहरा रही हो तो हमारे साथ आने वाले लोगों को कैसे रोक सकती हो?

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ़ रुख देखा तो चुपचाप एक ओर चली गई।

सिद्धान्त-परक आलोचना

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने पश्चात् ही आचार्यश्री [illegible] पधारे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान में उन्होंने मुनि चर्या का वर्णन करते हुए कहा—"अपने निमित्त बने स्थान में रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारों के निवासार्थ हवेलियाँ बनती हैं इसी प्रकार यदि साधुओं के लिए स्थान बनाये जाते हों तो फिर उनमें वास के [illegible] क्या अन्तर हो सकता है?

आचार्यश्री की उस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढ़े। मध्याह्न में एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास आये और प्रातःकालीन व्याख्यान में कही गई उपर्युक्त बात को [illegible]

पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दबाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापस लें और आगे के लिए ऐसी आक्षेप-पूर्ण बात न कहें।

आचार्यश्री ने कहा—"हम किसी की व्यक्ति-परक आलोचना नही करते। सिद्धान्त-परक आलोचना अवश्य करते है। ऐसा होना भी चाहिए, अन्यथा तत्त्व-बोध का कोई मार्ग ही खुला न रह जाए। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नही कहा जा सकता, क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष के लिये नहीं कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम वैसा करते है, तो स्वयं हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा, जितना कि दूसरो पर होता है। अपने कथन को वापस लेने तथा आगे के लिए न दुहराने की तो बात ही कैसे उठ सकती है ? यह प्रश्न मुनि-चर्या से सम्बद्ध है, अत. इस पर सूक्ष्मतापूर्वक मीमासा करते रहना नितान्त आवश्यक है।"

वे लोग आचार्यश्री को लघुवय तथा नवीन समझकर दबाने की दृष्टि से आये थे, परन्तु आचार्यश्री के दृढतामूलक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहाँ मनुष्य की हीन वृत्ति की द्योतक होती है, वहाँ सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-वृद्धि और आचार-शुद्धि की हेतु होती है। उन्हें रोकने की नही, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। सत्य को आग्रही नहीं, अनाग्रही पा सकता है।

कुप्रथा को प्रश्रय नही

मेवाड के एक गाव में आचार्यश्री पधारे। वहाँ एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने कारण पूछा। अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—"उसका पति दिवगत हो गया है। यहाँ की प्रथा के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती।"

आचार्यश्री ने कहा—"तुम्ही कहते हो या उससे भी पूछा है, ऐसा कौन होगा, जो इतने महीनों तक एक ही मकान में बैठा रहना चाहे ?"

इस पर वह भाई उस बहिन को समझा कर वही स्थान पर ले आने के लिए गया, पर रूढ़ियों में पली हुई वह वहाँ न आ सकी।

आचार्यश्री ने तब कहा—"कोई रोगी या अशक्त होता, तो मैं अवश्य वहाँ जाकर दर्शन देता, पर वहाँ जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रश्रय देना, अत मैं नहीं जा सकता।"

इस बहिन ने जब यह बात सुनी, तो बहुत चिन्तित हुई। लोग सहस्रो मील जाकर दर्शन करते हैं और वह गाव में पधारे हुए गुरुदेव के दर्शनों से भी वचित रह जायेगी, इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला। अन्तत वह अपने को नही रोक सकी। कुछ बहिनों की ओट लिए भीत मृगी-सी वह आयी और दर्शन — — —

आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए उस प्रथा को छोड़ देने का बहुत उपदेश दिया पर वह सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी।

आचार्यश्री ने कहा— 'एक ही कोठरी में बैठे रहना और वहीं मलमूत्र करना तथा दूसरे से फिंकवाना क्या तुम्हें बुरा नहीं लगता?

उसने कहा— 'बेटे की बहू विनीत है अतः वह सहज भाव से यह सब कुछ कर लेती है।

आचार्यश्री सन्तों की ओर उन्मुख होकर कहने लगे— 'अब इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये?"

श्मशान में भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों को भेजा। वहाँ उन्हें घोर विरोध का सामना करना पड़ा। चूड़ा आदि में कुछ लोग तेरापन्थी बने उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। तेरापन्थी साधुओं के विरुद्ध ऐसा वातावरण बनाया गया कि उन्हें सौराष्ट्र में चातुर्मास करने के लिए कहीं स्थान नहीं मिल पाया। उस समय वहाँ पर मुनि चाँदीरामजी मुनि डूंगरमलजी और साध्वी रूपांजी—ये तीन सिंघाड़े विचर रहे थे। उन्हें क्रमशः जोरावरनगर बांकानेर और चूड़ा में चातुर्मास करने थे। यद्यपि समाज-बहिष्कार का भय सर्वत्र व्याप्त था फिर भी बांकानेर और चूड़ा में कुछ व्यक्तियों ने उस स्थिति का सामना करने का निश्चय किया और उन्होंने अपना स्थान प्रदान किया। जोरावरनगर में मुनि चाँदीरामजी के सम्मुख उससे बिलकुल विपरीत स्थिति थी। वहाँ कोई भी जैन भाई उन्हें स्थान देने को उद्यत नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में यह चिन्ता होना स्वाभाविक ही था कि चातुर्मास कहाँ किया जाये? सौराष्ट्र से अन्यत्र जाकर कहीं चातुर्मास कर सकें, इतने दिन अवशिष्ट नहीं थे।

अन्त में वहाँ से कुछ भाई चली में आचार्यश्री के दर्शन करने के आये और वहाँ की सारी स्थिति बतलायी। आचार्यश्री ने क्षण भर के लिए कुछ सोचा और कहा— 'यद्यपि वहाँ आहार पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयाँ हैं फिर भी उन्हें साहस से काम लेना है। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे उन्हें वहीं रह जाना चाहिए। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति में श्मशान में रह जाना चाहिए। भिक्षु स्वामी के आदर्श को सामने रख कर दृढ़तापूर्वक उन्हें कठिनाइयों का सामना करना है।"

आचार्यश्री की उस दृढ़तापूर्ण स्फूर्तवाणी ने श्रावकों को बड़ा सम्बल दिया। तत्रस्थ साधु-साध्वियों को भी एक मार्ग दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढ़ता के साथ जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होंने अपने मन-ही-मन एक निर्णय लिया और ऊनोदरी करने लगे। पारिपार्श्विक सभी व्यक्तियों को धीरे-धीरे यह ज्ञात हो गया कि आचार्यश्री ऊनोदरी कर रहे हैं पर क्यों

कर रहे है, इसका पता किसी को नही लग सका। बार-बार पूछने पर भी उन्होंने अपने रहस्य को नही खोला। आखिर वह रहस्य तव खुला, जब सौराष्ट्र से साधु-साध्वियों की कुशलता के तथा चातुर्मास के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गये।

सघ के साधु-साध्वियों के प्रति आचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एकसूत्रता का भान कराती है तथा सघ के लिए सर्वभावेन समर्पण की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस एकात्मकता के सम्मुख कोई परीषह, परीषह के रूप में टिक नही पाता, वह कर्त्तव्य की वेदी पर वलिदान की भूमिका वन जाता है।

पचायती जाजम

आचार्यश्री मारवाड के एक गाम मे पधारे। स्थानीय लोगो ने मध्यान्ह में उनके प्रवचन की व्यवस्था की। जनता को आतप से बचाने के लिए पाल बाधे तो धूल से बचाने के लिए जाजमें बिछाई।

आचार्यश्री परीक्षार्थी मुनियो को अध्ययन करवा रहे थे, अत पहले एक साधु को व्याख्यान प्रारभ करने के लिये भेज दिया। व्याख्यान प्रारभ हुआ। सभी वर्ग के लोग आकर जमने लगे। कुछ मेघवाल (हरिजन भाई भी आये और सभी के साथ जाजम पर बैठ गये। स्थानीय जैन लोगो को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने साक्रोश उन्हें वहाँ से उठाते हुए कहा—"तुम लोगों को कुछ भी होश नहीं है, जो पचायती जाजम पर आकर बैठ गये।" उन्होने उनके नीचे से जाजम खीचली। हरिजनो को उस व्यवहार से बडी ठेस पहुची। उनकी आखें उस अपमान के मूक विरोध में आर्द्र हो गईं।

आचार्यश्री ने अन्दर से यह सब देखा तो वे बडे खिन्न हुए। मानवता के उस अपमान ने उन्हें व्यग्र बना दिया। शिष्यों को वे आगे कुछ नहीं पढा सके। वे तत्काल सभा-स्थल में पहुँचे और कहने लगे—"साधुओ के व्याख्यान में आने का हर एक को अधिकार है। वहाँ जातीयता के आधार पर किसी का अपमान करना स्वय साधुओं का अपमान करना है। आपकी जाजम व्याख्यान में आगन्तुक व्यक्तियों के बैठने से यदि अपवित्र होती थी, तो उसे यहाँ बिछाया ही क्यों गया था ?" आचार्यश्री ने वहाँ के सरपच को, जो कि एक जैन था और उस कार्य में भी सम्मिलित था, पूछा—"क्या आपके यहाँ पचायत में सभी सवर्ण है ?"

सरपच—"नही, उसमें एक हरिजन भी है ?"

आचार्यश्री—"तो क्या पचायत करते समय उसके बैठने की व्यवस्था तुम लोगों से पृथक् होती है ?"

सरपच—"नहीं महाराज, वहाँ तो सभी साथ में ही बैठते हैं।"

आचार्यश्री—"तो यहाँ क्या हो गया ? वहाँ की जाजम से शायद यहाँ की जाजम अधिक पवित्र और अधिक नाजुक होगी।"

आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए उस प्रथा को छोड़ देने का [illegible] सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी। [illegible]

आचार्यश्री ने कहा— 'एक ही कोठरी में बैठे रहना और वहीं [illegible] से फिंकवाना क्या तुम्हें बुरा नहीं लगता ? [illegible]

उसने कहा— 'बेटे की बहू विनीत है अतः वह सहज भाव से यह सब [illegible] है।'

आचार्यश्री सन्तों की ओर उन्मुख होकर कहने लगे— '[illegible] मिटाया जाये ?"

श्मशान में भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों को भेजा। वहाँ उन्हें घोर [illegible] करना पड़ा। चूड़ा आदि में कुछ लोग तेरापन्थी बने उन्हें जाति-बहिष्कृत [illegible] तेरापन्थी साधुओं के विरुद्ध ऐसा वातावरण बनाया गया कि उन्हें सौराष्ट्र में [illegible] के लिए कहीं स्थान नहीं मिल पाया। उस समय वहाँ पर मुनि चाँदीरामजी, मुनि [illegible] और साध्वी रूपांजी—ये तीन सिंघाड़े विचर रहे थे। उन्हें क्रमशः जोरावरनगर [illegible] चूड़ा में चातुर्मास करने थे। यद्यपि समाज-बहिष्कार का भय सर्वत्र व्याप्त था [illegible] मेर और चूड़ा में कुछ व्यक्तियों ने उस स्थिति का सामना करने का निश्चय किया [illegible] अपना स्थान प्रदान किया। जोरावरनगर में मुनि चाँदीरामजी के सम्मुख [illegible] विपरीत स्थिति थी। वहाँ कोई भी जैन भाई उन्हें स्थान देने को उद्यत नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में यह चिन्ता होना स्वाभाविक ही था कि चातुर्मास कहाँ किया जाये ? सौराष्ट्र से बाहर जाकर कहीं चातुर्मास कर सकें, इतने दिन अवशिष्ट नहीं थे।

अन्त में वहाँ से कुछ भाई पाली में आचार्यश्री के दर्शन करने के आये और वहाँ [illegible] स्थिति बतलायी। आचार्यश्री ने क्षण भर के लिए कुछ सोचा और कहा— 'यद्यपि वहाँ [illegible] पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयाँ हैं फिर भी उन्हें साहस से काम लेना है। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे [illegible] जाना चाहिए। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति में श्मशान में रह जाना चाहिए। भिक्षु स्वामी के आदर्श को सामने रख कर दृढ़तापूर्वक उन्हें कठिनाइयों का सामना करना है।"

आचार्यश्री की उस दृढ़तापूर्ण स्फूर्तवाणी से श्रावकों को बड़ा सम्बल मिला। उससे साधु साध्वियों को भी एक मार्ग-दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढ़ता से जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होंने मन-ही-मन एक निर्णय किया और [illegible]। [illegible] व्यक्तियों को धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि आचार्यश्री [illegible] कर रहे हैं, [illegible]

हुआ था। आज आपके सम्पर्क में आने से मेरे में यह बल जाग्रत हुआ है। उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है।"

आचार्यश्री ने उसके पश्चात् उन समागत व्यापारियो से पूछा—"अब आप लोग क्या छोडेंगे ? व्यापार में मिलावट आदि तो नही करते ?"

व्यापारियों ने वगलें झाकना प्रारभ कर दिया। किसी तरह साहस बटोर कर कहने लगे—"आजकल इसके विना व्यापार चल ही नही सकता।"

आचार्यश्री के वार-वार समझाने पर भी वे लोग उस अनैतिकता को छोडने के लिए उद्यत नहीं हो सके।

आचार्यश्री ने कहा—"जिसको तुम लोग वात करने योग्य नहीं बतलाते थे, उसने तो अपनी बुराई को छोड दिया, पर तुम लोग जो अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो, अपनी बुराई नहीं छोड पा रहे हो। तुम लोगों से उसकी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही।"

वास्तविक प्रोफेसर

पिलानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"जो अनुभव स्वय पढते समय नहीं हो पाता, वह विद्यार्थियों को पढाते समय होता है, अत वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।"

आचार्यश्री भाषण देकर आये, तब एक परिचित विद्यार्थी ने उनसे पूछा—"अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?"

आचार्यश्री—"चार बजे के लगभग प्रोफेसरों की सभा में भाषण है।"

छात्र ने हँसते हुए कहा—"तब तो हम भी इसमें सम्मिलित हो सकेंगे, क्योंकि अभी-अभी आपने हमें प्रोफेसर बना दिया है।"

आचार्यश्री—"पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की न होकर छात्रों की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?"

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नवीगज जा रहे थे। मार्ग में रघुवीरसिंहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का बहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्य-क्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अत वहाँ ठहर पाना सभव नहीं था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम में लेते हुए कहा—"यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं, अच्छा स्थान है, आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। सभी तरह की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं।"

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—"जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है, वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएँ न हों, वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिए।"

उन लोगों के पास आगे बोलने के लिए कोई तर्क नहीं था। अपनी भूल स्वीकार करते हुए संबन्धित व्यक्तियों ने क्षमायाचना की।

(८) प्रत्युत्पन्न मति

आचार्यश्री में अपनी बात को समझाने की अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार के तर्क से घबराते नहीं। अपनी तर्क-सम्पन्न वाग्धारा से वे एक ही क्षण में [illegible] हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से बहुधा चकित हो जाते हैं [illegible] निरुत्तर। उनकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—"ईसा ने शत्रु से भी प्यार करने का उपदेश दिया है। ऐसा उदार सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलेगा।"

आचार्यश्री ने तत्काल कहा— महात्मा ईसा ने यह बहुत अच्छा कहा है, परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता ही है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढ़कर, किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है। पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

[illegible] में गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैन्य-अधिकारी आचार्यश्री के पास आया। वह कुछ बातचीत कर ही रहा था कि इतने में कुछ वणिक्-जन भी आ गए। उस अधिकारी से आचार्यश्री को बात करते देखा तो किसी वणिक ने अवसर देखकर आचार्यश्री के कान में कहा—"यह तो शराबी है। आप इससे क्या बात करते हैं ?"

आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उस अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसंग में उससे पूछ भी लिया—"क्या तुम शराब पीते हो ?"

अधिकारी— हाँ महाराज! पहले तो बहुत पीता था पर अब प्रायः नहीं पीता।"

आचार्यश्री—"तो क्या अब इसे पूर्णतः छोड़ने का संकल्प कर सकोगे ?"

अधिकारी—"इतना तो विचार नहीं किया पर अब पीना नहीं चाहता।"

आचार्यश्री—"जब पीना नहीं चाहते, तो मानसिक दृढ़ता के लिए संकल्प कर लेना चाहिए।"

अधिकारी ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा और फिर खड़ा होकर बोला—"अच्छा महाराज! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नहीं पीऊँगा।"

आचार्यश्री ने उसके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—"मेरे कहने से [illegible] प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए तो तुम ऐसा नहीं कर रहे हो ?"

अधिकारी ने दृढ़ता के साथ कहा— नहीं महाराज! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा से ही यह ले रहा हूँ। इतने दिन भी मेरा ध्यान इस ओर था पर [illegible]

हुआ था। आज आपके सम्पर्क में आने से मेरे में यह बल जागृत हुआ है। उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है।"

आचार्यश्री ने उसके पश्चात् उन समागत व्यापारियो से पूछा—"अब आप लोग क्या छोडेंगे ? व्यापार में मिलावट आदि तो नहीं करते ?"

व्यापारियो ने वगलें झाकना प्रारभ कर दिया। किसी तरह साहस वटोर कर कहने लगे—"आजकल इसके बिना व्यापार चल ही नही सकता।"

आचार्यश्री के वार-वार समझाने पर भी वे लोग उस अनैतिकता को छोडने के लिए उद्यत नहीं हो सके।

आचार्यश्री ने कहा—"जिसको तुम लोग वात करने योग्य नहीं वतलाते थे, उसने तो अपनी बुराई को छोड दिया, पर तुम लोग जो अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो, अपनी बुराई नहीं छोड पा रहे हो। तुम लोगों से उसकी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही।"

वास्तविक प्रोफेसर

पिलानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"जो अनुभव स्वय पढते समय नहीं हो पाता, वह विद्यार्थियों को पढाते समय होता है, अत वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।"

आचार्यश्री भाषण देकर आये, तव एक परिचित विद्यार्थी ने उनसे पूछा—"अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?"

आचार्यश्री—"चार बजे के लगभग प्रोफेसरों की सभा में भाषण है।"

छात्र ने हँसते हुए कहा—"तव तो हम भी इसमें सम्मिलित हो सकेंगे, क्योंकि अभी-अभी आपने हमें प्रोफेसर बना दिया है।"

आचार्यश्री—"पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की न होकर छात्रों की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?"

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नवीगज जा रहे थे। मार्ग में रघुवीरसिंहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का वहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्य-क्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अत वहाँ ठहर पाना सभव नहीं था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम में लेते हुए कहा—"यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं, अच्छा स्थान है, आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। सभी तरह की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं।"

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—"जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है, वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएँ न हों, वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिए।"

आशा से भर दिया

एक वार 'दिल्ली-अणुव्रत-समिति' के अध्यक्ष श्री गोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गये। वे तव किसी कारणवश काफी निराश थे। किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये, तव आशा से भरे हुए थे।

मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने वतलाया—"अभी दिल्ली नगरनिगम के चुनावो में मेरे अपने ही मुहल्ले में वोट खरीदे गए थे। यह कार्य मेरी पार्टी वालो ने ही मुझसे छिपाकर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओ से मुझे वडी ग्लानि है। अत निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति में अधिवेशन में भाग लेने गया था। मैंने जव इस घटना को आचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जव देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है, तव कुछ व्यक्तियो के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नही हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर वडा दु ख है कि मेरी पार्टी वालो पर भी मेरा कोई प्रभाव नहीं है। अधिक व्यक्तियों द्वारा की जानेवाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नही चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग-अलग रहना पडता है। उसका जीवन जाति-वहिष्कृत जैसा वन जाता है। मेरे साथी जव यह जान गए कि मैं उनकी इन वातो में सहयोग नही दूगा, तो वे उन वातो के विषय में मुझसे विमर्पण किये विना ही अपना निर्णय कर लेते हैं।"

आचार्यश्री ने मुझसे कहा—"क्या यह कम महत्त्वपूर्ण वात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सच्चाई का भी सामना नही कर सकते। उन्हें छिपकर काम करना पटता है।" वस, आचार्यश्री की इसी एक वात ने मुझे आशा से भर दिया।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क में आये, आचार्यश्री ने उनसे पूछा—"धर्म-शास्त्रों का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा ?"

उन्होंने कहा—"मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्रो का अभ्यास किया है।"

आचार्यश्री—"तव तो मोक्षशास्त्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, परीक्षा-मुख आदि ग्रन्थ पढे ही होंगे ?"

सुरेन्द्रनाथजी—"हा, मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।"

आचार्यश्री—"आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नहीं ?"

सुरेन्द्रनाथजी—"जितना निर्विकल्प होना चाहिए, उतना नही हुआ।"

आचार्यश्री—"हो भी कैसे सकता है ? पुस्तकें आत्मतत्त्व का विश्वास थोडे ही कराती हैं ? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं।"

सुरेन्द्रनाथजी—"तो विश्वास कैसे होता है ?"

आचार्यश्री— साधना से। जो ही कोई ग्रन्थ न पढ़ें, आत्म-दर्शन अवश्य होगा। केवल ज्ञान की प्राप्ति पुस्तकों है। केवल ज्ञान के लिए नहीं कालेज में भर्ती नहीं होना बैठकर अपनी आत्मा को पढ़ना होता है। उसी से अवश्य

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातों का श्री सुरेन्द्रनाथजी पर इस प्रकार भाषा की है— 'इतनी बड़ी बात और इतने सरल ढंग है, क्षण भर में उतर गया। तभी मुझे लगा कि हजार वाक्य पौढ़ गुणा अधिक शक्तिमान् है।[1]

पाने की आशा से आता हूँ

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष डा० सातकड़ी के सम्पर्क में आये। वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने बाद में आचार्यश्री विद्वानों तथा विद्वत्ता का पेशा अपनाए हुए व्यक्तियों की जो पैशाची गर्व किया करते हैं कमजोरियों से मैं अपने आपको मुक्त नहीं मानता। स्थिति में पाया कि यह कमजोरी दब गई तथा मैंने अपने को उनके अनुभव किया। मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे प्रांत आत्मवत्ता के

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी ने उनके उपर्युक्त विचारों की आलोचना, मुखर्जी तक यह बात पहुंची तो उन्होंने अपने एक अन्य पत्र में लिखा— का गर्व हो सकता है। यह कह भी सकता है—आचार्य क्या जानते हैं। आचार्यश्री के सान्निध्य में जाता हूँ तब मुझे बहुत शांति का अनुभव होता है। बहुत पाने की आशा से जाता हूँ।

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश में किसी ने आचार्यश्री से पूछा— 'आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?'

आचार्यश्री ने कहा— 'मेरे चोटी नहीं है अतः मैं हिन्दू नहीं हूँ। मैं [illegible] नहीं पढ़ता अतः मुसलमान भी नहीं हूँ, मैं तो केवल मानव हूँ।

भोजन का अधिकार

'मोड़ना' गाँव में आचार्यश्री के पास मृत्यु भोज के त्याग का प्रकरण [illegible] व्यक्तियों ने मृत्यु भोज करने तथा उसमें सम्मिलित होने का परित्याग किया। [illegible] वहाँ के सरपंच से भी त्याग करने के लिए कहा।

सरपंच ने कहा— 'मैंने अभी कुछ दिन पहले मृत्यु-भोज किया है। [illegible] कर मैंने सब लोगों को भोजन कराया है तो अब उनके यहाँ का मृत्यु-[illegible]

1—जैन भारती १९ दिसम्बर, '५४

कम-से-कम एक वार तो सवके घर भोजन करने का मुझे अधिकार है। हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब मृत्यु-भोज नही करूंगा।"

आचार्यश्री ने अपने तर्क को नया मोड देते हुए कहा—"परन्तु जव तुम मृत्यु-भोज नही करोगे, तो तुम्हें फिर क्यो कोई अपने यहाँ वुलायेगा ? सव सोचेंगे—यह हमे नही वुलायेगा, तव फिर हम ही इसे क्यो वुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि जव सव लोग इसका परित्याग करते है, तव एक-एक वार सवके घर भोजन करने का तुम्हारा अधिकार किस काम का रह जायेगा ?"

सरपच के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री के तर्को ने उसे अपने मन्तव्यो पर पुन विचार करने को प्रेरित किया। एक क्षण उसने सोचा और फिर गाँव वालो के साथ खडा होकर प्रतिज्ञा में सम्मिलित हो गया।

हमारा अनुभव भिन्न है

एक सन्यासी को आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन का परिचय दिया। उसने पूछा—"क्या लोग आपकी वातें मान लेते हैं ? हमने तो देखा है कि प्राय, लोग व्रत के नाम से ही भागते है।"

आचार्यश्री ने कहा—"हमारा अनुभव आपसे भिन्न है। व्रतो का उद्देश्य और उनकी भावना को ठीक ढग से समझाने पर अधिकाश लोग व्रतो के प्रति निष्ठाशील होते पाये गये हैं। भागते तो वे तब है, जब कि स्वय प्रेरक उन व्रतो को अपने जीवन में न उतार कर केवल उपदेश बघारने लगता है।"

अमरीकन का प्रश्न

दिल्ली में एक अमरीकन व्यक्ति कुछ जिज्ञासाएँ लेकर आचार्यश्री के पास आया। उसका प्रथम प्रश्न था—"शान्ति कैसे मिल सकती है ?"

आचार्यश्री ने मुस्कराकर कहा—"क्या अभी तक भी आप लोंगो के ध्यान में यह बात नहीं आई ?"

वह सकुचाता-सा बोला—"नहीं।"

आचार्यश्री ने उसके विचारों को झकझोरते हुए कहा—"जब एक धनकुबेर देश का विद्वान् व्यक्ति एक अकिंचन भिक्षु से यह प्रश्न पूछता है, तब इसका तो सीधा यही अर्थ हुआ कि धन या वस्तु की उपलब्धि से शाति प्राप्त नही होती। उसका मार्ग तो आवश्यकताओ का अल्पीकरण तथा इच्छाओं का सयमन है।"

वह व्यक्ति प्रसन्नता से मानो उछल पडा। इतने दिन तक जो वात बार-बार उसके मस्तिष्क को इधर-उधर भटका रही थी, उसे सहसा ही इतना सहज समाधान मिल जायेगा, यह कल्पना ही नहीं थी।

शंकर प्रिया

श्री बी० डी० नागर को आचार्यश्री ने अणुव्रतों की [illegible] उपासक हूं। शंकर को भांग बहुत प्रिय थी अतः मैं उन्हें [illegible] इष्टदेव को चढ़ाता हूं उसे प्रसाद के रूप में स्वयं भी स्वीकार उसमें बाधा आती है।

आचार्यश्री— 'आप तो एक बौद्धिक व्यक्ति हैं। भोला [illegible] की पूजा नहीं हो सकती?

श्रीनागर— 'हो तो सकती है किन्तु अन्य वस्तुएं [illegible] तो नहीं ले सकती।

आचार्यश्री— 'ईश्वर को भक्त अपना ही रूप देना चाहता है। प्रिय मानता है उसी पर भगवान् की प्रियता का आरोपण कर देता है।' [illegible] वाले भी शंकर के नाम की आड़ लेते हैं। इस क्रम से तो भगवान् में ही पहुंचती है। आप इस विषय पर गंभीरता से सोचियेगा।"

श्रीनागर— 'हां यह बात सोचने की अवश्य है। [illegible] कोई आपत्ति नहीं है। अन्य बातों पर जब तक पूर्ण [illegible] न कर लूं [illegible] संकल्प भी काम देगा।"

बड़ी भेंट चाहता हूं

मेवाड़ में आचार्यश्री आदिवासी क्षेत्रों की ओर गये। वहाँ एक बार कुछ [illegible] उनके पास आये। आचार्यश्री ने स्मितभाव से उन्हें पूछा— 'क्यों भाई! [illegible] आये हो या भेंट के लिये कुछ लाये भी हो?"

सब एक दूसरे का मुंह ताकने लगे। उनमें से एक व्यक्ति [illegible] आचार्यश्री की ओर बढ़ाते हुए बोला— 'यह लो बाबा! मेरे पास तो [illegible]'

आचार्यश्री— बस इतनी ही? इस छोटी भेंट से काम नहीं चलेगा। मैं [illegible] चाहता हूं।

वह और उसके साथी असमंजस में पड़ गये। आखिर आचार्यश्री ने अपने [illegible] स्पष्ट करते हुए पूछा— 'शराब पीते हो?

वह व्यक्ति— 'वह तो पीता हूं।

आचार्यश्री— कितनी पीते हो?

वह व्यक्ति— 'यह मत पूछिये। हम लोगों की सारी कमाई इसी में बह जाती है।

आचार्यश्री— 'खून-पसीना एक करके कमाते हो उसे यों दुर्व्यसन में फूंक देना [illegible] समझदारी है? यदि मैं तुम्हारे से शराब छोड़ देने की भेट मांग लूं तो दोगे या नहीं?"

वह व्यक्ति और उसके साथी कुछ देर तक विचार-मग्न हो गये। परस्पर फुस-फुसाहट मे कुछ विचार-विनिमय हुआ। आखिर वह एक निर्णय पर पहुँचा और बोला—"लो बाबा! जब तुमने भेंट माग ही ली है, तो लो यही देता हूँ। आज से मैं कभी शराव नही पीऊँगा।"

उसके अनेक साथियो से भी आचार्यश्री ने वही भेंट स्वीकार की।

किसान का बेटा हूँ

एक किसान आचार्यश्री के पास आया और दर्शन करके पास मे ही बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे पूछा—"कहाँ से आये हो ?"

उसने उत्तर देते हुए कहा—"पास के ही गाम का हूँ। मेरा लडका और स्त्री पहले आ गये थे। उन्होने ही मुझे कहा कि मैं भी एक बार दर्शन कर आऊँ। इसीलिए खेत से सीधा यहाँ आपके दर्शन करने आ गया।"

आचार्यश्री—"केवल दर्शन से क्या होगा ? कुछ सकल्प भी तो करना होगा। तमाखू पीते हो ?"

किसान—"वह तो बचपन से ही पीता हूँ।"

आचार्यश्री—"अपने हाथ दिखाओ तो।"

किसान ने अपने दोनों हाथ आचार्यश्री के सम्मुख किये, तो उन्होने कहा—"देखते हो, ये तमाखू के दाग तुम्हारे हाथों पर कितनी गहराई से बैठे हुए हैं। ये तुम्हारे फेफडों पर भी तो इसी प्रकार से बैठ गये होंगे ? दुर्व्यसन होने के कारण इसका दाग तुम्हारे जीवन पर भी तो बैठता है। ऐसी वस्तु को तुम छोड क्यों नही देते ?"

किसान कुछ क्षणों के लिए विचार-मग्न हो गया। उसने कुछ निर्णय किया और बोला—"आप कहते है तो छोड देता हूँ।"

आचार्यश्री—"मैं तो कहता ही हूँ, परन्तु उतने मात्र से कुछ नहीं होता। मूल बात तो किये हुए सकल्प को दृढता से निभाने की है।"

किसान—"मैं किसान का बेटा हूँ महाराज! प्राण भले ही चले जाए, परन्तु प्रण नहीं जाने पायेगा।"

उसके विचारो को प्रेरित कर इतनी दृढता की भूमिका पर लाने के पश्चात् आचार्यश्री ने उसको सकल्प करा दिया।

भेंट क्या चढाओगे ?

आचार्यश्री एक छोटे-से गाव में ठहरे। ग्रामीण उनको चारों ओर से घेर कर खडे हो गए। आचार्यश्री ने विनोद में उनसे कहा—"खडे तो हो, पर भेंट क्या चढाओगे ?"

बेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—"महाराज! भेंट के लिए तो हम कुछ नहीं लाये।"

आचार्यश्री— 'तो क्या तुम लोग नहीं जानते कि दर्शन [illegible]
आवश्यक होता है ?

किसान और भी अधिक सकुचा गये । उनमें से किसी एक ने [illegible]
हम तो सब गरीब हैं आपके योग्य भेंट ला भी क्या सकते हैं ?"

आचार्यश्री ने उन्हें और भी विस्मय में डालते हुए कहा—"तुम [illegible]
मुक्त सामग्री है तो सही परन्तु उसे चढ़ाने का साहस करना होगा !"

वे लोग विस्मित होकर एक-दूसरे की ओर ताकने लगे । आचार्यश्री [illegible]
ताकते हुए कहा— 'डरो मत मैं तुम्हारे से रुपया-पैसा मांगने वाला नहीं [illegible]
बुराइयों की भेंट चाहिए । तमाखू, मद्य-पान चोरी आदि की [illegible]
भेंट चढ़ा दो ।"

यह सुनकर सबमें प्रसन्नता की लहर दौड़ गई । उन लोगों ने तत्काल [illegible]
चरणों में काफी सारी भेंट चढ़ाई ।

गंगाजल से भी पवित्र

जफराबाद में एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से [illegible]
आग्रह करने लगा । आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे [illegible] ।

ब्राह्मण बोला— 'यह तो गंगाजल है । यह कभी कच्चा होता ही नहीं । [illegible]
अभी लेकर आया हूं ।

अन्ततः आचार्यश्री ने उसके बढ़ते हुए आग्रह को देखा तो अपनी बात का [illegible]
कहने लगे— 'पंडितजी ! श्रद्धा पानी से बड़ी होती है मैं आपकी श्रद्धा को [illegible]
हूं । यह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है ।

सबसे समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान-सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसादजी सोनकर की प्रार्थना पर आचार्य-
श्री ने दलितवर्ग-संघ के वार्षिक अधिवेशन में आना स्वीकार कर लिया । उनके कुछ विरोधियों
ने आचार्यश्री से कहा— सब दलितवर्गीय लोगों का इसमें सहयोग नहीं है । अतः आपका
वहाँ जाना उचित नहीं लगता ।

आचार्यश्री ने कहा— सबका सहयोग होना अच्छा है फिर भी वह न हो उसके
लिए मैं अपनी बात न कहूं यह उचित नहीं । सत्यान्वेषण या सत्यप्रापण में यदि सबके सह-
योग की शर्त रहे तो शायद सत्य के पनपने का कभी अवसर ही न आये । जो इस संगठन में
हैं वे मेरे विचार आज सुन लें और जो इस संगठन में नहीं हैं वे आज नहीं तो कुछ समय बाद
तथा अन्यत्र सही भी । मेरा इस या उस किसी भी संगठन से कोई संबन्ध नहीं है और जो
संबन्ध है वह सभी संगठनों से एक समान है ।

चरण-स्पर्श कर सकते है ?

रेल से उतर कर आये हुए कुछ व्यक्तियो ने आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हें रेल के धुए से मलिन हुए अपने वस्त्रो के कारण कुछ सकोच हुआ। सभवत यह विचार भी मन में उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क में आते समय तन और वसन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिए। दूसरे ही क्षण मन ने एक दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने में तन और वसन से कही अधिक श्रद्धा माध्यम वनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आखिर उन्होने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास आये और वोले—"क्या हम इस अस्नात स्थिति में आपका चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?"

आचार्यश्री ने कहा—"क्यो नही ? वस्त्रो की मलिनता उपेक्षणीय न होते हुए भी गौण वस्तु है। मन की मलिनता नही होनी चाहिए।"

(१०) विनोद

कभी-कभी अवसर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा मे वोलते सुने जाते है। उनका विनोद केवल परिहास के रूप में नही होता, अपितु अपने में एक गहरा अर्थ लिये हुए होता है। उनके विनोदों का व्यग्यार्थ वाण की तरह वस्तु-स्थिति के हार्द को विद्ध करने वाला होता है।

एक घडी

लाडणू में युवक-सम्मेलन की समाप्ति पर एक स्वय सेवक ने सूचना देते हुए कहा—"एक घडी मिली है, जिस सज्जन की हो, वह चिन्ह बताकर कार्यालय से उसे ले ले।"

वह बैठ भी नही पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—"मैंने भी आप लोगों में एक घडी (समय-विशेष) खोई है। देखें, कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं।"

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर सगीत की-सी झकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। यात्री निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियो का छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धूँआ सयोगवशात् वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियो ने वहुत से भाई-वहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली वहिने साफ बच गई।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—"चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उसकी एक उपयोगिता तो अब निर्विवाद बता सकेंगे।"

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील पर मील कटते जा रहे थे। मील का

आचार्यश्री ने अपने वस्त्रों की ओर इ गित करते हुए स्मयमान मुद्रा में कहा—"वतलाओ तो। हम तुम्हारी इस भेंट को कहाँ रखेंगे। हमारे पास तो ऐसा कोई वस्त्र ही नही है, जिसमें जेव हो।"

आचार्यश्री के उस अभाव पर पार्श्वस्थ व्यक्ति खिलखिला पडे।

अन्धेरे से प्रकाश में

रात्रि के समय खुली छत पर दुग्ध-धवल चद्रिका में अणुव्रत-गोष्ठी का कार्यक्रम प्रारभ होने वाला था। वहाँ पास में एक पाल वधा हुआ था। लगभग आधी छत पर उसकी छाया पड रही थी। कुछ अणुव्रती चन्द्र के प्रकाश में वैठे थे, तो कुछ उस छाया में। प्रकाश वाला कुछ भाग यों ही खाली पडा था। कुछ व्यक्तियो ने पीछे छाया में वैठे भाइयो से आगे आजाने का अनुरोध किया, पर वहाँ से कोई उठा नहीं।

आचार्यश्री ने उस स्थिति को अपने विनोद का विषय वनाते हुए कहा—"प्रकाश में आने के पश्चात् हर वात में जितनी सावधानी वरतनी पडती है, अन्धेरे में उतनी नहीं। सम्भवत यही सुविधा अन्धेरे के प्रति आकर्षण का कारण हो सकती है, अन्यथा प्रकाश को छोडकर अन्धेरे को कौन पसन्द करेगा ?" वातावरण में चारो ओर स्मित-भाव छलक उठा। पीछे वैठे हुए भाई किसी के अनुरोध के विना स्वय ही उठ-उठ कर आगे आ गए।

जो आज्ञा

प्रवचन चल रहा था। एक छोटा वालक घूमता-फिरता उधर आया और आचार्यश्री के पैरो की तरफ हाथ बढ़ाते हुए वोला—"पैर दो !" आचार्यश्री अपने प्रवाह में वोल रहे थे। जनता विमुग्ध भाव से सुन रही थी। वालक को इसकी कोई परवाह नहीं थी। आचार्यश्री का प्रवाह रुका। लोगों की दृष्टि वालक की ओर गई। आचार्यश्री ने अपने पैर को उसकी ओर आगे बढ़ाते हुए हँसकर कहा—"जो आज्ञा।" वालक अपनी मस्ती से चरण-स्पर्श कर चलता वना।

अच्छाई-बुराई की समझ

अलीगढ़ के एक वृद्ध एडवोकेट निधीशजी आचार्यश्री के सपर्क में आये। वातचीत के प्रसग में उन्होंने कहा—"मैं यदि बुराई भी करता हूँ, तो उसे अच्छी समझकर ही करता हूँ।"

आचार्यश्री ने कहा—"जब अच्छाई करते हैं तो शायद बुरी समझकर करते होंगे ?"

(११) प्रामाणिकता

आचार्यश्री अपने कार्य में परिपूर्ण प्रामाणिकता का ध्यान रखते हैं। अपनी तथा अपने साधुओं की कार्य-वृत्ति से किसी को दुविधा न हो, तथा किसी की वस्तु का दुरुपयोग न हो, इसमें भी वे पूर्णत· जागरूक रहते हैं।

किसी पूर्वाग्रह तथा न्यूनता लगने के भय से भी वे अपनी प्रामाणिकता को आच आने देना नहीं चाहते।

वाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जब २१ अक्टूबर ४९ में आचार्यश्री से मिले थे, तब उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने एक पत्र मे उसका उल्लेख करते हुए लिखा है

"उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश में ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते है। जो विद्याध्ययन कर सकते है, वे तो ग्रन्थों का सहारा ले सकते है, पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप गूढ तत्त्वो का प्रचार करते हैं, उन्हे सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"[1]

उनकी आत्मा बोल रही है

आचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातो पर ही प्रभावशाली ढग से बोलते हों, सो बात नही। वे जिस विषय पर भी बोलते हैं, उसी में इतनी सजीवता ला देते हैं कि उन विषयों से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देखे जाते है।

स० २००८ दिल्ली में भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमें सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय में जो भाषण दिया, उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होंने एक पत्र भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है

"महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम। इधर तीन दिनों से आपके दर्शन और सत्सग का जो अवसर मिला, वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बडा खेद है कि आज कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर भी मैं वहाँ कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगो को अधिक देना चाहिए, जिससे हमें अपने जीवन को मांजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी का चरित्र और आपका आज का तद्विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप में बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युग-पुरुष' हैं। जैन धर्म को मैं मानव धर्म मानता हूँ। उसके आप प्रतीक बनेंगे, ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊँगा तब अवश्य मिलूंगा। आप अपने इस जीवन-कार्य में मुझे अपना सहयोगी समझ सकते हैं। इति

विनीत

हरिभाऊ उपाध्याय[2]

१—विशेष विवरण

२—वही

सघ की दो बातो ने विशेष आकृष्ट किया है। एक सदस्यता की कोई फीस नहीं है, दूसरे पदो का झगडा नही है।"

आचार्यश्री ने उसकी आशा के विपरीत कहा—"तुमने सम्भवत गहराई से ध्यान नहीं दिया। यहाँ तो फीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है।"

वह भाई कुछ असमजस में पडा और पूछने लगा—"कहाँ ? मेरे देखने में तो कोई ऐसी बात नहीं आई।"

आचार्यश्री—"अब तक नही आई होगी, पर लो अब लाये देता हूँ कि हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति से सयम की फीस लेना चाहते हैं और अणुव्रती का पद देना चाहते है। क्यों है न स्वीकार ?"

तब उस भाई को न फीस की शिकायत हुई, न पद की। उसने सहर्ष फीस भी दी और पद भी लिया।

चरणामृत मिले तो

एक व्यक्ति अपने भानजे को लेकर आया। वह अपने साथ गर्म जल का पात्र तथा चादी की कटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को वदन कर वह बोला—"महाराज ! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अगुष्ठ धोकर इसे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है, परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नहीं। मैंने सोचा—इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दूँ, तो यह अवश्य पूर्ण स्वस्थ हो जाएगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"मैं अपना अगुष्ठ नही धुलवाऊँगा। अगुष्ठ धोये पानी से रोग में कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नहीं। मैं इसे एक अन्ध-विश्वास मानता हूँ। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं, उसमें मुझे कोई आपत्ति नही। उससे अधिक कुछ नहीं।"

उस भाई ने अपने भानजे को आचार्यश्री का चरणस्पर्श करवाया और बडी प्रसन्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा में आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बधी हुई कपडो की गठरी मार्ग में गिर गई। उसमें लगभग पाँच-सौ रुपये का कपडा था। पीछे से एक तागे वाले ने उसे गिरता देखा तो मोटर के नम्बर ले लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वह वहाँ पहुँचा, जहाँ कि आचार्यश्री की सेवा में आये हुए अनेक परिवार ठहरे हुए थे। उसने वहाँ लोगों को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के पश्चात् पता चलते ही गठरी यथास्थान पहुचा दी गई।

: १० :

भविष्य के वातायन से

इयत्ता से सघर्ष

आचार्यश्री विश्व की एक विभूति हैं। उनका जीवन व्यक्तिगत से बढकर समष्टिगत है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। उनके वर्तमान के भवन में खडे होकर जब भविष्य के वातायन से झाकने का प्रयास किया जाता है तब लगता है कि वह वर्तमान से भी महान् होगा।

जो केवल अपने में ही समाकर रह जाता है, वह विद्वान् तो हो सकता है, पर महान् नहीं। महत्ता को इयत्ता के किसी भी वलय से घेरा नही जा सकता। उन्मुक्त परिव्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि महत्ता के मार्ग में इयत्ताएँ आती हैं, परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है—यह परिमाण इयत्ताओ की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। ससार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है। इसीलिए हर इयत्ता के साथ उनका सदैव सघर्ष चालू रहा है।

टूटते हुए वलय

आचार्यश्री ने इयत्ताओं के अनेक वलय तोडे हैं। वर्त्तमान इयत्ता से भी उनका सघर्ष चालू है। आज नहीं तो कल, यह वलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ में न जाने कितने वलय और हैं तथा उनके साथ होने वाला भावी सघर्ष समय की कितनी अवधि घेरेगा, कहा नहीं जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नहीं है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलायेगा।

एक अकन

वर्तमान की जड भूतकाल की भूमि में गहराई तक धसी रहती है और उसकी फुनगिया भविष्य को चूमती हुई आगे बढती रहती हैं। कोरा वर्त्तमान टिक नहीं पाता, इसीलिए उससे सबंधित भूतकाल की भूमिका और भविष्य काल के नील गगन के बीच में ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान-काल अवस्था की दृष्टि से सैंतालीस और आचार्यत्व की दृष्टि से पच्चीस वर्ष-प्रमाण भूत-काल को अवगाहित किये अनन्त भविष्य की छाया में खड़ा है।[1] उसी परिप्रेक्ष्य में उसका अकन किया गया है।

१—यह उल्लेख सं० २०१८ का है।

की भूमिका में आचार्यश्री को सस्कृति का उन्नयन कर्त्ता या परिष्कर्त्ता ही नही, अपितु अभेदोपचार से स्वय सस्कृति ही कहा है। वे लिखते है—"तब सस्कृति क्या है ? मेरी मति के अनुसार सस्कृति गाधी है, सस्कृति विनोबा है, सस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, समर्थ तुकाराम है, सस्कृति अणुव्रत-प्रचारक जैन-मुनि आचार्य तुलसी है। सस्कृति रमण महर्षि है। आप हसेंगे, पर हसने की बात नही है। सस्कृति है आत्म-विजय, सस्कृति है राग-वशीकरण, सस्कृति है भाव-उदात्तीकरण, जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये, वही सत्साहित्य है।"[1]

बढते चरण

इस प्रकार आचार्यश्री के स्याद्वादी जीवन ने विविध व्यक्तियों तथा विविध विचार-धाराओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। वे उनकी पारस्परिक असमानताओ मे भी समानता के आधार बने हैं। उन्होंने जन-जन को विश्वास दिया है, अत वे उनसे विश्वास पाने के भी अधिकारी बने है। वस्तुत जो जितने व्यक्तियो को विश्वास दे सकता है, वह उतने ही व्यक्तियो का विश्वास पा भी लेता है। उन्होंने निश्चित ही वह विश्वास पाया है। उज्ज्वल भविष्य की ओर अनवरत बढते हुए उनके चरण उस जन-विश्वास के और अधिक अधिकारी होंगे, यह नि सशय कहा जा सकता है।

१—'क्वासि' की भूमिका पृष्ठ २४

: ११ :

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-संवत् — १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया

(२) दीक्षा-संवत् — १९८२ पौष कृष्णा पंचमी

(३) युवाचार्यपद-संवत् — १९९३ प्रथम भाद्रव शुक्ला तृतीया

(४) आचार्यपद संवत् — १९९३ प्रथम भाद्रव शुक्ला नवमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान — लाडनूं

(२) दीक्षा-स्थान — लाडनूं

(३) युवाचार्यपद-स्थान — गंगापुर

(४) आचार्यपद-स्थान — गंगापुर

आयुष्य विवरण

(१) गृहस्थ — ११ वर्ष १॥ मास

(२) साधारण साधु — १ वर्ष ८॥ मास

(३) युवाचार्य — ४ दिन

(४) आचार्य — सं २ १७ तेरापन्थ द्विशताब्दी तक अपना आचार्यकाल चौबीस वर्ष व्यतीत हुआ है। आगे वे शतायु होकर संघ का मार्ग-दर्शन करते रहें।

जन्म कुण्डली

जन्म-चक्र

चलित चक्र

नवांश

विहार-क्षेत्र

आचार्यश्री तुलसी का विहार-क्षेत्र तेरापन्थ के समस्त पूर्वाचार्यों से अधिक विस्तीर्ण रहा है। भारत के अनेक प्रान्तो में उनका पद-विहार हो चुका है तथा अवशिष्ट प्रान्त उनकी प्रतीक्षा कर रहे है। स० २०१७ तेरापन्थ द्विशताब्दी तक वे राजस्थान में अनेक बार भ्रमण कर चुके हैं। उसका हर डिवीजन आज उनके लिए घर का कमरा-सा बना हुआ है। उसके अतिरिक्त पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तो में भी काफी भ्रमण कर चुके हैं। सुदूर दक्षिण प्रान्तों में जाने की उनकी कल्पना साकार बनने को आतुर है। इतने नये प्रान्तो को अपना विहार-क्षेत्र बनाने का अवसर पिछले किसी भी आचार्य को प्राप्त नहीं हुआ।

चातुर्मास

आचार्यश्री तुलसी ने साधारण साधु-अवस्था में ग्यारह चातुर्मास किये। वे सब अष्टमाचार्य श्री कालूगणी की सेवा में रहते हुए ही किये थे। आचार्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् स० २०१७ तक के उनके चौबीस चातुर्मासो का विवरण निम्नोक्त प्रकार से है

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
बीकानेर	१	१९९४
सरदारशहर	३	१९९५,२००९,१३
बीदासर	१	१९९६
लाडणूं	१	१९९७

स्थान	महोत्सव सख्या	संवत्
जयपुर	१	२००६
भिवानी	१	२००७
राणावास	१	२०१०
बम्बई	१	२०११
भीलवाडा	१	२०१२
सैंथिया	१	२०१५
हाँसी	१	२०१६
आमेट	१	२०१७
भीनासर	१	२०१८
राजनगर	१	२०१९

शिष्य-सपदा

आचार्यश्री तुलसी के वर्तमान शासनकाल में स० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा तक चार सौ-बयासी दिक्षाएँ हुई। उनमें एक-सौ-छप्पन साधु और तीन-सौ छब्बीस साध्वियाँ थी। उस समय एक-सौ-छियासठ साधु और चार-सौ-नवासी साध्वियाँ सघ में विद्यमान थी।

परिशिष्ट १

द्विशताब्दी-समारोह

पूर्व भूमिका

तेरापन्थ एक जागरूक धर्म-सघ है। उसके आचार्य तथा उसके सदस्य अपने करणीय के प्रति सावधानी वरतने वाले होते है। सघ को प्रगति प्रदान करने वाले अवसरों का निर्माण करना और फिर तदनुरूप उन अवसरो का उपयोग करना तेरापन्थ को बहुत अच्छी तरह से आता है। तेरापन्थ के जन्म को जब दो सौ वर्ष सम्पन्न होने वाले थे, तब उस अवसर के उपयोगार्थ जन-मानस में विविध कल्पनाएँ हिलोरें लेने लगी थी। आचार्यश्री ने उसका उपयोग आध्यात्मिक भूमिका पर करने का निश्चय किया, तो तेरापन्थी महासभा ने सामाजिक भूमिका पर। अपनी-अपनी सीमाओं में दोनो ही महत्वपूर्ण कार्य थे। प्रथम कार्य को धर्म-सघ की आत्मा कहा जा सकता है, तो द्वितीय को उसका शरीर। एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल होते हुए भी वे परस्पर सापेक्ष और एक दूसरे के पूरक थे।

आचार्यश्री ने ज्ञानवर्धन, साहित्य-सर्जन, व्यवस्थाओ के पुनर्निरीक्षण और उत्साह के नवीनीकरण आदि रूपों में अपनी योजना को आगे बढाया, तो महासभा ने साहित्य प्रकाशन, समाज के हर व्यक्ति से सम्पर्क स्थापन, भिक्षुस्मृति ग्रन्थ के निर्माण व प्रकाशन और द्विशताब्दी समारोह के आयोजन आदि रूपो में। इसी पूर्व-भूमिका के आधार पर तेरापन्थ-द्विशताब्दी के समग्र कार्यों की आधारशिला रखी गई थी।

वातावरण का निर्माण

आचार्यश्री औरगाबाद (महाराष्ट्र) में थे। वहाँ ५ अप्रैल १९५९ के दिन महावीर-जयन्ती के पुनीत अवसर पर वे जन-सभा को सम्बोधित कर रहे थे। अपने उस वक्तव्य में उन्होंने ये विचार व्यक्त किए कि स० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा (आठ जुलाई १९६०) को तेरापन्थ के उद्भव को दो सौ वर्ष पूरे हो जाएंगे। उस अवसर पर क्रातद्रष्टा आचार्यश्री भीखणजी के चरणो में आध्यात्मिक श्रद्धाजलि अर्पित करने की तैयारी करनी चाहिए। आचार्यश्री की उसी सात्विक प्रेरणा ने जन-साधारण में एक नव-चेतना का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

कार्य-सकल्प

आचार्यश्री ने उक्त अवसर के उपलक्ष्य में स्वामी भीखणजी के समग्र साहित्य को सुव्यवस्थित रूप से सकलित करने तथा जैनागमों के पाठशोधन और उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का सकल्प किया।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा (कलकत्ता) जो समस्त तेरापन्थी समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली अखिल भारतीय संस्था है—ने द्विशताब्दी-समारोह को व्यापक व विराट रूप में समायोजित करने का निर्णय लिया। महासभा के अध्यक्ष श्री नेमीचन्दजी गधैया और मन्त्री श्री मोहनलालजी बांठिया आदि अन्य सभी पदाधिकारी तथा सदस्यगण उत्साह सहित उस कार्य को आगे बढ़ाने में लग गये।

व्यवस्था-उपसमिति

दिनांक २१ अगस्त १९५९ को महासभा द्वारा श्री तेरापन्थ-द्विशताब्दी-समारोह व्यवस्था उपसमिति' का गठन किया गया। उसके अध्यक्ष नेमीचन्दजी गधैया और संयोजक प्रभुदयालजी डाबड़ीवाला बनाये गये। विभागीय कार्यों का सुचारु रूप से परिचालन करने के लिए निम्नोक्त व्यक्तियों को उत्तर-दायित्व सौंपा गया।

(१) साहित्य विभाग— श्रीचन्दजी रामपुरिया बी० ए० बी० एल (सुजानगढ़)

(२) अर्थव्यवस्था— (१) गोपीचन्दजी चोपड़ा, बी० ए० बी० एल (गंगाशहर)
(२) माणकचन्दजी सेठिया (सुजानगढ़)

(३) प्रचार विभाग— संतोषचन्दजी बरड़िया बी० ए० ऑनर्स (गोहाटी)

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क— (१) शुभकरणजी सेठिया बार एट लॉ (सुजानगढ़)
(२) श्रीचन्दजी भुतोड़िया बी० ए० बी० एल (सुजानगढ़)
(३) श्रीचन्दजी सेठिया बी० ए० (बीदासर)

(५) आन्तरिक संपर्क और संगठन—(१) नेमीचन्दजी गधैया (सरदारशहर)
(२) जयचन्दलालजी कोठारी (लाडनूं)

(६) समारोह-व्यवस्था— बच्छराजजी संचेती बी० ए० एल एल बी एडवोकेट (जोधपुर)

(७) साहित्य विक्रय— भँवरलालजी दुगड़िया बी० ए० (श्रीडूंगरगढ़)

(८) साहित्य वितरण— (१) मोहनलालजी बांठिया बी० कॉम (चूरू)
(२) कन्हैयालालजी दूगड़ (राजगढ़)

स्थान निर्धारण

द्विशताब्दी के विषय में प्रत्येक तेरापन्थी के मन में एक उत्साह था। विभिन्न भूमिकाओं के आधार पर विभिन्न चिन्तन चले। स्थान के विषय में कुछ व्यक्तियों का विचार था कि जिस व्यापक तथा विराट पैमाने पर द्विशताब्दी मनाने का विचार किया जा रहा है उसके लिए तो दिल्ली जैसा समग्र भारत का केन्द्र स्थान ही उपयुक्त हो सकता है। कुछ व्यक्तियों का विचार इससे भिन्न था। उनकी दृष्टि में ऐसे समारोह के लिए तेरापन्थ का ही कोई केन्द्र स्थान उपयुक्त हो सकता था। थली मारवाड़ और मेवाड़ के लोग अपने-अपने तर्क प्रस्तुत

करते हुए आचार्यश्री के सम्मुख अपनी प्रार्थनाए रखने लगे। सभी की प्रार्थनाओ में अपनी अपनी वास्तविकताए थी। थली तेरापन्थ की जन-शक्ति का केन्द्र-स्थल है, मारवाड स्वामी भीखणजी का जन्मस्थल और निर्वाण-स्थल है तथा मेवाड को तेरापन्थ की जन्मभूमि वनने का गौरव प्राप्त है।

मेवाड की जनता इस विषय मे अत्यन्त भावना-प्रवण थी। उसका तर्क था कि जब तेरापन्थ के उद्भव के आधार पर ही द्विशताब्दी मनाई जा रही है, तो वह उसके उद्भवस्थल पर ही मनाई जानी चाहिए। मेवाड-वासियो का यह तर्क वहुत बलवान् था। उन लोगों ने 'मेवाड जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी कान्फ्रेंस' की विशेप बैठक बुलाई और उसमें आवश्यक सभी बातों पर विस्तार से विचार-विमर्श किया। तदनन्तर उन सबने बडी प्रबलता के साथ अपनी सामूहिक प्रार्थना आचार्यश्री के सम्मुख रखनी प्रारम्भ की।

कानपुर चातुर्मास सपन्न करने के पश्चात् आचार्यप्रवर उत्तर प्रदेश तथा बिहार की ऐतिहासिक पद-यात्रा सम्पन्न करते हुए बगाल पधारे। वि० सं० २०१५ का मर्यादामहोत्सव सैंथिया में किया। वहाँ विभिन्न स्थानो से आये हुए प्राथियो ने द्विशताब्दी-समारोह के लिए अपने-अपने नगरो की ओर से प्रार्थना की। सबकी प्रार्थनाए सुन लेने के पश्चात् आचार्यश्री ने मेवाड-वासियों की प्रार्थना स्वीकार करते हुए यह घोपणा की कि द्विशताब्दी-समारोह का मुख्य आयोजन आषाढी पूर्णिमा के दिन मेवाड में किया जायगा। मेवाड-वासी इस घोषणा से आनन्द-विभोर हो गये।

अधिकार के साथ उत्तरदायित्व बढता ही है। मेवाड-वासियों पर उपर्युक्त घोषणा के कारण अनेक उत्तरदायित्व आ गये। समारोह की आध्यात्मिक सीमाओ के विषय में तो वे पूर्णत निश्चित थे, क्योंकि उनकी चिन्ता करने का अधिकार स्वय आचार्यश्री को ही था, परन्तु उसके अतिरिक्त बाह्य व्यवस्था सम्बन्धी जितने भी कार्य थे, उन सबके लिए उन्हें अपनी तैयारी करनी थी। तैयारी करने में सबसे बडी बाधा यह थी कि आचार्यश्री जबतक मेवाड में किसी एक स्थान-विशेष की घोपणा नहीं करते, तबतक वे कोई भी तैयारी करें तो कहाँ के लिए करें ? आवश्यकताओं का अनुमान भी लगाएँ तो कैसे लगाएँ ?

आचार्यश्री उनकी उस आवश्यकता से परिचित थे, परन्तु वे चाहते थे कि स्वय मेवाड निवासी ही अपनी सम्मति दें कि वे कौन से स्थान को सर्वाधिक उपयोगी समझते है। एतदर्थ चिन्तन तथा निरीक्षण हुआ। उसमें स्थानीय व्यक्तियों के साथ महासभा का भी योगदान रहा। निष्कर्ष स्वरूप केलवा, राजसमद, आमेट तथा उदयपुर—इन चार स्थानो की पृथक्-पृथक् सुविधाएँ तथा असुविधाए आचार्यश्री के सम्मुख रखी गई और प्रार्थना की गई कि अब आप जहाँ भी उचित समझें, वहाँ के लिए चातुर्मासिक प्रवास की घोपणा करने की कृपा करें। आचार्यश्री ने सब बातो को ध्यान में रखते हुए स० २०१६ के मर्यादा-महोत्सव पर

हांसी में यह घोषणा की कि आषाढ़-पूर्णिमा का मुख्य आयोजन केलवा में मनाया जाएगा एवं चातुर्मास राजसमन्द क्षेत्र में किया जायगा।

स्वागत-समिति

स्थान निर्धारण होने के साथ ही कार्य ने गति पकड़ ली। मेवाड़-वासियों ने महासभा के साथ पहले से ही यह तय कर लिया था कि समारोह का भार तेरापन्थी महासभा भले ही वहन करे, परन्तु स्थानीय व्यवस्था का सारा भार मेवाड़ ही वहन करेगा। तदनुसार आगंतुक जनता की व्यवस्था और स्वागत उन्हीं लोगों को करना था। उन्होंने इसके लिए ११ सदस्यों की एक स्वागत-समिति का गठन किया। उसमें स्वागताध्यक्ष हीरालालजी कोठारी को और स्वागत मन्त्री देवेन्द्रकुमारजी कर्णावट को बनाया गया। अन्य कार्यों के लिए भी पृथक्-पृथक् विभागीय मन्त्रियों का निर्वाचन कर कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

अभिनिष्क्रमण-समारोह

द्विशताब्दी के अवसर पर मेवाड़ पहुँच जाने के लिए जब आचार्यश्री कलकत्ता से विहार कर बली में पहुँच गये तब वहाँ बगड़ी (सज्जनपुर) के कुछ बन्धु आचार्यश्री के दर्शनार्थ आये। वे चाहते थे कि द्विशताब्दी मनाने के लिए मेवाड़ पदार्पण से पूर्व बगड़ी में अभिनिष्क्रमण-समारोह मनाया जाए। तेरापन्थ की स्थापना का मूल स्वामीजी के अभिनिष्क्रमण में समाया हुआ है। बगड़ी आचार्य भिक्षु का अभिनिष्क्रमण-स्थल है। वहीं से उन्होंने अन्त में श्रेयस् का पुनीत लक्ष्य लेकर असीम आत्मबल के साथ नव-जागरण का शंख फूँका था। दो सौ वर्ष पूर्व जिस चैत्र शुक्ला नवमी को उन्होंने संप्रदाय विशेष का परित्याग कर अभिनिष्क्रमण किया था वह नवमी का पुनीत दिन निकट ही था। बगड़ीनिवासियों की प्रार्थना थी कि उस ऐतिहासिक दिवस पर आचार्यश्री के सान्निध्य में अभिनिष्क्रमण-वेला की स्मृति की जाए। यद्यपि समय बहुत कम रह गया था फिर भी उन लोगों की भक्ति-संभृत प्रार्थना को आचार्यश्री ने स्वीकार कर लिया।

आचार्यश्री विहार करते हुए बगड़ी पधारे। वि० सं० २०१७ चैत्र शुक्ला नवमी (५ अप्रैल १९६०) को वहाँ अभिनिष्क्रमण-समारोह मनाया गया। वहाँ आचार्य भिक्षु ने अभिनिष्क्रमण के पश्चात् स्थानाभाव के कारण अपना प्रथम निवास किया था उसी जैतसिंहजी की छत्री के सामने की भूमि पर सहस्रों व्यक्ति उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्रित हुए। यह वही गाँव था जहाँ अपने स्वामियों के कथन पर सेवक ने यह ढिंढोरा पीटा था 'भीखणजी को स्थान देगा उसे भीखंब की आण है' आज उसी गाँव में उनके यशोत्कीर्तन के लिए राजस्थान के मुख्यमन्त्री मोहनलालजी सुखाड़िया वित्तमन्त्री हरिभाऊजी उपाध्याय विधान सभा के अध्यक्ष आचार्य निरंजननाथजी आदि लोकनेता उपस्थित हुए थे। उपर्युक्त समारोह को द्विशताब्दी-समारोह का उपोद्घात कहा जा सकता है।

उस समारोह की स्मृति में छत्री के सम्मुख एक स्मृतिस्तम्भ का निर्माण कराया गया। वही पास में एक शिला-पट्ट भी लगवाया गया, जिस पर आचार्य भिक्षु का जीवन-वृत्त उत्कीर्ण था। उस अवसर पर वहाँ एक कला-प्रदर्शनी भी लगाई गई। उसमे स्वामीजी के तत्त्व-दर्शन के आधार पर बनाये गये चित्र-पटो का प्रदर्शन किया गया था। उस समग्र तैयारी में स्वागताध्यक्ष श्री कुन्दनमलजी सेठिया (बगडी निवासी) तथा मोतीलालजी राका आदि उत्साही व्यक्तियो का श्रम बोल रहा था।

उक्त अवसर पर बगडी में भारत-कलानिकेतन ब्यावर के कलाकारो द्वारा रात्रिकाल मे 'अणुव्रत अभियान' नामक एक नाटक का भी प्रदर्शन किया गया। वह नाटक राजस्थान विधानसभा के तत्कालीन उपाध्यक्ष श्री निरजननाथजी आचार्य द्वारा लिखा गया था।

चबूतरे का उद्धार

अभिनिष्क्रमण-समारोह के अनन्तर आचार्यश्री सिरियारी पधारे। वहाँ २१ अप्रैल को 'आचार्य भिक्षु-स्मृति दिवस' मनाया गया। सिरियारी स्वामीजी का निर्वाण-स्थान है। वि० स० १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को वहाँ उन्होने आमरण अनशनपूर्वक देह-त्याग किया था। जहाँ स्वामीजी के शरीर का दाह-सस्कार किया गया था, वहाँ पर स्मृति-स्वरूप एक चबूतरा बनाया हुआ था, परन्तु डेढ सौ वर्षों के लम्बे काल में सिरियारी में अनेक परिवर्तन आ चुके थे, वहाँ के अनेक घर व्यापारार्थ दक्षिण में जा बसे थे, फलस्वरूप स्वामीजी के दाह-सस्कार के स्थान पर बना हुआ चबूतरा विस्मृति के गर्भ में चला गया। द्विशताब्दी के अवसर पर कुछ उत्साही युवको का ध्यान उस ओर गया। उनमे सपतकुमार गधैया, (सरदार-शहर), मन्नालाल बरडिया (सरदारशहर), रामचन्द्र सोनी (सोजतरोड) आदि प्रमुख थे। उन्होने उस चबूतरे को खोज निकालने मे बडा परिश्रम किया और अन्त में सफल हुए। स्वामीजी के उस स्मृति-चिह्न का उद्धार करने हेतु सिरियारी के कुवर साहब श्री गुलाबसिंहजी तथा सुप्रसिद्ध स्थानीय श्रावक श्री बस्तीमलजी छाजेड आदि ने विशेष उत्साह से भाग लिया।

प्राचीन चबूतरे के स्थान पर एक नया सगमरमर का चबूतरा बनवाया गया। उसके चारो ओर स्वामीजी के बहुमुखी व्यक्तित्व की झाँकी देने वाले विभिन्न १३ शिलालेख उत्कीर्ण कर लगवाये गये—इनमें एक शिक्षा-लेख चबूतरे के ऊपर लगवाया गया, उस पर लिखा है 'हे प्रभो यह तेरा पन्थ।' शेष १२ शिलालेख चबूतरे की चारो दीवारों पर तीन-तीन करके लगाये गये हैं। उनमें स्वामीजी के दया, दान और धर्म सम्बन्धी पद्य, उनकी कृतियो के नाम, उनके चातुर्मास, उनका अन्तिम सन्देश आदि उत्कीर्ण है। एक शिलालेख में स्वामीजी की जन्मकुण्डली तथा उनके शरीर के चिन्ह आदि बतलाये गये है। एक में राज-स्थान का मानचित्र देकर उनके पदार्पण के स्थानों को अकित किया गया है। चबूतरे के चारो ओर की जमीन प्राप्त कर चहारदीवारी द्वारा उसकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया गया है।

कंटालिया में

कंटालिया स्वामी भीखणजी की जन्मभूमि रहा है अतः उनकी स्मृति के संदर्भ में उसका अपना महत्त्व है। २२ अप्रेल को वहाँ भी 'भिक्षु स्मृति दिवस' मनाया गया। स्वामीजी का जन्म जिस मकान में हुआ था वहाँ एक शिलालेख लगवाया गया। इस प्रकार द्विशताब्दी समारोह से पूर्व मारवाड़ में अनेकों ऐतिहासिक स्थानों में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ।

बोधिनगर

द्विशताब्दी-समारोह के अवसर पर बहुत बड़ी संख्या में जनता के आगमन की सम्भावना थी अतः मेवाड़निवासियों ने समग्र मेवाड़ की ओर से ही उसकी व्यवस्था करने का निश्चय किया। इतना ही नहीं अपितु केलवा में मनाये जाने वाले आषाढ़ पूर्णिमा के मुख्य समारोह और राजसमंद-चातुर्मास की सारी व्यवस्था सामूहिक ही रखी गई। वह चातुर्मास राजनगर का न होकर राजसमंद का था। दूसरे शब्दों में वह सारे मेवाड़ का था। वहाँ की व्यवस्था में सारा मेवाड़ सम्मिलित रूप से लगा था।

जनागमन को देखते हुए राजनगर में मकानों की उपलब्धि दुष्कर ही नहीं असम्भव थी अतः अस्थायी रूप से एक नगर निर्माण की बात सोची गई। राजनगर में स्वामी भीखणजी को बोधि प्राप्त हुई थी। अतः उनकी स्मृति में नव निर्मित नगर का नाम बोधिनगर रखने का निर्णय किया गया। नगर निर्माण के लिए राजस्थान-सरकार ने टीन देने स्वीकार किये थे। वे यथासमय वहाँ पहुँच गये और उनसे एक सुव्यवस्थित नगर की रचना की गई। उसमें सफाई बिजली और सुरक्षा आदि की भी समुचित व्यवस्था थी। ११ जून को राजस्थान के मुख्य मन्त्री श्रीमोहनलाल सुखाड़िया द्वारा उसका उद्घाटन किया गया। आषाढ़ पूर्णिमा तथा चातुर्मासिक काल में सेवा निमित्त आने वाले सहस्रों यात्रियों ने उस नगर का लाभ उठाया।

केलवा में

द्विशताब्दी-समारोह को दो चरणों में मनाये जाने का निश्चय किया गया था। प्रथम चरण आषाढ़ पूर्णिमा के दिन केलवा में और द्वितीय चरण चातुर्मासिक काल में राजसमंद में। मुख्य समारोह प्रथम चरण का ही था अतः जनता का आगमन उसी अवसर पर अधिक होने वाला था। चातुर्मास प्रवास के लिए राजसमंद (राजनगर) में पधार जाने के पश्चात् आचार्यदेव द्विशताब्दी-समारोह के प्रथम चरण के अवसर पर कुछ दिनों के लिए अस्थायी रूप से केलवा पधारे। ज्यों ज्यों आषाढ़ पूर्णिमा निकट आती गई त्यों-त्यों जनता की भीड़ बढ़ती गई। कस्बा उन दिनों जन-समुद्र-सा बना हुआ था। मकान चबूतरे गलियाँ और बाजार सब कुछ जनाकीर्ण हो रहा था।

द्विशताब्दी का प्रथम चरण

आषाढ़ पूर्णिमा का दिन आया। समारोह की तैयारियाँ पूर्व हो चुकी थीं। कस्बा से बाहर थोड़ी दूर पर पहाड़ी टीलों के निकट देवनन्दी नामक स्थान पर विशाल पंडाल बनाया गया।

वहाँ तक पहुँचने के लिए श्रमदान के द्वारा मार्ग निर्माण हुआ। लगभग चालीस सहस्र व्यक्ति उस अवसर पर वहाँ सम्मिलित हुए। व्यवस्थापकों द्वारा व्यवस्था-हेतु लिखे गये विवरण के अनुसार वे ५५० गावो से आये थे।

आचार्यश्री पडाल में पधारने से पूर्व अधेरी ओरी वाले मन्दिर मे पधारे। वह तेरापन्थ की स्थापना का मूल स्थान था। स्वामी भीखणजी की भावदीक्षा और प्रथम चातुर्मास का आश्रय-स्थल होने के कारण समग्र तेरापन्थियो के लिए वह एक तीर्थ-भूमि के समान बना हुआ है। दो सौ वर्ष पूर्व की उस सारी घटनावलि के केन्द्रस्थल पर पधार कर आचार्यश्री ने स्वामीजी के निष्ठाशील कर्तृत्व का स्मरण किया, उन्हें श्रद्धाजलि समर्पित की और वहाँ से सीधे देवतलाई के पडाल में पधार गये।

नीचे धरती जन-सकुल थी और ऊपर आकाश मेघ-सकुल। एक मे अमृतमयी श्रद्धा भरी थी, तो दूसरे में अमृतमय पानी। दोनो बरसकर बह उठने को आतुर थे। दोनो में एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता थी। श्रद्धा तेज निकली। वह पहले बही और पानी बाद में। पानी पहले बहा होता तो निस्सन्देह समारोह में विघ्न उपस्थित हो जाता। पर ऐसा हो कैसे सकता था? श्रद्धाबल ऐसा होने नही देता था। सचमुच ही मामूली बूदा-बादी के अतिरिक्त वृष्टि ठहरी रही और समारोह में निर्विघ्नता बनी रही।

उद्घाटन भाषण

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने समारोह का उद्घाटन करते हुए कहा—"तेरापन्थ के प्रवर्त्तक आदरणीय आचार्यश्री भिक्षु एक सत्यशोधक महापुरुष थे। सत्य की खोज में वे गालियो को पुष्पार्चा मानकर चले और अभिशापो को वरदान। उनके मार्ग में पग-पग पर दुविधाएँ थीं, पर उन्होंने अपने साहस, धैर्य और गाभीर्य से उन सबको पार किया। वे आध्यात्मिक सपदा के अभिलाषी थे, आधिभौतिक सपदा के नही। उनका यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जलमन्थन मे घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को खडित नही होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोडमरोड कर परिस्थितियों के साथ उसकी सगति बैठाते है, पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है, यदि हम उस तक नहीं पहुच पा रहे है तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिये। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है कि पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकती।

"तेरापथ-द्विशताब्दी के अवसर पर हम उन्हें जितनी श्रद्धाजलिया दें, स्वल्प है। भारत वर्ष सदा उनके प्रति कृतज्ञ रहेगा कि उन्होंने तेरापन्थ के रूप में आध्यात्मिक प्रेरणा का एक धर्म-स्तूप खडा कर दिया है, जिसके अणुव्रतों की ज्योति आज सारे देश में जगमगा रही है।"

मुख्य मन्त्री का भाषण

राजस्थान के मुख्य मन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने मेवाड़ को द्विशताब्दी-समारोह का अवसर प्रदान करने पर आचार्य श्री का आभार मानते हुए अपने भाषण में कहा — 'आज द्विशताब्दी के इस पुनीत अवसर पर सबको आत्मनिरीक्षण करना है कि अहिंसा और अपरिग्रह हमारे जीवन में कितने व्यापक बन पाये हैं। अहिंसा-धर्म जीवन का अंग है। भारत ने जो संदेश विश्व भर को दिया था आज उसी संदेश को आचार्यश्री दूर-दूर तक फैला रहे हैं।

आचार्यश्री का भाषण

उस पुण्य प्रसङ्ग पर आचार्यश्री भिक्षु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"आषाढ़ पूर्णिमा का दिन तेरापन्थ के इतिहास में गौरवपूर्ण दिन है। आज के दिन ठीक दो सौ वर्ष पूर्व महामहिम आचार्य भिक्षु ने दीक्षा स्वीकार की थी तेरापन्थ का उदय हुआ था अनुशासन संगठन और व्यवस्था का बीज-वपन हुआ था तथा धर्म क्रांति का शंख फूंका गया था। दो शताब्दियाँ पूर्ण हुई। हमारा धर्म-शासन अपनी समृद्ध परम्पराओं व व्यवस्थित प्रणालियों के साथ तीसरे शतक के पहले चरण का स्पर्श कर रहा है। आज हम हर्ष विभोर हैं जितने हर्ष विभोर हैं उतने ही गंभीर भी हैं। हम हर्ष-विभोर इसलिए हैं कि समय की इस अवधि में हमें जो मिला है वह साधारण नहीं है यश तथा सुकम नहीं है। दायित्व का चिन्तन करते समय हम गंभीर हो जाते हैं हमने जो दायित्व ओढ़ा है उसका सम्यक् पालन हो इसलिए हम गम्भीर हैं।"

उक्त अवसर पर आचार्यश्री ने भूतकाल में संघ-सेवा के लिये अपने आप को खपा देने वाले मुनिवर्ग तथा श्रावक-वर्ग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की वर्तमान को उज्ज्वल तथा सामर्थ्य शील बनाये रखने का संकल्प व्यक्त किया और भविष्य के लिये नव-नव उन्मेषों द्वारा संघ को समृद्ध बनाने की ओर संकेत किया। उन्होंने साधु-साध्वियों को सम्बोधित करते हुए उनमें पाँच आशाएं की—

(१) आज्ञा का जो सर्वोपरि स्थान है उसे बनाये रखना है। जिन-शासन में आज्ञा बड़ी है आचार्य भिक्षु की इस वाणी को तुम कभी मत भूलो।

(२) हमारा सम्बन्ध आचार का है। अनाचार को कभी प्रोत्साहन मत दो।

(३) सबमें परस्पर प्रेम रखो।

(४) संघ के प्रति अनन्य निष्ठावान् रहो। कठिन परिस्थिति में भी उससे दूर होने की मत सोचो।

(५) तेरापन्थ सत्-अहिंसा दृढ़ विश्वास और जो विविध परम्पराएं बैठक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हैं उन्हें विकसित करो।

साहित्य-समर्पण

द्विशताब्दी के शुभ प्रसङ्ग पर विभिन्न सस्थाओ द्वारा प्रकाशित साहित्य भी आचार्यश्री को भेंट किया गया। आदर्श-साहित्य-सघ द्वारा प्रकाशित साहित्य जयचन्दलालजी दफ्तरी ने और जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा द्वारा प्रकाशित साहित्य श्रीचदजी रामपुरिया ने आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया।

कलाकृति-समर्पण

उक्त अवसर पर चित्रकार सन्त दुलह और श्रमण सागर ने सयुक्त परिश्रम के द्वारा आचार्यश्री भिक्षु की जीवन-घटनाओ से सम्बन्धित ५१ चित्र निर्मित किये थे। सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ने समारोह के अवसर पर उन्हें आचार्यश्री के चरणो में भेंट किया। स्वामी भीखणजी की यह चित्रमय जीवन-झाकी ऐतिहासिक तथ्यो का आधार लेकर बनाई गई थी, अत कहा जा सकता है कि यह अदृष्य भूतकाल को दृश्यता मे उतारने का प्रयास था।

तेरह दीक्षाए

प्रात कालीन आयोजन की सम्पन्नता के पश्चात् आचार्यश्री तथा साधु-साध्वी वृन्द स्थान पर पधार गये थे, परन्तु अधिकाश जनता वही पडाल में डटी रही। बीच-बीच में झर पडने वाली पानी की बौछार भी उन्हें वहाँ से डिगा न सकी। मध्यान्तरीय विश्राम के पश्चात् जब आचार्य श्री दीक्षा-समारोह सम्पन्न करने के लिए पुन पडाल में पधारे, तब तक लगभग एक बजे का समय हो गया था। मानव-मेदिनी वहाँ पहले से ही जमी हुई थी। आचार्यश्री के पदार्पण के साथ ही वह और भी सघन हो गई। जब दीक्षार्थियों की शोभा-यात्रा आई, तब तक तो यह स्थिति हो चुकी थी कि पडाल में घुस पाने तक का अवकाश भी प्राय नहीं रह गया था। सहस्रों मनुष्य पडाल से बाहर पार्श्ववर्ती पहाडी टीलों पर बैठे हुए थे।

तेरापन्थ की स्थापना के प्रथम दिन स्वामी भीखणजी आदि तेरह सन्त ही थे, अत द्विशताब्दी के अवसर पर भी तेरह ही व्यक्तियों को दीक्षा के लिए चुना गया। उनमें तीन भाई तथा दस बहिनें थीं। यथासमय आचार्यश्री ने उन सबको शास्त्र-विधि के अनुसार दीक्षित किया।

उसी दिन तेरह क्षत्रियों ने भी आचार्यश्री के पास सम्यक् श्रद्धा ग्रहण की और अपने जीवन को सादा तथा सदाचारयुक्त बनाने के लिए कुछ प्रतिज्ञायें लीं। इनमें राजसमन्द पंचायत समिति के प्रधान केप्टन दौलतसिंहजी आदि प्रमुख थे। आगे चलकर यह सख्या सोलह हो गई थी।

राजसमद मे

गुरु-पूर्णिमा का मुख्य कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् उसी दिन साय विहार करके आचार्य श्री राजसमद [राजनगर] पधार गये। उस दिन प्राय. सभी ने उपवास किया

मुख्य मन्त्री का भाषण

राजस्थान के मुख्य मन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने मेवाड़ की द्विशताब्दी-समारोह का अवसर प्रदान करने पर आचार्य श्री का आभार मानते हुए अपने भाषण में कहा —"आज द्विशताब्दी के इस पुनीत अवसर पर सबको आत्मनिरीक्षण करना है कि अहिंसा और अपरिग्रह हमारे जीवन में कितने व्यापक बन पाये हैं। अहिंसा धर्म जीवन का अंग है। भारत ने जो संदेश विश्व भर को दिया था आज उसी संदेश को आचार्यश्री दूर-दूर तक फैला रहे हैं।

आचार्यश्री का भाषण

उस पुण्य प्रसङ्ग पर आचार्यश्री भिक्षु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा— 'आषाढ़ पूर्णिमा का दिन तेरापन्थ के इतिहास में गौरवपूर्ण दिन है। आज के दिन ठीक दो सौ वर्ष पूर्व महामहिम आचार्य भिक्षु ने दीक्षा स्वीकार की थी तेरापन्थ का उदय हुआ था अनुशासन संगठन और व्यवस्था का बीज-वपन हुआ था तथा धर्म-क्रांति का शंख फूंका गया था। दो शताब्दियाँ पूर्ण हुईं। हमारा धर्म-शासन अपनी समृद्ध परम्पराओं व व्यवस्थित प्रणालियों के साथ तीसरे शतक के पहले चरण का स्पर्श कर रहा है। आज हम हर्ष विभोर हैं जितने हर्ष-विभोर हैं उतने ही गंभीर भी हैं। हम हर्ष-विभोर इसलिए हैं कि समय की इस अवधि में हमें जो मिला है वह साधारण नहीं है, पर तब सुलभ नहीं है। दायित्व का चिंतन करते समय हम गंभीर हो जाते हैं हमने जो दायित्व ओढ़ा है उसका सम्यक पालन हो इसलिए हम गम्भीर हैं।

उक्त अवसर पर आचार्यश्री ने मृतकाल में संघ-सेवा के लिये अपने आप को खपा देने वाले मुनिवर्ग तथा श्रावक-वर्ग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की वर्तमान को उज्ज्वल तथा सामर्थ्यशील बनाये रखने का संकल्प व्यक्त किया और भविष्य के लिये नव-नव उन्मेषों द्वारा संघ को समृद्ध बनाने की ओर संकेत किया। उन्होंने साधु-साध्वियों को सम्बोधित करते हुए उनसे पाँच अपेक्षाएं कीं—

(१) आज्ञा का जो सर्वोपरि स्थान है उसे बनाये रखना है। 'जिन-शासन में आज्ञा बड़ी है आचार्य भिक्षु की इस वाणी को तुम कभी मत भूलो।

(२) हमारा सम्बन्ध आचार का है। अनाचार को कभी प्रोत्साहन मत दो।

(३) सबमें परस्पर प्रेम रखो।

(४) संघ के प्रति सर्वात्म निष्ठावान् रहो। कठिन परिस्थिति में भी उससे दूर होने की मत सोचो।

(५) मेवाभाव कष्ट-सहिष्णुता दृढ़ विराग आदि जो विविध परम्पराएं पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हैं उन्हें चिरजीवित रखो।

साहित्य-समर्पण

द्विशताब्दी के शुभ प्रसङ्ग पर विभिन्न सस्थाओ द्वारा प्रकाशित साहित्य भी आचार्यश्री को भेंट किया गया। आदर्श-साहित्य-सघ द्वारा प्रकाशित साहित्य जयचन्दलालजी दफ्तरी ने और जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा द्वारा प्रकाशित साहित्य श्रीचदजी रामपुरिया ने आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया।

कलाकृति-समर्पण

उक्त अवसर पर चित्रकार सन्त दुलह और श्रमण सागर ने सयुक्त परिश्रम के द्वारा आचार्यश्री भिक्षु की जीवन-घटनाओं से सम्बन्धित ५१ चित्र निर्मित किये थे। सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ने समारोह के अवसर पर उन्हें आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया। स्वामी भीखणजी की यह चित्रमय जीवन-झाकी ऐतिहासिक तथ्यो का आधार लेकर बनाई गई थी, अत कहा जा सकता है कि यह अदृष्य भूतकाल को दृश्यता में उतारने का प्रयास था।

तेरह दीक्षाए

प्रात कालीन आयोजन की सम्पन्नता के पश्चात् आचार्यश्री तथा साधु-साध्वी वृन्द स्थान पर पधार गये थे, परन्तु अधिकाश जनता वही पडाल में डटी रही। बीच-बीच में झर पडने वाली पानी की बौछार भी उन्हें वहाँ से डिगा न सकी। मध्यान्तरीय विश्राम के पश्चात् जब आचार्य श्री दीक्षा-समारोह सम्पन्न करने के लिए पुन पडाल में पधारे, तब तक लगभग एक बजे का समय हो गया था। मानव-मेदिनी वहाँ पहले से ही जमी हुई थी। आचार्यश्री के पदार्पण के साथ ही वह और भी सघन हो गई। जब दीक्षार्थियों की शोभा-यात्रा आई, तब तक तो यह स्थिति हो चुकी थी कि पडाल में घुस पाने तक का अवकाश भी प्राय नहीं रह गया था। सहस्रों मनुष्य पडाल से बाहर पार्श्ववर्ती पहाडी टीलों पर बैठे हुए थे।

तेरापन्थ की स्थापना के प्रथम दिन स्वामी भीखणजी आदि तेरह सन्त ही थे, अत द्विशताब्दी के अवसर पर भी तेरह ही व्यक्तियो को दीक्षा के लिए चुना गया। उनमें तीन भाई तथा दस बहिनें थीं। यथासमय आचार्यश्री ने उन सबको शास्त्र-विधि के अनुसार दीक्षित किया।

उसी दिन तेरह क्षत्रियों ने भी आचार्यश्री के पास सम्यक् श्रद्धा ग्रहण की और अपने जीवन को सादा तथा सदाचारयुक्त बनाने के लिए कुछ प्रतिज्ञायें लीं। इनमें राजसमन्द पचायत समिति के प्रधान केप्टन दौलतसिंहजी आदि प्रमुख थे। आगे चलकर यह सख्या सोलह हो गई थी।

राजसमद में

गुरु-पूर्णिमा का मुख्य कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् उसी दिन सायं विहार करके आचार्य श्री राजसमद [राजनगर] पधार गये। उस दिन प्राय, सभी ने उपवास किया

था अत सभी भोजन की चिंता से दूर थे। कुछ व्यक्ति पैदल चलते हुए आचार्यश्री के साथ साथ तथा कुछ उन दिनों के लिये विशेषरूप से चलाई गई बसों आदि द्वारा राजनगर पहुंचे। आचार्यश्री का चातुर्मासिक प्रवास महाराणा हाई स्कूल में हुआ। वह स्थान नव निर्मित बोधिनगर तथा राजनगर की सघन बस्ती के लगभग मध्य में था अतः प्रायः सभी के लिये सुविधाजनक था।

अवशिष्ट कार्यक्रम

प्रथम चरण के अवशिष्ट कार्यक्रम राजनगर में दो दिन तक और चलते रहे। विभिन्न विषयों पर विभिन्न विद्वानों के भाषण हुए। उनके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद उपराष्ट्रपति डा राधाकृष्णन् प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू आदि देश के मान्य नेताओं जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी रामचन्द्राचार्य आदि धर्म-गुरुओं भारत स्थित अनेक विदेशी राजदूतों तथा विभिन्न विद्वानों और समाज-सेवियों के उस अवसर पर जो संदेश प्राप्त हुए थे वे पढ़कर सुनाये गये।

सक्रिय श्रद्धांजलि

स्वामीजी को सक्रिय श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए देश के विभिन्न स्थानों के व्यक्तियों ने विभिन्न त्याग और तपस्या ग्रहण की थी। उन सबका विवरण यहाँ दे पाना सहज नहीं है। राजनगर में आचार्यश्री के सम्मुख जिन व्यक्तियों ने त्याग-तपस्यामूलक विशिष्ट श्रद्धांजलि अर्पित की थी उनमें से कुछ नाम यहाँ दिये जा रहे हैं। सर्व प्रथम १६ दम्पतियों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। आगे वह संख्या २१ हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक व्यक्तियों ने तपस्या का संकल्प भी किया उनमें से अपेक्षाकृत बड़ी तपस्याएं स्वीकार करने वाले १३ साधु साध्वियों के नाम तथा उनकी तपस्या का विवरण निम्नोक्त है —

(१) साध्वी श्री भूरांजी	महाभद्रोत्तर तप
(२) तनसुखांजी	प्रतर तप
(३) " " कमलांजी	सार्ध चातुर्मासिक तप (११५ दिन)
(४) इन्द्रुजी	चातुर्मासिक तप (१२ दिन)
(५) रूपांजी	चातुर्मासिक तप (१० दिन)
(६) अणचांजी	मासिक तप (३ दिन)
(७) " " सोनांजी	मासिक तप (३ दिन)
(८) " " रिमांजी	मासिक तप (१५ दिन)
(९) कमलांजी	मासिक तप (१५ दिन)
(१०) " " सुखांजी	एक वर्ष एकान्तर
(११) साध्वी श्री [illegible]	११ दिन
(१२) " " [illegible]	११ दिन
(१३) " " [illegible]	११ दिन

नया मोड

द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्यश्री समग्र समाज को एक नया मोड देना चाहते थे। मेवाड की अनेक सामाजिक रूढियो में तो वे तत्काल ही परिवर्तन चाहते थे। उन्होने समाज के सम्मुख कुछ नियम रखे, जो कि वाद में 'नया मोड' नाम से प्रचलित हुए। मेवाड-वासियों द्वारा सामाजिक स्तर पर उन पर विचार किया गया। उनमे से कुछ नियम उसी समय समाज-मान्य हो गये, कुछ धीरे-धीरे वातावरण वनने के पश्चात् मान्य हुए। मेवाड के वहुत से गाँवो में काफी परिवर्तन आया। जहाँ परिवर्तन नही आ पाया, वहाँ भी एक विचार-क्षेत्र तो वना ही। इस कार्य में जितना समय और श्रम अपेक्षित है, उतना लग पाने पर प्रभूतफल की आशा की जा सकती है।

द्वितीय चरण

द्विशताब्दी-समारोह का द्वितीय चरण साप्ताहिक कार्यक्रम के रूप मे २५ सितम्वर से प्रारम्भ हुआ। सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाशनारायण ने उसका उद्घाटन किया। उसके पश्चात् दो दिन तक दर्शन-परिषद, दो दिन तक साहित्य-परिषद् और दो दिन तक शिक्षा-परिषद् का कार्यक्रम चला। देश के मान्य दार्शनिकों, साहित्यिको तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने उनमें भाग लिया।

तीन घोषणाएं

उक्त अवसर पर आचार्यश्री ने श्रमणसघ के लिये शिक्षा, साधना और गाथा-प्रणाली के विषय में तीन महत्वपूर्ण घोषणाए कीं।

(१) प्रथम घोषणा तेरापन्थ में दीक्षित व्यक्तियो के लिये अनिवार्य शिक्षा की थी। उसके अनुसार साधारण क्षमता वालों को सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम का और विशिष्ट क्षमता वालो को आध्यात्मिक शिक्षाक्रम का, जो क्रमशः तीन और सात वर्ष का पाठ्यक्रम है, पढना होगा। आध्यात्मिक शिक्षाक्रम के अन्तर्गत योग्य, योग्यतर और योग्यतम—ये तीन परीक्षाए हैं। भावी अग्रणी के लिये न्यूनतम योग्यता आध्यात्मिक शिक्षाक्रम की योग्य परीक्षा और सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम की पूर्ण परीक्षा तक होनी आवश्यक होगी।

(२) द्वितीय घोषणा साधना-विकास के लिए थी। उसके अनुसार श्रमण-वर्ग के लिये आसन, प्राणायाम, सेवा, विनय आदि का नैरन्तरिक अभ्यास करने की प्रेरणा तथा व्यवस्था थी

(३) तीसरी घोषणा गाथा-प्रणाली के विषय में थी। उसके अनुसार गाथाओ का पुनर्मूल्यन तथा साधुओं के समान साध्वियो में भी उसके प्रयोग की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया।

कलात्मक प्रदर्शनियाँ

उस अवसर पर कई प्रदर्शनिया भी लगाई गई। प्रथम प्रदर्शनी तेरापन्थ के साधु-साध्वियों द्वारा निर्मित वस्तुओ की थी। उसका नाम था 'हस्तकला प्रगति-प्रदर्शनी'। २५ सितम्वर

था अतः सभी मौसम की चिंता से दूर थे। कुछ व्यक्ति पैदल चलते हुए आचार्यश्री के साथ साथ तथा कुछ उन दिनों के लिये विशेषरूप से चलाई गई बसों आदि द्वारा राजनगर पहुंच गये। आचार्यश्री का चातुर्मासिक प्रवास महाराणा हाई स्कूल में हुआ। वह स्थान नव निर्मित कांकरोली तथा राजनगर की सघन बस्ती के लगभग मध्य में था अतः प्रायः सभी के लिये सुविधाजनक था।

अवशिष्ट कार्यक्रम

प्रथम चरण के अवशिष्ट कार्यक्रम राजनगर में दो दिन तक और चलते रहे। विभिन्न विषयों पर विभिन्न विद्वानों के भाषण हुए। उसके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू आदि देश के मान्य नेताओं जगद्गुरु रामानुजाचार्य, स्वामी राघवाचार्य आदि धर्म-गुरुओं भारत स्थित अनेक विदेशी राजदूतों तथा विभिन्न विद्वानों और समाज-सेवियों के उक्त अवसर पर जो संदेश प्राप्त हुए थे वे पढ़कर सुनाये गये।

सक्रिय श्रद्धांजलि

स्वामीजी को सक्रिय श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए देश के विभिन्न स्थानों के व्यक्तियों ने विभिन्न त्याग और तपस्या ग्रहण की थी। उन सबका विवरण यहाँ दे पाना सहज *नहीं है।* राजनगर में आचार्यश्री के सम्मुख जिन व्यक्तियों ने त्याग-तपस्यामूलक विशिष्ट श्रद्धांजलि अर्पित की थी उनमें से कुछ नाम यहाँ दिये जा रहे हैं। सर्व प्रथम १३ दम्पतियों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। आगे वह संख्या २१ हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक व्यक्तियों ने तपस्या का संकल्प भी किया उनमें से अपेक्षाकृत बड़ी तपस्याएं स्वीकार करने वाले १३ साधु साध्वियों के नाम तथा उनकी तपस्या का विवरण निम्नोक्त है —

(१) साध्वी श्री भूरांजी	महाभद्रोत्तर तप
(२) ,, तनसुखांजी	प्रतर तप
(३) ,, मथुजी	सार्ध चातुर्मासिक तप (१३५ दिन)
(४) ,, रूपूजी	चातुर्मासिक तप (१२ दिन)
(५) ,, पन्नांजी	चातुर्मासिक तप (१२ दिन)
(६) ,, अणचांजी	मासिक तप (३ दिन)
(७) ,, छोटांजी	मासिक तप (३ दिन)
(८) ,, ,, मिस्रांजी	मासिक तप (१५ दिन)
(९) ,, पन्नांजी	मासिक तप (१५ दिन)
(१०) ,, सुजानांजी	एक वर्ष एकान्तर
(११) मुनि श्री अर्जुनमलजी	२१ दिन
(१२) ,, गुलाबचन्दजी	१३ दिन
(१३) ,, संपतमलजी	१३ दिन

समारोह के सहयोगी

इस समारोह में तेरापन्थ के श्रावकगण का श्रम तो स्वाभाविक ही था, पर अन्य अनेक व्यक्तियों ने भी इसे सफल बनाने मे बडा महत्त्वपूर्ण योग दिया था। राजस्थान-सरकार की ओर से आवश्यक सामग्री समय पर प्रदान करने तथा कार्य-सफलता में अभिरुचि लेने की बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। माग करने पर कांकरोली स्टेशन पर अतिरिक्त डिब्बे देने तथा ट्रेनो के ठहरने के समय में वृद्धि करने में रेल्वे का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नही था। ऑल इंडिया रेडियो ने भी प्रथम-चरण की कार्यवाही को प्रसारित कर सहयोग की कड़ियों में एक कड़ी और जोड दी थी। देश के विभिन्न दैनिक, साप्ताहिक और पाक्षिक पत्रो ने भी उस समारोह को यथेष्ट महत्त्व देकर समाचार छापे थे। उस समय अनेक पत्रो में तेरापन्थ और आचार्यश्री के सम्बन्ध में अनेक अग्रलेख तथा विशिष्ट लेख भी प्रकाशित हुए थे।

तृतीय चरण

द्विशताब्दी-समारोह दो चरणों में सम्पन्न हो गया, परन्तु उनमें कम ही साधु-साध्वियाँ सम्मिलित हो सके। चातुर्मास-काल में सबका सम्मिलन सम्भव नही था। फलत अवशिष्ट रहे कार्यो की सम्पन्नता के लिए उसका तृतीय चरण मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आमेट में मनाया गया। उसे समापन-समारोह भी कहा जा सकता है। उसमें श्रावक-समुदाय के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों से समागत तेरापन्थ-सघ के ४८० साधु-साध्वियो ने भी भाग लिया।

द्विशताब्दी-समारोह के तीनों चरणों की अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताए थीं। प्रथम चरण तेरापन्थ की स्थापना के मुख्य दिन से सबद्ध था, अत उसमें जनागमन, आयोजन, आत्म-निरीक्षण और श्रद्धाजलि-समर्पण की प्रधानता थी। द्वितीय चरण में तेरापन्थ समाज की भावी गतिविधियों के विषय में चिन्तन और निर्धारण की मुख्यता थी। तृतीय चरण मुख्यत श्रमण-सघ की व्यवस्थाओ के पुनर्निरीक्षण और पुनर्व्यवस्थापन से सबद्ध था।

आचार्य भिक्षु-स्मृति-ग्र थ

द्विशताब्दी-समारोह के उपलक्ष्य में तेरापन्थी महासभा ने 'आचार्यश्री भिक्षु-स्मृति-ग्र थ' प्रकाशित करने का निर्णय किया। उसके अनुरूप सामग्री-सग्रह तथा प्रकाशन आदि के प्रबन्ध का भार कन्हैयालालजी दूगड (रतनगढ निवासी) को दिया गया। विविध सामग्री से परिपूर्ण वह ग्रन्थ लगभग आठ सौ पृष्ठो का है। वह तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम दो खण्डो में हिन्दी भाषा के लेख सकलित है, जबकि तृतीय खण्ड में अग्रेजी भाषा के। प्रथम खण्ड में स्वामी भीखणजी को समर्पित श्रद्धाजलियाँ तथा तेरापन्थ के इतिहास, मान्यता, साहित्य आदि विविध पहलुओ पर प्रकाश डालने वाली सामग्री है। द्वितीय खण्ड मे जैन-इतिहास, साहित्य और सस्कृति विषयक सामग्री सकलित है। तृतीय खण्ड में जैनधर्म विषयक विविध सामग्री दी गई है।

को आचार्यश्री ने उसका उद्घाटन किया। उसे कलापूर्ण ढंग से सजाने में श्री सुगन्द और मनमोहनलाल का विशेष श्रम रहा। यह प्रदर्शनी लगभग ८० फुट लम्बी थी। उसमें साहित्य विभाग लिपि विभाग चित्रकला-विभाग काष्ठकला विभाग आदि अनेक विभाग थे। वह स्कूल के बाहरी भाग में लगाई गई थी।

दूसरी 'नैतिक विकास प्रदर्शनी' स्कूल के अन्दर चौकवाले भाग में लगाई गई थी। उसमें अणुव्रत आन्दोलन के पांच अणुव्रत बुद्ध के पंचशील ईसा के पांच कानून तथा वेद, कुरान आदि सभी धर्मों के समन्वय के आधार पर विचारात्मक चित्र और नैतिकता पर महापुरुषों के महत्त्वपूर्ण उक्तियों के आलेखपट्ट संकलित थे। साथ-साथ सामाजिक कुरूढ़ियों के दुष्परिणाम बतलाने वाले चित्र भी लगाये गये थे। यह प्रदर्शनी बालचन्द नियाती की अविश्रान्त साधना के अनवरत श्रम एवं लगन का परिणाम थी।

तीसरी प्रदर्शनी 'आचार्यश्री भिक्षु-तत्त्व-आलेख कक्ष' नाम से हाल-बिल्डिंग में लगाई गई। उसका निर्माण कांठा निवासी तेरापन्थी बन्धुओं ने—जो कि व्यापारार्थ दक्षिण के विभिन्न गांवों तथा नगरों में बसते हैं—बेंगलोर में करवाया। उसकी व्यवस्था में सुजानमल सेठिया और मोतीलालजी रांका आदि का श्रम लगा था जबकि उसकी रचना में दक्षिण के कलाकार श्री रामम् व कनकाचलम् का श्रम लगा था। उस कक्ष के प्रागैतिहासिक कालीन जैन-परम्परा के भावचित्रों का निर्माण दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कलाकार श्री रामम् से किया था। बाद में समाज द्वारा उनका सत्कार तथा अभिनन्दन किया गया।

यह प्रदर्शनी कई विभागों में विभक्त थी। उसके एक भाग में जैन परम्परा की प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक विभिन्न घटनाओं को अजंता की प्राचीन जैन शैली में चित्र रूप दिया गया था। इतिहास पर प्रकाश डालने वाले अनेक आलेख-पट्ट भी लगाये गये थे। दूसरे विभाग में आचार्य भिक्षु के जीवन की झांकियों तथा उनके द्वारा तत्त्व विवेचन में प्रयुक्त विविध दृष्टान्तों पर आधारित चित्र आदि थे। एक अन्य भाग में आचार्यश्री तुलसी की पद-यात्राओं जन-सम्पर्क लोकोद्बोधन आदि से संबद्ध चित्र थे।

'आलेख कक्ष' की शोभा बढ़ाने में अन्य दो संग्रहों का भी विशेष सहयोग रहा। उनमें एक संग्रह चापर निवासी मोहनलालजी दूधेड़िया का था। उसमें ताड़-पत्र तथा कागजों पर लिखे विभिन्न काल के प्राचीन ग्रन्थ और पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्य दुर्लभ सामग्रियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण संकलन था। दूसरा संग्रह चूरू निवासी शुभकरणजी सेठिया का था। अणुव्रत आन्दोलन के प्रत्येक नियम पर समालोचक विवेचन देने वाले भावचित्र थे। उन्होंने वे चित्र कलकत्ता व चूरू में तैयार करवाये थे। उपर्युक्त प्रदर्शनी का उद्घाटन राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने किया।

परिशिष्ट २

सम्पादक-मण्डल

उक्त ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल में नौ सदस्य थे। कन्हैयालालजी दूगड़ ने प्रबन्ध-सम्पादक के रूप में कार्य किया। सम्पादक-मण्डल के सदस्यों के नाम इस प्रकार हैं —

डा सतकरि मुखर्जी	डा नथमल टांटिया
डा हजारीप्रसाद द्विवेदी	मोहनलाल बांठिया
डा हीरालाल जैन	जयचन्दलाल कोठारी
प्रो सान मुन सान	सुमकरण दसाणी

भूमिका

उक्त ग्रन्थ की भूमिका राष्ट्रपति डा राजेन्द्रप्रसाद ने लिखी। वे लिखते हैं—"भारत भूमि की यह विशेषता रही है जब-जब जैसा आवश्यक हुआ यहाँ महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने अपने समय में फैली हुई बुराइयों और विकारों से लोहा लिया उनका उन्मूलन करने के लिये वे जीवन भर लड़े।

श्री भिक्षु भी एक ऐसे ही महापुरुष थे। आत्म-साधना उनके जीवन का साध्य था। वे एक सन्त थे जो आम जनता की भाषा में बहुत सरल शब्दों में तत्त्व की खरी बात कहा करते थे। वे कोई काव्य-सर्जन करना नहीं चाहते थे पर जो कुछ उन्होंने कहा वह साहित्य की एक बहुमूल्य निधि बन गया। अध्यात्म की जो बात उन्होंने कही आज दो शताब्दियाँ बीत रही हैं महत्त्व जरा भी कम नहीं हुआ

"इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा ने उस विवंगत महापुरुष के जीवन-सत्य और जैन-दर्शन के नवनीत को जगत् के सामने रखने का सुन्दर प्रयास किया है। मैं इस प्रयास की सराहना करता हूँ और स्मृति-ग्रन्थ के विद्वान् लेखकों तथा सम्पादक-मंडल को बधाई देता हूँ।

परिशिष्ट २

धवल-समारोह

सम्मान से अधिक मूल्यवान्

कोई भी महापुरुष जनहित का कार्य सम्मान या यश की प्राप्ति के लिए नही करता, फिर भी उसमें उन्हें वे अनायास ही प्राप्त होते रहते हैं। यद्यपि उनके कार्य का महत्त्व उस प्राप्त सम्मान की कसौटी से नही परखा जा सकता, उसका मूल्य तो उन सबसे बहुत अधिक होता है, फिर भी कभी-कभी किसी-किसी के लिए मम्मानो की गुरुता अथवा व्यापकता भी व्यक्ति की महत्ता को समझने में सहायक होती पायी गई है।

अखण्ड आशा

आचार्यश्री ने जन-हितार्थ अपना जीवन समर्पित किया है। उममें उन्हें न मम्मानो की अपेक्षा रही है और न अभिनन्दनो की। फिर भी उन्हें जनसाधारण से अपरिमेय सम्मान मिला है। वे जहाँ भी गये हैं, प्राय सर्वत्र उनके कार्यो को अभिनन्दनीय प्रशसा प्राप्त हुई है। भारत के मनीषियो ने उन्हें बडी आशा-भरी दृष्टि से देखा है। नवनालन्दा महाविहार (पाली-इन्स्टीट्यूट) के डायरेक्टर डा० सतकरि मुखर्जी द्वारा इन्स्टीट्यूट की ओर से आचार्यश्री के अभिनन्दन में पठित पत्र के ये शब्द इस विषय में बडे ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—"न तो पूर्वतन महापुरुषों का भारत-भूमि में अवतरण ही निष्फल हो सकता है और न यहाँ का अन्तिम परिणाम 'पतन'। इसमें प्रमाण है—आप जैसे व्यक्तियो का भारतभूमि में अवतरण।"[१]

'रजत' बनाम 'धवल'

आचार्यश्री का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें उनका व्यक्तित्व सम्प्रदायातीत-रूप में निखार पा चुका है। यद्यपि वे एक सम्प्रदाय के आचार्य है, फिर भी उनका आचार्यकाल सम्पूर्ण मानव-जाति के हित में खपता रहा है। जनता उनके चारो ओर घिरती रही है और वे उसके प्रेरणास्रोत बनते रहे हैं। इसी प्रक्रिया का फल था कि आचायश्री के आचार्यकाल के जब पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने वाले थे, तब सार्वजनिक रूप से उनकी रजत-जयन्ती मनाने का विचार लोगो के मन में उठा।

१—नहि पूर्वतनानां महापुरुषाणां भारत-भूमौ जनन निष्फल भवितुमर्हति। न वा विनिपात एव पार्यन्तिक परिणामो भवेत्। तत्र च प्रमाण भवादृशाना भारत-वसुन्धरायां क्रिया-समभिहारेणाविर्भाव।

—जैन भारती, २५ जनवरी १९५९

'रजत' शब्द भौतिक वैभव का द्योतक है इसलिए 'धवल' शब्द को उसका तथा आचार्यश्री के कार्यों का भाव-बोधक मानकर उसके स्थान पर स्वीकार किया गया। 'रजत-जयन्ती' के स्थान पर 'धवल-समारोह' शब्द का प्रयोग अधिक सात्त्विक तथा भाव-गाम्भीर्य युक्त है। इस दिशा में एक नई परम्परा का प्रारम्भ तो यह है ही।

धवल-समारोह-समिति

धवल-समारोह के विचारों को कार्य का रूप देने के लिये 'धवल-समारोह-समिति' का गठन किया गया। उसके पदाधिकारी निम्नोक्त व्यक्ति थे —

उ न ढेबर अ भा कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व अध्यक्ष	अध्यक्ष
डा सम्पूर्णानन्द उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री	उपाध्यक्ष
वाई बी चह्वाण महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री	
मोहनलाल सुखाड़िया राजस्थान के मुख्यमन्त्री	
बी डी जत्ती मैसूर के मुख्यमन्त्री	
श्रीमन्नारायण योजना-आयोग के सदस्य	संयोजक
मदनचन्द भंडारी जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा के अध्यक्ष	सह-संयोजक
सुगनचन्द आंचलिया अ भा अणुव्रत समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष	"
गिरधारीलाल जैन दिल्ली जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा के अध्यक्ष	कोषाध्यक्ष

तीन कार्य

धवल-समारोह योजना की कार्य-परिणति में मुख्यत तीन कार्य सम्पाद्य थे —

(१) धवल-समारोह
(२) अभिनन्दन-ग्रंथ
(३) आचार्यश्री की कृतियों का सम्यक् सम्पादन।

व्यक्ति-पूजा या आदर्श-पूजा

धवल-समारोह स्थूल रूप में यद्यपि आचार्यश्री के सम्मान में आयोजित था परन्तु अन्तरंग में वह उनकी लोकोपकारक प्रवृत्तियों का सम्मान था। पर्यायान्तर में वह अध्यात्म का सम्मान था। इसी विचार से आचार्यश्री को इस समारोह की स्वीकृति के लिए बाध्य कर दिया। इस विषय में उनके अपने शब्द ये हैं— अध्यात्म का अभिनन्दन अध्यात्म की गति का प्रेरक बन जाता है इसी दृष्टि से बाध्य हो बहुत संकोच को चीर कर मुझ इस अभिनन्दन में उपस्थित होने व उसे स्वीकार करने की अनुमति देनी पड़ी।[1]

कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन केवल औपचारिक है। मूलत ऐसे समारोहों में आदर्श पूजा के स्थान पर व्यक्ति-पूजा को ही प्रश्रय मिलता है। इसका सहज उत्तर

१—जैन भारती १८ मार्च १९६२

यही हो सकता है कि आज तक के इतिहास में कोई भी ऐसी आदर्श पूजा उपलब्ध नही होती, जिसमें व्यक्ति को माध्यम नही बनाया गया हो। प्रत्येक आदर्श किसी-न-किसी की तपोभूमि में फलित होकर ही जनग्राह्य बना करता है। इसलिए आदर्श की ओर प्रेरित करने वाले किसी व्यक्ति को यदि हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते है, तो वह उपयुक्त ही है।

नवभारत टाइम्स के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन इसी बात को यों कहते है—"सामान्यत आज का युग व्यक्ति-पूजा का नही रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमें व्यक्ति को ही खोजना पडता है। अहिंसा, सत्य व सयम की अर्चा के लिए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्त्तक आचार्यश्री तुलसी यथार्थ प्रतीक है। वे अणुव्रतो की शिक्षा देते है और महाव्रतों पर स्वय चलते हैं।"[1]

सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण कहते है—"भारतवर्ष में सदा ही त्याग और सयम का अभिनन्दन होता रहा है। आचार्यश्री तुलसी स्वय अहिंसा व अपरिग्रह की भूमि पर हैं और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोडना चाहते हैं। सामान्यतया लोग सत्ता की पूजा किया करते है। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र में चलने वाले लोगो का अभिनन्दन समाज करता रहा तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हावी नहीं होगे।"[2]

उपर्युक्त सभी उद्धरण मैंने इसलिए दिए है कि आचार्यश्री के अभिनन्दन को श्रद्धातिरेक से उनका शिष्य-वर्ग ही नही, अपितु समाज के विचारक व्यक्ति भी आदर्श पूजा का प्रतीक मानते हैं।

दो चरण

आचार्यश्री के जनोत्थानकारी कार्यों को श्रद्धाँजलि अर्पित करने का जब निश्चय किया गया, तब यह विचार सामने आया कि समारोह को दो चरणो में मनाया जाना चाहिए। प्रथम चरण भाद्रपद शुक्ला नवमी को मनाया जाए, जो कि आचार्यश्री के पदारोहण का मूल दिन है और दूसरा चरण शीतकाल में किसी निर्धारित दिन पर मनाया जाए, ताकि सुदूरवर्ती क्षेत्रों में विहार करने वाले अधिकाश मुनिजन भी उसमें सम्मिलित हो सकें। विचार-विमर्श के पश्चात् समारोह को दो चरणो में मनाने का निश्चय हुआ।

प्रथम चरण

धवल-समारोह का प्रथम चरण बीदासर में मनाया गया। उस अवसर पर सहस्रो की सख्या में जनता ने उपस्थित होकर आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। उसके अतिरिक्त केन्द्रीय विद्युत्-उपमन्त्री श्री जयसुखलाल हाथी, बीकानेर महाराजा श्री करणीसिंह, पजाव के सिंचाई व विद्युत्-मन्त्री सरदार ज्ञानसिंह राडेवाला, उत्तरप्रदेश-विधान सभा के उपाध्यक्ष रामनारायण

१—आ० तु० अ० ग्र०, प्रवन्ध सम्पादक की ओर से

२—आ० तु० अ० ग्र०, सम्पादकीय

त्रिपाठी उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री लक्ष्मीरमण आचार्य सुप्रसिद्ध समाजसेवी डा० युद्धवीर सिंह, उपन्यास-लेखक कामरेड यशपाल तथा कवि रामनाथ 'सुमन' आदि ने भी उनके अभिनन्दन में प्रमुखरूप से भाग लिया।

द्वितीय चरण

धवल-समारोह का मुख्य आयोजन द्वितीय चरण में ही रखा गया था। उस अवसर पर जो स्वागत समिति का गठन किया गया उसमें राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया स्वागताध्यक्ष थे। समारोह के लिए चोपड़ा हाईस्कूल के मैदान में पण्डाल बनाया गया। वह स्थान विशाल तो था ही मौके पर भी था। बीकानेर के सान्निध्य तथा दोनों ओर सड़कों के कारण जनता के आवागमन के लिए भी काफी अनुकूल था। उपस्थित होने वाले विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए वहाँ स्वयंसेवक-दल का प्रबन्ध किया गया था।

भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष श्री उ◌ ◌न ◌◌बर की अध्यक्षता में वह समारोह किया गया। तत्कालीन उपराष्ट्रपति (वर्तमान राष्ट्रपति) डा० राधाकृष्णन् आदि देश के अनेक गण्यमान्य नेता साहित्यकार और पत्रकार उसमें सम्मिलित होने और आचार्यश्री को श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्रित हुए। जनता की तो अपार भीड़ थी ही।

ग्रन्थ-समर्पण

आचार्यश्री को उसी समारोह में डा० राधाकृष्णन् द्वारा 'आचार्यश्री तुलसी-अभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित किया जाना था। मंगलाचरण स्वागत-भाषण आदि के पश्चात् अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल की ओर से जननेता जयप्रकाश बाबू ने आचार्यश्री का अभिनन्दन करते हुए ग्रन्थ-समर्पण के लिए उपराष्ट्रपति को निवेदन किया। उन्होंने कहा— आज हम सब आचार्यश्री के धवल-समारोह में सम्मिलित हुए हैं। इस अवसर पर आचार्यश्री को मानने वालों में मैं भी अपने आपको मानता हूँ। मैंने अपना एक ही मत स्थिर किया है और वह है—मानव धर्म। मुझे जहाँ-जहाँ मानवता के दर्शन हुए हैं मैं वहाँ झुका हूँ। आचार्यश्री में भी मैंने मानवता का साक्षात् रूप पाया है। मैं सम्पादक-मण्डल की ओर से आचार्यश्री का धवल-अभिनन्दन करता हूँ और माननीय उपराष्ट्रपतिजी से निवेदन करता हूँ कि वह ये अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करें।[1]

उपराष्ट्रपति ने ग्रन्थ भेंट करने से पूर्व अपने भाषण में कहा—"राजनीतिक नेताओं और राज रजवाड़ों को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने की पुरानी परम्परा रही है पर किसी राष्ट्र-संत का अभिनन्दन यह एक नया सूत्रपात है। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि राष्ट्र-संत का अभिनन्दन मैं कर रहा हूँ[2]"।

१—जैन भारती १८ मार्च १९६२

२—जैन भारती १८ मार्च १९६२

अपने भाषण की सम्पन्नता के पश्चात् उपराष्ट्रपति ने मच पर खडे होकर वडे ही आदर और विनम्रभावो के साथ आचार्यश्री के कर-कमलो मे अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया। मच पर वैठे सभी आगन्तुक उस समय आदर व भक्ति व्यक्त करने के लिए खडे हो गये। सामने समुद्र की तरह लहराता हुआ जन-समूह उस दृश्य की रमणीयता में अपने आपको विस्मृत किए हुए तल्लीनता से देख रहा था। उस समर्पण के क्षण को हर कोई की आँखें पूर्णतः आत्मसात् कर लेने को आतुर थी। वस्तुत वह एक अभूतपूर्व दृश्य था।

अभिनन्दन-ग्रन्थ

अभिनन्दन-ग्रन्थ की सामग्री आचार्यश्री की गरिमा के अनुरूप है। वह विशाल-ग्रन्थ लगभग आठ सौ पृष्ठो का है। सामग्री-चयन में यह ध्यान रखा गया है कि वह एक प्रशस्ति ग्रथ ही न रहे, अपितु दर्शन और जीवन-व्यवहार का एक सर्वांगीण शास्त्र बन जाए। उसके चारो अध्याय अपनी पृथक्-पृथक् मौलिकता लिए हुए है।

प्रथम अध्याय श्रद्धाजलि और सस्मरण-प्रधान है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रभाव-क्षेत्र होता है और उससे उसे यथासमय श्रद्धा भी प्राप्त होती है, परन्तु सबका प्रभाव-क्षेत्र समान नही होता। किसी का प्रभाव-क्षेत्र केवल अपना घर ही होता है, तो किसी का सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा विश्व। अध्यात्म और नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्यश्री का व्यक्तित्व सर्वक्षेत्रीय बन गया है और वह इस अध्याय से निर्विवाद अभिव्यक्त होता है। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्तियो ने उनके प्रति जो उद्गार व्यक्त किये है, वे उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

द्वितीय अध्याय में उनका जीवन-वृत्त है। हर एक महापुरुष का जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है, फिर आचार्यश्री ने तो अपने समग्र जीवन को अहिंसा और सत्य के लिए समर्पित किया है। सर्वसाधारण के लिए वह एक दीप-स्तम्भ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में अणुव्रतों की भावना पर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न लेखको ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओं से समाज की नैतिक आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। यह अध्याय एक प्रकार से सक्षिप्त नैतिक दर्शन कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय का विषय है—दर्शन और परम्परा। इस अध्याय के शोधपूर्ण लेख, बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करते हैं। यद्यपि इस अध्याय के अधिकाश लेख जैन-दर्शन से सम्बद्ध हैं, फिर भी वे तुलनात्मक अध्ययन करने वालो के लिए जैन-दर्शन सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकते है।

सम्पादक-मण्डल

ग्रन्थ के प्रबन्ध-सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रंथ का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन केवल छह महीने में ही सम्पन्न हो गया। यह आशातीत ही कहा जा सकता है। सम्पादक मण्डल का कार्य-कौशल इस त्वरा में सम्भवतः मुख्य कारण रहा हो। सम्पादक-मण्डल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे —

श्री जयप्रकाशनारायण	मुनि श्री नगराज
श्री नरहरिविष्णु गाडगिल	श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री के एम मुन्शी	श्री एम के सिद्धान्त
श्री हरिभाऊ उपाध्याय	श्री जैनेन्द्रकुमार
श्री मुकुटबिहारी वर्मा	श्री जबरमल भंडारी
श्री अक्षयकुमार जैन	श्री मोहनलाल कठौतिया

इस कार्य में मुनिश्री नगराजजी का परिश्रम आद्योपान्त समानरूप से रहा था। श्री जयप्रकाशनारायण ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है— ग्रंथ सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनि श्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक-मंडल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य उनकी देख रेख में होना है।[१]

आचार्यश्री का उत्तर

आचार्यश्री ने इस अभिनन्दन को अपना तो नहीं माना फिर भी जनता ने उन्हीं का अभिनन्दन किया था अतः उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा— अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है। इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसी का अभिनन्दन है। मैंने दूसरों का विकास या उत्थान करने का कभी दावा नहीं किया तो उनका अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है? मैं अपने विकास या उत्थान के लिए चला वह दूसरों के विकास का निमित्त बन गया। इसीलिए लोग मानते होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूँ। अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है वह उसके हित-सम्पादन में सहायक होती है—भगवान् महावीर की इस वाणी में जो प्रेरक सन्देश है उससे मेरा जो प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनूँ—यही संकल्प मेरे अग्रिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे।[२]

१—आ तु अ ग्रं सम्पादकीय
२—जैन भारती १८ मार्च १९६१

उपलब्ध तथ्य

अपने आचार्यकाल के पच्चीस वर्षो के अनुभवों के आधार पर उन्हें जो तथ्य उपलब्ध हुए, उनको उन्होंने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए इन शब्दों में व्यक्त किया—"मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के २५ वर्ष पूर्ण हुए हैं। इस अवधि में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए, उन्हें मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूं। उनमें से कुछ ये हैं —

(१) अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।

(२) साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद—ये दोनों ही भ्रान्त हैं।

(३) नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है, तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनो की सहावस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।

(४) धर्म-सस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नहीं रह सकता है।

(५) भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।

(६) धर्म-सस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं।

(७) वर्त्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है। केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नही बन सकता।

(८) आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धान्त क्रियान्वित हो सकता है, जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएं निर्विकार हो सकती है। अभेद बुद्धि को विकसित किये बिना कोई भी व्यक्ति दूसरो को नही अपना सकता।

(९) धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है।[1]

साधु-सस्थाओ से

उन्होंने उस अवसर पर आध्यात्मिक विकास के लिए वर्त्तमान साधु-सस्थाओं को भी कुछ बातें सुझाव के रूप में कहीं, वे इस प्रकार हैं —

(१) राजनीति में हस्तक्षेप न करे।

(२) परिग्रह से अलिप्त रहें।

(३) जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, और राष्ट्रवाद आदि झमेलों में न फंसें। शान्ति, समन्वय और विश्व की एकता का प्रसार करें।

१—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

सम्मान

मुनिश्री चम्पालालजी मीठिया और लाडाजी का सम्मान करते हुए उन्होंने ये उद्गार व्यक्त किये —

"विनयनिष्ठ मुनि चम्पालालजी (मीठिया) । आपकी सहज विनम्रता से मैं प्रसन्न हूँ । इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं आपका विनयनिष्ठ के रूप में सम्मान करता हूँ ।"

"विनयनिष्ठा सुशिष्या लाडाजी । तुम्हारी सहज विनम्रता मे मैं प्रसन्न हूँ । धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हारा विनय-निष्ठा के रूप मे सम्मान करता हूँ ।"

परामर्शक-नियुक्ति

मुनि बुद्धमल्ल तथा मुनिश्री नगराजजी को आचार्यश्री ने उस अवसर पर क्रमश अपने साहित्य-विभाग और अणुव्रत-विभाग का परामर्शक नियुक्त किया । नियुक्ति-पत्र इस प्रकार है —

"सुशिष्य मुनि बुद्धमल्लजी । तुमने साहित्य के माध्यम से धर्मशासन की श्री-वृद्धि में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ । इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें साहित्य विभाग-परामर्शक के रूप में नियुक्त करता हूँ ।"

"सुशिष्य मुनि नगराजजी । तुमने आन्दोलन के माध्यम से धर्म-शासन की श्री-वृद्धि करने में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ । इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें अणुव्रत-विभाग परामर्शक के रूप में नियुक्त और अग्रगण्य की लागत के रूप में गाथाओ से मुक्त करता हूँ ।"

आशीर्वाद

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम', मुनि दुलहराजजी और साध्वी किस्तूरांजी को आचार्यश्री ने आशीर्वाद प्रदान किया । वह इस प्रकार है :—

"सुशिष्य मुनि महेन्द्रजी । तुमने अणुव्रत-प्रसार और साहित्य की दिशा में जो प्रयत्न किया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ । विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ ।"

"सुशिष्य मुनि दुलहराजजी । तुमने साहित्य के क्षेत्र में जो प्रगति की है, उससे मैं प्रसन्न हूँ । दक्षिण प्रान्तीय एव अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य में विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ ।"

"सुशिष्या किस्तूराजी ! तुमने सुदूर प्रान्त दक्षिण में अणुव्रत-आन्दोलन की प्रगति के लिए जो यत्न किया, उससे मैं प्रसन्न हूँ । कार्यक्षमता के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ ।"

वदनांजी के प्रति

मातुश्री वदनांजी के प्रति आचार्यश्री ने जो उद्‌गार व्यक्त किए, वे इस प्रकार हैं —

'महामना साध्वीश्री वदनांजी ! आपसे मुझे मातृवात्सल्य के साथ-साथ जो पवित्र संस्कार मिले वे मेरे जीवन विकास के महान् हेतु बने। मैंने जो सत्प्रयत्न किया उसमें आपकी तप: पूत भावनाएं सदा मेरे साथ रही हैं।

स्मरण

इस अवसर पर उन्होंने विभिन्न गुणों के आधार पर अनेक व्यक्तियों का स्मरण किया। वह इस प्रकार है —

साध्वी श्री हुलासांजी को विनय निष्ठा के रूप में पंडित रघुनन्दनजी शर्मा को शासन-सेवी एवं विशिष्ट-अणुव्रती के रूप में, प्रतापमलजी मेहता को शासन-सेवी के रूप में एवं कल्याणमलजी बरड़िया को अणुव्रती एवं त्यागवृत्तिक के रूप में स्मरण किया गया।

विविध गोष्ठियां

धवल-समारोह के अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों के आयोजन भी रखे गये थे। श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में अणुव्रत विचार परिषद्, डा॰ हरिवंशराय 'बच्चन' की अध्यक्षता में कवि-सम्मेलन इसी प्रकार दर्शन-परिषद्, साहित्य-परिषद् एवं अणुव्रत अधिवेशन आदि द्वारा समागत जनता को विशेष रूप से अध्यात्म का पोषण मिलता रहा था।

विशेषांक समर्पण

धवल-समारोह के द्वितीय चरण के अवसर पर मुनिजनों द्वारा हस्तलिखित पत्रिका 'जयज्योति' का एक अभिनन्दन विशेषांक भी निकाला गया। उसमें विभिन्न लेखकों द्वारा संस्कृत प्राकृत आदि प्राचीन और अर्वाचीन पच्चीस भाषाओं में श्रद्धांजलियां तथा लेख लिखे गये थे। सम्पादक-मण्डल की ओर से मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल' ने उसे आचार्यश्री के चरणों में समर्पित किया।

साहित्य-सम्पादन

धवल-समारोह के अवसर पर आचार्यश्री की कृतियों का सम्यक् सम्पादन करने का निश्चय किया गया था। तदनुसार श्रमण सागर और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' इस कार्य को सम्पन्न करने में लगे। अनेक ग्रन्थ उनकी सम्पादकता में जनता के सामने आये।

साहित्य की भेंट

आचार्यश्री तथा मुनिजनों द्वारा नवनिर्मित साहित्य में से अनेक ग्रंथों को भारत के सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान 'आत्माराम एण्ड सन्स' ने प्रकाशित किया। धवल-समारोह के दोनों ही चरणों के अवसर पर संस्थान के संचालक श्री रामलालपुरी ने स्वयं आकर उन प्रकाशित ग्रन्थों को अपनी संस्था की ओर से आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया। उनमें आचार्यश्री की रचनाओं के अतिरिक्त विभिन्न साधुओं की रचनाएं भी थीं।

प्रकाशन की दृष्टि से वह भेंट 'आत्माराम ऐण्ड सन्स' की अवश्य थी पर लेखन की दृष्टि से तो वह विभिन्न लेखकों की भेंट थी।

व्यक्ति नामावलि

परिशिष्ट ४

ग्राम नामावलि

★

परिशिष्ट ५

पारिभाषिक शब्दकोश

अङ्ग	जिनवाणी के आधार पर गणधरो द्वारा रचित शास्त्र ।
अधश्रद्धा	अविचारित विश्वास ।
अकल्प	आचार की सीमा से बाहर ।
अकिंचन	जिसके पास कुछ न हो । अपरिग्रही ।
अकुतोभय	जिसको किसी से भय न हो । सब ओर से निर्भय ।
अग्रगामी	सिंघाडे (मण्डली) का मुखिया ।
अग्रणी	सिंघाडे (मण्डली) का मुखिया ।
अचेल	वस्त्र रहित । वस्त्र परिधान को मान्यता न देने वाला ।
अछाया	खुला आकाश । रात्रि के समय बरसने वाली सूक्ष्म अप्काय ।
अणुव्रत	हिंसादि दोषो की स्थूल विरति । अहिंसादि की क्रमिक विकासशील भावना के लिए अपनाये जाने वाले प्राथमिक नियम । आशिक नियम ।
अणुव्रत आन्दोलन	चारित्रिक उत्थान के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्त्तित आन्दोलन ।
अदृष्ट	भावी । होने वाला ।
अधर्म	पापकारी प्रवृत्ति । आत्मशुद्धि मे बाधक प्रवृत्ति ।
अध्यात्म	आत्म-सम्बन्धी । आत्म-परक ।
अनशन	आहार का सावधिक अथवा निरवधिक परित्याग
अनासक्त	आसक्ति रहित । निर्मोह ।
अनुकम्पा	दया । किसी की पीडा या विवशता देखकर आत्मा में होने वाला कम्पन ।
अनुप्रेक्षा	तर्क-वितर्क युक्त मनन ।
अनेकान्तवाद	स्याद्वाद । प्रत्येक वस्तु मे अनन्त स्वभावो का अस्तित्व स्वीकार करने वाला अभिमत ।
अन्तराय	प्राप्ति में विघ्न डालने वाला कर्म । विघ्न ।
अन्तर्दृष्टि	आत्म-दृष्टि । सयम मूलक दृष्टि ।
अन्तर्ध्वनि	अन्दर से उठने वाली आवाज । आत्मा की आवाज ।
अन्तर्मुहूर्त्त	एक मुहूर्त्त ४८ मिनिट का होता है, उसका प्रथम और अन्तिम समय छोडकर शेप उसके अन्तर्गत कोई भी काल ।

आगम	जैन सूत्र । आप्तवाणी ।
आगमानुमोदित	शास्त्र-सम्मत ।
आगार	छूट । अपवाद ।
आचार	आचरण । चरित्र ।
आचार्य	गुरु । मार्ग-दर्शक । आचार-सम्बन्धी शिक्षा देने का अधिकारी ।
आछ	छाछ को उष्ण करने के कुछ समय पश्चात् उस पर नितर आने वाला पानी ।
आण	शपथ । आज्ञा ।
आतापना	सूर्य का आताप सहने की तपस्या ।
आत्मगुण	आत्मा का सहभावी धर्म ।
आत्म-प्रदेश	आत्मा का वह अविभाज्य काल्पनिक अवयव, जो परमाणु जितना होता है ।
आत्मयज्ञ	आत्मशुद्धि का उपाय ।
आत्मवाद	आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला अभिमत ।
आत्म-साधना	आत्मा को निर्मल करने वाले साधनों का अनुष्ठान ।
आत्मा	चेतनावान् द्रव्य । जीव ।
आत्मानुकंपी	जिसकी साधना का उद्देश्य जन-सुधार न होकर केवल आत्म-शोधन ही होता है ।
आत्मानुशासन	अपने पर अपना नियन्त्रण ।
आत्मार्थिता	निष्काम सेवा-परायणता । आत्माभिमुखता । निर्जरार्थिता ।
आधाकर्म	भिक्षाचरी सम्बन्धी एक दोष । साधु के निमित्त बनाया गया आहार, मकान आदि ।
आध्यात्मिकता	आत्माभिमुखता ।
आम्नाय	परम्परा । सम्प्रदाय ।
आर्या	साध्वी ।
आलोचना	ज्ञात-अज्ञात दोष का प्रायश्चित्त । गुरु के सम्मुख आत्मदोष का प्रकाशन ।
आलोयणा	ज्ञात-अज्ञात दोष का प्रायश्चित्त । गुरु के सम्मुख आत्मदोष का प्रकाशन ।
आसन	सन्यासियों के एक सम्प्रदाय का निवास-स्थान ।
इंगित	संकेत । इशारा ।

इन्द्रिय	जिनके द्वारा शब्दादि नियत विषयों का ज्ञान होता है।
इन्द्रियवादी	इन्द्रियों को सावद्य मानने वाली परम्परा के अनुयायी।
इष्टदेव	आराध्य व्यक्ति।
उकाली	गरम मसालों से बनाया गया एक पेय। मिर्च-पताली।
उत्क्रान्ति	संघर्षपूर्वक लाया गया परिवर्तन।
उत्सर्पिणी	कालचक्र का द्वितीय अर्धभाग जो कि दस कोटि-कोटि सागर का होता है। जिस काल में हर वस्तु का उत्कर्ष होता है। जिस काल में क्रमशः दुःख का ह्रास व सुख की वृद्धि होती है।
उदक	पानी।
उदय	कर्मों की वेदावस्था।
उद्दिष्ट	साधु के निमित्त बनाया गया आहार, स्थान आदि। भिक्षाचरी का एक दोष।
उपकार	सहयोगप्रदान।
उपधि	वस्त्र पात्र आदि उपकरण।
उपनिषद्भूत	सारभूत।
उपयोग	चेतना की प्रवृत्ति।
उपसर्ग	उपद्रव। कष्ट।
उपाश्रय	यति तथा संवेगी मुनियों के ठहरने का स्थान।
उभयानुकम्पी	जिसकी साधना स्व और पर—दोनों के कल्याणार्थ चलती है।
उवगरण	उपकरण। वस्त्र पात्र आदि वस्तुएं।
ओसन्ना	शिथिलाचारी साधु। सामाचारी में प्रमाद करने वाला।
ऊहापोह	तर्क वितर्क।
एकल विहारी	अकेला रहने वाला श्रमण।
एकान्तर उपवास	एक दिन के अन्तर से निराहार रहना।
एकान्तर तप	एक दिन के अन्तर से निराहार रहना।
ओघा	रजोहरण। जैन मुनियों का एक उपकरण जो कि भूमि प्रमार्जन आदि कामों में आता है।
ओरण	गांव के बाहर की खुली छोड़ी गई भूमि (यह शब्द अरण्य से बिगड़ कर बना है)।
ओरी	कोठरी।
कच्चा जल	सचित्त पानी।

कर्म	आत्मा की सत् या असत् प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर उसके साथ सबद्ध होने वाले पुद्गल ।
कल्प	आचार की सीमा ।
काठा	सीमांत प्रदेश ।
कारी	फटे वस्त्र के छेद पर लगाया जाने वाला वस्त्र-खण्ड । पैवन्द । थेगली ।
काल	मृत्यु । समय ।
कालचक्र	बीस कोटि-कोटि सागर-प्रमाणकाल, जिसका प्रथमार्द्ध अवसर्पिणी और द्वितीयार्द्ध उत्सर्पिणी काल होता है ।
काल-परिपाक	किसी घटना या कार्य के लिए समय की उपयुक्त अवधि का आ जाना ।
कालवादी	जीवादि द्रव्यो की पर्यायो को काल में अन्तर्गर्भित करने वाली मत-परम्परा के अनुयायी ।
कासीद	सदेशवाहक । चिट्ठी-पत्री ले जाने वाला । हरकारा । पद-यात्रा में सेवा के लिए नियुक्त व्यक्ति ।
कोडीनगरा	एक प्रकार का रोग ।
कुशीलिया	शिथिलाचारी साधु । मूल तथा उत्तर गुणो में दोष लगाने वाला ।
कूत	अनुमानित प्रमाण ।
केवलज्ञान	पूर्णज्ञान ।
केवली	सर्वज्ञ ।
केशलुचन	केशो को हाथ से उखाडना ।
कैवल्य	पूर्णज्ञान ।
क्रान्तद्रष्टा	असाधारण चिन्तक । भविष्य की पर्तो में छिपी बात को भी देख लेने वाला ।
क्रियोद्धार	शिथिलाचार को हटाकर शुद्धाचार की स्थापना ।
क्षमाश्रमण	जैनाचार्यो की एक उपाधि ।
क्षयोपशम	घातिकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का विपाक—वेद्याभाव ।
खमतखामणा	क्षमायाचना और क्षमादान ।
खाडा	अपूर्ण । खडित ।
गच्छ	सम्प्रदाय । श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक आचार्यों द्वारा विभिन्न समयो में स्थापित विभिन्न सगठन ।

गच्छवासी	मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय ।
गडुरी प्रवाह	भेड़चाल । अविचारित अनुसरण ।
गण	जैन मुनियों की एक संगठनात्मक इकाई । एक आचार्य का संगठित शिष्य-समूह । कुल-समूह ।
गणधर	गण का मुखिया । भगवद्वाणी को आगमरूप में ग्रथित करने वाला । तीर्थंकर के बाद जैन श्रमण-संघ का सर्वोच्च पदाधिकारी ।
गणधरवंश	एक ही गण के आचार्यों की क्रमिक परम्परा ।
गणाचार्य	गण की चारित्रिक सुव्यवस्था करने वाला । एक ही गण की परम्परा में होने वाले आचार्य ।
गम	गमा । अर्थ-भेद का बोध कराने वाला विकल्प ।
गवेषणा	अन्वेषण । जैन श्रमणों द्वारा भिक्षा की निर्दोषता के सम्बन्ध में की जाने वाली पूछताछ ।
गहना	आभूषण ।
गाथा	एक पद्य विशेष । लेखन या लिपीकरण का एक माप । तेरापन्थ श्रमण-संघ की एक ऐसी पूंजी जो लेखन लिपीकरण या सेवा द्वारा अर्जित की जाती है ।
गुण	वस्तु का सहभावी धर्म । शक्ति का सबसे छोटा अंश ।
गुणस्थान	आत्मा की क्रमिक विशुद्धि का माप-दण्ड ।
गुप्ति	संयम के प्रतिकूल प्रवृत्तियों का निरोध । मन वचन और काया का निग्रह ।
गुरु	आचार्य । सन्मार्ग द्रष्टा । साधु । आचार सम्बन्धी शिक्षा देने का अधिकारी ।
गुरु-धारणा	गुरु-मन्त्र का ग्रहण । गुरु बनाने की प्रक्रिया ।
गुरु-भाई	एक गुरु द्वारा दीक्षित ।
गोचरी	जैन मुनियों का विधिवत् आहार-याचन । भिक्षाटन । माधुकरी ।
गोठ	उद्यान आदि में की गई आमोद प्रमोद युक्त भोजन-व्यवस्था ।
गोला	दास ।
घाट	राजस्थान का एक भोज्य पदार्थ ।
चतुर्विध संघ	जैन धर्म का वह संगठन जिसके साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका— ये चार अङ्ग होते हैं ।
चरणामृत	वह जल जिसमें किसी देवता महात्मा या गुरुजन के पैर धोये गये हों ।

चर्चा	शास्त्रार्थ । विचार-विमर्श ।
चर्या	आचरण । कार्य-परम्परा ।
चलावा	शवयात्रा से दाहक्रिया तक के कार्य ।
चातुर्मास	वर्षाकाल । श्रावण प्रतिपदा से कार्त्तिक पूर्णिमा तक के चार महीने ।
चातुर्याम धर्म	अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्धादान—इन चार महाव्रतों को मान्य करने वाला धर्म । भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म ।
चारित्र	सम्यक् आचार । सयम।
चारित्रमोह	मोहनीय कर्म का एक भेद, जो कि सम्यक् चारित्र का अवरोधक होता है।
चारित्रात्मा	सयमी व्यक्ति ।
चितारना	कठस्थ पाठ को अविस्मृति के लिए पुन पुनः दुहराना ।
चिलम	मिट्टी से बनी हुई ऐसी नलिका, जिसके एक सिरे पर तमाखू और आग रखकर दूसरे सिरे से धुआ खीचा जाता है ।
चैत्यवासी	उग्र विहार छोडकर मन्दिरों के परिपार्श्व में बस जाने वाले जैन श्रमण तथा उनके अनुयायी । यति सम्प्रदाय । द्राविड सघ ।
चोखला	ग्राम-मण्डल । मुनि-मण्डली के लिए प्रतिवर्ष निर्धारित किया जाने वाला विहार-क्षेत्र ।
चोलपट्टा	कटिपट । शरीर के अधोभाग पर पहनने का लुगीनुमा वस्त्र ।
चौक	चार वस्तुओं का समूह ।
चौविहार उपवास	निर्जल उपवास । जिस उपवास में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—इन चारो प्रकार के आहार का परित्याग होता है ।
छतरी	मृतक की स्मृति में बनवाया गया छत्राकार स्मारक ।
छद्मस्थ	असर्वज्ञ ।
छुटभाई	छोटा भाई या उसकी वश-परम्परा ।
छेदोपस्थापनीय चारित्र	जिसमें महाव्रतो की विभागत उपस्थापना की जाती है ।
जनपद-विहार	पादचार मे ग्रामानुग्राम भ्रमण ।
जिन-कल्पिक	अकेले रहकर विशिष्ट प्रकार से साधना करने वाले मुनि ।
जिन-भाषित	भगवान् द्वारा प्ररूपित ।
जिनेश्वरदेव	अरिहत भगवान् ।
जैनधर्म	जिन-द्वारा प्रवर्त्तित आत्मशुद्धि का मार्ग ।

तीर्थङ्कर	साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना करने वाला। जिनधर्म-प्रवर्त्तक। भगवान्।
तीर्थ-प्रवर्त्तन	धर्म-प्रवर्त्तन। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना।
तेरापंथ	(१) आचार्यश्री भीखणजी द्वारा प्रवर्त्तित एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय। (२) दिगम्बर विद्वान् बनारसीदासजी के 'बनारसी मत' का अर्वाचीन नाम। 'बनारसी मत' का उल्लेख आगे आया है।
तेला	लगातार तीन दिनों का उपवास।
तोद्र-गवेषक	बार-बार कहलवा कर काम करने वाला। अड़ियल।
त्याग	इन्द्रिय-सुखों को छोड़ना। निवृत्ति।
थेगड़ी	फटे वस्त्र के छेद पर लगाया जाने वाला वस्त्र-खण्ड। पैवन्द। कारी।
दया	अनुकम्पा। आत्म-पतन से रक्षा। प्राण-रक्षा। दुःख-प्रतिकार।
दया-धर्म	लोकागच्छ का एक नाम।
दर्शन	सम्यक् श्रद्धा।
दलबन्दी	गुटबाजी।
दान	स्व-पर-उपकारार्थ अपनी वस्तु का दूसरों को वितरण करना।
दिगम्बर	जैनों का वह सम्प्रदाय, जो मुनि के लिए नग्नत्व अनिवार्य मानता है।
दीक्षा	महाव्रतों का स्वीकरण। सन्यास।
दीक्षा-पर्याय	दीक्षा की अवधि।
दुधारी तलवार	दोनों ओर धारवाली तलवार।
दुर्गति	बुरी गति। नरक और तिर्यंच गति।
दुष्षमकाल	कलिकाल। पंचम आरा।
देव	धर्म-मार्ग-संस्थापक। अरिहन्त। पूज्य व्यक्ति।
देवानुप्पिय	एक कोमल तथा प्रिय सम्बोधन, जिसका अर्थ होता है—देवताओं का प्यारा।
देशऊन	आंशिक न्यून। कुछ कम।
द्रव्य	पदार्थ। वस्तु। गुण और पर्याय का आश्रय।
द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव	वस्तु का वह स्वपर-चतुष्टय, जिससे एक वस्तु से दूसरी का पृथक्त्व समझा जाता है।
द्रव्यदीक्षा	वह दीक्षा, जिसमें केवल परिपाटी या वेष का ही पोषण होता है, संयमानुकूल गुणों का नहीं।
द्रव्य-परम्परा	अशुद्ध-परम्परा। शिथिलाचारी मुनियों की परम्परा।

जैनशासन	जैन संघ । जिनाज्ञा को मानकर चलने वाला समुदाय ।
जोड़	राजस्थानी भाषा की पद्य-रचना ।
जोड़ीपल्ला	जिनसे पात्र को अन्तिम रूप से साफ करने में काम आने वाला वस्त्र-खण्ड ।
झोलका	बड़ी झोली जिसमें वस्त्र पात्र रखकर कंधे पर उठाये जाते हैं ।
झोली	वह वस्त्र जिसमें गोचरी के समय पात्र रखे जाते हैं ।
टालोकर	वह व्यक्ति जो संघ से पृथक हो गया हो या कर दिया गया हो ।
टीकाकार	व्याख्याकार । सूत्र या ग्रन्थों का विस्तृत अर्थ लिखने वाला ।
टोला	उपसम्प्रदाय । समुदाय ।
ठाकुर	ग्राम का अधिपति । क्षत्रियों की एक उपाधि ।
ठाम	पात्र ।
ठिकाणा	ग्रामाधिपति का निवास-स्थान । क्षत्रिय जागीरदार का गढ़ या हवेली । मुनिजन ठहरे हुए हों वह स्थान ।
डाम	गरम की हुई लोह-शलाका से शरीर पर लगाया गया दाग ।
डीकरी	पुत्री ।
ढाल	गीतिका । चमड़े या लौह से बना हुआ एक सुरक्षोपकरण जो कि तलवार आदि के आघात को रोकने के काम आता है ।
ढूंढिया	स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्राचीन नाम ।
नमस्कार मन्त्र	जैनों का सर्वश्रेष्ठ मन्त्र जिसमें पंच-परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है ।
तत्त्व	सारभूत वस्तु । यथार्थता । आत्मा के बन्धन और मोक्ष में हेतुभूत पदार्थ ।
तत्त्वचिन्तन	बंध बंधहेतु, मोक्ष मोक्ष-हेतु—इन चारों का चिन्तन ।
तपश्चर्या	आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली एक विशिष्ट साधना जिसमें अन्न पानी आदि बाह्य पदार्थों तथा क्रोध-मान आदि आन्तरिक दोषों का परिहार होता है ।
तहत्त	गुरुजनों के कथन की स्वीकृति का सूचक शब्द जिसका अर्थ होता है—'सत्य है' ।
तारण तरण समाज	तारण स्वामी द्वारा स्थापित दिगम्बर जैन-परम्परा का एक अमूर्ति पूजक सम्प्रदाय ।
तीन आहार	पानी के अतिरिक्त शेष तीन आहार (अशन खाद्य और स्वाद्य) ।

पंचमआरा	कलिकाल। दुष्षमकाल। अवसर्पिणी काल का पचम तथा उत्सर्पिणी काल का द्वितीय खड।
पचम काल	कलिकाल। पचम आरा।
पचयाम	पचमहाव्रत।
पछेवडी	प्रच्छदपट। शरीर के ऊपरी भाग पर ओढने का चादरनुमा वस्त्र।
पट्टावलि	पट्ट-परम्परा।
पडिलेहन	निर्धारित समय पर वस्त्र-पात्र आदि का निरीक्षण। प्रतिलेखन।
परठना	अनुपयोगी वस्तु का यथाविधि विसर्जन। परिष्ठापन।
परिग्रह	मूर्च्छाभाव। आसक्तिभाव। धनधान्य आदि का सग्रह।
परिणाम	विचार। अध्यवसाय। भावना।
परिवर्त्तना	कठस्थ पाठ को अविस्मृति के लिए पुनः पुन दुहराना।
परिष्ठापन	अनुपयोगी वस्तु का यथाविधि विसर्जन। परठना।
परीषह	मुनि-जीवन में उत्पन्न होने वाले कष्ट। उपसर्ग।
परोक्षवादी	अप्रस्तुत की आशा में प्रस्तुत की उपेक्षा करने वाला। दृष्ट से अधिक अदृष्ट को महत्त्व देने वाला।
पर्याय	वस्तु का क्रमभावी धर्म।
पर्यूषण पर्व	जैनों का एक धार्मिक पर्व, जो कि भाद्रमास में मनाया जाता है।
पलथी	बैठने की एक पद्धति, जिसमें पैरों के पजो को अपने से दूसरे पैर के पट्ठे के नीचे दबाया जाता है।
पश्चात् कर्म	भिक्षाचरी का एक दोष। साधु को आहार आदि देने के पश्चात् तत्सम्बन्धी आरम्भ करना।
पहर	प्रहर। दिन या रात्रि का चतुर्थांश।
पहाडा	किसी अक के एक से लेकर दस तक के गुणनफलो की क्रमागत सूची।
पाती	विभाग।
पाडिहारिय	वह याचित वस्तु, जो उपयोग के पश्चात् वापस सौंपी जा सकती है।
पात्र-दान	मोक्ष-दान के योग्य व्यक्ति को देना।
पात्री	काठ का बरतन।
पानीझरा	मियादी बुखार। छोटी शीतला। मोतीझरा।
पाप	अशुभ कर्म।
पारण	निराहार रहने के पश्चात् उसकी पूर्ति पर प्रथम आहार। तपस्या की पूर्ति।

द्रव्य-संयम	संयम के गुणों से शून्य केवल वेष-धारण।
द्राविड़ संघ	एक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। चैत्यवासी संघ।
धड़ा	वह पत्र जिसमें प्रत्येक 'साधु' की आहार सम्बन्धी अनुमानित आवश्यकता लिखी जाती है।
धर्म	जो आत्मशुद्धि का साधन होता है।
धर्म कथा	धर्म-सम्बन्धी बात। व्याख्यान।
धर्म-तीर्थ	धर्मानुशीलन के लिए उपयोगी व्यवस्था।
धर्म शासन	धर्म-संघ। धार्मिक व्यवस्था।
धर्मानुरागी	धर्म के प्रति अनुराग रखने वाला। श्रद्धालु।
धोवन	अचित्त पानी। वह पानी जिसमें कोई चीज धोई गई हो।
ध्यान	एकाग्रचिन्तन। योग निरोध।
नमोत्थुणं	आवश्यक सूत्र का 'शक्रस्तुति' नामक पाठ।
नरक	अधोलोक के वे स्थान जिनमें घोर पापाचारी जीव उत्पन्न होते हैं और अपने कर्मों का फल भोगते हैं।
नांगला	पुस्तकों का बन्धा हुआ ऐसा जोड़ा जो कंधे के दोनों ओर लटकाया जा सकता है।
नित्यपिण्ड	जैन श्रमणों का भिक्षाचरी सम्बन्धी एक दोष। नित्य एक घर से ग्रहण किया गया भोजन।
निरवद्य	पापरहित। निर्दोष।
निर्ग्रन्थ	जैन श्रमण। अपरिग्रही। आन्तरिक और बाह्य ग्रन्थियों को तोड़ने वाला।
निर्वाणपद	मोक्ष। समस्त कर्मों की समाप्ति पर प्राप्त होने वाली अवस्था।
निर्विकल्प	संशय रहित।
निश्राय	ममत्व रहित उपयोग। स्वामित्व तथा अधिकार की भावना को विसर्जित कर वस्तु और उसके उपभोक्ता का सम्बन्ध द्योतन करने वाला शब्द।
निष्क्रमण	प्रव्रज्या के लिए गृह-त्याग। बाहर निकलना।
निह्नव	मिथ्या करने वाला। श्रमण संघ से पृथक होने वाला वह व्यक्ति, जो जिन भाषित मान्यता का विरोध करने लगता है।
नेगचार	विवाह आदि के अवसर पर सेवा प्रदत्त व्यक्तियों के लिए बंधा हुआ पारम्परिक देय। पारम्परिक अनुष्ठान।
नेव	ढलान की छत वाले मकान का छज्जेनुमा बाहर निकला हुआ भाग।

प्रमाद	अनुत्साह। आलस्य।
प्रमादी	आचार-पालन में असावधानी करने वाला। आलसी।
प्रमार्जनी	रजोहरण का छोटा रूप, जो कि शरीर-प्रमार्जन या सस्तारक प्रमार्जन आदि कामो में आता है।
प्ररूपण	मन्तव्यो की निश्चायक रूप से उद्घोषणा। मन्तव्यो का व्याख्यापूर्वक कथन।
प्रव्रजित	दीक्षित।
प्रसाद	देवता आदि को चढाने के वाद वची हुई वस्तु।
प्रायश्चित्त	विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।
प्रासुक	अचित्त। जीव-रहित।
फड्द	चातुर्मासिक स्थानों का सूचीपत्र।
वध	आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का सम्वन्ध।
वधामणा	वर्धापन। आनन्ददायक वात की सूचना।
वनारसीमत	दिगम्वर विद्वान् वनारसीदासजी के अभिमत पर स्थापित सम्प्रदाय दिगम्वर तेरापन्थ।
वनौरा	दीक्षा ग्रहण करने वाले या विवाह करने वाले व्यक्ति की शोभा-यात्रा तथा उसे दिया जाने वाला भोज।
वहराना	मुनिजनों को आहार आदि कोई भी वस्तु प्रदान करना।
वहिर्धादान	चतुर्थ याम। मैथुन और परिग्रह का सम्मिलित नाम। धर्मोपकरणो के अतिरिक्त किसी भी वाह्य वस्तु का आदान।
वहीखाता	आय-व्यय लिखने की पुस्तक।
वाईसटोला	स्थानकवासी सम्प्रदाय।
वारहव्रत	श्रावकों के लिए आदरणीय नियम, जो कि सख्या मे १२ होते है। गृहिधर्म।
वाह्य दृष्टि	भोगमूलक दृष्टि। भौतिक पदार्थों से आक्रान्त दृष्टि।
वीसपथ	दिगम्वर भट्टारक-सम्प्रदाय का अर्वाचीन नाम।
वैकुण्ठी	शव-यात्रा के लिए विमानाकार बनाई गई अरथी।
वोधि प्राप्ति	सत्य को पाना। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति।
वोल	मान्यता सम्वन्धी वात।
वौद्ध	बुद्ध के अनुयायी।
वौद्धधर्म	बुद्ध के द्वारा प्रवर्त्तित धर्म।

पारगमन	पूर्ण रूप से अध्ययन। आद्योपान्त पठन। पार-प्राप्ति।
पासत्था	शिथिलाचारी साधु। आचारादि विराधक। [illegible]
पुण्य	शुभकर्म।
पुद्गल-आसक्ति	भौतिक पदार्थों के प्रति अनुराग।
पूंजना	प्रमार्जन करना। पोंछना। बुहारना।
पूठा	हस्तलिखित पत्रों की सुरक्षा के लिए बनाया गया लकड़ी या गत्ते का घर।
पूणी	कातने के लिए बनाई गई रुई की लच्छी या पिण्डी।
पूर्व	दृष्टिवाद नामक अंगसूत्र का एक भाग। चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणन करने पर, जो संख्या उत्पन्न होती है उतने वर्षों का कालमान (अर्थात् ७०५६० ००००००० वर्ष प्रमाण काल एक पूर्व कहलाता है।)
पृच्छना	तत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा करना। पूछना।
पोतियाबंध सम्प्रदाय	जैनों का एक उपासक सम्प्रदाय जिसके सदस्य अपने सिर पर सफेद कपड़ा बांधते और साधु की तरह चर्या करते थे।
पौद्गलिक सुख	वस्तु-जन्य सुख। भौतिक सुख।
पौषध	एक दिन रात के लिए सावद्य प्रवृत्ति से निवृत्ति। श्रावकों का ग्यारहवाँ व्रत।
प्रकृति	स्वभाव।
प्रतिक्रमण	जैन साधक की एक आवश्यक क्रिया जो कि ज्ञात अज्ञात में हुए दोषों के प्रायश्चित्तार्थ रात्रि के प्रथम और अन्तिम मुहूर्त में की जाती है।
प्रतिबुद्ध	सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला। दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत।
प्रतिबोधित	जिसे सम्यक् बोध दिया गया हो।
प्रतिलेखन	निर्धारित समय पर वस्त्र-पात्र आदि का निरीक्षण। पडिलेहण।
प्रत्यक्ष	स्पष्टतया निर्णय करने वाला ज्ञान। साक्षात् ज्ञान।
प्रत्यक्षवादी	अप्रस्तुत की भाषा में प्रस्तुत की अपेक्षा न करने वाला। अदृष्ट से अधिक दृष्ट को महत्त्व देने वाला।
प्रत्युत्पन्न बुद्धि	तत्पर बुद्धि। मौके या ठीक समय पर उपजने वाली बुद्धि। उपस्थित बुद्धि।
प्रमाण	यथार्थ निर्णायी ज्ञान। यथार्थ निर्णय का साधन।

मिश्रक्रिया	वह क्रिया जिसमें कुछ पुण्य और कुछ पाप-दोनो का बधन होना माना जाता है।
मिश्रबध	आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का वह बन्धन, जिसमें पुण्य और पाप—दोनो एक क्रिया-सापेक्ष हो।
मीमासा	किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए की गई तात्त्विक विचारणा।
मुहपट्टी	मुख-वस्त्रिका। वायुकाय की यत्ना के लिए मुख पर बाधा जाने वाला वस्त्र।
मुक्ति	आत्मस्वरूप की उपलब्धि। सम्पूर्ण कर्मो से छुटकारा। सिद्धावस्था।
मुखवस्त्रिका	वायुकाय की यत्ना के लिए मुख पर बाधा जाने वाला वस्त्र।
मुमुक्षु	मुक्त होने की इच्छा रखने वाला। साधु।
मुहूर्त्त	दिन-रात का तीसवाभाग। एक कालमान, जो कि ४८ मिनट जितना होता है।
मूर्च्छा	ममत्व। आसक्ति।
मूलसघ	एक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। वनवासी सघ।
मोतीझरा	मियादी बुखार। छोटी शीतला। पानीझरा।
मोदक	लड्डू।
मोभी	प्रथम पुत्र। सबसे बडा पुत्र।
मोह	घातिकर्म का एक भेद। दर्शन और चारित्र का घात कर आत्मा को व्यामूढ बना देने वाले कर्म-पुद्गल।
युगप्रधान आचार्य	अपने युग का सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य।
योग	मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।
रजोहरण	जैन मुनियों का एक उपकरण, जो कि भूमि-प्रमार्जन आदि कामों में आता है। ओघा।
रण	क्षारमय भूमि। जहाँ वर्षा ऋतु में समुद्र का पानी भर जाता है, वह भूमि।
रत्नत्रयी	सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र का सम्मिलित नाम।
रस्तान	पानी के पात्रो को ढाकने में काम आने वाला वस्त्र।
राग	मोह। अनुरक्ति। आसक्ति। अनुग्रह की भावना जगाने वाला स्नेह।
रात्निक	दीक्षा-पर्याय में बडा।
रोक रुपया	नकद रुपया।

ब्रह्मचर्य — मैथुन विरमण । जननेन्द्रिय का संयम । विकार-वर्जन ।

भंडोपकरण — वस्त्र-पात्र आदि वस्तुएं ।

भगवान् — तीर्थंकर ।

भट्टारक — एक उपाधि । दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के वे साधु, जो शिथिल होकर मठों में रहने लगे ।

भट्टारक सम्प्रदाय — दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का एक प्राचीन संगठन ।

भद्र-परिणामी — सरल-स्वभावी । निष्कपट ।

भविष्यवाणी — घटित होने से पूर्व किसी बात की की गई घोषणा ।

भावदीक्षा — वह दीक्षा जिसमें संयम के वास्तविक गुणों को जीवन में उतारा जाता है । वास्तविक संयम ।

भाव-परम्परा — गुरु-परम्परा । यथोपदिष्ट आचार पालने वाले मुनियों की परम्परा ।

भाव-संयम — वास्तविक संयम । गुणयुक्त संयम ।

भाष्यकार — सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करने वाला ।

भिक्षु चरमोत्सव — आचार्य भिक्षु के दिवंगत होने की तिथि को प्रति वर्ष मनाया जाने वाला उत्सव ।

भिलावा — भिल्लातक नामक औषध ।

भोग — इन्द्रिय सुख । भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति ।

मंगलपाठ — मंगल के लिए स्मरणीय पाठ ।

मंडलिया — भोजन के समय सामग्री रखने के लिए बिछाया जाने वाला वस्त्र ।

मठ — साधुओं के निवासार्थ बनाया गया मकान । वह मकान जिसमें एक महंत की अधीनता में अनेक साधु रहते हैं ।

मढ़ी — छोटा मठ । साधुओं के निवासार्थ बनाया गया मकान ।

मताग्रह — अपनी मान्यता का आग्रह । मतपक्ष ।

मध्यम मार्ग — बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मार्ग । सब प्रकार की 'अति' को छोड़ने वाला मार्ग ।

मर्यादा — धर्मसंघ की सुव्यवस्था के लिए बनाया गया नियम । सीमा ।

मर्यादानुवर्तिता — नियमों के अनुसार चलने की वृत्ति ।

महाव्रत — हिंसा असत्य चोरी अब्रह्म और परिग्रह का पूर्ण त्याग । अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण पालन ।

मिथ्यात्व — विपरीत तत्त्व श्रद्धा ।

[illegible] — [illegible] किया गया भेंट ।

ोसराना	त्यागना। व्युत्सर्ग करना। अपना सम्बन्ध या अधिकार हटा लेना।
यग्यार्थ	प्रकटनीय अर्थ। प्रतिध्वनित होने वाला अर्थ।
युत्क्रान्त	निष्क्रान्त। ग्रह का किसी राशि पर से हटना।
युत्सर्ग	परित्याग। विसर्जन।
त	सावद्य प्रवृत्ति का त्याग। प्रत्याख्यान।
शासन	जैन-सघ। जिनाज्ञा को मानकर चलने वाला समुदाय।
शीतदाह	वह ज्वर, जिसमें अत्यन्त शीत अनुभव होता है।
शुभयोग	मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति।
शैक्ष	नवदीक्षित।
श्रद्धा	सम्यग् दर्शन। मान्यता। विश्वास।
श्रमण	अपने श्रम से अपना उत्थान करनेवाला जैन या बौद्ध भिक्षु।
श्रावक	श्रद्धा-पूर्वक शास्त्र-श्रवण करने वाला जैन गृहस्थ। व्रतधारी गृहस्थ। देशव्रती। श्रद्धावान् गृहस्थ।
श्रावक व्रत	गृहस्थ धर्म। गृहस्थो के लिए उपदिष्ट बारह व्रत।
श्री सघ	जैन सघ। श्रावको का साधर्मिकता के आधार पर चलने वाला धार्मिक व सामाजिक सगठन। थली के ओसवालों में सामाजिक झगडे के समय स्थापित एक पक्ष, जो कि विदेश जाने वालों तथा उनके साथ खान-पान करने वालों को जाति-बहिष्कृत करने का पक्षपाती था।
श्रुत	आगम। वह ज्ञान जो शब्द या सकेत आदि के द्वारा दूसरो को समझाया जा सकता है।
श्वेताम्बर	जैनों का वह सम्प्रदाय, जो मुनि के लिए श्वेत-वस्त्रों का परिधान मान्य करता है।
सकल्प	प्रतिज्ञा। त्याग। किसी दुर्व्यसन या वस्तु-विशेष को छोडने का निर्णय।
सक्रान्त	प्रविष्ट। ग्रह का एक राशि मे दूसरी राशि में प्रवेश।
सघनायक	आचार्य।
सज्ञी	समनस्क प्राणी। गर्भजप्राणी।
सतवाणी	सतों द्वारा रचित वैराग्य-युक्त पद्यावलि।

लवाजमा	परिकर। अधिकार पद और वैभव को प्रदर्शित करने वाली शोभा सामग्री।
लिखित	लेखपत्र।
लूहणा	पात्र को पोंछने में काम आने वाला वस्त्र-खण्ड।
लोंकागच्छ	लोंकाशाह के नाम पर स्थापित सम्प्रदाय।
लोंकामत	लोंकाशाह का प्रवर्तित मत। लोंकागच्छ।
लोंकाशाह की हुण्डी	लोंकाशाह द्वारा रचित आचार विचार सम्बन्धी एक ग्रन्थ।
लोकधर्म	लौकिक अभ्युदय करने वाला कार्य।
लोकोत्तर धर्म	आत्मोदय करने वाला कार्य। निःश्रेयस् या मोक्ष का साधन।
लोगस्स	आवश्यक सूत्र का 'उत्कीर्तन' नामक पाठ।
लोट	तुम्बे पर रंग-रोगन करके बनाया गया पात्र।
वनवासी	एक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। मूल संघ
वाचक	आगमों की वाचना देने वाला। एक उपाधि।
वाचकवंश	वाचनाचार्यों की कालक्रमानुसारी परम्परा। विद्याधरवंश।
वाचना	पठन। आगमों का बोध-पूर्ण पठन।
वाचनाचार्य	गण की शैक्षणिक सुव्यवस्था करने वाला।
वायुकाय	वायु को ही शरीर रूप में धारण करने वाले सूक्ष्म जीव।
वाछती	रेजी। मोटा और गाढ़ा वस्त्र।
विगय	वे भोज्य पदार्थ जो मात्रा का ध्यान रखे बिना खाने पर विकार उत्पन्न कर देते हैं। दूध दही घृत तैल मीठा और तले हुए पदार्थ—ये छह 'विगय' कहलाते हैं।
विद्याधर वंश	वाचनाचार्यों की कालक्रमानुसार परम्परा। वाचकवंश।
विधिमार्गी	संवेगी-सम्प्रदाय का एक प्राचीन नाम।
विराग	भोग-वृत्ति से पराङ्मुखता। सांसारिकता से विरक्ति।
विलायती	बम्बई के ओसवालों में सामाजिक झगड़े के समय स्थापित एक पक्ष जो कि विदेश जाने वालों व उनके साथ खान-पान करने वालों को जाति-बहिष्कृत करने का विरोधी था।
विहार	श्रमणों की पदयात्रा।
वेद	वैदिकों के धर्मग्रन्थ।
वेदविद्	वेदों का ज्ञाता।
वेषधारी	संयमोचित आचार को छोड़कर केवल वेष धारण करने वाला।

सामायक — एक मुहूर्त के लिए सावद्य प्रवृत्ति से निवृत्ति। श्रावकों का नवमा व्रत।

सामायक चारित्र — पाच प्रकार के चारित्रो मे से प्रथम। सामायक-सूत्र के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला चारित्र। प्रारम्भिक चारित्र।

सामायक-सूत्र — दीक्षा ग्रहण करते समय उच्चारित किया जाने वाला आगम पाठ। दीक्षा-सूत्र।

सामिवच्छल — सार्धमिको को दिया जाने वाला भोज। सार्धमिको के प्रति वात्सल्य।

सारणा-वारणा — उचित का प्रसारण और अनुचित का निवारण।

सावद्य — पाप-सहित। सदोष।

सिंघाडा — जैन मुनियों की ऐसी मण्डली, जिसमें एक मुखिया होता है और शेष उसके आज्ञावर्ती।

सिद्ध — परमात्मा। मुक्तात्मा। जिसने सब कर्मो का नाश कर दिया।

सुखैषी — सुख की खोज में रहने वाला। सुख में आसक्त।

सुविहित मार्गी — सवेगी-सम्प्रदाय का एक प्राचीन नाम।

सूत्र — आगम। थोडे मे अधिक अर्थ व्यक्त करने वाला पद या वाक्य।

स्थंडिलभूमि — शौचभूमि। गाव के बाहर का स्थान, जहाँ मलोत्सर्ग के लिए जाया जाता है।

स्थविर कल्पिक — सघ में रहकर साधना करने वाले मुनि।

स्थविरावलि — प्राचीन आचार्यों की पट्ट-परम्परा।

स्थानक — स्थानकवासी साधुओ के ठहरने का स्थान।

स्थानकवासी — बाईस टोला। स्थानकों में रहने वाले श्रमण और उनके अनुयायी।

स्याद्वाद — अनेकान्तवाद। जैनदर्शन। परस्पर विरोधी धर्मों में भी अपेक्षा भेद से अविरोध मानने वाला मत।

स्याद्वादी — अनेकान्तवादी। जैन। परस्पर विरोधी धर्मों मे भी अपेक्षा-भेद से अविरोध मानने वाला।

स्वर्ग — देवों के रहने का स्थान।

स्वाध्याय — काल आदि की मर्यादा से किया जाने वाला अध्ययन। आत्म विषयक चिन्तन।

संत-समागम	संतों की संगति।
संथारा	आजीवन के लिए आहार का परित्याग।
संन्यासी	योगी।
संभोग	समान समाचारी वाले साधुओं का आहारादि विषयक सम्मिलित व्यवहार।
संयम	सब प्रकार के सावद्य कार्यों से विरति। सम्यक् चारित्र।
संलेखना	उपवास आदि तपस्या। निर्धारित दिनों तक आहार का परित्याग।
संविग्न	एक जैन सम्प्रदाय। संवेगी।
संस्कृति	आचार और व्यवहार सम्बन्धी वे संस्कार जो परम्परा से पुष्ट तथा वर्तमान को उत्प्रेरित करने वाले होते हैं।
संहनन	शरीर रचना।
सचित्त	जीव-सहित। अप्रासुक।
सचेल	वस्त्र-परिधान को मान्यता देने वाला। वस्त्र-सहित।
सत्य	यथार्थ। अविसंवादी।
समाधि	मानसिक शान्ति की स्थिति।
समिति	संयम के अनुकूल प्रवृत्ति।
सम्प्रदाय	गुरु-परम्परा। धर्म विशेष का उपसंगठन
सम्यक्त्व	सम्यक् तत्त्व-श्रद्धा।
स्वांग	नकल उतारने के लिए की गई तद्रूप वेशभूषा।
सांभोगिक	जिनमें परस्पर भोजन पानी आदि देने लेने का व्यवहार खुला हो।
सांवत्सरिक पर्व	श्वेताम्बर जैनों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व। पर्युषण पर्व का अन्तिम दिन।
साझ	भोजन आदि दैनिक चर्या की सुव्यवस्था के लिए एक व्यक्ति की प्रमुखता में स्थापित मुनियों का मण्डल।
साझपति	भोजन आदि दैनिक चर्या की सुव्यवस्था के लिए बनाये गए मुनियों के मंडल का प्रमुख।
सामवायिक	सामूहिक।

परिशिष्ट ६

हरकारा — संदेश वाहक। चिट्ठी-पत्री पहुँचाने वाला। कासीद।

हाजरी — गण की विशुद्धि के लिए बनाए गये व विधानात्मक नियम जो स्वामी भीखणजी द्वारा निर्मित मर्यादाओं पर आधारित हैं। संघीय मर्यादाओं का परिषद् में पठन।

हाट — दूकान।

★

परिशिष्ट ६

दी मान्क ऑफ मिस्टर मेहता	
धर्मसागर कृत पट्टावली	
नव निर्माण की पुकार	
नवभारत टाइम्स	
नीतिशतक	
नैतिक संजीवन	
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म	
पोरवालों की वंशावलि	
प्रकीर्ण पत्र संग्रह	प्र० प० सं
प्रबुद्ध जीवन	
बंगचूलिया	
बही	
बीकानेर राजपत्र	
भगवती	
भारीमाल चरित्र	भा० च / भारी च
भिक्षु चरित (वेणीरामजी स्वामी रचित)	वेणी० भि च
भिक्षु जश रसायण	भि ज र
भिक्षु गुणवर्णन	
भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर	भि ग्र र०
भिक्षु दृष्टान्त	भि दृ
भ्रमविध्वंसन	
मघवासुजश	म सु
मज्झिमनिकाय	
मानक महिमा	
युक्ति प्रबोध	
लघु भिक्षु जश रसायण	ल भि ज र०
वार्तालाप विवरण	
विशेष विवरण	
विशेषावश्यक भाष्य	
वीर विनोद	

बृहत्कल्प चूर्णी
शासन प्रभाकर	शा० प्र०
शासन विलास
श्रावक शोभजी कृत ढाल
श्री जैन धर्म नो प्राचीन सक्षिप्त इतिहास् अने प्रभुवीर पट्टावली
सतों की ख्यात
सद्धर्म मण्डनम्
साधारा दृष्टात
साध्वियो की ख्यात
सिद्धान्तसार
स्वामीजी की वशावलि
स्वामी रामचरणजी की अणभैवाणी
हरिजन सेवक
हिन्दुस्तान टाइम्स
हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड
हेम दृष्टान्त

लेखक की अन्य कृतियाँ :—

मंथन

आवर्त्त

उत्तिष्ठत ! जागृत !!

उठो ! जागो !!

आँखों ने कहा

पराग

विचार बिन्दु

तेरापथ (हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड)

तेरापथ के मौलिक मन्तव्य और वर्तमान लोक चिन्तन

तेरापथ का इतिहास (द्वितीय खण्ड)

मानवता का मार्ग—अणुव्रत आन्दोलन

अणुव्रत विचार-दर्शन

श्रमण सस्कृति के अचल मे

स्मितम् (सस्कृत)

आप्तमीमासा प्रवेशिका (सस्कृत)

जयहिन्दी व्याकरण

उस पार

The contribution of Jain writers to Indian languages

अनूदित :—

श्री भिक्षुन्यायकर्णिका

शिक्षाषण्णवति

कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका